# TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_184189
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. S294.592 Accession No. F.G. S2361

Author Y15

Title याज्ञवल्क्य स्मृति मि. भाग 1904.

This book should be returned on or before the date last marked below.

# आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः

ग्रन्थाङ्कः ४६

अपरार्कापराभिधापरादित्यविरचितटीकासमेता

# याज्ञवल्क्यस्मृतिः ।

( विषयानुक्रमश्लोकवर्णानुक्रमादिपरिशिष्टसमेता )

तत्र व्यवहाराध्यायप्रायश्चित्ताध्यायद्वयरूपो द्वितीयो भागः ( २ )।

एतत्पुस्तकम्

आनन्दाश्रमस्थपण्डितैः संशोधितम् ।

तच्च

हरि नारायण आपटे

इत्यनेन

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८२६

खिस्ताब्दाः १९०४

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः )

मूल्यं रूपकसप्तकम् ( रु० ७ )।

# अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृते-
# र्विषयानुक्रमः ।

## १ आचाराध्यायः ।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **ब्रह्मचारिप्रकरणम् १.** | |
| टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम् ... ... | १ |
| मुनीनां याज्ञवल्क्यं प्रति प्रश्नः, अणिमादिसिद्धीनां लक्षणम् ... ... ... | २ |
| ऋषीन्प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः ... ... | ४ |
| **ब्रह्मावर्तलक्षणम्,** ब्रह्मर्षिदेशलक्षणम्, मध्यदेशलक्षणम्, **आर्यावर्तलक्षणम्,** यज्ञियदेशकथनम्, **म्लेच्छदेशलक्षणम्** .... .... .... | ५ |
| शूद्रस्य वृत्तावनुग्रहः, पुराणादीनां ज्ञानस्य साधनत्वेन कथनम्, विद्यालक्षणम् ... | ६ |
| धर्मशास्त्रप्रयोजका ऋषयः, प्रसङ्गात्षट्त्रिंशत्स्मृतीनां प्रतिपादनम् ... ... | ७ |
| धर्मस्य कारकहेतवः ... ... ... | ८ |
| धर्मस्य ज्ञापकहेतवः, परमधर्मलक्षणम्, अवरधर्मलक्षणम् ... ... ... | ९ |
| अग्न्युत्सादिनोऽग्निहोत्रिणः प्रायश्चित्तकथनम् ... ... ... ... ... | १० |
| **शैवाद्यागमेष्वधिकारिनिर्णयः,** शैवसांख्यादीनां मतप्रतिपादनम् ... | ११ |
| प्रसङ्गात्पाशुपतादीनामुत्पत्तिबीजकथनम् | १२ |
| पञ्चरात्रादेर्वेदप्रतिनिधित्वेन वर्णनम्, पञ्चरात्रस्यादृष्यत्वेन कथनम् ... ... | १३ |
| स्थावरादिजातीनां क्रमेणोत्पत्तिकथनम्, **कलौ दीर्घकालब्रह्मचर्यादीनां वर्जनीयत्वेन वर्णनम्,** वशीकरणप्रकारकथनम् ... ... ... | १५ |
| देवतास्थापकलक्षणम् ... ... ... | १६ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| स्वधर्मस्य प्राह्यत्वेन कथनम् ... ... | १७ |
| कापालिकादीनां दर्शने प्रायश्चित्तम् ... | १८ |
| शिष्टस्वरूपलक्षणम्, सदाचारलक्षणं च ... | १९ |
| आचारादीनां लक्षणम्, धर्मलक्षणम् ... | २१ |
| पर्वलक्षणम् ... ... ... ... | २२ |
| वर्णाः ... ... ... ... ... | २३ |
| **गर्भाधानादिसंस्काराः** ... ... | २४ |
| संस्कारकरणे फलम्, **पुंसवनविधिः** | २५ |
| **जातकर्मणि** सुवर्णादिदानप्रशंसा ... | २६ |
| **नामकरणम्** .... .... .... | २७ |
| कुमारलक्षणम्, **निष्क्रमणाविधिः,** अन्नप्राशनम् ... ... ... ... | २८ |
| **चूडाकर्मकालः** .... .... | २९ |
| संस्काराणां कालातिक्रमे प्रायश्चित्तम् ... | ३० |
| **उपनयनकालः** .... .... | ३१ |
| गर्भाधानादिषु ब्राह्मणभोजनम्, शौचाचाराः ... ... ... ... ... | ३२ |
| उपनेतृगुणाः, गायत्र्युपदेशः ... ... | ३३ |
| ब्रह्माञ्जलिलक्षणम्, आचारकथनम् ... | ३४ |
| शौचविधिः ... ... ... ... | ३५ |
| तीर्थानि, आचमनम् ... ... ... | ३९ |
| प्राणायामः, सावित्रीजपः ... ... | ४२ |
| मार्जनम् ... ... ... ... ... | ४३ |
| प्राणायामलक्षणम् ... ... ... | ४४ |
| गायत्रीध्यानम् ... ... ... ... | ४६ |
| जपविधिः ... ... ... ... | ४७ |
| **प्रातःसंध्योपास्तिविधिः** .... | ४९ |
| अग्निकार्यम् ... ... ... ... | ५१ |
| अभिवादनम् ... ... ... ... | ५२ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| अध्ययनम् ... ... ... ... | ५५ |
| अध्याप्याः ... ... ... ... | ५६ |
| दण्डादिधारणम् ... ... ... | ५७ |
| भैक्षचर्या ... ... ... ... | ५९ |
| भोजनादि ... ... ... ... | ६० |
| ब्रह्मचारिनियमाः... ... ... ... | ६१ |
| गुरुलक्षणम् ... ... ... ... | ६४ |
| आचार्यलक्षणम्, उपाध्यायर्त्विग्लक्षणम् | ६५ |
| ब्रह्मचर्यावधिः, उपनयनकालस्य परमावधिः... ... ... ... ... | ६७ |
| द्विजत्वहेतुकथनम् ... ... ... | ६८ |
| वेदाध्ययनफलम्, ब्रह्मयज्ञविधिः ... | ७० |
| नैष्ठिकब्रह्मचारिधर्माः ... ... ... | ७१ |

## विवाहप्रकरणम् २.

| | |
|---|---|
| भार्याप्रशंसा ... ... ... ... | ७३ |
| गुरुदक्षिणादानम्, वेदार्थज्ञानस्याऽऽवश्यकत्वकथनम्... ... ... ... | ७४ |
| स्नातकभेदाः ... ... ... ... | ७७ |
| कन्यालक्षणानि ... ... ... ... | ७८ |
| सगोत्रकन्यापरिणये प्रायश्चित्तम् ... | ८० |
| **सापिण्ड्यविचारः .... .... ....** | **८१** |
| कन्याया बाह्यलक्षणानि ... ... | ८४ |
| वरगुणाः, पुरुषलक्षणम् ... ... | ८५ |
| पण्डभेदाः ... ... ... ... | ८६ |
| द्विजातीनां शूद्रापरिणयने निषेधः, वर्णक्रमेण द्विजातीनां भार्याकरणेऽधिकारः | ८७ |
| **ब्राह्मविवाहलक्षणम् .... .... ....** | **८८** |
| दैवार्षविवाहयोर्लक्षणम्, प्राजापत्यविवाहलक्षणम्, आसरविवाहलक्षणम् ... | ८९ |
| गान्धर्वराक्षसपैशाचविवाहलक्षणानि ... | ९० |
| सवर्णापरिणयने विशेषः, कन्यादातृक्रमः | ९२ |
| कन्याहरणे दण्डः, ... ... ... | ९४ |
| कन्याया दोषमनाख्याय दाने दण्डः ... | ९५ |
| पुनर्भूलक्षणम् ... ... ... ... | ९६ |
| नियोगविधिः, क्षेत्रजपुत्रोत्पत्तिकथनम् ... | ९७ |
| व्यभिचारिणीविषये कर्तव्यता, स्त्रीप्रशंसा | ९८ |
| स्वस्त्रीत्यागहेतवः ... ... ... | ९९ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| भार्यान्तरकरणे कारणानि ... ... | १०० |
| पतिव्रताप्रशंसा ... ... ... ... | १०१ |
| अधिवेत्तुर्दण्डः, स्त्रीधर्माः, शास्त्रीयदारसंग्रहस्य फलम् ... ... ... | १०२ |
| स्त्रीणामृतुकालावधिः ... ... ... | १०३ |
| स्त्रीगमने वर्ज्यानि ... ... ... | १०४ |
| अनृतुगमने नियमाः, स्त्रीणां सत्कारश्च ... | १०६ |
| **स्त्रीधर्माः .... .... .... १०७** | |
| प्रोषितभर्तृकानियमाः, स्त्रीणामस्वातन्त्र्यम् | १०८ |
| पातिव्रत्यफलम् ... ... ... ... | १०९ |
| सहगमनम् ... ... ... ... | ११० |
| अन्वारोहणे विचारः ... ... ... | १११ |
| अनेकभार्याविषये धर्मकथनम् ... ... | ११२ |
| प्रमीतभार्याविषये विचारः ... ... | ११४ |

## वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ३.

| | |
|---|---|
| सजातयः... ... ... ... ... | ११६ |
| अनुलोमजाः ... ... ... ... | ११७ |
| प्रतिलोमजाः ... ... ... ... | ११८ |
| संकीर्णजात्यन्तरम् ... ... ... | ११९ |
| वर्णप्राप्तौ कारणान्तरम्, हीनवृत्त्या जीवनम् | १२० |

## गृहस्थधर्मप्रकरणम् ४.

| | |
|---|---|
| कस्मिन्नहो किं कर्तव्यं तदभिधानम् ... | १२१ |
| प्रायायुकादिधर्माः ... ... ... | १२२ |
| दन्तधावनम् ... ... ... ... | १२३ |
| प्रातःस्नानफलम्, श्रौतस्मार्ताग्निहवनम् | १२५ |
| वेदादीनामभ्यासः ... ... ... | १२६ |
| योगक्षेमार्थं राजाद्याश्रयः, स्नानप्रकाराः | १२७ |
| मृत्तिकाहरणम्. स्नानदेशाः ... ... | १२८ |
| मन्त्रस्नानम् ... ... ... ... | १२९ |
| अघमर्षणम्, स्नानाङ्गतर्पणम् ... ... | १३१ |
| तर्पणविधिः ... ... ... ... | १३२ |
| ऊर्ध्वपुण्ड्रप्रशंसा ... ... ... ... | १३४ |
| प्रसङ्गान्नदीलक्षणम् ... ... ... | १३५ |
| ब्रह्मयज्ञः... ... ... ... ... | १३६ |
| ब्रह्मयज्ञाङ्गतर्पणम्... ... ... ... | १३७ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| असमर्थस्य संक्षेपतर्पणम् ... ... | १३९ |
| सूर्याराधनम् ... ... ... ... | १४० |
| नृसिंहार्चनम् ... ... ... ... | १४१ |
| पञ्च महायज्ञाः ... ... ... ... | १४२ |
| भूतबलिः ... ... ... ... | १४३ |
| पितृमनुष्येभ्योऽन्नदानम्, नित्यश्राद्धम् ... | १४५ |
| दंपत्योः शेषभोजनम् ... ... ... | १४६ |
| अतिथीनां भोजनम् ... ... ... | १४७ |
| प्राणाग्निहोत्रम् ... .. ... ... | १४८ |
| भोजने नियमाः ... ... ... ... | १४९ |
| भोजनान्ते कर्तव्यानि ... ... ... | १५१ |
| भिक्षवे भिक्षादानम् ... ... ... | १५२ |
| भिक्षालक्षणम्, गोग्रासः ... ... ... | १५३ |
| सुहृदादिभ्योऽन्नदानम्, श्रोत्रियसत्कारः | १५४ |
| प्रतिसंवत्सरमर्घ्याः; श्रोत्रियातिथ्योर्लक्षणम् | १५५ |
| परपाकरुचिनिषेधः, अतिथ्यायनुव्रजनम्, प्रसङ्गाद्वास्त्वादिसीमाविभागः... ... | १५६ |
| शेषदिनकृत्यम्, सायंसंध्यादि, शयनधर्माः | १५७ |
| ब्राह्मे मुहूर्ते स्वहितचिन्तनम् ... ... | १५८ |
| मानार्हाः ... ... ... ... ... | १५९ |
| वृद्धादिभ्यो मार्गस्य देयत्वकथनम्, द्विजादीनां कर्माणि... ... ... ... | १६० |
| क्षत्रियवैश्ययोर्मुख्यकर्माणि, शूद्रकर्म ... | १६१ |
| शूद्रस्य पुराणश्रवणेऽधिकारः ... ... | १६२ |
| सर्ववर्णसाधारणधर्माः ... ... ... | १६३ |
| सोमपानेऽधिकारः ... ... ... | १६५ |
| श्रौतकर्माणि ... ... ... ... | १६६ |
| वैश्वानरीष्टिः ... ... ... ... | १६७ |
| यज्ञार्थं हीनभिक्षानिषेधः; धान्यादिसंचयोपायः ... ... ... ... | १६८ |

## स्नातकप्रकरणम् ५.

| | |
|---|---|
| स्नातकव्रतानि, राजादिभ्यो धनग्रहणम्, दाम्भिकादिवृत्तिवर्जनम् ... ... | १७० |
| पाषण्डादीनां लक्षणम् ... ... ... | १७१ |
| पाषण्डादिभिः सह संलापात्पुण्यक्षयः ... | १७२ |
| **वस्त्रादिधारणम्**, याने व्याध्यादियुक्तवृषभस्य त्यागः ... ... ... | १७३ |
| शरीरत्राणसाधनानि, पुरुषवचननिषेधः... | १७४ |
| पैशुन्यलक्षणम्, अनृतद्वैविध्यम्, मिथ्याभिशंसने दोषः, अनृतपारदार्यादीनां विवर्जनम् ... ... ... ... | १७५ |
| सुवर्णब्रह्मसूत्रादेर्धारणप्रकारः ... ... | १७६ |
| प्रयाणे शुभाशुभविचारः ... ... | १७७ |
| नद्यादिषु मूत्रपुरीषोत्सर्गनिषेधः ... ... | १७९ |
| सूर्यनग्नस्त्र्यादीनामालोकननिषेधः ... | १८० |
| उदकादौ ष्ठीवनादिकर्मणां त्याज्यत्वम् ... | १८१ |
| अञ्जलिना जलं न पिबेदित्याद्याचारनिरूपणम् | १८२ |
| उच्छास्त्रवर्तिनो राज्ञः प्रतिग्रहे दोषभूयस्त्वकथनम्, सूनिचक्रीत्यादिभ्यः प्रतिग्रह उत्तरोत्तरदोषभूयस्त्वम् ... ... | १८४ |
| उच्छास्त्रवर्तिराजप्रतिग्रहान्नरकप्राप्तिवर्णनम् | |
| **उपाकर्मकालः .... .... .... .** | **१८५** |
| **उत्सर्जनकालः .... .... .** | **१८६** |
| **अनध्यायाः.... .... .... .** | **१८७** |
| निर्घाताद्यनध्यायाः ... | १८८ |
| प्रसङ्गादध्ययने निषिद्धदेशवर्णनम् ... | १९२ |
| देवर्षिगादीनां छायाद्याक्रमणे निषेधाः ... | १९३ |
| अमावास्यादिषु धात्रीफलादीनां वर्जनप्रकारः... ... ... ... ... | १९५ |
| उपवासे वर्ज्यानि ... ... ... | १९९ |
| मासभेदेन केशवादिदेवतानां पूजनम् ... | २०० |
| उपवासनिषेधाः ... ... ... ... | २०१ |
| **एकादशीव्रतम् .... .... .** | **२०२** |
| पर्युदासलक्षणम् ... ... ... ... | २०६ |
| प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणम्, वैष्णवस्य वर्ज्यानि | २०७ |
| नैमित्तिकोपवासाः, **श्रवणद्वादशीनिर्णयः .... .... .... .** | **२०८** |
| **जन्माष्टमीविचारः .... .... .** | **२१०** |
| तुलायामष्टाङ्गदीपदानम् ... ... ... | २१२ |
| प्रसङ्गात्खण्डतिथिविषये विचारः ... | २१४ |
| आचाराः... ... ... ... ... | २२३ |
| नास्तिकादीनां लक्षणम्... ... ... | २३० |
| **धर्मप्रशंसा,.... .... .... .** | **२३२** |

विषयाः पृष्ठाङ्काः

**कलिवर्ज्यानि,** मात्रादिभिरविवादे फलकथनम् ... ... ... २३३
पिण्डोद्धारणपूर्वकं स्नानम्, स्नानाङ्गजलानि, गर्तस्वरूपम् ... ... ... ... २३४
समुद्रस्नानफलम्, तीर्थे कर्तव्यानि ... २३५

**कालिन्द्यादिनदीनां रजोदोषाभावकथनम् .... .... २३६**

**भोज्याभोज्यभक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ६.**

कदर्यादीनां सोमविक्रयिणश्चान्नभोजने निषेधः २३७
कदर्यलक्षणम्, वार्धुषिकलक्षणम् ... २३८
कदर्यान्नभोजने प्रायश्चित्तम्, गोघ्नाद्यन्नवर्जनम् ... ... ... ... २४०
जातिदुष्टादिवर्णनम् ... ... ... २४१
शूद्रान्ने दासगोपालादीनां भोज्यान्नत्वेन निरूपणम् ... ... ... ... २४३
पर्युषितस्य प्रतिप्रसवः ... ... ... २४४
दुग्धविषये विचारः ... ... ... २४६
शिग्व्रादिनिषेधः, क्रव्यादपक्ष्यादिभक्षणे निषेधकथनम् ... ... ... ...२४७
पलाण्ड्वादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ... २४९
पलाण्डुजातिनिरूपणम्, पञ्चनखादीनां भक्ष्यत्वम् ... ... ... ... २५०
श्राद्धे मांसभक्षणविधिः, वृथामांसभक्षणे निन्दा... ... ... ... ... २५१
प्रसङ्गाद्वधत्रैविध्यकथनम्, विहितव्यतिरिक्तमांसवर्जनस्य फलम् ... ... २५२

**द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ७.**

सौवर्णादिपात्राणां शुद्धिः, यज्ञपात्राणां च २५३
तैजसानां मूत्राद्युपघाते शुद्धिकथनम् ... २५४
तैजसधातवः, कांस्यादीनामुष्णोदकादिभिः शुद्धिवर्णनम् ... ... ... ... २५५
सलेपपात्राणां शुद्धिः ... ... ... २५६
अमेध्योपहतवस्त्राणां शुद्धिः ... ... २५७
शुद्धिहेतुद्रव्याणि, कृष्णाजिनादीनां बिल्वादिभिः शुद्धिनिरूपणम् ... ... २५८
स्फ्यशूर्पाजिनधान्यादीनां शुद्धिः... ...२५९

विषयाः पृष्ठाङ्काः

गृहदाहे तत्स्थद्रव्यविषये प्राह्याप्राह्यविचारः, दारुशृङ्गास्थ्नां शुद्धिः... ... २६०
आविककौशेयादीनां शुद्धिः, चण्डालाद्युपस्पृष्टधान्यादीनां शुद्धिकथनम् ... २६१
नीलवस्त्रधारणनिषेधः ... ... ... २६२
शुद्धद्रव्याणां निरूपणम्, भिक्षावृत्त्यधिकारिणः... ... ... ... ... २६३
भूमिशुद्धिः ... ... ... ... २६४
शवदूषितगृहशुद्धिः ... ... ... २६५
गोघ्नातान्नादिशुद्धिः ... ... ... २६६
केशकीटाद्युपहतान्नानां शुद्धिः, श्वकाकाद्युपस्पृष्टान्नविषये शुद्धिविचारः ... २६७
गोघ्नातादिदूषितत्रपुप्रभृतीनां क्षारादिभिः शुद्धिः... ... ... ... ... २६८
गोरसशुद्धिः, घृततैलादीनां शोधनम् ... २६९
विवाहादौ श्वकाकाद्युपहतान्नस्य स्वीकरणम्, अमेध्याक्तद्रव्यस्य शुद्धिः ... २७०
उदकशुद्धिः, मृतपञ्चनखकूपशुद्धिः ... २७२
श्वादिभिर्निपातितमृगादेर्मांसस्य शुद्धत्वेन विधानम् ... ... ... ... २७३
अजाश्वादीनां मेध्याङ्गनिरूपणम्, मार्गशुद्धिः २७६
स्नानादिषु द्विराचमनविधिः ... ... २७७
मानुषास्थ्यादीनां स्पर्शे स्नानम् ... ... २७९
चण्डालादिस्पृष्टरथ्यादीनां शुद्धिः ... २८०

**दानप्रकरणम् ८.**

दानपात्रब्राह्मणप्रशंसा ... ... ... २८१
सत्पात्रब्राह्मणलक्षणम् ... ... ... २८२

**दाने संनिकृष्टातिक्रमे दोषः २८३**

पात्रपरीक्षणे हेतवः, **ब्राह्मणलक्षणम्, श्रोत्रियानूचानयोर्लक्षणम् .... २८४**

पात्रे गवादिदानम्, अपात्रदाने निन्दा, बैडालव्रतलक्षणम् ... ... ... २८५
दानेऽनधिकारिणः ... ... ... २८६
ब्राह्मणध्रुवलक्षणम् ... ... ... २८७
दानस्य षडङ्गत्वम् ... ... ... २८८
दानस्य ध्रुवादयश्चत्वारो भेदाः ... ... २८९

**इष्टापूर्तयोर्लक्षणम् .... .... २९०**

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| विधातपोविहीनस्य विप्रस्य दानेऽनधिकारः | २९१ |
| संक्रान्त्यादिषु दानात्पुण्याधिक्यवर्णनम्... | २९२ |
| संक्रान्तेः पुण्यकालः ... ... ... | २९३ |
| **स्नातकलक्षणम् .... .... २९४** | |
| **गोदानेतिकर्तव्यता .... .... २९५** | |
| गोदानफलम् ... ... ... ... | २९७ |
| उभयतोमुखीदाने फलम् ... ... | २९८ |
| उभयतोमुखीलक्षणं, तद्दानफलं, गोदानविधिश्च... ... ... ... ... | २९९ |
| **गुडधेनुदानविधिः .... .... ३०३** | |
| **तिलधेनुः .... .... .... ३०५** | |
| **घृतधेनुदानम् .... .... ३०८** | |
| **जलधेनुः .... .... .... ३०९** | |
| **लवणधेनुविधानम् .... .... ३१०** | |
| **शर्कराधेनुविधिः .... .... ३१२** | |
| **महादानानि .... .... .... ३१३** | |
| तुलापुरुषदानं, हिरण्यगर्भदानं, ब्रह्माण्डदानं, कल्पपादपदानं, गोसहस्रदानं हिरण्यकामधेनुदानं, हिरण्याश्वादिदानानि, महादानकालः, ... ... | ३१४ |
| **तुलापुरुषदानविधिः .... .... ३१५** | |
| तुलादाने विशेषाः ... ... ... | ३१९ |
| हिरण्यगर्भदानविधिः ... ... ... | ३२० |
| ब्रह्माण्डदानविधिः ... ... ... | ३२२ |
| कल्पपादपदानविधिः ... ... ... | ३२४ |
| कल्पवृक्षदाने विशेषः ... ... ... | ३२६ |
| गोसहस्रप्रदानविधानम् ... ... ... | ३२८ |
| कामधेनुदानविधिः ... ... ... | ३३० |
| हिरण्याश्वदानविधिः ... ... ... | ३३१ |
| हिरण्याश्वरथदानविधिः ... ... ... | ३३२ |
| हेमहस्तिरथदानविधिः ... ... ... | ३३४ |
| पञ्चलाङ्गलकप्रदानविधानम् ... ... | ३३५ |
| हेमपृथ्वीदानविधिः ... ... ... | ३३६ |
| विश्वचक्रदानविधिः ... ... ... | ३३७ |
| कल्पलतादानविधिः ... ... ... | ३३९ |
| सप्तसागरदानविधानम् ... ... ... | ३४१ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| रत्नधेनुविधानम्... ... ... ... | ३४२ |
| महाभूतघटदानविधिः ... ... ... | ३४३ |
| **अथ पर्वतदानानि,** | |
| मेरुप्रदानम् ... ... ... ... | ३४४ |
| लवणाचलदानम्, गुडपर्वतदानम् ... | ३४८ |
| सुवर्णपर्वतदानम्, तिलपर्वतदानविधिः | ३४९ |
| कार्पासपर्वतविधानम्, घृताचलविधिः ... | ३५० |
| रत्नाचलदानम् ... ... ... ... | ३५१ |
| रजतपर्वतदानविधिः ... ... ... | ३५२ |
| शर्कराचलविधानम् ... ... ... | ३५३ |
| कृष्णाजिनदानम्... ... ... ... | ३५४ |
| कालपुरुषदानम्... ... ... ... | ३५६ |
| तिथिदानानि ... ... ... ... | ३५७ |
| नक्षत्रदानानि ... ... ... ... | ३६० |
| मासदानानि ... ... ... ... | ३६३ |
| गोदानसमानि ... ... ... ... | ३६५ |
| भूम्यादिदाने फलम् ... ... ... | ३६७ |
| दीपदानम्... ... ... ... ... | ३७० |
| अश्वदानम्, अन्नदानम् ... ... ... | ३७२ |
| वस्त्रदानम् ... ... ... ... | ३७४ |
| उदकदानम् ... ... ... ... | ३७५ |
| तिलदानम्, नैवेशिकदानम् ... ... | ३७७ |
| सुवर्णदानम् ... ... ... ... | ३७८ |
| वृषभदानम् ... ... ... ... | ३७९ |
| गृहादिदाने फलम् ... ... ... | ३८० |
| धान्यदानम् ... ... ... ... | ३८४ |
| अभयदानम् ... ... ... ... | ३८५ |
| उपानच्छत्रादिदानम्, शय्यादानम् ... | ३८६ |
| वृक्षदानम् ... ... ... ... | ३८७ |
| वेददानफलम्, विद्यान्तरदानविधिः ... | ३८९ |
| ब्रह्मपुराणदानम्, विष्णुपुराणदानम्, वायुपुराणदानम् ... ... ... ... | ३९२ |
| भागवतपुराणदानविधिः, नारदपुराणदानम्, मार्कण्डेयपुराणदानम्, आग्नेयपुराणदानम्, भविष्यत्पुराणदानम् | ३९३ |
| ब्रह्मवैवर्तादिपुराणदानानि ... ... | ३९४ |
| विद्यादीनां लक्षणम्, तद्दानफलं च ... | ३९६ |
| विद्यादानविधिः... ... ... ... | ३९८ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| कल्पदानविधिः ... ... ... ... | ४०३ |
| अदेयकथनम् ... ... ... ... | ४०४ |
| पुण्यदानम् ... ... ... ... | ४०५ |
| पापदाने निन्दा, दानं विनाऽपि दानफलाप्तिः, सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादः | ४०६ |
| अप्रत्याख्येयाभिधानम् ... ... ... | ४०७ |
| प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादः ... ... ... | ४०८ |
| तडागप्रतिष्ठाविधिः ... ... ... | ४०९ |
| वारुणविधिः ... ... ... ... | ४१३ |
| वृक्षविधिः ... ... ... ... | ४१४ |
| वृषोत्सर्गः ... ... ... ... | ४१५ |

## श्राद्धप्रकरणम् ९.

| | |
|---|---|
| **श्राद्धकालाः.... .... .... ....** | **४१७** |
| जीवत्पितृकस्य श्राद्धकालाः ... ... | ४१८ |
| सिनीवालीलक्षणम् ... ... ... | ४१९ |
| तिथिग्रहणकालः, ब्राह्मणसंपत्त्यभाव उपकल्पः ... ... ... ... | ४२० |
| पित्रन्नदानासमर्थस्योपायान्तरम् ... | ४२१ |
| अष्टकाविचारः, अपरपक्षे श्राद्धस्येतिकर्तव्यता... ... ... ... ... | ४२२ |
| अयनादिश्राद्धकालाः ... ... ... | ४२५ |
| तीर्थादिसंपत्तौ सद्यःश्राद्धम्, व्यतीपातलक्षणम्, इच्छाश्राद्धहेतवः ... ... | ४२६ |
| गजच्छायालक्षणम्, उपरागे दानादीनां प्रशंसा ... ... ... ... | ४२७ |
| ग्रहणे श्राद्धप्रशंसा ... ... ... | ४२९ |
| श्राद्धे ब्राह्मणसंख्या ... ... ... | ४३० |
| श्राद्धाधिकारिणः... ... ... ... | ४३१ |
| स्त्रीणां पृथक्श्राद्धविषये विचारः ... | ४३२ |
| रिक्थहरादिषु पुत्रत्वातिदेशः, क्रियाप्रकाराः | ४३३ |
| पिण्डदानेऽधिकारिणः ... ... ... | ४३४ |
| **द्यामुष्यायणाधिकारः .... ....** | **४३५** |
| श्राद्धे ब्राह्मणसंपत्तिः ... ... ... | ४३७ |
| **श्राद्धे वर्ज्यब्राह्मणाः .... ....** | **४४४** |
| ब्राह्मणनिमन्त्रणम् ... ... ... | ४५५ |
| निमन्त्रितब्राह्मणनियमाः... ... ... | ४५६ |
| श्राद्धे दर्भाः ... ... ... ... | ४५८ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| प्रोक्षणम्... ... ... ... ... | ४५९ |
| वैश्वदेवादिविचारः ... ... ... | ४६० |
| श्राद्धे जपहोमादौ च कषायरक्तवस्त्रप्रतिषेधः, कक्ष्यावर्जनं च ... ... ... | ४६१ |
| ब्राह्मणोपवेशनम् ... ... ... | ४६३ |
| अपराह्णकालः ... ... ... ... | ४६५ |
| **आमश्राद्धादिकालाः .... ....** | **४६८** |
| शूद्रस्य ब्राह्मणभोजनेऽनाधिकारः ... | ४६९ |
| **आमश्राद्धविधयः .... .... ....** | **४७०** |
| **हेमश्राद्धम् .... .... ....** | **४७१** |
| श्राद्धे निषिद्धदेशाः, श्राद्धेऽपासनीयानि ... | ४७२ |
| श्राद्धोपादेयानि ... ... ... ... | ४७४ |
| आसनम् ... ... ... ... ... | ४७८ |
| अर्घ्यदानम् ... ... ... ... | ४७९ |
| गन्धमाल्यादि, पित्रर्घ्यादि ... ... | ४८१ |
| वस्त्रदानादिविधानम् ... ... ... | ४८७ |
| पात्राणि ... ... ... ... ... | ४८८ |
| अग्नौकरणम् ... ... ... ... | ४८९ |
| अन्ननिवेदनम् ... ... ... ... | ४९२ |
| गायत्रीजपादि ... ... ... ... | ४९६ |
| भोजने नियमाः ... ... ... ... | ४९७ |
| ब्राह्मणतृप्तिप्रश्नः... ... ... ... | ५०१ |
| पिण्डप्रदानम् ... ... ... ... | ५०५ |
| उल्लेखनादिकरणम् ... ... ... | ५०६ |
| पिण्डप्रमाणम् ... ... ... ... | ५०७ |
| पिण्डपूजनम्, अक्षय्योदकदानम् ... | ५०८ |
| स्वधावाचनम् ... ... ... ... | ५०९ |
| प्रार्थना, ब्राह्मणविसर्जनम् ... ... | ५११ |
| **श्राद्धभोक्तुर्नियमाः,वृद्धिश्राद्धम्** | **५१४** |
| **एकोद्दिष्टश्राद्धम् .... ....** | **५२१** |
| **षोडश श्राद्धानि .... ....** | **५२२** |
| **नवश्राद्धम् .... .... ....** | **५२३** |
| **सपिण्डीकरणम् .... ....** | **५२८** |
| सर्पादिहतानां विचारः ... ... ... | ५३३ |
| यतीनां प्रेतत्वाभावकथनम् ... ... | ५३८ |
| मातृसपिण्डीकरणम् ... ... ... | ५४१ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **उदकुम्भश्राद्धम्** | ५४२ |
| **एकोद्दिष्टकालाः** | ५४३ |
| **मृताहापरिज्ञाने विचारः,** चिरकालगतस्य वार्ताद्यभावे संस्कारविधानम् | ५४५ |
| पुनस्तदागमने संस्कारविधिः, साधनादिकालाः ... ... ... ... | ५४६ |
| मलमासे कर्तव्यानि ... ... ... | ५४८ |
| पिण्डप्रक्षेपस्थलम् ... ... ... | ५५० |
| भोज्यविशेषेण फलम् ... ... ... | ५५१ |
| तिथिविशेषात्फलविशेषः... ... ... | ५५८ |
| नक्षत्रविशेषात्फलविशेषः ... ... | ५५९ |
| **श्राद्धकालातिक्रमे कर्तव्यविचारः** | ५६१ |
| **विनायकपूजाविधिप्रकरणम् १०.** | |
| विघ्नोपद्रवलक्षणम्, विघ्नप्रत्यक्षहेतवः ... | ५६२ |
| विघ्नोपशान्त्यर्थं कर्म ... ... ... | ५६३ |
| स्नपनविधिः ... ... ... ... | ५६४ |
| उपस्थानमन्त्राः ... ... ... ... | ५६५ |
| ग्रहपूजा ... ... ... ... ... | ५६७ |
| **ग्रहयज्ञविधिप्रकरणम् ११.** | |
| ग्रहयज्ञः, नवग्रहनामानि, नवग्रहमूर्तिद्रव्याणि ... ... ... ... | ५६८ |
| नवग्रहध्यानानि ... ... ... ...५६९ | |
| प्रसङ्गाद्ग्रहन्यादीनां लक्षणम् ... ... | ५७१ |
| ग्रहपूजा ... ... ... ... ... | ५७२ |
| होमविधिः, होममन्त्राः ... ... ... | ५७३ |
| नवग्रहसमिधः, ब्राह्मणभोजनद्रव्यम् ... | ५७४ |
| नवग्रहदक्षिणाः, दुःस्थग्रहपूजा ... ... | ५७५ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **राजधर्मप्रकरणम् १२.** | |
| अभिषिक्तराजधर्माः ... ... ... | ५७६ |
| राजमन्त्रिणः, राजपुरोहितश्च ... ... | ५७७ |
| यज्ञादिकरणे ऋत्विजः, ब्राह्मणेभ्यो धनदाने फलविशेषः, धनरक्षणप्रकारः ... | ५७८ |
| लेख्यकरणम्, लेख्यकरणप्रकारः ... | ५७९ |
| राज्ञो निवासस्थानम्, अधिकारिणः ... | ५८० |
| विक्रमार्जितद्रव्यदाने फलम्, रणे मरणस्य स्वर्गफलकत्वम् ... ... ... | ५८१ |
| रणधर्मनिरूपणम्, आयव्ययनिरीक्षणम्, हिरण्यस्य भाण्डागारे निक्षेपः, स्वैरविहारः, सेनादर्शनम् ... ... ... | ५८२ |
| चाराणां गूढभाषणश्रवणम्, राज्ञो निद्रादिप्रकारः, दूतप्रेषणप्रकारः ... ... | ५८३ |
| प्रजापालनफलम्, चाटतस्करादिभ्यो रक्षणम्, प्रजानामरक्षणे फलम्, राष्ट्राधिकृतविचेष्टितज्ञानम्, ... ... ... | ५८४ |
| उत्कोचजीविनां नाशः, अन्यायेन प्रजाभ्यः करग्रहणे फलम्, देशाचारादिरक्षणम्, मन्त्ररक्षणम् ... ... ... ... | ५८५ |
| अरिमित्रादीनां सामादिभिश्चिन्तनम्,सामाद्युपायाः, संध्यादिगुणाः, यात्राकालः | ५८६ |
| दैवपुरुषकारयोर्विचारः, राज्याङ्गानि ... | ५८८ |
| दुर्वृत्तेषु दण्डकरणम्, अन्याय्यदण्डनिषेधः, दण्डयदण्डने फलम् ... ... ... | ५८९ |
| दण्ड्यादण्ड्यौ, राजव्यवहारः ... ... | ५९० |
| **त्रसरेण्वादिमानम्,** कनकपरिमाणम्, रजतपरिमाणम् ... ... ... | ५९१ |
| ताम्रमानम्, उत्तमसाहसादीनां निरूपणम्, दण्डभेदाः, दण्डव्यस्थानिमित्तानि ... | ५९२ |


इत्याचाराध्यायः।

# २ व्यवहाराध्यायः ।


विषयाः पृष्ठाङ्काः

## साधारणव्यवहारमातृका-प्रकरणम् १.

उपोद्घातः ... ... ... ... ५९५
व्यवहारलक्षणम्, व्यवहारस्याष्टादश प्रकाराः ... ... ... ... ५९६
मनुष्याणां क्रियाभेदाद्व्यवहारस्य शतमष्टोत्तरं भेदाः, व्यवहारस्य प्रकारान्तराणि, चतुःसाधनत्वादि ... ... ५९७
द्विद्वारादिलक्षणम् ... ... ... ५९८
सभ्यासभ्यानां निरीक्षणम् ... ... ५९९
सभाप्रकाराः, सभासाधनाङ्गानि ... ६००
व्यवहारकालः, सभासदलक्षणम्, सभायां बहुशास्त्रज्ञब्राह्मणाभावे तत्प्रतिनिधिः ६०१
प्राड्विवाकविधिः ... ... ... ६०२
अन्यायगामिनां सभ्यानां दण्डः... ... ६०३
व्यवहारदर्शननिमित्तम्, आवेदयितुर्धर्माः ६०५
अकृत्यादीनां राजसंसदि अनाह्वानम्, अनासेध्यनिरूपणम् ... ... ... ६०६
आसेधचातुर्विध्यम्, तदुदाहरणानि च ... ६०७
व्यवहारद्रष्टृधर्माः ... ... ... ६०८
देशकालादिविहीनानां पक्षाणामनादेयत्वम्, अप्रसिद्धादीनां पक्षाणां त्यागः ... ६०९
व्यवहारस्यानादेयत्वविचारः ... ... ६१०
पूर्वपक्षादेश्चतुर्विधत्वम् ... ... ... ६११
पूर्ववादकसंनिधौ प्रतिवादिना पूर्ववादकस्योत्तरस्य लेखनीयत्वोक्तिः, उत्तरभेदाः, मिथ्योत्तरप्रकाराः... ... ६१२
व्यवहारपादाः, प्रत्यवस्कन्दलक्षणम्, प्राङ्न्यायोत्तरलक्षणम् ... ... ... ६१३
संदिग्धाद्युत्तराणां लक्षणानि, व्यवहारस्य चत्वारः पादाः ... ... ... ६१५

## असाधारणव्यवहारमातृका-प्रकरणम् २.

चतुर्धा व्यवहारस्य क्रमः, तदपवादश्च, परीक्षककार्यम् ... ... ... ६१७
पराजितविषये विधानम्, साहसादिविषये व्यवहारस्याविलम्बः, साहसादीनां लक्षणम् ... ... ... ... ६१८
दुष्टलक्षणानि, स्वरवर्णादिभिर्नृणामन्तर्गतज्ञानपरीक्षणम् ... ... ... ६२०
हीनत्वे कारणानि, हीनस्य पञ्चविधत्वम् ६२१
हीनवादिप्रकाराः... ... ... ... ६२२
उभयतःसाक्षिविषये प्रमाणनिर्णयः ... ६२३
सपणविवादस्थले निर्णयप्रकारः, छलनिरसनप्रकारः ... ... ... ... ६२४
छलानुसारिव्यवहारविषये निर्णयः ... ६२५
स्मृत्योर्विरोधे निर्णयप्रकारः, धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विप्रतिपत्तौ निर्णयः, दृष्टार्थादिस्मृतीनां भेदाः, तदुदाहरणानि ... ६२६
श्रुत्यादिभिः सह विरोधे निर्णयः ... ६२७
साध्यार्थे लिखितादिप्रमाणाभावे दिव्यान्यतमपरिग्रहः, मानुषीदैविकीतिभेदेन क्रियाया द्वैविध्यं, तत्प्रकाराश्च... ... ६२८
स्थावरादिव्यवहारे दिव्यवर्जनम्, वाक्पारुष्यादिविषये दिव्यनिषेधः, दत्तादत्तादिव्यवहारेषु साक्ष्यादिप्रमाणग्रहणे निर्णयः ... ... ... ... ६२९
साक्षिणां समत्वे दिव्यशोधनमित्यादिविचारः, विवादेषु पूर्वोत्तरक्रियानिर्णयः ... ६३०
विंशतिवर्षोपभोगे निर्णयः, निक्षेपलक्षणम्, शिशुबालपौगण्डानां लक्षणम्... ... ६३१
अनागमोपभुक्तौ दण्डः ... ... ... ६३२
आध्यायपहर्तुर्दण्डः, दण्डस्थानानि, ब्राह्मणस्य शारीरदण्डनिषेधः, वर्णानामविशेषेण दण्डविधानम् ... ... ... ६३३
प्रमाणतयोक्तायाः भुक्तेर्विषयविशेषे सहकार्यन्तरनिरूपणम् कीदृशो भोगः प्रमाणमित्यस्य निरूपणम् ... ... ... ६३४
भोगस्य पञ्चागत्वम्, आगमविशेषकथनम्, आगमनिरपेक्षाया भुक्तेर्बलवत्त्वबोधनम् ६३५

विषयाः पृष्ठाङ्काः

पुरुषभोगकालस्य प्रमाणम्, भुक्तिभेदाः ६३६
अनागमोपभोगे दण्डः, अभियुक्ते मृते निर्णयः ... ... ... ... ६३७
व्यवहारसिद्धये व्यवहारद्रष्टॄणां बलाबलम्, व्यवहारनिवृत्तिकारणानि, मत्तादिकृतव्यवहारस्यासिद्धिबोधनम् ... ... ६३८
प्रतिवादिदापेन विचारः, प्रनष्टाधिगतधनविषये निर्णयः, अस्वामिकनिधेः प्राप्तौ निर्णयः, विद्वद्ब्राह्मतिरिक्तेन निधौ दृष्टे निर्णयः, अनिवेदितनिधिविषये निर्णयः ६४०
चौरहृतद्रव्यविषये निर्णयः ... ... ६४१


## ऋणादानप्रकरणम् ३.


ऋणादानलक्षणम् ... ... ... ६४१
सबन्धकादावृणे प्रतिमासं वृद्धिग्रहणविधानम् ... ... ... ... ६४२
अधमर्णविशेषाद्वृद्धिविशेषः, पशुस्त्रीणां वृद्धिः, वस्त्रधान्यादीनां वृद्धिः ... ६४३
अधमर्णके नष्टे द्विगुणीभूते हिरण्ये निर्णयः, शाकादिविषये वृद्धिग्रहणप्रकारः, अधमर्णेनाङ्गीकृतविषये निर्णयः ... ... ६४४
बहुषूत्तमर्णेषु युगपत्प्राप्तेषु केन क्रमेणाधमर्णिको दाप्य इत्यपेक्षितविषये क्रमः ६४५
निर्धनाधमर्णिकविषये वर्णव्यवस्थया तदपाकरणोपायः ... ... ... ६४६
देयमानाग्रहणे निर्णयः, अधमर्णे मृते प्रोषिते वा कैर्ऋणमपाकरणीयमित्येतद्विषये विचारः ... ... ... ६४७
कुटुम्बार्थादृणाद्यदन्यदृणं तदपाकरणे निर्णयः, सुराकामाद्यर्थकृतऋणस्यादेयत्वम् ६४८
अदेयर्णविषये निर्णयः ... ... ... ६४९
पितुर्ऋणस्य पुत्रपौत्रादिभिर्देयत्वम्, ऋणस्यानेकत्वे दानक्रमः, पितामहस्य ऋणापकरणे निर्णय.... ... ... ६५०
रिक्थग्राह्यादीनामृणदानेऽधिकारः, पुनर्भूलक्षणम् ... ... ... ... ६५१
स्वैरिणीलक्षणानि, शौण्डिकादिकृतर्णविषयेऽपाकरणप्रकारः... ... ... ६५२

विषयाः पृष्ठाङ्काः

पितू रिक्थाधिकारिनिर्णयः, पैतामहर्णापाकरणप्रकारः... ... ... ... ६५३
ऋणाधिकारिनिर्णयः, भ्रात्रादीनामविभक्तत्वे प्रातिभाव्यादीनां निषेधः ... ६५४
दंपत्योः परस्परं धनविषयेऽविभागः, दर्शनादिषु प्रातिभाव्यनिरूपणम्, प्रतिभूप्रकाराः ... ... ... ... ६५५
दर्शनप्रत्ययप्रतिभूविषये विचारः, प्रतिभुवामनकत्वे ऋणदानप्रकारः ... ६५६
प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिः, प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्ते पशुस्त्र्यादिविषयेऽपवादः, आधिस्वरूपम् ... ६५७
आधिनाशे निर्णयः, गोप्याधिभोगे वृद्धिनिषेधः ... ... ... ... ६५८
आधिसिद्धिविषये निर्णयः, आधेर्द्वैविध्यनिरूपणम् ... ... ... ... ६५९
चरित्रबन्धकाधिविषये निर्णयः, आधिमोचनविषये निर्णयः, असंनिहिते प्रयोक्तरि कर्तव्यता ... ... ... ६६०
फलभोग्याधिविषये निर्णयः ... ... ६६१


## उपनिधिप्रकरणम् ४.


उपनिधिद्रव्यलक्षणम् ... ... ... ६६१
न्यासलक्षणम्, उपनिधेर्द्वैविध्यम्, न्यासरक्षणे फलम् ... ... ... ६६२
न्यासापहारे दोषनिरूपणम्, उपनिधिदानेऽपवादः ... ... ... ... ६६२
उपनिधिनाशे निर्णयः, उपनिध्युपभोक्तुर्दण्डः, उपनिधिधर्माणां याचितादिषु विधिः ... ... ... ... ६६३
न्यासापहारिणो दण्डविधानम्, रहो दत्ते निधौ निर्णयः ... ... ... ६६४


## साक्षिप्रकरणम् ५.


साक्षिस्वरूपनिरूपणम्, साक्षिणां सजातीयत्वेन विधानम् ... ... ... ६६५
कृताकृतभेदेन साक्षिणो द्विप्रकारत्वनिरूपणम्, कृतसाक्षिणः पञ्चविधत्वम्, अकृतसाक्षिणः षड्विधत्वम्, तल्लक्षण-

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| निरूपणम् ... ... ... ... | ६६६ |
| असाक्षिनिरूपणम् ... ... ... | ६६७ |
| असाक्षिप्रकाराः, स्तेनादीनामसाक्षित्वेन विधानम् ... ... ... ... | ६६८ |
| एकसाक्षिविषयेऽनुमतिः, चौर्यादिषु वर्ज्य-साक्षिणोऽपि ग्रहणम्... ... ... | ६७० |
| कार्यगौरवेऽसाक्षिणामपि साक्षित्वबोधनम्, कूटसाक्षिणां दण्डः ... ... ... | ६७१ |
| प्रसङ्गात्प्रमाणदोषोद्भावनकालनिरूपणम् | ६७२ |
| साक्षिश्रवणविधिः ... ... ... | ६७३ |
| ब्राह्मणादिसाक्षिविषये धर्मनिरूपणम् ... | ६७४ |
| कूटसाक्षिस्वरूपकथनम्, साक्षिणामकथने कर्तव्यता ... ... ... ... | ६७६ |
| जानतः साक्ष्यानङ्गीकारे दण्डविधिः, साक्षिणां द्वैधे निर्णयप्रकारः ... ... | ६७७ |
| जयपराजयावधारणविषये निश्चयः, साक्षिवचनप्रामाण्यभेदहेतुनिरूपणम् ... | ६७८ |
| साक्ष्यन्तरविषये हेतुः, कूटसाक्षिणां दण्डः | ६७९ |
| लोभादिकारणविशेषे दण्डविशेषबोधनम्, क्षत्रियादीनां कूटसाक्षित्वे दण्डः, साक्ष्यनिह्नवे दण्डविधिः ... ... | ६८० |
| वर्णिनां वधेऽनृतानुज्ञा, अनृतवचने प्रायश्चित्तम्, ब्राह्मणवधनिषेधनिरूपणम् | ६८१ |
| क्षत्रियादिवधप्रसङ्गेऽनृतवचनानुज्ञा, अनृते प्रायश्चित्तम् ... ... ... ... | ६८२ |


## लेख्यप्रकरणम् ६.


| | |
|---|---|
| लिखिताभिधानम् ... ... ... | ६८२ |
| लेख्यत्रैविध्यम्, भागादिभेदेन लेख्यस्य सप्त प्रकाराः, तल्लक्षणाभिधानं च, लौकिकराजकीयभेदेन लेख्यस्य द्विविधत्वम्, तद्भेदनिरूपणम् ... ... | ३८३ |
| लेख्यशुद्धिविधानम्, जयपत्रलक्षणम्,लेख्ये संवत्सरादीनां निवेशः ... ... | ६८४ |
| लेख्यसमाप्तावधमर्णस्य संमतिः, लेख्ये साक्षिणां निवेशः, अलिपिज्ञाधमर्णादावुपायान्तराभिधानम्, लेख्ये लेखकसंमतिः... ... ... ... ... | ६८५ |
| स्वकृतलेख्ये विशेषाभिधानम्,लेख्यप्रकार- | |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| निरूपणम्, मुमूर्ष्वादिकृतलेख्यस्यासिद्धिः, कूटलेख्यलक्षणम् ... ... | ६८६ |
| लेख्यारूढर्णविषये विशेषः, देशान्तरस्थादिविषये लेख्यान्तराभिधानम् ... ... | ६८७ |
| संदिग्धलेख्यशुद्धिः, सदृशलेख्ये विचारः | ६८८ |
| कूटलेख्यसंशये निर्णयोपायाः, लेखकादीनां पञ्चत्वे निर्णयः ... ... ... | ६८९ |
| ऋणिस्वहस्तसंदेहे निर्णयप्रकारः... ... | ६९० |
| सीमापत्रविधानम्, साक्ष्यभावेऽपि लेख्यप्रमाणविषये निर्णयः, समकालपश्चिमाभ्यां राजकृतलेख्यस्य विशिष्टत्वबोधनम् | ६९१ |
| लेख्यस्य पृष्ठे लेखनप्रकारः, कृत्स्ने ऋणे दत्ते कर्तव्यता ... ... ... | ६९३ |


## दिव्यप्रकरणम् ७.


| | |
|---|---|
| दिव्यस्वरूपाभिधानम् ... ... ... | ६९३ |
| घटादिदिव्यानां निरूपणम् ... ... | ६९४ |
| चौर्यशङ्काभियुक्तादीनां तप्तमाषादिदिव्यविधानम्, तुलादिदिव्यानां विषयविशेषनिरूपणम्, अभियोक्तुः क्रियाविशेषाभिधानम्, अभियोक्तृकर्तृकशीर्षकावस्थाननियमस्य क्वचिन्निमित्तेऽपवादनिरूपणम् ... ... ... | ६९५ |
| महापातक्यादिषु दिव्यनिषेधः, शीर्षकमन्तरेणापि नृपद्रोहादिविषये घटादिदिव्यविधानम् ... ... ... | ६९६ |
| दिव्यविधिः, कालविशेषेण दिव्यविशेषाः, सर्वदिव्यविषये पूर्वाह्णकालविधानम्, दिव्येष्वाचारः ... ... ... | ६९७ |
| दिव्यकरणे मासाभिधानम्, दिव्येषु कर्तृनियमविधिः, रोगविशेषे दिव्यविशेषनिषेधनिरूपणम्, ... ... ... | ६९८ |
| ऋणादानादौ क्रियति धनेऽभियोगस्य महत्त्वं तद्विषये निर्णयः ... ... | ६९९ |
| अत्यन्तोत्तमगुणत्वपुरुषविषये प्रमाणादिनिरूपणम्, तुलाप्रयोगविधिः ... ... | ७०० |
| तुलाकरणविधिः ... ... ... ... | ७०१ |
| तुलायां शुद्धिपरीक्षणप्रकारः ... ... | ७०४ |
| अग्निदिव्यप्रयोगाभिधानम्, अग्नेः प्रार्थना | ७०५ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| अभियोक्तृहस्तयोर्लोहमयपिण्डविन्यासः, अधःपिण्डनिर्माणविधिः ... ... | ७०६ |
| अग्निदिव्यकर्तुराचारः, मण्डलप्रमाणम्, अग्निदिव्यविधिः ... ... ... | ७०७ |
| अग्निदिव्यकर्तुः शुद्धिः ... ... ... | ७०८ |
| जलपरीक्षाप्रयोगः, तोयविधिनिरूपणम्... | ७०९ |
| विषादिव्यप्रयोगविधिः ... ... ... | ७११ |
| विषविधिः ... ... ... ... | ७१२ |
| कोशविधिः, कोशविधौ शुद्धिपरीक्षणम्, जयपराजयावधारणकारणम् ... | ७१४ |
| तण्डुलदिव्यविधिः ... ... ... | ७१५ |
| तप्तमाषविधिः, फालविधिः, धर्माधर्मविधिः ... ... ... ... | ७१६ |


## दायविभागप्रकरणम् ८.


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| पितुरिच्छया विभागप्रकारः, विषमविभागनियमः, एकपुत्रविषये भागविचारः, ज्येष्ठादिविषय उद्धारविभागः ... | ७१७ |
| दायभागलक्षणम्, विभागे पुत्राणामधिकारः, व्याध्यादिदोषसहितस्य पितुर्विभागेऽनधिकारः ... ... ... | ७१८ |
| समविभागे पत्नीनां विशेषः, विभागवैषम्ये कारणान्तरम्... ... ... ... | ७१९ |
| पितृकृतविभागस्यानुलङ्घनबोधनम्, पितृमरणानन्तरं समविभागः, मातृधनविभागे निर्णयः... ... ... ... | ७२० |
| संप्राप्तव्यवहाराणां विभागबोधनम्, पुंसां व्यवहारकालः ... ... ... | ७२२ |
| ऋणशुद्धिः, अविभाज्यधनम् ... ... | ७२३ |
| क्रमादागतद्रव्योद्धरणे निर्णयः, विद्यालब्धधनस्याविभागः, विद्याधनलक्षणनिरूपणम्... ... ... ... ... | ७२४ |
| ध्वजाहृतधनलक्षणम्, विद्याधनविभागनिर्णयः... ... ... ... ... | ७२५ |
| वस्त्रालंकारादीनां विभागनिर्णयः, अनेकपितृकाणां विभागनिर्णयः ... ... | ७२६ |
| भ्रातृपुत्रस्य धनविभागः... ... ... | ७२७ |
| अनुत्पन्नापत्यादीनां स्त्रीणां दायविचारः, | |
| पैतामहे धने पौत्राणां विभागे विशेषः | ७२८ |
| विभागोत्तरमुत्पन्नपुत्रस्य विभागविषये निर्णयः ... ... ... ... | ७२९ |
| पितृदत्तधनविषये निर्णयः, पितुरूर्ध्वं विभागे मातुः स्वपुत्रसमांशित्वम् ... ... | ७३० |
| विभजतां पुत्राणां कार्यान्तरनिरूपणम्, असवर्णानां दायविभागः ... ... | ७३१ |
| भ्रात्रादिवञ्चनया स्थापितस्य समुदायद्रव्यस्य विभागः... ... ... ... | ७३२ |
| ग्रामुष्यायणाधिकारविषये निर्णयः ... | ७३३ |
| औरसपुत्रादीनां लक्षणम्... ... ... | ७३४ |
| शूद्रापुत्रविषये विभागनिरूपणम्, ... | ७३५ |
| कानीनपुत्रलक्षणम् ... ... ... | ७३६ |
| दत्तकादिपुत्राणां धर्माः, दत्तकप्रदानविधिः | ७३७ |
| क्रीतपुत्रलक्षणम्, कृत्रिमपुत्रलक्षणम्, स्वयंदत्तपुत्रलक्षणम्, सहोढलक्षणम् | ७३८ |
| औरसादिपुत्राणां मध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तरोत्तरस्य श्राद्धदानादावधिकारबोधनम्, पुत्रिकायां कृतायामौरसे जाते निर्णयः, दत्तके पुत्रे सत्यौरसोत्पत्तौ निर्णयः, पुत्रप्रतिनिधिलक्षणानां विशेषनिरूपणम् ... ... ... ... | ७३९ |
| असवर्णपुत्रविषये विचारः, पुत्रतत्प्रतिनिधिरहितस्य मृतस्य धनभाजां क्रमः | ७४० |
| सर्वेषामभावे ब्राह्मणानां रिक्थभागित्वाभिधानम्, ब्राह्मणद्रव्यस्य राज्ञाऽहार्यत्वाभिधानम्... ... ... ... | ७४५ |
| राजगामिधनविषये निर्णयः, स्त्रीधनादिधनानामहार्यत्वाभिधानम् ... ... | ७४६ |
| वानप्रस्थादीनां धनेऽधिकारिणः, सोदरस्य संसृष्टिधनेऽधिकारिनिर्णयः ... | ७४७ |
| संसृष्टलक्षणम्, सोदरासोदरसंसर्गे निर्णयः | ७४८ |
| संसृष्टिधनविभागे विशेषः, विभागेऽनधिकारिणः ... ... ... ... | ७४९ |
| अनंशानां पुत्रविषये विभागविधानम्, क्लीबादिदुहितृविषये निर्णयः ... | ७५० |
| स्त्रीधनस्वरूपनिरूपणम्, अध्यग्न्यादिस्त्रीधनस्वरूपम् ... ... ... ... | ७५१ |
| सौदायिकधने स्त्रीणां स्वातन्त्र्यम्, भर्तृ- | |

विषयाः पृष्ठाङ्काः
दत्तधने स्त्रीणामधिकारनिरूपणम्, अन्वाधेयलक्षणम्, स्त्रीधनविभागः, स्त्रीधनापहारिणां दण्डः ... ... ... ७५२
अनपत्यस्त्रीधनेऽधिकारिणः, विवाहभेदेन स्त्रीधनेऽधिकारिभेदाः, अपत्यवतीधने दुहित्राद्यधिकारः ... ... ... ७५३
वाग्दत्ताविषये निर्णयः, वाग्दत्तकन्यामरणे निर्णयः ... ... ... ... ७५४
दुर्भिक्षादिसंकटे स्त्रीधनग्रहणे भर्तुरधिकारः ७५५
आधिवेदनिकाख्यस्त्रीधनलक्षणम्, विभागसंदेहे हेतवः ... ... ... ... ७५६

## सीमाविवादप्रकरणम् ९.

सीमाविवादे निर्णयहेतवः, ध्वजिनीत्यादिभेदेन सीमायाः पञ्चधात्वम् ... ... ७५८
सीमाविवादे तन्निर्णयसाधनानि, वादहेत्वभिधानम्, सीमाविवादे साक्ष्यभिधानम् ७५९
मौललक्षणम्, उद्भूतलक्षणम्, संसक्तादीनां लक्षणम् ... ... ... ... ७६०
सीमानिर्णयोपायाः ... ... ... ७६२
सीमाविवादेऽनृतवादिनां दण्डः, ज्ञातृचिह्नाभावे राज्ञा सीमानिर्णयस्य कर्तव्यत्वम् ७६३
सीमानिर्णयस्याऽऽरामादिष्वतिदेशः, मेखलादीनां भेदने दण्डनिरूपणम् ... ७६४
मर्यादाभेदादौ दण्डाः ... ... ... ७६५
गृहाद्यपहारे दण्डनिरूपणम्, सीमामध्यगतवृक्षविषये निर्णयः, स्वक्षेत्रे सेतुकूपादिकरणविषये निषेधाभावबोधनम्, सेतुप्रवर्तयितृविषये विनिर्णयः, सेतोर्द्वैविध्यम् ... ... ... ... ७६६
फालाहृतक्षेत्रविषये विधानम् ... ... ७६७

## स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०.

माहिष्यादिभिः परसस्यादिभक्षणे दण्डः... ७६८
माषप्रमाणम्, अपराधातिशये द्विगुणदण्डः, क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे चातिदेशः, कालभेदेन दण्डभेदः ... ... ... ७६९
क्षेत्रस्वामिने फलदापने निर्णयः, उक्तदण्डस्य विषयविशेषेऽपवादनिरूपणम्, वृत्तिकरणप्रकारः ... ... ... ७७०
पशुविशेषे दण्डाभावः, अदण्ड्यपशूनामभिधानम्, प्रमादनाशे निर्णयः ... ७७१
पशूनां स्वामिपाल्योर्विवादे निर्णयप्रकारः, पालप्राह्यादिविषये स्वामिनो दोषाभावनिरूपणम्, पालदोषेण पशुविनाशे पाले दण्डः ... ... ... ... ७७२
गोप्रसङ्गाद्गोप्रचारः ... ... ... ७७३
गवादिप्रचारादिषु क्षेत्रपरिमाणम् ... ७७४

## अस्वामिविक्रयप्रकरणम् ११.

अस्वामिविक्रयविवादे निर्णयः, रहस्यल्पेन क्रयनिषेधः ... ... ... ... ७७४
अस्वामिविक्रयस्वरूपम्, नष्टापहृतद्रव्यविषये निर्णयः ... ... ... ... ७७५
गृहीतकार्याभिधानम्, स्वामिविक्रेतृविवादे स्वधनप्राप्तये स्वामिना यत्कर्तव्यं तद्विषये निर्णयः ... ... ... ... ७७६
पञ्चबन्धलक्षणम्, अभियोक्तृधर्मनिरूपणम्, क्रयशोधनादिप्रकारः, यदा तु अभियोक्तुः स्वत्वे प्रमाणं नास्ति क्रेतुश्च क्रयशुद्धौ तद्विषये विनिर्णयः ... ७७७
राजानुमतिं विना हृतप्रनष्टद्रव्यहरणे दण्डः, राजपुरुषानीतद्रव्यविषये कालनिरूपणम्, द्रव्यविशेषं प्रति यावदधिगमे देयं तद्विषये निर्णयः ... ... ... ७७८

## दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२.

इदं दत्तं संप्रदानादनपहार्यमिदं चापहार्यमिति विवेकार्थं देयादेयविषये निर्णयः, दानविक्रयकालनिरूपणम् ... ... ७७९
दातव्यद्रव्यविषये निर्णयः, दत्ताप्रदानिकलक्षणम् ... ... ... ... ७८०
देयादीनां प्रकाराः, अदेयमष्टविधम्, दानस्वरूपम्, भृतिलक्षणम्, कामक्रोधादिभिर्दत्तधनस्य पुनर्ग्रहणम् ... ... ७८१
देयधनस्य प्रतिग्रहप्रकाशविषयेऽभिधानम् ७८३

विषयाः पृष्ठाङ्काः

## क्रीतानुशयप्रकरणम् १३.

द्रव्यविशेषपरीक्षकाणां कालविशेषनिरूपणम् ... ... ... ... ७८३
प्रसङ्गाद्द्रव्यान्तरपरीक्षोपायनिरूपणम्, ता. न्तवविषये परीक्षणम्, कार्मिकादिविषये ह्रासवृद्धिज्ञानोपायः ... ... ७८४
दण्डपरिमाणनिरूपणम् ... ... ... ७८५

## अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४.

दासविषयाभिधानम्, दासानां पञ्चदश प्रकाराः ... ... ... ... ७८६
दासमोक्षणविषयनिरूपणम्, प्रव्रज्यावसितस्य मोक्षविषये निर्णयः ७८७
भक्तदासवडवाहृतयोर्विशेषः, वर्णापेक्षया दास्यव्यवस्था ... ... ... ७८८
ध्वजाहृतादिदासानां भेदाः, ब्राह्मण्यादानविषये दण्डविधानम्... ... ... ७८९
अन्तेवासिधर्माः, शुश्रूषकभेदनिरूपणम्, कर्मकरादीनां भेदाभिधानम् ... ... ७९०

## संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५.

संविद्व्यतिक्रमलक्षणस्य व्यवहारपदस्योपयोग्यर्थाभिधानम्, धर्मरक्षार्थं ब्राह्मणस्थापनादिनिरूपणम्, ... ... ७९२
सामयिकानां कर्तव्यम्, सामयिकराजकृतधर्मातिक्रमे गणद्रव्यहरणे च दण्डविधानम्... ... ... ... ... ७९३
अरुंतुदादीनां दण्डः, कुलश्रेण्यादिभिः कृतदण्डविषये राजानुमतिः, समूहानां मुख्यैः सह विसंवादे निर्णयप्रकारः ... ७९४
समूहहितवादिवचनस्य प्राह्यत्वेन बोधनम्, तत्प्रतिकूलस्य दण्डः, समूहप्रमुखेषु राज्ञो वर्तनप्रकारः, समूहदत्तापहारिणो दण्डः, गणधनविषये निर्णयः ... ७९५
कार्यचिन्तकलक्षणम्, ब्राह्मणेषूक्तस्य सामयिकधर्मस्य श्रेण्यादिष्वतिदेशः ... ७९६

विषयाः पृष्ठाङ्काः

## वेतनादानप्रकरणम् १६.

वेतनानपाकर्माख्यविवादपदाभिधानम् ... ७९७
भृतिमपरिच्छिद्य कर्म कारयितुर्दण्डः, भृतेर्भागनिर्णय, देशकालव्यतिक्रमेण भृतिदानम्, अनुरूपवेतनदानादिप्रकारः ७९८
वाहककृतभाण्डनाशे दण्डाभिधानम्, प्रस्थानविघ्नकर्तुर्दण्डः, प्रक्रान्तादिविषये दण्डविशेषाभिधानम्... ... ... ७९९
कर्म कर्तुर्वेतनादाने निर्णयः, मूल्यमादाय विद्याद्यप्रदाने निर्णयः ... ... ८००
परभूमौ गृहकरणे स्तोमदानादिनिर्णयः... ८०१

## द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७.

द्यूतसमाह्वयलक्षणम्, सभापतिना यावती वृद्धिर्यतश्च प्राह्या तदभिधानम्, कृतवृतेः सभिकस्य कर्तव्यता ... ... ८०२
धूर्तमण्डले राज्ञो वर्तनक्रमाभिधानम् ... ८०३
जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायः, कूटाक्षोपधिदेविनां दण्डः, एकप्रधानकद्यूतविधानम् ... ... ... ... ८०४
समाह्वये द्यूतधर्मातिदेशः ... ... ८०५

## वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८.

वाक्पारुष्यस्वरूपम् ... ... ... ८०५
पारुष्यभेदनिरूपणम्, वाक्पारुष्यविशेषे दण्डविशेषः, काणादिविषयेषु तच्छब्देन व्यवहारे दण्डाभिधानम् ... ८०६
समवर्णाद्याक्रोशने दण्डविशेषाः, मध्यमवाक्पारुष्ये दण्डविधानम्, वाक्पारुष्यस्यैव दण्डनीयगुणसदसद्भावकृताविशेषाभिधानम् ... ... ... ... ८०७
ब्राह्मणादिवर्णानां मूर्धावसिक्तद्विजातीनां परस्पराक्रोश्याक्रोशकभावे दण्डनिरूपणम्, वर्णानां प्रातिलोम्याक्षेपे दण्डविशेषः ... ... ... ... ८०८

विषयाः पृष्ठाङ्काः

निष्ठुराक्षेपे दण्डः, अशक्तविषये दण्डनिरूपणम्... ... ... ... ... ८०९

पतनीयहेत्वाक्षेपे दण्डः, उपपातकहेत्वाक्रोशने दण्डविशेषः, त्रैविद्यादीनामाक्षेपे दण्डाभिधानम् ... ... ... ८१०


## दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९.


दण्डपारुष्यलक्षणम्, तस्य त्रैविध्यम्, दण्डप्रणयनार्थे तत्स्वरूपसंदेहे निर्णयहेतवः ... ... ... ... ८११

भस्मादिप्रक्षेपणे दण्डविधानम्, अमेध्यादिक्षेपणे दण्डः, ब्राह्मणापराधेषु क्षत्रियादेरङ्गच्छेदादिनिरूपणम् ... ... ८१३

द्विजातेरुपरि निष्ठीवनादि कुर्वतः शूद्रस्यौष्ठच्छेदः, परपीडार्थं हस्तायुद्यमिते दण्डः, पादकेशादिलुञ्चनेषु दण्डाभिधानम् ... ... ... ... ८१४

काष्ठादिभिस्ताडने दण्डः, लोहितदर्शने दण्डविशेषः, करपादादिभङ्गे दण्डविधानम्, चेष्टादिरोधने दण्डः, कन्धरादिभङ्गे दण्डः... ... ... ... ... ८१५

बहुभिरेकस्याङ्गभङ्गादिकरणे दण्डः, परस्य दुःखोत्पादने व्रणारोपणादौ व्ययदानम् ८१६

कुड्याभिघातकादेर्दण्डविधानम्, परगृहे दुःखोत्पादिवृश्चिकादिप्रक्षेपे दण्डः, पश्वभिद्रोहे दण्डः, पशूनां लिङ्गच्छेदे दण्डाभिधानम् ... ... ... ... ८१७

महापशुविषये दण्डः, वृक्षाभिद्रोहे दण्डः, वृक्षविशेषच्छेदने गुल्मादीनां छेदने च दण्डः... ... ... ... ... ८१८


## साहसप्रकरणम् २०.


साहसलक्षणम्, साहसस्य पञ्च प्रकाराः... ८१९

मध्यमकधनापहारे दण्डः ... ... ८२०

साहसस्य प्रयोजयितुर्दण्डः, पूज्यानामप्रियोक्तिपरिभवयोः कर्तुर्दण्डः, भ्रातृभार्याताडने दण्डः, संदिष्टस्याप्रदातुर्दण्डः, समुद्रगृहभेदकृदादीनां दण्डः... ... ८२१

विषयाः पृष्ठाङ्काः

स्वच्छन्दविधवागाम्यादीनां दण्डः, अयुक्तशपथकरणे दण्डः, पुंस्त्वप्रतिघातने दण्डः, दासीगर्भविनाशने दण्डः, पितापुत्रादीनामन्योन्यत्यागे दण्डविधानम् ८२२

परवक्त्रापरहर्तुर्नेजकस्य दण्डः, पितापुत्रविरोधे साक्षिणां दण्डः... ... ... ८२३

तुलानाणककूटकरणे दण्डः, नाणकपरीक्षकविषये दण्डाभिधानम्, मिथ्याचिकित्सां कर्तुर्वैद्यस्य दण्डः, अबन्ध्यबन्धनादौ दण्डः ... ... ... ८२४

मानेन तुलया वा पण्यद्रव्यापहारे दण्डाभिधानम्, भेषजादावसारद्रव्यमिश्रणे दण्डः... ... ... ... ... ८२५

अजातौ जातिकरणे दण्डः, समुद्रभाण्डव्यत्यासकरणे दण्डविधानम्, वणिजामर्घह्रासवृद्धिकरणे दण्डः ... ... ८२६

अर्घविशेषकरणे दण्डविधिः, येनार्घेण व्यवहारो वणिग्भिः कार्यस्तद्विषयनिरूपणम्, स्वदेशपण्यविषये लाभनिर्णयः, क्रयादिनाह्निनान्तरविक्रयविषयविधानम् ८२७


## विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् २१.


विक्रीयासंप्रदानस्वरूपम्, विक्रीयासंप्रयच्छतो दण्डः... ... ... ... ८२८

मूल्यं दत्त्वा पण्यं न गृह्णाति तद्विषये निर्णयः, राजदैवोपघातेन पण्यदोषे निर्णयः ... ८२९

एकत्र विक्रीयान्यत्र विक्रये दण्डः, निर्दोषं दर्शयित्वा सदोषदाने दण्डविधानम्, क्रयकर्तुरनुशयविषये निर्णयः ... ८३०


## संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२.


संभूयसमुत्थानविषये लाभालाभादिनिर्णयः, संभूयसमुत्थानलक्षणम् ... ... ८३१

संभूय कर्म कुर्वतामाचारनिरूपणम् ... ८३२

प्रतिषिद्धादिविषये निर्णयः, राजनिरूपितार्घे राजभागः, व्यासिद्धादिविषये निर्णयः ... ... ... ८३३

विषयाः पृष्ठाङ्काः

शुल्कवञ्चनार्थं पण्यपरिमाणनिह्नवे दण्डः, तारिकस्य शुल्कविषये दण्डः, समीपगृहस्वामिनां निमन्त्रणाकरणे दण्डः, जलशुल्कविषये निर्णयः ... ... ८३४

संभूयकारिणां मृतस्व धनाधिकारिणां क्रमः ... ... ... ... ... ८३५

संभूयकारिणो मध्ये जिह्मकर्तुस्त्यागः, वणिग्धर्मस्यर्त्विगादिष्वतिदेशः ... ८३६

## स्तेयप्रकरणम् २३.

चौरस्य दण्डनार्थं परिज्ञानोपायनिरूपणम्, स्तेयग्रहणस्य ज्ञानोपायाः ... ... ८३९

लोप्त्रपरीक्षणम् ... ... ... ... ८४०

शङ्कया गृहीतविषये निर्णयः, चौरे दण्डः, चौरब्राह्मणविषये दण्डान्तरनिरूपणम् ८४२

चौरादर्शनेऽपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायाः ... ८४३

ग्रामक्षीमादिचौर्ये मुषितदानप्रकाराः ... ८४४

बन्दिग्राहादीनामपहारे दण्डविधानम्, अपराधविशेषेण दण्डविशेषः, द्वितीयापराधे दण्डः... ... ... ... ८४५

क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यापहारे यथासारं दण्डविधानम्, क्षुद्रादिद्रव्याणां स्वरूपम्, धान्यापहारे दण्डः, प्रसृतादिमानलक्षणम् ... ... ... ... ८४६

सुवर्णरजतादीनामपहारे दण्डनिरूपणम्, रत्नादीनां हरणे दण्डनिरूपणम् ... ८४७

यज्ञार्थोपकृप्तद्रव्याद्यपहरणे दण्डः, कूपरज्ज्वाद्यपहारविषये दण्डविशेषः, अल्पमूल्यद्रव्यस्तेये मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः ८४८

चौरावषये राज्ञः कर्तव्यम्, चौरसाहसिकयोरनुकूलं कुर्वतो दण्डः ... ... ८४९

शस्त्रावपातनादिषु दण्डविधानम्, क्षत्रियादिकृतब्राह्मणवधे दण्डः ... ... ८५०

हंसभासादीनां वधे निर्णयः, प्रकाशघातकादिविषये निर्णयः, विप्रदुष्टादिस्त्रीणां दण्डः... ... ... ... ... ८५१

घातकाविज्ञाने तत्परिज्ञानोपायनिरूपणम्, क्षेत्रादीनां दाहकस्य राजपत्न्यभिगामिनश्च दण्डः... ... ... ... ८५२

## स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४.

परस्त्रीसंभोगात्मके संग्रहणे निमित्ते पुरुषस्य प्राधान्यतायां कारणनिरूपणम् ... ... ८५३

स्त्रीसंग्रहणसाधनानि, स्त्रीसंग्रहणस्य त्रैविध्यम् ... ... ... ... ... ८५४

स्त्रीसंग्रहणलक्षणम्, प्रतिषिद्धस्त्रीपुंसयोः पुनः संलापादिकरणे दण्डविधानम्... ८५५

सजातीयादिविषये दण्डविधानम्, चारणदारेषु दण्डाभावः ... ... ... ८५६

मात्रादिगमने दण्डः ... ... ... ८५७

प्रसह्यात्कन्याहरणे दण्डः, कन्यादूषणे दण्डः ८५८

स्त्रीदूषणे दण्डः, मिथ्याभिशंसने दण्डः, पशुगमने दण्डः, अन्त्यजस्त्रीगमने दण्डः... ८५९

दास्यभिगमने दण्ड, बलात्कारेण दास्यभिगमने दण्डः, एकस्यां बहूनामभिगमे दण्डनिरूपणम् ... ... ... ८६०

अयोनौ गच्छतो दण्डः, अन्त्यस्त्रीऽऽर्योगमने वधः ... ... ... ... ८६१

## प्रकीर्णप्रकरणम् २५.

प्रकीर्णाख्यविवादपदनिरूपणम् ... ... ८६१

अभक्ष्येण ब्राह्मणादीन्दूषयतो दण्डविधानम्, कूटस्वर्णव्यवहारादौ दण्डः, विषयविशेषे दण्डाभावाभिधानम् ... ८६२

छिन्नस्यायानेन मारणविषये निर्णयः ... ८६३

प्राणिवधे प्रवर्तमानानामुपेक्षायां स्वामिनो दण्डः, जारं चौरेति वदतो दण्डः, यो राजन्यानिवेद्य जारं मुञ्चति तद्विषये दण्डाभिधानम्, राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तुर्दण्डः, राज्ञाकोशादिकर्तुर्दण्डः ... ८६४

मृतवस्तुविक्रये गुरोस्ताडने राज्ञासनारोहणे दण्डः, परनेत्रभेदनादौ दण्ड, विप्रलिङ्गेन जीवयितुर्दण्डः, रागलोभादि-

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| नाऽन्यथा व्यवहारे सभ्यानां दण्डाभिधानम् ... ... ... ... | ८६५ |
| यायतः पराजितस्य वादिनो न्यायदर्शनोपायाभिधानम्, तीरितादिस्थलविषये निर्णयः, अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिविषये निर्णयः ... ... ... | ८६६ |


## इति व्यवहाराध्यायः।

## ३ प्रायश्चित्ताध्यायः।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **आशौचप्रकरणम् १.** | |
| मृतविषये खननदाहादिनिर्णयः, श्मशाने ब्राह्मणादिवर्णानां नयनविधिः, कृतचूडविषय उदकदानादिनिर्णयः ... ... | ८७० |
| अकृतचूडविषये निर्णयः, शूद्राहृताग्निकाष्ठविषये दोषनिरूपणम्, प्रेतस्नानादिविधिः, नग्नदेहदहने निषेधः, धनिष्ठापञ्चकमृते विशेषविधानम् ... ... | ८७१ |
| त्रिपादक्षमृते विशेषविधिनिरूपणम्, त्रिपुष्करयोगस्वरूपाभिधानम्, द्विजस्य शूद्रेण निर्हरणे दोषाभिधानम्... ... | ८७२ |
| शवनिर्हरणविधिः, आहिताग्निमरणे विशेषः, उपनीते संस्थिते संस्कारान्तरकर्मनिरूपणम्, अज्ञातिष्वार्तदेशविधानम् | ८७३ |
| उदकदानधर्मविधिः ... ... ... | ८७४ |
| तिलाञ्जलिः ... ... ... ... | ८७५ |
| पतितब्रह्मचारिणोरुदकदानेऽनधिकारः, पाषण्डादीनामुदकदानकर्तृत्वसंप्रदानत्वयोरपवादनिरूपणम् ... ... ... | ८७६ |
| आत्महननविषये निर्णयः, प्रमादेनाग्न्युदकादिभिर्मरण आशौचादिनिरूपणम्, महारोगादिपीडितानामात्मत्यागकरणेऽभ्यनुज्ञा ... ... ... ... | ८७७ |
| वाराणस्यां म्रियमाणस्य तारकमन्त्रप्राप्तिः, अग्नितीर्थे देहत्यागिनां मोक्षाभिधानम्, स्वर्गद्वारे देहत्यागिनां गतिनिरूपणम्... | ८७८ |
| महाप्रस्थानयात्राफलम् ... ... ... | ८७९ |
| उदकदानोत्तरं कर्तव्यता... ... ... | ८८० |
| शोकनिरसनहेत्वभिधानम् ... ... | ८८१ |
| रोदने दोषः, उत्तरकर्मनिरूपणम्, प्रेतसंस्पर्शिनां शुद्धिः... ... ... ... | ८८२ |
| म्लेच्छेनासवर्णप्रेतदहनेऽशौचाभिधानम्, धर्मार्थशवनिर्हरणे फलम् ... ... | ८८३ |
| आचार्यादीनां निर्हरणादौ ब्रह्मचारिणोऽधिकारबोधनम्, शूद्रशवनिर्हरणे ब्राह्मणस्य प्रायश्चितम्, ज्ञातीनां नियमाविशेषाः | ८८४ |
| **श्मशानदेवताबलिविधिः, अस्थिसंस्कारः.... .... .... ८८६** | |
| तीर्थेष्वास्थित्यागात्फलम्, **प्रेतपिण्डदाने निर्णयः .... .... ८८७** | |
| ब्राह्मणादिषु पिण्डसंख्या, असमर्थविषये पिण्डसंख्याभिधानम्, **पिण्डदानविधिः ८८८** | |
| प्रथमादिविशेषदिवसेषु ज्ञातीभिः सहैकत्र भोजनम्, प्रथमादिदशाहान्तदिवसेषु पिण्डदानेन मूर्धाद्यङ्गोत्पत्तिनिरूपणम्, शिक्यादौ जलक्षीरदानम् ... ... | ८८९ |
| **अशौचस्य विषयविशेषेऽपवादः ८९०** | |
| सूतके स्मार्तकर्मनिर्णयः ... ... ... | ८९२ |
| सूतके संध्यादिविधानम्, सपिण्डादीनामाशौचकालः, समानोदकलक्षणम्, चतुर्थदिनेऽस्थिसंचयनम्,... ... ... | ८९३ |

विषयाः पृष्ठाङ्काः

**अशौचविषये पक्षाभिधानम्.... ८९४**

अस्नातादीनां सूतकित्वेन बोधनम् ... ८९५

जन्मन्यस्पृश्यत्वाविशेषप्रतिपादनम्, पुत्रजन्मादिवसे पितुः सूतकाभावः, तद्दिवसे ब्राह्मणानां प्रतिग्रहाधिकारनिरूपणम्... ८९६

सूतिकायाः कर्मण्यधिकारकालः, सूतके प्रथमादिदिवसेषु यागविषये पितुरधिकारः ८९७

## आशौचसंपाते निर्णयः।

जननमरणाशौचसंपाते निर्णयः... ... ८९८

गर्भस्रावे आशौचानिर्णयः ... ... ९००

विप्रादिहतस्याऽऽशौचसंकोचः... ... ९०१

**पतितलक्षणम्,** पतितविषये दाहादिकर्मणां निषेधः, मृतपतितानां तृप्तिक्रिया, पतिताव्रातिनोः श्राद्धकालः ... ... ९०३

विदेशस्थाशौचे दशाहादूर्ध्वं ततः पूर्वं च ज्ञाते निर्णयः, ... ... ... ९०४

देशान्तरलक्षणम्, अङ्गुलादीनां प्रमाणम्, देशान्तरस्थमातापितृमरणे पुत्रस्याऽऽशौचविधानम्, पितृपत्नीविषये विशेषः, क्षत्रियादिवर्णानामाशौचकालः, ... ९०५

स्वधर्मनिरतयोः क्षत्रियवैश्ययोः शुद्धिकालः ... ... ... ... ९०६

क्षत्रियादिबान्धवे विपन्ने विप्रादीनामाशौचकालः, अदत्तकन्यामरणे सपिण्डानामाशौचम्, बालमरणे सपिण्डानामाशौचकालः, गुर्वादिष्वसपिण्डेषु संस्थितेष्वाशौचनिरूपणम्... ... ... ९०७

अप्रौढादिकन्यामरण आशौचनिर्णयः, ... ९०८

जातमृते मृतजाते वाऽऽशौचाभिधानम्... ९०९

दशाहानिवृत्तौ बालस्य पश्चत्वे निर्णयः, अजातदन्तादिबालमरण आशौचनिर्णयः ... ... ... ... ९१०

अकृतचूडमरणे निर्णयः, कृतचूडमरणे निर्णयः, ... ... ... ... ९११

गुरोर्मरणे शिष्यस्याऽऽशौचकालः ... ९१२

मातामहादिमरणे दौहित्रादीनामाशौचकालः, दौहित्रादिमरणे निर्णयः, पित्रोरुपरमे व्यूढकन्यानामाशौचम्, श्वशुरादिमरण आशौचम् ... ... ९१३

अनौरसपुत्रमरणेऽन्याश्रितभार्यामरणे चाऽऽशौचनिर्णयः ... ... ... ९१४

राजनि मृते तद्विषयवासिनामाशौचम्, सपिण्डजननादावपि क्वचिद्विषय आशौचापवादः ... ... ... ... ९१५

कार्वादीनां सद्यः शौचत्वविधानम्, ... ९१६

डिम्बाहवादिहतानां सद्यः शुद्धिः, अनुगमनाशौचनिर्णयः, शूद्रानुगमने निर्णयः ९१७

ऋत्विजादीनां सद्यः शौचम् ... ... ९१८

गृहीतमधुपर्कादीनामाशौचापवादः ... ९१९

प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि ब्राह्मणानां नाऽऽशौचम्, नैष्ठिकादीनां नाऽऽशौचम् ९२०

रजस्वलादीनां स्पर्शे निर्णयः, प्रसङ्गात्सचैलस्नाननिमित्ताभिधानम् ... ... ९२१

स्नानकारणानि ... ... ... ... ९२५

शुद्धिहेतूनां कथनम् ... ... ... ९२७

## आपद्धर्मप्रकरणम् २.

आपदि वृत्त्यन्तरजीवननिर्णयः,... ... ९२८

सर्ववर्णसाधारणधनोपार्जनोपायनिरूपणम् ९२९

आपदि ब्राह्मणस्य शूद्रवृत्तिनिषेधः, वैश्यकर्मणा जीवतो ब्राह्मणस्य पण्यविशेषविक्रयप्रतिषेधाभिधानम् ... ... ९३०

वेदाग्निविक्रये ब्राह्मणस्य दोषः, वेदविक्रयस्य षड्विधत्वम्, तिलविक्रये प्रतिप्रसवः ... ... ... ... ९३२

द्रव्यविशेषविक्रये प्रत्यवायाविशेषः- ... ९३४

आपद्यसत्प्रतिग्रहेऽदोषः ... ... ... ९३५

आपत्काले जीवनसाधनानि ... ... ९३६

अत्यन्तापदि स्वयंकृषतो नियमाः, यथाविधि कृषिकर्मकर्तुर्विप्रस्य दोषाभावकथनम् ... ... ... ... ९३७

उक्तजीवनैरजीवतो जीवनान्तरबोधनम्, प्रसङ्गाद्राज्ञो वृत्तिविषये कर्तव्यता ... ९३८

पोष्यवर्गः ... ... ... ... ९३९

विषयाः पृष्ठाङ्काः

## वानप्रस्थप्रकरणम् ३.

वानप्रस्थधर्माः.... .... ....९३९
ब्रह्मचर्यानन्तरमपि वानप्रस्थाश्रमानुज्ञा, गार्हस्थ्याद्वानप्रस्थाश्रमं गच्छतो विशेषाभिधानम्, वानप्रस्थस्य श्रौतस्मार्तकर्मसाधनद्रव्यवेशाविशेषनिरूपणम् ९४०
संग्राह्यद्रव्यपरिमाणविशेषाभिधानम् ... ९४१
ग्राम्यौषधयः, वानप्रस्थाश्रमस्याऽऽचाराः ९४२
ग्रीष्मादिषु पञ्चाग्निसाधनादितपोभिधानम् ९४३
अग्नेः समारोपणादि, भैक्षाचरणम् ... ९४४
वनस्थभिक्षया शरीरवृत्त्यसंभव उपायान्तरबोधनम्, सकलानुष्ठानासमर्थविषये व्रतान्तरविधानम् ... ... ... ९४५

## यतिप्रकरणम् ४.

प्रव्रजितधर्माः .... .... ....९४६
संन्यासविधिव्याख्यानम्, ... ... ९४७
प्रव्रजितोपव्रतानि, संन्यासिनो धर्माः ... ९४९
भिक्षुप्रकाराः, पारिव्राज्यानन्तरं कर्तव्यानि, त्रिदण्डिलक्षणम् ... ... ९५१
भिक्षुकर्माणि, कुटीचरादिभिक्षूणां लक्षणानि ... ... ... ... ९५२
दण्डग्रहणेऽधिकारिणः, यतिधर्माः ... ९५३
यतिविहारः ... ... ... ... ९५४
परिव्राज्याभ्रंशे दोषाभिधानम्, भिक्षाटने कर्तव्यता ... ... ... ... ९५५
मोक्षाधिकारिनिरूपणम्, भिक्षाटनासमर्थप्रत्यनुग्रहः, अनुग्रहेऽप्यतिप्रसक्तिवारणाय विशेषाभिधानम् ... ... ९५६
पैशुनादीनां लक्षणानि ... ... ... ९५७
पारिव्राज्यफलम्, परिव्राड्धर्माः ... ९५८
यतेरात्मोपासनया मोक्षप्राप्तिः ... ... ९५९
प्रसङ्गाद्गृहस्थस्य मोक्षसाधनोपायाः ... ९६०
ज्ञानकर्मणोः प्रशंसा ... ... ... ९६१
भिक्षार्जने कर्तव्यता ... ... ... ९६२
यतिपात्राणि, तेषां शुद्धिसाधनम् ... ९६४
भोजनविधिः, वटार्कादिपर्णेषु भोजननिषेधः, कांस्यपात्रभोजने दोषः ... ... ९६५
यतेः प्रधानकर्मनिरूपणम्, तत्फलाभिधानं च, आशयशुद्धेः कर्तव्यतानिरूपणम् ९६६
वैराग्योपायकथनम् ... ... ... ९६७

## गर्भोत्पत्तिप्रकारवर्णनम् ....९६८
आत्मज्ञानोपायाभिधानम्, ध्यानयोगनिरूपणम्... ... ... ... ... ९७०
प्राणायामसाधनप्रकारः, परदुःखोत्पादने निषेधः, तत्त्वनिरूपणम् ... ... ९७१
सर्वाश्रमेषु यो धर्मो मोक्षोपायतयोक्तस्तस्य कात्स्न्र्यनिरूपणम्, धर्मसाधनानि ... ९७२
परमात्मनः सकाशाज्जीवोत्पत्तिनिरूपणम्, यदि जीवः परेणाभिन्नस्तर्हि कथमसौ स्वबन्धहेतूनि काम्यादीनि कुरुत इत्येतद्विषयेऽभिधानम् ... ... ... ९७३
जीवस्य जात इति यो व्यवहारस्तद्विषये कारणाभिधानम् ... ... ... ९७४
शरीरग्रहणप्रकारवर्णनम्, आकाशादिस्वीकारप्रकारनिरूपणम्... ... ... ९७५
शरीरादिमिच्छतो जीवस्येन्द्रियादिप्राप्तिकारणम्, संयुक्तशुक्रशोणितस्य कायरूपपरिणतौ क्रमः ... ... ... ९७६
तृतीयमासगतमेवाऽऽन्तरकार्यान्तराभिधानम्, ... ... ... ... ९७७
चतुर्थे मासि गर्भरक्षार्थं गर्भिण्यै दोहददानम्, गर्भस्थैर्यादिकथनम्, सप्तमेऽन्तःकरणादीनां संप्राप्तिः, अष्टमे त्वगादिसंबन्धः, अष्टमे गर्भस्याजीवने हेतुः, प्रसवकालः, ... ... ... ... ९७८
शरीरनिरूपणम्, अस्थिसंख्या, अस्थिसंख्यापूरणप्रकाराः ... ... ... ९७९
सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि ९८१
प्राणायतनानां विस्तारः, प्रपञ्चेन जठरावयवनिरूपणम्, ... ... ... ९८२
शरीरे स्थानानि, नव च्छिद्राणि, नाडीसंख्या, ... ... ... ... ९८३
क्षुद्रधमनीनां संख्याभिधानम्, केशमर्मसं-

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| धिसंख्या, सकलशरीरच्छिद्रसंख्या ... | ९८४ |
| शरीररसादिपरिमाणम्, शरीरनिरूपणस्य प्रयोजनाभिधानम्, परमात्माभिन्नक्षेत्रज्ञोपासनायामसमर्थं प्रति प्रकारान्तरेणाऽऽत्मोपासनानिरूपणम्... ... | ९८५ |
| अपवर्गहेतुतयोक्त परमात्मज्ञानं प्रत्युपायनिरूपणम्, **योगाभिधानम्** .... | ९८६ |
| **सांख्यतत्त्वाभिधानम्** .... | ९८७ |
| यच्छ्रेयमुक्तं तत्प्रयोगनिरूपणम्... ... | ९८८ |
| प्रत्याहारधारणयोर्लक्षणम् ... ... | ९८९ |
| प्राणायामादीनां फलानि, योगस्य षडङ्गत्वनिरूपणम्, परब्रह्माधिगमोपायाभिधानम्, ब्रह्मज्ञानाभ्यासोपायविशेषकथनम् | ९९० |
| वीणादिवाद्यद्वारा मोक्षमार्गप्राप्तिः, गीतज्ञस्य फलान्तराभिधानम्, मुनीनां प्रश्नः... ... ... ... ... | ९९१ |
| प्रत्युत्तरम् ... ... ... ... | ९९२ |
| आत्मनोऽवान्तरसृष्टौ हेतुत्वाभिधानम् ... | ९९३ |
| यद्यादिमानात्मा स्यात्तदा विनाश्यपि स्यात्ततश्च विनाशे मोक्षलक्षणोऽस्य धर्मो न स्यादिति संशयेऽभिधानम्... ... | ९९४ |
| महासृष्टिकर्तृत्वे परमात्मनः प्रकारविशेषनिरूपणम्, परमात्मनः श्वसूकरादिषु जननविषये मुनीनामाक्षेपः ... ... | ९९५ |
| तदुत्तरनिरूपणम्, स्थावरतादिजातिसंप्राप्तिकारणानि, शरीरिणां चित्तवृत्तिवैचित्र्यात्फलवैचित्र्यमित्यादिनिरूपणम् | ९९६ |
| अन्त्ययोनिषु जन्महेतवः, मृगपक्षिषु जननहेतुः, कायिकदोषेण स्थावरादिषु जननप्रकारवर्णनम् ... ... ... | ९९८ |
| उत्कृष्टयोनिप्राप्तिकारणाभिधानम्, सत्त्वगुणलक्षणम् ... ... ... ... | ९९९ |
| राजसतामसयोर्लक्षणम्, संसारप्राप्तिहेतुः | १००० |
| अविपक्वकरणस्याऽऽत्मज्ञानेऽनधिकारः, सत्रप्यर्थः परिपाकमन्तरेण न प्रकाशत इत्यत्र दृष्टान्तानिरूपणम् ... ... | १००१ |
| उपाधिवशादात्मनो भेदप्रत्ययः ... ... | १००२ |
| आत्मनो जगदुत्पत्तिप्रकारः ... ... | १००३ |
| क्षेत्रज्ञस्य प्रामाणिकताभिधानम्... ... | १००४ |
| आत्मनो बन्धविशेषाभिधानम् ... ... | १००५ |
| अमृतत्वप्राप्त्युपायाः ... ... ... | १००७ |
| योगप्राप्तिसाधनम्, जातिस्मरत्वविषये कारणाभिधानम्, सुरनरादियोनिविषये कर्मण उपाधित्वम्, रूपनानात्वेऽपि हेत्वन्ताराभिधानम् ... ... ... | १००८ |
| प्रथमशरीराद्युत्पत्तिः कथमिति संदेहे तदुत्तराभिधानम्, अकाले प्राणसंक्षयस्य दृष्टान्तनिरूपणम्, मोक्षमार्गाभिधानम् | १००९ |
| देवलोकप्राप्तिमार्गः, संसरणमार्गाभिधानम् | १०१० |
| आत्मनः प्रामाण्यविषये प्रमाणान्तरम् ... | १०११ |
| कृतादियुगेषु वयःपरिमाणम् ... ... | १०१२ |
| आत्मनो देहातिरिक्तत्वे हेत्वभिधानम् ... | १०१३ |
| क्षेत्रज्ञस्वरूपम् ... ... ... ... | १०१४ |
| बुद्ध्यादीनां कारणानि, शब्दादिगुणानां प्रतिपादनम्, प्रकरणार्थोपसंहारः ... | १०१५ |
| सत्त्वादिगुणानां मुक्त्यादिफलम्, काम्यकर्मकारिणां मार्गः, अजवीथिस्वरूपम्, दानशूराणां पितृयानमार्गनिरूपणम् ... | १०१६ |
| धर्मप्रवर्तकानां पुनरावृत्ति, नागवीथिमार्गस्वरूपम् ... ... ... ... | १०१७ |
| आत्मज्ञानसाधनहेतवः ... ... ... | १०१८ |
| आत्मदर्शनावश्यकतादिहितयोर्ज्ञानकर्मणोः फलनिरूपणम् ... ... ... | १०१९ |
| काम्यकर्मकारिणां गतिप्रकारः... ... | १०२० |
| मार्गद्वयमजानानस्य तिर्यग्योनिसंप्राप्तिः, उपासनेतिकर्तव्यतानिरूपणम् ... | १०२१ |
| योगस्याष्टाङ्गानि, प्राणायामप्रकाराः ... | १०२२ |
| प्राणायामस्य फलम्, धारणाफलाभिधानम्, योगस्य निषिद्धकालाः, योगाभ्यासनिषिद्धदेशाः ... ... ... ... | १०२३ |
| अकाले योगसेवनाद्दोषोत्पत्तिः, तन्निवारणोपायनिरूपणम् ... ... ... | १०२४ |
| प्रत्याहारलक्षणम्, धारणालक्षणम्, धारणायाः सप्त प्रकाराः, धारणाफलम्... | १०२५ |
| समाधिलक्षणम्, योगविषये कर्तव्यनिरूपणम्... ... ... ... ... | १०२६ |

विषयाः पृष्ठाङ्काः

योगसिद्धेर्लक्षणम्, वानप्रस्थस्य मुक्तिसाधनम् ... ... ... ...१०२८
यथाविहितानुष्ठानकर्तुर्गृहस्थस्य मोक्षः ...१०२९
विद्याकर्मणोः फलनिरूपणम् ... ...१०३०
मुक्तौ ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य कारणत्वम्, कर्मद्वैविध्यम् ... ... ... ...१०३३

## प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५.

कर्मविपाकनिरूपणम् ... ... ...१०३४
पूर्वकर्मानुरोधेन जन्मानि, पापानुरोधेन रोगोत्पत्तिः, कर्मविपाकप्रदर्शनम् ...१०३५
समुचितपापस्य फलनिरूपणम्, पापस्य कारणाभिधानम् ... ... ...१०३७
कर्मणस्त्रैविध्यम्, प्रायश्चित्ताचरणफलम् १०३८
कामकृतोपपातकस्य प्रायश्चित्तेन शुद्धिः, महापातकिनां शुद्धिसाधनम्... ...१०३९
अकामतः कृतपापविषये शुद्धिहेतुः, कामतः कृतपापस्य शुद्धिसाधनम्, प्रायश्चित्ताकरणे नरकप्राप्तिः, तामिस्रादिनरकाः१०४०
अचरितप्रायश्चित्तानामधोगतिः, महापातकिसंज्ञानिरूपणम् ... ... ...१०४१
ब्रह्मवधप्रयोजकादीनां दण्डः, आक्रोशादिकर्तुर्ब्रह्मवधनिमित्तताभिधानम्, आततायिब्राह्मणवधे ब्रह्महत्याया दोषाभावत्वनिरूपणम् ... ... ...१०४२
आततायिलक्षणम् ... ... ...१०४३
सुरायास्त्रैविध्यम्, द्विजस्य सुरापाने निषेधः, पञ्च महापातकानि ... ...१०४४
चण्डालादिस्त्रीगमनादौ द्विजस्य पातित्यम्, पलाण्ड्वादिभक्षणे दोषाभिधानम्, मांसादिविक्रये ब्राह्मणस्य पातित्यम् ...१०४६
ब्रह्महत्यासमानि, सुरापानसमानि, सुवर्णस्तेयसमानि ... ... ... ...१०४७
गुरुतल्पसमानि, गुरुतल्पातिदेशनिरूपणम् १०४८
राजदण्डितानां स्वर्गप्राप्तिः, मात्रादिगामिनां दण्डः, सद्यःपतनहेतवः, उपपातकानि ... ... ... ...१०४९
परिवित्तिलक्षणम् ... ... ...१०५०

विषयाः पृष्ठाङ्काः

युगभेदेनोपासनाभेदः ... ... ...१०५२
ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तानि ... ... ...१०५३
युगपत्कामतो वाऽकामतो वाऽनेकब्राह्मणवधे विशेषाभिधानम् ... ...१०५६
सर्पव्याघ्रादिभिर्हन्यमानब्राह्मणादेः परिरक्षणाद्ब्रह्महत्याशुद्धिः ... ... ...१०५७
ब्रह्महत्यायाः पापक्षयोपायान्तराभिधानम् ... ... ... ... ...१०५८
कामतो ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तम्, विप्रस्य तु ब्राह्मणवधे द्विगुणम् ... ...१०५९
ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तान्तराभिधानम् ...१०६०
ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्यातिदेशः ... ...१०६२
निमित्तान्तरेष्वपि ब्रह्महत्याव्रतातिदेशः, आत्रेयीलक्षणम् ... ... ...१०६३
ब्रह्मवधोद्यतस्य प्रायश्चित्तम्, सोमयागाय कृतदीक्षस्य ब्राह्मणस्य वधे विशेषाभिधानम् ... ... ... ...१०६४
महापातकप्रायश्चित्तानि, क्षत्रियादिकृतब्राह्मणवधे प्रायश्चित्ताभिधानम् ...१०६५
सुरापानप्रायश्चित्तानि, सुरायाः प्रकाराः, उपनयनात्प्राङ्मद्यप्राशने प्रायश्चित्तम् १०६९
पञ्चमवर्षात्प्राङ्मद्यादिप्राशने दोषाभावः, प्रायश्चित्तार्धभागिनां निरूपणम्, एकादश मद्यानि ... ... ... ...१०७०

### सुरापाने द्विजस्य प्रायश्चित्तम्,

सकृत्सुरापाने प्रायश्चितम् ... ...१०७१
सुरापाने प्रायश्चित्तान्तरम् ... ...१०७२
अज्ञानाद्वारुण्यादिपाने प्रायश्चित्तम् ...१०७३
सुराभाण्डपर्युषितजलपाने प्रायश्चित्तम्, मतिपूर्वके मद्यभाण्डोदकपानाभ्यासे चामतिपूर्वके प्रायश्चित्तम् ... ...१०७४
पुनःसंस्कारकर्माणि वपनादीनां वर्जनम्, कामतो मद्यपानेऽकामतः सुरापाने च प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...१०७५
ब्राह्मण्याः सुरापाने दोषः, **सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम्** .... ....१०७७
वालाग्रमात्रादिसुवर्णापहरणे प्रायश्चित्तम्१०७८
ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रायश्चित्तम् ... ...१०७९

विषयाः पृष्ठाङ्काः

सुवर्णस्तेये प्रायश्चित्तान्तरम् ... ...१०८०
मोहाद्रप्यापहारे चान्द्रायणम्, धातुलोहानां सर्वेषामपहारे प्रायश्चित्तम्, विशिष्टब्राह्मणसुवर्णापहारे प्रायश्चित्तम् ... ...१०८१

**गुरुतल्पगमनप्रायश्चित्तम्.... १०८२**

गुरुतल्पगातिदेशः, **ब्रह्महादिमहापातकिसंसर्गिप्रायश्चित्तम्,**

संसर्गहेत्वभिधानम् ... ... ...१०८६
महापातकिभिः सह षाण्मासिकसंयोगेऽर्धप्रायश्चित्तम्, अमतिपूर्वके स्वल्पतरे पतितसंयोगे प्रायश्चित्तम् ... ... ...१०८७
मतिपूर्वकसंसर्गविषये प्रायश्चित्तम् ...१०८८
प्रचुरसंसर्गविषये प्रायश्चित्तम्, महापातकेकन्यासंग्रहणेऽभ्यनुज्ञा, पतितेनोत्पन्नायाः कन्यायाः प्रायश्चित्ताभिधानम्, अवकृष्टहनने प्रायश्चित्तम् ... ...१०८९
शूद्राविषये प्रायश्चित्तम् ... ... ...१०९०
सर्वमहापातकप्रायश्चित्तानि ... ...१०९१
मिथ्याभिशंसने दोषाभिधानम् ... ...१०९२

**गोवधप्रायश्चित्तानि .... १०९३**

अकामतो गोहत्यायां प्रायश्चित्तम्, गोरोधनादिविषये प्रायश्चित्तम्, अपालनाद्गोवधे प्रायश्चित्तम् ... ... ...१०९५
गोर्दमने दण्डप्रमाणम्, गोः शृङ्गादिभङ्गे प्रायश्चित्तम्, औषधदानादिकर्मनिमित्तायां गोर्विपत्तौ दोषाभावनिरूपणम् १०९६
अनेककृतगोहत्याविषये प्रायश्चित्तम्, गोबन्धने नालीकेरादिरज्जूनां निषेधः, काष्ठादिभिर्गोः प्रहारे सांतपनादिप्रायश्चित्तम्, गृहदाहादिना गोवधे प्रायश्चित्तम् ... ... ... ... ...१०९७
गुणवतो ब्राह्मणस्य कामतो गोव्यापादने प्रायश्चित्तातिदेशः, अकामतो ब्राह्मणस्योक्तलक्षणस्य गोवधे प्रायश्चित्तम्११००
गुणरहितस्य स्वामिनो गुणरहितगोहनने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११०१
गोप्रशंसा, शूद्रादिवधविषये प्रायश्चित्तम्११०२

विषयाः पृष्ठाङ्काः

गोहत्याप्रायश्चित्तम्, रोधनादिविषये प्रायश्चित्तविशेषः, स्त्रीकृतगोहत्याविषये प्रायश्चित्तविधिः, गोहत्यायाः पादादिदोषविषयेऽङ्गरोमवपनादिविधानम् ...११०३
औषधाद्यधिकदानेन गवादिविपत्तौ प्रायश्चित्ताभिधानम्, मात्रास्वरूपम्, मात्रातिरिक्तदाने प्रायश्चित्तम्, व्याघ्रादिकृतगोविपत्तौ प्रायश्चित्ताभावः ...११०४
उपपातकप्रायश्चित्तम् ... ... ...११०५
उपपातकविशेषे प्रायश्चित्तविशेषाभिधानम्, क्षत्रियादिवधे प्रायश्चित्तम्, कामकृतक्षत्रियादिवधविषये प्रायश्चित्तम्...११०६
नृपतिवधे प्रायश्चित्तम्, वैश्यहत्यादिविषये प्रायश्चित्तम्, उपपातकान्तरविषये प्रायश्चित्तविशेषनिरूपणम् ... ...११०७

**पतितसावित्रीकविषये प्रायश्चित्तनिर्णयः .... .... ११०८**

स्तेयोपपातके प्रायश्चित्तविशेषः... ...११०९
मनुष्यादीनां हरणे प्रायश्चित्तम्, निक्षेपापहारे प्रायश्चित्तम्, अल्पसारद्रव्यहरणे प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...१११०
अश्वाद्यपहरणे प्रायश्चित्तम्, वृत्तिच्छेदे प्रायश्चित्तम्, प्रमादतो भूमिहरणे प्रायश्चित्तम्, तिलधान्यादिहरणे प्रायश्चित्ताभिधानम् ... ... ...१११३
परद्रव्यापहारे प्रायश्चित्तम्, अजाद्यपहारे प्रायश्चित्ताभिधानम्, ऋणानपाक्रियाप्रायश्चित्तम्, आधानाधिकार आधानमकुर्वतः प्रायश्चित्तम्... ... ...१११२
अपण्यविक्रयप्रायश्चित्तम्... ... ...१११३
सुरालाक्षालवणादीनां विक्रये प्रायश्चित्तम्१११४
परिदेवनप्रायश्चित्तम् ... ... ...१११५
बुद्धिपूर्वके परिदेवने प्रायश्चित्तम् ...१११६
भूतादध्ययनादेः प्रायश्चित्तम्, पतितादीनां संनिधावध्ययने प्रायश्चित्तम्, महापातकतदतिदेशकतत्समव्यतिरिक्तपरदारगमनप्रायश्चित्ताभिधानम् ... ...१११७
स्त्रीणां व्यभिचारप्रायश्चित्तम्, अमतिपूर्वक-

विषयाः पृष्ठाङ्काः

व्यभिचारे प्रायश्चित्तम् ... ...११२४
कामतोऽत्यन्ताभ्यासाविषये प्रायश्चित्ताभिधानम् ... ... ... ...११२५
क्षत्रियादीनां विप्रगमने प्रायश्चित्तम् ...११२६
मनसा भर्तुरभिचारादौ प्रायश्चित्तम्, चण्डालादिभिः सह व्यभिचारे प्रायश्चित्तम्, स्त्रीवधे वैशेषिकप्रायश्चित्तानिरूपणम्...११२७
ईषद्दुष्टस्त्रीवधे प्रायश्चित्तम्, अदुष्टावधे प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११२८
स्त्रीवधविशेषे प्रायश्चित्तम्, भ्रात्रेयीहनने प्रायश्चित्तम्, प्रसङ्गाद्विद्वत्तरप्रायश्चित्तम्... ... ... ... ...११२९
मार्जारादिवधे प्रायश्चित्तम्, कामतोऽत्यन्ताभ्यासादिविषये प्रायश्चित्ताभिधानम्११३०
गजादीनां वधे प्रायश्चित्तानि ... ...११३१
हंसादिपक्षिणां वधे प्रायश्चित्तम्, उरगादिवधे प्रायश्चित्तम् ... ... ...११३२
प्रसङ्गात्परिमाणलक्षणनिरूपणम्, हस्त्यादीनां वधे प्रायश्चित्तानि ... ...११३३
निष्कृतिकसास्थिकादिवधे प्रायश्चित्तम् वृक्षगुल्मलतादिच्छेदने प्रायश्चित्तम्...११३४
पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तद्दंशनिमित्तं प्रायश्चित्तम्, श्वदष्टब्रह्मचार्यादिविषये प्रायश्चित्तम्, अङ्गविशेषदंशने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११३५
श्वदष्टब्राह्मणीविषये प्रायश्चित्तम्, सव्रताया दंशने प्रायश्चित्तम्, व्याघ्रादिदंशने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११३६
नीलीकाष्ठक्षतविषये प्रायश्चित्तम्, श्वादिदष्टविषये प्रायश्चित्तम्, क्रिमिदष्टप्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११३७
फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते प्रायश्चित्तम्, अकामतो रेतःस्कन्दने प्रायश्चित्तम्, कामतो रेतःस्कन्दने प्रायश्चित्तम् ...११३८
अम्बुनि स्वप्रतिबिम्बावलोकने प्रायश्चित्तम्, मूत्रपुरीषादौ स्वप्रतिबिम्बे दृष्टे प्रायश्चित्तम्, अनृतभाषणे प्रायश्चित्तम्, नास्तिक्यविषये प्रायश्चित्तम्... ...११३९
ब्रह्मचारिणा योषिद्गमने कृते प्रायश्चित्तम् ११४०

विषयाः पृष्ठाङ्काः

योषिति रेतोऽवकिरतो ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तान्तरम्, स्वप्ने रेतःपाते प्रायश्चित्तम्, प्रसङ्गाद्विहितकर्माननुष्ठाने ब्रह्मचारिविषये प्रायश्चित्तम् ... ...११४१
मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तम्, दण्डादिनाशे ब्रह्मचारिविषये प्रायश्चित्तम् ... ... ...११४२
दिवास्वापे ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तम्, ब्रह्मसूत्रं विना संध्योपास्तौ प्रायश्चित्तम्, ब्रह्मसूत्रेण विना भोजने प्रायश्चित्तम्, सूर्योदितसूर्यनिर्मुक्तविषये प्रायश्चित्तम्, ब्रह्मचारिकृतमधुमांसभक्षणे प्रायश्चित्तम्११४३
ब्रह्मचारिणो मासिकश्राद्धान्नभक्षणे प्रायश्चित्तम्, सूतकेऽज्ञानाज्जलपानादौ प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११४४
ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद्गुरोरपि प्रायश्चित्तम्, गुरौ प्रतिकूलाचरणे प्रायश्चित्तम्११४५
उपकारप्रवृत्तस्योपकर्तव्यविपत्तौ प्रायश्चित्ताभावः, मिथ्याभिशापकर्तुः प्रायश्चित्तम् ... ... ... ... ...११४६
मिथ्याभिशस्तप्रायश्चित्तम्, प्रातिलोम्यानुलोम्यवर्णाभिशापे निर्णयः, अनृताभिशंसनादौ प्रायश्चित्तम्, देवगुरुब्राह्मणातिक्रमे प्रायश्चित्तम्, मृषाशपथकरणे प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११४७
अभिशंसकप्रायश्चित्तप्रसङ्गेनाभिशस्तप्रायश्चित्तम्, भ्रातृभार्यागमने प्रायश्चित्तम्, रजस्वलाभार्यागमने प्रायश्चित्तम् ...११४८
रजस्वलाभार्यायाममतिपूर्वके सकृद्गमने प्रायश्चित्तम्, पररजस्वलाव्यवाये प्रायश्चितम्, अमानुष्यादिगमने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ... ...११४९
असत्प्रतिग्रहप्रायश्चित्तम्... ... ...११५०
उत्तमादिदानानां निरूपणम्, अतिदानाभिधानम्, राजप्रतिग्रहे प्रायश्चित्तम्, अयाज्ययाजनवेदविप्लावनयोः प्रायश्चित्तम् ११५१
अपाङ्क्त्यानां निरूपणम्, कन्यादूष्यादिविषये प्रायश्चित्तम् ... ... ...११५३
अग्नित्यागे प्रायश्चित्तम्, अधिककाले तत्त्यागे

विषयाः पृष्ठाङ्काः

प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११५४

अपत्यविक्रयिणः प्रायश्चित्तनिरूपणम्, अशुचिकराभिधानम् ... ... ...११५५

समुद्रयानादिकरणे प्रायश्चित्तम्, हीनयोनिनिषेवणे प्रायश्चित्तम्, वेश्यागमने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११५६

अनाश्रमिणः प्रायश्चित्तनिरूपणम्, अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्ते व्यवस्था, छत्राकादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ...११५७

उष्ट्र्यविक्षीरपाने प्रायश्चित्तम्, तण्डुलीयकादिभक्षणे प्रायश्चित्तम्, अनिर्दशाहगोक्षीरपाने प्रायश्चित्तम्, विवत्सादीनां क्षीरपाने प्रायश्चित्तम्... ... ...११५९

स्त्रीक्षीरपाने प्रायश्चितम्, अव्यादिक्षीरपाने प्रायश्चित्तम्, मूत्रशकृच्छुक्राभ्यवहारेषु प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११६०

सुराभाण्डोदकपाने प्रायश्चित्तम् ... ...११६१

क्ष्युच्छिष्टोदकपाने प्रायश्चित्तम्, शूद्रोच्छिष्टोदकपाने प्रायश्चित्तम्, श्वसृगालादिदूषितकूपोदकप्राशने विप्रादीनां प्रायश्चित्तविधानम्, मृतपक्षिनखकृपादेरुदकपाने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११६२

चण्डालपरिगृहीतोदकपाने प्रायश्चित्तम्, चण्डालसंस्पृष्टोदकपाने प्रायश्चित्ताभिधानम्, अमेध्यदूषितजलपाने प्रायश्चित्तम्, शवदूषितजलपाने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ... ...११६३

म्लेच्छादिजलप्राशने प्रायश्चित्तम्, विड्वराहादीनां मूत्रपुरीषभक्षणे प्रायश्चित्तम्, अपेयादिपाने प्रायश्चित्तम्, अभोज्यादिभक्षणे प्रायश्चित्तम्, ...११६४

केशमक्षिकादिभक्षणे प्रायश्चित्तम्, अभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम्, मांसभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११६५

कलविङ्कहंसादीनामशने प्रायश्चित्तम्, अभोज्यान्नभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ...११६७

गोरुच्छिष्टाशने प्रायश्चित्तम्, श्वकाकावलीढभक्षणे प्रायश्चित्तम्, हस्तदत्तमाक्षिकादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ... ...११६८

ब्राह्मणाद्युच्छिष्टभोजने प्रायश्चित्तम्, आमश्राद्धाशने प्रायश्चित्तम् ... ...११६९

अमेध्यपतितादिसंस्पृष्टान्नभोजने प्रायश्चित्तम्, मसूरादिभक्षणे प्रायश्चित्तम्, वाग्दुष्टभावदुष्टान्नभोजने प्रायश्चित्तम्, शूद्रभाजनभोजने प्रायश्चित्तम् ...११७०

यज्ञोपवीतेन विना भोजने प्रायश्चित्तम्, मूत्रोच्चारे भुञ्जानस्य पुरीषोत्सर्गे भुञ्जानस्य च प्रायश्चित्तम्, चण्डालस्पर्शे स्नानमकृत्वैव भोजने प्रायश्चित्तम् ...११७१

दीपोच्छिष्टतैलादिभक्षणे प्रायश्चित्तम्, मत्तादीनामन्नभोजने प्रायश्चित्तम् ...११७४

अभोज्यान्नानां निरूपणम् ... ...११७२

ब्रह्मौदनादिषु भोजने प्रायश्चित्तम् ...११७९

आपदि ब्राह्मणादीनां सूतके शावशौचे चान्नस्य भोक्तुरदोषः, अशौचान्नभोजिनः प्रायश्चित्तम् ... ... ...११८१

नवश्राद्धभोजने प्रायश्चित्तम् ... ...११८२

जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानि, संकरीकरणलक्षणम्, अपात्रीकरणस्वरूपम्, संकरीकरणापात्रीकरणयोः प्रायश्चित्ताभिधानम् ... ... ... ...११८३

ब्राह्मणस्य रुजोत्पादने प्रायश्चित्तम्, गर्दभादिप्रमापणे प्रायश्चित्तम्, खरयानाद्यारोहणे प्रायश्चित्तम्, दिवाव्यवायादिविषये प्रायश्चित्तम्, गुरुनिर्भर्त्सने प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११८४

ब्राह्मणस्य हुंकारादिकरणे प्रायश्चित्तम्, ब्राह्मणस्यावाच्यवचने प्रायश्चित्तम्, विप्रं प्रति प्रहारेच्छया दण्डोद्यमादौ प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११८५

प्रकीर्णप्रायश्चित्तानां निरूपणम्, नीलीमध्यगमने प्रायश्चित्तम्, अभावशुचिद्रव्यक्षेपणे प्रायश्चित्तम्, ब्राह्मणाग्न्यादीनामन्तरागमने प्रायश्चित्तम्, अग्न्युपस्थानमकुर्वतोऽग्निहोत्रिणः प्रायश्चित्ताभिधानम्, ऋतावनभिगच्छतः प्रायश्चित्तम्११८६

विषयाः पृष्ठाङ्काः

अद्भिर्विनाऽप्सु वा मूत्रायुत्सर्गे प्रायश्चित्तम् दण्ड्योत्सर्गे प्रायश्चित्तम्, वही पादप्रतापनादौ प्रायश्चित्तम् ... ...११८७

नित्यकर्मणां समतिक्रमे प्रायश्चित्तम्, स्नातकव्रतलोपे प्रायश्चित्तम्, शय्यारूढादीनामभिवादने प्रायश्चित्तम्, निमन्त्रिते तदन्यत्र भोजने प्रायश्चित्तम्, अनापदि सिद्धभिक्षाचरणे प्रायश्चित्तम्, निमन्त्रणातिपातने प्रायश्चित्तम् ... ...११८८

महायज्ञातिक्रमे प्रायश्चित्तम्, धनहारकस्य प्रेतकार्याकरणे प्रायश्चित्तम्, गोहतप्रेतवहनादौ प्रायश्चित्तम्, आत्मत्यागिनः स्नेहात्प्रेतक्रियायां प्रायश्चित्तम् ...११८९

प्रायानाशकशस्त्रादिभिरात्मत्यागिनां शववहनादौ प्रायश्चित्तम् ... ...११९७

पतितलक्षणम्, पतितानां दाहादिकरणे प्रायश्चित्तम्, चण्डालादिहृतस्याऽऽहिताग्नेः संस्कारनिर्णयः ... ...११९१

उद्बन्धनमृतस्य पाशच्छेदे प्रायश्चित्तम्, शूद्रप्रेतानुगमने द्विजस्य प्रायश्चित्तम्, अनाशकादिप्रच्युतौ प्रायश्चित्तानि ...११९२

## स्पर्शप्रायश्चित्तानि ।

पानादिषु संस्पर्शे प्रायश्चित्तम्, शवोदक्यान्त्यजैः सह संसर्गे प्रायश्चित्तम्, भुक्तोच्छिष्टसंपर्के प्रायश्चित्तम्, अधउच्छिष्टादिसंसर्गे प्रायश्चित्तम् ...११९३

एकवृक्षसमारूढयोर्ब्राह्मणचण्डालयोर्मध्ये ब्राह्मणस्य फलभक्षणे प्रायश्चित्तम्, उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टादिविषये प्रायश्चित्तम् ... ... ... ...११९४

श्वपाकच्छायाधिगमे प्रायश्चित्तम्, कापालिकादीनां संस्पर्शे प्रायश्चित्तम्... ...११९५

अशुद्धस्याशुद्धान्तरेण संस्पर्शने प्रायश्चित्तम्, क्रव्यादादिभिर्व्यवहिते स्पर्शे प्रायश्चित्तम्, शूद्रादिसंसर्गे प्रायश्चित्तम्११९६

स्वशरीरे चण्डालादिकायाभिस्पर्शने प्रायश्चित्तम्, चण्डालस्योच्छिष्टदानादिविषये प्रायश्चित्तम् ... ... ...११९७

विषयाः पृष्ठाङ्काः

वस्त्रादिद्रव्याणां शुद्धिः, गृहादिषु निगूढान्त्यजादीनां निवासे प्रायश्चित्तम् ११९८

चण्डालदर्शनादिविषये प्रायश्चित्तम्, म्लेच्छचण्डालादिभिर्बलाद्दासीकृतादिविषये प्रायश्चित्तम्, हीनवर्णैस्यान्त्यजैः सह संवासे प्रायश्चित्तम् ... ... ...१२००

रजस्वलास्पर्शप्रायश्चित्तानि ... ...१२०१

विरुद्धप्रायश्चित्तसंनिपातप्रसङ्गेऽनुक्तनिष्कृतिकपापविषये च प्रायश्चित्तनिर्णयः १२०३

## पतितस्य घटस्फोटविधिः ....१२०५

पतितस्य प्रायश्चित्तानन्तरं ग्रहणविधिः ...१२०७

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेशः, भर्तृशिष्यगादिस्त्रीपरित्यागः, स्त्रीणां पातित्यहेतवः ... ... ...१२०८

चीर्णव्रतानां शरणागतबालघ्नादीनामसंव्यवहार्यत्वम्, चरितव्रतस्य शुद्धिविषये परीक्षणम्, प्रायश्चित्तानां परिषदनुमतिमन्तरेणासिद्धिः ... ... ...१२०९

व्रतादेशविषये परिषदुपस्थाननिरूपणम् १२१०

## रहस्यप्रायश्चित्तानि .... ....१२११

रहस्यप्रायश्चित्तविशेषाभिधानम्... ...१२१२

अल्पपातकविषये रहस्यप्रायश्चित्तव्रतनिरूपणम् ... ... ... ...१२१३

साधारणपापक्षयोपायाभिधानम्, उपपातकशुद्धिविषये प्रायश्चित्तम् ... ...१२१४

ब्रह्मवधव्यतिरिक्तस्य पापस्य शुद्धये वायुभक्षादिव्रतविधानम्, स्मृत्यन्तरोक्तरहस्यप्रायश्चित्तानां निरूपणम्... ...१२१५

कृच्छ्रादितपसामङ्गभूतानां यमनियमानां निरूपणम्, प्रसङ्गात्साधारणव्रतधर्मविध्यभिधानम्... ... ... ...१२२८

प्रायश्चित्ततया विनियुक्तानां **सांतपनादिकृच्छ्राणां स्वरूपनिरूपणम्,** सांतपनव्रतम्, महासांतपनम्, सांतपनान्तराभिधानम् ... ... ...१२३३

महासांतपनान्तरम्, पर्णकृच्छ्रम्... ...१२३४

तुलापुरुषारव्यकृच्छ्रः, त्रिनयनोक्ततुला-

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| पुरुषस्य कल्पव्याख्यानम् ... ... | ...१२३९ |
| कृच्छ्रान्तराभिधानम् ... ... ... | ...१२४१ |
| चान्द्रायणव्रतम्, यवमध्यचान्द्रायणम्, यवमध्यचान्द्रायणान्तरम् ... ... | ...१२४२ |
| पिपीलिकामध्यचान्द्रायणम्, यतिचान्द्रायणम्, शिशुचान्द्रायणम् ... ... | ...१२४३ |
| चान्द्रायणान्तराभिधानम् ... ... | ...१२४४ |
| कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणेतिकर्तव्यतानिरूपणम् ... ... ... ... ... | ...१२४५ |
| चान्द्रायणविनियोगाभिधानम् ... ... | ...१२४६ |
| कृच्छ्रादिषु प्रक्रान्तेषु कर्तुरसामर्थ्योपनिपातेऽनुग्रहनिरूपणम् ... ... ... | ...१२४७ |
| चान्द्रायणस्य फलान्तराभिधानम् | ...१२४९ |
| ब्रह्मकूर्चस्वरूपम् ... ... ... | ...१२५० |
| सोमायनव्रतम्, एतच्छास्त्राध्ययने फलकथनम् ... ... ... | ...१२५१ |


इति प्रायश्चित्ताध्यायः।

---

# समाप्तेयं सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृति-विषयानुक्रमणी।

सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ द्वितीयो

# व्यवहाराध्यायः ।

## [ तत्र साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् । ( १ ) ]

अथ प्रथमेऽध्याये[1] वर्णानां नानाविधा धर्मा उक्ताः । तत्र च राजधर्मेषु वक्ष्यमाणं व्यवहारदर्शनोपदेशमाश्रित्य—

" व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् " ।

इत्यत्र धर्मो विहित इदानीं तमेव व्यवहारदर्शनोपदेशं सकलाङ्गकलापोपेतं कर्तुमध्यायान्तरमारभते[2] । तत्र प्रथम एवाध्याये व्यवहारस्य विधिः । अत्र तु तदङ्गानामिति न वाच्यम् । अङ्गभूयस्त्वेनात्रैव व्यवहारविधिनिश्चयात् । तदुक्तम्—" भूयस्त्वेनोभयश्रुति " इति ।

व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ॥
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥

व्यवहारान्वादिप्रतिवादिनोर्भाषोत्तरक्रियात्मकान्विवादान्नृपो जनपदपरिपालको विद्वद्भिर्व्यवहारशास्त्रार्थज्ञैर्विप्रैः सहितो लिखितसाक्ष्यादिप्रमाणपुरःसरतया क्रोधलोभादिविचारकदोषगणमपहाय[3] पश्येत्परीक्षेत । यद्यपि[4] धर्मशास्त्रानुसारितयैव क्रोधादिवर्जनं प्राप्तम्, तथाऽपि प्राधान्येन क्रोधादिवर्जनस्य पृथगुपादानम् । न हि क्रोधादिमान्धर्मं शक्नोति व्यवस्थापयितुम् । अतो धर्मशास्त्रोक्तलिखितसाक्ष्यादिप्रमाणगण इव क्रोधादिविरहो नृपवर्ती धर्मव्यवस्थितौ प्रधानं साधनम् । क्रोधो जिघांसा तया च द्वेष[5] उपलक्ष्यते । उत्कोचादिरूपेण परवित्तलिप्सा लोभः । अज्ञानप्रमादावप्यत्र वर्जनीयतया द्रष्टव्यौ । यद्यपि सभ्यसभापतिव्यापारोऽपि व्यवहारशब्देनोच्यते—

" चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदिश्यते "

इत्यत्र भाषोत्तरप्रमाणनिर्णयात्मकाश्चत्वारो व्यवहारपादा वक्ष्यन्ते । तत्र निर्णयपादः सभ्यसभापति[6]व्यवहार इति प्रसिद्धम् । तथाऽपि नृपं प्रति द्रष्टव्यतया वादिप्रतिवादिव्यापार एव शक्यो विधातुं नृपव्यापारस्तु न[7] द्रष्टव्यः किं तु कार्यः । तस्मादत्र व्यवहारशब्देन वादिप्रतिवादिव्यापार एव

---

१ क. °ये नानाव° । २ ख. °रभ्यते । ३ क. °विकारदो° । ४ क. °पि शास्त्रार्थानु° । ५ ख. द्वेष्यः । ६ ख. °तिव्यापार । ७ क. ग. न नृपद्र° ।

वक्तव्यः । अथ वा निर्णयपादोऽपि सभ्यकर्तृको भवति नृपस्य परीक्षकतया दृश्य इति पादचतुष्टयाभिप्रायेणापि व्यवहारपदव्याख्यानं नायुक्तम् । व्यवहारस्वरूपनिरूपणाय कात्यायन आह—

" प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे ।
साध्यमूलोऽत्र यो वादो व्यवहारः स उच्यते " ॥

अस्यार्थः—धर्ममाख्यातीति धर्माख्यः । न्यायविस्तारो न्यायप्रपञ्चः । तस्मिन्विच्छिन्ने प्रतिवादिना विलोपिते ततश्च लिखितसाक्ष्यादिप्रमाणोपन्यासरूपप्रयत्नसाध्ये सति यो वादिनोर्वादः स व्यवहार इति । अत एव यमः—

" राजा मन्त्रिसहायस्तु द्वयोर्विवदमानयोः ।
सम्यक्कार्याण्यवेक्षेत रागद्वेषविवर्जितः " इति ॥

व्यवहारानिति बहुवचनं विषयभेदेनाष्टादशधा भिन्नस्य व्यवहारस्य संग्रहार्थम् । अत एव मनु+र्व्यवहारविषयमष्टादशधाऽऽह—

" तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥
वेतनस्यैव चाऽऽदानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो *विवादः स्वामिपालयोः ॥
सीमाविवादधर्मश्च +पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥
स्त्रीपुंधर्मविभागश्च *द्यूतमाह्वानमेव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥
एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यं विनिर्णयम् " ॥

---

+ वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभय कुर्वते । तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् । इति ज. पु० टि० । * विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते । विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते । भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः । वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् । इति ज. पु० टि० । * परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः । तस्मादोभिश्चोपघाते दण्डपारुष्यमुच्यते । देशजातिकुलादीनां क्रोशनं न्यङ्गसंज्ञितम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते । इति ज. पु० टि० । + अक्षबभ्रुशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम् । पणक्रीडावयोभ्यश्च पदं द्यूतं समाह्वयेत् । इति ज. पु० टि० ।

---

१ क. सत्यकं । २ ख. °रीक्षयत°। ३ क. ख. °नं न यु° । ४ क. °दश्च तथा पा° । ५ छ. °वाचके । ६ क. °र्यात्कर्मवि° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

पदं स्थानं विषय इति यावत् । एषामृणादानादीनामवान्तरभेदविवक्षयाऽष्टोत्तरं शतं भवतीत्याह—

नारदः—" एषामेव प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं स्मृतम् ।
क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते " ॥

तथा व्यवहारस्य प्रकारान्तराण्यपि स एवाऽऽह—

" स चतुष्पाच्चतुःस्थानश्चतुःसाधन एव च ।
चतुर्हितश्चतुर्व्यापी चतुष्कारीति कीर्त्यते ॥
अष्टाङ्गोऽष्टादशपदः शतशाखस्तथैव च ।
त्रियोनिर्द्व्यभियोगश्च द्विद्वारो द्विगतिस्तथा " इति ॥

स्वयमेव चैतान्प्रकारान्व्याचष्टे—

" धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः " ॥

इत्थमेतदेव कथमित्यत्राऽऽह—

" तत्र सभ्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु ।
चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम् " ॥

सभ्यैकप्रमाणत्वाद्धर्मः सभ्ये स्थित इत्युच्यते । व्यवहारश्च साक्ष्यधीनो निर्णय इति व्यवहारः साक्षिषु स्थित इत्युच्यते । चरित्रं देशकालकुलधर्मः, तत्पुस्तकरणे [*लिखितकरणे स्थितम् । लिखिताः खलु देशादिधर्माः प्रमाणम् । दुष्टनिग्रहः शासनम् । ] तद्राजाज्ञाधीनत्वात्तस्यां स्थितमित्युच्यते । एषां च धर्मादीनां परं बलीयः । तद्यथा—वर्णिषु कृतापराधेषु वधरूपे दण्डधर्मे सत्यात्साक्षिवचनात्प्राप्ते साक्षिभिः "वर्णानां हि वधो यत्र" इतिवचनानुसारादनृतेऽभिहिते व्यवहारेण वधरूपो दण्डधर्मो निवर्तते । व्यवहारोऽपि चरित्रेण बाध्यते यथा—साक्षिभिः साधितेऽप्याभीरस्त्रियाः पुरुषान्तरोपभोगे तद्दण्डे च व्यवहारतः प्राप्तेऽपि राजकुलाधिगतलिखितान्निवर्तते । एवं हि तत्र लिखितम्—आभीरस्त्रीणां व्यभिचारेऽपि सति दण्डो न ग्राह्य इति । चरित्रमपि राजशासनेन बाध्यते । यथा—ब्राह्मणादिगृहे राजपुरुषेण न प्रवेष्टव्यमिति देशधर्मो लिखितोऽपि ब्राह्मणादिगृहे व्यवस्थितोऽपि चौरादौ राजाज्ञया तद्गृहं प्रविश्य राजपुरुषेण नीयते । अधुना चतुःसाधनत्वादि व्याचष्टे—

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतं क. पुस्तके ।

---

१ क. °ह–चतुष्पादश्चतुःस्था° । २ क. सत्ये । ३ क. सत्यैक° । ४ क. सत्ये । ५ क. °शग्रामकु° । ६ ग. छ. °गृहो व्य° ।

" सामाद्युपायसाध्यत्वाच्चतुःसाधन उच्यते ।
चतुर्णामाश्रमाणां च रक्षणात्स चतुर्हितः ॥
कर्तृनथो साक्षिणश्च सभ्यान्राजानमेव च ।
व्याप्नोति पादशो यस्माच्चतुर्व्यापी ततः स्मृतः " ॥

धर्माधर्मफलेन कर्तृप्रभृतीन्पादशो व्याप्नोति सम्यगसम्यग्द्रष्टृतया । तदुक्तम्—

" पादो गच्छति कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥
धर्मस्यार्थस्य यशसो लोकपङ्क्तेस्तथैव च ।
चतुर्णां करणादेषां चतुष्कारी प्रकीर्तितः " ॥

लोकपङ्क्तिर्लोकानुरागः ।

" राजा स्वपुरुषः सभ्यः शास्त्रं गणकलेखकौ ।
हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गः समुदाहृतः " ॥

गणकस्य विवादविषयीभूतधनसंख्याने लेखकस्य भाषोल्लेखनेऽग्न्यादीनां च शपथेऽस्त्युपयोग इति व्यवहाराङ्गता ।

" कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात्प्रवर्तते ।
त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद्विवादकृत् ॥
अभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः ।
शङ्काऽसतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात् " ॥

असतामसाधूनां व्यवहारकर्तृत्वसंभवाद्भवति शङ्का संदेहः । होढाभिदर्शनं लोप्त्रादेर्लिङ्गस्य दर्शनं प्रत्यक्षदर्शनं वा । एवं च ऋणादानादौ प्रमाणपूर्वकः संशयपूर्वकश्चाभियोगः संभवतीति भवति अभियोगत्वम् । अभियोग आक्षेपः ।

" पक्षद्वयाभिसंबन्धाद्विद्वारः समुदाहृतः ।
पूर्वस्तु भाषया पक्षः प्रतिपक्षं तदुत्तरम् " ॥

द्वारं कार्यारम्भप्रवृत्तिः ।

" भूतच्छलानुसारित्वाद्विगतिः स उदाहृतः ।
भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम् " ॥

---

१ क. °कसक्लेस्त°। २ क. °र्णा कार°। ३ क. °कीर्त्यते । लोकसक्तिर्लो°। ४ क. °ढादिद° । ५ क. °ढादिदर्शनम् । लिङ्गादेर्लि° । ६ क. °पक्षस्तदु° । ७ ग. छ. भूततत्त्वा° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

मूलश्लोके व्यवहाराञ्नृपः पश्येदिति ऋषिणा परीक्षापरपर्यायो व्यवहारो व्यवहारपदेनोच्यते । तथा च नारदः—

" किं तु राज्ञा विशेषेण स्वधर्ममभिरक्षता ।
मनुष्यचित्तवैचित्र्यात्परीक्ष्या साध्वसाधुता ॥
असम्याः सम्यसंकाशाः सम्याश्चासम्यसंनिभाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद्युक्तं विचारणम् " ॥

ब्राह्मणानां यद्यपि व्यवहारदर्शनकर्तृत्वं प्रतिपाद्यते तथाऽपि तेषां नाधिकारः किंतु राज्ञामेव तद्रामिफलस्मरणात् । तथा च नारदः—

" एवं पश्यंन्स्वयं राजा व्यवहारान्समाहितः ।
वितत्येह यशो दीप्तं शक्रस्यैति सलोकताम् " ॥

तस्माद्दत्विजां यथा यागे कर्तृत्वमेवं ब्राह्मणानां व्यवहारदर्शने धर्मशास्त्रानुसारेणेत्युक्तम् । तदकरणे प्रत्यवायमाह कात्यायनः—

" अस्वर्ग्या लोकनाशाय परानीकभयावहा ।
आयुर्बीजहरी राज्ञां सति वाक्ये स्वयं कृतिः ॥
तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत् ।
वाक्याभावे तु सर्वेषां देशदृष्टेन तन्नयेत् " ॥

बृहस्पतिः—" केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥
चौरोऽचौरः साध्वसाधु जायते व्यवहारतः ।
युक्तिं विना विचारेण माण्डव्यश्चौरतां गतः " ॥

राजेत्यनुवृत्तौ गौतमः—"तस्य व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदः पुराणम्" ।

व्यवहियते निर्णीयते येन वेदादिना प्रमाणेन स व्यवहारः ।

तथा " न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपेयः । तेनोत्यूह्य यथास्थानं गमयेत् । विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् । तथेहास्य निःश्रेयसं भवति " इति ।

विचारकाणामन्योन्यविप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः सम्यगधिगतचतुर्दशविद्यास्थानेभ्यो न्यायं प्रत्यवहृत्याधिगम्य व्यवहारं निष्ठां समाप्तिं निर्णयं गमयेत् । तथेहास्य राज्ञो निःश्रेयसं शास्त्रोक्तं फलं भवति । उक्तं च नारदेन फलम्—

" धर्मेणोद्धरतो राज्ञो व्यवहारान्कृतात्मनः ।
संभवन्ति गुणाः सप्त सप्त वह्नेरिवार्चिषः ॥

---

१ ग. °श्यन्स्वया रा° । २ ग. °यं क्षतिः । ३ क. °नाभ्यूह्य ।

धर्मश्चार्थश्च कीर्तिश्च लोकपङ्क्तिरुपग्रहः ।
प्रजाभ्यो बहुमानश्च स्वर्गे स्थानं च शाश्वतम् " इति ॥

उपग्रहः सहायलाभः । अत्र मनुः—

" व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥
तत्राऽऽसीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् " ॥

मन्त्रज्ञा अर्थशास्त्रज्ञाः । तेन धर्मशास्त्राविरुद्धमर्थशास्त्रं व्यवहारं पश्यताऽनुसरणीयम् । तदाह नारदः—

" धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन मार्गतः ।
समीक्षमाणो निपुणं व्यवहारगतिं नयेत् " ॥

सभामाह बृहस्पतिः—" प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठा च मुद्रिता शासिता तथा ।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथाविधाः ॥
प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चलानामप्रतिष्ठिता ।
मुद्रिताऽध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता ॥
नृपोऽधिकृतसभ्याश्च स्मृतिर्गणकलेखकौ ।
हेमाग्न्यम्बुस्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश ॥
दशानामपि चैतेषां कर्म प्रोक्तं पृथक्पृथक् ।
वक्ताऽध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्यः कार्यपरीक्षकः ॥
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जयदानं दमं तथा ।
शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बु तृषितेजन्तुषु ॥
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यायं च लेखकः ।
प्रत्यर्थिसभ्यानयनं साक्षिणं च स्वपूरुषः ॥
कुर्यादलग्नकौ रक्षेदर्थिप्रत्यर्थिनौ सदा ।
एतद्दशाङ्गं करणं यस्यां मध्यास्य पार्थिवः ॥
न्यायान्पश्येत्कृतमतिः सा सभाऽध्वरसंमिता ।
लोकवेदाङ्गधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ॥
यत्रोपविष्टा विप्राद्याः सा यज्ञसदृशी सभा " ।

---

१ क. °कसक्किरु° । २ ग. छ. °शास्त्रवि° । ३ क. °शास्त्रार्थव्यवहारान्पश्य° । ४ ग. छ. °नुस्मर° । ५ क. सभ्याः कार्यपरीक्षकाः । स्मृ° । ६ क. स्मृतेर्वि° । ७ क. °तक्षुज्वयोः । ग° । ८ ग. छ. °स्यामुष्यास्य । ९ ग. छ. °तिः ससभा° । १० ग. विप्राः स्युः सा ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

कार्यानुसारेण सभ्यालपमहत्त्वं ग्राह्यम् । आलग्नकौ प्रतिभुवौ । व्यवहारकालमाह कात्यायनः—

" आद्यादह्नोऽष्टभागाद्यदूर्ध्वं भागत्रयं भवेत् ।
स कालो व्यवहारस्य शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः " ॥

व्यवहारद्रष्टारः सभ्या राज्ञा कार्याः । न हि तेषामस्त्यधिकारो यद्बलोत्स्वत एव प्रवर्तेरन् ॥ १ ॥

ततश्च यद्गुणकास्ते कार्यास्तानाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

श्रुतं वेदवाक्यार्थज्ञानोपयोगि मीमांसाया वेदाङ्गानां च कल्पनिरुक्तव्याकरणानामाचार्यादर्थज्ञानम् । अध्ययनं प्रसिद्धम् । ताभ्यां संपन्ना उपेताः । धर्मज्ञा धर्मशास्त्रज्ञाः । धर्मशास्त्राण्याह पितामहः—

" वेदाः साङ्गास्तु चत्वारो मीमांसा स्मृतयस्तथा ।
एतानि धर्मशास्त्राणि पुराणं न्यायदर्शनम् " ॥

सत्यवदनशीला मित्रामित्रयो रागद्वेषाभावेन समोपदेशकर्तारो राज्ञा सभासदः कार्या मानदानाभ्यामापाद्याः । सभायां सीदन्तीति सभासदः । एते बहुशास्त्रज्ञा ब्राह्मणास्तदलाभे तादृशाः क्षत्रियास्तदलाभे तादृश एव वैश्याः । तदाह कात्यायनः—

" अलुब्धा धनवन्तश्च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
सर्वशास्त्रप्रवीणाश्च सभ्याः कार्या द्विजोत्तमाः ॥
एकं शास्त्रमधीते यो न विद्यात्कार्यनिश्चयम् ।
तस्माद्बह्वागमः कार्यो विवादेषूत्तमो नृपैः ॥
यत्र विप्रो न विद्वान्स्यात्क्षत्रियं तत्र योजयेत् ।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥
अतोऽन्यैर्यत्कृतं कार्यमन्यायेन कृतं तु तत् ।
नियुक्तैरपि विज्ञेयं दैवाद्यद्यपि शास्त्रतः " ॥

मनुः—" जातिमात्रोपजीवी वा वरं स्याद्ब्राह्मणध्रु(ब्रु)वः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥
यस्य राज्ञस्तु कुरुते शूद्रो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः " ॥

---

१ ग. छ. ज. °ला भूयमेव । २ ज. °त् । श्रुत्वाऽन्यैं° ।

व्यासः—" द्विजान्विहाय यः पश्येत्कार्याणि वृषलैः सह ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं बलं कोशश्च नश्यति " ॥
बृहस्पतिः—" देशाचारानभिज्ञा ये नास्तिकाः शास्त्रवर्जिताः ।
उन्मत्तक्रुद्धलुब्धार्ता न प्रष्टव्या विनिर्णये " ॥
मनुः—" स्मृतिशास्त्रे त्वविज्ञाते दुर्ज्ञाते वाऽविवेकतः ।
धर्मकार्ये महान्दोषः सभायां वदतः सदा ॥
शब्दाभिजनतत्त्वज्ञौ[1] गणनाकुशलौ शुची ।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ[2] ॥
आकारके(णे) रक्षणे च साक्ष्यर्थिप्रतिवादिनाम् ।
सभ्यायीधीनः[3] सत्यवादी कर्तव्यस्तु स्वपूरुषः[4] " ॥ २ ॥

प्राड्विवाकविधिमाह—

**अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु ॥**
**सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥**

व्यवहारदर्शनाद्यदन्यदुरुतरं कार्यं तदधीनतया[5] व्यवहारानपश्यता राज्ञा सर्वधर्मवेत्ता ब्राह्मणः पूर्वोक्तैर्ब्राह्मणैः सह व्यवहारदर्शने नियोक्तव्यः । स्वयं च प्राड्विवाकसंज्ञकब्राह्मणो राजन्योऽपि व्यवहारान्पश्यति नियोक्तव्य एव । यदाह नारदः—

" धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः ।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् " ॥

राजा चेद्व्यवहारान्पश्यति प्राड्विवाकोऽनुमन्ता, अन्यदा तु व्यवहारद्रष्टा । अत एव वृद्धबृहस्पतिः—

" राजा कार्याणि संपश्येत्प्राड्विवाकोऽथवा द्विजः ।
न्यायाङ्गान्यग्रतः कृत्वा सत्यशास्त्रमते[6] स्थितः ॥
विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैव च ।
प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥
व्यवहाराश्रितं प्रश्नं पृच्छति प्राडिति श्रुतिः ।
विवदेत्तत्र यस्तस्मिन्प्राड्विवाकस्तु स स्मृतः "

नारदः—" यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद्यन्त्रयुक्तितः ।
प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद्व्यवहारतः " ॥

---

१ क. °भिधान° । २ क. °कौ । अकारणे र° । ३ क. सदाऽधी° । ४ ग. °भ्यादीनः । ५ ग. छ. ज. °या व्यवहार° । ६ क. सभ्यशा° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

गौतमः—" सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनम् " ॥ ३ ॥

किंच—

रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ॥
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥४॥

उक्ताः सभ्यास्ते यदि रागादिवशात्स्मृतिशास्त्रविरुद्धं विवादेऽपि निर्णयं कुर्वन्ति तदा विवादाद्विवादविषयीभूताद्धनाद्विगुणं दण्डं[3] प्रत्येकं दण्डनीयाः । अत्राऽऽदिशब्देन सदाचारन्यायापेतस्य ग्रहणम् । रागादिग्रहणं चेह दण्डनीयत्वनिमित्तस्य स्मृत्यपेतादिकारित्वस्य न विशेषणं वाक्यभेदप्रसङ्गात् । यथोभयत्वं हविरांतेः(रादेः) । ततश्च प्रदर्शनार्थत्वे मोहादिहेतुकस्यापि स्मृतिविरुद्धकारित्वस्य दण्डविशेषनिमित्तता भवति । अत एव भृशदण्डनिमित्तेनलोभादिना तुल्यमज्ञानमाह नारदः—

" रागादज्ञानतो वाऽपि लोभाद्वा योऽन्यथा वदेत् ।
सभ्योऽसभ्यः स विज्ञेयस्तं पापं विनयेद्दृशम् " इति ॥

एतच्च दण्डविधानं धनविषयविवादे[3] । वादान्तरे तु पारुष्यादिविषये दण्डान्तरं वेदितव्यम् । अत एवाऽऽह विष्णुः—

" कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहारः । उत्कोचजीविनां सभ्यानां च । "

अत्राप्युत्कोचग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । अत एव वृद्धबृहस्पतिः—

" अन्यायवादिनः सभ्यास्तथैवोत्कोचजीविनः ।
विश्वस्तवञ्चकश्चैव निर्वास्याः सर्व एव ते " ॥

यत्तु—" लोभात्सहस्रं दण्ड्यः स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् "

इत्यादिलोभमोहयोरतुल्यदण्डनिमित्तत्ववचनं तत्साक्षिविषयं न सभ्यविषयम् । अत एव कात्यायनः सम्यग्ज्ञानरहितस्य सभ्यस्य द्विगुणं दण्डमाह—

" कार्यस्य निर्णयं सम्यग्ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत् ।
अन्यथा नैव वक्तव्यं वक्ता द्विगुणदण्डभाक् " ॥

तथा रागापरपर्यायेण स्नेहेन लोभेन च सभ्यदण्डं प्रत्यज्ञानस्य तुल्यं निमित्तत्वमाह—

" स्नेहादज्ञानतो वाऽपि मोहाद्वा लोभतोऽपि वा ।
अत्र सभ्योऽन्यथावादी दण्ड्योऽसभ्यस्तु स स्मृतः ॥

---

१ ग. छ. °पि सभ्यपे° । २ ग. छ. ज. धनं । ३ ग. छ. ज. °दे । अ° । ४ क. °वादिनः ।

सभ्यदोषात्तु यन्नष्टं देयं सभ्येन तत्तदा ।
कार्यं तु कार्यिणामेवं निश्चितं न विचारयेत् " ॥

**तथा**—" अनिर्णीते तु यद्यर्थे संभाषेत रहोऽर्थिना ।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यः स्यात्सभ्यश्चैव न संशयः " ॥

**नारदः**—" नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारे कथंचन ।
नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वचः ॥
नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति ।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति " ॥

**बृहस्पतिः**—" नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा[1] शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति ।
यत्तेन सदसि प्रोक्तं स धर्मो नात्र संशयः " ॥

**यथा**—" लोभद्वेषादिकं त्यक्त्वा यः कुर्यात्कार्यनिश्चयम् ।
शास्त्रोदितेन विधिना तस्य यज्ञफलं भवेत् " ॥

**नृपानुवृत्तौ कात्यायनः**—" अधर्मतः प्रवृत्तं तु नोपेक्षेरन्सभासदः ।
उपेक्षमाणाः सनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥
अन्यायतो यियासन्तं येऽनुयान्ति सभासदः ।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः " ॥

**मनुः**—" राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यदि निन्द्यते ॥
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी " ॥

**कात्यायनः**—" न्यायशास्त्रमतिक्रम्य सभ्यैर्यत्र विनिश्चितम् ।
तत्र धर्मो ह्यधर्मेण[2] हतो हन्ति न संशयः ॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः " ॥

**प्रेक्षमाणानामित्यनादरे षष्ठी ।**

**व्यासः**—" नासौ सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र[3] न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥
ये तु सभ्याः सभां प्राप्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
यथाप्राप्तं च न ब्रूयुः सर्वे तेऽनृतवादिनः " ॥ ४ ॥

---

१ क. वा धर्मज्ञो । २ ग. छ. °ण स° । ३ ज. °त्र नो सत्यमस्ति नैतं° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

व्यवहारदर्शननिमित्तमाह—

**स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः ॥**
**आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥ ५ ॥**

स्मृतिशास्त्रशिष्टाचाररहितेन मार्गेणोपायेन परैराक्षिप्तः सन्राज्ञे यद्यावेदयति अहमनेन विधिनाऽन्यायेन परिभूतोऽस्मीति यत्तन्निवेदनं व्यवहारपदम्। पदं स्थानं निमित्तमिति यावत्। परैरिति बहुवचनमुपलक्षणार्थम्। तेनैकेन द्वाभ्यां बहुभिश्चाऽऽक्षिप्तो लक्ष्यते। आवेदनस्य व्यवहारदर्शने निमित्तत्वेन प्रतिपादनादावेदनादृते व्यवहारदर्शनं राज्ञा न कार्यम्। तथा च मनुः—

" नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथंचन " ॥

कार्यं व्यवहारो विवाद इति यावत्। व्यवहारकाले च प्रापितं प्रामाणिकमर्थं न ग्रसेत नापलापयेत्[1]। अत्र कात्यायनः—

" केन कस्मिन्कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभां गतः " ॥

केन पुरुषेण कस्मिन्कार्ये कदा कस्माद्धेतोः परिभूतोऽसीति सभां गतः सभ्य आवेदयितारं पृच्छेत्।

" सशस्त्रोऽनुत्तरीयश्च मुक्तकेशः सहासनः।
वामहस्तेन वा स्रग्वी वदन्दण्डमवाप्नुयात् " ॥

अयमर्थः—स पृष्टः सन्यदि सशस्त्र उत्तरीयवस्त्रहीनो मुक्तकेश आसनोपविष्टो वामहस्तेन किंचिच्चालयञ्शिरसा स्रजं वा धारयन्नुत्तरं वदति तदा दण्ड्य इति।

तथा—" काले कार्यार्थिनं पृच्छेत्प्रणतं पुरतः स्थितम्।
किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥
एवं पृष्टः स यद्ब्रूयात्तत्सभ्यैर्ब्राह्मणैः सह।
विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतः परम् ॥
मुद्रां च निक्षिपेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् "।

तथा—" उत्पादयति यो हिंसां देयं वा न प्रयच्छति।
याचमानाय दौःशील्यादाकृष्योऽसौ नृपाज्ञया " ॥

बृहस्पतिः—" यस्याभियोगं कुरुते तथ्येनाऽऽशङ्क्यापि वा।
तमेवाऽऽनाययेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा " ॥

---

१ ग. छ. ज. °पलेप°।

तथा—" अकल्पबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलान् ।
कार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् ॥
धर्मोद्यतानभ्युदये पराधीनशठाकृतीन् ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तांश्च भृत्याना(न्ना)ह्वाययेन्नृपः " ॥

अकल्पो व्याधितः । विषमं दुर्गं निगडादि वा । क्रियाकुलो नित्यनैमित्तिककर्मकरणव्यग्रः । कार्यातिपाती यस्य तत्कालमागच्छतो गुरुतरकार्यविनाशः । व्यसनमिष्टवियोगादि । उत्सवः कौमुद्यादिः सर्वजनीनः । विवाहादिर्वा प्रातिस्विकः । यदि चिरकालानुवर्त्यनागमनकारणं तदाऽऽहूतः सन्व्यवहारनिर्धारणाय पुरुषान्तरं प्रस्थापयेत् । अत एवाऽऽह—

" न च भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।
परार्थवादी दण्ड्यः स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन् " ॥

तथा—" हीनपक्षा च युवतिः कुलजाता प्रसूतिका ।
सर्ववर्णोत्तमा कन्या ता ज्ञातिप्रभुकाः स्मृताः " ॥

अत एवाऽऽसां ज्ञातय एवाऽऽह्वातव्या इत्यर्थः । आह्वातव्या आह—

" तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः ।
निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमर्हति " ॥

राजा कर्तुमिति शेषः । एतच्चोपलक्षणम् । तेन गोपशौण्डिकादिस्त्रीणामपि परिग्रहः । तासामपि व्यवहारप्रणेतृत्वात् । वनस्थादिव्यतिरेकेण यत्र न सिद्धिस्तत्र तानप्याह्वाययेत् । तदुक्तम्—

" ज्ञात्वाऽभियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजितादयः ।
तानप्याह्वाययेद्राजा गुरुकार्येषु गोपयन् " ॥

तथा—" आसेधयोग्य आसेधमुत्क्रामन्दण्डमर्हति ।
आसेधयंस्तु नाऽऽसेध्यं राज्ञा शास्य इति स्थितिः " ॥

आहूतस्याऽऽगच्छत आह्वात्राऽऽसेधयोग्यस्याऽऽसेधो भोजनादिकार्यान्तरनिषेधः कार्यः । अनासेध्यानाह नारदः—

" नदीसंतारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु ।
आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नाँपराप्नु ( ध्नु ) यात् ॥

---

१ ग. छ. ज. °कुला । ध° । २ ग. छ. ज. °दयिप° । ३ क. पुत्रेण वियो° । ४ ग. छ. ज. गणका° । ५ ग. छ. ज. °कानाम° । ६ ग. छ. °र्येष्वगो ( को )° । ७ क. °भाऽऽप्नुयाद्ममू । नि° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

निवेष्टुकामो रोगार्तो यियक्षुर्व्यसने स्थितः।
अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥
गवां प्रचारे गोपालाः सस्यकाले कृषीवलाः।
शिल्पिनश्चापि तत्काले आयुधीयाश्च विग्रहे ॥
अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती।
विषमस्थाश्च नाऽऽसेध्या नैतानाह्वाययेन्नृपः ॥
देशं कालं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबलम्।
अकल्पादीनपि शनैर्यानैरानाययेन्नृपः" ॥

यानैः शिबिकादिभिः।

नारदः—"वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः।
आसेधयेद्विवादार्थं यावदाह्वानदर्शनम्"।

आह्वयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या राजपुरुष आह्वानः। आसेधे चातुर्विध्यमाह—

"स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा।
चतुर्विधः स्यादासेधो नाऽऽसिद्धस्तं व्यतिक्रमेत्" ॥

स्थानासेधो यथा—नात्र गृहादौ स्थातव्यमिति। कालासेधस्त्वद्य त्वया न भोक्तव्यमित्यादि। प्रवासान्निषेधो यात्रानिवारणम्। कर्मणो निषेधः कृष्यादिवारणम्।

"आसेधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते।
स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेद्धा दण्डभाग्भवेत्" ॥

विनेयो दण्ड्यः। अन्यथा कुर्वन्ननासेध्यमासेधयन्नित्यर्थः। कात्यायनः—

"आहूतस्त्ववमन्येत यः शक्तो राजशासनम्।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥
हीने कर्मणि पञ्चाशन्मध्यमेन शतावरम्।
गुरुकार्येषु दण्ड्यः स्यान्नित्यं पञ्चशतावरम्" ॥

ताम्रिकपणाभिप्रायैषा संख्या।

"दूतोऽथ साधिते कार्ये नेता भक्तं प्रदापयेत्।
देशः कालो वयः शक्तिरपेक्ष्या भोजने तथा ॥
आकारकस्य सर्वत्र त्विति धर्मविदो विदुः।
प्रतिभूश्च ग्रहीतव्यः प्राड्विवाकेन कार्यिणः ॥

---

१ ग. छ. °श्च दुतो। २ ग. छ. °वरः। गु°। ३ ग. छ. °वरः। ता°। ४ छ. °यैर्वा सं°। ५ ज° °तावसा°।

प्रत्यर्थिनि समायाते समुपस्थापनक्षमः ।
अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति वादयोग्यस्य वादिनः ॥
स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भूताय वेतनम् " ॥ ५ ॥

व्यवहारान्पश्यता प्रथमं यत्कार्यं तदाह—

**प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना ॥**
**समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ ६ ॥**

अर्थिनाऽग्रवादिना धर्माधिकारे येन येन प्रकारेण कार्यमावेदितं तत्तेनैव प्रकारेण वर्षादिचिह्नितं प्रत्यर्थिनः पुरतो राज्ञा लेखयितव्यम् । तत्राऽऽवेदनप्रकारो यथा—मदीयं सुवर्णमेतावदमुकवत्सरेऽमुकमासेऽमुकपक्षेऽमुकतिथावमुकेनामुकजातीयेनाधमर्णेन गृहीतमिति । अथ वा विवादास्पदधनस्य नामजात्यादिचिह्नितम् । आदिशब्देन खण्डत्वमुण्डत्वसंख्यापरिमाणादि गृह्यते । अन्यथा संख्यादिरहितद्रव्यविषयविवादस्यानादेयता स्यात् । अत्र कात्यायनः—

" निवेश्य कालं वर्षं च मासं पक्षं तिथिं तथा ।
वेलां प्रदेयं विषयं स्थानं जात्याकृती वयः ॥
साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्यां नाम तथाऽऽत्मनः ।
राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥
क्रमात्पितॄणां नामानि पीडामाहन्तृ(र्तृ)दायकौ ।
क्षमालिङ्गानि चान्यानि पक्षं संकीर्त्य कल्पयेत् " ॥

येषां मध्ये यानि साधकबाधकप्रमाणोपन्यासोपयोगीनि यत्र भवन्ति तत्र तान्येव लेख्यानि । न सर्वाणि प्रयोजनाभावात् । तत्र समामासादीनां वृद्धिविवाहादेः पूर्वोत्तरकालविवादे चास्त्युपयोगः । चौर्यादिविवादे नामजात्यादेः । एवमन्येष्वप्यूहनीयम् ।

" देशः कालस्तथा स्थानं संनिवेशस्तथैव च ।
जातिः संज्ञाऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥
पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्तनम् ।
स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत् " ॥

देशो जनपदः । तेन विशेषणीयं विवादास्पदं स्थावरम् । एवमुत्तरत्रापि ।

---

१ क. °क्षिणो दि° । २ ज. सममा° । ३ ग. °वासोऽसा° । ४ ग. छ. °नि पिण्डामा° । ज. °नि पिडा° । ५ ग. छ. ज. जातिं संज्ञादिवा° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

क्रयविक्रयप्रतिग्रहादिकालोऽत्र कालः । स्थानं ग्रामादिसंनिवेशो वृत्तत्वदीर्घत्वादिः । जातिर्ब्राह्मणादिजन्म, तयोपलक्षणीयं क्षेत्रादीत्यर्थः । अथ वा दायकादेर्जातिर्ब्राह्मणादिः । संज्ञा नाम, चिह्नं वा वृक्षादि । अधिवासः समीपवर्तिक्षेत्रस्वामिवर्गः । प्रमाणं परिमाणं निवर्तनादि । आघटनादि वा । प्रसिद्धमन्यत् । एवमुक्तरूपा भाषा लेखनीया विचारकैरुपादेया न विपरीता । तदुक्तम्—

" देशकालविहीनश्च द्रव्यसंख्याविवर्जितः ।
साध्यप्रमाणहीनश्च पक्षोऽनादेय इष्यते " ॥

अनादेयस्त्याज्यः परीक्षकैः । अयमभिप्रायः—निर्णयप्रयोजनवान्विचारः प्रेक्षावतामुपादेयः । ऋणादानादिव्यवहारश्च धनप्राप्तिप्रयोजनः । न चोक्तविशेषेण रहितं धनं पराजितेनापि प्रतिवादिना शक्यं दातुमितरेण च ग्रहीतुम् ।

" अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् ।
असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् " ॥

अप्रसिद्धौ यथा—मदीयं शशविषाणमनेनापहृतमिति । निराबाधो निरुपद्रवो यथा—अस्मत्प्रदीपप्रभयाऽयं स्वगृहे व्यवहरतीति । निरर्थो निरभिधेयो यथा—कचटतपेति । निष्प्रयोजनो यथा—अस्मद्गृहसंनिधौ श्लाघ्यमानः पठतीति । असाध्योऽशक्यसाधनो यथा—देवदत्तेनाहमक्षिनिकोचेनोपहसित इति । नह्ययं पक्षः साक्षिविषयः । अल्पकालत्वात् । नापि दिव्यविषयोऽल्पत्वात् । प्रमाणान्तरं तु नैव संभवति । पुरराष्ट्रराजकार्यविरुद्धो विरुद्धः । एवंविधं पक्षं वादी वर्जयेन्नोपन्यसेत् । उपन्यस्तमपि राजा नोपाददीत । कात्यायनः—

" पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विवर्जितः ।
अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिध्यति " ॥

पुरराष्ट्रविरुद्धः पुरराष्ट्राचारविरुद्धः । राज्ञा विवर्जितो निषिद्धो नास्मद्राष्ट्रे रूपकैर्व्यवहर्तव्यमित्यादि । ऋणादीनां व्यवहारपदानामनेकेषां यत्र पक्षे संकरः सोऽनेकपदसंकीर्णः, यथा—मदीयं सुवर्णमनेन गृहीतमेतद्धस्ते मया द्रम्मसहस्रं निक्षिप्तम् । अस्वामिनाऽनेन गौर्विक्रीता भासप्लवान्दण्डेन च ताडितवानिति ।

" बहुप्रतिज्ञं यत्कार्यं व्यवहारेषु निश्चितम् ।
कामं तदपि गृह्णीयाद्राजा तत्त्वबुभुत्सया " ॥

---

१ ग. °अप्र° । २ क. ज. °वर्गाः । प्र° । ३ क. °यो विषय° । ४ ग. ऋणदा° । ५ ग. छ. ज. धनप° । ६ ज. निरुद्धो । ७ क. °नेनापदृत° ।

यत्कार्यमेकमृणादानादिकं बहूनामर्थानां प्रतिज्ञया विना न सिध्यति तद्ग्राह्यं तेन संकीर्णविषयत्वाभावादुपादेयमेव । यथा—वाराणस्यामनेन मदीयं सुवर्णशतमृणरूपेण गृहीतम् । पुनर्वर्षान्तरे वस्त्राण्येतावन्ति गृहीतानि । अतोऽपि कालान्तरे स्थानान्तरेष्वजा गावो धान्यं च गृहीतमिति । अथवाऽयमर्थः—ऋणादाननिक्षेपास्वामिविक्रयादिव्यवहारविषया अनेकाः प्रतिज्ञा एकस्मिन्धनप्राप्तिरूपे कार्ये भवन्ति । तदपि कार्यं कामं राजोपाददीत । यदि प्रतिज्ञासु प्रत्येकं भेदेन प्रमाणोपन्यासं करोति ।

नारदः—" एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीभिः प्रेष्यकरैस्तथा ।
अनादेयो भवेद्व्यादो धर्मविद्भिः प्रकीर्तितः ॥
गुरोः शिष्यैः पितुः पुत्रैर्दंपत्योः स्वामिभृत्ययोः ।
एतेषु समवेतेषु व्यवहारो न विद्यते " ॥

बहुभिः सहैकस्य प्रत्येकं युगपद्व्यवहारो नाऽऽदेयः । क्रमेण तु बहुभिरपि सह समुदितैर्वाऽऽदेय एव । स्त्रीभिर्गोपशौण्डिकादिस्त्रीव्यतिरिक्ताभिरेवं प्रेष्यकरैर्दासादिभिर्व्यवहारो नाऽऽदेयः । किंतु तत्स्वामिभिः सहैव कार्यः । यथाशास्त्रं गुरुणा दण्डितेषु शिष्येषु तैः सह गुरोर्विवादो दण्डपारुष्ये[1] नाऽऽदेयः । एवं पुत्रादीनां पित्रादिभिः । तदुक्तं मनुना—

" भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता सहोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कदाचन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् " ॥

किल्बिषं दण्डनिमितम् । तथा च दंपत्योः साधारणधनत्वान्मध्यके धने विवादो नाऽऽदेयः । 'तथा विवादं कुर्वीत सा भर्त्रा हीयते अपि,' इति शङ्कया विवादो नाऽऽदेयः । बृहस्पतिः—

" प्रतिज्ञादोषनिर्मुक्तं साध्यं[2] सत्कारणान्वितम् ।
निश्चितं लोकसिद्धं च पक्षं पक्षविदो विदुः ॥
मृषायुक्तिक्रियाहीनमसाध्याद्यर्थमाकुलम् ।
पूर्वं पक्षं लेखयतो वादहानिः प्रजायते " ॥

प्रतिज्ञादोषो यथा, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधो यथाऽनुष्णोऽग्निः । लोकविरोधो यथाऽशशी चन्द्रः । स्ववचनविरोधो यथा—माता मे वन्ध्या । पिता मे

---

१ ग. छ. ज. °तिज्ञा वि° । २ क. °रुष्यं ना° । ३ क. °ध्यं स्यात्का° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

**बालब्रह्मचारीत्यादयः । मृषा मिथ्या ।**

**कात्यायनः**—" अधिकांश्छातयेदर्थान्हीनांश्च प्रतिपूरयेत् ।
भूमौ निवेशयेत्तावद्यावदर्थोऽभिवर्णितः " ॥
**तथा**—" पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं प्राड्विवाकोऽभिलेखयेत् ।
पाण्डुलेख्येन फलके ततः पत्रे विशोधितम् " ॥

**स्वभावो भयाद्युपाधिरहितत्वम् ।**

**नारदः**—" भाषाया उत्तरं यावत्प्रत्यर्थी न निवेदयेत् ।
अर्थी तु लेखयेत्तावद्यावद्वस्तु विवक्षितम् " ॥
**बृहस्पतिः**—" अभियोक्ताऽप्रगल्भत्वाद्वक्तुं नोत्सहते यदा ।
तस्य कालः प्रदातव्यः कालशक्त्यनुरूपतः " ॥

**अभियोक्ताऽग्रवादी । यत्रोभयोरर्थित्वं प्रत्यर्थित्वं च साध्यभेदाद्भवति तत्र कोऽग्रवादीत्य(त्य)पेक्षिते बृहस्पतिराह—**

" अहंपूर्विकया यातावर्थिप्रत्यर्थिनौ यदा ।
वादो वर्णानुपूर्व्येण ग्राह्यः पीडामवेक्ष्य च " ॥

**यत्रानेकानि वादिप्रतिवादियुग्मानि युगपदुपस्थितानि स्युस्तत्र व्यवहारदर्शने क्रमनियममाह मनुः—**

" अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्या धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् " ॥
**कात्यायनः**—" तत्राभियोक्ता प्राग्ब्रूयादभियुक्तस्त्वनन्तरम् ।
तयोरुक्ते सदस्यास्तु प्राड्विवाकस्त्वतः परम् " ॥

**भाषोत्तरक्रियानिर्णया एवाभियोक्त्रादिविषयविशिष्टा अत्रोक्ताः ।**

**नारदः**—" यस्य वाऽत्यधिका पीडा कार्यं वाऽत्यधिकं भवेत् ।
तस्याग्रवादो दातव्यो न यः पूर्वं निवेदयेत् " ॥
**बृहस्पतिः**—" चतुर्विधः पूर्वपक्षः प्रतिपक्षस्तथैव च ।
चतुर्धा निर्णयः प्रोक्तः कश्चिदष्टविधः स्मृतः ॥
शङ्काभियोगस्तथ्यं च लक्ष्येऽर्थेऽभ्यर्थनं तथा ।
वृत्ते वादे पुनर्न्यायः पक्षो ज्ञेयश्चतुर्विधः ॥ ६ ॥

**उक्तं पूर्वपक्षस्य सप्रकारस्य लेखनम् । उत्तरस्येदानीमाह—**

---

१ क. °ति पादये° । २ ग. छ. 'त्तरे या° । ३ क. न विवेदये' । ४ ग. ज. °त्वं च । ५ क. °त्वं सा° । ६ ग. छ. ° वहंपूर्विकया य° । ७ क. वाऽ'यधिका पीडा कार्यं यस्याधि° ।

## श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्ववादकसंनिधौ ॥

श्रुतो भाषाया अर्थो येन प्रतिवादिना तदीयमुत्तरं पूर्ववादिसंनिधौ लेख्यम् । अत्र बृहस्पतिः—

" विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशेषिते ।
प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरं ततः " ॥

नारदः—" यदा त्वेवंविधः पक्षः कल्पितः पूर्ववादिना ।
दद्यात्तत्पक्षसंबद्धं प्रतिवादी तदोत्तरम् ॥
पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमनाकुलम् ।
अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः " ॥

पक्षस्य व्यापकं यत्पक्षं निराकारकतया व्याप्नोति । सारं दृढम् । असंदिग्धमसंकीर्णम् । अनाकुलं पूर्वापराविरुद्धम् । अव्याख्यागम्यमध्याहारव्यवहितयोजनाव्यवधारणकल्पनाविपरिणामरहितम् ।

उत्तरभेदानाह—" मिथ्यासंप्रतिपत्त्या वा प्रत्यवस्कन्दनेन वा ।
प्राङ्न्यायविधिसिद्ध्या वा उत्तरं प्राक्चतुर्विधम् " ॥

कात्यायनः—" श्रुत्वा भाषार्थमन्यस्तु यदा तं प्रतिषेधति ।
अर्थतः शब्दतो वाऽपि मिथ्या तज्ज्ञेयमुत्तरम् " ॥

मिथ्योत्तरं चतुर्विधं यदाह स एव—

" मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा मेऽभूदसंनिधिः ।
अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधः " ॥

मिथ्योत्तरस्य मिथ्यैतदित्येकः प्रकारः । नाभिजानामीति द्वितीयः । तस्मिन्काले तस्मिन्देशे च न मे संनिधिरिति तृतीयः । तस्मिन्काले ऽहं त्वजात इति चतुर्थः । नाभिजानामि न स्मरामीत्यर्थः ।

संप्रति प्रत्युत्तरस्वरूपमाह—

" साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता " ।

पूर्ववादिप्रतिज्ञा सत्येत्युत्तरं संप्रतिपत्तिः । संप्रतिपत्तावुत्तरान्त एव व्यवहारः । अत एव तत्र व्यवहारस्य द्विपात्त्वमाह बृहस्पतिः—

" मिथ्योत्तरे चतुष्पात्स प्रत्यवस्कन्दने तथा ।
व्यवहारस्तु विज्ञेयो द्विपात्संप्रतिपत्तिषु " इति ॥

---

१ ङ. ज. पूर्वावेद° । २ क °त्येति प्रत्यु° । ३ क °त्त्वमेवाऽऽह । ४ क. °ष्पात्स्यात्प्रत्य° । ५ ग. छ. ज. प्रतिवस्क° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

भाषा, उत्तरं, प्रमाणं, निर्णयः, इति व्यवहारस्य चत्वारः पादाः । संप्रतिपत्तौ तु भाषोत्तरात्मकौ द्वावेव पादौ । प्रत्यवस्कन्दलक्षणमाह नारदः—

" अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा ।
प्रपद्य कारणं ब्रूयात्प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम् " ॥

प्राङ्न्यायोत्तरलक्षणमाह स एव—

" आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि ।
स विनेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते " ॥

आचारो व्यवहारः । अवसन्नो जितः । मिथ्योत्तरादीनां परस्परविविक्तत्वे सत्युत्तरत्वं न तु मिश्राणाम् । तदाह कात्यायनः—

" पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् ।
मिथ्या चैवैकदेशे स्यात्संकरात्तदनुत्तरम् " ॥

अनुत्तरत्वे हेतुमाह—" न चैकस्मिन्विवादे च क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः ।
न चार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् " ॥

क्रिया साक्ष्यादिकं प्रमाणम्, तन्मिथ्योत्तरे पूर्ववादिनः । प्रत्यवस्कन्दे चोत्तरवादिनः । तत्र यदि मिथ्यावस्कन्दयोः संकीर्णयोः सम्यगुत्तरत्वं स्यात्तदा द्वयोर्वादिनोः प्रमाणं प्राप्नोति । तच्च विरुद्धं, तथा यदि मिथ्योत्तरं तदा पूर्ववादिन एव प्रमाणं न तूत्तरवादिनः । तच्चैतदेकस्मिन्व्यवहारे विरुद्धम् । भवतु वा द्वयोः प्रमाणमविरुद्धं तथाऽपि द्वयोरर्थसिद्धिर्विरुध्यते । तथा हि-पूर्ववादिना स्वसाध्योऽर्थो ममानेन सुवर्णशतं देयमित्यादि लिखितादिना साध्यते । परेणापि न देयमिति, तत्रोभयोर्नार्थसिद्धिरन्योन्यविरोधात् । किंच प्रत्यवस्कन्दोत्तरप्राङ्न्यायोत्तरयोः संकीर्णयोः सम्यगुत्तरत्वे प्रमाणद्वयमेकत्र वादिनि प्राप्नोति । तथा हि-प्रत्यवस्कन्दवादित्वाद्गृहीतस्य दत्तत्वादौ कारणे काऽपि क्रिया कार्या । प्राङ्न्यायोत्तरत्वे तु जितपत्रादिका क्रिया । न च क्रियाद्वयस्य प्रामाण्यं प्रमेयभेदात् । एकया हि क्रियया साध्यसिद्धौ व्यर्थाऽपरा । तस्मादसंकीर्णमेव सम्यगुत्तरम् ।

व्यासः—" मिथ्योत्तरं कारणं च स्यातामेकत्र चेदुभे ।
सत्यं वाऽपि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम् ॥
मिथ्याकारणयोर्वाऽपि ग्राह्यं कारणमुत्तरम् ।
यत्प्रभूतार्थविषयं यत्र वा स्यात्क्रियाफलम् ॥

---

१ ग. छ. ज. पदाः । २ ग. छ. मिथ्यामिथ्यो° । ३ ग. छ. विभिन्नत्वे । ४ ज. न त्वमि° । ५ ग. छ. मिश्रेण । ६ क. °मामुकेन । ७ क. 'दिना लिखिता सा° । ८ क. °तपुत्रा° । ९ ग. ज. °मेयाभे° । १० क. °यं ग्राह्यं वा ।

उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतोऽन्यथा" ।

अस्यार्थः—एकत्रोत्तरावसरे मिथ्योत्तरं कारणं चोत्तरवादी ब्रूते । यथा मदीया गौरस्मिन्कालेऽनेनापहृता साऽस्य गौर्विद्यते गृह इति पूर्ववादिनोक्तेऽन्यो ब्रूते—मिथ्यैतत्किं त्वस्मद्गृहजातैवेति । तथा चौरोऽयं यतो देवदत्तस्य गौर्विनष्टा साऽस्य गृहे वर्तत इति पर्यनुयुक्तो ब्रूते—सत्यं देवदत्तस्य गौरस्मद्गृहे वर्तते, किंतु नाहं चौरो यतोऽस्मद्बोधनेन सार्धमस्मद्गृहमागतेति । अत्र प्रत्यवस्कन्दांश एवोत्तरत्वेन ग्राह्यः । यद्वा यस्मिन्नर्थे साधिते द्वितीयोऽर्थात्सिध्यति तत्प्रभूतविषयमुत्तरं ग्राह्यम् । यत्र वांऽशे प्रमाणफलं हानमुपादानं वा संभवति स ग्राह्यः । अतः प्रकारात्प्रकारान्तरमसंकीर्णमेव वाच्यं न तु संकीर्णमिति । अत एव कात्यायनः—

"प्रपद्य कारणं पूर्वमन्यद्गुरुतरं यदि ।
प्रतिवाक्यगतं ब्रूयात्साध्यते तद्धि नेतरत्" ॥

बृहस्पतिः—"प्रत्यर्थविधिराख्यातः संगतार्थप्रपादने ।
चतुर्विधस्याप्यधुना यत्तद्ग्राह्यं तदुच्यते ॥
प्रस्तुतादन्यन्मध्यस्थं न्यूनाधिकमसंगतम् ।
अवाच्यसारं संदिग्धं प्रतिपक्षं न लक्षयेत्" ॥

कात्यायनः—"संदिग्धमन्यत्प्रकृतादत्यल्पमतिभूरि वा ।
पक्षैकदेशे व्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं भवेत् ॥
यद्व्यस्तपदमव्यापि निगूढार्थमनाकुलम् ।
व्याख्यागममसारं च नोत्तरं स्वार्थसिद्धये" ॥

तत्र संदिग्धं यथा—सुवर्णशतं मे धारयतेऽयमित्यनुयुक्तो ब्रूते सुवर्णशतं पणशतं वेति । प्रकृतादन्यद्यथा—सुवर्णशतं धारयसे त्वं मदीयमित्युक्तो नाहं त्वां ताडयामीति वदति । अत्यल्पं यथा—शताभियोगे सत्यं दश धारयामीति । अथ वा चकारादिना निपातेनानेकविवक्षितार्थप्रतिपादनम्, अतिभूरि, स्वल्पेऽर्थे वक्तव्ये महावाक्यमसंग्राह्यार्थम् । पक्षैकदेशव्यापि पूर्वपक्षैकदेशे निराकारकं यथा—गोहिरण्याद्यनेकद्रव्यानुयोगे कृते न हिरण्यं धारयेऽहमिति व्यस्तपदं व्यवहितान्वयम् । अव्यापि देशविशेषेण कालविशेषेण वा विशिष्टं

---

१ ग. छ. ज. °द्गृहे जातो वे° । २ ग. छ. ज. °भूताधि° । ३ ग. छ. °नं सं° । ४ क. °मित्यत आह का° । ५ क. °ध्यमेत° । ६ क. °प्रसाद° । ७ क. निर्दिष्टं । ८ क. न लेखये° । ९ क. °कृतमत्य° । १० ग. छ. ज. °योगं स° ।

( साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १ )

पूर्वपक्षं निराकरोति न स्वरूपेण, यथा—चैत्रमास्युज्जयिन्यां सुवर्णशतं मदीयमनेन गृहीतमित्यभियुक्तो ब्रूते न मयोज्जयिन्यां चैत्रे गृहीतमिति । नैवमाचष्टे न मया गृहीतमिति । निगूढार्थमप्रसिद्धार्थपदम् । यथा—अर्जुनीशब्देन गोरभिधानम्[1] । काश्यपीशब्देन वा भूमेः । आकुलं पूर्वापरविरुद्धम् । व्याख्यागम्यमसमर्थसमासाध्याहारविपरिणामादिवशाद्गमकम्[2] । असारमदृढं यत्रोक्त एव नैतत्संभवतीति सर्वेषां बुद्धिर्जायते । बृहस्पतिः—

" पूर्वपक्षे यथार्थं तु न दद्यादुत्तरं तु यः ।
प्रत्यक्षी दापनीयः स्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ॥
प्रियपूर्वं वचः साम भेदस्तु भयदर्शनम् ।
अर्थापकर्षणं दण्डस्ताडनं बन्धनं तथा ॥
उभयैश्चोद्यमानेऽपि न दद्यादुत्तरं तु यः ।
अतिक्रान्ते सप्तरात्रे जितोऽसौ दण्डमर्हति " ॥

उभयैरुपायैर्मृदुभिः खरैश्च ।

तथा—" उन्मत्तमत्तनिर्धूता महापातकदूषिताः ।
जडातिवृद्धबालाश्च विज्ञेयास्तु निरुत्तराः " ॥

कात्यायनः—" यथार्थमुत्तरं दद्यादयच्छन्तं च दापयेत् ।
सामभेदादिभिर्मार्गैर्यावत्सोऽर्थः समुत्थितः ॥
मोहाद्वा यदि वा शाठ्याद्यन्नोक्तं पूर्ववादिना ।
उत्तरान्तर्गतं चापि तद्ग्राह्यमुभयोरपि " ॥

अयमर्थः—यद्वा यदपि संमोहादिवशात्पूर्ववादिना[3] नोक्तम् । उत्तरान्तर्गतं चाप्युत्तरे कथ्यमानेऽपि प्रोच्यमानं ग्राह्यमुत्तरवादिनः । क्रियापाद उत्तरम् । उत्तरसमाप्तौ तु कात्यायन आह—

" उभयोर्लिखिते वाच्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।
अनुक्तं तत्र यो ब्रूयात्तस्मादर्थात्स हीयते " ॥

**ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ ७ ॥**
**तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ॥**
**चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः ॥ ८ ॥**

[ इति साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ॥ १ ॥ ]

---

१ क. न तु स्व° । २ क. °म् । काश्यपीशब्देन गोरभिधानम् । का° । ३ ग. छ. ज. °गम्यम° । ४ ज. °दिना । क्रि° ।

तत उत्तरलेखनादुत्तरकालमर्थी पूर्ववादी प्रतिज्ञातस्यार्थस्य साधनं प्रमाणं सद्यस्तत्कालमेव लेखयेत् । तस्य साधनस्य सिद्धौ सिद्धिं जयलक्षणां प्राप्नोति । अतोऽन्यथा साधनस्यासिद्धौ विपरीतं पराजयमाप्नोतीत्यर्थः । तथा च नारदः—

" सारस्तु व्यवहाराणां प्रतिज्ञा समुदाहृता ।
तद्धानौ हीयते वादी तंरस्तामुत्तरो भवेत् " ॥

प्रतिज्ञामुत्तीर्णो भवेदित्यर्थः । अयमस्माभिश्चतुष्पाच्चतुर्भागो व्यवहारो व्यापारः सर्वविवादेषूक्तः । तत्र "प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यम्" इत्यनेन व्यवहारस्य प्रथमपाद उक्तः । 'श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम्' इत्यनेन द्वितीयः । 'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः' इत्यनेन तृतीयः । 'तसिद्धौ सिद्धिः' इति चतुर्थः । अत्र च सिद्धिशब्देन सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिविषयजयपराजयावधारणोपायभूतं प्रमाणमस्येदं शास्त्रतः प्राप्नोतीति विचारकाणां परामर्शः प्रत्याकलितादिशब्दवाच्य उच्यते, सिद्धिफलत्वात् । अत एवाऽऽह कात्यायनः—

" पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च ।
क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः " ॥

अत एव बृहस्पतिः—" पूर्वपक्षः स्मृतः पादो द्वितीयस्तूत्तरस्तथा ।
क्रियापादस्तथा वाच्यश्चतुर्थो निर्णयस्तथा " ॥

अत्र च निर्णयफलको न्यायपरामर्शो निर्णयशब्देन लक्ष्यते । ततोऽर्थी लेखयेत्सद्य इति मिथ्योत्तरविषयम् । उत्तरान्तरे तु प्रत्यर्थीन एव प्रमाणम् । तदाह हारीतः—

" प्राङ्न्याये कारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् ।
मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् " ॥

क्रियाऽत्र साधनम् । तदाह कात्यायनः—

" कार्यं हि साध्यमित्युक्तं साधनं तु क्रियोच्यते ।
द्विभेदा सा पुनर्ज्ञेया दैविकी मानुषी तथा ॥
मानुषी लेख्यसाक्ष्यादिर्दैवधादिर्दैविकी मता " ॥

प्राङ्न्यायोत्तरे मानुष्येव जयपत्रादिका क्रियेत्याह व्यासः—

" प्राङ्न्याये जयपत्रेण प्राड्विवाकादिभिस्तथा ।
सत्यं वादी समाप्नोति यद्यत्तेन निवेदितम् " ॥

---

१ क. °दी हरं° । २ ग. छ. ज. °णस्ये° । ३ क. °वादे तु । ४ ग. छ. ज. कार्यो हि ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

प्राड्विवाकादयः पूर्वं न्यायद्रष्टार उक्ताः ॥ ८ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ॥ १ ॥ ]

---

[ अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् । ( २ ) ]

---

सामान्यतश्चतुर्धा व्यवहारः । तस्येदानीं क्रममाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ॥
अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

स्वस्याऽऽक्षेपं परेण कृतमनुद्धृत्यैनं क्षेप्तारं न प्रत्यभियोजयेन्नाऽऽक्षिपेत् । तत्र व्यवहारे स्वयं प्रतियोगी तं परेणार्थिना प्रक्रान्तं परिसमाप्य पश्चात्स्वयमर्थी भूत्वाऽनेन सह व्यवहारान्तरमारभेतेत्यर्थः । तथाऽन्येनार्थिनाऽभियुक्तं तावन्नाभियुञ्जीत । यावत्स व्यवहारो न परिसमाप्यते । तथा यत्स्वयं व्यवहाराङ्गतयोक्तं तद्विप्रकृतिं विरोधं न नयेन्न प्रापयेत् । पूर्वापरविरुद्धं न भाषेतेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अत्रापवादमाह—

कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ॥

कलहादावभियुक्तोऽभियोगमनिस्तीर्यापि प्रत्यभियोगं कुर्यात् । यथाऽहमनेन शप्तस्ताडितो वेत्यभियुक्तः परिहारमकृत्वैव ब्रूते—अहमनेन शप्तस्ताडितो वेति । अत एवात्र विषये निर्णयमाह नारदः—

" पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ।
पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः " ॥

आक्षारयेदपराध्नुयात् । युगपदपराधेऽपि स एवाऽऽह—

" पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ।
विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः " ॥

विनयो दण्डः । कलहो वाक्पारुष्यम् । साहसो दण्डपारुष्यम् ॥

वादिप्रतिवादिकार्यमुक्तम् । अधुना परीक्षकाणां कार्यमाह—

उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः प्रतिभूर्ग्राह्यो यः समर्थः कार्यनिर्णये निर्णीतकार्यविषय इत्यर्थः। निर्णीते च कार्ये जितवतो धनदानं राज्ञे च दण्डदानम्। प्रतिभूग्रहणं वस्तुसामर्थ्यान्निर्णयैकरणस्य पुरस्ताद्भवति। प्रतिभुवोऽसंभवे कात्यायन आह*—

" अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनोः।
स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृत्याय वेतनम् " ॥

स पराजितो वादी ॥ १० ॥

पराजितं प्रत्याह—

निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् ॥
मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत् ॥ ११ ॥

निह्नवो मिथ्योत्तरम्। तद्वादी पूर्ववादिना भावितो दैवमानुषप्रमाणबलेन प्रतिज्ञातमर्थमङ्गीकारितस्तदग्रवादिने तत्समं च राज्ञे दण्डं दद्यात्। यस्तु प्रमाणरहितमभियोगं कुरुते सोऽभियोगादभियोगविषयाद्धनाद्द्विगुणं धनं वहेद्राज्ञे प्रापयेत्। एतच्च सपणव्यवहारविषयम्। अस्ति च पणरहितोऽपि व्यवहारः। यत आह नारदः—

" सोत्तरोऽनुत्तरश्चैव स विज्ञेयो द्विलक्षणः।
सोत्तरोऽत्यधिको यत्र विलेखात्पूर्वकः पणः " ॥

भाषालेखात्पूर्वत्र विवादविषयाद्धनादधिकः पणो यत्रोपेयते स सोत्तरो व्यवहारः ॥ ११ ॥

व्यवहारदर्शनं प्रति विषयविशेषे कालविशेषमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम् ॥
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

सहसा बलेन हठाज्जनसमक्षं यत्परहिंसादि क्रियते तत्साहसं, स्तेयं प्रसिद्धं, पारुष्यं वचसा कायेन वा परस्य दुःखोत्पादनं, गोशब्द उपजीव्यद्रव्योपलक्षणार्थः। अभिशापः पापाभिशंसनम्। तस्य पारुष्यान्तर्भावेऽपि पृथग्वचनमादरार्थम्। अत्ययो विनाशः। एषु विषयेषु स्त्रीविषये च सद्यस्तदहरेव विवादयेद्व्यवहारं पश्येत्। उक्तविषयादन्यत्र यद्युत्तरवादी सद्यो

* इतः परं प्रत्याहेत्यन्तं न विद्यते ग. छ. ज. पुस्तकेषु।

१ ज 'र्थानिर्ण'। २ क. 'यकार'।

नोत्तरं दातुमिच्छति किंतु कालान्तरे तदा तदिच्छातोऽन्योऽप्युत्तरस्य कालो भवति । अत्र बृहस्पतिः—

" विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशेषिते[1] ।
प्रतिज्ञार्थे[2] स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरं ततः ॥
शालीनत्वाद्भयात्[3]तद्वत्प्रत्यर्थी स्मृतिविभ्रमात् ।
कालं प्रार्थयते यत्र तत्रेमं लब्धुमर्हति " ॥

कात्यायनः—" सद्यःकृतेषु कार्येषु सद्य एव विवादयेत् ।
कालातीते तु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः " ॥

सद्यःकृतेषु स्मृतिसंभवात्सद्य एवोत्तरदानमित्यभिप्रायः ।

" श्रुत्वा लेखयतो ह्यर्थं प्रत्यर्थी कारणाद्यदि ।
कालं विवादे याचेत तस्य देयो न संशयः ॥
सद्यःकृते सद्य एव समातीते दिनं क्षिपेत् ।
षडब्दिके त्रिरात्रं तु सप्ताहं द्वादशाब्दिके ॥
विंशात्परं[4] दशाहं तु मासार्धं वा लभेत सः ।
मासं त्रिंशत्समातीते त्रिपक्षं परतो भवेत् ॥
कालात्संवत्सरादर्वाक्त्वयमेषां यथेप्सितम् ।
कालं शक्तिं विदित्वा तु कार्याणां च बलाबलम् ॥
अल्पं वा बहुकालं वा दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ।
यो वा यस्मिन्समाचारः पारम्पर्यक्रमागतः ॥
तं परीक्ष्य यथान्यायमुत्तरं दापयेन्नृपः ।
मूलं वा साक्षिणो वाऽथ परदेशस्थिता यदा ॥
तत्र कालो भवेत्पुंसां स्वदेशे दातुमासमात्[5] " ।

समा वर्षं, मूलं धनम् । साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणार्थम् । येषां देशान्तरे धनं प्रमाणं वा साक्ष्यादि विद्यते तेषां पुंसां यावता कालेन तन्मूलधनाद्यानीयते तावत्कालस्तेषां दातुमर्हो भवतीत्यर्थः ।

" दिनं मासार्धमासौ वा ऋतुः संवत्सरोऽपि वा ।
क्रियास्थित्यनुरूपस्तु देयः कालः परेण तु " ॥

तथा—" धेन्वामनड्वहि क्षेत्रे स्त्रीषु प्रजनने तथा ।
न्यासे याचितके दत्ते तथैव क्रयविक्रये ॥

---

१ ज. °शेषतः । प्र° । २ क. ज. °ज्ञाते स्थि° । ३ ग. छ. ज. °यान्तरत्वात्प्र° । ४ क. °रे द्वादशं तु । ५ क. न्यासया' ।

कन्याया दूषणे स्तेये कलहे साहसे निधौ ।
उपाधौ कूटसाक्ष्ये च सद्य एव विवादयेत् ॥
व्यपैति गौरवं यत्र विनाशस्त्याग एव च ।
कालं तत्र न कुर्वीत कार्यमार्त्ययिकं हि तत् ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणान्याह—

देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च ॥
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥ १३ ॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषते ॥
वाक्चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि ॥ १४ ॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
अभियोगेऽथ वा साक्ष्ये दुष्टः स परिकीर्तितः ॥१५॥

सृक्किणी गल्लयोरन्तर्भागौ परितः सर्वतो लेढि जिह्वया स्पृशति । परिशुष्यताऽऽस्येनोच्चार्यमाणं वाक्यं परिशुष्यत् । परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यमस्य स तथोक्तः । विरुद्धं पूर्वापरविरुद्धं, वाक्चक्षुषोः पूजा प्रसन्नता । निर्भुजति वक्री करोति । स्वाभाविको धर्मः स्वभावः । तस्मात्स्वभावाद्विकृतिर्वैपरीत्यम् । तत्र मनःकर्मणो विकृतिरज्ञानसंशयविपर्ययाः । वाक्कर्मणस्तु गद्गदत्वादिकम् । कायकर्मणः कम्पादि । य एवंविधः सोऽभियोगे व्यवहारे साक्षित्वे च दुष्टो वितथवादी प्रकीर्तितः । अन्यत्सुगमम् । तत्र मनुः—

" बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥
आकारेणेङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः " ॥

यदि दुष्टलक्षणानां दुष्टतायां प्रामाण्यं तदा तैरेव वादिनः प्रतिवादिनो वा पराजयेऽवधारिते दैवमानुषप्रमाणमन्तरेणैव व्यवहारसमाप्तिः स्यादिति दिव्यादिप्रमाणैर्वै(णवै)यर्थ्यं स्यात् । दुष्टलक्षणाभावे तदर्थवदिति यद्युच्यते, तर्हि लिखितादिप्रमाणानामसाक्षिकत्वेन विधानं नोपपद्यते । उक्तं हि " क्रियापादस्तृतीयः स्यात्" इति । तस्मान्नैतानि दुष्टतायां प्रमाणानि किंतु

---

१ क. °ल्पान्तिकं । ज. °ल्पाधिकं । २ ग. छ. ज. वैकल्यमे° । ३ क. ग. छ. °योग्येऽथ । ४ ग. छ. ज. काये क° । ५ ग. छ. ज. °माणानामपाक्षिकत्वेन प्रमाणं नो° ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये कः प्रमाणं करोत्विति जिज्ञासायाम् । यत्रैतानि न सन्ति स प्रमाणाई इत्यवधारणोपयोगितयैषामुपन्यासः। ननूत्तरविशेषे सति वादिविशेषं प्रति प्रमाणोपन्यासे वचनतोऽवधृते पूर्वोक्तजिज्ञासाया अनवसर एव । सत्यमेवमृणादानादौ । चौर्याद्यभिशापादौ तु दिव्ये प्राप्ते भवति जिज्ञासा। दिव्यं हि मिथ्योत्तरवादिनोऽपि संभवति न लेख्यसाक्ष्यादिकम् । तस्मात्तर्कवदेषां प्रमाणानुग्राहकत्वं न प्रमाणत्वम् । युक्तं चैतत् । दोषमन्तरेणापि भयादिना तेषामुपपत्तेः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

हीनत्वे कारणान्याह—

संदिग्धार्थे स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत् ॥
न चाऽऽहूतो वदेत्किंचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः ॥१६॥

साधकबाधकप्रमाणयोरपरीक्षणाद्ग्राह्याग्राह्यत्वेन संदिग्धमर्थं स्वतन्त्रः परीक्षकादिनिरपेक्षो यो हठेन साधयेत्परमङ्गी कारयेत् । यश्च शास्त्रदृष्टोपायेन साधितमप्यर्थमप्रदाय निष्पतेत्पलायेत । यश्च व्यवहारार्थं राज्ञाऽऽहूतः स्वपक्षसाधकं परपक्षबाधकं वा न वदेत् । स हीनः स पराजितश्च राज्ञा च दण्ड्यः । साधितं च साधकाय देयम् । हीनस्य दण्डो यत्र वचनं तत्रैवेति ज्ञापयितुं दण्ड्यश्चेति पृथग्वचनम् । नारदः—

" अनिवेद्य तु यो राज्ञे संदिग्धेऽर्थे प्रवर्तते ।
प्रसह्य स विनेयः स्यात्स चास्यार्थो न सिध्यति ॥
अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थायी निरुत्तरः ।
आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥
पूर्ववादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते नरः ।
वादसंक्रमणाज्ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥
सम्यक्प्रणिहितं योऽर्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ।
अपदिश्यं यमुद्देश्यं पुनस्तमनुधावति ॥

---

१ ग. °रणेऽङ्कित° । २ छ. ज. °णोऽङ्कित° । ३ क. °तो विवृते । ४ ग. छ. ज. अव° । ५ क. °षामनुपपत्तेः । ६ ग. छ. ज. °प्रमादा° । ७ ग. छ. ज. °धिते च । ८ ग. छ. ज. °न्यक्प्रणाहितं योक्तं पृ° । ९ ग. छ. ज. °श्य च बोद्धे' ।

सन्ति ज्ञातार इत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् " ॥

**धर्मस्थः सभ्यो राजा वा ।**

**कात्यायनः**—" श्रावयित्वा यदा कार्यं त्यजेदन्यद्वदेदसौ ।
अन्यपक्षाश्रयस्तेन कृतो वादी स हीयते ॥
व्याजेनैव तु यत्रासौ दीर्घकालमभीप्सति ।
सापदेशं च तद्विद्याद्वादहानिकरं स्मृतम् " ॥

**अपदेशश्छलम् ।**

" लेखयित्वा तु यो वाक्यं न्यूनं वाऽप्यधिकं पुनः ।
वदेद्वादी स हीयेत नाभियोगं तु सोऽर्हति " ॥

**अभियोगः पूर्ववादः । स पूर्ववादी ।**

**तथा**—" न मयाऽभिहितं कार्यमभियुज्य परं वदेत् ।
विब्रुवंश्च भवेदेवं हीनं तमपि निर्दिशेत् " ॥

**अयमर्थः—विगताभियोगार्थः कार्यं साध्यं प्रतिज्ञाय न मयैतत्प्रतिज्ञातमिति पूर्वापरविरुद्धं ब्रवीति यस्तं हीनं निर्दिशेदिति ।**

" साक्षिणो यस्तु निर्दिश्य कामतो न विवादयेत् ॥
स वादी हीयते तस्मात्त्रिंशद्रात्रात्परेण तु ।

**बृहस्पतिः**—" आहूतप्रपलायी च मौनी साक्षिपराजितः ॥
स्ववाक्यप्रतिपन्नश्च हीनवादी चतुर्विधः ।
प्रपलायी त्रिपक्षेण मौनी वा सप्तभिर्दिनैः ॥
साक्षिभिन्नस्तत्क्षणेन प्रतिपन्नश्च हीयते " ।

**प्रतिपन्नः प्रतिवादिनः संप्रतिपन्नः ।**

**नारदः**—आचारकरणे दिव्ये कृत्वोपस्थाननिश्चयम् ।
नोपस्थितो यदा कश्चिच्छलं तत्र न कारयेत् ॥
दैवराजकृतो दोषस्तस्मिन्काले यदा भवेत् ।
अवधित्यागमात्रेण न भवेत्स पराजितः ॥
पूर्वोत्तरे संनिविष्टे विचारे संप्रवर्तिते ।
प्रशंसंन्य मिथो यान्ति दाप्यास्ते द्विगुणं दमम् " ॥ १६ ॥

---

१ क. 'र्मस्थैः का° । २ ज. कृती वादी मही° । ३ क. वदन्वादी । ४ क. °युक्ताप° । ५ क. 'श्च वदेदेवं । ६ क. °र्दिश्याका° । ७ क. °दिना सं' । ८ क. °चार्यकरणे दिव्ये कृतोपस्थाननिश्चयात् । नो° । ९ क. °श्चित्फलं । १० ग. छ. ज. 'शमं ये मृतो या° ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

किंच--

## साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः ॥
## पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः ॥ १७॥

उभयतः साक्षिसंभवे पूर्वपक्षवादिना निर्दिष्टाः साक्षिणः प्रमाणं भवन्तीत्युत्सर्गः । यदा तु पूर्वपक्षोऽधरो जातस्तदोत्तरवादिनिर्दिष्टाः साक्षिणः प्रमाणं भवन्ति । कः पुनर्व्यवहारोऽस्य वाक्यस्य विषयः । न तावन्मिथ्योत्तरवान् । न हि तत्र वादिद्वयस्य साक्षिणः संभवन्ति । तथा हि—[*सुवर्णशतं मे धारयसीति] पूर्वपक्षवादिनाऽभियुक्तो नाहं धारय इति मिथ्योत्तरवादी ब्रूते । तत्र साक्षिणामसंभव एव, यो ह्यर्थोऽन्येषामुपलब्धुं योग्यस्तत्रैव तेषां साक्षित्वसंभवः । न च मिथ्यावाद्युक्तोऽर्थः परेषामुपलम्भयोग्यो येन ते तत्र साक्षिणः स्युः । भुक्तिलिखितयोस्तु प्रमाणत्वमत्र नाऽऽशङ्कनीयमेव । तस्मान्न मिथ्योत्तरवान्व्यवहारोऽस्य विषयः । नापि प्रत्यवस्कन्दोत्तरवान् । तत्र पूर्वपक्षवादिनः प्रमाणोपन्यासोपयोगाभावात् । तथा हि—सुवर्णशतं धारयसीति पूर्ववादी सति प्रत्यवस्कन्दे ब्रूते—सत्यं धारितवानस्मि किं तु मया तत्तुभ्यं दत्तमिति धारणस्य परेणाङ्गीकृतत्वान्न प्रमाणसाध्यता । सिध्य(द्ध)साध्यताप्रसङ्गात् । किं तु प्रतिवादिन एव प्रमाणमुत्तरवादिना वाच्यम् । एवं प्राङ्न्यायोत्तरवानपि व्यवहारो नास्य वाक्यस्य विषयः । न ह्युत्तरवादिनिर्दिष्टैरेव साक्षिभिः प्राङ्न्यायदर्शिभिस्तैर्दत्तेन वा जितपत्रेण पूर्ववादिनः पराजय उत्तरवादिनश्च विजयः सिध्यति । तस्मान्निर्विषयमिवेदं वाक्यं प्रतिभाति । उच्यते—प्रत्यवस्कन्दप्राङ्न्यायोत्तरवाक्यायोऽस्य विषयः । सन्ति हि तत्र पूर्ववादिनोऽपि साक्षिणः । तथा हि—प्रत्यवस्कन्दिना यद्धारितवानस्मि तन्मया तुभ्यमर्पितमित्युक्ते पूर्ववादी यदैव(वं) प्रत्युत्तरं कुरुते—सत्यं त्वयाऽर्पितं तत्तु पुरुषान्तराय दत्तं न तु मां प्रत्यात्मानमनृणीकर्तुम् । एतच्च साक्षिभिरहं संभावयामीत्येवंविधोत्तरप्रत्युत्तरयोरुभयतः साक्षिसद्भावः । तथा प्राङ्न्यायोत्तरेऽपि यदैव(वं) पूर्ववाद्युत्तरं करोति-सत्यं प्राङ्न्याये कदाचित्त्वयाऽहं पराजितोऽस्मि किं तु तत्रायं कुदृष्टं कृत्वा न्यायान्तरे मया भवान्पराजित इति । तदोभयत्रापि साक्षिसद्भावः । तत्रेदं वचनम्—

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थस्थाने क. पुस्तके—" धारयसीति विगताभियोगार्थः कार्थं साध्यं प्रतिज्ञातं मयैतत्प्रतिज्ञातमिति पूर्वापरविरुद्धं ब्रवीति यस्तं हीनं निर्दिशेदिति " इति ।

---

१ क. °क्षितो यस्त्वत्र प्रमाणत्वं ना° । २ क. °हारस्य । ३ ग. छ ज. °स्कन्दी ब्रू° । ४ ग. छ. सत्ये । ५ क. °यं यथोक्तद' । ६ क. °वः । तथा प्राङ्न्यायोत्तरेऽपीदं ।

" साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः " इति ।

यदा तु पूर्ववादिनः प्रत्युत्तरभावादधरीभावस्तदेदमुच्यते—

" पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः " इति ।

अत एव नारदः—" द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु ।
पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः " ॥

कात्यायनः—" कारणात्पूर्वपक्षोऽपि ह्युत्तरत्वं प्रपद्यते ।
अतः क्रिया सदा प्रोक्ता पूर्वपक्षप्रसाधनी " ॥

क्रिया प्रत्याकलना ।

नारदः—" औधर्यं पूर्वपक्षस्य यस्मिन्नर्थवशाद्भवेत् ।
विवादे साक्षिणस्तत्र प्रष्टव्याः प्रतिवादिनः " ॥ १७ ॥

पराजितेन व्यवहारविशेष(षे) यदेयं तदाह—

**सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत् ॥**
**दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च ॥ १८ ॥**

पणसहितश्चेद्विवादो व्यवहारस्तस्मा(रः स्या)त्तत्र हीनं पराजितं वादिनं शास्त्रोक्तदण्डसहितं पणं राज्ञे, साधितं च धनं धनिने, प्राड्विवाको दापयेत् । प्राड्विवाकाभावे राजा स्वयमेव गृह्णीयात् । धनं च धनिने दापयेत् । जितेन मयैतावदेयमित्यभ्युपेतं धनं पणः ॥ १८ ॥

व्यवहारे द्रष्टव्ये नृपं प्रति हेयमुपादेयमाह—

**छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः ॥**
**भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥**

वादिना प्रतिवादिना वाऽभिधीयमानं छलं प्रमादं वा परित्यज्य भूतेन तात्त्विकेनार्थेन विशिष्टान्व्यवहारान्नयेन्निर्णयेत् । यतो भूतमपि वस्तु वादिप्रतिवादिभ्यामनुपन्यस्तमनिवेदितं व्यवहारतो व्यवहारेण हीयते त्यज्यते । व्यवहारे खलु लिखितादीनि प्रमाणानि भवन्ति । न च तेषां भूतानुसारित्वनियमोऽस्ति, भवति हि कदाचिद्दर्शनाप(पा)करण(णे) कृते लिखिते च देशान्तरादौ स्थिते तद्बलात्पुनरभियोगं करोतीति । एवं साक्षिष्वपि देशान्तरस्थितेषु ।

---

१ क. त्तरीभावा° । २ क. ग. आधार्यं । ३ ग. छ. ज. °ष्टव्यः प्र° । ४ क. °ते व्यवहारविषये य° । ५ ग. छ. ज. °यम् । छं° । ६ क फलं । ७ क. °नं फलं प्रमाणं वा । ८ ग. छ. ज. °मप्यनु° । ९ ग. छ °रायोस्थित° । १० क. °नरुपयो° ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

तस्माद्वादिप्रतिवादिनौ सामादिभिरुपायैर्भूतवादिनौ कुर्यात् । एष व्यवहारेषु मुख्यः कल्पः । अस्यालाभे लिखितादिनिमित्ता व्यवस्थाऽऽदरणीया ।

बृहस्पतिः—" पूर्वोत्तरार्थे लिखिते प्रक्रान्ते कार्यनिर्णये ।
द्वयोः संतनयोः संधिः स्यादयःखण्डयोरिव ॥
प्रमाणसमता यत्र भेदः शास्त्रचरित्रयोः ।
तत्र राजाज्ञया संधिरुभयोरपि शस्यते " ॥

चरित्रमाचारः ॥ १९ ॥

भूतोऽप्यर्थश्छलव्यवहारेण यथा हीयते तथा दर्शयति—

**निह्नवे लिखितेऽनेकमेकदेशविभावितः ॥**
**दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥**

अनेकं वस्तु रत्नरुक्मरजतादिकं पूर्ववादिना लिखितं भवति । यथेदमिदमयं मे धारयतीति । तस्योत्तरवादिना न किंचिद्धारयेऽहमिति निह्नवे कृते तत्र पूर्ववादिना लिखितादिप्रमाणेन तदेकदेशमपि परो यदि विभावितोऽङ्गीकारितस्तदा सर्वमेव प्रतिज्ञातमर्थमुत्तरवादी नृपेण दाप्यः । यस्तु भाषाकाले पूर्ववादिना प्रामाणिकोऽप्यर्थो न निवेदितः स राज्ञा दापनीयतया न ग्राह्यः । एतत्तु वचनमपह्नववादिनः सावष्टम्भे प्रतिवचने द्रष्टव्यम् । यथैतेषामर्थानां मध्ये यद्येकमप्यर्थमर्थी साधयति तदा सर्वानेतानहं दैधामीति । कुत एतत् । छलोदाहरणपरत्वादस्य वाक्यस्य । अन्यथा,

" अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयति ध(येद्ध;नी ।
साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम् "

इतिकात्यायनवचनविरोधः स्यात् । तत्र च साक्षिसाधितावशिष्टमर्थं साधयितुं प्रमाणान्तरमर्थिनोपादेयम् । यत्तु नारदेनोक्तम्—

" अनेकार्थाभियुक्तेन सर्वार्थव्यपलापिना ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते "

इति, तदपि सावष्टम्भमिथ्योत्तरविषयम् । यत्तु कात्यायन आह—

" साध्यार्थांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत् ।
स्त्रीसङ्गे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकल्पितम् "

इति, तस्यायमर्थः—स्त्रीसङ्गादिविषये साध्यस्यार्थस्यैकदेशेऽपि तस्यैव साध्यस्यार्थस्यैकदेशान्तरेणाविनाभूते साक्षिभिर्गदिते सकलं साध्यं गदितं

१ क. °निश्चये° । २ छ. ज. °रे य° । ३ ङ. निह्नुते लिखितं नैकम° । ४ क. दधामीति कुत एत° । ५ छ. झ. साध्यार्थो° । ६ छ. साध्यं ।

भवेदिति । यथा युवत्या परस्त्रिया भगिन्यादिव्यतिरिक्तया सहैकस्मिञ्शयने स्वयं युवा सकलां रात्रिं रहसि निरालोके प्रदेशे शयितवानिति साक्षिभिर्गदिते तत्संभोगो विनैव साक्षिवचनं सिध्यति ॥ २० ॥

धर्मशास्त्रयोर्विरोधो न्यायबलेन परिहार्यः । धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोस्तु विरोधोऽर्थशास्त्रं बाधत इत्याह—

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ॥
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥ २१ ॥

स्मृत्योर्वेदमूलयोर्विरोधे तत्प्रामाण्यनिर्वाहाय भिन्नविषयव्यवस्थापकोऽनुमानार्थापत्त्यात्मको न्यायोऽपेक्षणीयत्वाद्बलवान् । तस्मिन्सति स्मृतेः प्रामाण्यात् । धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोस्तु विरोधे धर्मशास्त्रं बलवत्, अर्थशास्त्रं दुर्बलमतस्तद्बाध्यं तद्बलेन तु धर्मशास्त्रं बाधमानस्य ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तम् । तदुक्तमापस्तम्बेन—

" धर्मार्थसंनिपातेऽर्थग्राहिण्येतदेव " इति ।

पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम् । पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमिति पञ्च लक्षणानि । तदभावे त्वसिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमा हेत्वाभासाः । दृष्टः(ष्ट)श्रुतोर्वाक्यो(ताभ्याम)न्यथा कल्पनमर्थापत्तिः । प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिरर्थशास्त्रम् । वैदिं(वेदै)कसमधिगम्यार्थविषया तु धर्मशास्त्रम् । तथा च भविष्यत्पुराणम्—

" दृष्टार्था तु स्मृतिः काचिददृष्टार्था तथा परा ।
दृष्टादृष्टार्थरूपाऽन्या न्यायमूला तथा परा ॥
अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पञ्चमी ।
सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थं परिहृत्य तु " ॥

आसामुदाहरणान्यपि तत्रैव ।

त(य)था—" ×षाड्गुण्यस्य यथायोगं प्रयोगात्कार्यगौरवात् ।
सामादीनामुपायानां योगो व्याससमासतः ॥
अध्यक्षाणां च निक्षेपः कण्टकानां निरूपणम् ।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडाग्रज ॥

---

* संधिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः षड्गुणाः ।

---

१ क. °शास्त्रार्थशास्त्रयोस्तु । ग. छ. ज. °शास्त्रार्थशास्त्र° । २ क. वाऽन्य° । ३ ग. ज. °पत्तिप्रमाणान्तरं दृ° । ४ क. 'दिकं स' । ५ ग. छ. 'ष्टार्थां परिहन्य तु । ६ क. °रुद्धज ।

संध्योपास्तिः सदा कार्या शुनो मांसं न भक्षयेत् ।
अदृष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोविदैः ॥
पालाशं धारयेद्दण्डमुभयार्थं विदुर्बुधाः ।
विरोधे तु विकल्पः स्याज्जपहोमश्रुतौ यथा ॥
श्रुतौ दृष्टं यथा कार्यं स्मृतौ न सदृशं यदि ।
अनूक्तवादिनी सा तु पारिव्राज्यं यथा गृहात् " ॥

जपहोमश्रुतौ यथेति । सूर्योदयावधिसावित्रीजपानुदितहोमविषया स्मृतिः । अनु(नू)क्तवादिनी, अनूद्यवादिनी यथा—पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यनेनोदितं ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहादिति मनुस्मृतिर्वदति । तथा सति—

" श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना ।
व्यवस्थाया विरोधोऽतः कार्योऽन्यत्र परीक्षकैः ॥
स्मृत्यर्थेन विरोधे तु अर्थशास्त्रस्य बाधनम् ।
परस्परविरोधे तु न्याययुक्तं प्रमाणवत् ॥
अदृष्टार्थे विकल्पस्तु व्यवस्थासंभवे सति ।
स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु आकाङ्क्षापूरणे सति " ॥

अदृष्टार्थयोः स्मृत्योरन्योन्यनिरपेक्षत्वे सति विषयव्यवस्थापकन्यायाभावे च सत्यर्थयोर्विकल्पः । सापेक्षत्वे तु समुच्चयः । नैरपेक्ष्ये व्यवस्थापकन्यायसद्भावे व्यवस्थितविकल्पः । तस्मिन्नसति त्वव्यवस्थितविकल्पो ग्राह्यः । तत्र च विषयव्यवस्थापकस्तावत्सामान्यविशेषन्यायो वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धः, यथा—ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति । तेन न्यायेन स्मृतिविरोधः परिहियते । यथा—

" न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् "

इति साधारणो ब्राह्मणवधनिषेधः । तस्य क्वचिद्विशेषोऽपवादः । यदाह मनुरेव—

" गुरुं वा बालवृद्धौ वा श्रोत्रियं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् " इति ॥

---

१ ग. छ. °होमाश्रु° । २ क. अनुक्त° । ३ ग. छ. °त्थाय भैक्षचर्यां च° । ४ ग. छ. °नयाऽनुदि° । ५ ज. °तिर्भवति । ६ क. °क्षकत्वे° । ७ क. °वे सत्यर्थ° । ८ क. °त्वे हेतुसमुच्चया । नै° । ९ ग. छ. °शेषेऽप° ।

एवं च सामान्यविशेषन्यायेन कासांचित्स्मृतीनां विरोधः परिहरणीयः, कासांचित्तु कल्पनानर्थक्यप्रसङ्गादिना न्यायान्तरेणेति । मनुस्मृतितदन्यस्मृत्योर्विरोधे तु मनुस्मृतिः प्रशस्ता । अत एव बृहस्पतिः—

" वेदार्थोपनिबन्धत्वात्प्राधान्यं तु मनुस्मृतौ ।
मन्वर्थविपरीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते " इति ॥ २१ ॥

साध्यार्थे साधनान्याह—

**प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ॥**
**एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥ २२ ॥**

प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणं लिखितादि । एषां मध्ये यद्येकमपि न स्यात्तदा वक्ष्यमाणानां घटादिदिव्यानां मध्ये केनचित्साध्यं साधनीयम् । बृहस्पतिः—

" द्विप्रकारा क्रिया प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा ।
एकैका नैकधा भिन्ना ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥
साक्षिलेख्यानुमानं च मानुषी त्रिविधा क्रिया " ।

अनुमानं भुक्तिः । तया भोक्तुर्भोग्ये स्वाम्यमनुमीयते । तथा—

" घटाद्या धर्मजात्यन्ता दैवी नवविधा क्रिया " ।

कात्यायनः—" प्रमाणैर्हेतुना वाऽपि दिव्येनैव तु निश्चयम् ।
सर्वेष्वपि विवादेषु सदा कुर्यान्नराधिपः ॥
पूर्वाभावे तु यत्नेन नान्यथैव कथंचन " ।

पूर्वं नाम मानुषं प्रमाणं, तस्याभावे दिव्यम् ।

" यद्येको मानुषीं कुर्यादन्यः कुर्यात्तु दैविकीम् ।
मानुषीं तत्र गृह्णीयान्न तु दैवीं क्रियां नृपः " ॥

यथा प्रथमं वादी ब्रूते सुवर्णसहस्रं मे धारयतेऽयमिति मानुषेण प्रमाणेन साधयामीति । उत्तरवादी तु ब्रूते—नाहं सुवर्णसहस्रं धारय इति दिव्येन विभावयामीति ।

" यद्येकदेशप्राप्तोऽपि क्रिया विद्येत मानुषी ।
सा न्याय्या न तु पूर्णोऽपि दैविकी वदतां नृणाम् " ॥

यथा सुवर्णशतं मयाऽस्मै द्विकशतवृद्ध्या दत्तम् । पुनश्च पञ्च-

---

१ ग. छ. ज. °र्थवाक्य° । २ ज. °जात्या च दै° । ग. छ. °जाद्यन्ता दै° । ३ ग. छ ज. °र्णसहस्रं म° । ४ ग. छ. ज. °नश्चाऽऽवाभ्यां पञ्च° ।

कशतवृद्धिरङ्गीकृता। तत्र सुवर्णसहस्रांशे मानुषं प्रमाणं वृद्ध्यंशे तु दिव्यमिति यद्यपि प्रमेयैकदेशमपि व्याप्नोति मानुषी क्रिया तथाऽपि सैव ग्राह्या न तु संपूर्णप्रमेयव्यापिन्यपि दिव्या क्रिया। यत्र तु प्रमेयांशे मानुषी न संभवति तत्र दिव्यैव ग्राह्या। पितामहः—

" स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्।
साक्षिभिर्लिखितेनाथ भुक्त्या वैनं प्रसाधयेत् " ॥

कात्यायनः—" वाक्पारुष्ये च भूमौ च दिव्यं न परिकल्पयेत्।
*दत्तादत्ते तथाऽऽदत्ते स्वामिना निर्णये सति ॥
विक्रीयाऽऽदानसंबन्धे क्रीत्वा धनमयच्छति।
द्यूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते ॥
साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्।
पूगश्रेणीगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता ॥
तस्यां तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः।
द्वारमार्गक्रियाभोगजलवाहादिके तथा ॥
भुक्तिरेव हि गुर्वी स्यान्न लेख्यं न च साक्षिणः।
प्रक्रान्तसाहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके ॥
बालोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव च " ।

व्यासः—" रहःकृतं प्रकाशं च कार्यं द्विविधमुच्यते।
प्रकाशं साक्षिभिर्भाव्यं दैविकेन रहःकृतम् " ॥

बृहस्पतिः—" वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया।
प्रदातव्या प्रयत्नेन साहसेषु चतुर्ष्वपि ॥
लिखिते साक्षिवादे च संदिग्धिर्जायते यदि।
अनुमाने च संभ्रान्ते तत्र दिव्यं विशोधनम् ॥
नृपद्रोहे साहसे च कल्पयेद्दैविकीं क्रियाम् " ।

मानुष्या अभाव एतत्। न च व्यर्थं वचनम्। मिथ्योत्तरवादिनः क्रियाप्राप्त्यर्थत्वात्। न हि मिथ्योत्तरवादिनो दैविकी क्रिया प्राप्ता। नारदः—

---

* मिताक्षरायां त्वेतादृशः पाठः—" दत्तादत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिना निर्णये सति। विक्रयादानसंबन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति " इति।

---

१ ग. °नाथ भु°। २ ग. प्रसादये°। ३ ग. ज. क्रीताधं°। ४ ग. छ. ज. °ति। द्यूते। ५ ग. छ. ज. लेखकं°। ६ छ. ग. दिव्ये। ७ क. °भिर्दिव्यं।

अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे ।
न्यासापह्नवने चैव दिव्या संभवति क्रिया" ॥

पितामहः—"महाशापाभिशापेषु निक्षेपहरणे तथा ।
दिव्यैः कार्यं परीक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु" ॥

तत्र हि साक्षिणामनृताभिधानत्वं विधास्यति—"वर्णिनां हि वधो यत्र" इत्यादिना । अत एव कात्यायनः—

"समत्वं साक्षिणां यत्र दिव्यैस्तत्रापि शोधयेत् ।
प्राणान्तिकविवादेषु विद्यमानेषु साक्षिषु ॥
दिव्यमालम्बते वादी न पृच्छेत्तत्र साक्षिणः" ।

गुणतः संख्यातश्च साक्षिणां समत्वे तद्विप्रतिपत्तौ च दिव्यं वेदितव्यम् । यथा वादिनः प्रतिवादिनो वा यत्र प्राणान्तिको दण्डस्तत्र सत्स्वपि साक्षिषु दिव्यमेव । व्यासः—

"न मयैतत्कृतं लेख्यं कूटमेतेन कारितम् ।
अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयम्" ॥

कुर्यादिति शेषः । कात्यायनः—

"यत्र स्यात्सोपधं लेख्यं तद्राज्ञः श्रावितं यदि ।
दिव्येन शोधयेत्तत्तु राजा धर्मासनस्थितः" ॥

नारदः—"निर्णीते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत् ।
लिखितं साक्षिणो वाऽपि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥ २२ ॥

सर्वेष्वेव विवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया ।
आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥

व्यवहर्तृभिरेकां क्रियां कृत्वा तद्विरुद्धाऽपरा क्रियते । तत्रोत्तरा क्रिया विवादेषु बलीयसी पूर्वस्या बाधिका भवति । यथा—देवदत्तेन पूर्वं पञ्चकर्षशतवृद्ध्या स्वधनमधमर्णाय दत्त्वा पुनः कुतोऽपि हेतोर्द्विकशतवृद्धिः क्रियते । यथा क्षेत्रादिकं सार्धि गृहीत्वा धनं ददात्युत्तमर्णः । पश्चान्नायमाधिर्मया गृह्यते । किंत्वाधिमन्तरेणैवैकं तद्धनं भवान्धारयतामिति । तत्र द्वितीयैव क्रिया प्रामाणिकी । आधिप्रतिग्रहक्रीतविषयविवादे तु पूर्वैव क्रियाऽनुसरणीया नोत्तरा । यथा—क्षेत्रादिकमाधिं गृहीत्वा विक्रीय दत्त्वा

---

१ क. 'हः । कामशा' । २ क. 'र्वेष्वर्थवि' । ३ क. छ. आधौ । ४ क. 'शतं वृ' । ५ क. 'र्द्विशतकवृ' । ६ क. 'णैव त' ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

वा पुनस्तस्यैव क्षेत्रस्य पुरुषान्तरं प्रत्यधमर्णेन दानं विक्रयो वा क्रियते । तदा पूर्वक्रिया सत्योत्तरा मिथ्या, पूर्वकृताभ्यां दानक्रियाभ्यां स्वामित्वनिवृत्तौ पुनरस्वामिना क्रियमाणौ दानविक्रयौ न सिध्यतः । आधिकरणेन तु यद्यपि स्वामिभावो न निवर्त्यते तथाऽपि प्रतिबध्यते । ततश्च तस्य क्षेत्रस्याऽऽधित्वानिवृत्तौ पुरुषान्तरं प्रत्याधित्वं कर्तुं नैव शक्यते ॥ २३ ॥

भूम्यादिधनविषये स्वामित्वं प्रति भुक्तेः क्वचिद्विषय आगमसापेक्षायाः क्वचिच्च तन्निरपेक्षायाः प्रामाण्यं वक्ष्यति तस्या विशेषणं तावदाह—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ॥
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥
आधिसीपोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना ॥
तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ २५ ॥

आध्यादिव्यतिरिक्ताया भूमेः परेण प्रत्यर्थिना विंशतिवर्षाणि यावद्भुज्यमानाया अर्थिनः पश्यत इमां भूमिमेष भुङ्क्त इति प्रत्यक्षमुपलभमानस्याब्रुवतोऽनाक्षिपतो हानिः स्वस्वामिसंबन्धाभावो भवति । एवं भूव्यतिरिक्तस्य धनस्य दश वर्षाणि भुज्यमानस्यैं हानिः । एवंविधा हि भुक्तिस्तूष्णींभूतस्य पश्यतः स्वामित्वे सति न घटते । किं तु भोक्तुरेव स्वामित्वे सति भुज्यत इति भवति तत्र भुक्तिः प्रमाणम् । अधमर्णेनोत्तमर्णस्य विश्वासार्थं यावत्ते धनं ददानि तावदिदं त्वय्याहितमस्तीति आधीयमानं धनमाधिः । सीमा प्रसिद्धा । निक्षेप एवोपनिक्षेपः, तमाह नारदः—

" स्वं द्रव्यं यत्र विस्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः ।
निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः " इति ॥

जडो मन्दबुद्धिः । आ षोडशाद्वर्षाद्बालः । तदाह नारदः—

" गर्भस्थैः सदृशो ज्ञेय आऽष्टमाद्वत्सराच्छिशुः ।
बाल आ षोडशाज्ज्ञेयः पौगण्डश्चापि शब्द्यते ॥
परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते " ।

बालधनं च रक्षकान्तराभावे राज्ञा रक्षणीयमित्याह गौतमः—

" रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्राप्तेः " इति ।

---

१ ग. छ. °तिबोध्य° । २ क °मित्वप्र° । ३ क. °गमाये° । ४ ग. छ. °स्य चेति । ए° । ५ ज. °ति । त° ।

उपनिधिं वक्ष्यति । प्रसिद्धमन्यत् । जडग्रहणंमसामर्थ्यमात्रोपलक्षणार्थम् । अत्र च व्यासः—

" वर्षाणि विंशतिर्यस्य भूर्भुक्ताऽथ परैरिह ।
सति राज्ञि समर्थस्य तस्य सेह न सिध्यति " ॥

नारदः—" प्रत्यक्षपरिभोगात्तु स्वामिनो द्विदेशाः समाः ।
आध्यादयोऽपि जीर्येरन्स्त्रीनरेन्द्रधनाद्ऋते " ॥

आध्यादयोऽपि जीर्येरन्किं पुनरन्यत् । तस्मादाध्यादिव्यतिरिक्तस्य यथोक्तया भुक्त्या स्वत्वसिद्धिः । एवं चाऽऽधिसीमोपनिक्षेपेत्यादेरविरोधः ।

तथा—" उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णींभूतस्य तिष्ठतः ।
कालेऽतिपन्ने पूर्वोक्तो व्यवहारो न सिध्यति " ॥

तस्योपेक्षकस्य व्यवहारो व्यवहारफलं स्वामित्वं न सिध्यतीत्यर्थः ।

व्यासः—" उपेक्षिता यथा धेनुर्विना पालेन नश्यति ।
पश्यतोऽन्यैस्तथा भुक्ता भूमिः कालेन हीयते " ॥

बृहस्पतिः—" रिक्थिभिर्वा परैर्द्रव्यं समक्षं यस्य दीयते ।
अन्यस्य भुञ्जतः पश्चान्न स तल्लब्धुमर्हति ॥
पश्यन्नन्यस्य ददतः क्षितिं यो न निवारयेत् ।
सताऽपि लेख्येन भुवं न पुनस्तामवाप्नुयात् " ॥

क्रयप्रतिग्रहादिलिखितेनापि तां भूमिं नासाववाप्नुयात् । एतच्च व्यवहारस्थितिमाश्रित्योच्यते । न भूमिगतिम् । अत एव मनुः—

" अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति " ॥

तथा च यत्परमार्थतः परकीयमेव व्यवहारेणैवार्जितं तत्प्रत्यवायभयादेव यथास्थानं गमयितव्यम् । यत्तु नारदेनोक्तम्—

" अनागमं च यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ।
चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः " ॥

---

१ ग. छ. ज. °णमस्व° । २ ग. छ. °दमाः स° । ३ ग. °त्यादिरविधिः । ४ क. °तानि च । चौ° ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

[इति, तत्]बहुबालादिधनविषयम् । पूर्वक(ज)भूमिभोक्तृपुरुषविषयं वा । अत एव वक्ष्यति—" आगमस्तु कृतो येन " इत्यादि ॥ २५ ॥

आध्याद्यपहर्तुर्दण्डमाह—

**आध्यादीनां निहन्तारं दापयेद्धनिने धनम् ॥**
**दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥**

पूर्वश्लोकनिर्दिष्टानामाधिप्रभृतीनामपहन्तारं यदपहृतमाध्यादिकं तत्तत्स्वामिने दापयेत् । तत्समं च दण्डं राज्ञे यथाशक्ति ततोऽत्यधिकमूनं वा यावताऽस्य दमो भवति तदर्थत्वाद्दण्डस्य । तदाह गौतमः—

" दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत् " इति ।

मनुः—" धनेनापि यथा स्तेनान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तँदैष सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् " ॥

धिग्दण्डवाग्दण्डादिचतुष्टयम् । तत्र वधदण्डो न ब्राह्मणस्येत्याह—

" दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु तानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च " ॥

कात्यायनः—" धनदानासहं *ब(बु)ध्द्वा स्वामिनः कर्म कारयेत् ॥
अशक्तो बन्धनागारं प्रवेश्यो ब्राह्मणादृते " ॥

गौतमैः—" न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डः कर्मनियोगविरूप्यापनँविवासनाङ्ककरणान्यवृत्तौ " ।

अवृत्तौ दण्डदानासामर्थ्य इत्यर्थः । एतच्चोत्तमसाहसदण्डप्राप्तिविषये द्रष्टव्यम् । यदाह नारदः—

" वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने ।
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्डस्तूत्तमसाहसः ॥
अविशेषेण +वर्णानामेष दण्डविधिः स्मृतः ।
शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् ॥
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ।

---

* मिताक्षरायां तु बुद्ध्वा स्वाधीनमिति पाठः । + सर्वेषामिति मिताक्षरायां पाठः ।

---

१ ग. छ. बह्ववा° । २ ङ. °नां विहर्तारं । ३ क. तत्स्वामिनो दा° । ४ क. तथैष । ५ ग. छ. ज. °मः । नाशरी° । ६ क. °भवियो° । ७ क. °ननिर्वास° ।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ॥
स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महत्य(ण्य)शिरः(राः) पुमान् " ।

आपस्तम्बः—" चक्षुर्निरोधो ब्राह्मणस्य " । अस्यार्थः—ब्राह्मणस्य विवासनसमये वाससा चक्षुषी निरोध्ये इति ॥ २६ ॥

भुक्तेः प्रमाणतयोक्ताया विषयविशेषे सहकार्यन्तरमाह—

**आगमोऽत्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् ॥**
**आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकाऽपि यत्र नो ॥ २७ ॥**

आगमः स्वामिभावप्रतिपादकः क्रयप्रतिग्रहादिकोऽर्थः सोऽधिकोऽपरो द्वितीयो भोगात् । भोग्यमपेक्ष्य भोगस्य स्वामित्वपरिच्छेदं कुर्वत आगमः सहकारीत्यर्थः । न ह्यागमरहिताद्भोगाद्भोग्ये भोक्तुः स्वामित्वं शक्यं निश्चेतुम् । फलभोग्यादावस्वामिनोऽपि भोगदर्शनात् । ननु च पित्रादिभिस्त्रिभिर्यद्भुक्तं तद्विषयश्चतुर्थस्य पुरुषस्य भोगो विनैवाऽऽगमं स्वामिभावं भोक्तुः साधयति । तत्कथमागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमित्यत आह—विना पूर्वक्रमागतादिति । पितृपितामहप्रपितामहाः पूर्वे तेषां क्रमाद्य आगतो भोगस्तस्माद्यः पृथक्ततो योऽन्यो भोगस्तस्याऽऽगमसापेक्षस्य प्रामाण्यम् । ननु चाऽऽगमः साक्ष्यादिप्रमाणपरिच्छिन्नो भोगनिरपेक्ष एव स्वामित्वं साधयतीति किमत्र भोगेन कार्यमित्यत्राऽऽह—आगमेऽपि बलमित्यादि । यद्विषया स्तोकाऽपि भुक्तिर्न विद्यते, तद्विषयमागमाश्रितं बलं सामर्थ्यं प्रामाण्यलक्षणं नैवास्ति । अयमभिप्रायः—यद्यपि पूर्वमस्य क्रयः प्रतिग्रहो वाऽत्र क्षेत्रादौ जात इति लिखितादिवशान्निश्चितं तथाऽपीदानींतनं स्वामित्वं विना भुक्त्या न सिध्यति । मध्ये दानविक्रयादिसंभवात् । तस्मादिदानींतनं स्वामित्वं साधयितुमागमेन वर्तमाना भुक्तिः सहकारितयो(याऽ)पेक्षितव्या । अत्र नारदः—

" विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि च साक्षिषु ।
विशेषतः स्थावराणां यत्र भुक्तं न तत्स्थिरम् " ॥

तथा—" आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम् ।
अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नाधिगच्छति " ॥

---

१ क. °हत्याशि° । २ ङ. °मोऽभ्यधि° । ३ क. स्वाभावप्रत्यप° । ४ क. °भोग्यस्य । ५ क. पूर्वे । ६ ग. छ. ज. °गस्या° । ७ क. °ति किं तत्र । ८ क. °श्रितव° । ग. °श्रिते व° । ९ ग. ज. °ध्येन ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

विशुद्धेन प्रमाणपरिच्छिन्नेनाऽऽगमेन सहितो भोगः प्रमाणतां यातीत्यर्थः।

मनुः—" संभोगो यत्र दृश्येत न दृश्येताऽऽगमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः " ॥

अत्राऽऽगमः स्वामित्वपरिच्छेद(दे) संभोगसहितः कारणं न तु केवलः संभोग इत्युक्तम् ।

व्यासः—" सागमो दीर्घकालश्च च्छेदोपाधिविवर्जितः ।
प्रत्यर्थिसंनिधानश्च पञ्चाङ्गो भोग इष्यते " ॥

आद्यपुरुषभोगविषयमेतत् । आगमविशेषानाह बृहस्पतिः—

" विद्यया क्रयबन्धेन शौर्यभोगान्वयागतम् ।
सपिण्डस्याप्रजस्यांशः स्थावरं सप्तधाऽऽप्यते " ॥

तथा—" संविभागक्रयप्राप्तं पित्र्यं लब्धं च राजतः ।
स्थावरं सिद्धिमाप्नोति भुक्त्या हानिमुपेक्षया ॥
प्राप्तमात्रं येन भुक्तं स्वीकृत्यापरिपन्थितम् ।
तस्य तत्सिद्धिमाप्नोति हानिं चोपेक्षया तथा ॥
अध्यासनात्समारभ्य भुक्तिर्यस्याविघातिनी ।
त्रिंशद्वर्षाण्यविच्छिन्ना तस्य तां न विचालयेत् " ॥

अध्यासनं परिग्रहः ।

" यद्येकशासने ग्रामक्षेत्रारामाश्च लेखिताः ।
एकदेशोपभोगेऽपि सर्वे भुक्ता भवन्ति ते " ॥ २७ ॥

स्तोकभुक्तिरेषा, न सर्वभुक्तिरागमापेक्षेत्याह—

आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत् ॥
न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी॥२८॥

येनाऽऽगमः क्रयादिः कृतः सोऽभियुक्तस्तमागमं लिखितादिप्रमाणेनोद्धरेत्साधयेत् । तस्याऽऽगमकर्तुः सुतः पौत्रो वाऽभियुक्तो नाऽऽगममुद्धरेत् । यतस्तयोर्भुक्तिरेव गरीयसी गुरुतरा । आगमोद्धरणं विनैव प्रमाणत्वं तस्या गरीयस्त्वात्(स्त्वम्) । ननु चाऽऽधिभोगस्य स्वामित्वमन्तरेण दर्शनान्न भोग-

---

१ क. °मः संभोगप° । २ क. छ. °भार्यान्व° । ३ क. °गक्रियाप्रा° । ४ क. भुक्त्वा । ५ क. °रिमन्थि° । ६ ग. छ. ज. तस्यां । ७ क. ज. °मः क्रिया° । ८ क. तस्य ग° । ९ क. चाभियोग° ।

स्याऽऽगमनिरपेक्षस्यामामाण्यं युज्यते संशयहेतुत्वात् । मैवम् । शास्त्रेषु खलूत्सर्गतो भुक्तेः स्वामिभावं प्रति प्रमाणता कीर्त्यते । अपवादतया पुनराध्यादिभुक्तिः । ततश्च यत्राऽऽधिभुक्तिरियमिति साक्षिलिखितादिभिः सिध्यति तत्रैवापवादः । अन्यत्रौत्सर्गिकं स्वस्वामिभाव एव भुक्तेः प्रामाण्यमिति आगमकर्तुः सुतस्यापि भुक्त्यैव स्वाम्यसिद्धिरिहोच्यते । सा स्मार्तकालातिक्रमे सति द्रष्टव्या । स्मार्तश्च कालः पुरुषत्रयभुक्तिकालात्मकः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" स्मार्ते काले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते ।
अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुषागता " इति ॥

पुरुषभोगकालस्य च परिमाणमाह नारदः—

" वर्षाणि विंशतिर्भु(तिं भु)क्ता स्वामिना व्याहृता सती ।
भुक्तिः सा पौरुषी भुक्तिर्द्विगुणा च द्विपौरुषी ॥
त्रिपौरुषी च त्रिगुणा न तत्रान्वेष्य आगमः " ॥

कात्यायनः—" मुख्या पैतामही भुक्तिः पैतृकी चापि संमता ।
त्रिभिरेतैरविच्छिन्ना स्थिरा षष्ट्याब्दिकी मता " ॥

ततश्च वर्षषष्टेः पूर्वं स्मार्तः कालः । ऊर्ध्वमस्मार्तः । अथ वा—

" वर्षाणि पञ्चत्रिंशत्तु पौरुषो भोग उच्यते "

इत्येतत्स्मरणानुसारेण पञ्चोत्तरं(?) वर्षशतं स्मार्तः कालः । ऊर्ध्वमस्मार्तः । अनयोश्च पक्षयोः स्मर्तृपुरुषसद्भावासद्भावकृता व्यवस्था । आहर्तुः स्मार्तकाले व्यतीते पर्यनुयोगे च सत्यागमः साध्यो भवत्येव । अत एवाविशेषेण बृहस्पतिराह—

" आहर्ता शोधयेद्भुक्तिमागमं वाऽपि संसदि " इति ॥

यत्पुनरनन्तरमुक्तम्—"तत्पुत्रो भुक्तिमेवैकां पौत्रादिस्तु न किंचन "

इति, तदाहर्तृपुत्रस्य स्मार्तकालान्तर्गतायां भुक्तौ पौत्रस्य च तदतिरिक्तकालायां वेदितव्यम् । यत्तु कात्यायनवचनम्—

" आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा ।
कारणं भुक्तिरेवैका संतता या त्रिपौरुषी "

इति, चतुर्थस्य पुंसो भुक्तिः प्रमाणतयोपन्यसनीयेति गमयति, तत्तस्यापि स्मार्तकालानन्तःपातिभुक्तौ सत्यां वेदितव्यम् । यत्तु व्यासवचनम्—

---

१ ग. ज. स्वाभिसि' । २ क. 'रुषी ग' । ३ क. 'शतिभुक्त्वा स्वा' । ४ ग. ज. 'ष्टयब्दकी ।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

" यद्विनाऽऽगममत्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् ।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् "

इति, यच्च नारदवचनम्—

" अन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा पूर्वतरैस्त्रिभिः ।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् "

इति,(?) यद्यपि वस्तुगत्या मूलपुरुषस्य नास्त्यागमस्तथाऽपि तत्प्रभृतिपुरुषत्रयेण साधिकं[1] वर्षशतं यावद्भुक्ता भूश्चतुर्थात्पुरुषादन्येनापहर्तुमशक्या निरागमत्वनिश्चयाभावात् । अनागमत्वनिश्चयो हि भुक्तेर्बाधकं तदभावे च प्रमाणमिति । यथोष्णजलज्ञानस्य व्यवहाराबाधाद्भ्रान्तत्वेऽपि प्रामाण्यम् । यदा तु चतुर्थस्यापि भुक्तौ वर्तमानायां वर्षशतात्ययेऽपि प्रथमभुक्तेरनागमत्वनिश्चयोऽस्ति तदा ततोऽपहर्तव्यैव भुज्यमाना भूः । प्रथमा हि तत्र भुक्तिर्बाधकप्रत्ययप्रयोगादप्रमाणमप्रमाणप्रभा(भ)वत्वाच्चोत्तरा अपि भुक्तयोऽप्रमाणम् । एतद्विषयाण्येव—

" अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ।
चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः " ॥

इति नारदादीनां वचनानि । अत्र च प्रथमभोक्तुरेव दण्डो न तु तत्सुतादीनां, तेभ्यस्तु भूरेव ग्राह्या । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" आगमस्तु कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् ।
न तत्सुतस्तत्सुतो वा भोग्यहानिस्तयोरपि " इति ॥

बृहस्पतिः—" भुक्तिस्त्रिपौरुषी सिध्येत्परेषां नात्र संशयः ।
अनिवृत्ते सपिण्डत्वे सकुल्यानां न सिध्यति ॥
अस्वामिना तु यद्भुक्तं गृहक्षेत्रापणादिकम् ।
सुहृद्बन्धुसकुल्यस्य[2] न तद्भोगेन हीयते ॥
वैवाह्यश्रोत्रियैर्भुक्तं राज्ञाऽमात्यैस्तथैव च ॥
सुदीर्घेणापि कालेन तेषां सिध्यति तन्न तु " ।

कात्यायनः—" सनाभिभिर्बान्धवैश्च यद्भुक्तं स्वजनैस्तथा ।
भोगात्तत्र न सिद्धिः स्याद्भोगमन्यत्र कल्पयेत् " ॥ २८ ॥

न तत्सुतस्तत्सुतो वेत्यस्यापवादमाह—

**योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् ॥**
**न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥**

---

१ क. °पाकर्तुं । २ क. °धित वं° । ३ क. °न्भुस्वकुं° ।

य आहर्ताऽऽगमविषयेणाभियुक्तः स तु निर्णीते व्यवहारे परेतो मृतः स्यात्तदा तस्य रिक्थी धनग्राही पुत्रादिस्तमभियोगमुद्धरेत्[1]। व्यवहारं समापयेदित्यर्थः। यस्मात्तत्रोक्तविषय आगमरहिता भुक्तिर्न कारणमप्रमाणं स्वामिभावे। तस्मात्प्रमाणतोऽभियोगोद्धारः कार्यः॥ २९॥

व्यवहारद्रष्टॄणां प्रबलदुर्बलभावमाह—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च॥
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ ३०॥

नृपेणाधिकृता राज्ञा व्यवहारदर्शने नियुक्ताः, पूगाः समूहाः, एकशिल्पोपजीविनः श्रेणयः, कुलानि कृषीवलाः। एषां पाठक्रमानुसारेण पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरापेक्षया गुरु नृणां व्यवहारदर्शने बलीयः। तेन कुलदृष्टे व्यवहारे कुलदृष्टृत्वशङ्कायां श्रेण्या परीक्षणं युक्तम्। श्रेणिदृष्टे पूगैः पूगदृष्टे नृपाधिकृतैर्न तु विपरीतकृतम्। अत्र नारदः—

" कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्व्येषामुत्तरोत्तरम् "॥ ३०॥

व्यवहारनिवृत्तिकारणान्याह—

बलोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत्॥
स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतांस्तथा॥ ३१॥

बलादिनिर्वृत्तान्रुयादिकृतांश्च व्यवहारान्राजा निवर्तयेत्। ततश्च व्यवहारांस्तानेव पुनः[2] प्रवर्तयेदिति तात्पर्यार्थः। बलं हठः। उपाधिर्लोभद्वेषादिः। स्त्रीणां कर्तृत्वं द्रष्टृतयाऽर्थिप्रत्यर्थितया वा। नक्तंकृता रात्रिकृताः। अन्तरागारकृता वेश्ममध्यकृताः। बहिर्ग्रामाद्बहिस्तत्र कृताः। शत्रुकृताः शत्रुदृष्टाः। नक्तान्तरागारबहिर्ग्रहणेन रहःकारणमुपलक्ष्यते। नारदः—

" स्त्रीषु रात्रौ बहिर्ग्रामादन्तर्वेश्मनि रात्रिषु।
व्यवहारः कृतोऽप्येष पुनः कर्तव्यतामियात्"॥ ३१॥

किंच—

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः॥
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति॥ ३२॥

---

१ ग. छ. ज. समर्पये[3]। २ क. °नै प्रमाणम्। अ°। ३ ग. छ. ज. गुर्वेषा°। ४ क. °नः पुनः प्र°। ५ ग. छ. ज. °मम्बर्धरा°।

( असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २ )

मत्तादिकृतो व्यवहारो न सिध्यति व्यावर्तत इत्यर्थः । मत्तो मद्यादिना । उन्मत्तो ग्रहादिना । आर्तो व्याध्यादिना । व्यसनी कितवादिः, पुत्रवियोगादिमान्वा । बालभीतौ प्रसिद्धौ । अर्थिना प्रत्यर्थिना वा यो व्यवहारकरणाय न प्रहितः सोऽसंबद्धः । तथा च कात्यायनः—

" अधिकारोऽभियुक्तस्य नेतरस्यापि[1] संगतेः ।
इतरोऽप्यभियुक्तेन प्रहितोऽधिकृतो मतः " ॥

इतरोऽप्यसंबद्धोऽप्यभियुक्तेनोत्तरवादिना प्रहितोऽधिकृत उत्तरवादी कृतो मत उत्तरवादित्वेन संमतो मन्वादीनाम् ।

" समर्पितोऽर्थिना योऽन्योऽपरो धर्माधिकारिणि ।
प्रतिवादी स विज्ञेयः प्रतिपन्नश्च यः स्वयम् " ॥

धर्माधिकारिणि प्राड्विवाके प्रतिपन्नः प्रतिवादित्वेन स्वयं वादिनाऽङ्गीकृतः ।

" अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ।
पूर्वोत्तरं वदेद्बन्धुर्नियुक्तोऽन्योऽथ वा नरः " ॥

कात्यायनः—" ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेये गुर्वङ्गनागमे ।
अन्येष्वसह्यवादेषु प्रतिवादी न दीयते " ॥

वादिप्रतिवादिनोः प्रतिनिधिः प्रतिवादी ।

" मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने[2] ।
अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे ॥
पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च ।
प्रतिवादी न दाप्यः स्यात्कर्ता तु विवदेत्स्वयम् ॥
अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा ।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ " ॥

नारदः—" यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।
परार्थवादी दण्ड्यः स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन् " ॥

कात्यायनः—" दासाः कर्मकराः शिष्या नियुक्ता बान्धवास्तथा ।
वादिनो न च दण्ड्याः स्युर्यस्ततोऽन्यः स दण्डभाक् ॥ ३२ ॥

किंच—

**प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ॥**
**विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥**

---

१ ग. छ. ज. °स्यापि सं° । २ क. बोऽन्यः प° । ३ ग. छ. ज. °मर्षणे । अ° ।

यदि राष्ट्रे कस्यचिद्धनं प्रनष्टं नृपेण च स्वयं पुरुषान्तरद्वारेण वाऽधिगतं यस्य नष्टं स चेत्स्वरूपसंख्यादिभिर्लिङ्गैस्तद्विभावयति संवादयति तदा तस्मै नृपेण देयं न चेद्विभावयति तदा स्तेयप्रवृत्तत्वात्प्रनष्टद्रव्यसमेन धनेन दण्डनीयः ॥ ३३ ॥

अस्वामिकनिधिसमधिगमविषयमिदानीमाह—

**राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ॥**
**विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥**

निधिं हिरण्यादिकं क्षितेरन्तर्हितमप्रज्ञायमानस्वामिकं राजा लब्ध्वा तदर्धं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । द्वितीयमर्धं स्वयमाददीतेत्यर्थसिद्धम् । यदि पुनर्विद्वान्वेदार्थज्ञो द्विजोत्तमो लभेत तदा स सर्वमेवाऽऽददीत । यस्मात्सर्वस्य पृथिवीगतस्य स स्वामी ।

मनुः—" यत्र पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्धमर्धं कोशे निवेशयेत् " ॥

पुराणमिति वदन्नज्ञायमानस्वामिकत्वं दर्शयति ।

" विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ॥
अशेषतोऽप्यादद्दीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः " ।

वसिष्ठः—" ब्राह्मणश्चेदधिगच्छति षट्सु कर्मसु वर्तमानः सर्वं हरेत्*"॥३४॥

विद्वद्व्यतिरिक्तेन निधौ दृष्ट आह—

**इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ॥**
**अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥**

इतरेणाविदुषा ब्राह्मणेन निधौ लब्धे प्राप्ते तस्य षष्ठमंशं राजा जनपदपालक आहरेदधिगच्छेत्(च्छे) । तथा वसिष्ठेनोक्तम्—

" अप्रज्ञायमानवित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेदधिगन्त्रे षष्ठमंशं प्रदाय " इति ।

गौतमः—" निध्यधिगमो राजधनम् । तद्ब्राह्मणस्याभिरूपस्याब्राह्मणोऽप्याख्यातं षष्ठमंशं लभेतेत्येके " इति ।

---

* इतः परं क. पुस्तकेऽधिकम्—आततायिनं हत्वा नात्र प्रमाणच्छेत्तुः किंचित्किल्बिषमाहुरिति ।

---

१ क. संविवा° । २ ग. छ. स्तेयं प्र° । ३ क. विनिक्षिपेत् । ४ ग. छ.°वोंऽपि नि° । ५ क. °सु प्रव° । ६ ज. °ण्डमर्हति । इ° । ७ ग. छ. ज. °द्राजोद्° । ८ क. °णोऽपि ष° ।

( ऋणादानप्रकरणम् ३ )

यः पुनरनिवेदितविज्ञातः । निवेदनमत्र निधिलाभकथनम् । तदेव निवेदितम् । तदस्य न विद्यत इत्यनिवेदितः स चासावनिवेदि(सौ विज्ञा)तश्चेत्यनिवेदितविज्ञातः । स तं निधिं दण्डं च दाप्यः । एतदुक्तं भवति--निधिं लब्ध्वा यो राज्ञे न निवेदयति ततो निधिर्दण्डश्च राज्ञा ग्राह्य इति ।

यस्तु स्वनिधिमेवोपलभेत तं प्रत्याह मनुः—

" ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याऽऽददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥
अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् " ।

गुणापेक्षया भाषाल्पत्वमहत्त्वे व्यवस्थापनीये ॥ ३५ ॥

**देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा ज(जा)नपदाय तु ॥**
**अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं तस्य यस्य तत् ॥३६॥**

[ इत्यसाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ॥ २ ॥ ]

चौरेणापहृतं तत आदाय ज(जा)नपदाय तद्धनस्वामिने राज्ञा दातव्यम् । यस्मात्सोऽप्रयच्छन्धनस्वामिनः किल्बिषमाप्नोति । मनुः—

" दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरहृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याऽऽप्नोति किल्बिषम् " ॥

गौतमः—" चौरहृतं विजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात् " ।

व्यासः—" प्रत्याहर्तुमशक्तस्तु धनं चौरहृतं यदि ।
स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता " ॥ ३६ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्केऽसाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ॥ २ ॥]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# ऋणादानप्रकरणम् । ( ३ )

---

अस्ति तावदृणादानं नाम व्यवहारपदं तस्य स्वरूपमाह नारदः—

" ऋणं देयमदेयं च येन यस्य यदा च यत् ।
दानग्रहणधर्माच्च तदृणादानमुच्यते " इति ॥

---

१ क. °ण्डं दा° ।

तत्र वृद्धिमाह—

**अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ॥**
**वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥**

सबन्धक आधिसहिते प्रयोगे यावद्धनं प्रयुक्तं तस्याशीतितमो भागः प्रतिमासं वृद्धिः स्यात् । अन्यथा तु बन्धरहिते प्रयोगे ब्राह्मणादिवर्णानामधमर्णत्वे यथावर्णक्रमं द्विकं त्रिकं चतुष्कं पञ्चकं शतं वृद्धिः स्यात् । द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च पञ्च च वृद्धिर्दीयतेऽस्मिन्निति द्वित्रिचतुष्पञ्चकं शतम् । वसिष्ठः—

" द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं स्मृतम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः " ॥

बृहस्पतिः—" वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधाऽन्यैः प्रकीर्तिता ।
षड्विधाऽन्यैः समाख्याता तत्त्वतस्ता निबोधत ॥
कायिका कालिका चैव चक्रवृद्धिरतोऽपरा ।
कारिता च शिखावृद्धिर्भोगलाभस्तथैव च ।
कायिका कर्मसंयुक्ता मासाद्[1]ह्या च कालिका ।
वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता ॥
प्रत्यहं गृह्यते या तु शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता ।
शिखेव वर्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्तते ॥
मू[2]ले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता ।
गृहीस्तो(हात्स्तो)मः शदः क्षेत्राद्भोगलाभः प्रकीर्तितः ॥
शिखावृद्धिं कायिकां च भो[3]गलाभं तथैव च ।
धनी तावत्समादद्याद्यावन्मूलं न शोधितम् " ॥

स्तोमो निवासनिमित्तः । शदः क्षेत्रफलम् ।

" वसिष्ठवचनप्रोक्तां वृद्धिं वार्धुषिके शृणु ।
पञ्च मासास्तु विंशत्या एवं धर्मो न हीयते " ॥

कात्यायनः—" कृ[4]तोद्धारमदत्त्वा यो याचितस्तु दिशं व्रजेत्[5] ।
ऋतुत्रयस्योपरिष्टा[6]त्तद्धनमृद्धिमाप्नुयात् ॥
स्वदेशस्थोऽपि वा यस्तु न दद्याद्याचितोऽसकृत् ।
स भर्त्राऽऽकारितो वृद्धिमनिच्छन्नपि चाऽऽवहेत् " ॥

---

१ ग. छ. ज. °सान्प्राह्या । २ ग. छ. ज. मूलद° । ३ ग. भोलाभं च त° । ४ ग. छ. कृत्वोद्धा° । ५. ग. छ. ज. °त् । दत्तत्र° । ६ ग. छ. ज. °ष्टाद्धनं वृद्धिमवाप्नु° ।

( ऋणादानप्रकरणम् २ )

नारदः—" न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारितं क्वचित् ।
अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धते " ॥

अनाकारितमयाचितमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गत्वम् ।

तथा—" प्रीतिदत्तं तु यत्किंचित्तन्न वर्धत्ययाचितम् ।
याच्यमानमयच्छंस्तु वर्धयेत्पञ्चकं शतम् " ॥

संवत्सरार्धात्पूर्वमेतत् ॥ १७ ॥

अधमर्णविशेषवशाद्वृद्धिविशेषमाह—

कान्तारगास्तु दशकं सामुद्रा विंशकं शतम् ॥
दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु॥ ३८ ॥

कान्तारं महावनं तद्गच्छन्तीति कान्तारगा वस्त्रादिविक्रयकारिणस्ते दशकं शतं दद्युः । समुद्रं तरन्तीति सामुद्रास्ते तु विंशकं शतं दद्युः । निष्कादिशते गृहीते निष्कादिविंशतिं प्रतिमासं दद्युः । एवं दशकेऽपि शते । अथवोत्तमर्णसंमतां स्वकृतां सर्वे वर्णा ब्राह्मणादयो वर्णजातिषूत्तमवर्णेषु वृद्धिं दद्युः । एतच्च बन्धकाभावेऽधमर्णानां कान्तारसमुद्रगमनौत्सुक्ये च वेदितव्यम् ॥ ३८ ॥

द्रव्यविशेषं प्रति वृद्धिविशेषमाह—

संततिस्तु पशुस्त्रीणां रसस्याष्टगुणा परा ॥
वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा ॥ ३९ ॥

पशुस्त्रीणां महिषीप्रभृतीनां वृद्ध्यर्थं प्रयुक्तानां तदीया संततिरेव वृद्धिः । रसस्य घृतादेरष्टगुणा । वस्त्राणां चतुर्गुणा । धान्यानां त्रिगुणा । हिरण्यस्य द्विगुणा । परेति प्रत्येकं संबध्यते । परा परमा । अतः परमधिका वृद्धिर्नास्तीत्यर्थः । एतच्च स्वकृतवृद्धौ चिरकालमदत्तायां वेदितव्यम् ।

गौतमः—" चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य " ।

प्रयुक्तस्य धनस्येत्यर्थः ।

मनुः—" कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता " ।

द्विगुणाऽपि वृद्धिरधमर्णसंप्रतिपत्त्या मूले निवेशिता पुनर्वर्धत इति सकृद्ग्रहणात्सिध्यति । सुवर्णविषयं चैतत् ।

कात्यायनः—" ग्राह्यं स्याद्विगुणं द्रव्यं प्रयुक्तं धनिनां सदा ।
लभते चेन्न द्विगुणं पुनर्वृद्धिं प्रकल्पयेत् " ॥

---

१ क. °रात्पूं । २ क. नाभ्येति । ३ ज. °ति । स्ववं । ४ क. बलिना ।

बृहस्पतिः—" हिरण्ये द्विगुणीभूते नष्टे चैवाधमर्णके ।
द्रव्यं तदीयं संगृह्य विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥
रक्षेद्वा कृतमूल्यं[1] तु दशाहं जनसंसदि ।
ऋणानुरूपं परतो गृहीत्वाऽन्यं[2] तु वर्जयेत् ॥
स्वधनं च स्थिरीकृत्य गणनाकुशलैर्नृभिः ।
तद्बन्धुज्ञातिविदितं प्रगृह्णन्नापराध्नुयात् " ॥

मनुः—" धान्ये शदे लवे बाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् " ।

धान्यादावदत्ते तद्वृद्धिश्चिरकालमदीयमानान्मूलात्पञ्चगुणत्वं नातिक्रामति । शदः पुष्पमूलफलादिकं क्षेत्रफलम् । लवो मेषलोमानि चमरीकेश इत्यादि । बाह्योऽश्वबलीवर्दादिः । वसिष्ठस्तु रसानां त्रैगुण्यमाह । द्विगुणं हिरण्यम् । त्रिगुणं धान्यम् । धान्येनैव रसा व्याख्याताः । पुष्पफलानि च तुलाधृतमष्टगुणमधमर्णशक्त्यनुसारेण नाधिकवृद्धिसंख्यावचनानि व्यवस्थाप्यानि । बृहस्पतिः—

" हिरण्ये द्विगुणा वृद्धिस्त्रिगुणा वस्त्रकुप्यके ।
धान्ये चतुर्गुणा प्रोक्ता शदे बाह्ये लवेषु च " ॥

कुप्यं त्रपुसीसम् ।

" उक्ता पञ्चगुणा शाके बीजेष्वष्टगुणा स्मृता ।
लवणस्नेहमद्येषु वृद्धिरष्टगुणा स्मृता ॥
गुडे मधुनि चैवोक्ता प्रयुक्ते चिरकालिके ।
तृणकाष्ठेष्टकासूत्रकिण्वचर्मास्थिवर्मणाम् ।
हेतिपुष्पफलानां च वृद्धिस्तु न निवर्तते " ।

किण्वं सुरादिद्रव्योपादानकारणम्[3] । चर्म फलकः[4] । वर्म कवचं, हेतिः शस्त्रम्[5] ।

विष्णुः—" किण्वकर्पाससूत्रचर्मवर्मायुधेष्टकाङ्गारकाणामक्षया । अनुक्तानां हि द्विगुणा " ॥ ३९ ॥

किंच—

**प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत् ॥**
**साध्यमानो नृपं गच्छन्दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् ॥४०॥**

---

१ ग. छ. °मूल्ये तु । २ ग छ. ज. °त्वाऽन्यत्र व° । ३ क. किणु च° ४ क. °द्रव्ये मण्डन-द्रव्यम् । च° । ५ ग. छ. ज. फरकः ।

( ऋणादानप्रकरणम् २ )

प्रपन्नमङ्गीकृतमधमर्णेनार्थं विमतौ सत्यां साधयन्नुत्तमर्णो नृपतेर्न वाच्यो न निषेध्यो भवति। सोऽधमर्णः साध्यमानो यदि नृपं गच्छेत्तदाऽसौ राज्ञा दण्ड्यः। तच्च धनमुत्तमर्णाय दाप्यः। मनुः—

" धर्मेण व्यवहारेण च्छलेनाऽऽचरितेन[3] च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च " ॥

धर्मः सत्यम्। व्यवहारो लिखितसाक्ष्यादिप्रमाणजातम्। छलं छद्म। आचरितं देशाचारः। बलं भोजननिषेधादिना पीडनम्। न्यायवादी तु न पीडनीयः। तदाह कात्यायनः—

" पीडयेद्यो धनी काश्चिद्दाणिकं न्यायवादिनम्।
तस्मादर्थात्स हीयेत तत्समं चाऽऽप्नुयाद्दमम् ॥
राजा तु स्वामिनो विप्रं सान्त्वेनैव प्रदापयेत्।
देशाचारेण चान्यांस्तु दुष्टान्संपीड्य दापयेत् ॥
रिक्थिनं सुहृदं वाऽपि च्छलेन न च दापयेत् " ॥ ४० ॥

युगपदनेकोत्तमर्णेषु दानप्राप्तौ क्रममाह—

**गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः ॥**
**दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥**

समानजातीयेषूत्तमर्णेषु ग्रहणक्रमानुसारेण दानक्रमो ज्ञेयः। भिन्नजातीयेषु तु वर्णक्रमानुसारेण। विप्रनृपग्रहणं वैश्यशूद्रयोः प्रदर्शनार्थम्। कात्यायनः—

" एकाहे लिखितं यत्तु तत्तु कुर्याद्दणं समम्।
ग्रहणं रक्षणं लाभमन्यथा तु यथाक्रमम् " ॥

अनेकेषामुत्तमर्णानामेकस्मिन्नहनि यद्दणं लिखितं तत्सर्वोत्तमर्णान्[3]प्रति समं तुल्यं राजा कुर्यात्। तथा ग्रहणमाधिस्तद्रक्षणं लाभसा(मा)ध्युत्तमर्णलाभं च सममेव कुर्यात्। लिखितस्याहर्भेदे तु यथालिखितक्रममृणादिकं कुर्यात्।

" यस्य द्रव्येण यत्पण्यं साधितं यो विभावयेत्।
तद्द्रव्यमृणिकेनैव दातव्यं तस्य नान्यथा " ॥

---

१ क. धर्म्येण। २ क. 'लेन च'। ३ ग. छ. ज. °र्णात्प्रति। ४ ग. छ. ज. यदालिं'।

यस्योत्तमर्णस्य द्रव्येण वाणिज्यार्थमधमर्णेन यत्पण्यं गृहीतं तत्पण्यक्रियालब्धं धनं स एवोत्तमर्णो लभते । न तत्र पूर्वोक्तमाश्रयणीयम् ॥ ४१ ॥

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतम् ॥
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः ॥ ४२ ॥

न्यायसाधितमर्थमपेक्ष्य दशकं शतमधमर्णिको दाप्यः । साधितार्थस्य यावान्दशमो भागस्तावन्तमर्थमधमर्णिकाद्राजा गृह्णीयादित्यर्थः । तथा लब्धार्थं उत्तमर्णिकः पञ्चकं शतं वृद्ध्यर्थं दाप्यः । राजा गृह्णीयादित्यर्थः । अत्र विष्णुः—

" उत्तमर्णश्चेद्राजानमियात्तद्भिभावितोऽधमर्णो राज्ञे धनदशभागसमं दण्डं दद्यात् । प्राप्तार्थश्चोत्तमर्णो विंशतितममंशम् " ।

नारदः—" ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति ।
राज्ञा दापयितव्यः स्याद्गृहीत्वांऽशं तु विंशकम् " ॥

स्वल्पयत्नसाध्यत्वे च सति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

ऋणापाकरणासमर्थमधमर्णं प्रति वर्णव्यवस्थया तदपाकरणोपायमाह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ॥
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम् ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणादिरुत्तमर्णः स्वजात्यपेक्षया हीनजातिं क्षत्रियादिमधमर्णं परिक्षीणं निर्धनमृणार्थमृणनिवृत्तये कर्म तृणेन्धनोदकाहरणादिकं कारयेत् । हीनजातिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेन समानजातिरपि गृह्यते । ब्राह्मणश्चेदधमर्णः परिक्षीणस्तदा यथोदयं यथाधनागमं शनैरप्रकर्षेण दाप्यः । ब्राह्मणग्रहणमुत्तमर्णजात्यपेक्षयोत्कृष्टजात्युपलक्षणार्थम् । ततश्च क्षत्रियो वैश्याय, वैश्यः शूद्राय, यथोदयं धनमेव दाप्यो न कर्म कारणीयः । तथा च मनुः—

" कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकस्याधमर्णिकः ।
समोऽवकृष्टजातिश्च दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः " ॥

धनिकापेक्षितं कर्मापि कृत्वा धनिकस्य समं सदृशमनृणत्वेनाऽऽत्मानमधमर्णः कुर्यात् ।

बृहस्पतिः—ऋणिनं निर्धनं कर्म गृहमानीय कारयेत् ।
शौण्डिकाद्यं ब्राह्मणस्तु दापनीयः शनैः शनैः " ॥

शौण्डिकः सुराकर्ता ।

---

१ क. °त्पण्यविक्रयाप्तं । २ क. °माचरणी । ३ ग. छ ज. °साधित्वे । ४ क. °मो वोत्कृष्ट° ।

कात्यायनः—" यदि ह्यादावनादिष्टमशुभं कर्म कारयेत् ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वमृणान्मुच्येत चार्णिकः " ॥

अशुभं विहीनं मलापनयनादिकं कर्मोत्तमर्णः पूर्वमनादिष्टमकथितमेव यद्यधमर्णं कारयेत्, तदाऽसौ पूर्वसाहसं दण्ड्योऽधमर्णश्च तदृणान्मुच्यते ॥४३॥

यो वृद्धिलोभादिनोत्तमर्णोऽधमर्णेन दीयमानं धनं न गृह्णाति तं प्रत्याह—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ॥
मध्यस्थस्थापितं तत्स्याद्वर्धते न ततः परम् ॥ ४४ ॥

अधमर्णेन दीयमानं यद्युत्तमर्णो धनं प्रयुक्तं वृध्यादिहेतोर्न गृह्णाति तदा तदधमर्णेन मध्यस्थपुरुषहस्ते स्थापनीयम् । तत उर्ध्वं न वर्धते ॥ ४४ ॥

अधमर्णे मृते प्रोषिते वा यैर्ऋणमपाकरणीयं तानाह—

अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत् ॥
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ॥४५॥

कुटुम्बिनि गृहपतौ प्रोषिते मृते वा तत्कुटुम्बभरणार्थमविभक्तधनैर्भ्रात्रादिभिर्यत्कृतमृणं तद्रिक्थिनः सर्वे दद्युः । अविभक्तैरिति बहुवचनमविवक्षितार्थम् । तदाह मनुः—

" ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बे च कृतव्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तस्मात्प्रविभक्तधनैः स्वतः " ॥

नारदः—" पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदृणं कृतम् ।
मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थे दद्युस्तत्सर्वमृक्थिनः " ॥

बृहस्पतिः—" पितृव्यभ्रातृपुत्रस्त्रीदासशिष्यानुजीविभिः ।
यद्गृहीतं कुटुम्बार्थे तद्गृही दातुमर्हति " ॥

कात्यायनः—" कुटुम्बार्थमशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा ।
उपप्लवनिमित्ते च दद्यादापत्कृते तु तत् ॥
कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्ये च यत्कृतम् ।
एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं प्रभोः " ॥

प्रभोः प्रभुणा दातव्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

अत्रापवादं प्रतिप्रसवसहितमाह—

---

१ क. °चनं वि° । २ क. °टुम्बी च । ३ ग. छ. ज. °तव्यैर्वाऽन्य° । ४ ग. छ. ज. °भैः सुतः । ५ क. °मित्तं च । ६ क. °कृतं तु ।

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ॥
दद्यादृते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

कुटुम्बार्थादृणाद्यदन्यदृणं पत्या पुत्रेण वा कृतं तत्स्त्री न दद्यात्[1]। तथा पुत्रेण कृतं पिता। भार्यया च कृतं भर्त्रा।

बृहस्पतिः—" ऋणं पुत्रकृतं पित्रा शोध्यं यदनुमोदितम्।
सुतस्नेहेन वा दद्यान्नान्यथा दातुमर्हति " ॥

कात्यायनः—" प्रोषितस्यामतेनापि कुटुम्बार्थमृणं कृतम्।
दासस्त्री(स्रुप)मौत्यशिष्यैर्वा दद्यात्पुत्रेण वा भृगुः " ॥

नारदः—" पितुरेव नियोगाद्वा कुटुम्बभरणाय वा।
कृतं वा यदृणं कृच्छ्रे दद्यात्पुत्रस्य तत्पिता " ॥ ४६ ॥

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमिति वक्ष्यति तस्यापवादमाह—

सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् ॥
वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानस्त्रीसंभोगद्यूतार्थं यदृणं कृतं यच्च दण्डस्य शुल्कस्य च देयमवशिष्टं यच्च वृथादानं तत्पैतृकं पुत्रो न दद्यात्[2]। अत्र कात्यायनः—

" लिखितं मुक्तकं वाऽपि देयं यत्तु प्रतिश्रुतम्।
परपूर्वस्त्रियै यत्तु विद्यात्कामकृतं नृणाम् " ॥

अवशिष्टमित्यविवक्षितम्। तथाऽऽहोशना—

" दण्डो वा दण्डशेषो वा शुल्कं तच्छेषमेव वा।
न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम् " ॥

न व्यावहारिकं न न्याय्यमित्यर्थः। निष्फलं दानमुक्तं स्मृत्यन्तरे—

" धूर्ते बन्दिनि मद्ये च कुवैद्ये कितवे शठे।
चाटचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् " ॥

नारदः—" न पुत्रर्णं पिता दद्याद्दद्यात्पुत्रस्तु पैतृकम्।
कामक्रोधसुराद्यूतप्रातिभाव्यकृतं विना " ॥

कात्यायनः—" यत्र हिंसां समुत्पाद्य क्रोधाद्द्रव्यं विनाश्य वा।
उक्तं तुष्टिकरं यत्तु विद्यात्क्रोधकृतं तु तत् " ॥

---

१ ग. छ. ज. °त्। स्त्रीऋणं न देयम्। त°। २ क. °स्यासते°। ३ क. °मात्रशि°। ४ ग. छ. ज. मुक्तिकं।

अयमर्थः—परस्य हिंसां धनविनाशं कृत्वा तत्तुष्टये यद्द्रव्यं दातव्यत्वेनाङ्गीकृतं तदृणं क्रोधजितमिति ॥ ४७ ॥

न पतिः स्त्रीकृतं तथेत्यस्यापवादमाह—

गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम् ॥
ऋणं दद्यात्पतिस्तासां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया ॥ ४८ ॥

आभीरसुराकारनटरजकलुब्धकानां स्त्रीभिः कृतमृणं तासां पतिरपाकुर्यात् । यस्मादेषां गोपादीनां वृत्तिः स्थितिस्तदधीना योषिदधीना । गोपादिस्त्रीकृतमृणं यद्यपि न कुटुम्बार्थं तथाऽपि तत्पतिभिरपनेयमित्येतदर्थमिदं वाक्यम् । अन्यथा तु कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथेत्यनेनैव सिद्धत्वाद्वचनमिदमपार्थकं स्यात् । तथा च नारदः—

" न च भार्याकृतमृणं कथंचित्पत्युराभवेत् ।
आपत्कृताद्ते पुंसः कुटुम्बार्थो हि दुस्तरः ॥
अन्यत्र रजकव्याधगोपशौण्डिकयोषिताम् ।
तेषां तत्प्रत्ययावृत्तिः कुटुम्बं च तदाश्रयम् ॥ ४८ ॥

ऋणविशेषादन्यदृणं स्त्री न दद्यादित्याह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम् ॥
स्वयंकृतं वा यदृणं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

कुटुम्बानुपयोग्यपि यत्पतिपुत्रकृतमृणं प्रतिपन्नमङ्गीकृतं पत्या सह च यत्कृतं यच्च स्वयंकृतं तत्स्त्रिया देयम् । अन्यदृणं स्त्री न दद्यात् । स्वयंकृतमिति वचनं कुटुम्बानुपयोगिमातृकमृणं पुत्रेण देयमित्येतदर्थम् । अन्यथा हि वचनमनर्थकं स्यात् । ज्ञातमेवैतदृतेऽपि वचनात्स्वयंकृतमृणं स्वयं देयमिति । कात्यायनः—" भर्त्रा पुत्रेण वा सार्धं केवलेनाऽऽत्मना कृतम् ।
ऋणमेवंविधं देयं नान्यथा तत्कृतं स्त्रिया " ॥

तत्कृतं पतिपुत्रकृतम् ।

" भर्तुकामेन या भर्त्रा प्रोक्ता देयमृणं त्वया ।
अप्रपन्नाऽपि सा दाप्या धनं यत्संश्रितं स्त्रियाम् " ॥

धनं भर्तृधनम् ॥ ४९ ॥

---

१ क. °गि पैतृ° । २ क. °वलं वाऽऽत्म° । ३ ग. छ. ज. °विधे दे° । ४ क. °कृते स्त्रि° । ५ ग. स्त्रिया ।

**पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ॥**
**पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥**

ऋणमनपाकृत्य पितरि प्रोषिते मृते वाऽपि पानादिव्यसनासक्ते वा तदृणं पुत्रपौत्रैर्देयम् । यदि पुत्रादयो ब्रूयुर्न वयं विद्मोऽस्मत्पिता पितामहो वा किं तुभ्यं धारयत इति तदा प्रत्यर्थिना साक्ष्यादीनामन्यतमेन प्रमाणेन भावितं सद्देयम् । अत्र च प्रवासादिषु निमित्तेषु ऋणदानविधानात्पैतृकधनाभावेऽपि पुत्रैर्ऋणं देयं तदभावे च पौत्रैः । अत्र नारदः—

" नार्वाक्संवत्सरार्द्विंशात्पितरि प्रोषिते सुतः ।
ऋणं दद्यात्पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा " ॥

कात्यायनः—" विद्यमानेऽपि रोगार्ते स्वदेशात्प्रोषितेऽपि वा ।
विंशात्संवत्सराद्देयमृणं पितृकृतं सुतैः ॥
व्याधितोन्मत्तवृद्धानां तथा दीर्घप्रवासिनाम् ।
ऋणमेवंविधं पुत्राज्जीवतामपि दापयेत् ॥
सांनिध्येऽपि पितुः पुत्रैर्ऋणं देयं विभावितम् ।
जात्यन्धपतितोन्मत्तक्षयश्वित्रादिरोगिणः " ॥

बृहस्पतिः—" पित्र्यमेवाग्रतो देयं पश्चादात्मीयमेव च ।
तयोः पैतामहं पूर्वं देयमेवमृणं सदा ॥
अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः ।
ऋणात्पिता मोचनीयो यथा न नरकं व्रजेत् " ॥

एतच्च प्राप्तव्यवहारपुत्रविषयम् । अप्राप्तव्यवहारस्य तु जातस्यापि नाधिकारोऽसमर्थत्वात् । तथा च कात्यायनः—

" नाप्राप्तव्यवहारेण पितर्युपरते क्वचित् ।
काले तु विधिना देयं वसेयुर्नरकेऽन्यथा " ॥

पौत्रेण च पैतामहमृणं वृद्धिरहितमेवापाकरणीयम् । यदाह बृहस्पतिः—

" ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं पुत्रैर्देयं विभावितम् ।
पैतामहं समं देयं न देयं तत्सुतस्य तत् " ॥

समं वृद्धिरहितम् । तत्सुतस्येति कर्तरि षष्ठी । ततश्च तत्सुतेन न देयमित्यर्थः । कात्यायनः—

" यदृष्टं दत्तशेषं वा देयं पैतामहं तु तत् ।
सदोषं व्याहृतं पित्रा नैव देयमृणं क्वचित् " ॥

---

१ ग. छ. ज. °मुद्धृत्य ।

( ऋणादानप्रकरणम् ३ )

यत्पित्रा दृष्टं यच्च तेन दत्तावशेषितं तत्पैतामहं पौत्रेण देयम् । यत्तु तेन व्याहतं निराकृतं यच्च सुरादिव्यसननिमित्तत्वेन दोषयुक्तं न तत्पैतामहं देयमित्यर्थः ।

" पित्रा दृष्टमृणं यत्तु क्रमायातं पितामहात् ।
निर्दोषं नोद्धृतं पुत्रैर्देयं पौत्रैस्तु तद्ऋणः " ॥

तथा—" ऋणं तु दापयेत्पुत्रं यदि स्यान्निरुपद्रवः ।
द्रविणार्हश्च धुर्यश्च नान्यथा दापयेत्सुतम् " ॥

द्रविणार्हः पितृधनार्हः । धुर्यः पितृधुरो वोढा ॥ ५० ॥

**रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च ॥**
**पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य ऋक्थिनः ॥ ५१ ॥**

अत्र प्रतिपदं वाक्यसमाप्तिः । प्रतिवाक्यमृणं दाप्य इति संबध्यते । रिक्थग्राह्य ऋणं दाप्यः । पितृधनं रिक्थं, ततश्च पुत्रो रिक्थग्राहः प्रथमतः । तदभावे क्षेत्रजादिः पुत्रप्रतिनिधिः । तदभावे पत्नीदुहित्रादिः । अत्र च न पुत्रपरो रिक्थग्राहशब्दः, 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' इत्यनेनैव पित्र्यं धनं पुत्रेणापाकरणीयमिति विहितत्वात् । ततश्चायमर्थः—क्षेत्रजादिको रिक्थग्राहो यदीयं रिक्थं गृह्णाति तदीयमृणमुत्तमर्णाय राज्ञा दाप्य इति । परस्य योषितं भार्यां यो गृह्णाति स योषिद्ग्राहः । सोऽपि तस्याः पाणिग्राहस्य यदृणं तद्दाप्यः । अत्र च विवक्षितः पाठक्रमः । ततश्च रिक्थग्राहाभावे योषिद्ग्राह ऋणप्रदः । नारदः—

" अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम् ।
ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ते समश्नुते " ॥

ताश्च स एव निरूपयति—

" परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम् ।
पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी च चतुर्विधा ॥
कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता ।
पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनःसंस्कारकर्मणि ॥
देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते ।
उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता " ॥

उत्पन्नसाहसोत्पन्नपुरुषसंबन्धा ।

---

१ ङ. °ग्राही ऋ° । २ ग. छ. ज. °रयो° ।

" असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते ।
सवर्णायासपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
स्त्रीप्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव च जीवति ।
कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥
कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता ।
पुनः पत्युर्गृहं[1] यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
मृते भर्तरि तत्प्राप्तान्देवरादीनपास्य या ।
उपगच्छेत्परं कामात्सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा तु या ।
तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता " ॥

तथा—" अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम् ।
ऋणं वोढुः स भजते तदेवास्य धनं स्मृतम् " ॥

तदेव भार्यैव ।

योषिद्ग्राहस्तथैव चेति[2] शौण्डिकादिविषयं वा । यथाऽऽह कात्यायनः—

" निर्धनैरनपत्यैस्तु यत्कृतं शौण्डिकादिभिः ।
तत्स्त्रीणामुपभोक्ता तु दद्यात्तद्दणमेव हि " ॥

पुत्रैः पैतृकमृणमपाकरणीयमित्युक्तं, तत्र विशेषमाह—पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्य इति । यः पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः स्वाधीनधनः स पित्र्यमृणं दाप्यः । अन्याश्रितमन्याधीनं द्रव्यं धनं यस्य सोऽन्याश्रितद्रव्यः स न भवतीत्यनन्याश्रितद्रव्यः । ततश्च ये भ्रातरो भ्रातृविशेषाधीनधना न ते दाप्याः । किं तु यस्तेषु[3] स्वातन्त्र्येण वर्तते स एव दाप्यः । अत्र पाठक्रमो न विवक्षितः । न ह्यत्र दानरूपो धात्वर्थो विधीयते । किं तु तदीयोऽनन्याश्रितद्रव्यत्वलक्षणो धर्मः । स(न) च धर्मोऽनुष्ठेयः । किं तु धर्मवान्धात्वर्थः । ततश्च यत्र धात्वर्थो विधीयते क्रमेण तत्र क्रमनियमो विवक्ष्यते नान्यत्र । अतो नात्र क्रमो विवक्षितः । यत्तु नारदेनोक्तम्—

" धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धनं हरेत् ।
पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः " ॥

इति, तत्पितृधनविभागानर्हपुत्रविषयम् । " सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तौ न लभेतैकेषाम् " इति गौतमवचनात्पुत्रस्यापि भागानर्हत्वं प्रतीयते । तथाऽन्धादीनां तदनर्हत्वं विभागप्रकरणे वक्ष्यति । विभागार्हैस्तु[4] पितृधनाभावेऽपि

---

१ क. °र्गृहमियात्सा । २ ग. छ. ज. °ति । कौशण्डि° । ३ ग. छ. ज. °स्तेष्वस्वा° । ४ ग. छ. ज. धनपु° । ५ क. °वर्णपु° । ६ ग. छ. ज. °धनविभागेऽपि ।

पितुरानृण्यं कार्यमित्युक्तम्—" पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम् " इति । यत्तु स्त्रीहारिणोऽसंभवे पुत्रो दाप्य इत्यभिधाय पुनरुक्तम्—पुत्राभावे स्त्रीहारी दाप्य इति, तदुक्तविशेषपुनर्भूस्वैरिणीभ्यामन्यां स्त्रियं यो हरति तद्विषयम् । पुत्रहीनस्य रिक्थिन इति पौत्ररूपरिक्थिविषयम् । तेषां हि पुत्रवतोऽपि पितामहस्य रिक्थग्रहणयोग्यताऽस्ति नान्येषां भ्रात्रादीनाम् । यदाह मनुः—

" न भ्रातरो न पितरः पुत्रो रिक्थहरः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा " ॥

वक्ष्यति हि—" प्रमीतपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना " इति ॥

तत्र पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमिति पुत्रवतोऽपि पितामहस्य पौत्रैर्ऋणमपाकरणीयमिति अतिप्रसङ्गं निवारयितुमिदमुच्यते—पुत्रहीनस्य रिक्थिन इति । अत्र रिक्थिशब्दो रिक्थग्रहणयोग्ये वर्तते न गृहीतरिक्थ एव । तेन निर्धनस्य पितामहस्य पुत्राभाव एव पौत्रा ऋणापकरणेऽधिक्रियन्ते न पुत्रसद्भावे । गृहीतरिक्थास्तु पुत्रसद्भावेऽपि । पैतामहमृणं देयं यथांशमपाकुर्युः । अत एव नारदः—

" अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः ।
विभक्ता वाऽविभक्ता वा यस्तां चोद्वहते धुरम् ।
अप्राप्तव्यवहारश्चेत्स्वतन्त्रोऽपि हि नर्णभाक् ।
स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम् " ॥

तथा—" क्रमादव्याहतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम् ।
दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते " ॥

पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्य इत्यस्यापरा व्याख्या—अन्यशब्देनात्र प्रकृतत्वात्पितोच्यते । तेनान्याश्रितद्रव्यशब्देन पितृधनमुच्यते । तन्न विद्यते यस्य सोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रः । अतो रिक्थग्राहयोषिद्ग्राहयोरभाव ऋणं दाप्यः । तत्सद्भावे तु तावेव यथाक्रमं दाप्यौ । सन्ति दायानर्हा अपि केचन पुत्राः । यथा द्वादशविधेषु पुत्रेषूच्यमानेषु षट्पुत्रानभिधायाऽऽह वसिष्ठः—" दायादबान्धवाः " इति ।

तथा—यस्य पूर्वेषां षण्णां न कश्चिद्दायहरः स्यादेते तस्य दायं हरन्तु " इति ।

तथा—" अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः क्लीबोन्मत्तपतिताश्च " इति ।

एषामयमर्थः सिद्धः—रिक्थग्राहः पुत्रादिर्दाप्यस्तदभावे योषिद्ग्राहस्तस्याप्यभावे दायानर्हः पुत्र इति । तथाऽऽह नारदः—

---

१ क. °हयोगे व° । २ ग. छ. ज. °श्चेत्सुत° । ३ क. °तं व्याप्तं । ४ क. °त्रेषु ष° । ५ क. °दायादः स्या° । ६ ग. छ. ज. °प्राहोऽपु° ।

" धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणमाद्यो धनं हरेत् ।
पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः " ॥

अत्र स्त्रीहारिधनहारिणोरभावे पुत्र ऋणप्रद इत्यभिधायोक्तं धनिपुत्रयोरभावे स्त्रीहारी ऋणप्रद इति । तत्र पूर्वोक्तस्त्रीहारी पुत्रसद्भाव ऋणभाक् । अन्यस्त्रीहारी तु पुत्राभाव इति व्यवस्था । नारद एव—

" पुत्रिणी च समुत्सृज्य पुत्रं स्त्री याऽन्यमाश्रयेत् ।
तस्या ऋणी हरेत्सर्वं निःस्वायाः पुत्र एव तु " ॥

ऋणी स्त्रीहारी । तथा च स एवाऽऽह—

" अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम् ।
ऋणं वोढुः स भजते तदेवास्य धनं स्मृतम् " इति ॥
" या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या चान्यमाश्रयेत् ।
सोऽस्या दद्यादृणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम् " ॥

प्रकृष्टं धनं प्रधनं तत्सहिता सप्रधना ।

कात्यायनः—" बालपुत्राऽधिकार्था च भर्तारं याऽन्यमाश्रिता ।
आश्रितस्तद्दणं दद्याद्बालपुत्रौविधिः स्मृतः ॥
दीर्घप्रवासिनिर्बन्धजडोन्मत्तार्तलिङ्गिनाम् ।
जीवतामपि दातव्यं तत्स्त्रीद्रव्यं समाश्रितैः " ॥ ५१ ॥

विषयविशेषे सप्रसङ्गमृणप्रतिषेधमाह—

**भ्रातृणामथ दंपत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥**
**प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥**

भ्रात्रादीनामविभक्ते धने परस्परं प्रातिभाव्यादिकं कर्तव्यतया न स्मृतम् । किं तु प्रतिषिद्धमेव । दंपती जायापती । प्रतिभुवो भावः प्रातिभाव्यम् । दर्शनविश्वासदानाङ्गीकारकर्ता प्रतिभूः । ऋणं प्रसिद्धम् । साक्षिणो भावः साक्ष्यम् । अत्राविभक्तग्रहणं भ्रातृविषयम् । पितापुत्रविषयं वा । न जायापतिविषयम् । न हि तयोर्धनविभागोऽस्ति, पतिधने हि जाया स्वामिनी जायात्वादेव । अतो दंपत्योः साधारणं धनमशक्यं विभक्तुम् । अत एवाऽऽपस्तम्बः—

---

१ क. अन्यस्त्री° । २ ग. छ. ज. तस्य ऋ° । ३ क. °श्राविधिः । ४ ग. छ. ज. °यं च । न जायापत्यावि° ।

( ऋणादानप्रकरणम् ३ )

" जायापत्योर्न विभागो विद्यते पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु ।
तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च " इति।

नारदः—" साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानग्रहणमेव च ।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ॥
एषां चैताः क्रिया लोके प्रवर्तन्ते स्वरिक्थिनाम् ।
विभक्तानवगच्छेयुर्लेख्यमप्यन्तरेण तान् " ॥ ५२ ॥

प्रातिभाव्यविशेषांस्तत्फलविशेषांश्चाऽऽह—

**दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते ॥**
**आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥ ५३ ॥**

दर्शनविश्वासदानेषु प्रतिभूत्वं विधीयते । तत्र दर्शनविश्वासप्रतिभुवो वितथत्वे मिथ्याभावे सति तावेव विवादास्पदीभूतं धनं धनिने दाप्यौ । यस्तु दानप्रतिभूस्तस्य मिथ्यात्वे मिथ्याभावे स दाप्यस्तदभावे तत्पुत्राः ।

बृहस्पतिः—

" दर्शने प्रत्यये दाने ऋणिद्रव्यार्पणे तथा ।
चतुष्प्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥
अहैको दर्शयामीति साधुरेषोऽपरोऽब्रवीत् ।
दाताऽहमेतद्विणमर्पयाम्यपरो वदेत् ॥
आद्यौ तु वितथे दाप्यौ तत्कालावेदितं धनम् ।
उत्तरौ तु विसंवादे तौ विना तत्सुतौ तथा " ॥

कात्यायनः—" दानोपस्थानविश्वासविवादशपथाय च ।
लग्नकं दापयेदेव यथायोगं विपर्यये " ॥

उपस्थानं दर्शनम् । विवादो व्यवहारः । शपथं दिव्यम् । दानविश्वासौ प्रसिद्धौ । एष्वर्थेषु लग्नकं प्रतिभुवं विवादधनं दापयेत्* ।

तथा—" दर्शनप्रतिभूर्यस्तं देशे काले न दर्शयेत् ।
निबन्धमावहेत्तत्र चैवं राजकृताहते ॥

निबन्धं देयं द्रव्यम् ।

---

* इत उत्तरं दर्शयेदित्यन्तं न विद्यते ग छ. ज. पुस्तकेषु।

---

१ क. °क्षानां च ग° । २ ग. छ. ज °ण ताम् । प्रा° । ३ क. °तं च धनि° । ४ क. °यामि प° ।

तथा—" नष्टस्यान्वेषणार्थं तु दाप्यं पक्षत्रयं परम् ।
यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् " ॥
तथा—" गृहीत्वा बन्धकं यस्तु दर्शनस्थ स्थितो भवेत् ।
विभाव्य वादिना तत्र दाप्यः स्यात्तद्दृणं सुतः " ॥

योऽधमर्णाद्बन्धकं गृहीत्वा दर्शनप्रतिभूत्वमङ्गीकृत्य मृतस्तस्य सुतस्तव पिता बन्धकग्रहणपूर्वकं प्रातिभाव्यं कृतवानिति साधयित्वा विवादास्पदं धनं वादिना दाप्यः । असौ यथा ददाति तथा कार्यमित्यर्थः ।

बृहस्पतिः—" नष्टस्यान्वेषणं कालं दद्यात्प्रतिभुवे धनी ।
देशाध्वरूपतः पक्षं मासं सार्धमथापि वा ॥
नात्यन्तं पीडनीयाः स्युर्ऋणं दाप्याः शनैः शनैः ।
स्वसाक्ष्येण नियोज्याः स्युर्विधिः प्रतिभुवामयम् ॥
साधुत्वाच्चेन्मन्दधिय ऋणं दद्युरभाविताः ।
यदर्थं दापितास्तस्मान्न लभेरन्कथंचन " ॥ ५३ ॥

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा ॥
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्[1]दद्युर्दानाय[2] ये स्थिताः ॥५४॥

प्रात्ययिको विश्वासप्रतिभूः । पौत्रनिवृत्त्यर्थोऽयमनुवादः । तेन दानप्रतिभुवः पौत्रा न दापनीयाः । आह च व्यासः—

" ऋणं पैतामहं पौत्रः प्रातिभाव्यागतं सुतः ।
समं दद्यात्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चयः " ॥

पैतामहमृणं समं वृद्धिरहितं दद्यात् । एवं प्रातिभाव्यनिमित्तं प्रतिभूपुत्रः । तयोरधमर्णपौत्रप्रतिभूपौत्रयोः पुत्रावृणं प्रातिभाव्यागतं च न दाप्यौ ।

कात्यायनः—" प्रातिभाव्यागतं पौत्रैर्दातव्यं न तु तत्क्वचित् ।
पुत्रेणापि समं देयमृणं सर्वत्र पैतृकम् " ॥

प्रातिभाव्यागतमृणं सर्वत्र पुत्रेण समं देयम् । पौत्रैर्न देयमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम् ॥
एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

बहवः पुरुषा एकं प्रतिभूत्वं यदाऽवलम्बन्ते तदा ते यथांशमुत्तमर्णाय धनं दद्युः । यदा त एकच्छायाश्रिताः प्रत्येकं विकल्पेन सकलधनदायकत्वमाश्रि-

---

१ ग. छ. ज. °त्य तत्कृत्वा मृ° । २ क. °द्युर्दानमाना° । ३ ङ. ञ यः स्थितः ।

स्तस्तदा धनिकेच्छानुसारेण देयम् । तेषां मध्ये धनिको यं याचते स दद्यादित्यर्थः । एकामधमर्णस्य च्छायां सादृश्यं प्रत्येकं श्रिता एकच्छायाश्रिताः ॥५५॥

अधमर्णैः प्रतिभुवि यत्कर्तव्यं तदाह—

**प्रतिभूर्दापितो यत्र प्रकाशं धनिने धनम् ॥**
**द्विगुणं तत्र दातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत् ॥ ५६ ॥**

यत्र व्यवहारे प्रकाशं जनसमक्षं प्रतिभूरधमर्णदेयधनमुत्तमर्णाय दापितो ददाति तत्र व्यवहारे तद्धनं द्विगुणमधमर्णैर्देयम् । अधमर्णैरिति बहुवचनमविवक्षितम् । नारदः—

" यं चार्थं प्रतिभूर्दद्याद्धनिकेनोपपीडितः ।
ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयेत् " ॥

पीडित इति वचनादपीडिताय सममेव देयम् । तदाह कात्यायनः—

" यस्यार्थे येन यद्दत्तं विधिनाऽभ्यर्थितेन तु ।
साक्षिभिर्भावितेनैव प्रतिभूस्तत्समाप्नुयात् " ॥

तथा—" प्रातिभाव्यं तु यो दद्यात्पीडितैः प्रतिभावितः ।
त्रिपक्षात्परतः सोऽर्थं द्विगुणं लब्धुमर्हति " ॥ ५६ ॥

सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्ते कालात्यये सति यस्य द्रव्यस्य या परा वृद्धिरुक्ता तां प्रतिभुवे दद्यादित्याह—

**संततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च ॥**
**वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ५७ ॥**

याः पशुस्त्रियो गोमहिष्यादय उत्तमर्णाय प्रतिभुवा दत्ताः सत्यो यावत्संततिमत्यो जातास्तावत्संततिकास्ता अधमर्णेन प्रतिभुवे देयाः । स्पष्टमन्यत् ॥ ५७ ॥

धनिकस्य विस्रम्भहेतुः प्रतिभूराधिश्चेति प्रतिभूप्रकरणानन्तरं प्रसक्तमाधिकरणमारभते । तत्राऽऽधिस्वरूपं तावन्नारद आह—

" अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः ।
कृतकालापनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा ॥
स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च " इति ।

तत्रैतावति काले गते धनं दत्त्वाऽयं मया मोक्ष्यते न चेत्तवैव भवतीति

---

१ ङ. °निनां ध° । २ क. ङ. °णं प्रतिदा° । ३ ग. छ. ज. °र्णधनदे° । ४ क. °णं तत्र धा° । ५ क. °तः प्राति° ।

कृत आधिः कृतकालापनेयः, यावद्धनं ते ददामि तावदयमाधिरित्येवं कृतो यावद्देयोद्यतः। सोऽपि प्रत्येकं गोप्यभोग्यतया द्विविध इति। तत्र यस्याऽऽधेर्यस्मिन्निमित्ते सत्याधित्वनाश उत्तमर्णं प्रति च स्वत्वापत्तिर्यस्य न भवति तदुभयमाह—

**आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ॥**
**काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥५८॥**

आधिरुक्तलक्षणो वृद्धिदानाभावे निमित्ते मूलधनद्वैगुण्ये जाते तावद्धनं दत्त्वाऽधमर्णेन यदि न मोक्ष्यते तदाऽसौ नश्येदधमर्णस्य स्वं न भवेत्, किंतूत्तमर्णस्यैव भवेदित्यर्थः। यस्तु कालकृतः कृतकालापनेयः स यदि संप्रतिपन्ने काले न मोक्ष्यतेऽधमर्णेन स पूर्ववन्नश्येत्। फलभोग्यस्त्वाधिर्न कदाचिन्नश्येत्। किंतूत्तमर्णेन यावत्स्वधनं प्राप्यते तावदुत्पन्नं फलमेव भोक्तव्यम्। अत्र व्यासः—

"हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतेऽवधौ।
बन्धकस्य धनी[1] स्वामी द्विसप्ताहं प्रतीक्ष्य तु ॥
अतोऽन्तरा धनं दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात्।

बृहस्पतिः—"गोप्याधिर्द्विगुणादूर्ध्वं कृतकालो यथाविधि ॥
श्रावयित्वा ऋणिकुले भोक्तव्यः समनन्तरम्।
नष्टे मृते वा ऋणिके धनी पत्रं प्रदर्शयेत् ॥
तत्कालावधिसंयुक्तं स्थानलेख्यं च कारयेत्"।

कात्यायनः—"आधाता यत्र न स्यात्तु धनी बन्धं निवेदयेत्।
राज्ञा[2] ततः स विख्यातो विक्रेय इति धारणा ॥
सवृद्धिकं गृहीत्वा तु शेषं राजन्यथार्पयेत्" ॥ ५८ ॥

**गोप्याधिभोगे[3] नो वृद्धिः सोपकारेऽथ हापिते ॥**
**नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते ॥ ५९ ॥**

गोप्यस्याऽऽधेर्गोमहिषीवस्त्रहिरण्यरजतादेरुत्तमर्णेन वाहनदोहनभूषणादौ भोगे कृते नो वृद्धिर्भवति प्रयुक्तं धनं न वर्धत इत्यर्थः। तथा सोपकारे फलभोग्यभूम्यादावुपेक्षया हापिते हानिं नीते नो वृद्धिरिति संबन्धः। हानिरत्र कार्याक्षमत्वम्। यत्राधमर्ण आधेरुपभोगं वृद्धिदानं वाऽभ्युपगच्छति तद्विषयमेतत्। दैवराजव्यापारं विनोभयविधोऽप्याधिर्नष्टो विनष्टो वाऽधम-

---

१ ग. छ. ज. धने। २ क. राज्ञस्ततः। ३ ग. छ. ज. °भोग्ये नो।

( ऋणादानप्रकरणम् ३ )

र्णयोत्तमर्णेन देयः । नष्टो विकृतः । विनष्टः प्रध्वस्तोऽपहृतो वा ।

बृहस्पतिः—" भुक्ते चासारतां प्राप्ते मूलहानिः प्रजायते ।
बहुमूल्यं यत्र नष्टमृणिकं तत्र तोषयेत् " ॥

व्यासः—" ग्रहीतृदोषान्नष्टश्चेद्बन्धो हेमादिको भवेत् ।
ऋणं सलाभं संशोध्यं तन्मूल्यं दाप्यते धनी " ॥

ग्रहीता धनिकः । बन्धो बन्धक आधिरित्येकोऽर्थः ।

कात्यायनः—" अकाममननुज्ञातमाधिं यः कर्म कारयेत् ।
भोक्ता कर्मफलं दाप्यो वृद्धिं वा न लभेत सः " ॥

चेतनरूपाधिविषयमेतत् ।

नारदः—" विनष्टे मूलहानिः स्याद्दैवराजकृताद्ऋते " ॥

मनुः—" न त्वेवाऽऽधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
तेनोर्ध्ववृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः " ॥

अल्पभोगविषयमेतत्[3] । महोपभोगे तु गोप्याधिभोगे न वृद्धिरित्युक्तम् । ततश्च भोगानुसारेण वृद्धिहान्यनुसारः कार्यः ॥ ५९ ॥

आधिसाधनमाह—

**आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ॥**
**यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत् ॥६० ॥**

आधेः स्वीकरणात्परिग्रहादाधित्वसिद्धिः । स्वीकरणं च भोग्यादौ भोगपर्यन्तं; गोप्याधौ तु भाण्डागारप्रवेशपर्यन्तम् । तथा च नारदः—

" आधिश्च द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा ।
सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा " ॥

बृहस्पतिः—" क्षेत्रमेकं द्वयोर्बन्धे दत्तं यत्समकालिकम् ।
येन भुक्तं भवेत्पूर्वं तस्य सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
तुल्यकालोपस्थितयोर्द्वयोरपि समं भवेत् " ॥

विष्णुः—" गोचर्ममात्राधिकां भुवमन्यस्याऽऽधीकृतां तस्मादनिर्मोच्यान्यस्य यः प्रयच्छेत्स बध्यः । ऊनां चेत्षोडश सुवर्णान्दाप्यः ।
एकोऽभीयाद्यदुत्पन्नं नरः संवत्सरं फलम् ।
गोचर्ममात्रा सा क्षोणी स्तोका वा यदि वा बहुः ॥

---

१ ग. ज. °माधिको । २ क. °नाऽऽधिर्वृ° । ३ ग. छ. ज. °त् । मोहो° । ४ ग. °सारतः का° । ५ ग. छ. ज. आधिर्यो ध° ।

ययोर्निक्षिप्त आधिस्तौ विवदेतां यदा नरौ ।
यस्य भुक्तिर्जयस्तस्य बलात्कारविना कृता " ॥

यद्यसावाधिर्धनिना रक्ष्यमाणोऽप्यसारतामवलम्बते यात्येकया संवत्सरवृद्ध्या सहितं मूलधनमपाकर्तव्यम् । न शक्नोति चेत्तदाऽधमर्णेनान्य आधिराधेयः । धनं वा स्वप्रयुक्तं धनी लभते ॥ ६० ॥

आधिः प्रणश्येद्द्विगुणमित्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं सवृध्द्यादापयेद्धनम् ॥
सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्रधर्मः स एव बन्धकमाधिस्तेन यत्कृतमृणं तद्वृद्धिसहितमुत्तमर्णायाधमर्णो दापयेत् । न तत्राऽऽधिनाशोऽस्तीत्यभिप्रायः । तेन धनमप्रयच्छतोऽधमर्णस्य नास्त्यानृण्यांशता । इदमपाकर्तव्यमिति संविदं कृत्वा यद्द्रव्यं प्रथममर्प्यते तत्सत्यंकारकृतम् । तद्द्विगुणं विक्रेता स्वकीयदोषवशेन क्रयासिद्धौ क्रेत्रे दद्यात् । एतच्च प्रसङ्गादुक्तम् ॥ ६१ ॥

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याऽऽधिमाप्नुयात्॥६२॥

अधमर्णस्य धनप्रदानपूर्वकमाधिमोक्षायोद्यतस्योत्तमर्णेन धनमादायाऽऽधिः प्रत्यर्पणीयः, अन्यथोत्तमर्णश्चौरदण्डभाग्भवेत् । प्रयोजक उत्तमर्णः । तस्मिन्नसति मृते प्रोषिते वाऽधमर्णस्तदीयं धनं तत्कुटुम्बे न्यस्य निक्षिप्य स्वकीयमार्धि लभेत ॥ ६२ ॥

प्रकारान्तरमाह—

तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः ॥

तस्मिन्नृणापाकरणकाले कृतमूल्योऽवधारितमूल्यो वृद्धिरहित एवाऽऽधिः प्रयोक्तृकुले तिष्ठेत् । यावत्प्रयोक्तुरागमनम् । आगते च तस्मिन्नार्धिं तन्मूल्यं वाऽधमर्णो गृह्णीयात् । प्रोषितप्रयोक्तृविषयं चैतत् ॥

उत्तमर्णेन मूलधनं द्विगुणं फलभोग्याधेरुपजीव्याधमर्णाय स आधिः प्रत्यर्पणीय इत्यनन्तरं वक्ष्यति । तत्र विषये यद्यधमर्णस्तदीयो वा स्वजनः कोऽप्यसंनिहितो विद्यते तदोत्तमर्णेन साक्षिसमक्षं स आधिर्विक्रेतव्य इतीदानीमाह—

विना धारणकाद्याऽपि विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥६३॥

---

१ क. °रादेयः । २ क. छ. इदं मया क° । ३ क. °भोगानार्धे° ।

( उपनिधिप्रकरणम् ४ )

धारणकादधमर्णाद्विना तदसंनिधानादिति यावत् । वाशब्दस्तत्स्वजनासंनिधिसमुच्चयार्थः ॥ ६३ ॥

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ॥
मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानम् ॥ ३ ॥

यदा खलु मूलधनं द्विगुणीभूतं प्रत्याधिः क्रियते । तस्मात्फलभोग्यादाधेरुत्पन्नं धनं त्वया तावदुपजीव्यं यावन्मूलधनं द्विगुणमुपजीवितं भवति तदनन्तरमाधिर्मा प्रत्यर्पणीय इति यावत् । तदा तस्मिन्विषये तत आधेर्द्विगुणे धने प्रविष्टे सत्याधिरुत्तमर्णेनाधमर्णाय देयः । एवं च सति—

" आधिः प्रणश्येद्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते " ।

इत्यनेन वाक्येन यदा तु द्विगुणीभूतमित्यस्यैव विरोधो नैवाऽऽशङ्कनीयो भिन्नविषयत्वात् । तथा हि—द्विगुणे मूलधने प्रविष्ट आधिर्मोच्यत इति उत्तमर्णाधमर्णयोः संप्रतिपत्तिविषयं यदा तु द्विगुणीभूतमित्यादिकं वाक्यम् । प्रयुक्तस्य धनस्य प्रतिपादनावधि य आधिः कृतस्तद्विषयमाधिः प्रणश्येद्विगुण इत्यादिकम् । यदा तु द्विगुणीभूतमित्यादिवचनप्रतिपादित आधिः क्षयाधिरिति कथ्यते । स च ऋणव्यवहारारम्भे मध्ये वा कृतो भवत्येव क्षयावधिः । इति ऋणादानम् ॥ ६४ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के ऋणादानप्रकरणम् ॥ ३ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# उपनिधिप्रकरणम् । ( ४ )

अन्योन्यसंप्रतिपत्तिमात्रनिबन्धनत्वात्तस्य निक्षेपाख्यं विवादपदमुपक्रमते—

वासनस्थमनाख्याय हस्ते न्यस्य यदर्प्यते ॥
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

यत्र पात्रे हिरण्यादिकं निक्षिप्यते तद्वासनं तत्र व्यवस्थितं हिरण्यादि

---

१ ग. छ. ज. °धावसंनिधानादिभिर्याव°। २ ग. छ. ज. °मादौ त°। ३ ग. छ. ज. शोध्यः । ४ ग. छ. ज. आधिर्द्वि° । ५ क. °दि प्र° । ६ ग. छ. ज. °तिधाना° । ७ ग. छ. ज. °दिकः । य° । ८ क. °पाय आ° । ९ ग. छ. ज. °यादिरि° । १० ग. छ. ज. °याधिधिः ।

द्रव्यं स्वरूपसंख्यापरिमाणादि विशिष्टत्वेनाकथयित्वा परस्य हस्तादौ यद्-पर्प्यते तदौपनिधिकमिति वेदितव्यम्। उपनिधिरेवौपनिधिकम्। तत्तथैवाभिन्न-मुद्रमेव स्थापकाय प्रतिपादयेत्। अत्र नारदः—

"अन्यद्रव्यव्यवहितं द्रव्यमव्याकृतं च यत्।
निक्षिप्यते परगृहे तदौपनिधिकं स्मृतम्" ॥

तथा—"असंख्यातमविज्ञातं[3] समुद्रं यन्निधीयते।
तं जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः" ॥

बृहस्पतिः—"राजचौरारातिभयाद्दायादानां च वञ्चनात्।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासस्तत्परिकीर्तितम् ॥
अनाख्यातं व्यवहितमसंख्यातमदर्शितम्।
मुद्राङ्कितं च यद्दत्तं तदौपनिधिकं स्मृतम्" ॥

कात्यायनः—"क्रयः प्रोषितनिक्षिप्तं बन्धान्वाहितयाचितम्।
वैश्यवृत्त्यर्पितश्चैव सोऽर्थस्तूपनिधिः स्मृतः" ॥

क्रयः क्रयधनं, प्रोषितनिक्षिप्तमित्यत्र प्रोषितत्वग्रहणमुपलक्षणार्थम्। अन्यस्मै दातुं यदर्पितं तदन्वाहितम्। अलंकाराद्यर्थं परकीयमानीतं याचितम्। कुसी-दादिवैश्यवृत्तिः, तदर्थं यश्च परस्यार्पितोऽर्थः सोऽप्युपनिधिः।

नारदः—"स पुनर्द्विविधः प्रोक्तः साक्षिमानितरस्तथा।
प्रतिदानं तथैवास्य प्रत्ययः स्याद्विपर्यये" ॥

प्रत्ययो दिव्यम्।

बृहस्पतिः—"ददतो यद्भवेत्पुण्यं हेमकुप्याम्बरादिकम्।
तत्स्यात्पालयतो न्यासं तथा च शरणागतम् ॥
भर्तुर्द्रोहे यथा नार्याः पुंसः पुत्रसुहृद्वधे।
दोषो भवेत्तथा न्यासे भक्षितोपेक्षिते[5] नृणाम् ॥ ६५ ॥

प्रतिदेयं तथैव तदित्यस्यापवादमाह—

## न दाप्योऽपहृतं तत्तु राजदैविकतस्करैः ॥

तदौपनिधिकं द्रव्यं राजादिभिरपहृतं नाशितं वा तत्स्थापकायेतरो न दाप्यः। दैविकमग्न्यादिकार्यम्।

नारदः—"ग्रहीतुः सह योऽर्थेन नष्टो नष्टः[6] स दायिनः।
दैवराजकृते[7] तद्वन्न चेत्तज्जिह्मकारितम्" ॥

---

१ ग. छ. ज. °धिरिवौ°। २ क. °तिदापये°। ३ क. °ज्ञाय स°। ४ क. °क्षितो नृ°। ५ ग. छ. ज. °भिरुप°। ६ ग. छ. ज. नष्टं प्र°। ७ ग. छ. ज. कृतं त°।

( उपनिधिप्रकरणम् ४ )

जिह्मं कौटिल्यम् ।

कात्यायनः—" अराजदैविकेनापि निक्षिप्तं यत्र नाशितम् ।
ग्रहीतुः सह भाण्डेन दातुर्नष्टं तदुच्यते " ॥

मनुः—" चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव च ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन " ॥

तस्माद्धनाद्यदि स्तोकं स्वल्पमपि न संहरति न गृह्णातीत्यर्थः ।

कात्यायनः—" यस्य दोषेण यत्किंचिद्विनश्येत ह्रियेत वा ।
तद्द्रव्यं सोदयं दाप्यो दैवराजकृताद्विना " ॥

सोदयं सवृद्धिकम् ।

बृहस्पतिः—" भेदेनोपेक्षया न्यासं ग्रहीता यदि नाशयेत् ।
याच्यमानो न दद्याद्वा दाप्यस्तत्सोदयं भवेत् " ॥

***भ्रंशश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम्॥६६॥**

स्थापकेन मार्गिते याचित उपनिधावितरेणादत्ते यद्यपि दैवादिवशाद्भ्रंशो नाशो भवति तथाऽपि तत्समं धनं धनिने तत्सममेव च दण्डं राज्ञा दाप्यः ॥ ६६ ॥

**आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ॥**

स्वेच्छया स्थापकानुज्ञां विनोपनिधिमाजीवन्नुपजीवन्रक्षको राज्ञा दण्ड्यस्तं चार्थं स्थापकाय सोदयं दाप्यः। कात्यायनः—

" ग्राह्यस्तूपनिधिः काले कालहीनं तु वर्जयेत् ।
कालहीनं ददद्दण्डं द्विगुणं च प्रदाप्यते " ॥

यद्भयादुपनिधिर्निक्षिप्तस्तस्मिन्नतीते ग्राह्यो वर्तमाने तु तस्मिन्दानं कालहीनम् ॥

**याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपादिष्वयं विधिः ॥ ६७ ॥**

[ इत्युपनिधिप्रकरणम् ॥ ४ ॥ ]

अयं पूर्वोक्तो विधिर्याचितादिषु वेदितव्यः । याचितादिस्वरूपमुक्तम् ।

मनुः—" यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ दण्डं च तत्समम् " ॥

---

* भ्रेषश्चेदिति पाठः क. ङ. पुस्तकयोः ।

---

१ क. °दाय तु । यं° । २ क. °स्मिन्मानं ।

बृहस्पतिः—" गृहीत्वाऽपह्नुते यश्च साक्षिभिः शपथेन वा ।
विभाज्य दापयेन्न्यासं तत्समं विनयं तथा " ॥

मनुः—" निक्षेपो यत्कृतो येन यावान्वा कुलसंनिधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति " ॥

विब्रुवन्वितथं ब्रुवन् ।

" यो निक्षेपं याच्यमानं निक्षेप्त्रे न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसंनिधौ ॥
स यदि प्रतिपद्येत यथान्यैस्तं यथाऽऽकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥
तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
स्वयं निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा " ॥

तद्धिरण्यं तन्मूल्यं हिरण्यद्वयं द्विगुणं निगृह्य दण्डयित्वा दाप्यः ।

बृहस्पतिः—" रहो दत्ते निधौ यत्र विसंवादः प्रजायते ।
विभावकं तत्र दिव्यमुभयोरपि च स्मृतम् " ॥

उभयोर्मध्य एकस्येत्यर्थः ।

" अन्वाहिते याचितके शिल्पित्यागे सबन्धके ।
एष एवोदितो धर्मस्तथा च शरणागते " ॥

कात्यायनः—" यो याचितकमादाय नो दद्यात्प्रतियाचितः ।
स निगृह्य बलाद्दाप्यो दण्डेन च ददाति यः " ॥

निगृह्य बलादुपवासादि कारयित्वा स्थापकेन दाप्यो ग्राह्यः । एवमपि यो न ददाति स राज्ञा दण्ड्य इति । मत्स्यपुराणे—

" यो हि याचितमादाय न दद्याद्वितथं ब्रुवन् ।
स निगृह्य तथा दाप्यो दण्ड्यो वा पूर्वसाहसम् " ॥

वाशब्दः समुच्चये । भुक्तेः प्रामाण्यमुक्तं तत्प्रसङ्गादपि प्रतिभूप्रभृत्युक्तम् । इति निक्षेपप्रकरणम् ॥ ६७ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
उपनिधिप्रकरणम् ॥ ४ ॥]

---

१ क. स वाच्यः । २ क. °न्यस्तं तथाहतम् । न । ३ छ. ज. °थाकृतम् । न । ४ ग. छ. ज. °रतियु° । ५ ग. छ. ज. °त्र द्रव्य° । ६ क. दण्डं च न द° । ७ क. दण्डं ।

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## साक्षिप्रकरणम् । ( ५ )

अधुना *साक्षिणमाह—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ॥
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८ ॥
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ॥
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६९ ॥

तपः कृच्छ्रादि स्वधर्मवर्तित्वं वा, तद्वन्तः । दानशीलाः स्वभावाद्दातारः । कुलीनाः कल्याणवंशजाः । सत्यं यथादृष्टार्थवचनं तच्छीलाः सत्यवादिनः । धर्मप्रधाना धर्मविरुद्धार्थकामत्यागिनः । तथा श्रौतस्मार्तक्रियास्वनलसाः । त्र्यवरास्त्र्यवरसंख्याकाः। न्यूनसंख्याकाश्चेत्तदा त्रयो नातो न्यूना इत्यर्थः। एवंविधाः साक्षिणो वेदितव्याः । कर्तव्या इति तात्पर्यार्थः । ते च यथाजाति वादिप्रतिवादिजात्यनतिक्रमेण कार्याः । तज्जातीया एव कार्या इत्यर्थः । एतच्च वादिप्रतिवादिनोः सजातित्वे ज्ञेयम् । नानाजातित्वे तु यथावर्णं ब्राह्मणादिवर्णक्रमेणेत्यर्थः । सर्वे वा ब्राह्मणादयो वर्णाः सर्वेषु नानावर्णेषु व्यवहर्तृषु साक्षित्वेन ग्राह्याः । अत्र नारदः—

" समक्षदर्शनात्साक्षी विज्ञेयः श्रोत्रचक्षुषोः ।
श्रोत्रस्य यत्परो ब्रूते चक्षुषः कार्यकर्मकृत् " ॥

यत्परो व्यवहारसमर्पकं वाक्यं ब्रूते तद्विषयं समक्षदर्शनम् । श्रोत्रस्य श्रोत्रसंबन्धीत्यर्थः । एवं चक्षुषः समक्षदर्शनं व्यवहाररूपशरीरव्यापारविषयम् । मनुः—

" स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः " ॥

तथा—" गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थज्ञाः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि " ॥

* साक्षी स्थेयो विवादपदे निर्णेता प्रमाणभूतः पुरुषो मध्यस्थः प्राश्निकः । इति ज० पु टि० ।

१ ग. °भावदाता° । २ क. °दृष्टत्वं° ।

**नारदः**—" श्रेणिषु श्रेणिपुरुषाः स्वेषु वर्गेषु वर्गिणः ।
बहिर्वासिषु बाह्याः[1] स्युः स्त्रियः स्त्रीषु च साक्षिणः " ॥

**कात्यायनः**—" लिङ्गिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्व्रातास्तथा परे ।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद्गुरुः[2] ॥
दासचारणमल्लानां हस्त्यश्वायुधजीविनाम् ।
प्रत्येकैकं समूहानां नायका वर्गिणस्तथा ॥
तेषां वादः स्ववर्गेषु वर्गिणस्तेषु साक्षिणः ॥

**प्रजापतिः**—" साक्षी द्विभेदो विज्ञेयः कृत एकोऽपरोऽकृतः ।
लेख्यारूढः कृतो ज्ञेयो मुक्तकोऽकृत उच्यते " ॥

**नारदः**—" एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ।
कृतः पञ्चविधस्तेषां षड्विधोऽकृत उच्यते ॥
लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च ।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः[3] कृतः ॥
अकृतः षड्विधस्तेषां सूरिभिः परिकीर्तितः ।
त्रयः पुनरनिर्दिष्टाः साक्षिणः समुदाहृताः ॥
ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ।
कार्येष्वभ्यन्तरे यः स्यादर्थिना[4] प्रहितश्च यः ॥
कुल्याकुल्यविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः " ॥

**बृहस्पतिः**—" लिखितो लेखितो गूढः स्मारितः कुल्यदूतकौ[5] ।
*यदृच्छश्चोत्तरश्चैव कार्यमध्यगतोऽपरः ॥
नृपोऽध्यक्षस्तथा ग्रामः साक्षी द्वादशधा स्मृतः ।
प्रभेदमेषां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
जातिनामादिलिखितं येन स्वं पित्र्यमेव च ।
निवासश्च स विज्ञेयः साक्षी लिखितसंज्ञकः ॥
संवित्क्रियां[6] क्रियाभेदैः कार्यं कृत्वा ऋणादिकम् ।
प्रत्यक्षं लेख्यते यच्च लेखितः स उदाहृतः ॥

---

* एतदर्धस्थाने क. पुस्तकेऽयं पाठः—" यादृशश्चोत्तरश्चैव कार्यमध्यागतोऽपरः " इति ।

---

१ क. बाह्यस्थाः स्त्रि° । २ क. छ. °वीद्गुरुः । दा° । ३ क. °धः स्मृतः । ४ ग. ज. °र्थितः प्र° । ५ क. °दूषकौ । ६ क. °त्क्रियाक्रि° । ७ ग. ज. लेखिते यस्य लेखितं स ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

कुड्यव्यवहितो यस्तु श्रूयते ऋणभाषितम् ।
विनिह्नुतो यथाभूतं गूढः साक्षी स उच्यते ॥
आहूय यः कृतः साक्षी ऋणन्यासक्रियादिके ।
स्मार्यते च मुहुर्यश्च स्मारितः स उदाहृतः ॥
विभागदाने विपणे ज्ञातिर्यश्चोपयुज्यते ।
द्वयोः समानो धर्मज्ञः कुल्यः स परिकीर्तितः ॥
अर्थिप्रत्यर्थिवचनं शृणुयात्प्रेषितस्तु यः ।
उभयोः संमतः साधुर्दूतकः स उदाहृतः ॥
क्रियमाणे तु कर्तव्ये यः कश्चित्स्वयमागतः ।
अत्र साक्षी त्वमस्माकमुक्तो यादृच्छिकस्तु सः ॥
यत्र साक्षी दिशं गच्छेन्मुमूर्षुर्वा यथाक्रमम् ।
अन्यं संश्रावयेत्तं तु विद्यादुत्तरसाक्षिणम् ॥
उभाभ्यां यस्य विश्वस्तं कार्यं चापि निवेदितम् ।
गूढधारी स विज्ञेयः कार्यमध्यगतस्तथा ॥
अर्थिप्रत्यर्थिनोर्वाक्यं यच्छ्रुतं भूभृता स्वयम् ।
स एव तत्र साक्षी स्याद्विसंवादे द्वयोरपि ॥
निर्णीते व्यवहारे तु पुनर्न्यायो यदा भवेत् ।
अध्यक्षः सभ्यसहितः साक्षी स्यात्तत्र नान्यथा ॥
मुषितं घातितं यत्र सीमायाश्च समन्ततः ।
अर्थतोऽपि भवेत्साक्षी ग्रामस्तत्र न संशयः ॥

कात्यायनः—" अशक्य आगमो यत्र विदेशं प्रतिवादिनाम् ।
त्रैविद्यप्रहितं तत्र लेख्यसाक्ष्यं प्रवादयेत् " ॥

वादिनां व्यवहारिणां विदेशे विरुद्धदेश आगमनमागमोऽशक्यो यत्र तत्र त्रैविद्यैः सभ्यैः प्रहितं लेख्यमेव साक्षिणो वादयेत् । लेख्यार्थमवधार्य सभ्यप्रहितपुरुषसंनिधौ साक्षिणो ब्रूयुरित्यर्थः । इति साक्षिणः ॥६८॥६९॥

अथासाक्षिण आह—

**स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः ॥**

---

१ ग. छ. ज. श्राविते ऋणिभा° । २ ग. छ. ज. °हनुते; य° । ३ ग. °थैस्योप° । ४ क. °चेत्तु वि° । ५ क. °ढचारी । ६ ग. छ. ज. °वादी द्व° । ७ क. अक्षतो° । ८ क. °विध्यप्र° । ९ क. °विध्यैः स° । १० ग. छ. ज. सभ्यः प्र° ।

रङ्गावतारिपाषाण्डिकूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥ ७० ॥
पतिताप्तार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः ॥
साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूतश्चेत्यसाक्षिणः ॥ ७१ ॥

स्त्रीबालाद्या असाक्षिणः । एषामविहितत्वादेवासाक्षित्वे प्राप्ते यद्वचनं तद्विहितसाक्ष्यलाभे प्रतिषिद्धव्यतिरिक्तानां साक्षित्वज्ञापनार्थम् । अभिशस्तः पापकारित्वेनाऽऽक्षिप्तः । रङ्गावतारी नटादिः । पाषाण्डी अवेदमूलस्मृत्यनुष्ठाता । कूटकृत्कूटमानादिकर्ता । आप्तो ब्राह्मयौनसंबन्धी । साहसी हठकारी । दृष्टदोषः स्तेनादिः । निर्धूतः शिष्टैर्गर्हितः । प्रसिद्धमन्यत् । नारदः—

" असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः ।
वचनाद्दोषतो भेदात्स्वयमुक्तिर्मृतान्तरः ॥
श्रोत्रियाद्या वचनतः स्तेनाद्या दोषदर्शनात् ।
भेदाद्विप्रतिपत्तिः स्याद्विवादे साक्षिणां यतेः ॥
स्वयमुक्तिस्त्वनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो[3] वदेत् ।
मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुः श्राविताद्दते ॥
श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रा(व्र)जिता नराः ।
असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥
स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा बान्धवास्तथा ।
असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते " ॥

तापसा वानप्रस्थाः ।

" दासनैकृतिकाशुद्धवृद्धस्त्रीबालचाक्रिकाः ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तकितवग्रामयाजकाः " ॥

नैकृतिकश्छाम्भिकः । चाक्रिकः कुलालः ।

" महाँपथिकसामुद्रवणिक्प्रव्रजितौतुराः ।
युग्मैकश्रोत्रियाचारहीनक्लीबकुशीलवाः ॥
नास्तिकव्रात्यदाराग्नित्यागिनोऽयाज्ययाजकाः ।
एकस्थानि सहायानि चारज्ञातिसनाभयः ॥
प्राग्दृष्टदोषशैलूषविषजीव्याहितुण्डकाः ।
गरदाग्निदकीनाशशूद्रापत्यौपपाँतिकाः ॥

---

१ ग. °धूताद्यास्त्वसा° । २ ग. ज. ततः । ३ ग. ज. यो भवेत् । मृ. । ४ ग. छ. ज. हापार्थि° । ५ क. °तान्तराः । ६ ज. °पपत्तिकाः ।

क्लान्तसाहसिकश्रान्तनिर्धूतान्त्यावसायिनः " ।

**अन्त्यावसायिनः प्रतिलोमजाः ।**

" भिन्नवृत्ताः समावृत्तजंडतैलिकपौपिकाः " ।

**पौपिकः पक्वविक्रेता ।**

" भूताविष्टनृपद्विष्टवर्षनक्षत्रसूचकाः ।
अघशंस्यात्मविक्रेतृहीनाङ्गबक(भग)वृत्तयः ॥
कुनखश्यावदच्छित्रिमित्रध्रुक्शठशौण्डिकाः ।
ऐन्द्रजालिकलुब्धोग्रश्रेणीगणविरोधिनैः ॥
वधकश्चित्रकृन्नग्नः पतितः कूटकारकः ।
कुहकः प्रत्यवसितस्तस्करो राजपूरुषः ॥
मनुष्यविषमांसास्थिमधुक्षीराम्बुसर्पिषाम् ।
विक्रेता ब्राह्मणश्चैव द्विजो वार्धुषिकश्च यः ॥
च्युतः स्वधर्मात्कुलिकः सूचको हीनसेवकः ।
पित्रा विवदमानश्च भेदकृच्चैत्यसाक्षिणः ॥
श्रेण्यादिषु तु वर्गेषु कश्चिच्चेद्वैष्यतामियात् ।
तस्य तैश्च न साक्ष्यं स्याद्वैष्टारः सर्व एव ते " ॥

**सामुद्रवणिक्समुद्रयायी । आतुरो मुमूर्षुः । युग्मौ द्वौ । एकः प्रसिद्धः । क्लीबः षण्ढो निरुत्साहो वा । कुशीलवो नर्तकः । शैलूषो नटः । विषजीवी विषक्रयी । अहितुण्डको व्यालग्राही । गरदो विषदः । कीनाशो हालिकः । क्लान्तः खिन्नः । निर्धूतो बहिष्कृतः । अन्त्यावसायी प्रतिलोमजः । भिन्नवृत्तो दुराचारः । पौपिकः सूपादिविक्रयी । अघशंसी अभिशापकृत् । भगवृत्तिः स्ववृत्तये भार्यायां वेश्यात्वकारी । शौण्डिकः सुराविक्रयी ।**

**कात्यायनः**—" तद्वृत्तिजीविनो ये च तत्सेवाहितकारिणः ।
तद्बन्धुसुहृदो भृत्या आप्तास्ते तु न साक्षिणः ॥
मातृष्वसृसुताश्चैव विवाह्यो भगिनीपतिः ।
पिता बन्धुः पितृव्यश्च *सोदर्यासुतमातुलाः ॥

---

। * इत आरभ्य पितृव्यश्चेत्यन्तग्रन्थः क. पुस्तके न विद्यते ।

---

१ ग. छ. ज. 'वृत्तासमावृत्ता ज' । २ ग. ज. 'जण्डतै' । ३ ग. छ. ज. °नः । विध' । ४ ग. छ. ज. विवर्धमा' । ५ ज. 'खेदसा' । ६ ज. बकवृत्तिः । ७ छ. ज. भार्यया ।

एते सनाभयः प्रोक्ताः साक्ष्यं तेषु न योजयेत् ।
कुल्याः संबन्धिनश्चैव विवाह्यो भगिनीपतिः ॥
पिता बन्धुः पितृव्यश्च श्वशुरो गुरवस्तथा ।
नगरग्रामदेशेषु नियुक्ता ये पदेषु च ॥
वल्लभाश्च न पृच्छेयुर्भक्तास्ते राजपूरुषाः " ।

तथा—" साक्षिणां लिखितानां तु निर्दिष्टानां तु वादिना ।
तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात्सर्वे न साक्षिणः ॥

तथा—" अन्येन हि कृतः साक्षी नैवान्यस्तं विवादयेत् ।
तदभावे नियुक्तो वा बान्धवो वा विवादयेत् " ॥

इत्यसाक्षिणः ॥ ७० ॥ ७१ ॥

## उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ॥

यस्तूभाभ्यामर्थिप्रत्यर्थिभ्यामनुमतोऽनुज्ञातः स चेद्धर्मविदेकोऽपि साक्षी भवति । उभयानुमताभावे तूक्तलक्षणास्त्र्यवरा एव साक्षिणो भवन्ति ॥

## सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणं पारदार्यम् । चौर्यं प्रसिद्धम् । पारुष्यं वाक्पारुष्यं दण्डपारुष्यं च । साहसमाह मनुः—

" मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्षण(र्शन)म् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं तु चतुर्विधम् " ॥

चौर्यपारुष्यसाहस इत्यत्र साहसशब्देन मनुष्यमारणमेव विवक्षितं, न चौर्यादिकं, तस्य स्वशब्देनैवोक्तत्वात् । साहसशब्दश्च न चौर्यादिमात्रवाचकः, किं तु तद्विशेषस्य । यदाह नारदः—

" सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः ।
तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते " इति ॥

तेन साहसरूपेष्वपि चौर्यादिषु सर्वस्य साक्षित्वविधानार्थं साहसचौर्यादीनां पृथग्ग्रहणम् । सर्वः साक्षी न तु गुणवानेवेत्यर्थः । दोषवांस्तत्रापि परिहरणीय एव, वक्तृदोषाणां वचन(ना)प्रामाण्यहेतुत्वात् । कात्यायनः—

" व्याघातेषु नृपाज्ञायाः संग्रहे साहसेषु च ।
स्तेयपारुष्ययोश्चैव न परीक्षेत साक्षिणः " ॥

---

१ क. °दे पदे । ख° ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

नृपाज्ञाया व्याघातेषु भङ्गेष्वित्यर्थः ।

" अन्तर्वेश्मनि रात्रौ च बहिर्ग्रामाच्च यद्भवेत् ।
एतेष्वेवाभियोगश्चेन्न परीक्षेत साक्षिणः " ॥

मनुः—" अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि वाऽत्यये ॥
स्त्रियोऽ(याऽ)प्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा " ॥

अनुभावी साक्षाद्द्रष्टा । स्त्रीप्रभृतीनां दुष्टाशयत्वादिदोषरहितानामेव साक्षित्वमत्र वेदितव्यम् ।

उशना—" दासोऽन्धो बधिरः कुष्ठी स्त्रीबालस्थविरादयः ।
एतेऽप्यनभिसंबद्धाः साहसे साक्षिणो मताः " ॥

अनभिसंबद्धा मित्रारिभावरहिता इत्यर्थः ।

" असाक्षिणो ये निर्दिष्टा दासनैकृतिकादयः ।
कार्यगौरवमाश्रित्य भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥
तेषामपि न बालः स्यान्नैको न स्त्री न कूटकृत् ।
न बान्धवो न चारातिर्ब्रूयुस्ते साक्ष्यमन्यथा ॥
बालोऽज्ञानादसत्यात्स्त्री पापाभ्यासाच्च कूटकृत् ।
विब्रूयुर्बान्धवाः स्नेहाद्वैरनिर्यातनादरिः " ॥

एवं च सति वचनाप्रामाण्यकारणीभूतानां दोषाणां सद्भाव एव हेयाः । तदभावे तु निश्चिते बालादयोऽप्युपादेया इति बालादीनां साक्षित्वविधायकेन वचनेनाविरोधः ।

" साक्षिणो हि समुद्दिष्टाः सत्स्वदोषेषु दूषयेत् ।
अदुष्टान्दूषयन्वादी तत्समं दण्डमर्हति " ॥

तत्समो दुष्टसाक्षिदण्डसमः ।

कात्यायनः—" नातथ्येन प्रमाणं तु दोषैर्नैव तु दूषयेत् ।
मिथ्याभियोगे दण्डः स्यात्साध्यार्थाच्चाभिहीयते ॥
प्रमाणस्य हि ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना ।
गूढास्तु प्रकटाः सभ्यैः काले शास्त्रप्रदर्शनात् " ॥

---

१ ग. घ. छ. °त्राभा° ।

प्रमाणस्य प्रमाणबुद्ध्या प्रयुक्तस्य गूढा दोषा विवादिना वक्तव्याः, प्रकटास्तु सभ्यैरित्यन्वयः । प्रमाणदोषोद्भावनकालमाह बृहस्पतिः—

" लेख्यदोषास्तु ये केचित्साक्षिणां चैव ये स्मृताः ।
वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुक्तान्न दूषयेत् " ॥

व्यासः—"समासदां प्रसिद्धं यल्लोकसिद्धमथापि वा ।
साक्षिणां दूषणं ग्राह्यमसाध्यं दोषवर्जनात् " ॥

असाध्यमसाध्यनिराकरणं, दोषवर्जनात् । सभ्यप्रसिद्धस्य लोकप्रसिद्धस्य च दोषरहितत्वादित्यर्थः ।

" अन्यैस्तु साक्षिभिः साध्ये दूषणे पूर्वसाक्षिणाम् ।
अनवस्था भवेद्दोषस्तेषामप्यन्यसंभवात् " ॥

बृहस्पतिः—" लेख्यं वा साक्षिणो वाऽपि विवादे यस्य दूषिताः ।
तस्य कार्यं न शोध्यं तु यावत्तन्न विशोधयेत् ॥
साक्षिसंदूषणे कार्यं पूर्वं साक्षिविशोधनम् ।
शुद्धेषु साक्षिषु ततः पश्चात्कार्यं विशोधयेत् " ।

व्यासः—" साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदि प्रतिवादिना ।
पत्रेऽभिलिखितान्सर्वान्वाच्याः प्रत्युत्तरं च ते ॥
प्रतिपत्तौ न साक्षित्वमर्हन्ति तु कदाचन ।
अतोऽन्यथा भावनीयाः क्रियया प्रतिवादिना ॥
असाधयन्स(न्द)मं दाप्यः प्रत्यर्थी साक्षिणः स्फुटम् ।
भाविताः साक्षिणो वर्ज्याः साक्षिधर्मान्निराकृताः ॥
जितः सविनयं दाप्यः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
यदि वादी निराकाङ्क्षः साक्षिसत्ये व्यवस्थितः " ॥

असाधयन्दमं दाप्य इति साक्षिणोऽसाधयन्दोषमनङ्गीकारयन्प्रत्यर्थी दण्डं दाप्यः । भाविता अङ्गीकारितदोषाः साक्षिणो वर्ज्याः । एवं सति प्रतिवादी प्रमाणान्तरं प्रति निराकाङ्क्षस्तदाऽसौ जितो दण्ड्यः । कात्यायनः—

" येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टाः कूटसाक्षिणः ।
गृहीत्वा तस्य सर्वस्वं कुर्यान्निर्विषयं ततः ॥

---

१ क. सम्यक्प्रसिद्धस्य लो° । २ छ. °लिख्य ता° । ३ ग घ. छ. °साद्य° । ४ ग. घ. ज. °साद्य° । ५ क. °यन्समं ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

उक्तेऽर्थे साक्षिणो यस्तु दूषयेत्प्रागदूषितान् ।
न च तत्कारणं ब्रूयात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् " ॥ ७२ ॥

साक्षिश्रवणविधिमाह—

**साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ॥**

अर्थिप्रत्यर्थिनोः संनिधौ साक्षिणः प्राड्विवाकः श्रावयेत् ।

मनुः—" देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेद्दतं द्विजः ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वा शुचिः शुचीन् " ॥

किं श्रावयेदित्यपेक्षित आह—

**ये च पातकिनां लोका महापातकिनां तथा ॥७३॥**
**अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ॥**
**तान्सर्वान्समवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ७४ ॥**
**सुकृतं यत्त्वया किंचिज्जन्मान्तरशतैः कृतम् ॥**
**तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥७५ ॥**

निगदव्याख्यातमेतत् । अत्र यद्यपि मिथ्यावादिनः साक्षिणो जन्मशतसंचितं सुकृतं पराजितस्य व्यवहारिणो भवतीत्यापाततः प्रतीयते तथाऽपि तन्न तथा ग्राह्यम् । कर्तृगामिफलप्रदं हि धर्ममग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादीनि श्रुतिवचनानि बोधयन्तीति तद्विरोधपरिहारार्थं साक्षिणामुत्थाप(त्रास)नायैव सुकृतं यत्त्वया किंचिदित्याद्युच्यते । अत एव नारदः—

" पुराणैर्धर्मवचनैः सम्यमाहात्म्यकीर्तनैः ।
अनृतस्यापवादैश्च भृशमुत्रासयेदपि "

इतीदमुक्तवान् । यानि पुनः श्रुतिभ्योऽविरुद्धानि तानि यथार्थान्येव स्मृतिवचनानि । तथाऽऽह नारद एव—

" अवीचिनरके कल्पं वसेयुः कूटसाक्षिणः " ।

बृहस्पतिः—" कूटसत्यः कूटसाक्षी ब्रह्महा च समः स्मृतः " ॥

इत्यादीनि । अत एव प्रायश्चित्तप्रकरणे—

" उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् " ।

---

१ ग. साहसः श्रा° । २ क वृथा । ३ क. °ख्यानमे° । ४ ग. घ. °लमिदं हि । ५ ग. घ. °यादृर्मका° । ६ क. °मुत्सादये° । ७ क. °न् । यदि पुनः श्रुतिवि° । ८ ग. °नात् । य° ।

इत्यत्र ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कूटसाक्षिणां मनुर्विदधाति । शूद्रान्साक्षिणः प्रत्येवैतद्दूषणं[2] न द्विजान्प्रति । अत आह मनुः—

" ब्रूहीति ब्राह्मणं ब्रूयात्सत्यं ब्रूहीति भूमिपम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रमेभिस्तु पातकैः ॥
ब्रह्मघ्नां ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्वदतो मृषा ॥
जन्मप्रभृति यत्किंचित्पुण्यं भद्रं[3] त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यदि कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितः[4] स ह्रद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥
यमो वैवस्वतो देवस्तवैष हृदये स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्गमः ॥
नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुगृहं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥
अर्वा(वा)क्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥
यस्य विद्वान्हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥
यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्यनृतं वदन् ।
तावतः संख्यया तस्मिञ्शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेत् ॥
एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतवादिनः ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सत्यमेवाञ्जसा वद ॥
गोरक्षकान्वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत् " ॥

नारदः—" आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम् ।
समस्तान्विदिताचारान्विज्ञातार्थान्पृथक्पृथक् " ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °द्रासाक्षि° । २ ग. घ. ज. °णं द्वि° । ३ ग. छ. ज. भद्र । ४ ज. °तः सुहृद्देशपु° । ५ क. घ. छ. वदेः । ए° ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

**तथा**—" सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥
यद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥
सत्यं साक्ष्ये वदन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥
साक्ष्येऽनृतं वदन्साक्षी पाशैर्बध्येत दारुणैः ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्ये वदेदृतम् ॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी ह्यात्मैव गतिरात्मनः ।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांश्च देवाः प्रपश्यन्ति स्वश्चैवान्तरपूरुषः ॥
द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् " ॥

**बृहस्पतिः**—" कूटसभ्यः कूटसाक्षी ब्रह्महा च समाः स्मृताः ।
भ्रूणहा मित्रहा चैषां नाधिकः समुदाहृतः " ॥

**नारदः**—" पितरस्तेऽवलम्बन्ते त्वयि साक्षित्वमागते ।
तारयिष्यति किं न्वस्मान्किं न्वस्मान्पातयिष्यति " ॥

**कात्यायनः**—" सभान्तस्थैस्तु वक्तव्यं साक्ष्यं नान्यत्र साक्षिभिः ।
सर्वसाक्ष्येष्वयं धर्मोऽन्यत्र स्यात्स्थावरेषु तु " ॥

**बृहस्पतिः**—" विहायोपानदुष्णीषं दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ।
हिरण्यं गोशकृद्भान्समादाय ऋतं वदेत् " ॥

**कात्यायनः**—" समवेतैस्तु यद्दृष्टं वक्तव्यं तत्तथैव तु ।
विभिन्नैकैककार्यं यद्वक्तव्यं तत्पृथक्पृथक् ॥
भिन्नकाले तु यत्कार्यं विज्ञातं तत्र साक्षिभिः ।
एकैकं वादयेत्तत्र भिन्नकालं तु तद्गुरुः ॥
स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यद्दोषवर्जितम् ।
उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ॥
उपस्थितान्परीक्ष्याथ साक्षिणो नृपतिः स्वयम् ।
साक्षिभिर्व्याहृतं वाक्यं सह सभ्यैः परीक्षयेत् ।

---

१ घ. ज. व्यथाः । २ ग. घ. छ. 'स्मान्किंन्वस्मात्पात' । ३ क. उक्तास्तु सा' ।

यदा शुद्धैक्रिया न्यायात्तदा तद्वाक्यशोधनम् ॥
शुद्धाद्वाक्याच्च यः शुद्धः स शुद्धोऽर्थोऽन्यथा न तु " ।

क्रिया लिखितादि प्रमाणम् । शुद्धिर्दोषगणादर्शनम् ।

नारदः—" पुरुषाः सन्ति ये लोभाद्विब्रूयुः साक्ष्यमन्यथा ।
सन्ति वाऽन्ये दुरात्मानः कूटलेख्यकृतो नराः ॥
अतः परीक्ष्यमुभयमेतद्राज्ञा विशेषतः ।
लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः " ॥

कूटाकूटविवेको धर्म आचारः ।

बृहस्पतिः—" उपस्थिताः परीक्ष्याः स्युः स्वरवर्णेङ्गितादिभिः " ।

नारदः—" यस्त्वात्मदोषदुष्टत्वाद्[1]स्वस्थ इव लक्ष्यते ।
स्थानात्स्थानान्तरं गच्छेदेकैकं चानुधावति[2] ॥
कासत्यकस्माच्च भृशमभीक्ष्णं निःश्वसत्यपि ।
विलिखत्यवनिं पद्भ्यां बहु वासश्च धूनयेत्[3] ॥
भिद्यते मुखवर्णोऽस्य ललाटं स्विद्यते तथा ।
शोषमागच्छतश्चौष्ठावूर्ध्वं तिर्यक्च वीक्षते ॥
त्वरमाण इवात्यर्थमपृष्टो बहु भाषते ।
कूटसाक्षी स विज्ञेयस्तं पापं विनयेद्[4]दृशम्" ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

यथाविधि चोदितोऽपि यो न ब्रूते तं प्रत्याह—

**अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम् ॥**
**राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः षट्चत्वारिंशत्तमेऽहनि ॥ ७६ ॥**

योऽभ्युपेत्य साक्षित्वं यथाविधि च पृष्टः सन्नपि साक्षिवाच्यं न ब्रूते तदाऽसौ दशबन्धसहितं सर्वं सवृद्धिकमृणं राज्ञा दाप्यः । अत्र च दशबन्धो राज्ञा ग्राह्यो दण्डत्वात् । ऋणं तूत्तमर्णेन, ऋणत्वादेव । अब्रुवता साक्षिणाऽधमर्णदेयं दातव्यमित्येतावदत्र वाक्ये विधीयते । षट्चत्वारिंशत्तमेऽहनीति वचनादतः प्राग्ब्रुवतो न दोषः ।

बृहस्पतिः—" आहूतो यत्र नाऽऽगच्छेत्साक्षी रोगविवर्जितः ।
ऋणं दमं च दाप्यः स्यात्रिपक्षात्परतस्तु सः " ॥

रोगविवर्जितग्रहणं सामर्थ्योपलक्षणार्थम् । ऋणादिव्यवहारविषयमेतत् । तदाह मनुः—

---

१ क. शुद्धा क्रि° । २ क. ज. न्याय्यात्तदा । ३ क. °त्वान्मध्यस्थ । ४ क. °नुगच्छति । ५ ग. छ. पूनयेत् । ६ क. °क्षिवचनं न ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

" त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वशः " इति ॥ ७६ ॥

ऋणादिव्यतिरिक्तविषये पुनरन्यथा दण्डमाह—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ॥
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७७ ॥

सत्यासत्यतां व्यवहारे जानन्नपि यो नराधमोऽतिक्रान्तविधिनिषेधः साक्ष्यं विवादनिवर्तकं सत्यवचनं न ददाति न प्रयुङ्क्ते। सत्यवचनप्रयोगः स्वस्य परस्य चोपकारक इति दानतुल्यस्तस्माददातिना व्यपदिश्यते । स मृषावादिसाक्षिणां पापैर्ब्रह्महत्यासाम्याद्युपलक्षितैर्वक्ष्यमाणेन च दण्डेन तुल्यो वेदितव्यः । अत्र कात्यायनः—

" साक्षी साक्ष्यं न चेद्ब्रूयात्समदण्डं वहेदृणम् ।
अतोऽन्येषु विवादेषु त्रिशतं दममर्हति " ॥

त्रिभिः शतं कार्षापणानाम् ।

विष्णुः—" पारयन्तोऽपि ये साक्ष्यं तूष्णींभूता उपासते ।
ते कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्या दण्डेन चैव हि " ॥

कात्यायनः—" सम्यक्क्रियापरिज्ञाने देयः कालस्तु साक्षिणाम् ।
संदिग्धं यत्र साक्ष्यं स्यात्सद्यःपृष्टं विवादयेत् " ॥ ७७ ॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ सत्यां यत्कार्यं तदाह—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ॥
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ सत्यां बहूनां वचनं प्रमाणतया ग्राह्यम् । अत्र वक्तृभूयस्त्वमेव वचनप्रामाण्यकारणमुक्तम् । संख्यासाम्ये तु ये तपःप्रभृतिगुणवन्तस्तद्वचनं प्रमाणत्वेन ग्राह्यम् । गुणिनां विमतौ तु येऽतिशयेन गुणवन्तस्तद्वचनम् । गुणानामतिशयो भूयस्त्वं पाटवं वा । अत्र मनुविष्णू—

" बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु च गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् " ॥

नारदः—" साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं बहवो मताः ।
तत्साम्ये शुचयो ग्राह्यास्तत्साम्ये शुचिमत्तरः " ॥

---

१ क. घ. छ. ज. °षु द्विश° । २ ग. घ. छ. ज. °णवित्त° ।

यत्तु नारदेनोक्तम्—" राज्ञा परिगृहीतेषु साक्षिष्वेकार्थनिर्णये ।
वचनं यत्र भिद्येत ते स्युर्भेदादसाक्षिणः "

इति, तत्संख्यातो गुणतश्च साम्ये सति वेदितव्यम् । न हि तत्र श्रोतृणां संशयनिवृत्तिरस्ति ॥ ७८ ॥

**यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् ॥**
**अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ॥ ७९ ॥**

साध्यार्थनिर्देशः प्रतिज्ञा । तत्र प्रथमवादिनः सा तावद्भवति । प्रत्यवस्कन्दप्राङ्न्यायोत्तरयोरपि साध्यविषयत्वात्प्रतिज्ञाशब्देन परिग्रहः । तेन यस्य वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतिज्ञां साक्षिणः सत्यामाहुः स जयी भवति, यस्य तु मिथ्याभूतामाहुः स ध्रुवं पराजयी न पुनरर्थापत्तिगम्यः । एकस्य तु जयित्वे द्वितीयस्य पराजयो न साक्षिवचनात्साक्षाद्गम्यते किं त्वर्थात् । अत्र बृहस्पतिः—

" यस्याशेषः प्रतिज्ञार्थः साक्षिभिः प्रतिवर्णितः ।
स जयी स्यादन्यथा तु साध्यार्थं न समाप्नुयात् ॥
पूर्वपक्षे प्रतिज्ञातमशेषं प्रतिभावयेत् ।
ऊनाधिकं तु यत्रोक्तं न तन्निगदितं भवेत् " ॥

पूर्वपक्षग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । निगदितं विनिर्णीतम् ।

" देशं कालं दिनं संख्यां रूपं जात्याकृती वयः ।
विसंवदेद्यत्र साक्ष्ये तदनुक्तं विदुर्बुधाः ॥
ऋणादिषु विवादेषु स्थिरप्रायेषु निश्चितम् ।
ऊने वाऽप्यधिके वार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिध्यति ॥
ऊनाधिकं तु यत्र स्यात्साक्ष्यं तत्र विवर्जयेत् ।
साक्षी तत्र न दण्ड्यः स्यादब्रुवन्दण्डमर्हति ॥
साध्यैकांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत् ।
स्त्रीसङ्गे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकल्पितम् " ॥ ७९ ॥

साक्षिवचनप्रामाण्यभेदहेतुमाह—

**उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः ॥**
**द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः[1] कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥८०॥**

---

१ क. साक्षी । २ क. घ. छ. 'युः पूर्वे स्युः कूटसा' ।

( साक्षिप्रकरणम् ५ )

वादिना प्रतिवादिना वा निर्दिष्टैः साक्षिभिरुक्तेऽपि वाक्ये प्रतियोगनिर्दिष्टाः पूर्वसाक्षिभ्यो बलवत्तमा द्वैगुण्येन वा भूयांस उक्तमेवार्थमन्यथा ब्रूयुस्तदा पूर्वसाक्षिणः कूटा मिथ्यावादिनः स्युः। तथा च कात्यायनः—

" यत्रैव भावितं कार्यं साक्षिभिर्वादिनो भवेत् ।
प्रतिवादी तदा तत्र भावयेत्कार्यमन्यथा ॥
बहुभिस्तत्कुलीनैर्वा कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः " ।

कुलीनग्रहणं गुणातिशयोपलक्षणार्थम्। ननु चैकस्मिन्व्यवहारे वादिप्रतिवादिनोः कथं साक्षिसंबन्धः, उक्तं हि—

" सा चैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः ।
न चार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् " इति ॥

सत्यं, तुल्यवदुभयोर्नास्ति क्रियाप्राप्तिः । यदा यस्य क्रिया शास्त्रतः प्राप्ता तदा तस्य तां मिथ्याभूतां विदित्वा तस्या मिथ्यात्वख्यापनाय साक्ष्यन्तरमुपन्यसनीयमित्येतेनोच्यते । अत्र च स्मृत्यन्तरोक्तविशेषः—

" तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः ।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् " इति ॥

अधर्म एव विधर्मस्तस्माद्विधर्मतः । एतत्तीरितं लिखितम् । अनुशिष्टं साक्षिवचनं च यो मन्येत स द्विगुणं दण्डमुद्धृत्य तत्कार्यं तं व्यवहारं पुनः साक्ष्यन्तरैरुद्धरेदित्यर्थः । यत्तु व्यासेनोक्तम्—

" अन्यैस्तु साक्षिभिः साध्ये दूषणे पूर्वसाक्षिणाम् ।
अनवस्था भवेद्दोषस्तेषामप्यन्यसंभवात् "

इति, तत्साक्षिदूषणमेवान्यैः साक्षिभिर्न कार्यमित्येवमर्थम् । अनवस्थाप्रसङ्गश्च साक्षिणां साम्ये सति भवति, न पुनः संख्यादिवैषम्ये । यत्तु नारदेनोक्तम्—

" निर्णीते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं परम् ।
लिखितं साक्षिणो वाऽपि न चेत्पूर्वं निवेदितम् "

[इति,] तद्वादिनः प्रतिवादिनो वा जयपराजयावधारणरूपव्यवहारनिर्णेजने सति पूर्वोपन्यस्तात्प्रमाणात्प्रमाणान्तरस्य पूर्वमुपन्यस्तस्य प्रतिपादनमफलमित्याचष्टे, न पुनः प्रागपि निर्णेजनात् ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिदण्डमाह—

**पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा ॥**
**विवादाद्द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः॥८१॥**

उत्कोचादिना साक्षिणः कूटान्करोति यो वा कूटं लिखितं करोति स कूटकृत् । स च कूटसाक्षिणश्च विवादविषयीभूताद्धनाद्द्विगुणं दण्डं पृथक्पृथक्प्रत्येकं दण्डनीयाः । ब्राह्मणस्तु न दण्डनीयः किंतु देशान्निर्वासनीयः । एतच्च दण्डविधानं कूटकृत्प्रभृतीनां स्वल्पापराधेऽनभ्यासे च वेदितव्यम् ।

मनुः—" लोभात्सहस्रं दण्ड्यः स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयादौ मध्यमो दण्डो मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव च " ॥

कार्षापणसंख्याश्चैताः । कश्चिन्मन्यते द्विविधं कूटसाक्षित्वं लोभादिनिमित्तकं तद्विपरीतं चेति । तत्र लोभादिनिमित्तके कूटसाक्षित्वे मानवो दण्डविधिः । इतरत्र तु याज्ञवल्कीय इति, तदसत् । लोभादिनिमित्तकमेव कूटसाक्षित्वम् । तदाह मनुः—

" लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते " इति ॥

तस्मादुक्तैव व्यवस्था न्याय्या । लोभोऽर्थपरत्वं, मोहो भ्रमः । अज्ञानं किंचिज्ज्ञता, बालभावोऽपरिणतत्वम् । तथा द्रव्यविशेषप्रतिबद्धं दोषस्य गौरवं लाघवं च दृष्ट्वा दण्डेऽपि तथात्वं कल्पनीयमिति । तदुक्तं मनुना—" पञ्च पश्वनृते हन्ति " इत्यादिना ।

तथा—" कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्पालको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् " ॥

त्रीन्वर्णान्क्षत्रियादीन्दण्डयित्वा देशान्निर्वासयेत् । ब्राह्मणं तु न दण्डयेत्, किंतु विवासयेदेव । अभ्यासे विषयगौरवे वा विप्रोऽपि दण्ड्यः ।

विष्णुः—" कूटसाक्षिणो सर्वस्वापहारः कार्यः " । भूम्यनृतविषयमेतत् ।

नारदः—" यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगाग्निज्ञातिमरणभूगं दाप्यो दमं च सः ॥
येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टाः कूटसाक्षिणः ।
गृहीत्वा तस्य सर्वस्वं कुर्यान्निर्विषयं ततः " ॥ ८१ ॥

**यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः ॥**

---

१ ग. घ. ज. °षपरिव° । २ क. दण्ड्येऽपि । ३ क. °र्णान्धार्मिको । ४ ग. छ. °वे वाऽपि वि° । ५ ग. घ. ज. धनं ।

**स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥८२॥**

यस्तमोवृतस्तामसः सभ्यैर्यथाविधि साक्षिप्रश्नवाक्यं श्रावितः सन्वादकालेऽन्येभ्यः साक्षिभ्यः स्वकीयं साक्ष्यं साक्षित्वं निह्नुते—नाहमत्र साक्षी भवामीत्यपलपति, स साक्षिदण्डमष्टगुणं दाप्यः । स्वकीयसाक्षित्वापह्नवमन्यान्साक्षिणो ज्ञापयतीति अन्येभ्य इति चतुर्थ्या अर्थः । स्वयं तावत्साक्षित्वापह्नवं करोति, परांश्च कारयितुमिच्छतीत्यतिदुष्टत्वादष्टगुणं दण्डं दाप्यः । ब्राह्मणश्चेदेवंविधस्तं स्वदेशाद्विवासयेन्निर्वासयेन्न तु दण्डयेत् । श्रावित इति वचनादङ्गीकृतसाक्षिभावोऽसाविति गम्यते ।

नारदः—" श्रावयित्वा तथाऽन्येभ्यः साक्षित्वं यो विनिह्नुते ।
स विनेयो भृशतरं कूटसाक्ष्यधिको हि सः " ॥ ८२ ॥

साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यमित्यस्य क्वचिद्विषयेऽपवादमाह—

**वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ॥**
**तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ ८३ ॥**

इति साक्षिप्रकरणम् ॥ ५ ॥

यत्र सत्ये कथ्यमाने ब्राह्मणादीनां वधो मारणं प्रसज्यते तत्रानृतं साक्षी ब्रूयात् । तत्पावनाय तद्दोषनिर्हरणाय सरस्वतीदैवत्यश्चरुर्निर्वाप्यो द्विजातिभिर्न तु शूद्रेण । ब्राह्मणस्य यद्यपि वधः प्रतिषिद्धः—

" न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ।
न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते क्वचित् ॥
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् "

इत्यादिमन्वादिवाक्यैस्तथाऽपि वधतुल्यताऽस्ति दण्डस्य, यथाऽऽह मनुः-

" मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् " इति ॥

तेन पुरनिर्वासनादिरपि दण्डो वधसम एव । तदुक्तं स्मृत्यन्तरे—

" ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनं तथा ।
ललाटे चाङ्ककरणं प्रयाणं गर्दभेन च " इति ॥

यद्वा—" गोरक्षकान्वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत् "

---

१ ग. घ. छ. °मित्य° ।

इति मनुवचनान्महत्यपराधे विप्रविशेषस्यापि वधः प्राप्नोति । नच वाच्यं "वर्णिनां हि वधः" इत्यत्र वर्णग्रहणं ब्राह्मणविषयमिति । यदाह मनुः—

"शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्र चोक्तो भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते" इति ॥

अथवाऽतिक्रान्तनिषेधेन यत्र ब्रह्मवधः क्रियते तत्रैतत् ।

गौतमः—"नानृतवचने दोषो जीवितं चेत्तदधीनम् ।
न तु पापीयसो जीवनम्" ।

विष्णुः—"तत्पावनाय कूष्माण्डीभिर्द्विजोऽग्निं जुहुयात् । शूद्रश्चैकाग्नि(द्वि)कं गोदशकस्य ग्रासं दद्यात्" ।

मनुः—"वाग्दैवतैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्" ॥

चरुभिरिति वचनं कर्तृबहुत्वाभिप्रायम् ।

"कूष्माण्डैर्वाऽपि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या त्र्यृचेनाब्दैवतेन वा" ॥

उदिति "उदुत्तमं वरुणपाशमस्मत्" इत्यस्याः प्रतीकम् ।

बौधायनस्मृतौ—"प्रधानतः प्रतिपत्तिरतोऽन्यथा । कर्ता द्वादशरात्रं पयः पिबन्कूष्माण्डैर्जुहुयात्" ।

इति साक्षिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ८३ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के साक्षिप्रकरणम् ॥ ५ ॥]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# लेख्यप्रकरणम् । ( ६ )

---

भुक्तिसाक्षिणावभिहितौ । इदानीं लिखितमभिधत्ते—

**यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम् ॥**
**लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥**

यः कश्चिद्दानादिरर्थ उत्तमर्णाधमर्णाभ्यां परस्परं स्वेच्छया निष्णातः स्वरूपसंख्याद्वद्धिरूपेण संप्रतिपन्नस्तस्मिन्विषये धनिकनामपूर्वकं साक्षिनामभिर्युक्तं लेख्यं करणीयम् ।

( लेख्यप्रकरणम् ६ )

बृहस्पतिः—" राजलेख्यं स्थानकृतं स्वहस्तलिखितं तथा ।
लेख्यं तत्त्रिविधं प्रोक्तं भिन्नं तद्बहुधा पुनः ॥
भागदानक्रयाधीनां संविद्दासऋणादिभिः ।
सप्तधालौकिकं लेख्यं त्रिविधं राजशासनम् ॥
भ्रातरः संविभक्ता ये स्वरुच्या तु परस्परम् ।
विभागपत्रं कुर्वन्ति भागलेख्यं तदुच्यते ॥
भूमिं दत्त्वा यस्तु पत्रं कुर्याच्चन्द्रार्ककालिकम् ।
अनाच्छेद्यमनाहार्यं दानलेख्यं तु तद्विदुः ॥
गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा तुल्यमूल्याक्षरान्वितम् ।
पत्रं कारयते यत्तु क्रयलेख्यं तदुच्यते ॥
जङ्गमं स्थावरं बन्धं दत्त्वा लेख्यं करोति यत् ।
गोप्यभोग्यक्रियायुक्तमाधिलेख्यं तु तत्स्मृतम् ॥
ग्रामो देशश्च यत्कुर्यान्मतलेख्यं परस्परम् ।
राजाविरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्ति तत् ॥
वस्त्रान्नहीनः कान्तारे लिखितं कुरुते तु यत् ।
कर्माहं ते करिष्यामि दासपत्रं तदिष्यते ॥
धनं वृद्ध्या गृहीत्वा तु स्वयं कुर्याच्च कारयेत् ।
उद्धारपत्रं तत्प्रोक्तमृणलेख्यं मनीषिभिः " ॥

वसिष्ठः—" लौकिकं राजकीयं च लेख्यं विद्याद्विलक्षणम् ।
राजकीयं चतुर्भेदमष्टभेदं तु लौकिकम् ॥
शासनं प्रथमं ज्ञेयं जयपत्रं तथाऽपरम् ।
आज्ञाप्रज्ञापनं पत्रं राजकीयं चतुर्विधम् ॥
चीरकं च स्वहस्तश्च तथोपगतसंज्ञकम् ।
आधिपत्रं चतुर्थं तु पञ्चमं क्रयपत्रकम् ॥
षष्ठं तु स्मृतिपत्राख्यं सप्तमं षटिपत्रकम् ।
विशुद्धिपत्रकं चैवमष्टधा लौकिकं स्मृतम् ॥
दत्त्वा भोगान्द्विजातिभ्यो रत्नानि विविधानि च ।
राजा भूमिं च कुर्वीत तेषां तस्याश्च शासनम् ॥
क्रियाकारकसंबद्धं समासार्थक्रियान्वितम् ।
समासतदर्धाहर्नृपनामोपलक्षितम् ॥

---

१ क. बद्धं । २ क. °श्च यः कुर्या° । ३ क. घ. छ. उज्जामप° । ४ क. °मं शटि° । ५ क. °रणसं° । ६ ग. ज. °पमानोप° ।

प्रतिग्रहीतृजात्यादिसगोत्रब्रह्मचारिकम् ।
संनिवेशप्रमाणं च स्वहस्तं तु लिखेत्स्वयम् ॥
संधिविग्रहकारी च भवेद्यस्तत्र लेखकः ।
स्वयं राज्ञा समादिष्टः स लिखेद्राजशासनम् ॥
स्वनाम विलिखेत्पश्चान्मुद्रितं राजमुद्रया ।
ग्रामक्षेत्रगृहादीनामीदृक्स्याद्राजशासनम् " ॥

**कात्यायनः**—" मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम् ।
राजस्वहस्तसंशुद्धं शुद्धिमायाति शासनम् " ॥

**नारदः**—" सकलं पूर्वपादं च सोत्तरं सक्रियं तथा[1] ।
सावधारणकं चैव तज्ज्ञेयं जयपत्रकम् ॥
नृपानुज्ञातलिखितः संश्राव्योऽर्थश्च पक्षयोः ।
सम्यैर्निर्धारितः[2] पश्चाद्राज्ञा शास्यः स शास्त्रतः ॥
प्राप्तं द्विगुणदण्डं तु दण्डयित्वा पुनस्ततः ।
जयिने वाऽपि देयं स्याद्यथावज्जयपत्रकम् ॥
मध्ये यत्स्थापितं द्रव्यं चरं वा यदि वा स्थिरम् ।
पश्चात्तत्सोदयं दाप्यं जयिने जयपत्रकम्[3] " ॥

**कात्यायनः**—" सिद्धे चार्थेन संयोज्यो वादी सत्कारपूर्वकम् ।
लेख्यं स्वहस्तसंयुक्तं तस्माद्द्याच्तु पार्थिवः " ॥

**वृद्धवसिष्ठः**—" यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम् ।
सावधारणकं चैव जयपत्रं तदिष्यते ॥
प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया ।
सिद्धेऽर्थे वादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम् " ॥ ८४ ॥

किंच—

**समामासतदर्धाहर्नामजातिसगोत्रकैः ॥**
**सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम् ॥ ८५ ॥**

तल्लेख्यं समामासादिचिह्नितं कुर्यात् । समा संवत्सरः । मासश्चैत्रादिः । तदर्धं शुक्लपक्षकृष्णपक्षौ । अहः प्रतिपदादितिथिः । नाम संज्ञा । जातिर्ब्राह्मणत्वादिः । कश्यपादिना समानं गोत्रं तदेव सगोत्रकम् । कठादिना समानमभिन्नं ब्रह्म वेदशाखां चरत्यधीत इत्येवंशीलः सब्रह्मचारी, तस्य भावः सब्रह्म-

---

१ क. °था । सर्वधा° । २ ग. घ. छ. 'निवारि' । ३ ग. ज. 'पत्रिक°' ।

चारिकम् । आत्मीयपितृनामादि उत्तमर्णाधमर्णसाक्षिणां पितृनामादि । आदिशब्देन च धनस्य जातिसंख्यापरिमाणादीनां ग्रहणम् । नामजातिसगोत्रब्रह्मचारित्वादीन्यत्र धनिकादीनामेव । व्यासः—

" जातिः संज्ञा निवासोऽर्थः संख्या वृद्धिश्च वत्सरः ।
मासः पक्षो दिनं चैषां लिखितं व्यक्तिकारकम् " ॥ ८५ ॥

अपि च—

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ॥
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम् ॥ ८६ ॥

धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थः संप्रतिपन्नस्तल्लेख्ये समाप्ते चर्णिको ममामुकपुत्रस्यैतन्मतं यदत्र पत्र उपरितनपङ्क्त्यादौ लिखितमिति स्वहस्तेन निवेशयेल्लिखेदित्यर्थः ॥ ८६ ॥

किंच—

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम् ॥
अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति तेऽसमाः ॥ ८७ ॥

न केवलमृणी साक्षिणोऽप्यत्रार्थेऽमुकपुत्रोऽहममुकनामा साक्षीति पितृनामपूर्वकं स्वनाम स्वहस्तेन प्रत्येकं लिखेयुः । ते चासमा विषमसंख्याका भवन्तीत्यर्थः । समा इति नृपं प्रति वादिप्रतिवादिनोः[3] समास्तुल्या भवन्तीत्यर्थः । यद्यधमर्णः साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदाऽन्येन लिपिज्ञेन सर्वसाक्षिसमक्षं स्वमतं लेखयेत् । तदाह नारदः—

" अलिपिज्ञ ऋणी यः स्याल्लेखयेत्स्वमतं तु सः ।
साक्षी वा साक्षिणाऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः " ॥

साक्षिणाऽन्येनेति लिपिज्ञमात्रप्रदर्शनार्थम् । अन्यथा त्वदृष्टार्थं स्यात्[5] ॥८७॥

किंच—

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ॥
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥८८॥

उभाभ्यामुत्तमर्णाधमर्णाभ्यामभ्यर्थितेन मयाऽमुकपुत्रेणामुकेनैतल्लेख्यं लिखितमिति लेख्यान्ते लेखको निवेशयेत् ॥ ८८ ॥

---

१ ग. 'कपुंनाम' । २ घ. छ. ज. °नाम सा° । ३ ग. घ. छ. 'नोः प्रति स° । ४ ग. छ. 'था तु द° । ५ क. दृष्टं स्या' ।

साक्षिमल्लेख्यं कार्यमित्युक्तं तस्य क्वचिद्विषयेऽपवादमाह—

**विनाऽपि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ॥**
**तत्प्रमाणं स्मृतं सर्वं बलोपाधिकृतादृते ॥ ८९ ॥**

यदधमर्णः स्वहस्तेन लिखति, तद्विनाऽपि साक्षिभिर्लेख्यं प्रमाणं भवति। यदि न बलेनोपाधिना वा कृतं स्यात् । बलं हठात् । उपाधिश्छद्म । अपिशब्दात्ससाक्षिकमपि । यत्पुनर्न स्वहस्तलिखितं तत्साक्षिमदेव सत्प्रमाणम्—

" लेख्यं तु द्विविधं विद्यात्स्वहस्तान्यकृतं तथा ।
असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितिस्तयोः " ॥

तथा—" मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं तु यत् ।
तदप्रमाणं लिखितं भयोपाधिकृतं तथा " ॥

भयादिकृतत्वमेवात्राप्रामाण्ये कारणं, न रुयादिकृतत्वमपि । तथा हि सति स्त्रीबालादिभिर्यथार्थमपि क्रियमाणं लिखितमप्रमाणं स्यात् । न च यथार्थमप्रमाणं भवितुमर्हति । यत्तु रुयादीनां पृथगुपादानं तत्तेषां बाहुल्येन भयादिसंभवख्यापनार्थम्। कात्यायनः—

" साक्षिदोषाद्धवेद्दुष्टं पत्रं वै लेखकस्य वा ।
धनिकस्योपधादोषात्तथा धारणकस्य च " ॥

आशयदोषत एव बृहस्पतिः—

"मुमूर्षुशिशुभीतार्तस्त्रीमत्तव्यसनातुरैः ॥
निशोपाधिबलात्कारकृतं लेख्यं न सिध्यति " ।

कात्यायनः—" धनिकेन स्वहस्तेन लिखितं साक्षिवर्जितम् ।
भवेत्कूटं न चेत्कर्त्रा कृतं हीति विभावयेत् " ॥

यद्युत्तमर्णो भवदनुमतेन मयैतल्लिखितमिति प्रतिवादिनं न भावयेन्नाङ्गीकारयेदित्यर्थः।

" देशाचारविरुद्धं यत्संदिग्धं क्रमवर्जितम् ।
कृतमस्वामिना यच्च साध्यहीनं च दुष्यति " ॥

बृहस्पतिः—" दूषितो गर्हितः साक्षी यत्रैको विनिवेशितः ।
कूटलेख्यं तु तत्प्राहुः लेखको वाऽपि तादृशः ॥
यदुज्ज्वलं चिरकृतं मलिनं स्वल्पकालिकम् ।
भग्नं श्लिष्टाक्षरयुतं लेख्यं कूटत्वमाप्नुयात् ॥

---

१ क. °ति । ख्या° । २ क. आययदो° । ३ ग. ज. °ति न भा° । ४ क. °त्प्राहुर्लेख° ।

( लेख्यप्रकरणम् ६ )

स्थानभ्रष्टास्त्वकान्तिस्थाः संदिग्धा लक्षणच्युताः ।
यत्रैवं स्युः स्थिता वर्णा लेख्यं दुष्टं तदा भृगुः " ॥ ८९ ॥

अपि च—

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ॥
आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

लेख्यगतं लिखितमृणं त्रिभिः पुरुषैर्ऋणग्राहकेण तत्पुत्रपौत्राभ्यां च देयम् । पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमित्युक्तत्वात् । अत एवायमनुवादः । आधिस्तु भुज्यते तावदित्यादि विधानार्थम् । नह्याधिगतमृणं पुरुषसंख्यानियमविषयं भवति । एवं च यद्धारीतेन—

" लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते भोगं तस्य विनिर्दिशेत् "

इति निरवधिकमुक्तं, तदाधिविषयं ग्राह्यम् । एतद्वचनमन्तरेण हि फलभोग्यो न नश्यतीति वाक्यं पुरुषत्रयविषयं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थोऽर्थवानेष वाक्यारम्भः ॥ ९० ॥

किंच—

देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ॥
भिन्ने दग्धे तथा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

दुर्गमदेशस्थे दुरवबोधाक्षरे प्रध्वस्ते, उत्पुं(द्ध्वं)सिताक्षरेऽपहृते विदीर्णे दग्धे द्विधाकृते लेख्ये लेख्यान्तरं कारयेत् । नारदः—

" लेखे देशान्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते हृते ।
सतस्तत्कालकरणमसतो द्रष्टृदर्शनम् " ॥

अयमर्थः—सतो देशान्तरस्थस्याऽऽनयनार्थं कालकरणमियता कालेन त्वया तदाहरणीयमिति कालावधिकरणम् । असति तु पूर्वलिखिते लिखितान्तरं कृत्वा तस्य दर्शयितव्यम्, येन तत्पूर्वं लिखितं दृष्टं द्वितीयस्य लेख्यस्यान्यथाभावनिराकरणाय । कात्यायनः—

" मलैर्यद्भेदितं दग्धं छिद्रितं वीतमेव च ।
तदन्यत्कारयेल्लेख्यं स्वेदेनोल्लिखितं तथा " ॥

वीतं विगतम् ॥ ९१ ॥

---

१ ग. छ. ज. °कांतिस्थाः । २ ग. ज. भृष्टं । ३ ग. छ. ज. °स्ते, तत्पुं° । ४ घ. छ. स्वेदनो° । ५ ग. ज. °गदित° ।

अपि च—

संदिग्धलेख्ये शुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः ॥
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

लेख्ये प्रमाणतया संदिग्धे स्वहस्तलिखितादिभिः प्रामाण्यलिङ्गैर्युक्त्यादिभिश्च कारणैः शुद्धिः संशयनिवृत्तिः प्रामाण्यावधारणलक्षणा स्यात् । एतच्चाधमर्णेन साक्षिरहितं स्वहस्तेन कृतं यल्लेख्यं तद्विषयवचनम् । तत्र ह्यधमर्णस्य न मयैतल्लिखितमिति प्रत्यवस्थानसंभवः । तत्र तेनैव यदन्यल्लेख्यं कृतं तत्स्वहस्तलिखितं तेनैव निर्णयः । आदिशब्देन च पितृनामगोत्रसब्रह्मचारित्वानां ग्रहणम् । युक्त्यादीनामपि तत्रैव पत्रके स्वयं प्रमाणतया प्रमाणान्तरानुग्राहकतया वा निर्णायकत्वम् । युक्तिरर्थापत्तिः । प्राप्तिरेकत्र देशे काले च वादिप्रतिवादिनोः स्थितिः । एतच्च प्रमाणान्तरानुग्राहकतया शुद्धिहेतुर्न स्वातन्त्र्येण । यदि हि नैकत्र देशादौ तयोः स्थितिस्तदा लिखितमप्रमाणमेवेति निश्चिते स्वहस्तलिखितादिषु लेख्यप्रामाण्यावधारकेषु विचारकाणां जिज्ञासैव न जायते । क्रिया संव्यवहारः । ययोः खलु नास्त्यार्यद्रविडयोरिव संव्यवहारस्तत्र लेख्यं प्रति प्रामाण्यमसंभवनिरस्तम् । चिह्नं मुद्रा । संबन्धो वादिप्रतिवादिनोः प्राग्विवादात्परस्परं विश्वासपूर्व आदानप्रतिदानादिः । आगमो विवादास्पदीभूतस्यार्थस्य स्वस्वामिसंबन्धोपायैः क्रयादिः । अस्यार्थिन एतावद्धनं क्रयादिनोपायेनास्य संभवत्येतद्बुद्धिरिति । हेतुरनुमानम् । स्वहस्तलिखितादिकं न लेख्यस्य शुद्धौ युक्त्यादिनिरपेक्षं कारणं भवितुमर्हति । अनैकान्तिकत्वात् । सन्ति खलु पुरुषाः कुशला ये पुरुषान्तरलिखिततुल्यं लेख्यमापादयन्ति । पितृनामादीनां वाऽभेदः संभवति । व्यासः—

" लेख्यमालेख्यवत्केचिल्लिखन्ति कुशला नराः ।
तस्मात्तल्लेख्यसामर्थ्यात्सिद्धिर्नैकान्तिकी मता ॥
ज्ञात्वा कालं देशकार्ये कुशलाः कूटकारकाः ।
कुर्वन्ति सदृशं लेख्यं तद्यत्नेन विचारयेत् ॥
स्त्रीबालानलिपिज्ञानान्वञ्चयन्ति स्वबान्धवाः ।
लेख्यं कृत्वा स्वनामाङ्कं ज्ञेयं युक्त्यागमैस्तु तत् " ॥

नारदः—" लेख्यं यच्चान्यनामाङ्कं हेत्वन्तरकृतं भवेत् ।
विप्रत्यये परीक्ष्यं तत्संबन्धागमहेतुभिः " ॥

---

१ ग. घ. छ. °राप्रा° । २ ग. घ. छ आधान° । ३ ग. छ. °यः क्रिया° । ४ क. ग. °नं क्रिया° ।

विप्रत्ययो विमतिः । एवमधमर्णलिखितस्य साक्षिरहितस्य प्रामाण्यसंशये स्वहस्तलिखितादयः प्रामाण्यशुद्ध्युपायाः कथिताः । साक्षिमतोऽपि लेख्यस्य संशये निर्णयोपायमाह कात्यायनः—

" न लेखकेन लिखितं न दृष्टं साक्षिभिस्तथा ।
एवं प्रत्यर्थिनोक्ते तु कूटलेख्यं प्रकीर्तितम् ॥
एवं दुष्टं नृपस्थाने यस्मिंस्तद्धि विचार्यते ।
विमृश्य ब्राह्मणैः सार्धं[1] पत्रदोषान्निरूपयेत् ॥
कृताकृतविचारे तु साक्षिभिः[2] पत्रनिर्णयः ।
प्रत्यक्षमनुमानेन न कदाचित्प्रबाध्यते ॥
तस्माल्लेख्यस्य दुष्टस्य वचोभिः साक्षिणां भवेत् ।
निर्णयः स्वधनार्थं हि पत्रं दूषयते स्वयम् " ॥

स्वयं लिखितं पत्रं स्वयं दूषयते प्रतिवादी, साक्षिमत्तु[3] न शक्यं दूषयितुं साक्षिवचनेन सकलदोषोद्धारात् ।

तथा—" लिखितं लिखितेनैव साक्षिमत्साक्षिभिर्हरेत् " ।

प्रत्यर्थिलिखितं साक्षिरहितं लिखितान्तरेण तत्कृतेन, साक्षिमत्तु साक्षिभिरुद्धरेत् ।

तथा—" कूटोक्तौ साक्षिणां वाक्याल्लेखकस्य च पत्रकम् ।
नयेच्छुद्धिं न यः कूटं स दाप्यो दममुत्तमम् " ॥

अस्यार्थः—लेखकं प्रति कूटोक्तौ साक्षिणां वचनात्पत्रकं यो वादी शुद्धिं न नयेत्स उत्तमसाहसं दण्ड्यः ।

" अथ पञ्चत्वमापन्नो लेखक[4]...सह साक्षिभिः ।
तत्स्वहस्तादिभिस्तेषां विशुध्येत न संशयः " ॥

तथा—" समुद्रेऽपि तथा लेख्ये मृताः सर्वेऽपि तत्स्थिताः ।
लिखितं तत्प्रमाणे तु मृतेष्वपि हि तेषु वै " ॥

समुद्रे राजमुद्रासहिते शासन इत्यर्थः ।

नारदः—" दर्शितं प्रतिकालं यच्छ्रावितं स्मारितं च यत् ।
लेख्यं सिध्यति सर्वत्र मृतेष्वपि हि साक्षिषु " ॥

एतच्च लेख्यसिद्धिसंभावनामात्रप्रतिपादकं न पुनः परीक्षानिवारकम् । यथोक्तम्—

---

१ ग. छ. °र्धं यत्र । २ क. °क्षिभिर्मन्त्रनि° । ३ ग. घ. ज. °त्तु श° । ४ क. लेख्यं सि° ।

" ऋणिस्वहस्तसंदेहे जीवतो वा मृतस्य वा ।
तत्स्वहस्तकृतैरन्यैः पत्रैस्तल्लेख्यनिर्णयः " ॥

तथा—" लिखितं लिखितेनैव साक्षिमत्साक्षिभिर्नयेत् ।
साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयो लिखितान्न तु साक्षिणः " ॥

लिखितानारूढसाक्षिविषयमेतत् ।

कात्यायनः—" क्रिया न दैविकी देया[1] विद्यमानेषु साक्षिषु ।
लेख्ये[2] च सति वादेषु न स्याद्दिव्यं न साक्षिणः " ॥

यदा तु साक्षिरहितं[3] लिखितं न मयैतत्कृतमित्यधमर्णो ब्रूते, न च स्वहस्तलिखितादि तदुद्धारं[4]करणमस्ति, तद्दिव्येनोद्धार्यमित्याह हारीतः—

" न मयैतत्कृतं लेख्यं कूटमेतेन कारितम् ।
अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थं दिव्येन निर्णयः " ॥

प्रजापतिः—" यन्नामगोत्रैस्तत्तुल्यरूपसंख्या क्वचिद्भवेत् ।
प्रगृहीते धने तत्र कार्यो दिव्येन निर्णयः " ॥

साक्षिणां स्वहस्तलिखिताद्यभावे चैतत् ।

नारदः—" दुष्टे पत्रे स्फुटं दोषं नोक्तवानृणिको यदि ।
ततो विंशतिवर्षाणि कौन्तं[5] पत्रं स्थिरं भवेत् " ॥

यदि सदोषं पत्रं कथं विंशद्व(तिव)र्षपर्यन्तं[6] पत्रवतो भुक्तिरित्येवं संदिग्धप्रामाण्यं लेख्यं दिव्यप्रतिसाधनार्थं स्थिरी भवतीत्यर्थः ।

व्यासः—" यच्चान्यस्य कृतं लेख्यमन्यहस्ते प्रदृश्यते ।
अवश्यं तेन वक्तव्यं पत्रस्याऽऽगमनं ततः " ॥

अमुकस्यैतल्लेख्यं ततो मां प्रत्यनेनोपायेनाऽऽगतमिति यस्य हस्ते दृश्यते तेन वक्तव्यं साधनीयमित्यर्थः ।

कात्यायनः—" शक्तस्य संनिधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते ।
वर्षाणि विंशतिं यावत्तत्पत्रं दोषवर्जितम् " ॥

विना दिव्येनेत्यर्थः । पूर्वत्र तु वाक्ये दुष्टस्य लेख्यस्यानुद्धावितदोषस्य विंशतिवर्षायां भुक्तौ दिव्यसाध्यतोक्ता । इह त्वदुष्टस्याविद्यमानसाक्षिस्वहस्तलिखितादेर्भुक्त्यैवोक्तकालया प्रामाण्यसिद्धिरुच्यत इत्यविरोधः ।

---

१ क. ज्ञेया । २ घ. ज. लेखे च । ३ क. °तं मयैतन्न कृतमित्यधमर्णो न ब्रू° । ४ क. °रण-कार° । ५ ग. ज. कातं प° । ६ क. °न्तं पुत्र° ।

( लेख्यप्रकरणम् ६ )

" तथा विंशतिवर्षाणि आधिर्भुक्तः सुनिश्चितः ।
येन लेख्येन तत्सिद्धं लेख्यं दोषविवर्जितम् " ॥

पूर्वेणैतत्तुल्यविषयम् ।

" सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते ।
तस्य दोषाः प्रयोक्तव्या यावद्वर्षाणि विंशतिः ॥
आधानसहितं यत्र ऋणलेख्यं निवेशितम् ।
मृतसाक्षि प्रमाणं तु स्वल्पभोगेऽपि तद्विदुः " ॥

आधानमाधिः । मृतसाक्षि मृतसाक्षिकम् ।

नारदः—" यदि लब्धं भवेत्किंचित्प्रज्ञप्तिर्वा कृता भवेत् ।
प्रमाणमेव लिखितं मृता यद्यपि साक्षिणः " ॥

यदि लिखितबलादुत्तमर्णेनाधमर्णात्किंचिल्लब्धं यद्वा लिखितं ममैतद्धस्ते विद्यतेऽत्र विषय इति प्रज्ञप्तिरधमर्णं प्रति कृता भवति तदा लेख्यारूढसाक्षिणामभावेऽपि लेख्यं प्रमाणमित्यर्थः । लेख्यानामन्योन्यविरोधे यत्प्रमाणतरं तदाह व्यासः—

" स्वहस्तकाज्ज(ज्ञा)नपदं तस्माच्च नृपशासनम् ।
प्रमाणतरमिष्टं हि व्यवहारार्थमागतम् " ॥

अत्रोपपत्तिमाह—

" द्वित्रिलिपिज्ञः स्वकृतेन सलेख्येन युक्तिभिः ।
कुर्याद्धि सदृशं लेख्यं तस्माज्ज्ञानपदं शुभम् " ॥

सलेख्येन समानेन लेख्येन युक्तिभिश्चानेकलिपिज्ञेन कृतं स्वलेख्यं शुद्धिं न यातीत्यध्याहार्यम् । यतोऽसौ सदृशमपि कर्तुं शक्नोति । तस्माज्ज्ञानपदं वरमित्यर्थः ।

" अप्रकाशात्साक्षियुतं लेखकाक्षरमुद्रितम् ।
लोकप्रसिद्धं सुकृताद्वरमन्यकृतं शुभम् ॥
देशाध्यक्षादिना लेख्यं यत्र जानपदं कृतम् ।
समकालं पश्चिमं वा तत्र राजकृतं शुभम् " ॥

समकालपश्चिमाभ्यां राजकृतमेव विशिष्यते ।

संवर्तः—" लेख्ये लेख्यक्रिया प्रोक्ता वाचिके वाचिकी मता ।
वाचिके तु न सिध्येत्सा लेख्यस्योपरि या क्रिया ॥

---

१ ग. ज. आविर्भुक्तासु° । २ ग. घ. ज. °चिल्लिखि° । ३ ग. घ. छ. °कृतन । ४ क. °र्तुं न श° । ५ ग. घ. ज. °दं चर° । ६ ग. घ. ज. °ताद्वर° ।

लेख्यस्योपरि यत्साक्ष्यं कूटं तदभिधीयते ।
अधर्मस्य हि तद्द्वारमतो राजा विवर्जयेत् ॥
वाचिकैर्यदि सामर्थ्यमक्षराणां विहन्यते ।
क्रियाणां सर्वनाशः स्यादनवस्था च जायते " ॥

**लेख्यस्योपरि यत्साक्ष्यं लेख्यविरुद्धं तद्वर्ज्यमित्यर्थः । क्रियाणां लेख्यक्रियाणाम् ।**

**कात्यायनः**—" न दिव्यैः साक्षिभिर्वाऽपि हीयते लिखितं क्वचित् ।
लेख्यधर्मः सदा श्रेष्ठो ह्यतो नान्येन हीयते ॥
तद्युक्तिप्रतिलेख्येन तद्विशिष्टेन वा सदा ।
लेख्यक्रिया निरस्येत न साक्षिशपथैः क्वचित् " ॥

**बृहस्पतिः**—" आढ्यस्य निकटस्थस्य यच्छैक्तेन न याचितम् ।
शुद्धर्णाशङ्कया तत्र लेख्यं दुर्बलतामियात् " ॥

**शुद्धं दत्तम् ।**

" लेख्यं त्रिंशत्समातीतमदृष्टाश्रावितं च यत् ।
न तत्सिद्धिमवाप्नोति तिष्ठत्स्वपि हि साक्षिषु ॥
प्रयुक्ते शान्तलाभे तु लिखितं यो न दर्शयेत् ।
न याचते च ऋणिकं तत्संदेहमवाप्नुयात् " ॥

**प्रयुक्ते धने शान्तलाभे लिखितमुपरते लाभे यो न पत्रं दर्शयति न चाधमर्णं याचते, तल्लेख्यं संदेहं प्रामाण्यविषयमवाप्नुयादित्यर्थः ।**

**नारदः**—" मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः ।
तदप्यनर्थं लिखितं न चेदाधिः स्थिराश्रयः " ॥

**आश्रयो भुक्तिरप्रमाणतयाऽनपेक्ष्यमाणत्वात् ।**

**व्यासः**—" अदृष्टाश्रावितं लेख्यं प्रमीतधनिकर्णिकम् ।
अबन्धलग्नकं चैव बहुकालं न सिध्यति " ॥

**बहुकालं बहुकालीनम् ।**

**बृहस्पतिः**—" उन्मत्तजडबालानां राजभीतप्रवासिनाम् ।
अप्रगल्भभयार्तानां न लेख्यं हानिमाप्नुयात् " ॥ ९२ ॥

**शनैर्यथोदयादानविषये पत्रे यत्कार्यं तदाह—**

---

१ग. छ. ज. वादिकै° । २ क. °च्छन्देन न या° । ३ घ. °तसदृशश्रा° । ४ क. °पेक्षकत्वा° । ५ ग. ज. °दये दा° । घ. छ. °दयदा° ।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम् ॥
धनी वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ ९३ ॥

यदाऽधमर्णः स्वशक्त्यनुरोधेनाल्पमल्पं प्रतिददाति तदा यावद्दत्तं तावल्लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् । यद्वोत्तमर्णः स्वहस्तचिह्नितमुपगतमधमर्णाय दद्यात् । एतावदनेन प्रतिदत्तमिति लिखितान्तरमुपगतमित्युच्यते ।

नारदः—" गृहीत्वोपगतं दद्याद्दणिकायोदयं धनी ।
अददद्याच्यमानस्तु शेषहानिमवाप्नुयात् " ॥

उदयः शनैर्दाप्यो यथोदयमित्यनेन यो विहितः ॥ ९३ ॥

दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै वाऽन्यत्तु कारयेत् ॥
साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दात्तव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

इति लेख्यप्रकरणम् ॥ ६ ॥

सवृद्धिकं धनमुत्तमर्णायाधमर्णो दत्त्वा लेख्यं पत्रं पाटयेद्भिन्द्यात् । यदि पुनर्नष्टं विप्रकृष्टं चेति न शक्यं पाटयितुं तदा शुद्ध्यर्थमनृणत्वप्रसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णात्ससाक्षिकं लेख्यं गृह्णीयात् । यथा बहुभिरवाशिष्टतरसाक्षिसमक्षमृणमपाकुर्यात् । अत्र नारदः—

" लेख्यं दद्याद्दणे शुद्धे तदभावे प्रतिश्रवम् ।
धनिकर्णिकयोरेवं विशुद्धिः स्यात्परस्परम् " ॥

प्रतिश्रवशब्देन साक्षिश्रवणं विवक्षितम् । इति लेख्यलक्षणम् ॥ ९४ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
लेख्यप्रकरणम् ॥ ६ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# दिव्यप्रकरणम् । ( ७ )

---

उक्तं त्रिविधमपि लिखितादि प्रमाणं तदसंभवे च दिव्यानि विहितानि, तेषां स्वरूपमिदानीमाह—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ॥

यानि विशुद्धयेऽभियोगे विहितानि दिव्यानि तानि तुलादीनि वेदितव्यानि । नच कोशादीन्येव वेदितव्यानीति वाच्यम् । पितामहः—

" घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः ।
षष्ठं च तण्डुलः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमाषकम् ॥
अष्टमं फलमित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत् ।
दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयंभुवा " ॥

**नारदः**—" यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम् ।
तदा दिव्यैः परीक्षेत शपथैश्च पृथक्पृथक् ॥
सत्यवाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च ।
देवता पितृपादाश्च दत्तानि सुकृतानि च " ॥

**एतानि दिव्यशब्दवाच्यानि, एषु दिव्यशब्दप्रयोगात् । एवं च शपथवाच्यान्यपि । तथा च नारद एव—**

" युक्तिष्वप्यसमर्थासु शपथैरेनमन्वियात् ।
अर्थकालबलापेक्षमन्यम्बुसुकृतादिभिः ॥
घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः ।
उक्तान्येतानि दिव्यानि विशुद्ध्यर्थं महात्मभिः ॥

**शङ्खः**—" दिव्यं नाम तुलारोहणं विषाशनमप्सु प्रवेशो लोहधारिष्टापूर्तप्रदानमन्यांश्च शपथान्कारयेत् "

**मनुः**—" असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
विवदंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥
अग्निं वाऽऽहारयेदेनमप्सु वैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाऽप्येनं शिरसि स्पर्शयेद्दृढम् ॥
यस्माद्देवैः प्रयुक्तानि दुष्करेऽर्थे मनीषिभिः ।
परस्परविशुद्ध्यर्थं तस्माद्दिव्यानि नामतः " ॥

**(* असाक्षिकेष्विति मानुषप्रमाणरहितेष्वित्यर्थः । ) यत्तु पितामहेनोक्तम्—**

" अवष्टम्भाभियुक्तानां घटादीनि विनिर्दिशेत् ।
तण्डुलाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशयः " ॥

**तथा**—" घटोऽग्निविषमापश्च प्रमाणं हि चतुर्विधम् ।
दैवकस्य प्रभेदोऽयं कोशाशङ्कासु पञ्चमः "

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते ग. घ. छ ज. पुस्तकेषु ।

---

१ ग. घ. ज. °मं फाल° । २ ग. घ. छ. ज. °पथावान्य° । ३ ग. ज. °ङ्कासेव' । ४ क. °भेदे यः कोशः श° ।

इति, तदल्पाभियोगे शङ्कायां च कोशविधायकम्। महाभियोगे त्व(गेऽ)वष्टम्भाभियोगे च शीर्षकस्थेऽभियोक्तर्येव कोश इत्यविरोधः।

तथा—" चौर्यशङ्काभियुक्तानां तत्समाषो विधीयते।
शङ्काविश्वाससंधाने विभागेष्वृक्थिनां तथा॥
क्रियासमूहकर्तृत्वे कोशमेव प्रदापयेत्।
विस्रम्भे सर्वशङ्कासु संधिकार्ये तथैव च॥
एष कोशः प्रदातव्यो नित्यं चित्तविशुद्धये "॥

उक्तानां तु तुलादिदिव्यानां विषयविशेषमभियोक्तुश्च क्रियाविशेषं विधातुमिदानीमाह—

## महाभियोगे त्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥ ९५॥

यान्येतानि तुलादीनि कोशान्तानि दिव्यानि विशुध्यर्थमुक्तानि, तानि महाभियोगविषये भवन्ति, नान्यथेत्येकं वाक्यम्। तथा " शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि " इति द्वितीयम्। अनयोश्च वाक्ययोरेतानीति साधारणः शेषः। सहस्रादिपरिमाणद्रव्यविषयो महापातकविषयो वाऽऽक्षेपो महाभियोगः। अभियुक्तस्य दिव्यतो दोषाभावेऽहं दोषवान्दोषानुरूपस्य दण्डस्य दातेत्यभ्युपगम इति(ह) शीर्षम्। तदेव शीर्षम्। एवं चाभियोक्तरि शीर्षकस्थितिं विदधानेऽर्थादभियुक्तस्य दिव्यकारित्वं नियम्यत इति संभाव्यम्। यदाह पितामहः—

" अभियोक्ता शिरःस्थाने दिव्येषु परिकल्पते।
अभियुक्ताय दातव्यं श्रुतिनिर्देशनादपि "॥

ननु चाभियोक्तैव साध्यार्थवक्ता यश्च साध्यनिर्देशकः स एव साधनवादीति तेनैव दिव्यं कार्यमिति न्याय्यम्। अत्रोत्तरम्-"श्रुतिनिर्देशनात्" इति। अयमर्थः-यैच्च(था) मानुषं प्रमाणमभियोक्त्रा मिथ्योत्तरे कार्यं तथैव दिव्यस्य प्राप्तिर्न्यायसिद्धा वचनेनान्यथा क्रियत इति। कात्यायनोऽपि—

" न कश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत्।
अभिशंस्याय दातव्यं दिव्यं दिव्यविशारदैः " इति॥ ९५॥

इदानीमभियोक्तृकर्तृकशीर्षकावस्थानियमस्य क्वचिन्निमित्तेऽपवादमाह—

## रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः॥

रुच्येच्छयाऽन्यतरोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यात्। इतरो दिव्यकर्तुरन्यः

---

१ क. °लं हि तु वि°। २ ग. घ. छ. °तेत्युप°। ३ ग. घ. छ. ज. यश्चामा°। ४ क. °व्यसंप्रा°।

शिरसि तिष्ठेत्। अभियोक्तुर्दिव्यकर्तृताऽनेन तात्पर्यतो विधीयते। अवश्यं च शिरो वर्तयेद्घटादिषु। यदाह पितामहः—

"शिरःस्थायिविहीनानि दिव्यानि परिवर्जयेत्।
घटादीनि विषान्तानि कोश एवाशिराः स्मृतः" इति॥

शङ्काभियोगेकोशविषयमेतत्। अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

"महापातकयुक्तेषु नास्तिकेषु विशेषतः।
न देयं तेषु दिव्यं तु पापाभ्यासरतेषु च"॥

भृगुः—"येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः।
कारयेत्सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन्मनुः"॥

अयमर्थः—यः पूर्वं कृतमहापातकादिः स पुनर्विषयान्तरे जातमहापातकाभियोगः सन्न स्वयं दिव्यं कुर्यात्। ऋत्विक्स्थानीयैस्तु सज्जनैः कारयेत्। न पुनरभिशस्तस्य दिव्यमकुर्वतोऽस्ति मोक्ष इति मनुर्मन्यत इति॥

घटाद्यपि दिव्यं शीर्षकमन्तरेणापि क्वचिद्विषये भवतीत्याह—

## विनाऽपि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके॥ ९६॥

राजद्रोहाभियोगे पातकाभियोगे वाऽभियोक्ता यद्यपि न शिरःस्थायी भवति, तथाऽपि दिव्यमभियुक्तः कुर्यात्। द्रोहो जिघांसा, धनवनितापहारः शत्रुपक्षपातो मन्त्रभेदो वा। नृपद्रोहपातकाभियोगविषयमेतत्।

विष्णुः—राजद्रोहसाहसेषु विनाऽपि शीर्षकवर्तनात्"।

दिव्यं कुर्यादित्यर्थः।

पितामहः—"अथ चेदात्मशुद्ध्यर्थं दिव्यं प्रक्रमते नरः।
अशिरस्तस्य दातव्यमिति शास्त्रविनिश्चयः॥
राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः।
आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विना"॥

चोरयतामस्माकमेते संघातिन इत्येवं दस्युभिर्निर्दिष्टानां दिव्यमशिरः।

कात्यायनः—"लोकापवाददुष्टानां शङ्कितानां च दस्युभिः।
तुलादीनि विषान्तानि न शिरस्तत्र वै भृगुः॥
न शङ्कासु शिरः कोशे कल्पयेत कदाचन॥ ९६॥

---

१ ग. घ. छ. °शिरःस्मृता इ°। २ ग. ज. °गदेश°। ३ क. °तिषिद्धा°। ४ क. °शिरास्त°। ५ क. शिरास्त°।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

दिव्यविधिमाह—

**सचैलस्नानमाहूय सूर्योदय उपोषितम् ॥**
**कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ९७ ॥**

दिव्यकर्तारं सूर्योदयसमये सचैलस्नानं पूर्वेद्युः कृतोपवासं चाऽऽहूय राज्ञो ब्राह्मणानां च संनिधौ दिव्यानि सर्वाणि प्राड्विवाकः कारयेत् । नारदः—

" पूर्वाह्णेऽग्निपरीक्षा स्यात्पूर्वाह्णे चोद्वहेद्घटम् ।
मध्याह्ने तु जलं देयं मध्याह्नात्परतो विषम् ॥
दिवसस्यैव पूर्वाह्णे कोशशुद्धिर्विधीयते ।
रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सुशीतले " ॥

तथा—" अहोरात्रोषितं स्नाते सार्द्रवाससि मानवे ।
पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानमुपकीर्तितम् ॥
नित्यं दिव्यानि देयानि शुचये चाऽऽर्द्रवाससे " ।

घटकोशाग्नीनां पूर्वाह्णो नियतः । अन्येषां वैकल्पिकः ।

पितामहः—" त्रिरात्रोपोषितायैव एकरात्रोषिताय वा ।
नित्यं दिव्यानि देयानि शुचये चाऽऽर्द्रवाससे ॥
दिव्येषु सर्वकार्याणि प्राड्विवाकः समाचरेत् ।
अध्वरेषु यथाऽध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया " ॥

कात्यायनः—" साधयेत्तत्पुनः साध्यं व्याघाते साधनस्य हि ।
दत्तान्यपि यथोक्तानि राजा दिव्यानि वर्जयेत् ॥
मूर्खैर्लुब्धैश्च दुष्टैश्च पुनर्देयानि तानि वै " ।

साधनस्य हि दिव्यस्य व्याघाते निर्णायकत्वाभावे पुनः साध्यं दिव्येन साधयेत् । अयथाशास्त्रं च दत्तान्यपि दिव्यानि राजा व्यावर्त्य यथोक्तानि दद्यादित्यर्थः । मूर्खादिग्रहणमयथाशास्त्रदानोपलक्षणार्थम् ।

तथा—" अदेशकालदत्तानि बहिर्वासकृतानि च ।
व्यभिचारं सदाऽर्थेषु कुर्वन्तीह न संशयः " ॥

वासो निवासो ग्राम इत्येकोऽर्थः ।

" तस्माद्यथोक्तविधिना दिव्यं देयं विशारदैः ।
अयथोक्तप्रयुक्तं तु न शक्तं तस्य साधने " ॥

---

१ ग. छ. व्यावृत्य । २ क. °धनैः । पि° ।

पितामहः—" चैत्रो मार्गशिराश्चैव वैशाखश्च तथैव हि ।
एते साधारणा मासा दिव्यानामविरोधिनः ॥
घटः सर्वर्तुकः प्रोक्तो वाते वाति विवर्जयेत् ।
अग्निं शिशिरहेमन्ते वर्षास्वापि च दापयेत् ॥
ग्रीष्मे सलिलमित्युक्तं विषं काले हिमावहे ।
न शीते जलशुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् ॥
न प्रावृषि विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां नृपः " ॥ ९७ ॥

दिव्येषु कर्तृनियममाह—

**तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ॥**
**अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ ९८ ॥**

निगदव्याख्यातमेतत् । अत्र तुलासंबन्धित्वेन[1] स्त्रीबालादयो विधीयन्ते । तेन स्त्रीप्रमुखाना(णा)मेव तुलेतिनियमोपपत्तिः । सर्वत्र हि विधिना विधेयं नियम्यते । न चात्र तुला विधेया, किंत्वनूद्या प्राथम्यात् । तदुक्तम्—

" यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम् " इति ।

अतश्च प्रवातादिकारिते स्त्रीप्रभृतीनां घटासंभवे दिव्यान्तरमपि देयम् । संभवे तु तुलैव । तथा च कात्यायनः—

" राजन्येऽग्निं घटं विप्रे वैश्ये तोयं नियोजयेत् ।
सर्वेषु सर्वं दिव्यं वा विषवर्जं द्विजोत्तमे ॥
गोरक्षकान्वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव ग्राहयेच्छूद्रवद्विजान् " ॥

नारदः—" ब्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः ।
वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत् " ॥

पितामहः—" साधारणः समस्तानां कोशः प्रोक्तो मनीषिभिः ।
विषवर्जं ब्राह्मणस्य सर्वाण्येतेषु च त्रिषु ॥
तोयमग्निर्विषं चैव दातव्यं बलिनां नृणाम् ।
बालवृद्धस्त्रियश्चैव परीक्षेत घटे सदा " ॥

यत्तु तेनैवोक्तम्—" ब्राह्मणानां कृशाङ्गानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्ववेक्ष्यते "

इति, एतत्तुलाव्यतिरिक्तदिव्यविषयम्[2] । रोगविशेषे दिव्यविशेषनिषेधं स एवाऽऽह—

---

१ क. °बन्धत्वें । २ क. °म् । चौरवि° ।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

" कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम् ।
पित्तश्लेष्मवतां नित्यं विषं तु परिवर्जयेत् " ॥

**नारदः**—" न मज्जनीयं स्त्रीबालं धर्मशास्त्रविचक्षणैः ।
रोगिणो ये च वृद्धाः स्युः पुसांसो ये च दुर्बलाः " ॥

**कात्यायनः**—" न लोहशिल्पिनामाग्निं सलिलं नाम्बुसेविनाम् ।
मन्त्रयोगविदां चैव नाग्निदिव्यं विधीयते ॥
तण्डुलैर्न नियुञ्जीत क्षतिनं मुखरोगिणम् ।

**पितामहः**—" मद्यपस्त्रीव्यसनिनां कितवानां तथैव च ॥
कोशः प्राज्ञैर्न दातव्यो ये च नास्तिकवृत्तयः " ।

**नारदः**—" महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते ।
नास्तिके दृष्टदोषे च कोशदानं विवर्जयेत् " ॥ ९८ ॥

**महाभियोगेष्वेतानीत्युक्तं तत्र ऋणादानादौ कियति धने महत्त्वमभियोगस्य भवतीत्याह—**

**नाऽऽसहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ॥**
**नृपार्थेष्वभिशापे च वहेयुः शुचयः सदा ॥ ९९ ॥**

ताम्रिकपणसहस्रप्रभृतिविवादे दिव्यानि कारयितव्यानि । न पुनः सहस्रादूनसंख्याकपणविषयविवादे । अत्रापवादो नृपार्थेष्वित्यादिः । नृपार्थेषु राजकार्येष्वाक्षिप्तास्तथाऽभिशापे ब्राह्मणवधे शुचयः परमार्थतो निर्दोषा वहेयुः, पणसहस्रविषयं विना दिव्यानि धारयेयुरित्यर्थः । कोशोऽल्पविषयेऽपि भवतीति ज्ञापयितुमिह तस्यानुपादानम् । अत एव नारदः—

" कोशमल्पेऽपि दापयेत् " इति ।

**बृहस्पतिः**—" संख्या रश्मिरजोमूला मनुना समुदाहृता ।
कार्षापणान्ता सा दिव्ये नियोज्या विनयेत्तथा ॥
विषं सहस्रेऽपहृते पादोने च हुताशनः ।
त्रिपादोने च सलिलमर्धे देयो घटः सदा ॥
चतुःशताभियोगे च दातव्यस्तप्तमाषकः ।
त्रिंशते तण्डुला देयाः कोशश्चैव तदर्धिके ॥

---

१ क. 'त कृतिनां मुखरोगिणाम् । पि° । २ ज. 'गिणाम् । पि° । ३ म. घ. छ. दिव्यं नि° ।

शते हृतेऽपह्नुते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।
गोचौरस्य प्रदातव्यः सम्यैः कालः प्रयत्नतः ॥
एका संख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विर्गुणा स्मृता ।
चतुर्गुणोत्तमानां च कलनीया परीक्षकैः " ॥

सर्वेषां वर्णानामव्यवस्थायां सर्वदिव्यकरणपक्षमाश्रित्य गुणवत्तारतम्येनैषा संख्याव्यवस्थोक्ता वेदितव्या । यदा तु यथावर्णं घटादीनि भवन्ति कर्तारश्च गुणवन्तस्तत्राऽऽह पितामहः—

" सहस्रे तु घटं दद्यात्सहस्रार्धे तथाऽऽयसम् ।
अर्धस्यार्धे तु सलिलं तस्यार्धे तु विषं स्मृतम् " ॥

अत्यन्तोत्तमगुणवत्पुरुषविषये तु कात्यायनः—

" दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्पयेत् ।
स्तेयसाहसयोर्दिव्यं स्वल्पेऽप्यर्थे प्रदापयेत् ॥
सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् ।
हेमप्रमाणयुक्तं तु तदा दिव्यं नियोजयेत् ॥
ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां शतनाशे विषं स्मृतम् ।
अशीतेस्तु विनाशे वै दद्याच्चैव हुताशनम् ॥
षष्ट्या नाशे जलं देयं चत्वारिंशति वै घटम् ।
विंशद्दशविनाशे तु* स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकम् ॥
ततो वाऽर्धविनाशे तु लौकिक्यश्च क्रियाः स्मृताः " ।

सुवर्णः षोडशमाषात्मकः ।

विष्णुः—" सर्वेष्वेवार्थजातेषु मूल्यं कनकं कल्पयेत् । तत्र सुवर्णार्धेन कोशो देयः शूद्रस्य, ततः परं यथार्हं घटाग्न्युदकविषाणामन्यतमं, द्विगुणेऽर्थे यथाऽभिहिता समयक्रिया । वैश्यस्य त्रिगुणेऽर्थे राजन्यस्य कोशवर्जम् । चतुर्गुणेऽर्थे ब्राह्मणस्य कोशं दद्यात् । प्राग्दृष्टदोषं स्वल्पे स्वल्पेऽप्यर्थे दिव्यानामन्यतममेव कारयेत् । सत्सु प्रथितं सच्चारित्रं न महत्यर्थेऽपि " ॥ ९९ ॥

तुलाप्रयोगविधिमाह—

**तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः ॥**
**प्रतिमानसमीभूतो रेखाः कृत्वाऽवतारितः ॥१०० ॥**

---

* एतदग्रेऽधिकं मिताक्षरायाम्—"कोशपानं विधीयते । पञ्चाधिकस्य वा नाशे ततोऽर्धार्धस्य तण्डुलाः । ततोऽर्धार्धविनाशे हि " इति ।

---

१ ग. घ. ज. 'गुणं स्मृ° । २ क. दिव्यंकार° । ३ ग. 'र्णार्यो नोको° । घ. छ. °र्णार्योतोको' ।

त्वं तुले सत्यधामाऽसि पुरा देवैर्विनिर्मिता ॥
तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय ॥१०१॥
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय ॥
शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥१०२॥

अभियुक्तो दिव्यकर्ता तुलामाश्रितस्तुलामारूढस्तुलामानकुशलैः सुवर्णकारादिभिः प्रतिमानेन मृदादिना समीकृतस्तुल्यतामापादितस्तुलाशिक्यो[1]र्द्यौमाः[2] प्रतिमानसमीकरणसमयेषु येष्ववयवेषु संयुक्ता आसंस्तत्र रेखाः कृत्वा तुलातोऽवतारितस्तुलेत्यादिना गमयोर्ध्वं मामित्यनेन मन्त्रेण तुलामभिमन्त्रयेत् । तुलाभिमुखो भूत्वेमं मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । पितामहः—

" छित्त्वा तु यज्ञियं वृक्षं यूपवन्मन्त्रपूर्वकम् ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या मनीषिभिः ॥
मन्त्रः सौम्यो वानस्पत्यश्छेदने जप्य एव च " ॥

नारदः—" खादिरीं कारयेत्तत्र निर्व्रणां शुक्लवर्जिताम् ।
शांशपीं तदलाभे तु सालाद्वा कोटरैर्विना ॥
एवंविधानि काष्ठानि घटार्थे परिकल्पयेत् ।
ऋज्वी घटतुला कार्या खादिरी तैन्दुकी तथा ॥
चतुरश्रा त्रिभिः स्थानैर्घटकर्कटकादिभिः " ॥

घटो मध्यं[कर्कटकौ] कर्कटकावर्तौ ।

पितामहः—" प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे घटः सदा ।
इन्द्रस्थाने सभायां वा धर्मस्थाने चतुष्पथे " ॥

उदगग्रोऽपि भवति, यदाह नारदः—

" धारयेदुत्तरे पार्श्वे पुरुषं दक्षिणे शिलाम् " ॥

औचित्यादुदगग्रमुत्तरतः ।

" सभाराजकुलद्वारि सुरायतनचत्वरे ।
निश्चेयो[3] निश्चलः पूज्यो गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥
दध्यक्षतहविर्गन्धकृताध्ययनमङ्गलः ।
धर्मो रक्षार्थमाहूतो लोकपालैरधिष्ठितः " ॥

---

१ ग. घ. 'लाशक्यो' । २ ज. 'यामप्र' । ३ ग. घ. निश्चयो ।

**पितामहः**—" तत्रैव लोकपालांस्तु सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
त्रिसंध्यं पूजयेच्चैनं धूपमाल्यानुलेपनैः ॥
लोकपालांस्तथाऽऽदित्यान्रुद्रांश्चैव वसूंस्तथा[1] ।
पूज्याः प्रभावयुक्ताश्च सांनिध्यं कल्पयन्ति ते ॥
विशालामुच्छ्रितां शुभ्रां घटशालां तु कारयेत् ।
यत्रस्थो नोपहन्येत श्वभिश्चण्डालवायसैः ॥
कवाटबीजसंयुक्तां परिचारकरक्षिताम् ।
पानीयाग्निसमायुक्तामशून्यां कारयेन्नृपः ॥
घटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ।
वादित्रतूर्यघोषैश्च धूपमाल्यानुलेपनैः " ॥

**तथा**—" चतुरश्रा तुला कार्या दृढा ऋज्वी तथैव च ।
कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु यत्नतः ॥
चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समौ ।
अन्तरे तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्ध एव वा " ॥

**कटकानि लोहवलयानि । अध्यर्धः सार्धः ।**

**व्यासः**—" हस्तद्वयं निखेयं तु पादयोरुभयोरपि ।
तोरणे च तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरपि ॥
घटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ।
अवलम्बौ च कर्तव्यौ तोरणाभ्यामधोमुखौ ॥
मृन्मयौ सूत्रसंबद्धौ घटमस्तकचुम्बकौ ।
शिक्यद्वयं समासज्ज्य पार्श्वयोरुभयोरपि ॥
प्राङ्मुखान्कल्पये*दन्ताञ्शिक्ययोरुभयोरपि ।
पश्चिमे तोलयेत्कर्तृनन्यस्मिन्मृत्तिकां शुभाम् ॥
†पिटिकां[4] कारयेत्तस्मिन्निष्टकायां सलोष्टकैः ।
परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः ॥
वणिजो हेमकाराश्च कांस्यकारास्तथैव च ।
कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्बसमो घटः ॥

---

* मिताक्षरायां तु कल्पयेद्भानिति पाठो वर्तते । † पिटकं पूरयेत्तस्मिन्निष्टकाप्रावपांसुभिरिति पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ ग. छ. ज. °श्च वसवांस्त° । २ ग. घ. °था । प्रजाप्र° । ३ ग. घ छ. °लयन्कर्तृ° । ४ ग. °टिकं का° ।

( दिव्यप्रकरणम् ७ ) ·

उदकं च प्रदातव्यं घटस्योपरि पण्डितैः ।
यस्मिन्न प्र(प्ल)वते तोयं स विज्ञेयः समो घटः ॥
तोलयित्वा नरं पूर्वं पश्चात्तमवतारयेत् ।
घटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ॥
तत आवाहयेद्देवान्विधिनाऽनेन मन्त्रवित् ।
वादित्रतूर्यघोषैश्च गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥
प्राङ्मुखः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्राड्विवाकस्ततो वदेत् ।
एह्येहि भगवन्धर्म अस्मिन्दिव्ये समाविश ॥
सहितो लोकपालैश्च वस्वादित्यमरुद्गणैः ।
तस्यार्थमभियुक्तस्य लेखयित्वा तु पत्रके ॥
मन्त्रेणानेन सहितं कुर्यात्तस्य शिरोगतम् ।
आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ॥
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ।
इमं धर्मविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् ॥
आवाहनं च देवानामथैनं परिकल्पयेत् ।
घट त्वं ब्रह्मणा सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् ॥
घकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलो नृणाम् ।
घटो धारयसे यस्माद्घटस्तेनाभिधीयसे " ॥

**विष्णुः**—" त्वमेव घट जानीषे न विदुर्यानि देवताः ।
व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषस्तुल्यते त्वयि ॥
तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि ।
ब्रह्मघ्ना ये स्मृता लोका ये लोकाः कूटसाक्षिणः ॥
तुलाधारस्य ते लोकास्तुलां धारयतो मृषा " ।

**श्रीनारदः**—" समयैः परिगृह्याथ पुनरारोपयेन्नरम् ।
निवाते वृष्टिरहिते शिरस्यारोप्य पत्रकम् ॥
तुलितो यदि वर्धेत शुद्धो भवति धर्मतः ।
समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः " ॥

**तुलितस्तोलितो यदि वर्धेतोर्ध्वं गच्छेद्धर्मतो न तु कुहकतस्तदा शुद्धः सत्यप्रतिज्ञो भवति । यदि समोऽधोगामी वा भवति, तदानीमविशुद्धोऽसत्यप्रतिज्ञः । यत्तु पितामहेनोक्तम्—**

---

१ ग. घ. 'लाधर' । २ ग. छ. निधौते वृ' ।

" अल्पपापः समो ज्ञेयो बहुपापस्तु हीयते ।
धर्मगौरवमाहात्म्यादतिरिक्तो विशुध्यति "

इति, तद्दण्डप्रायश्चित्तयोरल्पत्वपरम्। व्यवहारे तु समस्यापि पराजय एव। न हि दोषाल्पत्वेन दातव्यधनस्य संख्याल्पत्वविशेषः शक्यो व्यवस्थातुं, येन व्यवहारेऽपि दोषाल्पत्वं प्रवृत्तिविशेषकारितामुपेयात्।

बृहस्पतिः—" घटेऽभियुक्तस्तुलितो हीनश्चेद्धानिमाप्नुयात्।
तत्समस्तु पुनस्तुल्यो वर्धितो विजयी भवेत् " ॥

एवं च सति प्रथमतोलने पर्याये समस्य पुनस्तोल्यमानस्य यदि समतैव भवति तदानीमविशुद्धिरवधारणीया, न प्रथम एव पर्याये। शिक्यादीनां दृष्टकारणमन्तरेण च्छेदादौ जयोऽवधार्यः, तदाह नारदः—

" कक्षाछेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा।
रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च मूर्छितः शुद्धिमाप्नुयात् " ॥

कक्षा शिक्यम्। शिक्याधारावयोमयावङ्कुशौ कर्कटौ। तुला प्रसिद्धा। अक्षः स्तम्भद्वयोपरि स्थितं तुलाधारभूतं काष्ठम्। तुलादीनां समुदायो घटः। यदा तु दृष्टादेव हेतोः शिक्यच्छेदादि भवति, तदा पुनः क्रिया।

तदाह कात्यायनः—

" शिक्यच्छेदे तुलाभङ्गे तथा चापि गुणस्य वा।
शुद्धेस्तु संशये चैव परीक्षेत पुनर्नरम् " ॥

नारदः—" तुलाशिरोभ्यामुद्भ्रान्तं[1] विचलं व्यस्तलक्षणम्।
यदा वायुप्रणुन्नो वा चलत्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥
निर्मुक्तः सहसा वाऽपि तदा नैकतरं व्रजेत्।
शिक्यच्छेदेऽक्षभङ्गे वा दद्याच्छुद्धिं पुनर्नृपः " ॥

अयमर्थः—तुलायाः शिरोभ्यामन्ताभ्यामुद्भ्रान्तं चलितं यदा भवति, यदा च तुलासाम्यज्ञानार्थं यज्जलादिलक्षणं न्यस्तं तद्विचलति, यदा च वायुना प्रेरितो घट ऊर्ध्वमधो वा कम्पते, यदा च तुलाधारकेण सहसैव घटो विमुच्यते, तदा जयं पराजयं वा न वदेत्। किं तु पुनस्तोलयेत्। एवं शिक्यच्छेदादावपि। इति घटविधिः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

क्रमप्राप्तमिदानीमग्निदिव्यप्रयोगमाह—

---

१ ग. घ. 'णभैच्छेदा'। २ ग. ज. 'न्तं व्यचलव्य'।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

करौ विमृदितव्रीही लक्षयित्वा ततो न्यसेत् ॥
सप्त चाश्वत्थपत्राणि *तावत्सूत्रेण वेष्टयेत् ॥१०३॥

उपवासादि साध्यार्थलिखितं धारणान्तं कृत्वा ततः करौ विमृदितव्रीही विमृदिता विमर्दिता व्रीहयो[1] याभ्यां तौ विमृदितव्रीही लक्षयित्वा तयोर्यत्क्षतादिकमुपलब्धं तल्लक्षयेदङ्कयेदग्निधारणात्प्राक्तनमेतदिति ज्ञापनार्थम् । ततस्तयोरञ्जलीभूतयोरश्वत्थस्य सप्त पत्राणि न्यसेत् । ततस्तावद्भिरेव सूत्रैः सप्तभिर्वेष्टयेत् । हारीतः—

" प्राङ्मुखस्तु ततस्तिष्ठेत्प्रसारितकराञ्जलिः ।
आर्द्रवासाः शुचिश्चैव शिरस्यारोप्य पत्रकम् " ॥

पितामहः—" पश्चिमे मण्डले तिष्ठेत्प्राङ्मुखः प्राञ्जलिः शुचिः ।
लक्षयेयुः क्षतादीनि हस्तयोस्तस्य कारिणः ॥
करौ विमृदितव्रीही तस्याऽऽदावेव लक्षयेत् " ।

नारदः—" लक्षयेत्तस्य चिह्नानि हस्तयोरुभयोरपि ।
प्राकृतानि च गूढानि सव्रणान्यव्रणानि च ॥
कृत्वैवमभियुक्तस्य प्रथमं हस्तलक्षणम् ।
शान्त्यर्थं जुहुयात्तत्र घृतमग्नौ यथाविधि " ॥

तथा—" हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्बिन्दुपदानि च ।
तान्येव पुनरालक्षेद्धस्तौ बिन्दुविचित्रितौ ॥
सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि त्वभियुक्तस्य हस्तयोः ।
कृत्वा वेष्टानि यत्नेन सप्तभिस्तत्र तन्तुभिः " ॥

पितामहः—" सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् ।
हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र तन्तून्सूत्रस्य सप्त वै " ॥

वृद्धः—" अयस्तप्तं तु पाणिभ्यामर्कपत्रैस्तु सप्तभिः ।
अन्तर्हितं हरञ्शुद्धस्त्वदग्धः सप्तमे पदे " ॥ १०३ ॥

किंच—

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक ॥
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे मम ॥ १०४ ॥

---

* " तावतां सूत्राणां समाहारस्तावत्सूत्रं तेन सप्तसूत्र्या सकृदेव वेष्टयेदित्यर्थ इति मदनः" । इति मु० मिताक्ष० पु. टि. ।

---

१ ङ. °व्रीहेर्लक्ष° । २ ङ. सप्ताश्वत्थस्य प° । ३ क. °येदाशङ्कये° । ४ क. च । " अ° ।

**तस्येत्युक्तवतो लो(लौ)हं पञ्चाशत्पलिकं समम् ॥**
**अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥ १०५ ॥**

**त्वमग्न इत्यादिकं कवे ममेत्यन्तं मन्त्रमुक्तवतोऽभियुक्तस्य हस्तयोर्लोहमयं पञ्चाशत्पलपरिमाणमग्निवर्णमश्रिरहितं पिण्डं प्राड्विवाको विन्यसेत् । समम् निम्नोन्नतम् । पितामहः—**

" तापयित्वा ततः पश्चादग्निमावाहयेच्छुचिः ।
त्वमग्ने वेदाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे ॥
त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम् ।
उदरस्थोऽसि भूतानां ततो वेत्सि शुभाशुभम् ॥
पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक उच्यसे ।
पापेषु दर्शयाऽऽत्मानमर्चिष्मान्भव पावक ॥
अथ वा शुद्धभावेषु शीतो भव महाबल ।
आयसं लेलिहानस्य जिह्वयाऽपि समादिशेत् " ॥

**तथा—**" अश्रिहीनं समं कृत्वा अष्टाङ्गुलमयोमयम् ।
पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं समम् " ॥

**समं तापयेत्सर्वत इत्यर्थः ।**

**नारदः—**" जात्यैव लोहकारो यः कुशलश्चाग्निकर्मणि ।
दृष्टप्रयोगश्चान्यत्र तेनायोऽग्नौ तु तापयेत् ॥
अग्निवर्णमयःपिण्डं सस्फुलिङ्गं सुयन्त्रितम् ।
पञ्चाशत्पलिकं भूयः कारयित्वा शुचिर्द्विजः ॥
तृतीयतापे तप्तं तं ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतः ।
शृण्विमं मानवं धर्मं लोकपालैरधिष्ठितम् ॥
त्वमग्ने सर्वभूतानां हृदिस्थो वेत्सि चेष्टितम् ।
सत्यानृते च जिह्वायास्त्वत्तः समुपलभ्यते ॥
वेदादिभिरिदं प्रोक्तं नान्यथा कर्तुमर्हसि ।
अनेनाऽऽदाविदं प्रोक्तं मिथ्या चेदमसौ वदेत् ॥
सर्वथा च यथा मिथ्या तथाऽग्निं धारयाम्यहम् ।
स एष त्वां धारयति सत्येनानेन मानवः ॥
सत्यवाक्यस्य वाक्यत्वं शीतो भव हुताशन ।

---

१ क. °तापत° । २ ग. घ. ज. °था चाय° ।

मृषावाक्यस्य पापस्य दह हस्तौ च पापिनः ॥
अमुमर्थं च पत्रस्थमभियुक्तं यथार्थतः ।
संश्राव्यमूर्जितस्यैव न्यस्य देयो यथाक्रियम् " ॥

त्वं देवानां जिह्वेत्यन्वयः । देयः शपथो देय इत्यर्थः ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

**स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत् ॥**
**षोडशाङ्गुलिकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम् ॥ १०६ ॥**

सोऽभियुक्तस्तमयःपिण्डकमग्निवर्णं कराभ्यामादाय शनैरत्वरमाणः सप्तसु मण्डलेषु सप्त क्रमान्कृत्वा व्रजेत् । मण्डलानि च प्रत्येकं षोडशाङ्गुलप्रमाणानि। मण्डलानां चान्तराण्यपि प्रत्येकं षोडशाङ्गुलान्येव । पितामहः—

" अग्नेर्विधिं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचोदितम् ।
कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा ॥
आग्नेयं मण्डलं त्वाद्यं द्वितीयं वारुणं तथा ।
तृतीयं वायुदै(दे)वत्यं चतुर्थं यमदैवतम् ॥
पञ्चमं त्विन्द्रदै(दे)वत्यं षष्ठं कौबेरमुच्यते ।
सप्तमं सोमदै(दे)वत्यमष्टमं शर्वदैवतम् ॥
पुरस्तान्नवमं यत्तु तन्महत्पार्थिवं विदुः ।
गोमयेन कृतानि स्युरद्भिः पर्युषितानि च ॥
द्वात्रिंशदङ्गुलान्याहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् ।
कर्तुः पदसमं कार्यं मण्डलं तु प्रमाणतः " ॥

अत्र प्राक्संस्था मण्डलपङ्क्तिरार्जववती कार्या । तत्र पश्चिमं मण्डलं दिव्यकर्तुरवस्थानार्थं, तत्र स्थितो ह्यग्निमभिमन्त्र्य गृह्णाति । यस्मादाह स एव—

" पश्चिमे मण्डले तिष्ठेत्प्राङ्मुखः प्राञ्जलिः शुचिः " इति ।

नवमं तु मण्डलमग्निक्षेपार्थं, यस्मात्स एवाऽऽह—

" त्वरमाणो न गच्छेत्तु स्वस्थो गच्छेच्छनैः शनैः ।
न मण्डलमतिक्रामेन्नान्तरा स्थापयेत्पदम् ॥
अष्टमं मण्डलं गत्वा नवमं निक्षिपेद्बुधः " ।

यत्तु एकस्मान्मण्डलाद्द्वितीयं द्वात्रिंशदङ्गुलानीत्युक्तं तदन्तरालस्य मण्डलसंमिलितस्य परिमाणमिति वेदितव्यम् । न तु केवलस्यान्तरालस्य

---

१ क. °त्रस्थं मन्त्रयु° । २ ङ. °ङ्गुलकं । ३ ग. घ. छ. °रास्तान्यपि । ४ ग. ज. °ल्यन्यसेत् । पि° । ५ ग. घ. छ. °मं सर्व° ।

मण्डलस्य वा। एवं षोडशाङ्गुलिकमित्यादिवचनाविरोधः। तत्र यदि षोडशाङ्गुलं मण्डलं तदन्तरालमपि षोडशाङ्गुलकमेव । यदा तु कर्तृपादेन परिमितं मण्डलं तदा तदन्तरालं सप्तदशाङ्गुलं कार्यम्, नान्यथा सान्तरालस्य मण्डलस्य द्वात्रिंशदङ्गुलता स्यात्।

नारदः—" अतः परं प्रवक्ष्यामि विधिमग्नेस्तथोत्तरम्।
द्वात्रिंशैदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् ॥
सप्तभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम्।
चतुर्विंशत्समाख्याता भूमेस्तु परिकल्पना ॥
मण्डलस्य प्रमाणं तु कुर्यात्तत्पदसंमितम् "।

पितामहः—" मण्डले मण्डले देयाः कुशाः शास्त्रप्रचोदिताः।
विन्यसेत्तु पदं कर्ता तेषु नित्यमिति स्थितिः " ॥

नारदः—" स्थित्वैकस्मिंस्ततोऽन्यानि व्रजेत्सप्त त्वजिह्मगः।
असंभ्रान्तः स तैर्गच्छेदक्रुद्धः सोऽनलं प्रति ॥
न प्रापयेत्तमप्राप्य या भूमिः परिकल्पिता " ॥ १०६ ॥

**मुक्त्वाऽग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ॥
अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥**

सप्त मण्डलानि गत्वाऽग्निं विमुच्य कराभ्यां विमर्दितव्रीहिरदग्धहस्तः शुद्धोऽन्यथा त्वशुद्धः। यदि पुनर्मध्य एवायःपिण्डः पतति कारणान्तराद्वा संदेहे जाते पुनस्तं हरेत्। पितामहः—

" ततस्तद्वत्तयोः प्रास्येद्व्रीहीन्वा यदि वा यवान्।
निर्विशङ्केन तेषां तु हस्ताभ्यां मर्दने कृते ॥
निर्विकारे दिनस्यान्ते शुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् "।

नारदः—" तस्यैवं मुक्तपिण्डस्य कुर्यात्करनिरीक्षणम्।
पूर्वदृष्टेषु चिह्नेषु ततोऽन्यत्रापि लक्षयेत् ॥
मण्डलं रक्तसंकाशं यत्रान्यद्वाऽग्निसंभवम्।
सोऽविशुद्धस्तु विज्ञेयोऽसत्यधर्मव्यवस्थितः ॥
यदा तु न विभाव्येत दग्धाविति करौ तदा।
व्रीहीनतिप्रयत्नेन सप्तवारं तु मर्दयेत् ॥

---

१ क. °ङ्गुलपरिमितमित्या°। २ ग. घ. छ. °शन्मण्डलान्याहु°। ३ ग. घ. छ. ज. °येत्ताम°।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

मर्दितैरेव नो दग्धः सम्यैरेव विनिश्चितः ।
मोच्यः शुद्धः स संस्कृत्य दग्धो दण्ड्यो यथाक्रमम् " ॥

नारदः—" यस्त्वन्तरा पातयति दग्धश्च न विभाव्यते ।
पुनस्तं हारयेदग्निं स्थितिरेषा दृढीकृता " ॥

कात्यायनः—" प्रस्खलत्यभियुक्तश्चेत्स्थानादन्यत्र दह्यते ।
न दग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूयोऽपि दापयेत् " ॥

दाहस्य स्थानं हस्तौ, ततोऽन्यत्रावयवे दग्धस्य पुनर्दापयेदित्यर्थः ।

इत्यग्निदिव्यविधिः ॥ १०७ ॥

अथ जलपरीक्षाप्रयोगमाह—

**सत्येन माऽभिरक्षस्व वरुणेत्यभिशास्य कम् ॥**
**नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत् ॥१०८॥**
**समकालमिषुं मुक्तमानयेद्यो जवी नरः ॥**
**गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९॥**

सत्येन माऽभिरक्षस्व वरुणेतिमन्त्रेण कं जलमभिमन्त्रयेत् । अस्मिन्नेव काले जलप्रदेशाद्विमुक्तः शरो यत्र निपतति तत्र बलवन्तं पुरुषं स्थापयेत् । ततो नाभिमात्रे जलेऽवस्थितस्य पुरुषस्योरू गृहीत्वा शुद्धिकामो निमज्जेत् । अस्मिन्नेव कालेऽतिकुशलेन धन्विना विमुक्त इषुर्यत्र देशे निपतितः, तं देशं योऽतिवेगवान्पुरुषः स वेगेन गच्छेत् । ततस्तत्र देशे यः प्रागवस्थितः, तं शरं गृहीत्वा निपातवेगेनाऽऽगत्य यदि निमग्नः सर्वाङ्गं शोध्यं पश्येत्, ततो निमग्नः शुद्धिमाप्नुयात् । अशुद्धिमन्यथा । पितामहः—

" तोयस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं धर्म्यं सनातनम् ।
मण्डलं पुष्पधूपाभ्यां कारयेत विचक्षणः ॥
शरान्संपूजयेद्भक्त्या वैणवं च धनुस्तथा ।
मण्डयेत्पुष्पधूपैश्च ततः कर्म समाचरेत् " ॥

कात्यायनः—" शरांस्तु नाऽऽयसैरग्रैः प्रकुर्वीत विशुद्धये ।
वेणुकाण्डमयांश्चैव क्षेप्ता च सुदृढः(ढं) क्षिपेत् " ॥

पितामहः—" क्षेप्ता तु क्षत्रियः कार्यस्तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽपि वा ।
अक्रूरहृदयः शान्तः सोपवासः शरान्क्षिपेत् ॥

---

१ क. शुद्धस्तु सत्कृत्य । २ ङ. °क्ष त्वं व° । ३ क. ग. °प्रवेशा° ।

*इषुंश्च प्रक्षिपेद्विद्वान्मारुते वाति वा भृशम् ।
विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थाणुसमाकुले " ॥

नारदः—" क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् ।
मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेष ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ " ॥

सप्ताधिकं शतं सप्तशतम् । एवं षट्शतं, पञ्चशतम् । अङ्गुलसंख्या चैषा ।

पितामहः—" मध्यमेन च चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम् ।
हस्तानां तु शते सार्धे लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥
तेषां च प्रेषितानां तु शराणां शास्त्रचोदनात् ।
मध्यमस्तु शरो ग्राह्यः पुरुषेण बलीयसा ॥
शराणां पतनं ग्राह्यं सर्पणं परिवर्जयेत् ।
सर्पन्सर्पन्सदा याति दूराद्दूरतरं तु सः " ॥

नारदः—" नातिक्रूरेण धनुषा क्षेपयित्वा शरत्रयम् ।
पानीयमज्जनं कार्यं शङ्का यत्र न जायते " ॥

उशना—" शराणां प्रेषितानां स्यात्समग्राङ्गनिमज्जनम् " ॥

कात्यायनः—" क्षिप्ते तु मज्जनं कार्यं गमनं समकालिकम् ।
गमने त्वागमे(मः?)[1] कार्यः पुमानन्यो जले विशेत् " ॥

पितामहः—" स्थिरे तोये निमज्जेत्तु न ग्राहिणी न चारुपके ।
तृणशैवालरहिते जलौकोमत्स्यवर्जिते ॥
देवखातेषु यत्तोयं तस्मिन्कुर्याद्विशोधनम् ।
आहार्यं वर्जयेन्नित्यं शीघ्रवेगं नदीषु च ॥
नदीषु नातिवेगासु तडागेषु सरःसु च ।
ह्रदेषु स्थिरतोयेषु कुर्यात्पुंसां निमज्जनम् " ॥

पितामहः—" स्थापयेत्पुरुषं तोये स्तम्भवत्प्रथमं दृढम् ।
आश्रित्य तं मज्जयेयुः पुरुषाः शुद्धिकाङ्क्षिणः " ॥

नारदः—" ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो रागद्वेषविवर्जितः ।
नाभिमात्रे जले स्थाप्यः पुरुषः स्तम्भवद्बली ॥
तस्योरू प्रतिसंगृह्य निमज्जेदभिशापवान् ।
शरप्रक्षेपणस्थानाद्युवा जवसमन्वितः ॥

---

* मिताक्षरायांतु इषुं न प्रक्षिपेदिति पाठोऽयमेव युक्तः स आदर्शपुस्तकेषु नोपलभ्यते ।

---

१ ग. °मे चान्यः प्रमाणोऽन्यज° ।

गच्छेत्परमया शक्त्या यत्रासौ मध्यमः शरः ।
मध्यमं शरमादाय पुरुषोऽन्यस्तथाविधः ॥
प्रत्यागच्छेत्तु वेगेन यतः स पुरुषो गतः ।
आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले ॥
अन्तर्जलगतं सम्यक्तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् " ।

बृहस्पतिः—" आनीते मध्यमे बाणे मज्जाङ्गः शुचितामियात् " ।

नारदः—" अन्यथा न विशुद्धिः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शने ।
स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाद्यस्मिन्पूर्वं निवेशितः " ॥

कात्यायनः—" शिरोमात्रं तु दृश्येत न कर्णौ नापि नासिका ।
अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥
निमज्योत्प्लवते यस्तु दृष्टश्चेत्प्राणिना नरः ।
पुनस्तत्र निमज्जेत्स देशचिह्नविभावितः " ॥

इति जलदिव्यविधिः ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

अथ विषदिव्यप्रयोगमाह—

**त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः सत्ये धर्मे व्यवस्थितः ॥**
**त्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥११०॥**
**एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ॥**
**यस्य वेगैर्विना जीर्णं तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत् ॥१११॥**

सर्वदिव्यसाधारणे साध्येऽर्थे लेख्यधारणपर्यन्ते धर्मजाते कृते वक्ष्यमाणप्राड्विवाकमन्त्रे प्रयुक्ते वक्ष्यमाणेन वाऽभिशस्तप्रयोज्यमन्त्रेण विषेऽभिमन्त्रिते " त्वं विष ब्रह्मण पुत्रः " इत्यनेन मन्त्रेण विषं शार्ङ्गं हिमवत्युत्पन्नं सप्तयवपरिमाणमभिशस्तो भक्षयेत् । यस्य तद्भक्षितं वेगैर्विना जीर्णं भवति परिणामं याति स शुद्धः, विपरीतोऽशुद्धः । त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । एतेष्वेकस्मिन्धातौ वर्तमानस्य विषस्य शीघ्रं धात्वन्तरप्राप्तिः । तत्र त्वचि वर्तमानं विषं रोमाञ्चं जनयति, तदेव लोहितं प्राप्य स्वेदं वक्त्रशोषं च, मांसं प्राप्य वैवर्ण्यं, मेदः प्राप्य कम्पं, तदेवास्थिगतं नेत्रपारवश्यं, मज्जागतं तु विषादं मोहं, तदेव शुक्रगतं मरणं जनयति ।

---

१ क. ग.घ.ङ. पुत्र । २ ङ. जीर्येच्छुद्धिं । ३ ग. घ. ज. लेखाधी । ४ ग. घ. छ. ज. °तं म° ।

नारदः—" अतः परं प्रवक्ष्यामि विषस्य विधिमुत्तमम् ।
यस्मिन्काले यदा देयं यादृशं च प्रकीर्तितम् ॥
यवमात्रा समुद्दिष्टा धर्मतत्त्वार्थवेदिभिः ।
तुलयित्वेच्छतः काले देयमेतद्विमागमे ॥
नापराह्णे न मध्याह्ने न संध्यायां च धर्मवित् ।
शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु वर्षासु च विवर्जयेत् ॥
भग्नं च धारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा ।
कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेत् ॥
वर्षासु षड्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्च यवाः स्मृताः ।
हेमन्ते च यवाः सप्त शरद्यल्पास्ततोऽपि हि " ॥

पितामहः—" वारिजान्यतिशीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च ।
भूमिजानि च सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेत् ॥
ओषधीर्मन्त्रयोगांश्च मणीनथ विषापहान् ।
कर्तुः शरीरसंस्थांश्च गूढानन्यान्परीक्षयेत् " ॥

कात्यायनः—" अजाशृङ्गनिभं श्यामं सुपीनं शृङ्गसंभवम् ।
भङ्गे च शृङ्गवेराभं रूयातं तच्छृङ्गिणां विषम् ॥
रक्तं तदसितं कुर्यात्कठिनं चैव तत्क्षणात् ।
अनेन विधिना ज्ञेयं विषं दिव्यविशारदैः ॥
वत्सनाभनिभं पीतं वर्णज्ञानेन निश्चयः ।
शुक्तिशङ्खाकृतिर्भङ्गे विद्यात्तद्वत्सनाभकम् ॥
मधुक्षीरसमायुक्तं स्वच्छं कुर्वीत तत्क्षणात् ।
बाह्यमेवं समाख्यातं लक्षणं धर्मसाधकैः " ॥

रक्तमसृक्तद्येन संसृष्टं कृष्णं कठिनं च तत्क्षणाद्भवति तच्छृङ्गिविषं ज्ञेयमित्यर्थः ।

पितामहः—" यवाः सप्त प्रदातव्याः शुद्धिहेतोरसंशयम् ।
शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य विषस्य वा " ॥

कात्यायनः—" पूर्वाह्णे शीतले देशे विषं दद्यात्तु देहिनाम् ।
घृतेन योजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिंशद्गुणेन तु " ॥

त्रिंशद्गुणेन घृतेनेत्यन्वयः ।

---

१ ग. घ. छ. °न्यत्यजीर्णा° । २ क. °त्क्षणम् । अ° । ३ ग. घ. छ. °क्तिशृङ्गाकृ° । ४ घ. छ. स्वच्छे ।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

नारदः—" दद्याद्धि सोपवासाय देवब्राह्मणसंनिधौ ।
धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥
द्विजानां संनिधाने च दक्षिणाभिमुखे स्थिते ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा दद्याद्विप्रः समाहितः " ॥

कात्यायनः—" विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः ।
तमष्टभागहीनं तु शोध्ये[1] देयं घृताप्लुतम् " ॥

पितामहः—" दीयमानं करे कृत्वा विषं तु परिशापयेत् ।
विष त्वं ब्रह्मणा सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम् ॥
पापेषु दर्शयाऽऽत्मानं शुद्धानाममृतं भव " ।

विष्णुः—" विषत्वाद्विषमत्वाच्च क्रूरस्त्वं सर्वदेहिनाम् ।
त्वमेव विष जानीषे न विदुर्यानि मानवाः ॥
व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः सिद्धिमिच्छति ।
तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि " ॥

अयं च मन्त्रः प्राड्विवाकेन सामर्थ्याद्वाच्यः ।

पितामहः—" भक्षिते यदि स स्वस्थो मूर्छाछर्दिविवर्जितः ।
निर्विकारो दिनस्यान्ते शुद्धं तमिति निर्दिशेत् " ॥

नारदः—" छायानिवेशितो रक्ष्यो दिनशेषममोजनः ।
विषवेगक्षमापेतः शुद्धोऽसौ मनुरब्रवीत् " ॥

बृहस्पतिः—" विधिदत्तं विषं येन जीर्णं मन्त्रौषधं विना ।
स शुद्धः स्यादन्यथा तु दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् " ॥

पितामहः—" त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैः स्वैरधिष्ठितम् ।
कुहिकाशङ्कया राजा धारयेद्दिव्यधारणम् " ॥

इति विषदिव्यविधिः ॥ ११० ॥ १११ ॥

अथ कोशविधिमाह—

**देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् ॥**
**संश्राव्य पाययेत्तस्माज्जलात्तु प्रसृतित्रयम् ॥ ११२ ॥**

सर्वदिव्यसाधारणे धर्मवर्गे कृत उग्रानादित्यादिदेवान्सम्यग्गन्धपुष्पादिनाऽभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहृत्य तस्माज्जलात्सत्येन माऽभिरक्षस्व वरुणेत्यभिमन्त्रितात्प्रसृतित्रयं दिव्यकर्तारं पाययेत् । प्राड्विवाक इति शेषः ।

---

१ ग, ज. °षं त्वप°।

पितामहः-" भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तं नरम् ।
समभावे तु देवानामादित्यस्य तु पाययेत् ॥
बृहस्पतिः—" यद्भक्तः सोऽभियुक्तः स्यात्तदेवाऽऽयुधमण्डलम् ।
प्रक्षाल्य पाययेत्तस्माज्जलात्तु प्रसृतित्रयम् " ॥
नारदः—" पूर्वाह्णे सोपवासस्य स्नातस्याऽऽर्द्रपटस्य च ।
सशूकस्याव्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥
इच्छतः श्रद्दधानस्य देवब्राह्मणसंनिधौ ।
यद्भक्तः सोऽभियुक्तः स्यात्तद्दै(द्दे)वत्यं प्रदापयेत् " ॥
सशूक आस्तिकः ।
कात्यायनः—" स्वल्पेऽपराधे देवानां स्नापयित्वाऽऽयुधोदकम् ।
पाय्यो विकारे चाशुद्धो नियम्यः[1] शुचिरन्यथा " ॥
पाय्यः पाययितव्यः । कोशमिति शेषः । विकारोऽनिष्टम् । नियम्यो दण्ड्यः ।
पितामहः—"दुर्गायाः पाययेच्चौरान्ये च शस्त्रोपजीविनः ।
भास्करस्य तु यत्तोयं ब्राह्मणं तत्तु पाययेत् ॥
दुर्गायाः[2] स्नापयेच्छूलमादित्यस्य च मण्डलम् ।
इतरेषां तु देवानां स्नापयित्वाऽऽयुधानि च ॥
मद्यपस्त्रीव्यसनिनां कितवानां तथैव च ।
कोशः प्राज्ञैर्न[3] दातव्यो ये च नास्तिकवृत्तयः " ॥
नारदः—" महापराधे निर्धर्मे कितवे क्लीबकुत्सिते ।
नास्तिकव्रात्यदासेषु कोशपानं विवर्जयेत् ॥
तमाहूयाभिशस्तं तु मण्डलाभ्यन्तरे स्थितम् ।
आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रसृतित्रयम् "॥ ११२ ॥

जयपराजयावधारणे[4]कारणमाह—

**अर्वाक्चतुर्दशाद्दत्तो यस्य नो राजदैविकम् ॥**
**व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥११३॥**

[ इति दिव्यप्रकरणम् ॥ ७ ॥ ]

कोशपानदिनप्रभृति चतुर्दश दिनानि यस्य राजदैवकृतं घोरं तीव्रं व्यसनं दुःखकारणं न जायते स शुद्ध एवेति वेदितव्यम् । तदुत्तरकाले तु व्यसनोदयेऽप्यशुद्धिर्नाऽऽशङ्कनीया ।

---

१ घ. छ. ज. °यम्याशु° । २ घ. छ. °र्याः स्नप° । ३ ग. घ. छ. ज. प्राज्ञैः प्रदा° । ४ ग. घ. छ. °णमा° ।

( दिव्यप्रकरणम् ७ )

**नारदः**—" ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहाद्वैकृतं तु महद्भवेत् ।
नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् " ॥

**विष्णुः**—" यस्य पश्येद्विसप्ताहात्त्रिसप्ताहादथापि वा ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं राजदण्डमथापि वा ॥
तमशुद्धं विजानीयात्तथा शुद्धं विपर्यये " ।

**पितामहः**—" त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा द्विसप्ताहादथापि वा ।
वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स तु मानवः ॥
तस्यैकस्य न सर्वस्य जनस्य यदि तद्भवेत् ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं सैव तस्य विभावना " ॥

**कात्यायनः**—" अथ दैवविसंवादस्त्रिसप्ताहात्तु दापयेत् ।
अभियुक्तं तु यत्नेन तमर्थं दण्डमेव च " ॥

**अत्र दिनसंख्याल्पत्वमहत्त्वे अभियोगविषयस्याल्पत्वमहत्त्वानुसारेण वेदितव्ये । तत्रात्यन्तमहाभियोगे त्रिसप्ताहो महाभियोगमात्रे तु चतुर्दशाह इत्यादि कल्प्यम् । इति कोशविधिः ।**

**पितामहः**—" तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ।
चौर्ये तु तण्डुला ज्ञेया नान्यस्मिन्निति निश्चयः ॥
तण्डुलान्कारयेच्छुक्लाञ्शालेर्नान्यस्य कस्यचित् ।
मृन्मये भाजने कुर्यादादित्यस्याग्रतः शुचिः ॥
स्नानोदकेन संमिश्रान्रात्रौ तत्रैव वासयेत् ।
प्रभाते कारिणो देया आदित्याभिमुखस्य च ॥

**कारिणः शपथकारिणः । आदित्यस्याभिमुखस्य प्राङ्मुखस्येत्यर्थः ।**

" तण्डुलान्भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्तदा ।
भूर्जस्यैव तु नान्यस्य अलाभे पिप्पलस्य तु ॥
शोणितं दृश्यते यत्र हनुस्तालुश्च शीर्यते ।
गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥
सरक्तास्तण्डुला यस्य यत्र न स्युः सुचर्विताः ।
विकृतं ष्ठीवनं यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥
उपजिह्वातालुपाती मुखरोगी तथैव च ।
न तेषां तण्डुला देयाः शङ्कया शोणितस्य च " ॥

---

१ ग. ज. दैविविसं° । २ ग. घ. ज. तदर्थं । ३ ग. घ. छ. °तालपा° ।

सर्वदिव्यसाधारणं धर्मजातमिहापि कर्तव्यम् ।

तथा—" तप्तमाषस्य वक्ष्यामि विधिमुद्धरणे शुभम् ।
कारयेदायसं पात्रं ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम् ॥
चतुरङ्गुलमुत्सेधं मृन्मयं वाऽपि वर्तुलम् ।
पूरयेद्घृततैलाभ्यां पलैर्विंशतिभिस्तु तत् ॥
सुवर्णमाषकं तस्मिन्सुतप्ते[1] निक्षिपेत्ततः ।
अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन चोद्धरेत्तप्तमाषकम् ॥
कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा न जायते ।
शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलिः " ॥

अथ फालविधिः । तत्र बृहस्पतिः—

" आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते ।
अदग्धश्चेच्छुद्धिमियादन्यथा त्वपहीयते " ॥

अथ धर्मविधिः—"पत्रद्वये लेखनीयौ धर्माधर्मौ सितासितौ ।
जीवदानादिभिर्धर्मैस्त्रैर्गार्यैश्च सामभिः ॥
आमन्त्र्य पूजयेद्गन्धैः कुसुमैश्च सितासितैः ।
अभ्युक्ष्य पञ्चगव्येन मृत्पिण्डान्तरितौ ततः ॥
समौ कृत्वा तु तौ कुम्भे स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ।
ततः कुम्भात्पिण्डमेकं प्रगृह्णीताविलम्बितः ॥
धर्मे गृहीते शुद्धः स्यात्स पूज्यश्च परीक्षकैः " ॥ ११३ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के दिव्यप्रकरणम् ॥ ७ ॥]

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# दायविभागप्रकरणम् । ( ८ )

उक्तमृणादानाख्यं निक्षेपाख्यं च व्यवहारपदं, तदङ्गतया च प्रमाणान्यपि मानुषाणि दिव्यानि च । अथेदानीं विभागाख्यं व्यवहारपदमारभते—

---

१ ग. घ. छ. °न्सुक्षिप्ते । २ ग. घ. °तं फल° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

**विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ॥**
**ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः ॥ ११४ ॥**

पित्रादिधनस्य पुत्रादीनुद्दिश्य विविच्य भागकरणं विभागः । तत्र पितृधनं पिता विभजेदित्युत्सर्गः । हेतुविशेषे तु पुत्रा अपि विभजन्ते, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते। तत्र यदि पिता विभजेत्तदिच्छया न्यूनाधिकविभागविषयान्सुतानुद्दिश्य धनं विभजेत् । अस्मद्धनस्यायमंशस्तवायमंशस्तवेति व्यवस्थापयेदिति यावत् ।

शङ्खः—" यद्येकपुत्रः स्यात्तदा द्वौ भागौ वाऽऽत्मनः कुर्यात् " ।

नन्विच्छयेति न वक्तव्यम् , विभागकर्तृत्वादेव तत्प्राप्तेः । न हि चेतनोऽनिच्छन्क्रियासु स्वतन्त्रो भवति, स्वतन्त्र एव कर्तोच्यते । सत्यम् । विभागकर्तृत्वादेव विभागविषयेच्छा प्राप्ता । अत एवासाविच्छया विभजेदित्यनेन[न] विधीयते किं त्वन्यैव । तस्याश्च कस्यचित्पुत्रस्य न्यूनो धनांशः कस्यचिदधिक इत्येवं विषमो भागो विषयः । तैतश्चेच्छया न्यूनाधिकविभागैः सुतान्विभजेदित्यर्थः । यद्यपि विभजेदित्यस्माद्विभाग एव प्रतीयते, न वैषम्यविशिष्टस्तथाऽपि—

" ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः " ॥

इत्यादिभिरुद्धारशास्त्रैर्यावन्त उद्धारप्रकारा विहितास्ते सर्वेऽत्रोपलक्षिता भवन्ति । ततश्च पारिशेष्याद्विभागकर्तुरिच्छया विभागवैषम्यम् "इच्छया विभजेत्सुतान् " इत्यत्र विधीयत इति सिद्धम् । अत्र नारदः—

" पित्रैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः ।
तेषां स एव धर्मः स्यात्सर्वस्य हि पिता प्रभुः " इति ॥

न चैतदुद्धारवाक्यार्थविषयमिति वाच्यं, पिता प्रभुरिति वचनात् । न ह्युद्धारे पितुः प्रभुत्वं किं तु शास्त्रस्य । बृहस्पतिः—

" समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।
तथैव ते पालनीया विनयास्ते स्युरन्यथा " ॥

अथ चेच्छया विभजेत्सुतानित्यनेन विभागकर्तृतयैव पितुरिच्छया विभागप्रयोजकत्वं प्राप्तमुच्यत इति वाक्यार्थानर्थक्यप्रसङ्गपरिहारार्थं पुत्रेच्छा विभागं न प्रयुङ्क्त इति परिसंख्यायत इत्याश्रीयते । तथा च मनुः—

---

१ क. °श्य भागकरणं विविच्य । ग. °श्य विभागं विविच्य । २ क. °व कस्मात्कस्य° । ङ. °व तस्मात्कस्य° । ३ ङ. ततः स्वेच्छ° । ४ ङ. °क्यान° । ५ च. °ख्याऽप्यत्राऽऽश्री° ।

" ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः " ॥

**देवलः**—" पितर्युपरते पुत्रा विभजेरन्पितुर्धनम् ।
अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते " ॥

**अस्वाम्यमस्वातन्त्र्यम् ।**

**शङ्खलिखितौ**—" अत ऊर्ध्वं रिक्थविभागः । न जीवति पितरि पुत्रा रिक्थं विभजेरन् । यद्यपि स्यात्पश्चादधिगतमेतैरनर्हा एव पुत्रा अर्थधर्मयोरस्वातन्त्र्यात् " ।

**नारदः**—" विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते ।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः " ॥

**अत्र च पित्र्यस्य पुत्रैरिति च प्रदर्शनार्थम् । " विभागं चेत्पिता कुर्यात् " इति पितुः स्वार्जितधनविषयम् । तत्पित्रार्ज्जितधनविषये तु सममेव पितापुत्रयोर्विभागकर्तृत्वम् । अत एवाऽऽह विष्णुः—**

" पिता चेत्पुत्रान्विभजेत्तस्य स्वेच्छा स्वयमुपार्जितेऽर्थे पित्रार्जितेऽपि धने कदाचित्पुत्रा एव विभागकर्तारो भवन्ति ।

**अत एव नारदः**—" अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेरन्धनं समम् " ।

**समामिति पित्रोरूर्ध्वं विभागकर्तृत्वं पुत्राणां प्रतिपाद्य—**

" मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च ।
निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे " **इत्युक्तवान् ।**

**पुत्राः समं धनं विभजेयुरित्यनुषज्जते ।**

**शङ्खः**—" अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि दीर्घरोगिणि वा " ।

**नारदः**—" व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः ।
अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः " ॥

**अन्यथाशास्त्रकारी विधिनिषेधातिक्रमकारी । पित्रार्जितेऽपि धने पुत्राणां विभागे स्वातन्त्र्यं पितुरकामत्वादौ निमित्ते भवति । मातरि त्वम्रियमाणायामस्वतन्त्रा एव पुत्राः । यदाह शङ्खः—**

" ज्येष्ठ एव पितृवदर्थान्पालयेदितरेषां तु रिक्थमूलमेव कुटुम्बमस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातर्येवमवस्थितायाम् " ।

---

१ ग. °तौ–पितुरूर्ध्वं । २ ग. °र्मयोः स्वातन्त्र्यम् । ना° । ३ क. °द्विभागप° । ४ ग. पितुरू° । ५ ग. छ. ज. °रि तु म्रि° ।

मातुः कुटुम्बभरणसामर्थ्ये सत्येतत् । ज्येष्ठस्य यदनुजैः सहाविभक्तधनत्वमुच्यते, तत्तेषां मध्ये कैश्चिदध्येतव्ये वेदे सति द्रष्टव्यम् । अधीतवेदेष्वधिगतवेदार्थेषु चाग्निहोत्राद्यनुष्ठानसमर्थेषु च विभाग एव श्रेयान् । यदाह मनुः—

" एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाङ्क्षया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्याः पृथक्क्रियाः " ॥

व्यासः—" भ्रातॄणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते ।
तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते " ॥

यदा त्वप्रगल्भतया ज्येष्ठेन सह विभक्तधनाः कनीयांसो भवन्ति, तदा तेषामावश्यकं वैश्वदेवाद्यपि न विभज्यते । यदाह बृहस्पतिः—

" एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे " ॥

उक्ते पितृकर्तृके विभागे पुत्राणां विषमोऽपि विभागो भवतीति तस्य विशेषापवादमाह मनुः—

" भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं* भवेत्सह ।
न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन " ॥ ११४ ॥

किंच—

**यदि कुर्यात्समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिकाः ॥**
**न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥**

यदि पिता पुत्राणां कृते समं धनविभागं कुर्यात्तदा याभ्यः स्त्रीभ्यः स्त्रीधनं भर्त्रा वा श्वशुरेण पित्रा वा न दत्तं ताः स्वपत्न्यः पुत्रसमांशाः कार्याः। एकस्य पुत्रस्य यावानंशस्तावदंशामेकैकां पत्नीं कुर्यादित्यर्थः ॥ ११५ ॥

विभागवैषम्ये कारणान्तरमाह—

**शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया ॥**

यः पुत्रो धनार्जनसमर्थतया पितृधनं नेच्छति, यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्यार्जनरक्षणानुकूलां चेष्टां न कुरुते, तस्मै किंचिदसारमल्पकं धनं दत्त्वा पित्रा पृथक्क्रिया कार्या । अन्यथा तेन तत्संतत्या वा

---

* उत्थानशब्देनात्र धनार्जनम् ।

---

१ क. ग. °याऽपि पितृ° । २ ङ. °कं वा धं° ।

विवादः स्यात्। पुत्रैः संभूयार्जिते धन एतत्। पित्रादिधने तु सममंशं लभत एव।

मनुः—"भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
सं विभाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम्" ॥

स्वकादंशाद्भ्रातृभिः स्वयमर्जितादित्यर्थः।

प्रसङ्गादन्यदुच्यते। अत्र नारदः—

"कुटुम्बार्थेषु चेद्युक्तस्तत्कार्यं कुरुते च यः।
स भ्रातृभिर्बृंहणीयो ग्रासाच्छादनवाहनैः" ॥

आपस्तम्बः—सर्वे हि धर्मसंयुक्ता भागिनो यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीत"।

अधर्मेण द्यूतादिना द्रव्याणि सुवर्णगोवस्त्रादीनि प्रतिपादयति विनाशयति अन्यत्र नयति वा।

गौतमः—"सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तो न लभेतेत्येकेषाम्"।

मनुः—"सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्"।

शङ्खलिखितौ—"अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि निवर्तन्ते"।

पतितत्वाज्ज्ञातिभिर्बहिष्कृतोऽपपात्रितः। रिक्थं पितृधनम्। पुत्रस्थानीयस्य ज्ञातिधनमपि॥

उक्तो विषमविभागः स धर्मत्वादनतिक्रमणीय इत्याह—

**न्यूनाधिकविभक्तानां धर्मः पितृकृतः स्मृतः॥ ११६॥**

पुत्रैर्वार्जितधनस्य न्यूनाधिकांशदानेन पुत्राणां विभक्तधनानां स एव धर्मो यः पित्रा कृतोऽतोऽसौ नातिक्रमणीयः।

बृहस्पतिः—"समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः।
तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा"॥ ११६॥

अधुना कर्तृकर्मकालप्रकारैर्वैशिष्ट्यं विभागान्तरमाह—

**विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्॥**
**मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥ ११७॥**

मातापित्रोर्मरणादूर्ध्वं तयोरेव रिक्थमृणं च पुत्राः समं यावन्तो भ्रातरस्तावतो भागान्प्रत्येकमन्यूनाधिकानृणस्य धनस्य च कृत्वा भजेरन्। ततश्च

---

१ क. सनिर्भाज्यः। ग. सनिर्भाजात्स्वका°। घ. छ. सनिर्भाज्यात्स्वका°। २ क. ङ. °षयवि°। ३ ङ. पुत्रार्जि°।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

यो यावन्तं धनस्य विभागं भजते तावन्तमृणस्यापि भजते । एवं च सति *यश्चतुस्त्रिंश्चैकभागाः स्युरिति तथा येन चैषां स्वयमुत्पादितं स्यादित्यादिषु विषमविभागविधिषु ऋणस्यापि धनानुसारेण विभागविधिरवसेयः । मातुस्तु धनमृणापाकरणे कृते यदवशिष्टं तत्तस्या दुहितरो विभजेरंस्ताभ्य ऋते दुहितृणामभावे तदन्वयो दुहित्रन्वयः । दुहितॄणां तदन्वयस्य वाऽ(चा)भावे पुत्रा एव मातृधनं विभजेरन् । यदाह कात्यायनः—

"दुहितॄणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत् ।
बन्धुदत्तं तु बन्धूनामभावे भर्तृगामि तत् ॥
भगिन्यो बान्धवैः सार्धं विभजेरन्समर्तृकाः ।
स्त्रीधनस्येति धर्मोऽयं विभागस्तु प्रकल्पितः" इति ॥

मनुः—"जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः" इति ॥

अत्र चशब्दो विकल्पार्थो न समुच्चयार्थः । विकल्पे च दुहितरः कुमार्यः पूर्वमधिक्रियन्ते । यदाह मनुरेव—

"मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः" इति ।

गौतमस्तु(स्त्व(?)) अप्रत्तानामपि दुहितॄणामप्रतिष्ठितानां मातृधनग्राहित्वमाह—

"स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च" इति ।

अप्रतिष्ठिताऽनपत्या निर्धना दुर्भगा वा ।

बृहस्पतिः—"स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी ।
अप्रत्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम्" ॥

यौतकं पृथग्धनम् । मानमात्रकं स्वल्पमित्यर्थः ।

वसिष्ठः—"मातुः परीणाह्यं स्त्रियो विभजेरन्" ।

परीणाह्यमलंकारादि । अनपत्यस्त्रीधनविषये मनुराह—

"स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्" ॥

पित्रेत्युपलक्षणम् । कन्या सापत्नी, ब्राह्मणीति विशेषणोपरोधात् । एवं च सति प्रत्तासु प्रतिष्ठितासु दुहितृषु पुत्राणामपि मातृधनेऽधिकारो भवति । अस्मिन्नेव विषये विशेषान्तरमाह मनुः—

---

* य इति पदमधिकम् ।

---

१ ग. घ. छ. ज. °ण कृ° । २ क. घ. °वे षुरि° । ३ ग. घ. ज. °त्तं त्वब° । ४ ग. घ. ज. प्रमत्ता° । ५ ग. घ. ज. °प्रमत्ता° । ६ क. अपुत्रा चे° । ७ क. °द्धरतोवि° ।

"यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् " ॥

**विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वमित्यस्यायमर्थः**—यदि पित्रोर्मरणादूर्ध्वं विभजेरंस्तदा रिक्थादि समं विभजेरन्निति । एतद्भ्रातृकर्तृकविभागपरं, तेन जीवत्यपि पितरि भ्रातरः सममेव विभजेरन् । पितुस्तु विभजमानस्य नायं नियम इत्यर्थाद्गम्यते । न च पित्रोरूर्ध्वं विभजेरन्नेवेति व्याख्येयम् । **यदाह मनुः**—

" एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाङ्क्षया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया " ॥

**यत्तु तेनैवोक्तम्**—" ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा "

इति, **तदसमाप्तवेदाध्ययनेषु कनिष्ठेषून्मत्तत्वादिना निरंशेष्वसमाप्तव्यवहारेषु वा वेदितव्यम् । अत्र कात्यायनः**—

" संप्राप्तव्यवहाराणां विभागश्च विधीयते ।
पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता " ॥

**असमाप्तव्यवहारत्वं च प्रदर्शनार्थम् । अगृहीतवेदत्वमपि ह्यविभागे कारणम् । यदाह हारीतः**—

" यद्यसमाप्तवेदाः कनीयांसस्तदा सह वसेयुः " इति ।

**नारदः**—" बिभृयाद्वेच्छतः सर्वाञ्ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ।
भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षा कुले स्थितिः " ॥

**नारदस्तु पैतृकमृणमपाकृत्यैव रिक्थं विभजनीयमिति स एवाऽऽ(मित्या)ह**—

" यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्त्वर्णं पैतृकं च यत् ।
भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी स्यादन्यथा पिता " ॥

**पितृदायो नवश्राद्धानि । तथाऽऽह गौतमः**—" नवश्राद्धं सह दद्युः " ।

**कात्यायनः**—" भ्रात्रा पितृव्यमातृभ्यां कुटुम्बार्थमृणं कृतम् ।
विभागकाले देयं तद्रिक्थिभिः सर्वमेव तु ॥
तदृणं धनिने देयं नान्यथैव प्रदापयेत् ।
भावितं चेत्प्रमाणेन विरोधात्परतो यदा " ॥

**विरोधाद्विवादात्परत ऊर्ध्वम् ।**

---

१ क. ग. °राश्रिति । ख. °रन्नवे° । २ घ. छ. °ग्विभज्यते । ३ ग. घ. ज. °ष्ठेषु जन्मतत्वा° ।

तथा—" पित्र्यं पित्र्यर्णसंशुद्धमात्मीयं चाऽऽत्मना कृतम् ।
ऋणमेवंविधं शोध्यं विभागे बन्धुभिः सह ॥
धर्मार्थं प्रीतिदत्तं च यद्दृणं स्वनियोजितम् ।
तद्दृश्यमानं विभजेन्न दानं पैतृकाद्धनात् " ॥

अस्यार्थः—धर्मार्थं यत्संकल्पितं यच्च प्रीतेन वाचा दत्तं च यद्दृणं, तदा(था) स्वस्मिन्पुत्रे त्वयैतदपाकरणीयमृणमिति पित्रा नियोजितं, तद्दृश्यमानमुपलभ्यमानं विभजेत्, न तु पैतृकाद्धनात्तदपाकृत्य धनविभागः कार्य इति ।

" दृश्यमानं विभाज्यं तु गृहक्षेत्रं चतुष्पदम् ।
गूढद्रव्याभिशङ्कायां प्रत्ययस्तत्र कीर्तितः ॥
गृहोपस्करवाह्याश्च दोह्यामरणकर्मणः ।
दृश्यमानं विभाज्यं तु कोशं गूढेऽब्रवीद्गुरुः " ॥

प्रत्ययो दिव्यम् । कोशग्रहणं दिव्यमात्रोपलक्षणार्थम् ।

मनुः—" अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते " ॥

विषमं भ्रातृसंख्यापेक्षयाऽन्यसंख्यम् ॥ ११७ ॥

अविभाज्यमाह—

**पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमर्जितम् ॥**
**मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥ ११८ ॥**

अविभक्तधनानां मध्ये येन पितृधनस्याविरोधेनानुपघातेनानुपजीवनेन स्वयमेकाकिनैव यदन्यदधिकं धनमर्जितं, यच्च मैत्रं मित्रादवाप्तं, यच्चौद्वाहिकमुद्वाहे श्वशुरादिभ्यो लब्धं, न तद्दायादसंबन्धि भवेत् । न तद्विभजनीयम् । किं तूपार्जकस्यैव तदित्यर्थः ।

मनुः—" अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।
स्वयमीहितलब्धं च नाकामो दातुमर्हति " ॥

श्रमो युद्धकृष्यादिः । ईहाऽत्र श्रमरहिता चेष्टा ।

कात्यायनः—" यल्लब्धं लाभकाले तु सजात्या कन्यया सह ।
कन्यागतं तु तद्वित्तं शुद्धं वृत्तिकरं स्मृतम् ॥

---

१ ग. घ. छ. °म् । दृढ° । २ ग. घ. छ. °पस्कार° । ३ क. घ. ज. °कर्मिणः । ४ क. ङ. °माना विभज्यन्ते कोशा गू° । ५ क. °पजी° । ६ क. घ. °मीहेत लब्धुं च । ७ ङ. वृद्धिक ।

वैवाहिकं तु तद्विद्याद्भार्यया यत्सहाऽऽगतम् ।
धनमेवंविधं सर्वं विज्ञेयं धर्मसाधकम् " ॥ ११८ ॥

तथा—

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः ॥
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

यत्पूर्वपुरुषक्रमायातं क्षेत्रारामादिकं द्रव्यं कथमपि परेणापहृतं यो दायादानुमत्याऽभ्युद्धरेत्तदसौ दायादेभ्यो न दद्यात् । यत्पुनर्दायादानुमतिमन्तरेणोद्धृतं तस्य चतुर्थमंशमुद्धर्ता गृह्णीयात् । शेषमुद्धारकेण सह सर्वे विभजेरन् । यदाह ऋष्यशृङ्गः—

" पूर्वनष्टां[1] तु यो भूमिमेकश्चाभ्युद्धरेत्क्रमात् ।
यथांशं तु लभन्तेऽन्ये दत्त्वांऽशं तु तुरीयकम् " ॥

यच्च विद्यया निमित्तभूतया लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात् ।

मनुः—" विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च " ॥

कात्यायनः—" परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु या ।
तया प्राप्तं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते " ॥

भक्तमन्नम् । अन्यतः पितुरन्यत इत्यर्थः ।

" उपन्यस्तेन[2] लब्धं यद्विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभागे न नियुज्यते ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥
विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ।
शिल्पेष्वपि हि धर्मोऽयं मूल्याद्यच्चाधिकं भवेत् ॥
विद्यापणकृतावेव याज्यतः शिष्यतस्तथा ।
एतद्विद्याधनं प्राहुः सामान्यं यदतोऽन्यथा ॥
परं निरस्य यल्लब्धं विद्यातो द्यूतपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्यान्न विभाज्यं बृहस्पतिः ॥
विद्याप्रतिज्ञया लब्धं शिष्यादाप्तं च यद्भवेत् ।
ऋत्विङ्न्यायेन यल्लब्धमेतद्विद्याधनं भृगुः ॥

---

१ ग. पूर्वं न° । २ ग. छ. °न्यस्तं न ल° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते ।
तस्मिन्कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥
तत्र लब्धं तु यत्किंचिद्धनं शौर्येण यद्भवेत् " ।

व्यासः—" विद्याप्राप्तं शौर्यधनं यच्च सौदायिकं[1] भवेत् ।
विभागकाले तत्तस्य नान्वेष्टव्यं स्वरिक्थिभिः " ॥

कात्यायनः—" ध्वजाहृतं भवेद्यत्तु विभाज्यं नैव तद्भवेत् ।
सङ्ग्रामादाहृतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम् ॥
स्वाम्यर्थे जीवितं त्यक्त्वा तद्ध्वजाहृतमुच्यते " ।

मैत्रादीनां धनानां पितृद्रव्यानुपयोगेनार्जितानां न विभागः । तदुपयोगार्जितविषये तु व्यास आह—

" साधारणं समाश्रित्य यत्किंचिद्वाहनायुधम् ।
शौर्यादिनाऽऽप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ॥
तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः " ।

कात्यायनः[2]—" नाविद्यानां तु वैद्यैन[3] देयं विद्याधनं क्वचित् ।
समविद्याधिकानां तु देयं वैद्येन तद्धनम् " ॥

नारदः—" वैद्यो वैद्याय नाकामो दद्यादंशं स्वतो धनात् ।
पित्र्यं द्रव्यं समाश्रित्य न चेत्तेन तदाहृतम् ॥
कुटुम्बं बिभृयाद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः ।
भागं[4] विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन् ॥
यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः " ॥

विद्यानुपालिनो विद्याभ्यासवन्तः कनीयांसः । अपरमप्यविभाज्यमाह मनुः—" वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च विभाज्यं न प्रचक्षते " ॥

अत्र पत्रशब्देन यानमुच्यत इति केषांचिद्व्याख्यानं तत्कात्यायनवचनविरुद्धम् । तथा हि—

" धनं पत्रनिविष्टं तु धर्मार्थं च निरूपितम् ।
उदकं चैव दाराश्च निबन्धो यः क्रमागतः ॥

---

१ घ. ङ. सौदयि° । २ ङ. °नः । न वि° । ३ ग. वैश्येन । ४ ङ. °धनात्क्वचि° । ५ ग. °च्छति । भा° । ६ ग. घ. छ. भाग्यं वि° ।

घृतं वस्त्रमलंकारो नानुरूपं तु यद्भवेत् ।
यथा कालोपयोग्यानि तथा योज्यानि बन्धुभिः ॥
गोप्रचारश्च रक्षा च वस्त्रं यच्चाङ्गयोजितम् ।
प्रयोज्यं न विभज्येत धर्मार्थं च बृहस्पतिः " ॥

**नानुरूपं विभागाननुरूपं विभक्तृभिः सह विषमसंख्याकं तद्यथाकालं विभक्तृसंख्यानुरूपेण कालोपयुक्तं कार्यम् । यच्च वस्त्रादीनामविभाज्यत्वमुक्तं तत्स्वरूपतः, मूल्यतस्तु विभजनीयमेव । यदाह बृहस्पतिः—**

" वस्त्रादयोऽविभाज्या यैरुक्तं तैर्न विचारितम् ।
धनं भवेत्समृद्धानां वस्त्रालंकारसंश्रितम् ॥
मध्यस्थितमनाजीव्यं दातुं नैकस्य शक्यते ।
युक्त्या विभजनीयं तदन्यथाऽनर्थकं भवेत् ॥
विक्रीय वस्त्राभरणं धनमुद्ग्राह्य लेखितम् ।
कृतान्नं चाकृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यते ॥
उद्धृत्य कूपवाप्यम्मस्त्वनुसारेण गृह्यते ।
तथा भागानुसारेण सेतुः क्षेत्रं[1] विभज्यते ॥
एकां स्त्रीं कारयेत्कर्म यथांशेन गृहे गृहे ।
बह्व्यः समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः ॥
योगक्षेमवतो लाभः समस्त्वेन विभज्यते ।
प्रचारश्च यथांशेन कर्तव्यो रिक्थिभिः सदा " ॥

**एकां स्त्रीमित्यनुपभुक्तदासीविषयम् । उपभुक्तायां गौतम आह—**

" उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः स्त्रीषु च संयुक्तासु " इति ।

**योगक्षेमवतो लाभमिति योगक्षेमवान्राजादिरीश्वरो यः पित्रादिभिः स्वकुटुम्बनिर्वाहकत्वेनोपार्जितस्ततो यो लाभो लब्धं धनं तत्समं विभाज्यमित्यर्थः। प्रचारः प्रवेशनिर्गमभूः ।**

**शङ्खलिखितौ—**" न चास्ति विभागोऽन्नोदपात्रालंकारसंयुक्तस्त्रीवाससामुपचाराऽर्घ्यानां विभागश्चेति प्रजापतिः" ॥ ११९ ॥

**सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः ॥**
**अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना ॥ १२० ॥**

---

१ ग. घ. छ. क्षेत्रे । २ क. °दकपा° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

अर्थसमुत्थानमर्थार्जनम् । सर्वेषां परस्परसापेक्षाणामर्थार्जने सति समो विभागः कार्यः । एतस्मिन्विषये पिताऽपि सममेव विभजेत् । तदाह मनुः—

" भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन " ॥

एवं च सति विषयान्तरे पितृकर्तृको विभागो विषमोऽपि स्यादिति गम्यते ।

तथा—" अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा " ॥

अविभक्तधना एव ये भ्रातरः परेतास्तेषां कस्यचिदेकः कस्यचिद्द्वौ कस्यचिद्बहवः पुत्राः स्युः । तत्र तेषां पितृतो भागकल्पना, पितुरेव यावान्भागस्तावन्तमेव द्वौ वा बहवो वा गृह्णीयुर्न तेषां समो विभाग इत्यर्थः ।

बृहस्पतिः—" समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः ।
तत्पुत्रा विषमसमाः पितृभागहराः स्मृताः ॥

कात्यायनः—" अविभक्ते निजे प्रेते तत्सुतं रिक्थभागिनम् ।
कुर्वीत जीवनं येन न लब्धं वै पितामहात् ॥
लभतेऽशं हि पित्र्यं तु पितृव्यात्तस्य वा सुतात् ।
स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातॄणां न्यायतो भवेत् ॥
लभते तत्सुतो वाऽपि निवृत्तिः परतो भवेत् " ।

अविभक्तधने भ्रातरि मृते तत्पुत्रः पितामहादनवाप्तविभागः पितृव्यात्तत्पुत्राद्वा निजपितृभागं गृह्णीयात् । एवं च तत्पुत्रस्तत्पौत्रस्तु न लभेतेत्यर्थः । अत्र देवलोक्तो विशेषः—

" अविभक्तविभक्तानां कुल्यानां वसतां सह ।
भूयो दायविभागः स्यादा चतुर्थादिति स्थितिः ॥
तावत्कुल्याः सपिण्डाः स्युः पिण्डभेदस्ततः परम् ।
समामिच्छन्ति पिण्डानां दायार्थस्य विभाजनम् ॥
विधिरेष सवर्णानां बहूनां समुदाहृतः ॥
एक एव सवर्णः स्याद्दायोऽत्र न विभज्यते " ।

---

१ क. 'स्परापेक्षकाणा° । २ ग. ज. 'मीक्षत' । ३ ग. घ. छ. 'पित्र्या ई' । ४ क. ङ. लभेत । ५ ग. घ. छ. °दस्त्वतः ।

विष्णुः—" अथ भ्रातॄणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियः स्युस्तासां चाऽऽ पुत्रलाभाद्विभागो भ्रातॄणां स्त्रियो भार्याः " ।

अनुत्पन्नापत्या गृहीतगर्भा मृतभर्तृकास्तासामपि दायो देय आ पुत्रलाभात् । पुत्रानुत्पत्तौ तु भागो व्यावर्तते । आ पुत्रलाभादिति वचनात् ॥ १२० ॥

यदुक्तम्—" विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् " इति तस्यापवादमाह—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ॥
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥१२१॥

पितामहधने पौत्रस्य स्वपित्रा तुल्यं स्वाम्यं, तेन विभागमनिच्छन्नपि पिता स्वपितृधनं पुत्रविभागेच्छया विभजेत् । समश्च विभागो न स्वार्जितधनवद्विषमः कार्यः । निबन्धो नामास्मिन्भागे प्रतिक्षेत्रं प्रतिगृहं चैतावद्धनममुष्मै देयमिति । कात्यायनः—

" पैतामहं समानं स्यात्पितुः पुत्रस्य चोभयोः ।
स्वयं तूपार्जिते पित्रा न पुत्रः स्वाम्यमर्हति " ॥

एतत्पितामहधनानुपजीवनेन पितर्युपार्जिते द्रष्टव्यम् ।

व्यासः—" क्रमागते गृहे क्षेत्रे पितृपुत्राः समांशिनः ।
पैतृकेण विभागार्हाः पुत्राः पितुरनिच्छतः " ॥

बृहस्पतिः—" द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जङ्गमेऽपि वा ।
सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥
पैतामहं हृतं पित्रा स्वशक्त्या यदुपार्जितम् ।
विद्याशौर्यादिनाऽऽप्तं तत्र स्वाम्यं पितुः स्मृतम् " ॥

यत्पैतामहं धनं परैरपहृतं पित्रा पुनः स्वसामर्थ्येनोपार्जितं, विद्यादिना च तेनैव यदवाप्तं, तत्र पितुरेव स्वाम्यं न पुत्राणाम् । अत एवाऽऽह—

" प्रदानं स्वेच्छया कुर्याद्भोगं चैव ततो धनात् ।
तदभावे तु तनयाः समांशाः परिकीर्तिताः " ॥

कात्यायनः—" स्वशक्त्याऽपहृतं नष्टं स्वयमाप्तं च यद्भवेत् ।
एतत्सर्वं पिता पुत्रैर्विभागे नैव दाप्यते " ॥

यदपहृतं नष्टं च पिता स्वशक्त्याऽर्जयेत् । एतद्विभागकाले पिता पुत्रैर्न

---

१ ङ. °स्य चैव हि । २ ग. घ. ज. °जीव्येन न पि° । ३ क. ग. °ना व्याप्तं । झ. °ना प्राप्तं । ४ ग. घ. पुनस्तत्सा° । ५ क. झ. °त् । त° ।

दाप्यत इत्यर्थः । एवं तावत्पैतामहे धने पौत्रस्य स्वपित्रा सह सदृशं स्वाम्यं स्मृतयो वदन्ति । न चैतावता " अग्नीनादधीत " इत्यादिश्रुतिर्विरुध्यते, येन तद्विरोधपरिहाराय सति पुत्रे पिता स्वपितृधनं न सर्वं दद्यान्मुञ्जीत वा किं तु पुत्रार्थमवशेषयेदित्यौपचारिकार्थपरतया व्याख्यायेरन् । न हि जातपुत्रस्य धने स्वाम्यमपैति, येन स्वधनसाध्यार्थाः श्रुतयो विरुध्येरन् । यद्यपि तद्धनं स्वस्य पुत्रस्य च साधारणं तथाऽपि पुत्रानुमत्या पुत्रविभागपृथक्करणेन द्रव्यान्तरार्जनेन वा शक्यत एवाग्निहोत्रादि कर्तुम् । न च संविभागात्स्वाम्योत्पत्तिर्येन प्राग्विभागात्पिता न स्वामी स्यात् । संविभागो हि साधारणधनानां स्वामिनामेकैकत्र भागे स्वामिन एकैकस्य स्वाम्यं व्यवस्थापयति, नापूर्वमुत्पादयति । यथा लोके संभूय समुत्थायिनां वेदे च सत्रिणां स्वाम्युत्थाने । यदि च विभागः स्वामित्वे हेतुस्तदा हैठादिना क्रियमाणोऽपि तज्जनयेत् । यदपि गौतमेनोक्तम्—

" स्वामी रिक्थैकयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु "

इति, तत्संविभागस्य व्यवस्थितस्य स्वामिभावजनकत्वपरम् ॥ १२१ ॥

**विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ॥**
**दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥१२२॥**

विभक्तधनेषु पुत्रेषु यः सवर्णायां पुत्रो जातः स पितृविभागभाग्भवति, पितृविभागाभावे तु यदि विभक्तं क्षेत्रादिकं कृते विभागे पश्चाद्दृश्यते तदुत्पन्नाद्विशोधितायव्ययाद्विभागः कार्यः । मनुः—

" ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह " ॥

विभक्तेषु जातः पितृधनमेव हरेन्न भ्रातृधनं पितुर्भ्रातॄणां चाभावे पित्रा सह ये संसृष्टास्तैः सह पितृभागं विभजेत । जात इत्येकवचनमविवक्षितम् । यदाह बृहस्पतिः—

" पित्रा सह विभक्ता ये सापत्ना वा सहोदराः ।
जघन्याश्चैव ये तेषां पितृभागहरास्तु ते " ॥

तत्र यदि पूर्वं विभक्तानां महान्भागो जघन्यानां तु पितृभागमेव विभज्य गृह्णतामल्पस्तथाऽपि पूर्वविभक्तभ्रातृभागान्न तैर्ग्राह्यमिति स एवाऽऽह—

---

१ क. °व्याख्येयें । २ झ. हरणादिं । ३ झ. °भाणेन तं । ४ झ. °कथक्रिय° । ५ क. °भागेऽस्याव° । ६ ग. घ. छ. ज. °क् । दद्याद्वा । ७ क. °तविभा° ।

" अनीशः पूर्वजः पित्र्ये भ्रातृभागे विभक्तजः ।
पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम् ॥
विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः " ।

यदा तु न विभक्तजः कुतश्चित्पूर्वोक्तेन प्रकारेणाल्पमपि विभागं लभते, तदा भ्रातृभागेभ्यो गृह्णीयादित्यर्थः ।

विष्णुः—" पितृविभक्तविभागान्तरोत्पन्नस्य विभागं दद्युः " ॥ १२२ ॥

प्रकारान्तरेणाविभ(भा)ज्यविशेषमाह—

**पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ॥**

प्रागूर्ध्वं वा विभागान्मात्रा पित्रा वा यस्मै पुत्राय यत्पारितोषिकं दत्तं तत्तस्यैव, न पुत्रान्तरैर्विभाज्यमित्यर्थः । नारदः—

" शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत् ।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥
मात्रा च स्वधनं दत्तं यस्मै स्यात्प्रीतिपूर्वकम् ।
*तस्याप्येष विधिर्दृष्टो माताऽपीष्टे यथा पिता " ॥

व्यासः—" पितामहेन यद्दत्तं पित्रा वा प्रीतिपूर्वकम् ।
तस्य तन्नापहर्तव्यं मात्रा दत्तं च यद्भवेत् " ॥

स्थावरे पर्युदासमाह नारदः—

" मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्य हि पिता प्रभुः ।
स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥
पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते वस्त्राण्याभरणानि च ।
स्थावरं तु न भुज्येत प्रसादे पैतृके सति " ॥

किं तु—

**पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥१२३॥**

पितुर्मरणादूर्ध्वं रिक्थं विभजतां पुत्राणां विभागे समं भागं माताऽपि लभेत । बहुवचनमविवक्षितम् । तेनैकस्य सुतस्य यावान्भागस्तावानेव मातुर्भवतीत्यर्थः । मातृग्रहणं तत्सपत्न्यादिप्रदर्शनार्थम् ।

व्यासः—" असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।
पितामह्यश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः " ॥

---

* एतदारभ्य प्रीतिपूर्वकमित्यन्तं न विद्यते क. ङ. पुस्तकयोः ।

---

१ ग. घ. छ. °र्थः । पि° । २ क. °णापि वि° ।

अदत्तस्त्रीधनविषयमेतत् ॥ १२३ ॥

पुत्राणां विभजतां कार्यान्तरमाह—

असंस्कृताश्च संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांऽशं तु तुरीयकम् ॥१२४॥

ये कनीयांसो भ्रातरः पित्रा जातकर्मादिना न संस्कृतास्ते ज्येष्ठैः संस्कृतैः संस्कार्याः। भगिन्यश्चाकृतविवाहसंस्कारा एकस्य पुत्रस्य यावान्निजोंऽशस्तस्माच्चतुर्थमंशं प्रत्येकं प्रदाय संस्कार्या विवाहयितव्याः। नारदः—

" येषां च न कृताः पित्रा संस्कारविधयः क्रमात्।
कर्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव ते धनात् ॥
अविद्यमाने पित्र्यंशे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः।
अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातॄणां पूर्वसंस्कृतैः " ॥

व्यासः—" असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव ते धनात्।
संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि " ॥

मनुः—" स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः " ॥

अत्रापि स्वेभ्योंऽशेभ्य इति पदद्वयं पुत्रांशमात्रविवक्षया। बहुवचनं कन्याबहुत्वाभिप्रायम्। स्वात्स्वादिति वीप्साऽनेकजातीयकन्याभिप्राया। एतदुक्तं भवति—यदा ब्राह्मणस्य सर्ववर्णा भार्या भवन्ति, तासां च प्रत्येकं कन्यकाः सन्ति, तत्र ब्राह्मणी या कन्यका सा ब्राह्मणस्य पुत्रस्य यावानंशो भवति ततश्चतुर्थांशं लभते। एवं ब्राह्मणस्येव पितुः क्षत्रियादिकन्यकाः क्षत्रियादिसुतांशचतुर्थभागग्राहिण्य इति। न चायं दायः। ततश्चार्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ यदुक्तं बौधायनेन—

" न दायं निरिन्द्रियाणां ता ह्यदायाः स्त्रियो मता इति श्रुतिः "

इति, तेन सहास्याविरोधः। इति सवर्णदायविभागविधिः ॥ १२४ ॥

असवर्णानां दायविभागमाह—

चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ॥
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जौ तु द्व्येकभागिनौ[1] ॥१२५॥

ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यादिशूद्रान्तासु चतसृषु भार्यासूत्पन्नानां पुत्राणां मध्ये पितृधनस्य दशधा विभक्तस्य चतुरो भागान्ब्राह्मण्याः पुत्रा गृह्णीयुः। त्रीन्क्षत्रियाया

---

१ ङ. विड्जास्तु द्व्येकभागिनः।

द्वौ वैश्याया एकं शूद्रायाः। एवं क्षत्रियस्य पितुर्वित्तस्य षोढा विभक्तस्य त्रीन्भागान्क्षत्रियायाः पुत्रा गृह्णीयुर्द्वौ वैश्याया एकं शूद्रायाः। वैश्यस्य पितुर्धनं त्रिधा विभाज्यं, तत्र द्वौ भागौ वैश्यायाः पुत्राणामेकः शूद्रायाः। शूद्रस्य तु नासवर्णाऽस्ति भार्या। अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—

" न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै।
यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् " ॥

प्रतिग्रहग्रहणादुपायान्तरप्राप्ता तु देयैव साऽपि न शूद्रापुत्राय। तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" शूद्रो द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति "।

यत्तु स्मरन्ति—" ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् "

इति, तत्पितृप्रसादलब्धे धने सति विभागं प्रति निषेधति। अन्यथा शूद्रापुत्रं प्रति विभागविधिरनर्थकः स्यात् ॥ १२५ ॥

विभजनीये धने भ्रात्रपहृते दृष्टे यत्कार्यं तदाह—

**अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यदि दृश्यते ॥**
**तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ १२६ ॥**

विभजनीयं धनं केनचिद्भ्रात्राऽपहृतं सद्विभागादूर्ध्वं यद्युपलभ्यते तदा तत्सर्वैः समैरंशैर्विभजनीयम्। न तूद्धारापेक्षया विषमैः। एतावत्यर्थे प्रमिते वचनमिदमुपपन्नमिति नापहर्तुर्दोषाभावं प्रति प्रमाणतामुपैति। अथोच्यते—विभक्तारो ब्राह्मणा विभजनीयं सुवर्णं, ततश्च ब्राह्मणसुवर्णापहारेऽपहर्तुः पातित्ये सति तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति वचनमनुपपन्नं स्यात्। पतितस्यानंशत्वादिति। तन्न। द्रव्यान्तरविषयत्वेनापि वचनोपपत्तेः। न च सामान्यविषयत्वे वचनस्य विशेषोपसंहारो विरुध्यते। भवतु वा ब्राह्मणसुवर्णविषयमप्येतद्वाक्यं, तथाऽपि नापहर्तुर्दोषाभावं गमयति, प्रायश्चित्तेन व्यवहार्यस्य सतः समांशविभागविधानोपपत्तेः। अथ वाऽपहर्तुर्व्यतिरिक्तविषयं तत्पुनस्ते समैरंशैरित्यस्तु वचनम्। नच वाच्यं प्राग्विभागात्तत्र कस्यापीति, यत उक्तम्—स्वमेव साधारणं सद्विभज्यते न विभागात्सत्त्वमुत्पद्यत इति। कात्यायनः—" प्रच्छादितं तु यद्द्रव्यं पुनरासाद्य तत्समम्।
भजेरन्भ्रातृभिः सार्धमभावे हि पितुः सुताः " ॥

---

१ क. °नं त्रेधा विभज्य त°। २ ङ. यत्तु द°। ३ क. °दोषभा°। ४ घ. छ. °पत्तेः। अ°। ५ क. यद्येन पु°।

तथा—" अन्योन्यापहृतं द्रव्यं दुर्विभक्तं च यद्भवेत् ।
हृतं नष्टं च यल्लब्धं प्रागुक्तं च पुनर्भजेत् " ॥

प्रागुक्तं दुर्विभक्तमपहृतं वा ॥ १२६ ॥

औरसपुत्रविषयो धनविभाग उक्तोऽधुना क्षेत्रजविशेषविषयमाह—

**अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ॥**
**उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥१२७॥**

प्रथमेऽध्याये प्रतिपादितो नियोगोत्पादितः सुतो गुर्वनुज्ञात इत्यत्रत्येन नियोगविधिना योऽपुत्रेण देवरादिना परस्यापुत्रस्य क्षेत्रे भार्यायामुत्पादितः स्वार्थं परार्थं च द्यामुष्यायणसंज्ञकः स उभयोर्बीज(जि)क्षेत्रयोः(त्रिणोः) पित्रोर्दायहरः पिण्डदश्च धर्मशास्त्रतो वेदितव्यः । यत्तु नारदेनोक्तम्—

" द्यामुष्यायणको दद्याद्द्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक् ।
रिक्थादर्धांशग्राही स्याद्बीजिक्षेत्रिकयोरपि "

इति, तत्क्षेत्रजे जाते पश्चाच्चौरसोत्पत्तौ सत्यां वेदितव्यम् ।

कात्यायनः—" उत्पन्ने चौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः ।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजनाः " ॥

ततश्चौरसेऽनुत्पन्ने क्षेत्रज उभयोः पित्रोः सकलमेव रिक्थं गृह्णाति । उत्पन्ने चतुर्थांशं पितृधनस्येति स्थितिः । यत्तु मनुनोक्तम्—

" षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा "

तत्र षष्ठपञ्चमांशदानमल्पगुणक्षेत्रजविषयम् ।

तथा—" औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः " ॥

तदौरसस्य निर्गुणत्वे क्षेत्रजस्य सद्गुणे वेदितव्यम् । समं विभागाभिधानात् । औरसक्षेत्रजपुत्रिकापुत्रव्यतिरिक्तेषु दशसु पुत्रेषु जातेष्वौरसोत्पत्तिर्यदि स्यात्तदौरसस्यैव सकलं रिक्थमितरेषां तदंशहरत्वमेव । गोत्रं तु तेषामौरसस्य च समानम् ।

नारदः—" क्षेत्रिकानुमते बीजं यस्य क्षेत्रे प्रसिध्यति ।
तदपत्यं द्वयोरेव क्षेत्रिबीजिकयोः समम् " ॥

---

१ घ. छ. ज. 'शमादद्याद्वी' । २ क. समविभागाविधा' । ३ ज. °ाविधा' । ४ क. 'कयोर्मतम् । हा' ।

हारीतः—" जीवति क्षेत्रजमाहुरस्वातन्त्र्याद्दते द्यामुष्यायणमनुप्तबीजत्वान्ना-
बीजं क्षेत्रं फलति नाक्षेत्रं बीजं रोहति उभयदर्शनादुभयोरपत्यम् " ।

अनुप्तबीजत्वादिति क्षेत्रिकानुप्तबीजत्वादित्यर्थः ॥ १२७ ॥

मुख्यानां पुत्राणां दायविभागमभिधाय गौणानामभिधास्यंस्तेषां लक्षणानि मुख्यलक्षणपुरःसराण्याह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ॥
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥ १२८ ॥
गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु[1] ततः स्मृतः ॥
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः॥ १२९ ॥
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः स्मृ[3]तः ॥
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तकः स्मृतः॥१३०॥
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रि[4]मश्च स्वयंकृतः ॥
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः॥ १३१ ॥
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धः सुतो भवेत् ॥

यो धर्मपत्नीजः स औरसो ज्ञेयः । यया सह धर्मश्चर्यते सा धर्मपत्नी । यद्यपि पत्नीशब्देनैव सहधर्मचारिणी कथ्यते, तथाऽपि धर्मशब्दोपादानादत्र पत्नीशब्दो भार्यामात्रपरः । धर्मपत्नीशब्देन च शूद्रा व्यावर्त्यते, तस्याः सहधर्मचारित्वाभावात्[5] यदाह वसिष्ठः—

" कृष्णवर्णा वै रामा रमणायैव न धर्माय " इति ।

एवं च तत्पुत्रो नौरसः । अत एव पुत्रप्रतिनिधिषु च तमाह मनुः—

" पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥

---

१ ग. घ. ज. °त्रमा° । २ ङ. °स्तु सुतः । ३ क. ङ. सुतः । ४ ङ. °त्रिमः स्यात्स्वयं । ५ क. छ. शौद्रिश्च ।

क्षेत्रजादिसुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः " ॥

औरसाभावे तत्कार्यक्रियालोपाद्धिभ्यतो मनीषिणः क्षेत्रजादीनेकादश पुत्रप्रतिनिधीनाहुरित्यर्थः । यद्यपि शौद्रेयः प्रतिनिधिस्तथाऽप्यौरसेषु सत्स्वपि तस्य दायभागोऽस्तीति पूर्वमेव तद्विभाग उक्तम् । अत एव योगीश्वरः प्रतिनिधिषु तं नोक्तवान् । न च वक्तव्यं कथं तर्ह्यदायादः शूद्रापुत्र इति पित्रा प्रसाददत्तेऽस्य धने सति दायविभागरहितत्वमुक्तं मनुनैव —

" ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् " इति ।

अथ वा पितृधनस्य दशमादंशादधिकं दायं न लभत इत्येवंपरं तस्यादायादत्ववचनम् । उक्तं मनुनैव—

" यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्द्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः " इति ॥

अधिकं तु दशमादंशात् । अनपत्यस्य धनं सपिण्डानामेवेत्याह बृहस्पतिः-

" अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवाञ्शूद्रयोनिजः ।
लभेताऽऽजीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः " ॥

प्रकृतमुच्यते—यथाशास्त्रं परिणीतायां द्विजातिस्त्रियामुत्पन्न औरसः पुत्रः । अन्वर्थसंज्ञा चैषा, तेनोरसि भव औरसः । तेन स्वोत्पादितत्वमौरसस्य लक्षणम् । अत एवाऽऽह वसिष्ठः—

" स्वयमुत्पादितः स्वक्षेत्रे संस्कृतायां प्रथमः " ।

प्रथमो मुख्यः । तेन स एव पुत्रशब्दस्य मुख्योऽर्थः । क्षेत्रजादिस्तु गौणः । ततः परिपूर्णमिदमौरसस्य लक्षणम् । औरसो धर्मपत्नीज इति पदद्वयेनोक्तः(म्) । तत्समस्तेनौरसेन समस्तुल्यः पुत्रिकासुतः । पुत्रिकैव पुत्रः पुत्रिकापुत्रः । सा हि पुंस्त्वातिरिक्तौरसलक्षणयुक्तत्वाद्भवत्यौरससमा । अत एव बृहस्पतिः—

" पुत्राश्चयोदश प्रोक्ता मनुना येन पूर्वशः ।
संतानकारणं तेषामौरसः पुत्रिका तथा ॥
आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधिः स्मृतम् ।
तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना " ॥

पुत्रिकायाः पुत्रोऽपि पुत्रिकापुत्रशब्देनाभिधीयते । अत एव वसिष्ठः—

" अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति " ॥

---

१ ग. घ. छ. 'षु ते नो' । २ ग. घ. छ. ज. 'त्वमप्यौर' । ३ ग. घ. छ. 'ना एव पु' ।

गौतमः—" पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्याभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषां तत्संशयान्नोपयच्छेताभ्रातृकाम् " ।

जाबालिः—" पुत्रिकायाः प्रदाने तु स्थालीपाकेन धर्मवित् ।
अग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वा पुत्रदाने तथैव च " ॥

यस्य क्षेत्रे कलत्रे क्षेत्रस्वामिना समानगोत्रेणेतरेण वा संबन्धिनोत्पादितः क्षेत्रजसंज्ञकः पुत्रः क्षेत्रस्वामिनो भवति । यस्य गृहे भार्यायां प्रच्छन्नोऽप्रज्ञायमानजनकविशेष उत्पन्नः स तज्जननीस्वामिनो गूढोत्पन्ननामा पुत्रो भवति । अयं च स्वभार्यायामन्योत्पादितत्वेन क्षेत्रजतुल्य इति तदनन्तरमुक्तः । यस्तु कन्यायामनूढायां जातः स कानीनसंज्ञको मातामहपुत्रो मन्वादिसंमतः । अयमपि कथंचित्स्वसंबन्धिनि दुहितृरूपे क्षेत्रे जात इति गूढोत्पन्नसादृश्यात्तदनन्तरमुक्तः । वसिष्ठः—

" अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः ।
पुत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् " ॥

या वाग्दत्ता न भवति साऽत्राप्रत्ता । अप्रत्तेतिविशेषणात्प्रदानादूर्ध्वं प्राग्विवाहादुत्पन्नः कानीनो वोढुरेव भवति । तदभिप्रायेणाऽऽह मनुः—

" पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् " इति ॥

अक्षतायां क्लीबादिभार्यायां विधवायामविधवायां वा भार्यायां तु क्षतायां परैरुपभुक्तायां पुनः परिगृह्य संस्कृतायां यो जातः स पौनर्भवसंज्ञकः । पुनर्भूः प्रथमेऽध्याये कथिता । एते च स्वसंबन्धिक्षेत्रोत्पन्नत्वात्प्रत्यासन्नतया पूर्वमुक्ताः । क्षेत्रतोऽपि नास्ति येषां संबन्धस्ते जघन्या इति पश्चादुच्यन्ते । तत्र यो मातापितृभ्यां पित्रेव वा मात्रा वा भर्त्रनुमतया यस्मै दत्तः स तस्य दत्तको नाम पुत्रो भवति । मनुः—

" माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तौ स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः " ॥

अद्भिरिति सकलदानधर्मोपलक्षणार्थम् । आपदि दुर्भिक्षादौ । अथ वा ग्रहीतुरापदि । सुताभावे सदृशं दातुर्ग्रहीतुश्च सवर्णम् । प्रीतिसंयुक्तौ न भयादिसंयुक्तावित्यर्थः ।

---

१ ग. घ छ. 'यां भा° ।

तथा—" गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्बिभ्रमः सुतः ।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा " ॥

ततश्च दत्तकः पूर्वस्य पितुर्गोत्रं रिक्थं च न गृह्णीयात् । पिण्डं च तस्मै न दद्यात् । किं तु द्वितीयस्यैव पितुर्गोत्रादिग्राहकः पिण्डदश्च भवेत् । पिण्डशब्दोऽत्र सकलौर्ध्वदैहिकोपलक्षणार्थः । एवं कृत्रिमदत्तात्मापविद्धन्यायसाम्यान्नयोदशविधं पुत्रं निरूप्य तद्व्यवस्थां वर्णक्रमेणाऽऽह ब्रह्मपुराणे—

" दत्तकश्च स्वयंदत्तः कृत्रिमः क्रीत एव च ।
अपविद्धश्च ये पुत्रा भरणीयाः सदैव हि ॥
भिन्नगोत्राः पृथक्पिण्डाः पृथग्वंशकरास्तथा ।
सूतके मृतके चापि त्र्यहाशौचस्य भागिनः ॥
अथ वस्त्रान्नदातॄणां बीजक्षेत्रवतां तथा ।
शूद्रो दासः पारशवो विप्राणां विद्यते क्वचित् ॥
राज्ञां तु शापदग्धानां निर्वंशं क्षयवतां तथा ।
अथ सङ्ग्रामशीलानां न कदाचिद्भवन्ति ते ।
औरसो यदि वा पुत्रस्त्वथवा पुत्रिकासुतः ॥
विद्यते न हि तेषां तु विज्ञेयाः क्षेत्रजादयः ।
एकादश पृथग्गोत्रा वंशमात्रकरास्तु ते ॥
श्राद्धादि दासवत्सर्वं तेषां कुर्वन्ति नित्यशः ।
गूढोत्पन्नश्च कानीनः सहोढः क्षेत्रजस्तथा ॥
पौनर्भवश्च वैश्यानां राजदण्डभयादपि ।
वर्जिताः पञ्च बलिनः शेषाः सर्वे भवन्ति हि ॥
शूद्राणां दासवृत्तीनां परपिण्डोपजीविनाम् ।
परायत्तशरीराणां न क्वचित्पुत्र इष्यते ॥
तस्माद्दासस्य दास्याश्च जायते दास एव हि " ।

वसिष्ठः—" शोणितशुक्रसंभवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानविक्रि(क्र)यपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः । न त्वेकं पुत्रं दद्यात् । स हि संतानाय पूर्वेषां, न तु स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वाऽन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः, पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजनि चाऽऽवेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वाऽदूरेबान्धवमसंनिकृष्टमेव प्रति-

---

१ क. °दतो मुधा । २ ङ. स्वधाः । ३ क. °स्थां क्र° । ४ ग. घ. छ. °त्यं क्षीय° । ५ ग. घ. छ. ज °नां कदाचिद्वा भव° ।

गृह्णीयात् । संदेहे चोत्पन्ने दूरेबान्धवं शूद्रमिव स्थाप-
येद्विज्ञायते ह्येकेन बहूंस्त्रायते " इति ।

न त्वेकं पुत्रं दद्यादिति ददातिः प्रदर्शनार्थः । तेन विक्रि(क्र)यादावप्ययं निषेधो भवति । तथा पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्नित्यस्यापि प्रदर्शनार्थत्वाद्बन्धूनाहूयेत्यादि धर्मजातं क्रयादावपि कार्यं न्यायसाम्यात् । अदूरेबान्धवा यस्य सोऽदूरेबान्धवः । बान्धवानामदूरदेशत्वेन तस्य कुलीनता शक्या ज्ञातुम् । तेनादूरेबान्धवं विदिताभिजनं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादित्यर्थः । न पुनर्बन्धुसंनिधौ गृह्णीयादिति, बन्धूनाहूयेत्यनेनैव तत्सिद्धेः । असंनिकृष्टमसंबन्धिनमेव प्रतिगृह्णीयात् । जातिसंदेहे चोत्पन्ने दूरेबान्धवं व्यवहितदेशवर्तिबान्धवं शूद्रमिव स्थापयेदा निश्चयात् । महता यत्नेन निश्चयं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । अत्र हेतुत्वेन श्रुतिमुपन्यस्यति—विज्ञायते ह्येकेन बहूंस्त्रायत इति, एकेन पुत्रेण बहून्पूर्वजांस्त्रायत इति । तस्माज्ज्ञाताभिजनमेव गृह्णीयान्नेतरमिति तात्पर्यार्थः । क्रीतनामा पुत्रो भवति, यो मातापितृभ्यां विक्रीतः प्राप्यते । कृत्रिमसंज्ञकस्तु पुत्रो भवति, यः स्वयमेव त्वं मे पुत्रो भवेति पुत्रः क्रियते । यस्त्वहं ते पुत्रो भवामीत्यात्मानमप्रार्थित एव ददाति स स्वयंदत्तसंज्ञकः पुत्रो भवति । यस्तु परिणीयमानाया गर्भे विन्नो लब्धः स पुत्रः सहोढज उच्यते ।

मनुः—" क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा " ॥

सदृशोऽसदृश इति गुणापेक्षं वचनं न जात्यपेक्षम् ।

" सदृशं तु प्रकुर्याद्यं[1] गुणदोषविचक्षणम् ॥
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः " ॥

अत्र सदृशग्रहणं जात्यपेक्षम् ।

" मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः " ॥

त्यागकारणं पातित्यं, स्पर्शयेदद्यात् ।

" या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते " ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टः पातित्यादिकारणमन्तरेण त्यक्तो येन गृह्यते, स तस्यापविद्धसंज्ञकः पुत्रो भवति ।

---

१ ग. ज. °जातिक्रिया° । घ. छ. °जातिक' । २ क. °र्याद्यो गु' ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

मनुः—" मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते "॥ १२८ ॥ १२९ ॥
॥ १३० ॥ १३१ ॥

## पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ॥ १३२ ॥

एषामुक्तानामौरसादीनां मुख्यामुख्यपुत्राणां मध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरः श्राद्धदाने धनादाने चाधिक्रियते। पुत्रप्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक[1] एव कलियुगे ग्राह्यः। अत एव कलौ निवर्तन्त इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—

" दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः " इति।

यदा तु पुत्रिकायां कृतायामौरसो जायते तदाऽऽह मनुः—

" पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः " ॥

क्षेत्रजं प्रति विशेषमाह मनुरेव—

" यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ।
यद्यस्य पैतृकं रिक्थं तत्स गृह्णीत नेतरः " ॥

एतत्क्षेत्रजस्य ह्यामुष्यायणस्य बीजिधनेऽधिकारित्वं विधत्ते। वसिष्ठस्तु दत्तके पुत्रे सत्यौरसोत्पत्तौ विशेषमाह—

" तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीत औरसः पुत्र उत्पद्यते चतुर्थभागभागी स्यात् " इति।

सर्वे च न्यूनाधिकभागविकल्पाः सगुणनिर्गुणापेक्षया व्यवस्थापनीयाः। सर्वेषां च पुत्रप्रतिनिधीनां पूर्वाभाव[3] परेषां दायहरत्वे सत्यपि केचिद्दायादाः केचिच्च नेति यदुच्यते मन्वादिभिस्तत्रायमभिप्रायः—पितृसपिण्डस्यापुत्रदायहारिणस्त एव पुत्रप्रतिनिधयो भवन्ति, ये दायादत्वेन निर्दिष्टा नेतर इति ॥ १३२ ॥

सर्वेषामेव पूर्वोक्तानां पुत्रप्रतिनिधिलक्षणानां विशेषमाह—

## सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ॥

गूढोत्पन्नादय आत्मनः सजातीया एव सवर्णा एव पुत्रत्वेन ग्राह्या नेतर इति तात्पर्यार्थः। शूद्रापुत्रः स्वे क्षेत्रे स्वयमुत्पादितश्चेति न प्रतिनिधिः किंत्वौरसः, तथाऽपि प्रतिनिधिषु मनुना पठितः। तत्रायमभिप्रायः—अन्येष्वनुलो-

---

१ क. °ध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभावे दत्तक एव कलियुगे ग्राह्य इति सिद्धम्। अ°। २ ग. घ. छ. ज. °क इव कलियुगे न ग्रा°। ३ क. घ ङ. पूर्वभा°।

मजेष्वौरसेषु सत्सु न प्रतिनिधिरस्ति, शूद्रापुत्रस्त्वौरसे सत्यपि पुत्रप्रतिनिधिः कार्य एवेति ।

मनुः—" यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्द्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः " ॥

अपुत्रस्य दशमादंशादधिकं पत्न्यादयो गृह्णन्तीत्यर्थसिद्धम् ॥

**जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥**
**मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम् ॥**
**अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते ॥ १३४ ॥**

शूद्रेण दास्यामुत्पन्नः पितुरिच्छातोंऽशहरो भवेत् । पिता यावन्तमंशं दातुमिच्छति तस्मै तावांस्तस्य भवतीत्यर्थः । मृते पितरि परिणीताः पुत्रास्तदीया भ्रातर एकस्य यावान्भागो भवति, तदर्धं तस्मै दद्युः । अभ्रातृकस्तु पितृपरिणीतोत्पन्नभ्रातृरहितो दौहित्रेष्वसत्सु सर्वं पित्र्यं हरेत् । सत्सु तु भागार्धमेव । अत्र शूद्रग्रहणाद्द्विजोत्पन्नस्य दासीपुत्रस्य पितृधनांशहरत्वं नास्तीति गम्यते ॥ १३३ ॥ १३४ ॥

पुत्रतत्प्रतिनिधिरहितस्य मृतस्य धनभाजां क्रममाह—

**पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ॥**
**तत्सुता गोत्रजो बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः ॥ १३५ ॥**
**एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ॥**
**स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥**

अपुत्रस्याविद्यमानमुख्यगौणपुत्रस्य स्वर्यातस्य मृतस्य धनभाग्धनग्राही पत्न्यादीनां क्रमेण निर्दिष्टानां पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो वेदितव्यः । एष विधिः सर्ववर्णसाधारणः ।

बृहस्पतिः—" आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः ।
शरीरार्धं स्मृता भार्या पुण्यापुण्यफले समा ॥
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति ।
जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात् ॥
×सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृभ्रातृसनाभिभिः ।
अमुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्धागहारिणी ॥

---

* मिताक्षरायां त्वेतादृशः पाठः—कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिष्विति ।

---

१ क. °मादंशाल्लभेच्छूद्रासुतोऽर्थतः । २ क. ज्ञ. °गिनम् । भ° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

पूर्वं मृता त्वग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् ।
विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः ॥
जङ्गमं स्थावरं हेम रूप्यधान्यरसाम्बरम् ।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम् ॥
पितृव्यगुरुदौहित्रान्स्वसृभर्त्रीयमातुलान् ।
पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन्स्त्रियः ॥
तत्सपिण्डा बान्धवाश्च ये तस्याः परिपन्थिनः ।
हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौरदण्डेन शासयेत् " ॥

**विष्णुः**—" अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे बन्धुगामि, तदभावे सकुल्यगामि, तदभावे सहाध्यायगामि, तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि"।

**बृहस्पतिः**—" मृतोऽनपत्योऽभार्यश्चेदभ्रातृपितृमातृकः ।
सर्वे सपिण्डास्तद्दायं विभजेरन्यथांशतः " ॥

**शङ्खः पुनरन्यथा क्रममाह**—

" अथापुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यं, तदभावे मातापितरौ लभेतां पत्नी वा ज्येष्ठा " इति ।

**देवलः**—" ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन्सहोदराः ।
तुल्या दुहितरो वाऽपि म्रियमाणः पिताऽपि वा ॥
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् " इति ॥

**नारदोऽपि**—" भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात्कश्चिच्चेत्प्रव्रजेत वा ।
विभजेरन्धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥
भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामा जीवितक्षयात् ।
रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिन्द्युरितरासु तत् " ॥

**तथा**—" अन्यत्र ब्राह्मणार्त्तिं तु राजा धर्मपरायणः ।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः " इति ॥

**एवमेषां वाक्यानामापाततः प्रतिभासमानविरोधानां विरोधपरिहारेण प्रामाण्यसिद्धये भिन्नविषयता वाच्या । अत्र केचिदाहुः—या देवरादन्यस्माद्वाऽपि सपिण्डाद्गुरुश्वशुरादिवचनात्पुत्रमिच्छति, तद्विषयं पत्नीदुहितर**

---

१ ग. °सिद्धेयमभि° ।

इत्यादिवचनमिति। तदयुक्तं, दुष्परिहारो हि बहुतरस्मृत्यन्तरविरोधोऽत्र पक्षे। तथा हि—" रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः " इति वसिष्ठः। अनेन हि रिक्थग्राहिण्या नियोगानधिकार उच्यते। ननु मा भूत्तस्मान्नियोगः, पूर्वमेव नियुक्तायाः पश्चाद्धनभाक्त्वं "पत्नी दुहितरः" इत्यनेन विधीयतां, तदसत्। तथा हि सति तेनैव जनिष्यमाणेन क्षेत्रजेन पुत्रेण धनस्वामिनोऽतीतस्य पुत्रवत्त्वं स्यात्। अपुत्रस्य धनं पत्नी भजत इति पत्नी दुहितर इत्यनेन विधीयते। अत एव मनुः—

" धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव वा।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् " इति ॥

तस्यैव तन्न तु जनन्या इत्यर्थः।

" संस्थितस्यानपत्यस्य गोत्रात्तन्तुं समाहरेत्।
तत्र यो रिक्थभागः स्यात्तं तस्मै प्रतिपादयेत् " ॥

तस्मै तन्तवेऽपत्यायेत्यर्थः। तच्च नियोगार्थित्वं रिक्थग्राहित्वे विरुद्धत्वात्कथमिव हेतुः। विरोधमेव गौतमः स्पष्टयति—

" पिण्डगोत्रार्थसंबद्धा रिक्थं विभजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं वा लिप्सेत " इति।

अनेन ह्यनपत्यभर्तृधनग्राहित्वस्य बीजलिप्सासूचितनियोगार्थित्वस्य च विकल्पः प्रतिपाद्यते। अतः स्पष्टो विरोधः। वृद्धमनुरपि—

" अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च "

इति वदन्नियोगार्थिन्या नास्ति रिक्थग्राहित्वमिति स्पष्टयति। तथा हि सति भर्तुः शयनं पालयन्तीति न वाच्यं स्यात्। तस्मान्नेयं व्यवस्था युज्यते।

कथं तर्हि विरोधपरिहारः। उच्यते—" अपुत्रा शयनं भर्तुः " इत्यादिमनुवाक्योक्तगुणा पत्नी पितृभ्रातृसद्भावेऽपि स्वयमेव पतिधनं समग्रं गृह्णाति, पत्युश्च श्राद्धादि करोति। अनेनैवाभिप्रायेण बृहस्पतिनाऽप्युक्तम्—

" पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्तदभावे सहोदरः " इति ॥

तथा या पितृधनानुपघातेन स्वयमर्जयितुर्भर्तुः परिचर्यां यथावत्कृतवती संयतेन्द्रिया च सा भर्तुः सकलमेव धनं देवरेषु विद्यमानेष्वपि गृह्णाति। या तु तारुण्यादिना संभावितव्यभिचारा तस्यां विद्यमानायामपि मृतकस्य

भर्तुर्भ्रातृगाम्येव वित्तं, न तु पत्नीगामि । तत्रापि चैषा व्यवस्था—यदि तद्भ्रातृभिः स्वपितृधनानुपघातेन संभूय समुत्थानेन धनमर्जितं, तदा पित्रोः सद्भावेऽपि भ्रातर एव धनग्राहिणः । यदा तु पितृपितामहाद्युपार्जितं धनं, तदा न भ्रातॄणां धनभागित्वं किंतु पित्रोरिति । एवं विषयव्यवस्थायां सर्ववाक्याविरोधः । न च वाच्यमेकाकिनी स्त्री यज्ञेऽनधिकृता कथं यज्ञार्थतयोत्पन्नं गृह्णीयादिति । सर्वस्या एव धनोत्पत्तेर्यज्ञार्थत्वे प्रमाणाभावात् । यैव हि—

" द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं बध्नीत "

इत्येवमादिवचनविहिता सैव धनोत्पत्तिः क्रत्वर्था । अन्यथा तु पुरुषार्थैव । यदपि चार्थवादवचनम्—

" तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादाः "

इति, तदपि यथाप्राप्ति वर्णनीयमनुवादकत्वादितिं पुत्रसद्भावविषयत्वेन व्याख्येयम् । अस्ति च स्त्रीणामेकाकिनीनामपि पूर्वधर्माधिकारः । तेन तत्र धनं ता उपयोक्ष्यन्ते । यत्तु नारदेन*—" भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात् " इत्यभिधायोक्तम्—

" मरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामा जीवितक्षयात् "

इत्यादि, तत्पुनर्भूस्वैरिण्यादिविषयं वेदितव्यम् । स्त्रीशब्दमात्रप्रयोगात् । पत्नीशब्दस्तु विवाहयज्ञसंयोगिन्यामेव वर्तते " पत्युर्नो यज्ञसंयोगे " इति शब्दस्मृतेः । एवं पत्न्यामसत्यां पितृसमानवर्णा दुहितरोऽपुत्रधनस्वामिन्यः ।

नारदः—" पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसंतानदर्शनात् ।
पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः संतानकारकौ " ॥

तथा—" यथैवाऽऽत्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् " ॥

बृहस्पतिः—" अङ्गादङ्गात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम् ।
तस्यां पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥
सदृशी सदृशेनोढा साध्वी शुश्रूषणे रता ।
कृताकृता वा पुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा " ॥

सदृशी सवर्णा । अतोऽसवर्णाया दुहितुरनधिकारो दायहरत्वे । कृता-

* एतदग्रे ' उक्तम् ' इत्यधिकं पदं सकलादर्शपुस्तकेषु विद्यते ।

१ ग. घ. छ. क्रतुत्वार्था । २ क. °र्थार्थे' । ३ ग. 'स्मान्न स्त्रियो । ४ ग. घ. छ. °ति स°।

कृता पुत्रिकेत्यर्थः। अत्र च कृताकृता वेत्यनेन पुत्रिका दृष्टान्ततयोपादीयते, न पुनस्तस्या अपुत्रपितृधनग्राहित्वं विधीयते। न हि पुत्रिकापिताऽपुत्र इति शक्यते वक्तुं, पुत्रिकाया अपि पुत्रत्वात्। तथा च वसिष्ठः—"तृतीयः पुत्रिका विज्ञायते" इति। एतेन यदुक्तं केनचित्पत्नी दुहितर इत्यत्र दुहितृशब्देन पुत्रिकोच्यत इति तन्निरस्तं वेदितव्यम्। माता च पिता च पितरौ तौ पुत्रस्य पत्न्या दुहितृभिश्च रहितस्य धनग्राहिणौ। बृहस्पतिः—

"भार्यासुतविहीनस्य तनयस्य मृतस्य तु।
माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया" ॥

मनुः—"अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत्" ॥

पित्रोरभावे भ्रातरस्ते तु सोदरा एव प्रत्यासन्नतरत्वात्। ते हि मृतभ्रात्रपेक्षयैकस्यैव मातृवर्गस्य श्राद्धकारिणो न तु सापत्नाः। यत्तु शङ्खलिखितपैठीनसिवचः—

"अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि धनं तदभावे
मातापितरौ लभेतां पत्नी वा ज्येष्ठा"

इत्यादि, तत्पितृधनानुपघातेनार्जितविभक्तधनेषु भ्रातृषु द्रष्टव्यम्। अतादृशभ्रातृभावे च पितरौ ज्येष्ठा वा पत्नी। उक्तलक्षणभ्रातृविलक्षणास्तु भ्रातरो याज्ञवल्क्योक्तक्रमातिक्रमेण रिक्थभाजो मन्तव्या इति सर्वमविरुद्धम्। यदपि देवलेनोक्तम्—

"ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन्सहोदराः।
तुल्या दुहितरो वाऽपि म्रियमाणः पिताऽपि वा ॥
सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम्"

इति, तत्रापि शङ्खवचनव्यवस्थाप्रकारेण सोदराणां पूर्वं दायग्राहित्वं ज्ञातव्यम्। भ्रात्रभावे तत्सुतास्तदभावे गोत्रजाः। तत्र प्रत्यासन्नः पूर्वं धनभाक्। यदाह मनुः—

"अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्" इति।

अनन्तरता च तेनैवोक्ता—

"त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते।
चतुर्थः संप्रदस्तेषां पञ्चमो नोपपद्यते" ॥

---

१ क. ञ पितुर°। २ क. 'पलभ्यते।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

संप्रदानकारकीभूतानां पित्रादीनां त्रयाणां चोदकादिदाता, यश्च तत्संततिजोऽन्योऽपि तेषामेवोदकादिदाता स तस्य प्रत्यासन्नः सपिण्डः । तदत्र तु सोदरो भ्राताऽतिशयेन प्रत्यासन्नः, समानसंप्रदानोदकादिदातृत्वात् । तत्पुत्रः पुनरीषद्व्यवहितः पितृपिण्डे संप्रदानत्वात् । तत्पौत्रस्तु ततोऽपि व्यवहितः पितृपितामहपिण्डयोर्भिन्नसंप्रदानकत्वात् । तत्पौत्रस्त्वत्यन्तव्यवहितः पिण्डत्रयेऽपि संप्रदानभेदात् । एवं भ्राता तत्पुत्रस्तत्पौत्र इति पितृसंततौ त्रयः प्रत्यासन्नाः सपिण्डाः । एवं पितामहसंततौ प्रपितामहसंततौ च । एषामभावे पित्रादित्रयस्य ये प्रपौत्रास्तेषां पुत्रादित्रयं सापिण्ड्याद्धनग्राहकम् । गोत्रजाभावे बन्धुः पितृष्वसा मातृष्वसा मातुलसुतादिः । तदभावे शिष्य उपनीय वेदमध्यापितो धनभाग्भवति । तदभावे सब्रह्मचारी, एकाचार्यकः । यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—

" विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत् ।
भ्राता वा जननी वाऽथ माता वा तत्पितुः क्रमात् "

इति, तत्र पुत्राभाव इत्येतत्प्रदर्शनार्थम् । तेन पत्न्या दुहितृणामभाव इति द्रष्टव्यम् । पितुरभावे माता, मात्राऽनुमतो वा भ्रा(भा)तैव ।

" माता रिक्थहरी ज्ञेया भ्राता वा तदनुज्ञया " इति वचनात् ।

एषामभावे मृतस्य पितामही, दुहितृदौहित्रानन्तरम् ।

बृहस्पतिः—" तदभावे भ्रातरस्तु भ्रातृपुत्राः सनाभयः ।
सकुल्या बान्धवाः शिष्याः श्रोत्रियाश्च धनार्हकाः " ॥

नारदः—" अभावे च दुहितॄणां सकुल्या बान्धवास्तथा ।
ततः सजात्याः सर्वेषामभावे राजगामि तत् ॥
अन्यत्र ब्राह्मणार्त्तिं तु राजा धर्मपरायणः ।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः " ॥

अत्राभावे दुहितॄणामिति पित्रोरप्यभाव उपलक्ष्यते । तत्स्त्रीणामपरिणीतानां स्वैरिणीनां वा पुनर्भ्वा वा ।

" सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥
अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः " ॥

---

१ ग. घ. छ. °त्पिता क्र°। २ ग. घ. छ. ज. °मतोऽननुमतेन वा । ३ ग. घ.°क्थहारिणः । त्रै° ।

नृपो जनपदस्य त्राता ।

बृहस्पतिः—" ये पुत्राः क्षत्रविट्शूद्राः पत्नीभ्रातृविवर्जिताः ।
तेषां धनहरो राजा सर्वस्याधिपतिर्हि सः " ॥

पैठीनसिः—" षण्ढिषद्भ्रामि वा श्रोत्रियद्रव्यं न राजगामि, न हार्यं
राज्ञा देवतागणसंस्थितं न निक्षेपोपनिधिक्रियाक्रमा-
गतं न बालस्त्रीधनान्येवं ह्याह—
न हार्यं स्त्रीधनं राज्ञा तथा बालधनानि च ।
नार्याः षडागमं वित्तं बालानां पैतृकं धनम् " ॥

स्मृतिः—" यो यत आददीत स तस्मै श्राद्धं कुर्या-
त्पिण्डं च त्रिपुरुषं दद्यात् " इति ।

त्रिपुरुषमित्यमावस्याश्राद्धाभिप्रायम् ।

विष्णुः—" अतेः[1] पितृवित्तालाभेऽपि पिण्डं दद्यात् "

पत्नी दुहितर इत्यत्र वाक्ये केचित्पर्यनुयुञ्जते, यथा—स्त्रियाः सभर्तृकाया एवेष्टापूर्तयोरधिकारो न तु केवलायास्तस्या भर्तृरहितत्वादेव च तया न कामः सेवनीयः किंतु तपस्तीव्रम् । न च धर्मकामयोरनुपयुज्यमानोऽर्थो भवति पुरुषार्थः । तस्मात्पित्रादिषु धर्मकामोपयोगिधनभाजनेषु सत्सु न पत्न्या धनभाक्त्वं, तस्मादपुत्रस्य मृतकस्य धनं पत्नी निर्वाहमात्रसमर्थमादद्यान्नाधिकं, तद्विषयं पत्न्या धनभाक्त्ववचनम् । यस्य तु पत्नीरहितस्य धनं दुहितृविवाहमात्रपर्याप्तं तद्विषयं दुहितॄणां धनग्राहित्वमनेनोच्यते । अतोऽधिकस्य मृतकधनस्य पत्नीदुहितृसद्भावेऽपि सपिण्डाः पित्रादय एव ग्राहकाः शङ्खादिवाक्यसाथ्यार्द्भवन्तीति मन्तव्यमिति ।

तदयुक्तं, धनस्वामिनः प्रमये सति तद्धनेऽन्यस्य स्वामित्वोत्पत्तौ विधेयायां यथाऽऽह भगवान्—पत्न्या दुहितॄणां स्वामितोत्पन्नैव न तूत्पाद्या । "पाणिग्रहणाद्धि सहत्वम्" इत्यादिनाऽऽपस्तम्बवाक्येन भर्तृधने स्त्रीणां स्वामित्वं पाणिग्रहणमेव साधयतीति विधीयते । दुहितॄणां पुत्रवज्जन्मनैव पितृधने स्वामिभावसिद्धिरिति वेदितव्यम् । ततश्च पत्न्यां दुहितरि सत्यां तयोः[3] स्वामित्वं बाधित्वा पित्रादिस्वामित्वविधिरनेन वाक्येन न कार्यः । अभावे तु पत्नीदुहित्रोर्बाधनिरपेक्षं विधायकत्वमस्येति वैरूप्यमापद्यते, ततस्तत्परिहारार्थं पत्न्याद्यभाव एव पित्रादीनां धनभाक्त्वमिह प्रमेयम् । यत्तु शङ्खादिभिः पित्रा-

---

१ ग. ज. 'स्थितिं न । २ झ. पुत्रः । ३ ग. घ. छ. तस्यां ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

द्यभावे पत्न्या धनग्राहकत्वमुच्यते, तत्कारणान्तरेण भर्तृधने यस्या अधिकारादिपदास्पदं स्वामित्वमपेतं तद्विषयं द्रष्टव्यम्। उक्तं च कारणान्तरं—"हृताधिकारां मलिनाम्" इत्यत्र भर्तृधने पत्न्याः स्वामित्वभ्रंशं प्रति। तस्मादुक्तैव व्यवस्था युक्ता। यदुक्तं स्त्रीणां स्वनिर्वाहसमर्थादधिकोऽर्थो निरर्थक इति, तदपि नैव युक्तम्। उक्तं हि स्त्रीणामभर्तृकाणां मन्त्राग्निसाध्यधर्मादन्यत्र धर्मे दानादावस्त्यधिकार इति। तेन स्वतन्त्रोपयुज्यमानेऽर्थे तासामुपयोगः ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

अथ गृहस्थव्यतिरिक्तानामाश्रमिणां परेतानां धनग्राहकान्सक्रमकानाह—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः ॥
क्रमेणाऽऽचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ १३७ ॥

वानप्रस्थादीनामन्यतमस्य मृतस्य रिक्थमाचार्यादयः क्रमेण गृह्णीयुः। पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो गृह्णीयादित्यर्थः। सद्गुणवान्शिष्यः सच्छिष्यः। धर्मभ्राता समानाचार्यः। एकतीर्थी एकसिद्धान्तः। एकवाराणसीप्रभृतितीर्थनिवासी वा। वानप्रस्थस्य धनमस्तीति वचनात्—

"त्यजेदाश्वयुजे मासि उत्पन्नं पूर्वसंचितम्"

इत्यस्माद्गम्यते। यतिब्रह्मचारिणोरपि कन्थादि किंचिदस्त्येव ॥ १३७ ॥

अपुत्रस्य भ्रातुः पत्नीदुहितॄणां पित्रोश्चाभावे भ्रातॄणां भवतीत्युक्तं तत्र विशेषमाह—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः ॥
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥
अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यधनं हरेत् ॥
असंसृष्ट्यपि चाऽऽदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृकः॥१३९॥

विभक्तस्य धनस्य विभक्तेनैव धनान्तरेण मिश्रणं संसृष्टं तद्वान्संसृष्टी, तस्य मृतस्य धनं संसृष्ट्येव भ्राता हरेत्। भ्राताऽत्र सोदर एव न पुनरन्योदर्यः संसृष्ट्यपि। संसृष्टिनस्तु जातस्य तन्मरणोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य तद्भागं तत्पुत्राय जीवन्संसृष्टी दद्यात्। एतच्चात्र प्रसङ्गादुक्तम्। अत्र बृहस्पतिः—

---

१ क. °आविसा°। २ ग. घ. छ. परीता'। ३ क. ङ. 'ति मनुव'। ४ ग. °र्थैस्त्वसं°। ५ ङ. °दर्यो भ°।

" विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या तत्संसृष्टः स उच्यते " ॥

अनेन त्रिविधाः संसृष्टिनो भवन्तीत्यनूद्यते । तेषां मध्यादपुत्रस्य संसृष्टिनोंऽशः सोदरेण संसृष्टिना ग्राह्य इति यदुच्यते तत्किं मृतस्य पत्न्यादिसद्भावे तद्विपर्यये चेति जिज्ञासायामाह—

" यदा कश्चित्प्रमीयेत प्रव्रजेद्वा कथंचन ।
न लुप्यते तस्य भागः सोदरस्य विधीयते ॥
या तस्य भगिनी सा तु ततोंऽशं लब्धुमर्हति ।
अनपत्यस्य धर्मोऽयमभार्यापितृकस्य च " इति ॥

अतश्च संसृष्टिनोऽपि यदि पत्न्यादयः सन्ति तदा पत्नी दुहितर इत्ययमेव क्रमः । यत्र भ्रातॄणां रिक्थग्राहित्वे प्राप्ते संसृष्टिसोदरत्वसंभवे तद्विशिष्टस्यैव भ्रातुर्धनभाक्त्वं नियम्यते । भगिन्याः सोदरभ्रात्रभावेऽधिकारिता मन्तव्या । अन्यथा " तस्मान्निरिन्द्रियाः स्त्रियोऽदायादाः " इति श्रुतिविरोधः स्यादिति । उक्तमेतत्संसृष्टिनो मृतकस्यांशं सोदर्यः संसृष्टी हरेदिति । एतदेव व्यतिरेकतः स्पष्टयितुमाह—

" अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्याद्ध(र्य)नं हरेत् " ।

निगदव्याख्यातमेतत् । यदा पुनरन्योदर्यः संसृष्टी न सोदरश्चेत्तदा कोंऽशहर इत्यपेक्षायामाह—

" असंसृष्ट्यपि चाऽऽदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृजः(कः) " ।

सोदर्यो यद्यप्यसंसृष्टी तथाऽपि स एवाऽऽददीत न पुनरन्योदर्यः संसृष्ट्यपि । अन्योदर्यस्य संसृष्टित्वं विशेषणमसंसृष्ट्यपीत्यपिशब्दाद्गम्यते, तेनायमर्थः सिद्धः—यदि सोदरत्वं संसर्गित्वं च विद्यते तदा स एव तादृशस्यांशं हरति । यदा पुनः संसृष्टित्वमन्योदर्यस्य तदा सोदरत्वमेवांशहरत्वे निमित्तं नेतरदिति ।

मनुः—" विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते " ॥

अनेन ज्यैष्ठ्यनिमित्तं विभागवैषम्यं निषिध्यते नान्यनिमित्तं, तेन संसर्गसमये म(त)दीयं यावद्धनं संसृष्टं विभागसमये तदनुसारेणैव भागं लभते । अत्रैव विशेषान्तरमाह बृहस्पतिः—

---

१ क. पक्षः । २ ग. घ. ज. प्राप्तिसं° । ३ क. छ. °सृष्टसो° । ४ ग. °र्यैस्त्वसं° । ५ ग. घ. छ. ज. °ये त° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

" संसृष्टानां तु यः कश्चिद्विद्याशौर्यादिना धनम् ।
प्राप्नोति तस्य दातव्यो व्यंशः शेषाः समांशिनः ॥
येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥
सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्याश्च सनाभयः " ॥

अंशप्रदानं विभागस्ततो हानिः पारिव्राज्यपातित्यादिनाऽनधिकारः । तस्य भागो न लुप्यते कल्पनीय इत्यर्थः । तं भागं सोदरा यदि संसृष्टिनस्तदा त एव गृह्णीयुः । नासंसृष्टिनः सोदर्या अपि । संसृष्टिनां सोदराणामभावे सर्वे सोदराः समेत्य मिलित्वा सहिताः समं प्रधानाभावेन समं न्यूनाधिकं न विभजेरन् । सोदराणामभावे भगिन्यः सनाभयः सोदर्या विभजेरन्निति शेषः । तासामप्यभावेऽन्योदर्या भगिन्यो भ्रातरश्च ॥ १३८ ॥ १३९ ॥

सर्वत्र विभागेऽना(न)धिकृतानाह—

**क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः ॥**
**अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्यास्तु निरंशकाः ॥१४०॥**

क्लीबाद्या निरंशकाः । अंशो भागस्तद्रहिताःकार्याः । भर्तव्यास्तु ते भवन्ति । क्लीबः पण्डः । पतितौ वक्ष्यते । तज्जः पतितोत्पन्नः । तस्य यद्यपि पतितग्रहणेनैव ग्रहणं सिद्धम् । उक्तं वसिष्ठेन—" पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुः " इति । तथाऽपि तस्य पृथग्ग्रहणं कार्यम् । अन्यथा " औरसक्षेत्रजास्तेषाम् " इति वाक्यबलाद्भागार्हता स्यात् । पङ्गुश्चरणरहितः । उन्मत्तक उन्मादी । उन्मादो रोगविशेषः । जडो मूढः । अन्धोऽचक्षुः । अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधेयव्याधिः । आद्यशब्दः शास्त्रान्तरोक्तानां भागानर्हाणां संग्रहार्थः । तत्र नारदः—

" पितृद्विट्पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः ।
औरसा अपि नैतेऽशं लभेरन्क्षेत्रजाः कुतः " ॥

पितृद्विट्पितृद्वेषी । उपपातकमुपपातः । तद्युक्त औपपातिकः ।

मनुः—" सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्तान्धपङ्गवः ॥

---

१ क. ङ. °नः । मनुः—ये° । २ ग घ छ. समप्र° । ३ ग. घ. छ. ङ. समन्यूनाधिकं वि° । ४ क. °तितं वक्ष्यति । त° । ५ ग घ. ज °तितेनोत्प° । ६ ग. घ. छ. °गानार्ह° । ७ क. °तिसाध्यरोगः । आ° । ८ ग. घ. छ. °तकः । त° ।

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरावपि ।
उन्मत्ता जडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः " ॥

**वसिष्ठः**—" अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः " । गृहस्थाश्रमापेक्षमाश्रमान्तरत्वम् ।

**कात्यायनः**—" अक्रमोढासुतश्चैव सगोत्राद्यश्च जायते ।
प्रव्रज्यावसितश्चैव न रिक्थं तेषु चार्हति " ॥

अक्रमेण वर्णक्रमजन्मक्रमातिक्रमेण योढा तस्याः सुतोऽक्रमोढासुतः । सगोत्रात्स्वपेक्षया समानगोत्रात्परिणेतुर्यो जायते । एतेषां च वाचनिकमंशानर्हत्वं, न पुनर्धर्मानधिकारित्वहेतुकं, धर्मानधिकारिताया हेत्वभावात् । यद्यपि पतितस्य धर्मानधिकारस्तथाऽपि मान्धपङ्ग्वादीनां, तेषां ह्याज्यावेक्षणाद्यङ्गवत्येव धर्मविशेषेऽनधिकारो न सामान्यतो धर्ममात्रे[1] । अस्ति हि तेषामिष्टे धर्मे गृह्याद्युक्तोऽधिकारः । कृतदारा हि ते । तथा हि मनुः—

" यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति " ॥

अतः क्लीबादीनां दारवत्त्ववचनात्तेषामुपनयनमस्तीति गम्यते । न च वाच्यं दारपरिग्रहे सति पश्चादन्धत्वादिदोषोदये विषये यद्यर्थितेति वचनमिति । तथा सति पूर्ववाक्ये जात्यन्धग्रहणं न क्रियेत । भवतु वा जात्यन्धादीनामुपनयनदारपरिग्रहाभावादिष्टे धर्मे तेषामनधिकारः, पूर्ते तु शूद्रादिवदस्त्येव । तस्मान्न धर्मानधिकारित्वहेतुकं तेषामनंशत्वं, किं तु वाचनिकमेव । यत्तु बौधायन आह—

" अतीतव्यवहारान्ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुरन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितार्दीश्चाकर्मिणः पतिततज्जातवर्जम् " इति ।

अकर्म कृष्यादिकं जीविकात्मकं येषां न विद्यते त इति, पतिततज्जातवर्जमिति पतितं तज्जातं च वर्जयित्वाऽन्यान्बिभृयादित्यर्थः ॥ १४० ॥

क्लीबादीनामनंशत्वेन तत्पुत्राणामनंशत्वं प्राप्तं तदपवादमाह—

**औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः ॥**
**सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः ॥ १४१ ॥**
**अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः ॥**
**निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥**

---

१ ग.घ. °में ग्रहाद्युक्तेऽधि° । २ क.ग.घ.छ.ज.ञ. °जास्तेषां निरंशा भा° । ३ ग.घ.छ.ज. प्रकर्तृ° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

एषां क्लीबादीनामौरसाः क्षेत्रजाश्च पातित्यादिदोषरहिता अंशं लभन्ते । क्लीबस्यापत्यं चिकित्सादिवशाद्भवति, ते(ए)षां च कन्यका आ विवाहाद्भर्तव्याः। एषामेव च योषितोऽपुत्राः परिणीता भर्तव्या यदि साध्व्यः । व्यभिचारिण्यो देवरादिप्रतिकूलाश्च निर्वास्या गृहाद्बहिष्कार्याः । कन्यकास्तु पतितोत्पन्ना अपि पोष्या विवाहयितव्याश्च । यदाह वसिष्ठः—

" पतितोत्पन्नः[1] पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः सा
हि परगामिनी " इति ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

स्त्रियामंशहरत्वाभावे स्त्रीधनहर्तृनग्रे विवक्षुः स्त्रीधनस्वरूपं तावदाह—

**पितृमातृ[2]सुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ॥**
**आधिवेदनिक[3] चैव स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥**

पित्रादिभिर्यदत्तमध्यग्नि विवाहकालेऽग्निमधिकृत्य यल्लभ्यते, तदध्यग्नि । अधिवेदननिमित्तमाधिवेदनिकम्। विद्यमानायां भार्यायां भार्यान्तरपरिणयनमधिवेदनम्[4] । चशब्द आद्यर्थः । तेन च स्त्रीधनान्तरपरिग्रहः । तद्यथा— कार्याः पत्न्यः समांशिकाः । माताऽप्यंशं समं हरेत् । स्वस्मादंशाच्चतुर्भागं मातुः परिणाह्यं स्त्रियो विभजेरन् । अन्यदपि यत्स्त्रीस्वामिकं तत्स्त्रीधनमिति मन्वादिभिः परिकीर्तितम् । कात्यायनः—

" विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥
यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् ।
अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥
प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वश्रा वा श्वशुरेण वा ।
पादवन्दनिकं तत्तु लावण्यार्जितमुच्यते ॥
ऊढायाः कन्यकाया वा पत्युः पितृगृहेऽपि वा ।
भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् " ॥

वृद्धव्यासः—" यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत् ।
पितृभ्रातृगृहात्प्राप्तं तत्तु सौदायिकं स्मृतम् " ॥

तथा—" विवाहकाले यत्किंचिद्वरायोद्दिश्य दीयते ।
कन्यायास्तद्धनं सर्वमविभाज्यं च बन्धुभिः " ॥

---

१ ग. घ. छ. °तितेनोत्प° । २ ङ. °तृपतिभ्रा° । ३ ङ. °निकाद्यं च स्त्री° । ४ ग. घ. छ. ज. झ. °म् । आदि(द्य)शब्दः स्त्रीधनान्तरपरिग्रहार्थः । त° ।

**कात्यायनः**—" सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तमुपजीवनम् ॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्तितम् ।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि " ॥

**यत्पुनराह नारदः**—" भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत् ।
सा यथाकाममश्नीयाद्व्याद्वा स्थावराद्ऋते "

**इति, तत्प्रीतिदत्तस्थावरविषयम् ।**

**कात्यायनः**—" विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया ।
भर्तुः पित्रोः सकाशाद्वा अन्वाधेयं तु तद्भृगोः ॥
गृहोपस्करबाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम् ।
मूल्यलब्धं तु यत्किंचिच्छुल्कं तत्परिकीर्तितम् " ॥

**व्यासः**—" द्विसाहस्रः परो दायः स्त्रियै देयो धनस्य च ।
यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् " ॥

**प्रत्यब्दं कार्षापणसहस्रद्वयपरिमितो धनस्यैकदेशः परो दायः स्त्रियै देयः । परः परमः । दीयत इति दायः । तमिमं दायं भर्तृदत्तं वाऽनिषिद्धेन मार्गेण यथाकामं देवरादेरनुमतिमन्तरेणाप्याप्नुयात् । अतोऽधिके तु देवराद्यनुमतिरपेक्षणीयेत्यर्थाद्गम्यते ।**

**मनुः**—" पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते " ॥

**सततधृतालंकारविषयमेतत् ।**

" न भर्ता नैव च पिता न सुतो भ्रातरो न च ।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥
यदि ह्येकतरोऽप्येषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात् ।
सवृद्धिं(द्धि) प्रतिदाप्यः स्याद्दण्डं चैव समाप्नुयात् " ॥

**कात्यायनः**—" जीवन्त्याः पतिपुत्रास्तु देवराः पितृबान्धवाः ।
अनीशाः स्त्रीधनस्योक्ता दण्ड्यास्त्वपहरन्ति ये " ॥

**मनुः**—" जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्शिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः " ॥

---

१ ग. 'स्मादृत्तनृ' । २ ग, घ, ज. 'गुः । गुर्वोप' । ३ क. 'पस्कार' । ४ ङ. 'रवस्तूनां दो' ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

मृतानां स्त्रीणां धने बान्धवानामप्यधिकारो विवाहविशेषोपाधौ विद्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम्—जीवन्तीनामिति ॥ १४३ ॥

यदर्थं स्त्रीधनलक्षणमुक्तं तदिदानीमाह—

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ॥
अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥ १४४ ॥

बन्धुभिः पितृव्यमातुलादिभिर्यदत्तं यच्च शुल्कं यच्चान्वाधेयकमित्यनेन सर्वमेव स्त्रीधनमुपलक्षितं तत्स्त्रियामनपत्यायामतीतायां बान्धवा अवाप्नुयुः । बान्धवसंबन्धि तद्भवतीत्यर्थः ॥ १४४ ॥

उक्तं सामान्येन बान्धवा अवाप्नुयुरिति, इदानीं यस्मिन्विषये बान्धवा येऽधिक्रियन्ते तदाह—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्म्यादिषु चतुर्ष्वपि ॥
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अनपत्यायाः स्त्रिया ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्यविवाहप्राप्ताया धनं तद्भर्तुर्भवति । आसुरगान्धर्वराक्षसपैशाचविवाहलब्धायास्तु तदीयं धनं पितृगामि भवति । प्रसूताऽपत्यवती चेद्दुहितृणामेव । एतच्च सर्वविवाहविषयम् । पुत्रसद्भावेऽपि दुहितृगामि मातृधनमित्येतदर्थमिदमिति । अतो मातुर्दुहितर इत्यनेन गतार्थम् । न हि तत्राधिकारक्रम उक्तः । अत एव कात्यायनः—

" दुहितॄणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत् ।
बन्धुदत्तं तु बन्धूनामभावे भर्तृगामि तत् " ॥

उत्तरार्धमासुरादिविवाहचतुष्टयोढाविषयम् ।

मनुः—" स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् " ॥

यच्च तेनैवोक्तम्—" ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्भवेत् ।
अतीतायामप्रजसि भर्तुरेव तदिष्यते "

इति, तत्र गान्धर्वविवाहोढाया धनस्य भर्तृगामितया विकल्प इति मन्तव्यम् । यतः स एवाऽऽह—

" यत्तस्यै स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अतीतायामप्रजसि मातापित्रोस्तदिष्यते " ॥

---

१ ग. घ. छ. यथा । २ ग. घ. छ. °न्वादेय° । ३ ङ. अतीतायामप्रजसि बा° । ४ ग. घ. छ. ज. °वा अधि° । ५ ग. घ. छ. ज. तदुभयमाह ।

आसुरविवाहकन्याशुल्कभाक्त्वं सोदरभ्रातॄणां तदभावे मातुः । यदाह गौतमः—

" भगिनीशुल्कः सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः " ।

बौधायनः—" रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदराः स्वयम् ।
तदभावे भवेन्मातुस्तदभावे पितुर्भवेत् " ॥

मनुः—" अप्रजायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेदेवाविचारयन् " ॥

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्र इत्येवं कृतायां पुत्रिकायामेतत् । या पुनरियं मे पुत्र इति क्रियते तद्विषयमाहतुः शङ्खलिखितौ—

" प्रेतायाः पुत्रिकाया न भर्ता धनमर्हत्यपुत्रायाः " ।

पैठीनसिः—" प्रेतायां पुत्रिकायां न भर्ता धनमर्हति । अपुत्राया मात्रा श्वश्र्वा वा तद्ग्राह्यम् " ।

बृहस्पतिः—" मातुःस्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृष्वसा ।
श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥
यदाऽऽसामौरसो न स्यात्पुत्रो दौहित्र एव वा ।
तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्रीयाद्याः समाप्नुयुः " ॥

पूर्वजस्य ज्येष्ठस्य पत्नी पूर्वजपत्नी ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनविभागप्रसङ्गाद्वाग्दत्ताविषयं किंचिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो व्ययं दद्यात्सहोदयम् ॥
मृतायां सर्वमादद्यात्परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

वाचा वराय क्लैब्यादिदोषरहिताय कन्यां दत्त्वाऽन्यस्य श्रेयसो वरस्य लाभे यस्तस्माद्धरति न ददाति, स राज्ञा दण्ड्यः । यावतो धनस्य वरेण व्ययः कृतस्तावत्सवृद्धिकं धनं वराय च दद्यात् । राज्ञा दाप्य इत्यर्थः । तथा प्राग्विवाहात्कन्याया मृतायां च धनं विवाहनिमित्तं कन्यापित्रे वरेण दत्तं तेन कन्यापितुर्वरस्य च विवाहनिमित्तं धनव्ययं परिशोध्य शेषं वर आददीत ॥ १४६ ॥

उक्तं मृताया धनविषयविशेषे भर्ता गृह्णीयादिति, इदानीं दुर्भिक्षादौ गृहीतं स्त्रीधनं न भर्ता स्त्रियै दद्यादित्याह—

---

१ ग. घ. ज. °शुल्का सो° । २ क. पुत्रो भवेदिति । इ° । ३ ङ. ञ. °द्याच्च सोद° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके ॥
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ १४७ ॥

दुर्भिक्षमन्नाभावः । धर्मकार्यं यदावश्यकं न तु काम्यम् । व्याधिस्तीव्रो दीर्घश्च तत्प्रतिक्रियार्थम् । संप्रतिरोधो निगडादिबन्धः । एतेषु निमित्तेषु स्वकीयधनाभावे स्त्रीधनं गृहीत्वैता आपदस्तरेत् । प्रतिदानसमर्थधनाभावे च तत्तस्यै[1] न दद्यात् । ऋणाद्यलाभरूपापद्विषयमेतत् । अत एव देवलः—

" वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत् ।
भोक्त्री तत्स्वयमेवेदं पतिर्नार्हत्यनापदि ॥
वृथामोक्षे च भोगे च स्त्रियै दद्यात्सवृद्धिकम् ।
पुत्रार्तिहरणे वाऽपि स्त्रीधनं भोक्तुमर्हति ॥

द्यूतगीतादिप्रयोजनो धनव्ययो वृथामोक्षः । भोगस्तु स्वयन्नपानाद्युपयोगः[2] । पुत्रार्तिहरणे स्त्रीधनमुपभोग्यं ग्राह्यमित्यर्थः ।

कात्यायनः—" न भर्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च ।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥
यदि ह्येकतरोऽप्येषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात् ।
सवृद्धि(द्धि) प्रतिदाप्यः स्याद्दण्डं चैव समाप्नुयात् ॥
तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत्प्रीतिपूर्वकम् ।
मूलमेव प्रदाप्यः स्याद्यदाऽसौ धनवान्भवेत् ॥
व्याधितं व्यसनस्थं च धनिकैर्वाऽपि पीडितम् ।
ज्ञात्वा निसृष्टं यत्प्रीत्या दद्यादात्मेच्छया तु सः " ॥

यत्स्त्रिया भर्तारं व्याध्यादिव्यसनेभ्यो मोचयितुं धनं विसृष्टं दत्तं तदात्मेच्छया तस्यै[3] दद्यात् ।

" अथ चेत्स द्विभार्यः स्यान्नैव तां भजते पुनः ।
प्रीत्या निसृष्टमपि चेत्प्रतिदाप्यः स तद्बलात् ॥
ग्रासाच्छादनवासानामाच्छेदो यत्र योषितः ।
तत्र स्वमादधीत स्त्री विभागं रिक्थिनां तथा ॥
लिखितस्येति धर्मोऽयं प्राप्ते भर्तृकुले वसेत् " ।

लिखितस्य महर्षेर्मतोऽयं धर्मः । यद्वा भर्तृदेयस्य स्त्रीधनस्य पुत्रनिविष्टस्यायं धर्मः । प्राप्ते च धने स्त्री भर्तृकुले वसेन्नान्यत्र ।

---

१ क. °श्च रोगस्तत्प्र° । २ ग. घ. ज. °स्यैव न । ३ क. ञ. °पभोगः । ४ क. ग. घ. छ. °स्यैव द° ।

" व्याधिता प्रेतकार्ये च गच्छेद्बन्धुकुलं ततः ।
अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका ॥
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं सा च नार्हति ।
यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तस्माद्द्रव्यं नियोजयेत् ॥
स्थानेषु धर्मनिष्ठेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मसु ।
भर्त्रा प्रतिश्रुतं देयमृणवत्स्त्रीधनं सुतैः ॥
तिष्ठेद्भर्तृकुले या तु तथा पितृकुले वसेत् " ॥ १४७ ॥

अधिवेदनविषयमाह—

**अधिविन्नस्त्रियै[2] देयमाधिवेदनिकं समम् ॥**
**न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकीर्तितम् ॥ १४८॥**

यस्यां भार्यायां सत्यामन्या परिणीयते साऽधिविन्ना, सा चासौ स्त्री—अधिविन्नस्त्री तस्यै, आधिवेदनिकमधिवेदननिमित्तमधिविन्नेति कृत्वा यदीयते तदित्यर्थः । तच्च समं, केनेत्यपेक्षिते प्रकृतत्वादधुना परिणीतायै यद्दत्तं तेनेति गम्यते । एतच्च यस्यै स्त्रीधनं न दत्तं तस्यै देयम् । दत्ते तु तस्मिन्नर्धमेव देयं न समम् । अर्धशब्दोऽयं न समत्वप्रविभागवृत्तिः । एतच्च दत्ते स्त्रीधने तावद्यावताऽऽधिवेदनिकसमं भवतीत्यर्थः ॥ १४८ ॥

विभागसदसद्भावविवादे तत्सद्भावनिर्णयकारणान्याह—

**विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः ॥**
**विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥**

इति दायविभागप्रकरणम् ॥ ८ ॥

नास्त्यावयोर्धने[3] विभाग इति विभागस्य निह्नवेऽपलापे [ ज्ञात्यादिभिर्विभागभावना ] ज्ञेया । तथा यौतकैः पृथग्भूतैर्गृहक्षेत्रादिभिर्विभागभावना ज्ञेया । ज्ञात्यादयः साक्ष्यादयो विभागे ज्ञातीनां साक्षित्वात् । गृहक्षेत्रग्रहणं च शास्त्रान्तरोक्तविभागप्रमाणप्रदर्शनार्थम् ।

नारदः—" दारग्रहणपश्चन्नगृहक्षेत्रपरिग्रहाः ।
विभक्तानां पृथग्ज्ञेयाः पाकधर्मागमव्ययाः ॥
साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च ।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ॥

---

१ ग. घ. ज. °स्माद्दिव्यं । २ ङ. °यै दद्यादधि° । ३ क. °र्धनविभागभा° । ग. घ. छ. ज. °र्धनविभागाप्रतिपादनाज्ञेया । त° । ४ ग. घ. छ. ज. साक्ष्यत्वा° ।

( दायविभागप्रकरणम् ८ )

एषामेताः क्रिया लोके प्रवर्तन्ते स्वरिक्थिषु ।
विभक्तानवगच्छेयुर्लेख्यमप्यन्तरेण तान् " इति ॥

बृहस्पतिः—" पृथगायव्ययधनाः कुसीदं च परस्परम् ।
वणिक्पथं च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संशयः " ॥

वणिक्पथो वणिज्या ।

नारदः—" यद्येकजाता बहवः पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।
पृथक्कर्मगुणोपेता[3] ने चेत्कार्येषु संमताः ॥
स्वभागान्यदि वा दद्युस्ते *विक्रीयुरथापि वा ।
कुर्युर्यथेष्टं तत्सर्वमीशास्ते स्वधनस्य वै " ॥

अस्यार्थः—यदि भ्रातरः पृथक्परस्परानुमतिमृते धनसाध्यैर्धर्मकर्मिणो यदि च तथैव पृथग्वित्तव्ययात्मककृष्यादिक्रियाकारिणस्तथा कर्म गुणो लाभः क्षयो वा तेनोपेताः स्युः, तथा कार्यान्तरेष्वपि पर्षद्रामादिविषयेषु विरुद्धास्ते विभक्ता इति ज्ञेयम् । अथ ते स्वभागविक्रयादिकं यथेष्टं कुर्युः ।

बृहस्पतिः—" येनांशो यादृशो भुक्तस्तस्य तं न विचालयेत् " ॥

तथा—" स्वेच्छाकृतविभागो यः पुनरेव विसंवदेत् ।
स राज्ञांऽशे स्वके स्थाप्यः शासनीयोऽनुबन्धकृत् " ॥

अनुबन्ध आग्रहः ।

कात्यायनः—" वसेयुर्ये दशाब्दानि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।
विभक्ता भ्रातरस्ते च विज्ञेयाः पैतृके धने ॥
विभक्ता वाऽविभक्ता वा दायादाः स्थावरे समाः ।
एको ह्यनीशः सर्वत्र दानादापनविक्रये " ॥

विभक्तधना अविभक्तधना वा दायादाः स्थावरे समा भवन्ति । तेषां मध्य एकैको दानादौ समर्थो न भवतीत्यर्थः ॥ १४९ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
दायविभागप्रकरणम् ॥ ८ ॥

---

* इदमार्षम् ।

---

१ ग. घ. छ. °जातब° । २ ग. घ. छ. ज. न च कार्ये° । ३ क. °गाद्यदि । ४ न. घ. छ. °ध्यक° । ५ छ. ञ. °वेष्वपि° ।

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

# सीमाविवादप्रकरणम् । ( ९ )

अथ सीमाविवादे निर्णयहेतूनाह—

सीम्नो[1] विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः ॥
गोपाः सीमाकृषाणाश्च ये चान्ये वनगोचराः ॥१५०॥
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ॥
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥ १५१ ॥

क्षेत्रस्य स्थावरस्य ग्रामारामादेः सीम्नो मर्यादाया विवादे सामन्ताः समन्तात्परितोऽनन्तरग्रामादिभोक्तारः, स्थविरा वृद्धाः । आदिशब्देन शास्त्रान्तरोक्ता अन्येऽपि सीमानिर्णायकाः कथ्यन्ते । गोपाः पशुपालाः । सीमाकृषाणाः सीमायाः कर्षकाः । आकारान्तोऽपि सीमाशब्दोऽस्ति । वनगोचरा वनोपजीविनः । एते सर्वे स्थलादिभिर्लिङ्गैरुपलक्षितामवधृतां सीमानं तद्विवादे नयेयुर्निर्णयेयुः । स्थलमुन्नता भूः । निम्नं परिखा । चैत्यः संप्रतिपन्नक्षेत्रद्वयस्वामिकल्पितो लिङ्गविशेषः । प्रसिद्धमन्यत् । सीम्नो भेदानाह नारदः—

" ध्वजिनी मैत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्जिता ।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता " ॥

ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता । मत्स्यिनी[2] मत्स्याधारजललक्षिता । नैधानी भूमध्यनिहिततुषाङ्गारादिकुम्भोपलक्षिता । भयवर्जिताऽर्थिप्रत्यर्थिकृतलिङ्गगम्या । नृपेण सर्वाभावे स्वयंकृतेति वा । राजशासननीता राजाज्ञाकृता ।

मनुः—" सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेदेतां सुप्रकाशेषु सेतुषु " ॥

ग्रामशब्दः प्रदर्शनार्थः । तेन जनपदयोः क्षेत्रयोर्गृहयोश्च मर्यादाविवादसंग्रहः । एवं चतुर्विध एव सीमाविवादो भवति । ज्येष्ठमासग्रहणं न नियमार्थं किंतु सौकर्यप्राप्तं[3], सुकरं हि तदा सीमालिङ्गप्रदर्शनम् । सेतवः सेत्वादयः सीमाहेतवः ।

---

१ क. ग. घ. ङ. सीमादि° । २ ग. घ. ङ. मत्स्यिनी । ३ ग. घ. ङ. सौकार्य° ।

( सीमाविवादप्रकरणम् ९ )

" निवेशकाले कर्तव्यः सीमाबन्धविनिश्चयः ।
प्रकाशोपांशुचिह्नैश्च लक्षितः संशयापहः " ॥

**निवेशो ग्रामादिप्रवेशारम्भः । सीमाबन्धः सीमाया निबन्धनं नियामकम् । उपांशु(श्च) प्रकाशम् ।**

**बृहस्पतिः**—" कूपवापीतडाकानि चैत्यारामसुरालयाः ।
प्रकाशचिह्नान्येतानि सीमायां कारयेत्सदा ॥
निहितानि तथाऽन्यानि यानि भूमिर्न भक्षयेत् " ।

**नारदः**—" ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितम् ।
गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात्परिभावयेत् " ॥

**ग्रामादिशब्दैर्ग्रामादिभोक्तार उपलक्षिताः । समन्ततो य उपलक्ष्यन्ते तांश्च सामन्तान्विवादविषयस्य ग्रामस्य समन्तात्सर्वतः स्थितान्परिभावयेत् । नन्वे(त्वे)कस्यामेव दिशि । स्थविरा वृद्धास्तानप्याह स एव—**

" निष्पाद्यमानं यैर्दृष्टं तत्कार्यं *नृगुणान्वितैः ।
वृद्धा वा यदि वाऽवृद्धा वृद्धास्ते परिकीर्तिताः " ॥

**स्थविरादय इत्यादिशब्देनान्येऽपि शास्त्रान्तरोक्ता उच्यन्ते ।**

" आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च ।
अभोगभुक्तिः सीमा च षट्तु वादस्य हेतवः " ॥

**इति स्थावरस्य षट्प्रकारता ।**

**कात्यायनः**—" तेषामभावे सामन्ता मूलवृद्धोद्धृतादयः ।
स्थावरे षट्प्रकारेऽपि नात्र कार्या विचारणा " ॥

**तेषामिति साक्षिनिर्देशः । अत एव मनुः—**

" यदि संशय एवास्माल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्याद्विवादे सीमनिर्णयः " ॥

**कात्यायनः**—" तस्मिन्भोगः प्रयोक्तव्यः सर्वसाक्षिषु तिष्ठति ।
लेख्यारूढश्चेतरश्च साक्षी मार्गद्वयान्वितः " ॥

**मनुः**—" ग्रामीय(ण)ककुलानां तु समक्षं सीमसाक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥

---

* मिताक्षरायां तु तद्गुणान्वितैरिति पाठः प्रदृश्यते ।

---

१ क. °डागानि । २ क. °त् । क° । ३ ग. ज. नक° । ४ ग. घ. छ. ज. °र्यै न गु° । ५ क. षड्भुवश्चास्य । ६ ग. घ. ज. °क्षिभिर्निर्दे° । ७ ग. घ छ. ज. °ल्लिङ्गिना° ।

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सामन्ताः सीमनिर्णयम् ।
तथा तां च निबध्नीयात्समस्तां तांश्च साक्षिणः ॥
साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सीमान्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ " ॥

मौलानाह कात्यायनः—" ये तत्र पूर्वं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः ।
तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः परिकीर्तिताः " ॥

उद्धृतानपि स एवाऽऽह—" उपश्रवणसंभोगकार्यख्यानोपचोदिताः ।
उद्धरन्ति ततो यस्मादुद्धृतास्ते ततः स्मृताः " ॥

उपश्रवणं परस्परप्रसिद्धिः । कार्यं तत्करग्रहणम् । आख्यानं वार्ता । उद्धृतादय इत्यादिशब्देन येषां परिग्रहस्तेषां निर्देशं स्वयमेव करोति—

" संसक्तास्त्वथ सामन्तास्तत्संसक्तास्त्वथोत्तराः ।
*संसक्तसक्तसक्तान्ताः पञ्चाकाराः प्रकीर्तिताः " ॥

क्षेत्रादेर्विप्रतिपन्नसीमकस्य सर्वासु दिक्षु येऽनन्तरं क्षेत्रादिभोक्तारस्ते संसक्ताः । ये तु तदनन्तरास्ते सामन्ताः । येऽपि तदनन्तरास्ते संसक्तसंसक्ताः । तेषामपि येऽनन्तरास्ते संसक्तसक्तसंसक्ताः[1] । एवं पञ्चाकाराः षोडशसंख्यका भवन्ति ।

तथा—" सामन्ताभावेऽसामन्तैः कुर्यात्क्षेत्रादिनिर्णयम् ।
ग्रामसीमासु च तथा तद्वन्नगरदेशयोः ॥
स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात् ।
तत्संसक्तेषु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः ॥
संसक्तसक्तदुष्टेषु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः ।
कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञां धर्मं विजानता ॥
त्यक्त्वा दुष्टांस्तु सामन्तानन्यान्मौलादिभिः सह ।
संमिश्रां कारयेत्सीमामेवं धर्मविदो विदुः " ॥

मौलादिमिश्रानन्यान्सीमां प्रति निर्णायकान्कारयेदित्यर्थः ।

तथा—" सामन्ताः साधनं पूर्वमनिष्टोक्तौ गुणान्विताः ।
द्विगुणास्तूत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मताः " ॥

प्रतिवादिना[2] सामन्तान्प्रत्यनिष्टोक्तौ दोषोद्भावन इत्यर्थः । उत्तराः संस-

---

* मिताक्षरायां तु संसक्तसक्तसंसक्ता इति पाठः ।

---

१ ग. ज. कार्याख्यानं तत्करग्रहणं वार्ता । २ क. °क्तसंस° । ३ क. छ. °दिनः सा° ।

( सीमाविवादप्रकरणम् ९ )

क्षादयः । सामन्तादीनामसाक्षित्वेऽपि सीमालिङ्गानि वृक्षतुषादीनि प्रदर्शयतां सीमानिर्णायकत्वमुपपद्यत एव । त एव हि तदभिज्ञाः । यद्यपि वृक्षादिस्वरूपमन्येऽपि जानीयुस्तथाऽप्ययं वृक्षः सीमालिङ्गमयं नेति विवेकोऽन्येषां नास्ति । तथाऽत्र प्रदेशे तुषाङ्गारकादि निखातं विद्यत इति सामन्तादीनामेव शक्यं ज्ञातुम् । अत एव बृहस्पतिः—

" करीषास्थितुषाङ्गारशर्कराश्मकपालिकाः ।
सिकतेष्टकगोवालकर्पासास्थीनि भस्म च ॥
प्रक्षिप्य कुम्भेष्वेतानि सीमान्तेषु निधापयेत् ।
ततः पौगण्डबालानां प्रयत्नेन प्रदर्शयेत् ॥
वार्धके च शिशूनां ते दर्शयेयुस्तथैव च ।
एवं परम्पराज्ञाने सीमाभ्रान्तिर्न जायते " ॥

यत एवैषां लिङ्गप्रदर्शकत्वेन निश्चायकत्वमत एव पापनिरततया व्याधशकुनिकव्यालग्राहिप्रभृतीनां साक्षिभावानर्हाणामपीह परिग्रहः । केचित्पठन्ति सामन्ताः स्थविराद्या गणा इति । तस्मिन्पक्षे गणशब्देन ब्राह्मणादिसमूहवाचिनो गणिनो लक्ष्यन्ते । अस्ति च तेषां सीम्नि प्रामाण्यम् । यदाह नारदः—

" क्षेत्रसीमाविवादेषु सामन्तेभ्यो विनिश्चयः ।
नगरग्रामगणिनो ये च वृद्धतमा नराः ॥
ग्रामसीमासु च बहिर्ये स्युस्तत्कृषिजीविनः " ।

नयेयुः सीमानमित्यनुवृत्तौ नारद एव—

" निम्नगापहृतोन्मृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु ।
तत्प्रदेशानुमानैश्च प्रमाणैर्भोगदर्शनैः " ॥

बृहस्पतिः—" अन्यग्रामात्समाहृत्य दत्ताऽन्यस्य यदा मही ।
अन्यथा तु भवेल्लाभो नराणां राजदैविकः ॥
क्षयोदयौ जीवनं च दैवराजवशान्नृणाम् ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु तत्कृतं न विचालयेत् ॥
ग्रामयोरुभयोर्यत्र मर्यादा कल्पिता नदी ।
क्षयोदयेन चाल्पा सा चालयन्दण्डमर्हति ॥
कुरुते दानहरणं भाग्याभाग्यवशान्नृणाम् ।
एकत्र कूलपातं तु भूमेरन्यत्र संस्थितिः ॥

---

१ ग. घ. छ. °न्तादिभिरेव । २ क. °रदः । नि° । ३ ग. घ. छ. °मान्समा° । ४ ग. घ. छ. °था न भ° । ५ ग. घ. छ. कार्येषु । ६ क. °ते दण्डह° । ७ क. °त्र कुल° । ग. °त्र च्छल° ।

नदीतीरं प्रकुरुते तस्यैतां न विचालयेत् ।
क्षेत्रं ससस्यमुल्लङ्घ्य भूमिश्छिन्ना यदा भवेत् ॥
नदीस्रोतःप्रवाहेण क्षेत्रस्वामी लभेत ताम् ।

पूर्वस्वामी सस्यवापको लभेत । यावत्सस्यमिति शेषः ।

" या राज्ञा क्रोधलोभेन बलान्न्यायेन वा हृता ॥
प्रदत्ताऽन्यस्य तुष्टेन न सा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
प्रमाणरहितां भूमिं भुञ्जतो यस्य या हृता ।
गुणाधिकस्य दत्ता वा तस्य तां नैव चालयेत् " ॥

बृहस्पतिः—" शपथैः शापिताः स्वैः स्वैर्ब्रूयुः सीम्नि विनिश्चयम् ।
दर्शयेयुर्निधानानि तत्प्रमाणमिति स्थितिः " ॥

निधानानि निहितानि तुषाङ्गारादीनि सीमलिङ्गानीत्यर्थः ॥१५०॥१५१॥

यत्र न सन्ति सीमनिर्णयसमर्थाः साक्षिणः, सामन्ताश्च नैव शकुवन्ति लिङ्गानि प्रदर्शयितुं, तत्र किं कार्यमित्यपेक्षित आह—

**सामन्ता वा समा ग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा ॥**
**रक्तस्रग्वसनाः सीमां नयेयुः क्षितिधारिणः ॥ १५२ ॥**

विवादविषयीभूतस्य ग्रामादेः समन्तात्सर्वतो वर्तमाना ग्रामादयो ग्रामादिस्थाः पुरुषाः सामन्तास्ते च समाः समसंख्याकाः । तामेव समसंख्यां दर्शयति—चत्वारोऽष्टौ दशापि वा । अनेन द्वयोः षण्णां च व्यावृत्तिः । ते च लोहितकुसुमस्रग्विणो लोहितवसनाः क्षितिं लोष्टं च शिरसा धारयन्तश्चङ्क्रम्यमाणाः सीमां नयेयुर्निर्णयेयुः ।

मनुः—" शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
स्वकृतैः शापिताः स्वैस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् " ॥

नारदः—" नैकः समुन्नयेत्सीमां नरः प्रत्ययवानपि ।
गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता ॥
एकश्चेदुन्नयेत्सीमां सोपवासः समुन्नयेत् " ।

कात्यायनः—" एको यद्वन्नयेत्सीमामुभयोरीप्सितः क्वचित् ।
मस्तके क्षितिमारोप्य रक्तवासाः समाहितः " ॥

बृहस्पतिः—" ज्ञातृचिह्नैर्विना साधुरेकोऽप्युभयसंमतः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो मृदमादाय मूर्धनि ॥
सत्यव्रतः सोपवासः सीमान्तं दर्शयेन्नरः " ।

---

१ ग. ज. °हे च क्षे° । २ क. ज्ञात्वा चि° ।

( सीमाविवादप्रकरणम् ९ )

ज्ञातृचिह्नैर्विना ज्ञातुश्चिह्नस्य चाभाव इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

मिथ्याकारिणां दण्डमाह—

**अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥**

सामन्तादयो यद्यनृतं मिथ्याभूतं सीमानिर्णयं कुर्युस्तदा मध्यमसाहसं कार्षापणानां चत्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि दण्डनीयाः ।

यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—" बहूनां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णयं यदि ।
कुर्युर्भयाद्वा लोभाद्वा दाप्यास्तूत्तमसाहसम् "

इत्यादि, तदाशयदोषगौरवे सति द्रष्टव्यम् ।

यदप्यपरं तेनैवोक्तम्—" न ज्ञानेन हि मुच्यन्ते सामन्ता निर्णयं प्रति ।
अज्ञानोक्तौ दण्डयित्वा पुनः सीमां विचारयेत् ॥
कीर्तिते यदि भेदः स्याद्दण्डस्तूत्तमसाहसम् "

इति, तदपि कथितविषयम् ।

नारदः—" शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि ।
जघन्यास्तेऽपि प्रत्येकं विनेयाः पूर्वसाहसम् " ॥

शेषाः सामन्तेभ्योऽन्ये । जघन्या मौलसंसक्तादयः । पूर्वसाहसं प्रथमसाहसम् ।

तथा—" गणवृद्धादयस्त्वन्ये दण्डनीयाः पृथक्पृथक् ।
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते तथा " ॥

गणाश्च वृद्धादयश्च ते गणवृद्धादयः । आदिशब्देन मौलोद्धृतनगरग्रामा गृह्यन्ते । एते च साक्षिधर्ममतिक्रामन्तः प्रथमसाहसं दण्डनीयाः । अनृतत्वं मिथ्यात्वं च तेषां सीमलिङ्गानां निखातानामप्रदर्शने स्थलवृक्षादीनां चान्यथादर्शने वेदितव्यम्* । सीमाचङ्क्रमणं तु मिथ्यात्वं व्यसनोदयाद्वेदितव्यम् ।

कात्यायनः—" सीमाचङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च ।
त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजिकमिष्यते " ॥

लिङ्गानां ज्ञातॄणां चाभावे यत्कार्यं तदाह—

**अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्रवर्तकः ॥ १५३ ॥**

ज्ञातॄणां साक्षिसामन्तादीनां चिह्नानां च स्थलवृक्षादीनां चासंभवे राजैव स्वातन्त्र्येण सीमानं प्रवर्तयेत् ।

---

+ इत उत्तरं वेदितव्यमित्यन्तं क. पुस्तके न विद्यते ।

---

१ क. ज्ञात्वा चि° । २ ग. घ. छ. 'ने स्थूल° । ३ ग. ज.°णं त्वमि° । ४ ग. घ. छ. लिङ्गिनां । ५ क. अज्ञाने । ६ ङ. °वर्तिता ।

नारदः—" यदा च न स्युर्ज्ञातारः सीमायां न च लक्षणम् ।
तदा राजा द्वयोः सीमामुन्नयेदिष्टतः स्वयम् " ॥

इष्टमिच्छा । यदा पुनर्विवादविषयीभूता सीमा भूमिरेकस्य ग्रामस्य क्षेत्रादेरत्यन्तोपकारिका, तया विना तद्ग्रामादि न भवत्येव । इतरस्य तु न तथा । तत्राऽऽह मनुः—

" सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रविशेद्भूमिमेकेषामुपकारादिति स्थितिः " ॥

अविषह्या ज्ञातृज्ञापकशून्या । प्रविशेत्प्रवेशयेदित्यर्थः । उपकारादुपकारहेतोः ॥ १५३ ॥

उक्तं क्षेत्रसीम्नो निर्णयकारणं तदेवान्येषामप्यारामादीनां सीमनिर्णयकारणमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु ॥
एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहादिषु ॥ १५४ ॥

आरामादिषु सीमाविवादविषयेष्वयमेव साक्षिसामन्तादिको विधिर्निर्णयविधायको ज्ञेयः । वर्षाप्रभवजलप्रवाहमर्यादाविवादे चैष एव विधिः । आराम आम्रादिवनम् । आयतनं देवालयः । निपानं जलाशयः । उद्यानं क्रीडावनम् । प्रसिद्धमन्यत् । आदिशब्दः सर्वेषामेव भूमर्यादाविवादानामुपसंग्रहार्थः । अत एव बृहस्पतिः—

" सर्वस्मिन्स्थावरे वादे विधिरेष प्रकीर्तितः " ।

तथा—" निवेशकालादारभ्य गृहवार्यापणादिकम् ।
येन यावद्यथाभुक्तं तस्य तन्न विचालयेत् ॥
वातायनप्रणालीस्तु तथा निर्यूहवेदिकाः ।
चतुःशालस्यन्दनिकाः प्राङ्निविष्टा न चालयेत् " ॥

वातायनं गवाक्षः । काष्ठादिमयो जलनिर्गमोपायः प्रणाली । निर्यूहो द्वारनिर्गमः काष्ठविशेषः । गृहघोणीति यावत् । वेदिका प्राङ्गना(णा)दिभूः । चतुःशालं चतुर्द्वारं गृहम् । स्यन्दनिका पटलप्रान्तः ।

कात्यायनः—" मेखलाभ्रमनिष्कासंगवाक्षान्नोपधारयेत् ।
प्रणालीं गृहवास्तुं च पीडयन्दण्डभाग्भवेत् ॥

---

१ ग घ. छ. °था भूतं त° । २ ग. ज. °ष्टा विचा° । ३ क. °म् । स्यन्दते वृष्टपुदकनिपात इति स्यन्दिका । कात्या° । ४ क. °ष्कामग°

( सीमाविवादप्रकरणम् ९ )

निवेशसमयादूर्ध्वं नैते योज्याः कदाचन ।
दृष्टिपाते प्रणालं च न कुर्यात्परेवशमसु " ॥

मेखला कुड्यमूलबन्धः । भ्रमो जलनिर्गमः । निष्कासो हर्म्यादिभित्ति-निर्गतं काष्ठादिनिर्मितमस्पृष्टभूमिकमुपवेशनस्थानम् । नोपधारयेन्न निरुन्ध्यात् । गृहवास्तुर्वासभूमिः । दृष्टिपातो गवाक्षः ।

बृहस्पतिः—" वर्चस्थानं वह्निमयं गर्तोच्छिष्टाम्बुसेचनम् ।
अत्यारात्परकुड्यस्य न कर्तव्यं कदाचन " ॥

वर्चः पुरीषम् । गर्तः श्वभ्रम् । अत्यारादतिसमीपे ।

कात्यायनः—" विण्मूत्रोदकचक्रं च वह्निश्वभ्रनिवेशनम् ।
अरत्निद्वयमुत्सृज्य परकुड्यान्निवेशयेत् " ॥

बृहस्पतिः—" यान्त्यायान्ति जना येन पशवैश्चानिवारिताः ।
तदुच्यते संसरणं न रोद्धव्यं तु केनचित् ॥
यस्तत्र संकरं श्वभ्रं वृक्षारोपणमेव च ।
कामात्पुरीषं कुर्याच्च तस्य दण्डस्तु माषकः " ॥

संकरो द्रव्यान्तरेण संकीर्णता । कार्षापणस्य विंशो भागो माषकः ।

मनुः—" समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाऽऽशु शोधयेत् ॥
आपद्गतस्तथा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति न[1] तु शोध्यमिति स्थितिः " ॥

परिभाषणं धिग्दण्डः ।

कात्यायनः—" तडागोद्यानतीर्थानि योऽमेध्येन विनाशयेत् ।
अमेध्यं शोधयित्वा तु दण्डयेत्पूर्वसाहसम् ॥
दूषयेत्सर्वतीर्थानि स्थापितानि महात्मभिः ।
पुण्यानि पावनीयानि दण्डयेत्पूर्वसाहसम् " ॥ १५४ ॥

**मर्यादायाः प्रभेदे तु सीमातिक्रमणे तथा ॥**
**क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः ॥ १५५ ॥**

क्षेत्रादिसीम्नो ज्ञापकं सेत्वादिकं मर्यादा, तस्याः प्रभेदे विनाशे सीम्नश्चातिक्रमणे क्षेत्रस्य चापहारे यथाक्रमं प्रथमोत्तममध्यमा दण्डा भवन्ति । एतच्च प्रदर्शनार्थम् । तेनापराधभूयस्त्वापेक्षया—

" वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने "

इत्यादि शास्त्रान्तरं पर्यालोच्य दण्डान्तरमपि कार्यं भवति ।

---

१ ग. घ. छ. °त्तिषु नि° । २ क. ग. घ. 'ख्यानि वे° । ३ ग. घ. छ. ज. °वश्च नि° । ४ ग. घ. छ. न त्वशो° ।

मनुः—" गृहं तडाकमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः " ॥

वृद्धमनुः—" स्थापितां चैव मर्यादामुभयोर्ग्रामयोस्तथा ।
अतिक्रामन्ति ये पापास्ते दण्ड्या द्विशतं दमम् " ॥

कात्यायनः—" सीमामध्ये तु जातानां वृक्षाणां क्षेत्रयोर्द्वयोः ।
फलं पुष्पं च सामान्यं क्षेत्रस्वामिषु निर्दिशेत् ॥
अन्यक्षेत्रेषु जातानां शाखा यत्रान्यसंस्थिताः ।
स्वामिनं तं विजानीयाद्यस्य क्षेत्रेषु संस्थिताः " ॥

संस्थिता उत्पन्नाः ॥ १५५ ॥

किंच—

**न निषेध्योऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ॥**
**परभूमिं हरन्कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥ १५६ ॥**

स्वक्षेत्रे परेण क्रियमाणः सेतुरल्पस्यापकारस्य महतश्चोपकारस्य हेतुर्न निवार्यः । तथा यस्य भूमिं स्वल्पक्षेत्रः स्वल्पायनो बहूदकश्च कूपोऽपाहरेत्सोऽपि तेन न निषेध्यः । विपरीतौ तु सेतुकूपौ निषेध्यावेव ॥ १५६ ॥

किं च—

**स्वामिनेऽविनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयेत् ॥**
**उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः ॥ १५७ ॥**

यस्तु क्षेत्रस्वामिनम[न]नुज्ञाप्य तत्क्षेत्रे सेत्वादि करोति, स तस्य फलोपभोगं दृष्टमदृष्टं वा न लभते । किंतु क्षेत्रस्वाम्येव लभते । तदभावे तु राजा ।

नारदः—" सेतुस्तु द्विविधो ज्ञेयः खेयो बध्यस्तथैव च ।
तोयप्रवर्तनात्खेयो बध्यः स्याद्विनिवर्तनात् " ॥

क्षेत्रात्तोयं प्रवर्तयितुं निर्गमयितुं यः सेतुः स खेयः । यस्तु क्षेत्र एव तोयं धारयितुं क्रियते स बध्यः ।

नान्तरेणोदकं सस्यं नाशश्चात्युदके सति ।
य एवानुदके दोषः स एवात्युदके भवेत् ॥
पूर्वप्रवृत्तमुत्पन्नमदृष्ट्वा स्वामिनं तु यः ।
सेतुं प्रवर्तयेत्कश्चिन्न स तत्फलभाग्भवेत् ॥

---

१क.°न न निवार्यः। वि°। ग.घ.छ.ज. °न निं°। २ग.छ.°मिनोऽवि°। ङ.°मिने योऽनि°। ३ ग. घ.छ.°नो भाग° । ४ ग.घ.ज. वा ल° । ५ ग.घ.ज. °यो बाध्यः स्याद्विनिवर्तयन् । क्षे° । ६ ग. घ. छ. ज. °मदृष्ट्वा ।

( सीमाविवादप्रकरणम् ९ )

मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये चापि मानवे ।
राजानमामन्त्र्य ततः कुर्यात्सेतुप्रवर्तनम् ॥
अतोऽन्यथा क्लेशभाक्स्यान्मृगव्याधानुदर्शनात् ।
इषवस्तस्य नश्यन्ति यो विद्धमनुविध्यति " ॥

**अनुदर्शनं निदर्शनम् । तस्य मृगव्याधस्येत्यर्थः ।**

**कात्यायनः**—" अस्वाम्यनुमतेनैव संस्कारं कुरुते तु यः ।
गृहोद्यानतडागानां संस्कर्ता लभते न तु ॥
देयं स्वामिनि चाऽऽयाते न निवेद्य नृपं यदि ।
अथाऽऽवेद्य प्रयुक्तस्तु तद्धनं लभते फलम् ॥ १५७ ॥

**प्रसङ्गात्क्षेत्रविषयं किंचिदाह—**

**फालाहतमपि क्षेत्रं यो न कुर्यान्न कारयेत् ॥**
**तं प्रदाप्याकृष्टशदं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥**

[ इति सीमाविवादप्रकरणम् ॥ ९ ॥ ]

**यः क्षेत्रं फालाहतं कृष्टमपि न कुर्यात्तत्र क्षेत्रे बीजवापादि न कुर्यात् । नापि कारयेत् । तं कृषीवलमकृष्टशदं प्रदाप्यान्येन कृषीवलेन क्षेत्रं कारयेत् । शदः क्षेत्रस्य फलम् । अकृष्टस्य क्षेत्रस्य शदोऽकृष्टशदः । अकृष्टेऽपि क्षेत्रे तं प्रदाप्य क्षेत्रमन्यस्यार्पयेदित्यर्थः ।**

**व्यासः**—" क्षेत्रं गृहीत्वा यः कश्चिन्न कुर्यान्न च कारयेत् ।
स्वामिने स शदं दाप्यो राज्ञा दण्डं च तत्समम् " ॥

**तत्समं तस्य क्षेत्रशदस्यानुरूपमित्यर्थः । तदेव सारूप्यं दर्शयति—**

" चिरावसन्ने दशमं कृष्यमाणे तथाऽष्टमम् ।
सुसंस्कृतेऽपि षष्ठं स्यात्परिकल्प्यं यथास्थिति " ॥

**चिरावसन्ने चिरकालमकृष्टे क्षेत्रे पूर्वोक्ते निमित्ते सति क्षेत्रफलस्य दशमं भागं दण्डनीयः । कृष्यमाणे वर्तमानविलेखने तु क्षेत्रेऽष्टमं, सुसंस्कृते तु षष्ठमिति ।**

**नारदः**—" अशक्तप्रेतनष्टेषु क्षेत्रिकेषु निवारितः ।
क्षेत्रं चेद्विकृषेत्कश्चिदश्नुवीत स तत्फलम् ॥
विकृष्यमाणे क्षेत्रे तु क्षेत्रिकः पुनरात्रजेत् ।
खिलोपचारं तत्सर्वं दत्त्वा क्षेत्रमवाप्नुयात् " ॥

---

१ ग. घ. छ. नृपे । २ ङ. °त् । स प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षे° । ३ क. ग. क्षेत्रं । ४ ग. घ. छ. °स्थितिः । । चि° ।

खिलं दुष्कर्षं क्षेत्रम् ।

" तदष्टभागापचयाद्यावदृष्टं गताः समाः ।
समाप्ते त्वष्टमे वर्षे भुक्तं क्षेत्रं लभेत सः " ॥

अस्यार्थं कात्यायन आह—" अशक्तितो न दद्याच्चेत्खिलार्थे च कृतं[2] व्ययम् ।
तदष्टभागहीनं तु का[3](क)र्षकात्फलमाप्नुयात् ॥
वर्षाण्यष्टौ स भोक्ता स्यात्परतः स्वामिने तु तत् " ॥

क्षेत्रस्वामी का(क)र्षकाय खिलव्ययं निर्धन इति कृत्वा न ददाति, तदा का(क)र्षकः क्षेत्रफलस्याष्टमं भागमष्टौ वर्षाणि यावत्स्वामिने दद्यात् । तत ऊर्ध्वं स्वाम्येव क्षेत्रं लभत इत्यर्थः ।

नारदः—" संवत्सरेणार्धखिलं खिलं स्याद्वत्सरैस्त्रिभिः[1] ।
पञ्चवर्षोषितं तु क्षेत्रं स्यादटवीसमम् " ॥

कृषिं विना संवत्सरेणार्धखिलं भवति, यत्नसाध्यं भवतीत्यर्थः । एवं त्रिभिर्वर्षैः खिलं महायत्नसाध्यं भवतीत्यर्थः । पञ्चवर्षोपेक्षितं क्षेत्रमटवीतुल्यं स्यात् । ततश्चैवं कुर्वतः का(क)र्षकस्यापराधानुरूपं राज्ञे स्वामिने च तेन देयम् ।

" क्षेत्रं त्रिपुरुषं यस्य गृहं वा स्यात्क्रमागतम् ।
राजप्रसादादन्यत्र न[4] तद्भोगः परं नयेत् " ॥

त्रिपुरुषायातो भोगो राजप्रसादकृतादन्यो गृहादेः परभोग्यतां निवारयति । इति सीमाविवादप्रकरणम् ॥ १५८ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के सीमाविवादप्रकरणम् ॥ ९ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# स्वामिपालविवादप्रकरणम् । ( १० )

---

क्षेत्रापराधिदण्डप्रसङ्गात्सस्यापराधिदण्डमाह—

**माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी ॥**
**दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम् ॥ १५९ ॥**

---

१ ग. थ. छ. ज. °वत्सरै ग° । २ ग. घ. ज. कृतव्य° । ३ क. कार्षिकः फल° । ४ ग. घ. छ. न तं भोगः ।

( स्वामिपालविवादप्रकरणम् १० )

भक्षणमर्दनाभ्यां परसस्योपघातिनी महिषी महिषो वा माषानष्टौ दण्डयः स्यात् । गौश्चतुरो माषान् । अजाविकं द्वौ द्वौ माषौ । पशूनां निर्धनत्वेन धनदण्डायोग्यत्वात्तत्स्वामिनामयं लक्षणया दण्डविधिः । कार्षापणस्य विंशो भागो माषः ॥ १५९ ॥

**भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तादद्विगुणो दमः ॥**
**सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥**

ये पशवः सस्यं भक्षयित्वा तत्रोपविशन्ति, तेषां प्रातिस्विकाद्दण्डाद्विगुणो दण्डो भवति । यः सस्योपघाते महिषादीनां दण्ड उक्तः स एव विवीतोपघातेऽपि वेदितव्यः । तृणाद्यर्थमावृतो भूभागो विवीतम् । खर उष्ट्रश्च महिष्या तुल्यदण्डः ।

मनुः—" क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं दण्डमर्हति ।
सर्वत्र तु शदो देयः क्षेत्रिकायेति धारणा " ॥

अस्यार्थः—येषु क्षेत्रेषु कृतापराधा अपि पशवो न दण्डनीया इति मनुनोक्तास्ततोऽन्येषु क्षेत्रेषु कृतापराधः पशुः सपादं कार्षापणं दण्डमर्हतीति । एतदतिपूर्वके महति चापराधे द्रष्टव्यम् । सर्वेषु पश्वपराधेषु शदः क्षेत्रफलं यावद्धितं तावत्क्षेत्रिकाय देयम् । दण्डं प्राप्नुयादित्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ—

" रात्रौ चरतां गौः पञ्च माषान्दिवा त्रीन्मुहूर्ते
माषं ग्रासे त्वदण्डः सर्वेषामेव वत्सो माषं महिषी
दश खरोष्ट्रौ षोडशाजाविकं चतुरः " ।

नारदः—" गावः पादं प्रदाप्यास्तु महिष्यो द्विगुणं ततः ।
अजाविके सवत्से तु माषो दण्डः परः स्मृतः ॥
सन्नानां द्विगुणो दण्डो वसतां च चतुर्गुणः ।
प्रत्यक्षचारकाणां तु चौरदण्डः स्मृतो बुधैः " ॥

विष्णुः—" महिषी चेत्सस्यनाशं कुर्यात्तत्पालकस्त्वष्टौ माषान्दण्ड्यः । अपालकायाः स्वामी । अश्वस्तृष्टो गर्दभो वा गौश्चेत्तदर्धं तदर्धमजाविक उक्तो दण्डः " ॥ १६० ॥

क्षेत्रस्वामिने यदेयं पशुपालकस्य च यत्कार्यं तदिदानीमाह—

---

१ क. तत्रैवोप° । २ क. °घातिम° । ३ घ. छ. ज. °रणाः । अ° । ४ ग. घ. ज. °कायः स्वा° ।

**यावत्सस्यं विनश्येत* तावत्क्षेत्री फलं लभेत् ॥**
**पालस्ताभ्योऽथ गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥१६१॥**

अपक्षपातिनः प्राज्ञाः सामन्ता यावत्सस्यं विनष्टं परिभाव्य ब्रूयुस्तावत्क्षेत्रिणे गोमी दद्यात् । राज्ञे च पूर्वोक्तं दण्डम् । गोमी गोस्वामी । गोशब्दः पशुमात्रोपलक्षणार्थः । पशुपालश्च राज्ञा कषा(शा)दिना ताडनीयः ।

नारदः—"गोभिस्तु भक्षितं सस्यं यो नरः प्रतियाचते ।
सामन्तानुमतं देयं धान्यं यत्र तु वापितम् ॥
गोजग्धं गोमिना देयं धान्यं वै कार्षि(कर्ष)कस्य तु ।
एवं हि विनयः प्रोक्तो गवां सस्यावमर्दने" ॥

यत्तूशनसोक्तम्—"गोभिर्विनाशितं धान्यं यो नरः प्रतियाचते ।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति नाश्नाति त्रिदिवौकसः" ॥

इति, तत्स्त्रीगवीविहितविषयम् ॥ १६१ ॥

उक्तस्य दण्डस्य विषयविशेषेऽपवादमाह—

**पथिग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ॥**
**अकामतः कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १६२ ॥**

पथो ग्रामस्य विवीतस्यान्ते समीपे यत्क्षेत्रं तत्र पशुभिरकामतः सस्ये विहन्यमाने पशुस्वामिपालयोर्दोषो न विद्यते । ततश्च शददण्डयोर्दानं गोपस्य च ताडनं नास्ति । कामतस्तु पशुचारेण चौरवद्दण्डः । दोषाभावश्चाऽऽवृतावसत्याम् । नारदः—

"ग्रामोपान्ते तु यत्क्षेत्रं विवीतान्ते महापथि ।
अनावृतं चेत्तन्नाशे न पालस्य व्यतिक्रमः ॥
वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्तत्र श्वसूकरमुखानुगम्" ॥

नारदः—"पथि क्षेत्रे वृतिः कार्या यामुष्ट्रो नावलोकयेत् ।
न लङ्घयेत्पशुर्नाश्वो न भिन्द्याद्यां च सूकरैः(रः)" ॥

कात्यायनः—"अजातेष्वेव सस्येषु कुर्यादावरणं महत् ।
दुःखेन हि निवार्यन्ते लब्धस्वादुरसा मृगाः" ॥

---

* मिताक्षरामूले विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलमिति पाठः ।

---

१ क. विनाश्येत । २ ङ. °श्येत्तु ता° । ३ ङ. °त् । गोपस्ता° । ४ ग. घ. छ. °स्य नश्यन्ति । ५ ग. घ. ज. °श्च दशद° । ६ क. °र्दाने गो° । ७ ग. घ. छ. दोषभावश्च वृ° । ८ ग. °शुन्नाशो न । घ. छ. ज. °शुन्नश्चो न । ९ क. °न्द्या न च सूकरः । का° ।

( स्वामिपालविवादप्रकरणम् १० )

मनुः—" पथिक्षेत्रे परिवृते ग्रामान्ते योऽथ वा पुनः।
सपालः शतदण्डार्हो विपालं वारयेत्पशुम् " ॥

पथ्यादिक्षेत्रं यदि परिवृतं गोपालसहितः पशुरुपहन्यात्तदा शतदण्डार्हः पशुः। अपालश्चेद्वारयितव्य इत्यर्थः।

नारदः—" उत्क्रम्य तु वृतिं यः स्यात्सस्यघातो गवादिभिः।
पालः शास्यो भवेत्तत्र न चेच्छक्त्या निवारयेत् " ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपवादमाह—

**महोक्षोत्सृष्टपशवः सूतिकागन्तुकादयः ॥**
**पालो येषां च ते मोच्या राजदेवपरिप्लुताः॥१६३॥**

महोक्षादयः सस्यापराधेऽपि न दण्ड्याः। महांश्चासावुक्षा च महोक्षः। यः सर्वासां गवां गर्भाधानाय धृतः। उत्सृष्टा देवताद्यर्थं यथाविधि स्वामिना परित्यक्ताः पशवो गवादयः। सूतिका नवप्रसूता दशरात्रं यावत्। आगन्तुकः पालरहितो ग्रामान्तरादागतः। ये पशवो राज्ञा परराष्ट्रग्राहिणा दैवेन व्याध्यादिना वा परिप्लुता उपद्रुतास्ते सगोपा अपि मोच्याः। आदिशब्दः शास्त्रान्तरोक्तसंग्रहार्थः।

उशना—" अदण्ड्या हस्तिनोऽश्वाश्च प्रजापाला हि ते स्मृताः।
अदण्ड्याः काणकुण्ठाश्च पृथक्च कृतलक्षणाः ॥
अदण्ड्याऽऽगन्तुकी गौश्च सूतिका चाभिसारिणी।
अदण्ड्याश्चोत्सवे गावः श्राद्धकाले तथैव च " ॥

प्रजापाला हीतिवचनाद्राजकीयानामेव हस्त्यादीनामदण्डता। गोमण्डलात्प्रच्युता तदभिगामिन्यभिसारिणी।

मनुः—" अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा।
अपालान्वा विपालान्वा अदण्ड्यान्मनुरब्रवीत् " ॥

नारदः—" गौः प्रसूता दशाहे तु महोक्षो वाजिकुञ्जराः।
निवार्याः स्युः प्रयत्नेन तेषां स्वामी न दण्डभाक् " ॥

तथा—" राजग्राहगृहीतो वा वज्राशनिहतोऽपि वा।
अथ सर्पेण वा दष्टो वृक्षाद्वा पतितो भवेत् ॥
व्याघ्रादिभिर्हतो वाऽपि व्याधिभिर्वाऽप्युपद्रुतः।
न तत्र दोषः पालस्य न च दण्डोऽस्ति गोमिनाम् " ॥

---

१ क. पशुषे°। २ क. °शाहं तु। ३ क. °क्षाश्वप°।

कात्यायनः—" अधमोत्तममध्यानां पशूनां चैव ताडने ।
स्वामी तु विवदेद्यत्र दण्डं तत्र विकल्पयेत् " ॥ १६३ ॥

पशूनां स्वामिपालयोर्विवादं प्रत्याह—

**यथाऽर्पितान्पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा ॥**
**प्रमादमृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः ॥ १६४ ॥**

यथा प्रातःकाले स्वामिना परिगणिताः पशवः पशुपालायार्प्यन्ते तथैव तेन ते सायं प्रत्यर्पणीयाः । तत्र यदि गोपस्योपेक्षया यावन्तो म्रियन्ते नश्यन्ति वा तदा तावतो गवादीन्पशून्कृतवेतनः कृतभृतिर्गोपालकः स्वामिने राज्ञा प्रदाप्यः । तद्वेतनं मनुराह—

" गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमतो भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः " ॥

यः पशूनां गोपो गोघ्ना क्षीरभृतः क्षीरमूल्यः स दशतो दशानां गवादीनां दोग्ध्रीणां मध्याद्वरामुत्कृष्टामेकां गोस्वाम्यनुमतो भृत्य इति कृत्वाऽऽत्मार्थं दुह्यात् । सैव पशुपाले प्रकारान्तरेणाभृते भृतिर्मूल्यं स्यात् ।

नारदः—" गवां शताद्वत्सतरी धेनुः स्याद्विंशताद्वृतिः ।
प्रतिसंवत्सरं गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि " ॥

संदोहः सर्वदोहः ।

बृहस्पतिः—" तथा धेनुभृतः क्षीरं लभते दशमेऽखिलम् " ।

मनुः—" *विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालस्तत्र किल्बिषी ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति " ॥

तथा—" दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमोऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् " ॥

किल्बिषमपराधः । वक्तव्यताऽप्यपराध एव ।

व्यासः—" पालग्राहे ग्रामघाते तथा राष्ट्रस्य विभ्रमे ।
यत्प्रनष्टं हृतं वा स्यात्पालस्तत्र न किल्बिषी " ॥ १६४ ॥

**पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ॥**
**अर्धत्रयोदशपणः स्वामिने द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥**

---

* मिताक्षरायां तु पाठो भिन्नः—" विक्रम्य तु हृतं चोरैर्न पालो दातुमर्हति " इति ।

---

१ क. प्रकल्पयेत् । २ ग. घ. छ. °मते भृ° । ३ ग. घ. ज. भृतिभृतिः । ४ क. गौपैः । ५ ग. घ. छ. ज. लभेताष्टमे ।

( स्वामिपालविवादप्रकरणम् १० )

पालस्य शक्यरक्षणेऽप्युपेक्षणं चेत्तेन दोषेण पशुविनाशे च सत्यर्धत्रयोदशपणः पालविषये दण्डो विधेयः । विनष्टपशुमूल्यं द्रव्यस्वामिने दापनीयः । त्रयोदशानां पूरणस्त्रयोदशः[1] सार्धो येषां तेऽर्धत्रयोदशाः[2] पणा यस्मिन्दण्डे सोऽर्धत्रयोदशपणो दण्डः । सार्धत्रयोदशपण इति यावत् ।

नारदः[3]—" स्याच्चेद्व्यसनं गोपो व्यायच्छेत्तत्र शक्तितः ।
अशक्तस्तूर्णमागत्य स्वामिने तन्निवेदयेत् ॥
अव्यायच्छन्नविक्रोशन्स्वामिने चानिवेदयन् ।
वोढुमर्हति गोपस्तां विनयं चैव राजनि " ॥

व्यायच्छेद्व्यसननिरासाय प्रयतेत । व्यसननिरासासमर्थस्तु स्वामिने निवेदयेत् । आक्रोशेद्वा ।

मनुः—" नष्टं विनष्टं कृमिभिः[4] श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तत् " ॥

मूल्यद्वारेणेति शेषः । नाशोऽदर्शनम् ।

तथा—" अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले[5] त्वनायति ।
यत्प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥
तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुपेत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी " ॥

नारदः—" अनेन सर्वपालानां विवादः समुदाहृतः ।
मृतेषु च विशुद्धिः स्याद्वालशृङ्गादिदर्शनात् " ॥ १६५ ॥

## ग्रामेच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेन वा ॥
## द्विजस्तृणेधःपुष्पाणि सर्वतः समुपाहरेत् ॥ १६६ ॥

ग्रामवर्तिजनेच्छया भूमेश्चाल्पत्वमहत्त्ववशाद्राजवशाद्वा गवादीनां पशूनां प्रचारार्था भूः स्यात् । तृणाद्यभ्यवहारो वा प्रचारः । तथा द्विजातिस्तृणानीन्धनानि पुष्पाणि च सर्वतः परिगृहीतादपि भूभागादुपाहरेत् ।

गौतमः—" गोग्न्यर्थी तृणमेधान्वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि
स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम् " ।

स्ववदितिवचनादुपाददानः स्वामिना न निषेध्यः । एतच्चाऽऽपदि ।

---

१ ग. घ. छ. ज. °शः सोऽर्धो । २ क. छ. ज. °दश प° । ३ क. °दः । यश्च गोव्यसनं गोपो व्ययश्चेत्त° । ४ क. कृषिभिः । ५ ग. ज. °ले तु ना° ।

यत्तु स्मृत्यन्तरम्—" तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
अनापृष्टं तु गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति "
इति, तदनापद्गतशूद्रादिविषयम् ॥ १६६ ॥

भूमिवर्त्मना गोप्रचारो भवतीति यदुक्तं तद्व्यवस्थापयति—

**धनुःशतं परीहारो ग्रामक्षेत्रान्तरं भवेत् ॥**
**द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥**

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ॥ १० ॥

ग्रामोऽगृहीतवनभूस्तस्य संबन्धिक्षेत्राणां चान्तरं धनुःशतपरिमाणं परिहारः परिहृतं कृष्यादिकं भवेदित्यर्थः । खर्वटपरिहारस्तु धनुःशतद्वयम् । नगरस्य पुनर्धनुषां चतुःशतम् । ग्रामादधिको नगराक्यूनो गृहसमूहः खर्वटः ।

मनुः—" धनुःशतपरीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु " ॥

युगे वर्तमानस्य बलीवर्दस्य नियामकः काष्ठकीलकः शस्या(म्या), सा प्रास्ता यावन्तं भूभागं व्यतीत्य पतति स शस्या(म्या)पातः । इति स्वामिपालप्रकरणम् ॥ १६७ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के स्वामिपालविवादप्रकरणम् ॥ १० ॥]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# अस्वामिविक्रयप्रकरणम् । ( ११ )

---

अथ(था)स्वामिविक्रयविवादं प्रत्याह—

**स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते ॥**
**हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥**

अस्वामिना गोभूम्यादिकं क्रीतं तद्यस्य स्वं स क्रेतुः सकाशाल्लभेत । क्रेतुश्च विक्रेतारमप्रकाशयतो दोषश्चौर्यं स्यात् । ततश्चौरवदस्य दण्डो भवति । तथा हीनात्पण्यसंभवहीनाद्रहो रहसि विजनदेशे हीनमूल्येऽत्यल्पमूल्ये च

---

१ ङ. 'रीणाहो प्रा' । २ ग. घ. छ. ज. ग्रामे क्षे° । ३ ग. घ. छ. 'तनवभू' । ४ क. °काशे दो° ।

( अस्वामिविक्रयप्रकरणम् ११ )

पण्ये वेलाहीने विक्रयवेलारहिते पण्य एव क्री(क्रे)ता तस्करः स्यात्तस्करदण्डभाक्स्यादित्यर्थः । जानाति ह्यसौ क्रयात्प्रागेव चोरयित्वाऽयमिदं विक्रीणीत इति ।

नारदः—" निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वाऽपहृत्य वा ।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः " ॥

व्यासः—" याचितान्वाहितं न्यासं कृत्वाऽन्यस्य यद्धनम् ।
विक्रीयते स्वाम्यभावे स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥
निक्षिप्तान्वाहितं न्यासं हृतयाचितबन्धकम् ।
उपांशु येन विक्रीतमस्वामी सोऽभिधीयते ॥
पूर्वस्वामी तु तद्द्रव्यं यदाऽऽगत्य विधारयेत् ।
तत्र मूलं दर्शनीयं क्रेतुः शुद्धिस्ततो भवेत् " ॥

नारदः—" अस्वाम्यनुमताद्दासादसतश्च जनाद्ग्रहः ।
हीनमूल्यमवेलायां क्रीणंस्तद्दोषमाग्भवेत् " ॥

बृहस्पतिः—" अविज्ञाताश्रयात्क्रीतं विक्री(क्रे)ता यत्र वा मृतः ।
स्वामी दत्त्वाऽर्धमूल्यं तु प्रगृह्णीत स्वयं धनम् ॥
अर्धं द्वयोरपि हृतं तत्र स्याद्व्यवहारतः ।
अविज्ञातक्रयो दोषस्तथा चापरिपालनम् ॥
एतद्द्वयं समाख्यातं द्रव्यहानिकरं बुधैः " ।

अविज्ञाताश्रयादविज्ञातस्थानाद्विक्री(क्रे)तुर्यत्क्रीतं, यद्वा ज्ञातस्थानोऽपि विक्री(क्रे)ता यदि मृतस्तदा स्वामिना मूल्यादर्धं क्षेत्रे दत्त्वा स्वधनं ग्राह्यम् । अस्मिन्विषये स्वामिनः क्रेतुश्चार्धहानिर्द्वयोरप्यपराधित्वादिति । अत्र मरीचिः—

" वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषैः ।
दिवा गृहीतं यैत्क्रेत्रा स शुद्धो लभते धनम् ॥
अविज्ञातनिवेशत्वाद्यत्र मूल्यं न लभ्यते ।
हानिस्तत्र समा कार्य्या क्रेतृनास्तिकयोर्द्वयोः ॥ १६८ ॥

**नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम् ॥**
**देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥**

---

१ ग. ज. विक्रिये वेला° । २ घ. छ. °क्रये वे° । ३ ग. ज लब्धाप° । ४ क. °हेतन्या° । ५ ग. घ. छ. ज स्वामिभा° । ६ क. °न्धनम् । उ° । ७ क. मूल्यं द° । ८ क. °राध्यत्वा° । ९ ग. घ. ज. °यत्क्रेता स ।

स्वकीयं द्रव्यं नष्टमपहृतं वाऽऽसाद्योपलभ्य तस्य हर्तारं राज्ञा ग्राहयेद्विधारयेत्। देशकालातिपत्तौ राज्ञा ग्रहणे क्रियमाणे यदि देशमतीत्यापहर्ता न याति कालात्यये वाऽपहृतं द्रव्यं व्यपैति तदा स्वयमपहर्तारं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् ॥ १६९ ॥

गृहीतेन यत्कार्यं तदाह—

**विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ॥**
**क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥१७०॥**

विक्रेतृ[2]प्रदर्शने तु शुद्धिरदुष्टता स्यात्। तत्र वाऽस्वामिविक्रीतं धनं स्वामी लभेत, तथा विक्रेतुः सकाशान्नृपो दण्डं क्रेता च मूल्यमवाप्नोति।

कात्यायनः—" प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूल्यं वाऽपि समर्पयेत्।
मूलानयनकालश्च देयो योजनसंख्यया " ॥

देशविप्रकर्षापेक्षयेत्यर्थः।

तथा—" यदा मूलमुपन्यस्य पूर्ववादी क्रयं वदेत्।
आहरेन्मूलमेवासौ न क्रयेण प्रयोजनम् " ॥

क्रयं वदेत्प्रकाशक्रयं वदेदित्यर्थः।

मनुः—" अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितम्।
अदण्डो मुच्यते राज्ञा नास्तिको लभते धनम् " ॥

मूलं विक्रेता स चाज्ञा[3]यमानदेशत्वादनाहार्यः।

व्यासः—" मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन।
मूलेन सह वादस्तु नास्तिकस्य तदा भवेत् " ॥

नास्तिको नष्टद्रव्यस्वामी ॥ १७० ॥

तत्र स्वामिविक्रेतृविवादे स्वामिना स्वधनप्राप्तये यत्कर्तव्यं तदाह—

**आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ॥**
**पञ्चबन्धो दमस्तत्र राज्ञे तेनाविभाविते ॥ १७१ ॥**

नास्तिकेन विवादास्पदं धनं क(क्र)यादिनाऽऽगमेन भुक्त्या वाऽऽत्मीयतया भाव्यम्। न मयैतद्दानविक्रयादिनाऽन्यस्य स्वं कृतं किंतु नष्टमेवैतदिति भाव्यम्। अतोऽन्यथा यद्युक्तप्रकारेण नास्तिकेनाविभाविते तत्र राज्ञे

---

१ ग. घ. ज. °हन्तारया°। २ ग. घ. ज. °क्रेतरि प्रदर्शे तु। ३ ग. घ. छ. ज. °चानाज्ञा°।

( अस्वामिविक्रयप्रकरणम् ११ )

पञ्चबन्धो दमस्तेन देयः। विवादास्पदधनपञ्चमभागसंमितो धनभागो यत्र बध्यते स पञ्चबन्धः। आगमोपभोगो नाशश्च ज्ञातृभिः साध्यः। यदाह कात्यायनः—

" नास्तिकस्तु प्रकुर्वीत तद्धनं ज्ञातृभिः स्वकम्।
अदत्तं त्यक्तविक्रीतं कृत्वा सुलभते धनम्॥
यदि स्वं नैव कुर्वीत ज्ञातृभिर्नास्तिको धनम्।
प्रसङ्गविनिवृत्त्यर्थं चौरवद्दण्डमर्हति "॥

प्रसङ्गोऽभिप्रायः।

तथा—" अभियोक्ता धनं कुर्यात्प्रथमं ज्ञातृभिः स्वकम्।
पश्चादात्मविशुद्ध्यर्थं क्रयं क्रेता स्वबन्धुभिः "॥

अभियोक्ता नास्तिकः। तेन ज्ञातिभिः स्वकीयत्वं धनस्य साध्यम्। न चेत्स शक्नुयात्तथा कर्तुं, तदा क्रेताऽऽत्मनो दोषपरिहारार्थं स्वबन्धुभिः साक्षिभूतैः क्रयं साधयेत्।

तथा—" असमाहार्यमूलैस्तु क्रयमेव विशोधयेत्।
विशोधिते क्रये राज्ञा न वक्तव्यः स किंचन "॥

तथा—" प्रकाशं च क्रयं कुर्यात्साधुभिर्ज्ञातिभिः स्वकैः।
न तत्रान्यक्रिया प्रोक्ता दैविकी न च मानुषी "॥

प्रकाशं लोकविदितं प्राक्श्रुतं क्रयं कुर्याद्भावयेदित्यर्थः।

" वादी चेन्मार्गितं द्रव्यं साक्षिभिर्नैव भावयेत्।
दाप्यः स्याद्द्विगुणं राज्ञा क्रेता तद्द्रव्यमर्हति "॥

महापराधविषयमेतत्।

बृहस्पतिः—" येन क्रीतं तु मूलेन प्रागध्यक्षनिवेदितम्।
न विद्यते तत्र दोषः स्तेनः स्यादुपधिक्रयात् "॥

उपधिक्रयश्छद्मक्रयः। यदा तु नास्तिकस्य स्वैत्वे प्रमाणं नास्ति, क्रेतुश्च क्रयशुद्धौ तदा स एवाऽऽह—

" प्रमाणहीने वादे तु पुरुषापेक्षया नृपः।
समन्यूनाधिकत्वेन स्वयं कुर्याद्विनिर्णयम्॥
वणिग्वीथीपरिगतं तच्च स्याद्व्यवहारतः।
अविज्ञातक्रयो दोषस्तथा चापरिपालनम्॥

---

१ ग. घ. ज. °धनं प°। २ क. °नपञ्चमभा°। ३ ग. घ. छ. °भोगोनाच शा°। ४ क. °भिर्न विवादये°। ५ क. स्वत्वं प्र°।

एतद्वयं समाख्यातं द्रव्यहानिकरं बुधैः ।
अविज्ञातविशेषत्वाद्यत्र मूल्यं न लभ्यते ॥
हानिस्तत्र समा कल्प्या क्रेतृनास्तिकयोर्द्वयोः" ॥

अयमर्थः—यद्वा वणिग्वीथ्यामापणे क्रीतं तस्य विक्रेता यदि न शक्य आनेतुं तदा क्रेतुर्नास्तिकस्य च तुल्यहानिः कल्प्या यतो द्वयोरपि द्रव्यहानिकारणमस्ति । क्रेतुस्तावच्चौराहृतं न वेतिज्ञानरहितत्वेन क्रयकारणम् । नास्तिकस्य चापरिपालनमिति ॥ १७१ ॥

अत्रैव विषये क्रेतुर्दण्डविशेषमाह—

**हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ॥**
**अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान्॥१७२॥**

यः स्वकीयं धनं हृतं प्रनष्टं वा राजन्यनिवेद्यैव तस्य हस्ताद्गृह्णीयात्स राज्ञा षडधिकान्नवतिपणान्दण्डनीयः ॥ १७२ ॥

प्रसङ्गादन्यदप्याह—

**शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ॥**
**अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥ १७३ ॥**

नष्टमपहृतं वा धनं राजानं प्रति शुल्काधिकृतैर्ग्रामादिस्थानरक्षकैर्वा यदानीतं तत्संवत्सरादर्वाक्स्वामी लभेत । ऊर्ध्वं तु संवत्सराद्राजा ।

गौतमः—" प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञः प्रब्रूयु-
र्विरूप्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ।

मनुः—" प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् " ॥

उत्कृष्टगुणब्राह्मणे स्वामिन्येतत् । अत्रापरो विशेषः—

" आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् " ॥

रक्षणप्रयत्नस्य गौरवलाघवानुसारेण भागाल्पत्वमहत्त्वे कल्पनीये ॥१७३॥

द्रव्यविशेषं प्रति यावदधिगमे देयं तदाह—

**पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ॥**
**महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥**

( दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२ )

अश्वाद्येकशफं तस्मिन्नधिगतेऽधिगन्त्रे स्वामी चतुरः कार्षापणान्दत्त्वा तदा-ददीत । एवं मानुषे पञ्च । महिषोष्ट्रगोषु द्वौ द्वौ । अजास्वविकेषु च प्रत्येकं कार्षापणस्य पादम् । एतच्च प्रतिव्यक्ति देयम् । न तु प्रतिजाति । इत्यस्वामि-विक्रयप्रकरणम् ॥ १७४ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादि-त्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्केऽस्वामिवि-क्रयप्रकरणम् ॥ ११ ॥

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ ।

---

# दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् । ( १२ )

इदं दत्तं संप्रदानादनपहार्यमिदं चापहार्यमितिविवेकार्थं देयमदेयं चाऽऽह—

**स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते ॥**
**नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥**

स्वं स्वकीयं पुत्रकलत्रव्यतिरिक्तं यत्र च कुटुम्बाशनाच्छादनविनाशरूपो विरोधो नास्ति तद्देयम् । अर्थादनेवंविधं न देयम् । तथाऽन्वये स्वसंताने च सति सर्वस्वमदेयम् । एतच्च प्राग्दायविभागात् । विभक्तदायेषु तु पुत्रेषु सर्वस्वदानमनिषिद्धम् । तथा यद्धनमन्यस्मै देयत्वेन प्रतिश्रुतमङ्गीकृतं तत्ततोऽ-न्यस्मै न देयम् । एवं च सति यदेयं तद्दत्तं सन्नापहार्यम् । अदेयं त्वपहार्य-मिति । स्वमितिपदेनास्वं याचितकादि व्युदस्यते ।

कात्यायनः—" विक्रयं चैव दानं च न नेयाः स्युरनिच्छवः ।
दाराः पुत्राश्च सर्वस्वमात्मनैव तु योजयेत् ॥
आपत्काले तु कर्तव्यं दानं विक्रय एव वा ।
अन्यथा न प्रवर्तेत इति शास्त्रविनिश्चयः " ॥

बृहस्पतिः—" एषाऽखिलेनाभिहिता संभूयोत्थाननिष्कृतिः ।
अदेयदेयदत्तानामदत्तस्य च कथ्यते ॥
सामान्यं पुत्रदारादि सर्वस्वं न्यासयाचितम् ।
प्रतिश्रुतं तथाऽन्यस्य न देयं त्वष्टधा स्मृतम् " ॥

सामान्यमनेकस्वामिकम् ।

---

१ क. 'ते स्वा° । २ ग. °देन स्वं याचितकादिषु द° । ३ ग. घ. छ. °र्तव्या दा° ।

तथा—" कुटुम्बभक्तवसनाद्देयं यदतिरिच्यते ।
मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातुर्धर्मोऽन्यथा भवेत् " ॥

भक्तं भोजनम् । वसनमाच्छादनम् ।

" सप्तारामाद्गृहक्षेत्राद्यद्यत्क्षेत्रं प्रचीयते ।
पित्र्यं वाऽथ स्वयं प्राप्तं तद्दातव्यं विवक्षितम् " ॥

सप्तभ्य आरामादिभ्यो यद्यत्प्रचीयतेऽधिकं भवति तद्दातव्यं विवक्षितमित्यर्थः । सप्तागमाद्गृहक्षेत्राद्यद्यत्क्षेत्रं प्रदीयत इति च पाठे सप्तविधशौर्याद्यागमप्रकारलब्धाद्गृहक्षेत्रादुद्धृत्य दातव्यम् । न त्वनागममित्यर्थः ।

" स्वेच्छादेयं स्वयं प्राप्तं बन्धाचारेण बन्धकम् ।
वैवाहिके क्रमायाते सर्वेदानं न विद्यते " ॥

बन्धकमाधिस्तद्बन्धाचारेणाऽऽधिरूपेण देयम् । तद्विवाहलब्धं चेत्तस्यां भार्यायां सत्यां सर्वमदेयम् । तथा पितामहादिक्रमायातं पुत्रसद्भावे ।

" सौदायिकक्रमायातं शौर्यप्राप्तं च यद्भवेत् ।
स्त्रीज्ञातिस्वाम्यनुज्ञातं दत्तं सिद्धिमवाप्नुयात् " ॥

यत्सौदायिकं विवाहलब्धं तत्तया भार्यया ऽनुज्ञातं देयम् । क्रमायातं चाविभक्तधनैर्ज्ञातिभिः । भृत्येन सता युद्धे लब्धं स्वामिनाऽनुज्ञातमित्यर्थः ।

" विभक्ता वाऽविभक्ता वा दायादाः स्थावरे समाः ।
एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाऽऽदापनविक्रये " ॥

क्रमायातावविभक्तस्थावरविषयमेतत् । विभक्ता अपि समाः किं पुनरविभक्ता इति व्याख्येयम् । अन्यथा विभागोऽनर्थकः स्यात् । एवं च सति विभक्तानां साम्याभिधानेनैतद्भ्रमयति—दानादियोग्येषु विभक्तेषु दायादेषु सत्सु तेभ्य एव स्थावरमर्पणीयमयोग्येषु निरपेक्षेषु वाऽन्येभ्य इति । आपदादौ तु स्थावरविषयं दानादिकमविभक्तधनैर्दायादैरनुज्ञात एकोऽपि कुर्यात् । तथा च स्मृत्यन्तरे—

" एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाऽऽदापनविक्रयम् ।
आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः " इति ॥

नारदः—" दत्त्वा द्रव्यमसम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति ।
दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं विदुः ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. प्रदीयते । २ क. °तं दायप्रा° । ३ ग. घ. छ ज °तिभृत्येन न स° । ४ क. °नाधाप° । छ. °नाभाप° । ५ क. छ. °नाधाप° । ६ क. ग. दत्तप्रादा° । ७ ग. छ.ज. बुधैः ।

( दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२ )

अथ देयमदेयं च दत्तं चादत्तमेव च ।
व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥
तत्रेहाष्टावदेयानि देयमेकविधं स्मृतम् ।
दत्तं सप्तविधं[1] विद्यादद्दत्तं षोडशात्मकम् ॥
अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत् ।
निक्षेपः पुत्रदाराश्च सर्वस्वं चान्वये सति ॥
आपत्स्वपि च कष्टासु[2] वर्तमानेन देहिना[3] ।
अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥
कुटुम्बभरणाद्द्रव्यं यत्किंचिदतिरिच्यते ।
तद्देयमुपहन्यान्यद्ददद्दोषमवाप्नुयात् ॥
पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः ।
स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं तु दत्तं दानविदो विदुः " ॥

**पण्यस्य गवादेः क्रयणीयस्य मूल्यतया यच्च कर्मकरेभ्यो वृत्तित्वेन यच्च तुष्ट्याद्युपाधिकं पुत्रजन्मादिश्रावकेभ्यो यच्च स्नेहान्मित्रादिभ्यो यच्च प्रत्युपकारतो भयत्राणाद्यर्थं यच्च शुल्कादिनिमित्तं राजकृताधिकारिपुरुषादिभ्यो यच्च स्त्रीभ्यो भार्यादिभ्यो यच्चानुग्रहार्थं दीनानाथादिभ्यस्तद्दानं दानविदो विदुः । अत्र कात्यायनः—**

" अविज्ञातोपलब्ध्यर्थं दानं यत्र निरूपितम् ।
उपलब्धिक्रियालब्धं सा भृतिः परिकीर्तिता ॥
भयत्राणाय रक्षार्थं[4] तथा कार्यप्रसाधनात् ।
अनेन विधिना लब्धं विद्यात्प्रत्युपकारकम् " ॥

**नारदः**—" अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुगन्वितैः ।
तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः ॥
बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितैः ।
कर्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च तत् " ॥

**कात्यायनः**—" प्राणसंशयमापन्नं यो मामुत्तारयेदितः ।
सर्वस्वं ते प्रदास्यामीत्युक्तेऽपि न तथा भवेत् ॥
कामक्रोधास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तप्रमोहितैः ।
व्यत्यासात्परिहासाच्च[5] यद्दत्तं तत्पुनर्हरेत् ॥

---

१ ग. °धं दद्याद्दद्यात्षोड° । घ छ. ज. °धं दद्याददद्यात्षोड° । २ ग. घ. छ. ज. काष्ठासु। ३ ग. °नाम् । अ° । ४ ग. घ· ज. °सादना° । ५ घ. छ. ज. °लप्रमू° । ६ ग. घ. छ. ज. °रिवासा° ।

या तु काम्यप्रसिद्ध्यर्थमुत्कोचा स्यात्प्रतिश्रुता ।
तस्मिन्नपि प्रसिद्ध्यर्थे न देया स्यात्कथंचन ॥
अथ प्रागेव दत्ता स्यात्प्रतिदाप्यः स तां बलात् ।
दण्डं चैकादशगुणं प्राहुर्गार्गीयमानवाः " ॥

बृहस्पतिः—" क्रुद्धहृष्टप्रमत्तार्तबालोन्मत्तभयातुरैः ।
मत्तातिवृद्धनिर्धूतैः संमूढैः शोकवेगिभिः ॥
नन्दद(मन्दैर्द?)त्तं तथैतैर्यत्तददत्तं प्रकीर्तितम् ।
प्रतिलाभेच्छया दत्तमपात्रे पात्रशङ्कया ॥
कार्ये वा धर्मसंयुक्ते स्वामी तत्पुनराप्नुयात् " ।

मनुः—" कस्मैचिद्याचमानाय दत्तं धर्माय यद्भवेत् ॥
पश्चाच्च न तथा तस्मान्न देयं तस्य तद्भवेत् " ।

धर्मं कर्तुं याचमानाय यद्दत्तं तेन चेदसौ धर्मं न कुर्यात्तदा तस्मै न देयमित्यर्थः ।

" यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्यं स्तेयस्य निष्कृतिः " ॥

अस्यार्थः—यदि तदपहारे क्रियमाणे स दर्पाल्लोभेन वा न ददाति किंतु संसाधयेद्राजसंनिधौ तस्य धनस्यानपहार्यतां साधयितुमिच्छेत्स राज्ञा तद्धनं दाप्य इति ।

कात्यायनः—" स्वस्थेनाऽऽर्तेन वा देयं श्राविते धर्मकारणात् ।
अदत्त्वा तन्मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः " ॥

स्वस्थेन व्याध्यार्तेन वा यदानं संप्रदानं ब्राह्मणं प्रत्येतावन्मया तुभ्यं देयमिति श्रावयित्वा यदि दानमकृत्वैव मृतस्तदा तदायादैस्तद्देयम् । अप्रयच्छन्तो राज्ञा दाप्याः । एतच्च धर्मार्थं प्रतिश्रवणे सति द्रष्टव्यम् ।

" स्तेनसाहसिकोद्वृत्तपारजायिकशंसनात् ।
दर्शनाद्भृतनष्टस्य तथाऽसत्यप्रवर्तनात् ॥
प्राप्तमेतैस्तु यत्किंचित्तदुत्कोचाख्यमुच्यते ।
न दाता तत्र दण्ड्यः स्यान्मध्यस्थश्चैव दोषभाक् " ॥

स्तेनादीनां शंसनात्कथनाद्धेतोर्यदि मह्यं त्वं न प्रयच्छसि त्वं स्तेन

---

१ क. कार्यस्य सि° । २ ग. ज °दाप्याः स° । ३ ग. छ. °र्तबलो° । ४ क. °भिः । निर्दद° । ५ ग. घ. छ. ज. °स्य ते य° । ६ ग. घ. छ. ज. °स्यादप° । ७ग. घ. छ. स्वस्थानात्तेन । ८क. °दत्तं त° । ९ ग. घ. छ. °ह्यं न । १० ग. घ. छ. ज. °सि तदा त्वां स्तेनादिकं याव° ।

इत्यादि[कादिति या]वत् । तथा धृतनष्टस्य गृहीतपालयितस्य(?) दर्शनाद्धेतोस्त्वां चाधारकस्य दर्शयामीति यावत्(?) । असत्यस्य सत्यतया तद्विपर्ययेण वा प्रवर्तनात्कारणाद्धेतोर्यद्धनमुत्कोचाख्यं लब्धं तद्दात्रे राज्ञा दाप्यमुत्कोचकस्य संपादकग्राहकौ च दण्डनीयावित्यर्थः ॥ १७५ ॥

**प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः ॥**
**देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः ॥ १७६ ॥**

इति दत्ताप्रदानिकं प्रकरणम् ॥ १२ ॥

सर्वस्यैव द्रव्यस्य प्रतिग्रहः प्रकाशः प्रकटः ससाक्षिकः कार्यः । स्थावरस्य विशेषतो महता यत्नेन । तथा—इदं ते दास्यामीति यत्प्रतिश्रुतमङ्गीकृतं तद्दातव्यं दत्तं च नापहार्यम् ।

कात्यायनः—" स्वेच्छया यः प्रतिज्ञाय ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम् ।
न दद्याद्दण्डवद्दाप्यः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् " ॥

गौतमः—" प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् " ।

कात्यायनः—" योगाधापनविक्रीतं योगे दानप्रतिग्रहम् ।
यस्य वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् " ॥

योग उपाधिः । इति दत्ताप्रदानिकं प्रकरणम् ॥ १७६ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के दत्ताप्रदानिकं प्रकरणम् ॥ १२ ॥]

[अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## क्रीतानुशयप्रकरणम् ( १३ )]

द्रव्यविशेषपरीक्षकाणां कालविशेषमाह—

**दशैकपञ्चसप्ताहं[1]मासत्र्यहार्धमासिकम् ॥**
**बीजायोबाह्यरत्नस्त्रीदोह्यपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥**

मासशब्दात्प्राक्तनोऽहःशब्दो दशादिशब्दैः प्रत्येकमभिसंबध्यते । दशाहादिकालेषु सप्तसु सप्तानां बीजादिद्रव्याणां यथासंख्यं परीक्षणं कार्यम् । तत्र बीजस्य दशाहे । अयस एकाहे । बाह्यस्य बलीवर्दादेः पञ्चाहे । रत्नस्य

१ क. °त् । अ°। २ ग. घ. छ. ज. °हृत्यहमासार्ध° ।

पद्मरागादेः सप्ताहे। स्त्रिया दास्या मासे। दोह्यस्य गवादेरृतुयहे। पुंसो दासस्यार्धमासे। एवं परीक्षितस्य बीजादेः क्रयं कृत्वा नानुशयः कार्य इत्यर्थः॥१७७॥

प्रसङ्गाद्द्रव्यान्तरपरीक्षोपायमाह—

अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते ॥
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि ॥ १७८ ॥

सुवर्णस्य दह्यमानस्य नैवास्त्यपक्षयः। यत्क्षीयते तद्द्रव्यान्तरविमिश्रं, शुद्धं तु न क्षीयत एव। रजतस्य पलशतपरिमाणस्य रसीभावे क्रियमाणे पलद्वयं क्षीयते। त्रपुविषये तु पलशते रसीकृतेऽष्टौ पलाः(नि) क्षीयन्ते। एवं सीसके। ताम्रविषये तु पलशते ध्मायमाने पञ्च पलानि क्षीयन्ते। एवमयसि दश॥१७८॥

तान्तवं प्रत्याह—

शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पासिके तथा ॥
मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥१७९॥

सूत्रे कार्पासिक ऊर्णामये वा शते शतपलपरिमिते सति यत्तन्मयं वस्त्रं भवति तत्र दश पलानि वर्धन्ते। एतच्च स्थूलसूत्रमये वस्त्रे द्रष्टव्यम्। ततः सूक्ष्मातिसूक्ष्मसूत्रमये तु यथासंख्यं पञ्चपला त्रिपला च वृद्धिः स्यात्॥ १७९॥

वृद्धिमुक्त्वा क्षयमाह—

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ॥
न क्षयो न च वृद्धिः स्यात्कौशेये वाल्कलेषु च ॥१८०॥

यत्र तान्तवे कर्मवशाद्वस्त्रे स्त्रीपुरुषादीनि रूपाणि संपद्यन्ते तत्कार्मिकम्। यत्र रोमाणि बध्यन्ते तद्रोमबद्धम्। तस्मिन्नुभयविधे वस्त्रे परिमाणस्य त्रिंशो भागः क्षीयते। कौशेयमतसीमयं, वाल्कलं क्षौमादि, तत्रोभयत्र क्षयवृद्धी न स्तः। तत्र नारदः—

"तान्तवस्य तु संस्कारे क्षयवृद्धी उदाहृते।
तत्र कार्पासिकोर्णानां वृद्धिर्दशपला शते॥
स्थूलसूत्रवतामेषां मध्यानां पञ्चकं शते।
त्रिपला तु सुसूक्ष्माणामतः क्षय उदाहृतः॥

---

१ क. 'त्वाऽनु'। २ क. °पायान्तरमा°। ३ घ. छ. ज. °पले शतम्। अ°। ४ क. ग. °लं शतम्। अ°। ५ क. 'स्य सुवर्णश'। ६ ग. 'लसूक्ष्मसू°। ७ ग. घ. छ. शतम्। ८ क. तु ससू'

( अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४ )

त्रिंशांशो रोमबद्धस्य क्षयः कर्मकृतस्य च ।
कौशेयवल्कलादीनां नैव वृद्धिर्न च क्षयः " ॥

उक्तादधिकक्षये शिल्पी दण्ड्यः ॥ १८० ॥

तत्र दण्डपरिमाणमाह—

**देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् ॥**
**द्रव्याणां कुशला ब्रूयुर्यत्तद्दाप्या असंशयम् ॥ १८१ ॥**

[ इति क्रीतानुशयप्रकरणम् ॥ १३ ॥ ]

सुवर्णताम्रसीसादीनां पत्तो(त्रो)र्णकार्पासादीनां वा निर्माणदशायां तत्कर्तृभिः सुवर्णकारादिभिर्यावत्सुवर्णं सूत्रं वाऽपहियमाणं स्वामिनो नष्टं तत्र देशकालौ तस्य चोपभोगं सारासारतां च पर्यालोच्य द्रव्यमूल्यतत्त्वज्ञा यावन्मूल्यं कर्तुमिच्छन्ति तावन्निःशङ्केन राज्ञा शिल्पिनः सुवर्णकारादयो दापनीयाः ।

मनुः—" तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् " ॥

द्वादशकार्षापणपरिमाणो दण्डो द्वादशकः ।

नारदः—" मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः ।
द्विः पादस्त्रिस्त्रिभागस्तु चतुष्कृत्वोऽर्धमेव तु ॥
अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात् ।
यावत्क्षीणदशं वस्त्रं जीर्णस्यानियमः क्षयः " ॥ १८१ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के क्रीतानुशयप्रकरणम् ॥ १३ ॥]

---

[अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् । ( १४ )]

अधुना दासविषयमाह—

---

१ ग. घ. छ. ज. °त्वोत्वमे° । २ ग. घ. छ. ज. क्षमः ।

**बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ॥**
**स्वामिप्राणप्रदो भक्तस्त्यागात्तन्निष्क्रयादपि ॥ १८२ ॥**

बलाद्धठाददासोऽपि दासः कृतो यश्च चौरैर्विक्रीतः स मुच्यते मोचनीय इत्यर्थः । यदि न मुञ्चति तदा राज्ञा मोचनीयः । तदाह नारदः—

" चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात् ।
राज्ञा मोचयितव्यास्ते दासत्वं तेषु नेष्यते " ॥

यश्च दासः सन्नात्मनो मृत्युमभ्युपेत्य भक्त्या स्वामिनं मृत्योर्मोचयति, यश्च स्वामिना दास्यान्मोचितः, यश्चाऽऽत्मनो दास्यविमोक्षार्थं निष्क्रयं धनं ददाति, सर्व एते स्वामिना मोच्याः । अथ वा तन्निष्क्रयादित्यस्यायमर्थः—उत्तमर्णायाऽऽधित्वेन यो दासो दत्तः स निष्क्रयाद्दणापाकरणादाध्यन्तरप्रदानाद्वा मोच्यत इति ।

मनुः—" न स्वामिनाऽतिसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तं व्यपोहति " ॥

नारदः—" गृहे जातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः ।
अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥
मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धे प्राप्तः पणे जितः ।
तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥
भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः ।
विक्रेता चाऽऽत्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः " ॥

स्वदास्यां जातो गृहदासः । मूल्यप्राप्तः क्रीतः । प्रतिग्रहादिना प्राप्तो लब्धः । दायादुपागतो रिक्थलब्धः । दुर्भिक्षपोषितोऽनाकालभृतः । स्वामिनोत्तमर्णं प्रत्याधिः कृत आहितः । पणे जितो द्यूतजितः । प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्याप्रच्युतः । एतावन्तं कालं तवाहं दासो भवामीत्युपगमितः कृतः । भक्षयितुं भक्तं यावन्मे ददासि तावदहं ते दास इत्येवंरूपो भक्तदासः । वडवा गृहदासी, तया हृतः । तल्लोभेन तामुद्वाह्य दासत्वेन प्रविष्टो वडवाहृतः । इतरे प्रसिद्धाः ।

" तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दासत्वान्न विमुच्यते ।
प्रसादात्स्वामिनोऽन्यत्र दास्यमेषां क्रमागतम् ॥

---

१ क. °दुपलब्धो रि° । २ ग. घ. छ. ज. भक्षितं भ° ।

( अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४ )

विक्रीणीते स्वतन्त्रः सन्य आत्मानं नरोऽधमः ।
स जघन्यतरश्चैषां सोऽपि दास्यान्न मुच्यते ॥
यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोक्षयेत्प्राणसंशयात् ।
दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥
अनाकाले मृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत् ।
संभक्षितं च यद्दुर्गे न तच्छुध्यति[1] कर्मणा ॥
आहितोऽपि धनं दत्त्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत् ।
अथोपगमयेदेनं सोऽपि क्रीतादनन्तरः" ॥

अथ तु साम्ना दासमुपागमयेद्दासोऽस्मीत्यङ्गीकारयेत्ततः स क्रीतादनन्तरः क्रीततुल्य इत्यर्थः । ऋणदासविषयं स एवाऽऽह[2]—

" ऋणं च सोदयं दत्त्वा ऋणी दास्याद्विमुच्यते ।
कृतर्णोऽब्ध्युपरमात्कृतकोऽपि विमुच्यते ॥
तवाहमित्युपगतो ध्वजप्राप्तः पणे जितः ।
प्रतिशीर्षप्रदानेन मुच्यते तुल्यकर्मणा" ॥

ध्वजप्राप्तो युद्धलब्धः । प्रतिशीर्षप्रदानं दासान्तरप्रदानम् । प्रतिशीर्षविशेषणं तुल्यकर्मणेति । पूर्वदासकर्मणा तुल्यं कर्म यः करोति तं दासं दत्त्वा पूर्वदासो दासत्वान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ १८२ ॥

प्रव्रज्यावसितं प्रत्याह—

## प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिकः ॥

प्रव्रज्यातो निवृत्तो यावज्जीवं राज्ञ एव दासः ।

नारदः—" राज्ञ एव तु दासः स्यात्प्रव्रज्यावसितो नरः ।
न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धिः कथंचन ॥
द्वावेव कर्मचाण्डालौ लोके दूरबहिष्कृतौ ।
प्रव्रज्योपनिवृत्तश्च वृथा प्रव्रजितश्च यः" ॥

कात्यायनः—" प्रव्रज्यावसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
निर्वासं कारयेद्विप्रं दासत्वं क्षत्रविण्नृपः[3]" ॥

दक्षः—" पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
श्वपादेनाङ्कितं तं तु राजा शीघ्रं[4] विवासयेत्" ॥

प्रव्रज्यावसितादन्यस्य दासस्य विप्रमोक्षणप्रकारमाह—

---

१ ग. घ. छ. °च्छुध्यति । २ क. °दांयविषये स. । ३ क. °भृपान् । द° । ४ ग. घ. छ. °घ्रं प्रवा° ।

" स्वं दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं प्रीतमानसः ।
स्कन्धादादाय तस्यासौ भिन्द्यात्कुम्भं सहाम्भसा ॥
साक्षताभिः सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिरवाकिरेत् ।
अदास इति चोक्त्वा त्रिः प्राङ्मुखं तमवासृजेत् " ॥

भक्तदासवडवाहृतयोरपरो विशेषः—

" भक्तस्योत्क्षेपणात्सद्यो भक्तदासो विमुच्यते ।
वडवायो[1] निग्रहेण मुच्यते वडवाहृतः " ॥

भक्तमन्नं तस्योपयुक्तस्य प्रतिपादनमुत्क्षेपणम् । वडवा दासी । निग्रहो निरोधः । असंभोग इति यावत् ।

तथा—" स्वां दासीं यस्तु संगच्छेत्प्रसूता च भवेत्ततः ।
अवीक्ष्य बीजं कार्या स्याददासी सान्वया तु सा ॥
दासस्य तु धनं यत्स्यात्स्वामी तत्र प्रभुः स्मृतः ।
प्रकाशं विक्रयो[3]द्ये तु न स्वामी धनमर्हति ॥
दासेनोढा[4] त्वदासी या सा दासात्स्वत्वमाप्नुयात् ।
यस्माद्भर्ता प्रभुस्तस्याः स्वाम्यधीनपतिर्यतः " ॥

दासात्सत्त्वामिति पाठे सत्त्वं प्राणी, तेन[5]दास्याः सत्या वोढुर्दासाश्चे(चे)दवाप्तं तदा तद्दासस्वामिनो दासतां यातीति वेदितव्यमित्यर्थः ॥

## वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥ १८३ ॥

उत्तमवर्णं प्रति हीनवर्णो दासो भवति । न तु विपरीतमित्यर्थः ।

नारदः—" वर्णानां प्रातिलोम्येन न दासत्वं विधीयते ।
स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद्दासता मता " ॥

स्वधर्मत्यागी प्रव्रज्यावसितः, तस्य ब्राह्मणत्वे सति श्वपादाङ्कनं प्रवासनं चोक्तम् । क्षत्रियवैश्ये तु नृपं प्रति दासत्वमित्युक्तम् । अनेन तु शूद्रं राजानं प्रति राजन्यवैश्ययोर्दास्यं विधीयते ।

कात्यायनः—" स्वतन्त्रस्याऽऽत्मनो दानाद्दासत्वं दारवद्भृगुः ।
त्रिषु वर्णेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वचित् ॥
वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ।
राजन्यवैश्यशूद्राणां त्यजतां हि स्वतन्त्रताम् ॥

---

१ घ. छ. ज. °त् । कुम्भदा° । २ क. °या विप्र° । ३ ग. घ. छ. ज. विक्रयाद्यं । ४ ग. ज. °ढा तु दासी । ५ ग. तद्दास्याः ।

( अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४ )

समवर्णोऽपि विप्रं तु दासत्वं नैव कारयेत् ।
शीलाध्ययनसंपन्नं तदूनं कर्म कामतः ॥
तत्रापि नाशुभं किंचित्प्रकुर्वीत द्विजोत्तमः ।
ब्राह्मणस्य तु दासत्वान्नृपतेजो विहन्यते " ॥

**नारदः**—" कर्मापि द्विविधं प्रोक्तमशुभं शुभमेव च ।
अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥
गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् ।
गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोत्करम् ॥
इच्छतः स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानमथान्ततः ।
अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् " ॥

**मनुः**—" ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासस्तु सप्तैता दासयोनयः ॥

**उपलक्षणार्थमेतत् । नारदादिभिरुक्तव्यतिरिक्तानामपि दासत्वाभिधानात् । दण्डनिष्क्रयार्थो दासो दण्डदासः ।**

**तथा**—" क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षि(र्शि)तौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥
दास्यं तु कारयेन्मोहाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् " ॥

**प्रभवतो भावः प्राभवत्यम् । प्रभुत्वमिति यावत् । षट्शतानि पणानाम् ।**

" शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा " ॥

**विष्णुः**—" यस्तूत्तमवर्णं दास्ये नियोजयति तस्योत्तमसाहसो दण्डः " ।

**कात्यायनः**—" आदद्याद्ब्राह्मणीं यस्तु विक्रीणीत तथैव च ।
राज्ञा तदकृतं कार्यं दण्ड्याः स्युः सर्व एव ते ॥
कामात्तु संश्रितां यस्तु दासीं कुर्यात्कुलस्त्रियम् ।
संक्रामयेत वाऽन्यत्र दण्ड्यस्तच्चाकृतं भवेत् ॥
बालधात्रीं महादासीं दासीमिव भुनक्ति यः ।
परिचारकपत्नीं वा प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥
विक्रोशमानां यो भक्तदासीं विक्रेतुमिच्छति ।
अनापादिस्थः शक्तः सन्प्राप्नुयाद्विंशतं दमम् " ॥ १८३ ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °पन्ने त° । २ क. °णान् । सूं° । ३ क. °लदात्रीं ।

**कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृ[1]तकालं गुरोर्गृहे ॥**
**अन्तेवासी गुरुप्राप्तभोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥**

[ इत्यभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् ॥ १४ ॥ ]

अन्तेवासी शिल्पविद्यार्थी गुरुतः प्राप्तभोजनः स्वयंकृतस्य शिल्पकर्मणः फलं गुरवे प्रयच्छेद्यावान्कालो गुरुं प्रति तद्गृहनिवासायाङ्गीकृतस्तावन्तं कालं गृहीतशिल्पोऽपि गुरुकुल एव वसेत् । अभ्युपेत्याशुश्रूषालक्षणव्यवहारपद-विषयं चैतत् । तत्रैव तद्विषयाणि स्मृत्यन्तराणि प्रदर्श्यन्ते ।

नारदः—" अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते ।
अशुश्रूषाऽभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते " ॥

अभ्युपेत्याशुश्रूषेत्यर्थः ।

" शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ।
चतुर्विधः कर्मकरः शेषा दासास्त्रिपञ्चकाः " ॥

तथा—" शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत् ।
एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजा[2]दयः ॥
सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः ।
जातिकर्मकृतस्तूक्तो विशेषो वृत्तितस्तथा ॥
आ विद्याग्रहणाच्छिष्यः शुश्रूषेत्प्रयतो गुरुम् ।
तद्वृत्तिर्गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च ॥
समावृत्तस्तु गुरवे प्रदाय गुरुदक्षिणाम् ।
प्रतीयात्स्वगृहानेषा शिष्यवृत्तिरुदाहृता " ॥

प्रतीयात्प्रतिगच्छेत् ।

" स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया ।
आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम् ॥
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम् ।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत् " ॥

चतुर्दशभ्यो विद्यास्थानेभ्योऽन्या विद्या शिल्पविद्या, तदुक्तं कर्म शिल्पं, तदपेक्षमाणः शिष्य आचार्येण सह संवसेत् । एतावन्तं कालं तवान्तिके निवत्स्यिष्यामीति ।

कात्यायनः—" यस्तु न ग्राहयेच्छिल्पं कर्माण्यन्यानि कारयेत् ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं तस्माच्छिष्यो निवर्तते " ॥

---

१ घ. छ. ज. °त्कृतं का° । २ क. °जामयः ।

( संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५ )

शिल्पमशिक्षयतः स्वकीयानि च कर्माणि कारयतो गुरोः शिष्येण त्यागो राज्ञा च प्रथमसाहसो दण्डः कार्य इत्यर्थः । नारदः—

" शिक्षयन्तमदुष्टं च यस्त्वाचार्यं परित्यजेत् ।
बलाद्वासयितव्यः स्याद्बधबन्धौ च सोऽर्हति " ॥

वधोऽत्र ताडनं न प्राणच्छेदः ।

" शिक्षितोऽपि कृतं कालमन्तेवासी समापयेत् ।
तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् " ॥

कृतमङ्गीकृतं कालं तत्र वसन्समापयेदित्यर्थः । तत्र वसता शिष्येण कृतस्य कर्मणः फलं लाभ आचार्यस्य ।

" गृहीतशिल्पः समये कृत्वाऽऽचार्यं प्रदक्षिणम् ।
शक्तितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते ॥
भृतकस्त्रिविधो ज्ञेय उत्तमाधममध्यमः ।
शक्तितश्चानुरूपा[1] स्यादेषां वत्साश्रया भृतिः ॥
उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः ।
अधमो भारवाहः[2] स्यादित्येवं त्रिविधो भृतः ॥
सर्वेष्वधिकृतो यः स्यात्कुटुम्बस्य तथोपरि ।
सोऽपि कर्मकरो ज्ञेयः स च कौटुम्बिकः स्मृतः ॥
शुभकर्मकरा ह्येते चत्वारः समुदाहृताः ।
जघन्यकर्मभाजस्तु शेषा दासास्त्रिपञ्चकाः " ॥

सर्वेषु भृतकेष्वधिकृत उपरिकृतोऽधिष्ठायक इति यावत् ।

बृहस्पतिः—" द्विप्रकारो भोगभृतः[3] कृषिगोजीविनां स्मृतः ॥
जातसस्यात्तथा क्षीरात्स लभेत न संशयः[4] ॥

इति क्रयविक्रयानुशय(अभ्युपेत्याशुश्रूषा)प्रकरणम् ॥ १८४ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रभूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् ॥ १४ ॥]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् । ( १५ )

---

संविद्व्यतिक्रमलक्षणस्य व्यवहारपदस्योपयोगिनमर्थं तावदाह—

---

१ क. °रूपः स्यादेषां कर्माशया । २ क. भारभृ° । ३ क. °तमस्या° । ४ ग. ज. °स्या त°।

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु ॥
त्रैविद्यान्वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः पाल्यतामिति ॥ १८५ ॥

राजा निजनगरे स्थानं स्थीयते यत्र विशिष्टनिवेशनाद्युपेते भूभागे तत्स्थानं वृत्तिमत्कुटुम्बनिर्वाहसमर्थस्थावरजङ्गमधनोपेतं निर्माय तथा ब्राह्मणांस्त्रैविद्यानृग्यजुःसामरूपविद्यात्रयोपेतांस्तत्र स्थाने न्यस्य निवेश्य यथार्ह गृहवृत्त्यादि दत्त्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमादिधर्मः पाल्यतां क्रियतामिति तान्ब्राह्मणान्ब्रूयात् । केचित्पठन्ति—त्रैविद्यं वृत्तिमदिति । तदा त्रैविद्यं वृत्तिमच्च यथा तथा कुर्यादित्यर्थः । तिसृणामृगादिविद्यानां समाहारस्त्रैविद्यम् । स्थानस्य च तद्विशिष्टता तद्युक्तब्राह्मणवत्तया । एवं च ब्राह्मणसमूहरचनाभिधानात्संकेतसमयक्रिया संविच्छब्दवाच्या कर्तव्येत्यर्थादुक्तं भवति । न हि तां विना समूहबाधाश्चौरादयो निराकर्तुं शक्या इष्टापूर्तक्रियादिधर्मा(र्मा)श्च संपादयितुम् । अत एवाऽऽह बृहस्पतिः—

" वेदविद्याविदो विप्राञ्श्रोत्रियानग्निहोत्रिणः ।
आहृत्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥
अनाच्छेद्यकरास्तेषां प्रदद्याद्गृहभूमिकाः ।
मुक्ता भाव्याश्च नृपतिर्लेखयित्वा स्वशासनैः ॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकं तथा ।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते संदिग्धे निर्णयं तथा ॥
ग्रामश्रेणिगणार्थं तु संकेतसमयक्रिया ।
बाधाकाले तु सा कार्या धर्मकार्ये तथैव च ॥
चाटचौरभयं बाधा सर्वसाधारणा स्मृता ।
तत्रोपशमनं कार्यं सर्वैर्नैकेन केनचित् ॥
कौशेन लेख्यक्रियया मध्यस्थैर्वा परस्परम् ।
विश्वासं प्रथमं कृत्वा कुर्युः कार्याण्यनन्तरम् ॥
विद्वेषिणो व्यसनिनः शालीनाऽलसभीरवः ।
लुब्धातिवृद्धबालाश्च न कार्याः कार्यचिन्तकाः ॥
शुचयो वेदधर्मज्ञा दक्षा दान्ताः कुलोद्भवाः ।
सर्वकार्यप्रवीणाश्च कर्तव्यास्तु महत्तमाः " ॥ १८५ ॥

---

१ क. °क्षा भव्या° । २ क. °सने । नि° । ३ ग. घ. ज. °मये क्रि° । ४ क. तु कर्तव्या ध° । ५ क. कौशेन । ६ क. परमं । ७ ग. ज. °नारस° । ८ ग.घ.छ.ज. °चिन्तिताः । शु° ।

( संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५ )

ब्राह्मणाः स्थाने राज्ञा निवेशनीया इत्युक्तं तैस्तु निविष्टैर्यत्कार्यं तदाह—

**निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ॥**
**सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥१८६॥**

निजेन स्वकीयेन श्रौतादिधर्मेणाविरुद्धो योऽपि गणोपयोगी स सामयिकः समयादिनिर्वृत्तो धर्मः । यथा—व्याध्याद्युपद्रवसमये प्रतिक्षेत्रं प्रतिगृहं वा धनमेतावद्बृहयज्ञादिशान्तिकसिद्धये देयम् । यथा वा सर्वैर्जनपदैः स्वव्यापारपरिहारेणामुत्र स्थानविशेष आगन्तव्यं यो नाऽऽगच्छेत्तस्यायं दण्ड इति । यद्वा सभाप्रपादेवकुलतडागादीनां जीर्णानामुद्धारो दीनानाथादीनां च संस्कारो यज्ञभिक्षादिनिमित्तं च दानं साधारणधनेनानया व्यवस्थयैतत्कर्तव्यमिति । यश्च राज्ञा समर्थधर्मः कृतो यो युष्मास्वधिकं पठति वेत्ति वा तस्यैतावती पूजा कार्येत्यादि । स उभयविधोऽपि यत्नतः परिपाल्यः । अत्र च बृहस्पतिः—

" सभाप्रपादेवगृहतडागारामसंस्कृतिः ।
तथाऽनाथदरिद्राणां संस्कारो योजनक्रिया ॥
पालनीयाः[1] समर्थैस्तु यः समर्थो विसंवदेत् ।
सर्वस्वहरणं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् ॥
तत्र भेदमुपेक्षां वा यः कश्चित्कुरुते नरः ।
चतुःसुवर्णाः षण्निष्काःस्तस्य दण्डो विधीयते " ॥ १८६ ॥

सामयिकराजकृतधर्मभेदिनं प्रति गणद्रव्यहर्तारं प्रति च यत्कार्यं तदाह—

**गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः[2] ॥**
**सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥१८७॥**

संवित्समयः । महत्यपराध एतत् । अन्यत्र मनुराह—

" यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्[3] ॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुःसुवर्णान्षण्निष्काञ्शतमानं च राजतम् " ॥

अत्रापि चत्वारो देशनिर्वासनादयो दण्डा अपराधानुसारेण व्यवस्थाप्याः। कात्यायनः—" साहसी भेदकारी च गणद्रव्यविनाशकः[4] ।
उच्छेद्याः सर्व एवैते विरुद्धाप्यैवं नृपे भृगुः " ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °नीयासमस्तैस्तु । २ ग. घ. छ. सः । ३ ग. घ. छ. °त् । विगृ° । ४ ग. घ छ. ज. °कः । तच्छे° ।

**बृहस्पतिः**—" यस्तु साधारणं हिंस्यात्क्षिपेत्रैविद्यमेव वा ।
संवित्क्रियां विहन्याच्च स निर्वास्यः पुरात्ततः " ॥

**त्रैविद्यादिकमुत्सृष्टं क्षिपेदाक्षिपेदित्यर्थः ।**

" अरुंतुदः सूचकश्च भेदकृत्साहसी तथा ॥
श्रेणिपूगनृपाद्विष्टः क्षिप्रं निर्वास्यते ततः " ॥

**अरुंतुदो मर्मोद्घाटकः । सूचको दोषज्ञापकः । भेदकृत्स्नेहवतां विमतिकारी ।**

" कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः पुरदुर्गनिवासिनः ।
वाग्विभ्रंदमं परित्यागं प्रकुर्युः पापकारिणाम् ॥
तैः कृतं च स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम् ।
तद्राज्ञोऽप्यनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः " ॥

**अध्यक्षा महत्तमाः । वाग्दमं धिग्दमं वाऽपराधानुसारेण । वाग्विभ्रममितिपाठे वाग्विश्रमोऽसंभाष्यता । परित्यागोऽसंव्यवहार्यता । निसृष्टार्था अनुज्ञातकार्याः ।**

" बाधां कुर्युर्यदेकस्य संभूता द्वेषसंयुताः ।
राज्ञा ते विनिवार्यास्तु शास्याश्चैवानुबन्धिनः " ॥

**अनुबन्ध आग्रहः ।**

" मुख्यैः सह समूहानां विसंवादो यदा भवेत् ।
तदा विचारयेद्राजा स्वमार्गे स्थापयेच्च तान् " ॥

**नारदः**—" मिथः संघातकरणमहेतोः शस्त्रधारणम् ।
परस्परोपघातं च तेषां राजा न मर्षयेत् " ॥

**न मर्षयेन्न क्षमेत ।**

**कात्यायनः**—" एकपात्रे च वा पङ्क्त्यां संभोक्ता यस्य यो भवेत् ।
अकुर्वंस्तं तथा दण्ड्यस्तस्य दोषमदर्शयन् " ॥

**बृहस्पतिः**—" संभूयैकतमं कृत्वा राजभाव्यं हरन्ति ये ।
ते तदष्टगुणं दाप्या वणिजश्च पलायिनः " ॥

**राजभाव्यं करः ।**

**नारदः**—" प्रतिकूलं च यद्राज्ञः प्रकृत्यवमतं च यत् ।
बाधकं च यदर्थानां तत्तेभ्यो विनिवर्तयेत् ॥
दोषवत्कारणं यत्स्यादनाम्नायप्रवर्तितम् ।
प्रवृत्तमपि तद्राजा श्रेयस्कामो निवर्तयेत् " ॥ १८७ ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °ग्धिग्धमं । २ ग. घ. छ. ज. °पकर्षणा° । ३ क. °ग्विमिश्रमितिपाठे वाग्विमिश्रोऽसं° । ४ ग. घ. छ. ज. साध्यैः । ५ ग. घ. छ. ज. °वत्कर° । ६ ग. ज. °वृत्तिम° ।

( संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५ )

किं च—

कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम् ॥
यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम् ॥१८८॥

ये समूहहितं वदन्ति गणिनस्तदुक्तं सर्वैः समूहिभिः कार्यम्। यस्तु हितवादिनां प्रतिकूलः स्यात्स समूहेन प्रथमसाहसं दण्ड्यः ।

कात्यायनः—" युक्तियुक्तं तु यो हन्याद्वक्तुर्योऽनवकाशदः ।
अयुक्तं चैव यो ब्रूयात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् " ॥ १८८ ॥

समूहकार्य आयातान्कृतकार्यान्विसर्जयेत् ॥
सदानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यार्थं समूहप्रमुखानायातान्कृतकार्यान्सदानमानसत्कारैरभ्यर्च्य महीपतिर्विसृजेत् ॥ १८९ ॥

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत् ॥
एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहेन स्वकार्यसिद्धये यो नृपादिके[2](कं) प्रति प्रहितः स तस्माद्यल्लभेत तत्समूहाय स्वयमेव तेन दातव्यम् । नो चेत्तदेकादशगुणं तस्मात्समूहेन ग्राह्यम् ।

बृहस्पतिः—

" ततो लभेत यत्किंचित्सर्वेषामेव तत्समम् ।
षाण्मासिकं मासिकं वा विभक्तव्यं यथांशतः ॥
देयं वा निःस्ववृद्धान्धस्त्रीबालातुररोगिषु ।
सांतानिकादिषु तथा धर्म एष सनातनः ॥
यत्नैः प्राप्तं रक्षितं वा गणार्थे वा पणं कृतम् ।
राजप्रसादलब्धं वा सर्वेषामेव तत्समम् " ॥

यदि समूहप्रहितैर्लब्धं विभज्यमानं मासप्रभृति[3] षण्मासान्यावद्गणिनां निर्वाहसमर्थं भवति, तदा यथाभागं विभजनीयम् । अल्पं चेन्निःस्वादिभ्यः प्रदेयम् ।

कात्यायनः—" गणमुद्दिश्य यैः कैश्चित्कृत्वर्णं भक्षितं भवेत् ।
आत्मार्थं विनियुक्तं वा देयं तैरेव तद्भवेत् ॥
गणानां श्रेणिवर्गाणां गताः स्युर्ये तु मध्यतः ।
प्राक्तनस्य धनर्णस्य समांशाः सर्व एव ते ॥

---

१ क. ज. सर्वे । २ क. °दि प्र° । ३ ग. घ. छ. ज. °तिभिः ष° ।

तथैव भोज्यं वैभाज्यं धनं धर्मक्रियासु च ।
समूहस्थोऽशभागी स्यात्प्रगतस्त्वंशभाङ्न तु " ॥ १९० ॥

वेदज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ॥
कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥ १९१ ॥

वेदं पठन्तोऽर्थतश्च जानन्तीति वेदज्ञाः, शुचयः शुद्धाशयाः, अलुब्धा अलोलुपाः, एवंविधाः समूहकार्याणां साधकबाधकविचारकाः स्युः । वेदज्ञत्वादिविशिष्टानां कार्यचिन्तकत्वं विधीयते, अन्यदनूद्यते ।

बृहस्पतिः—" द्वौ त्रयः पञ्च वा कार्याः समूहहितवादिनः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः " ॥ १९१ ॥

ब्राह्मणेषूक्तस्य सामयिकधर्मस्यान्यत्रातिदेशमाह—

श्रेणिनैगमपाषाण्डिगणानामप्ययं विधिः ॥
भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् ॥ १५ ॥

एकजातिनिविष्टानां समानवृत्त्युपजीविनां समूहः श्रेणिर्यथा रजकश्रेणिरिति । सह देशान्तरवणिज्यार्थं ये नानाजातीया अधिगच्छन्ति ते नैगमा अवैदिकाः प्रव्रज्याऽऽस्थिताः पाषाण्डिनो ब्राह्मणेभ्योऽन्ये समानजीविका इह गणाः, एषाम[प्य]यमेव धर्मः, यो निजधर्माविरोधेनेत्येवमादावुक्तः । तथा श्रेण्यादीनां परस्परभेदं मतिभेदं नृपो रक्षेन्निवारयेत् । प्राक्तनीं च तेषां वृत्तिं पालयेत् । इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् ॥ १९२ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् ॥ १५ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# वेतनादानप्रकरणम् । ( १६ )

---

इदानीं वेतनानपाकर्माख्यं विवादपदमारभते—

---

१ ग. घ. ज. ज्यं ये भाज्या दानध° । २ ङ. धर्मज्ञाः । ३ क. °भवायि° । ४ क. °ख्यात्रा° । ५ ग. घ. छ. यथा ।

( वेतनादानप्रकरणम् १६ )

**गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत् ॥**
**अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥**

भृतिर्वेतनम् । तत्कृतको गृहीत्वा स्वामिनः कर्म त्यजन्नकुर्वंस्तद्द्विगुणमावहेत् । स्वामिने दद्यात् । कर्मण्यभ्युपगते वेतने वाऽगृहीते कर्म त्यजन्यावद्वेतनं तस्मै देयत्वेन स्वामिनाऽभ्युपगतं तावत्कृतको दद्यात् । भृत्यैः कर्मकरैः कर्मोपकरणान्युपस्करो युगवरत्रादिः परिरक्षणीयः ।

नारदः—" भृत्यानां[1] वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः ।
वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥
भृत्याय वेतनं दद्यात्कर्म स्वामी यथा[2] कृतम् ।
आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् " ॥

बृहस्पतिः—" भृतकस्तु न कुर्वीत स्वामिनः शाठ्यमण्वपि ।
भृतिहानिमवाप्नोति ततो वादः प्रवर्तते ॥
गृहीतवेतनः कर्म न करोति यदा भृतः ।
समर्थश्चेद्दमं दाप्यो द्विगुणं तच्च वेतनम् " ॥

नारदः—" कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य वार्यो दत्त्वा भृतिं बलात् ।
भृतिं गृहीत्वाऽकुर्वाणो द्विगुणां भृतिमावहेत् ॥
कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सिद्धिं नैव तु कारयेत् ।
बलात्कारयितव्यः स्यादकुर्वन्दण्डमर्हति " ॥

वृद्धमनुः—" प्रतिश्रुत्य न कुर्याद्यः स कार्यः स्याद्बलादपि ।
स चेन्न कुर्यात्तत्कर्म प्राप्नुयाद्द्विशतं दमम् " ॥

मनुः—" भृत्योऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं तच्च वेतनम् " ॥

कृतकर्मणोऽपीति शेषः ।

" यथोक्तमार्तः स्वस्थो वा यस्तत्कर्म न[3] कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः " ॥

यथोक्तं यथाप्रतिश्रुतम् ।

" आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः[4] ।
सुदीर्घस्यापि कालस्य स लभेतैव वेतनम् " ॥ १९३ ॥

---

१ क. ज. तद्वेतनं गृ° । २ क. °नां साधनस्योक्तेर्दानादानव्यतिक्र° । ३ ग. °थाक्रमम् । आ° । ४ ग. घ. ज. यदि नि° । ५ क. न चाऽऽचरेत् । न । ६ क. °मात्मनः । सु° ।

दाप्यस्तद्दशमं भागं वणिज्यापशुसस्यतः ॥
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यः स्वामी तुभ्यमियतीं भृतिं दास्यामीत्यनिश्चित्य कर्म कारयति, स भृतककृतकर्मणो वाणिज्यादेर्यदुत्पन्नं धनं तस्य दशमं भागं भृत्याय स्वामी दद्यात् । न ददाति चेद्राज्ञा स्वामी दाप्यः ।

वृद्धमनुः—" समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
नियच्छेयुर्भृतिं यां तु सा स्यात्प्रागकृता यदि " ॥

बृहस्पतिः—" त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः[1] ।
*भक्ताच्छादभृतः सीराद्भागं गृह्णीत पञ्चमम् ॥
जातसस्यात्त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथाभृतः " ।

नारदः—" कालेऽपूर्णे त्यजन्कर्म भृतिनाशमवाप्नुयात् ॥
स्वामिदोषाद्[2]पक्रामन्यावत्कृतमवाप्नुयात् " ।

विष्णुः—" भृतकश्चापूर्णे काले भृतिं त्यजन्सकलमेव मूल्यं जह्यात् । राज्ञे च पणशतं दद्यात् । तद्दोषेण यन्नश्येत्तत्स्वामिने देयम् । अन्यत्र दैवोपघातात् । स्वामी चेद्भृतकमपूर्णे काले जह्यात्तस्य सर्वमेव मूल्यं दद्यात् । पणशतं च राज्ञेऽन्यत्र भृतकदोषात् " ॥ १९४ ॥

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ॥
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥ १९५ ॥

यत्र देशे काले च क्रियमाणं कृष्यादिकं कर्म सफलं स्यात्तौ देशकालौ स्वातन्त्र्येण व्यतिक्रामेत्, लाभं च बहुतरव्ययकरणेन क्षयं प्रापयते, तत्र भृत्याय स्वामी स्वच्छन्दतः स्वाभिप्रायतो भृतिं दद्यान्नैवाल्पां स्वातन्त्र्येण स्वामिनः । अधिकं[3] का(फ)लं लभते यदि तस्मै प्राप्तान्मूल्यादधिकं पारितोषिकं द्रव्यं स्वामिना देयम् ॥ १९५ ॥

यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य च वेतनम् ॥
उभयोरप्यशाठ्यं चेच्छाठ्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥ १९६ ॥

यदेकं स्वामिकर्मानेकभृतकसाध्यं भवति तत्र शाठ्यं वर्जयित्वा यो भृत्यो

---

* भक्ताच्छादभृतो ह्यन्नवस्त्रदानेन पोषितः । इति मिताक्षराटिप्पण्याम् ।

---

१ ग. घ. छ. ज. 'कः । उक्ता' । २ क. °दपाक्रा' । ३ क. °कं ल° । ४ ङ. °प्यसाध्यं चेत्साध्ये कुं ।

( वेतनादानप्रकरणम् १६ )

यावत्कर्म करोति तस्मै तदनुरूपं वेतनं देयम् । यदि पुरुषद्वयसाध्यमेकः कुर्यात्तत्र भृतिद्वयं देयम् । न्यूनं चेद्भागहानिः कल्प्या । शाठ्ये तु यथाश्रुतं यथोक्तं तद्द्यात्स्वामिनश्छन्द[त] इति ज्ञेयम् । एतच्चानेकभृत्यसाध्ये कर्मणि वेतने वा परिभाषिते वेदितव्यम् । अत्र चोभयग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेन यत्र बहवोऽपि भृत्याः शाठ्यं विहाय कर्म कुर्वन्ति तत्रापि कर्मानुसारेण मूल्यदानं सिद्धं भवति ॥ १९६ ॥

**अराजदैविकान्नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ॥**
**प्रस्थानविघ्नकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणां भृतिम् ॥१९७॥**

यो वोढव्यद्रव्यप्रापणाय परिक्रीतः सन्राजदैविकव्यापारव्यतिरेकेण[1] स्वकीयप्रज्ञापराधाद्भाण्डं वोढव्यं द्रव्यं विनाशयति, स तन्मूल्यं दाप्यः । यस्तु प्रस्थाने विघ्नमाचरति स द्विगुणां भृतिं दाप्यः ।

वृद्धमनुः—" प्रमादान्नाशितं दाप्यः समं द्विर्मोहनाशितम् ।
न तु दाप्यो हृतं चौरैर्दग्धमूढं जलेन वा " ॥

द्विर्द्विगुणमित्यर्थः ।

बृहस्पतिः—" प्रभुणा विनियुक्तः सन्भृतको विदधाति यत् ।
तदर्थमशुभं कर्म स्वामी तत्रापराध्नुयात् " ॥

तदर्थं स्वाम्यर्थम् । अशुभं चौर्यादि । अपराध्नुयाद्दण्डादिभाग्भवेत्॥१९७॥

**प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संत्यजन् ॥**
**भृतिमर्धपथे सर्वां प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च ॥ १९८ ॥**

इति वेतनादानप्रकरणम् ॥ १६ ॥

प्रक्रान्ते गमने राजमार्गप्राप्तेः प्राग्भृतः कर्म परित्यजन्मूल्यस्य सप्तमं भागं दाप्यः । एतच्च वाहकान्तरलाभात्प्रस्थानविघ्नाभावे वेदितव्यम् । तद्विघ्ने तु द्विगुणं दानमुक्तम् । यदि तु पन्थानं प्राप्य परित्यजेत्तदा भृतेश्चतुर्थांशं दाप्यः । अर्धपथे तु सर्वां भृतिम् । एवं स्वाम्यपि परिक्रीय वाहकं यदि त्याजयति न वाहयति ।

मनुः—" यः कर्म काले संप्राप्ते न कुर्याद्विघ्नमाचरेत् ।
तद्वृत्तोऽन्यस्तु कार्यः स्यात्स दाप्यो द्विगुणां भृतिम् " ॥

नारदः—" अनयन्भाण्डयित्वा[5] तु भाण्डवान्यानवाहने[6] ।
दाप्यो भृतिचतुर्भागं सर्वामर्धपथे त्यजेत् ॥

---

१ क. °तिक्रमेण स्वीय°। २ क. °म्भृत्यः क°। ३ ग. घ. छ. ज. °च कान्तार°। ४ क.°कं त्यजति । म°। ५ ग. घ. °न्भाण्डयि°। ६ ग. घ. °वान्योनवाहते । दा° ।

अनयन्वाहकोऽप्येवं भृतिहानिमवाप्नुयात् " ।

**वृद्धमनुः**—" पथि विक्रीय तद्भाण्डं वणिग्भृत्यं त्यजेद्यदि ।
अथ तस्यापि देयं स्याद्भृतेरर्धं लभेत सः ॥
यदा च पथि तद्भाण्डं निषिध्येत ह्रियेत वा ।
यावानध्वगतस्तेन प्राप्नुयात्तावतीं भृतिम् " ॥

**नारदः**—" भृतिषड्भागमाभाष्य पथि युग्यभृतं त्यजेत् ।
अददत्कारयित्वा तु सोदयां भृतिमावहेत् " ॥

**यदीयैरश्वबलीवर्दादिभिर्युग्यं भाण्डं नीयते स युग्यभृतः । तं प्रति वोढव्यद्रव्यषड्भागं भृतित्वेनाऽऽभाष्य न ददाति तं च त्यजति तदा सोदयां भृतिं तस्मै स्वामी दद्यादित्यर्थः ।**

**बृहस्पतिः**—" कृते कर्मणि यः स्वामी न दद्याद्वेतनं भृतेः ।
राज्ञा दापयितव्यः स्याद्विनयं चानुरूपतः " ॥

**कात्यायनः**—" त्यजेत्पथि सहायं यः श्रान्तं रोगार्तमेव वा ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं ग्रामे त्र्यहमपालयन् " ॥

**मत्स्यपुराणे**—" मूल्यमादाय यो विद्यां शिल्पं वा न प्रयच्छति ।
दण्ड्यः स मूल्यं सकलं धर्मज्ञेन महीक्षिता " ॥

**नारदः**—" शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।
अनिच्छञ्शुल्कदाताऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥
अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान्स्त्रियम् ।
अक्रमेण तु संगच्छन्घातदन्तनखादिभिः ॥
अयोनौ यः समाक्रामेद्बहुभिर्वाऽपि वासयेत् ।
शुल्कं सोऽष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥
वेश्याः प्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्गृहोषिताः ।
तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः " ॥

**मत्स्यपुराणे**—" गृहीत्वा वेतनं वेश्या लोभादन्यत्र गच्छति ।
तां धनं दापयेद्द्यादनूढस्यापि भाटकम् ॥
अन्यमुद्दिश्य वेश्यां यो नयेदन्यस्य कारणात् ।
तस्य दण्डो भवेद्राज्ञः सुवर्णस्य च माषकम् ॥
नीत्वा भोगं न यो दद्याद्दाप्यो द्विगुणवेतनम् ।
राज्ञश्च द्विगुणं दण्डं तथा धर्मो न हीयते ॥

( वेतनादानप्रकरणम् १६ )

बहूनां व्रजतामेकां सर्वे ते द्विगुणं दमम् ।
दद्युः पृथक्पृथग्राज्ञे दण्डं च द्विगुणं परम् " ॥

**स्मृतिः**—" व्याधिता सश्रमव्यग्रा राजधर्मपरायणा ।
आमन्त्रिता च नाऽऽगच्छेद्वांश्या वडवा स्मृता " ॥

**नारदः**—" परभूमौ गृहं कृत्वा स्तोमं दत्त्वा वसेत्तु यः ।
स तद्गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठेष्टकादिकम् ॥
स्तोमादिना वसित्वा तु परभूमावनिश्चितः ।
निर्गच्छंस्तृणकाष्ठानि न गृह्णीयात्कथंचन ॥
यान्येव तृणकाष्ठानि त्विष्टका विनिवेशिता ।
विनिर्गच्छस्तु तत्सर्वं भूमिस्वामिनि वेदयेत् " ॥

स्वामिनीति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । स्तोमो भाटकम् ।

**व्यासः**—" स्नेहेन स्थण्डिलं लब्ध्वा मन्दिरं कुरुते तु यः ।
निर्गच्छतस्तस्य दारु दत्तस्तोमस्य नान्यथा " ॥

**कात्यायनः**—" गृहवार्यर्पणादीनि गृहीत्वा भाटकेन यः ।
स्वामिने नार्पयेद्यावत्तावद्द्राप्यः स भाटकम् " ॥

+(**वृद्धमनुः**—" यो भाटयित्वा शकटं नीत्वा चान्यत्र गच्छति ।)
स्तोमवाहीनि भाण्डानि पूर्णकालान्युपानयेत् ॥
ग्रहीतुराभवेद्भग्नं नष्टं वाऽन्यत्र संप्लवात् " ।

**स्तोमेन भाटकेन घृततैलादिद्रव्यान्तरप्रापणार्थं यानि मृन्मयानि भाण्डानि तानि स्तोमवाहीनि, तानि पूर्णभाटककालानि तत्स्वामिनमुपानयेत् । तेषां मध्ये यत्तदवलेपाद्भग्नं प्रध्वस्तं वा तत्स्तोमग्रहीतुराभवेत् । नेतरेण तद्देयमित्यर्थः । एतच्च संप्लवादन्यत्र । संप्लवे तु भाण्डस्वामिने भग्नादिभाण्डमूल्यं देयम् । संप्लवो द्रव्यान्तरेणाऽऽस्फालनम् । इति वेतनादानप्रकरणम् ॥ १९८ ॥**

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
वेतनादानप्रकरणम् ॥ १६ ॥]

---

+ एतच्चिह्नान्तर्गतं ग. घ. छ. ज. पुस्तकेषु न विद्यते ।

---

१ क. °श्रमा व्य° । २ क. °वाच्या व° । ३ क. पूर्वका° । ४ क. पूर्वका° ।

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ ।

## द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् । ( १७ )

अथ द्यूतसमाह्वयाख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते । तत्र नारदः—

" अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम् ।
पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् " ॥

अक्षाः पाशकाः । वध्रश्चर्मादिवलयवेधः । शलाका कितवेभ्यो ज्ञेया । आद्यशब्दादन्येषामपि कर्पटकादीनां ग्रहणम् । देवनं क्रीडा, विजिगीषा वा । जिह्मं कुटिलम् । जिताद्यद्रव्यं गृह्यते स पणः । वयांसि पक्षिणः । अक्षादिभिरचेतनैर्वयःप्रभृतिभिश्च चेतनैर्जिह्मेन कुटिलभावेन देवनं द्यूतम् ।

मनुः—" अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥
काकिन्यो वध्रिकाश्चैव शलाका मौर्य एव च ।
अक्षाः सबीजाः कैहका द्यूतोपकरणानि षट् " ॥

बृहस्पतिः—" अन्योन्यपरिगृहीताः पक्षिमेषवृषादयः ।
प्रहरन्ते कृतपणास्तं वदन्ति समाह्वयम् " ॥

तत्र सभापतिना यावती वृद्धिर्यतश्च ग्राह्या तदाह—

**ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ॥**
**गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितरादशकं शतम् ॥ १९९ ॥**

यः सभां कृत्वा द्यूतोपकरणानि च प्रगुणीकृत्य कितवेभ्यो देवितुं वृद्ध्या धनं प्रयच्छति स सभिको धूर्तकितवाद्धूर्तो विजयी वा कितवो द्यूतकर्ता स धूर्तकितवस्तस्माच्छतिकवृद्धेः शतसंख्याकग्लहे पणे विषयभूते यो वृद्धिं जितवान्स शतिकवृद्धिस्तस्मात्पञ्चकं शतं गृह्णीयात् । यः पराजितः स इतरस्तस्मात्तु दशकं शतम् ॥ १९९ ॥

**स सम्यक्पालितो भागं राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् ॥**
**जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥**

[स]सभिकः पूर्वोक्तो राज्ञा सम्यक्पालितः कितवेभ्यः सम्यग्रक्षितो राज्ञे

---

१ घ. छ. ज. द्यूतं समाह्वयेत् । अ° । २ ग. घ. छ. ज. कुरुका° । ३ ग. घ. छ. ज. °भ्यो ऽविदे वित्तं वृ° । ४ ङ. °तो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् । जि° ।

( द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७ )

यथाश्रुतमङ्गीकृतं स्वकीयाद्धनाद्भागं दद्यात् । जितं धनं पराजितात्कितवादुद्ग्राहयेदुत्कालयेत् । तथैतावति काले तुभ्यमियद्धनं दास्यामीति जेत्रे सत्यं वचस्तद्विश्वासाय क्षमी सन्दद्यात् ।

कात्यायनः—" सभिकः कारयेद्द्यूतं देयं दद्याच्च यन्नृपे ।
दशकं च शतं वृद्धिं गृह्णीयाच्च पराजयात् ॥
जेतुर्दद्यात्स्वकं द्रव्यं जितं ग्राह्यं त्रिपक्षिकम् ।
सद्यो वा सभिकेनैव कितवात्तु न संशयः " ॥

नारदः—" सभिकः कारयेद्द्यूतं देयं दद्याच्च तद्धनम् ।
दशकं तु शतं वृद्धिस्तस्य स्याद्द्यूतकारिता ॥
अथ वा कितवो राज्ञे दत्त्वा भागं यथोचितम् ।
प्रकाशं देवनं कुर्यादेवं दोषो न विद्यते " ॥

अथ वा सभिकं विना कितव एव राजभागं दत्त्वा प्रकटं देवनं कुर्यात् । कितव इति जात्यभिप्रायेणैकवचनम् ।

बृहस्पतिः—" द्वंद्वयुद्धेन यः कश्चिदवसादमवाप्नुयात् ।
तत्स्वामिना पणो देयो यस्तत्र परिकल्पितः " ॥

समाह्वयविषयमेतत् । अवसादो बलहानिः ।

नारदः—" अशुद्धः कितवो नान्यदाश्रयेद्द्यूतमण्डलम् ।
प्रतिहन्यान्न कितवं दापयन्तं स्वमिष्टतः " ॥

अदत्तदेयोऽशुद्धः स्वं स्वकीयं धनं साधयति कितवस्तं राजा न वारयेत् ॥ २०० ॥

प्राप्ते भागे च नृपतिः प्रसिद्धे धूर्तमण्डले ॥
जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा तु न ॥ २०१ ॥

धूर्ता द्यूतकारास्तन्मण्डले सैसभिके नृपतिः प्रसिद्धे यथापरिभाषिते भागे प्राप्ते जितं दापयेदन्यथा नैव ।

नारदः—" अनिर्दिष्टस्तु यो राज्ञा द्यूतं कुर्वीत मानवः ।
न स तं प्राप्नुयात्कामं विनयं चैव सोऽर्हति " ॥

अनिर्दिष्टो यो भूपेनानियुक्तः सन्द्यूतं कुर्वीत सम(स)भिको भवन्स तं कामं सभिकलभ्यं भागं न लभेत दण्डं च प्राप्नुयात् ।

---

१ ग. घ. छ. ज. प्रसभं देवनं कुर्यादित्यर्थः । किं° । २ ग. घ. छ. ज. °जानं वा° । ३ ङ. से नृपतिना भागे प्र° । ४क. समभिके । ज. समधि° । ५क. ग. घ. छ. समभि° । ६क. ग. समभि° ।

कात्यायनः—" प्रसह्य दापयेद्देयं तस्मिन्स्थाने न चान्यथा ।
जितं वै सभिकस्तत्र सभिकप्रत्ययाक्रिया ॥
अनभिज्ञो जितो मोच्योऽमोच्योऽभिज्ञो जितो रहः ।
सर्वस्वे विजितेऽभिज्ञे[2] न सर्वस्वं प्रदापयेत् " ॥

बृहस्पतिः—" रहो जितोऽनभिज्ञश्च कूटाक्षैः कपटेन वा ।
मोच्योऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितं सर्वं न दाप्यते " ॥ २०१ ॥

## द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि ॥

कितवव्यवहाराणां द्रष्टारो निर्णायकाः साक्षिणश्च त एव कितवा एव ।

नारदः—

" कितवेष्वेव तिष्ठेरन्कितवाः संशयं प्रति ।
त एव तत्र द्रष्टारस्त एवैषां च साक्षिणः " ॥

सभिकानुवृत्तौ बृहस्पतिः—" स एव साक्षी संदिग्धे[3] सभ्यैश्चान्यैस्त्रिभिर्वृतः " ।

कात्यायनः—" विग्रहेऽथ जये लाभे करणे कूटदेविनाम् ।
प्रमाणं सभिकस्तत्र शुचिश्च सभिको यदि ॥
म्लेच्छश्वपाकधूर्तानां कितवानां तपस्विनाम् ।
तत्कृताचारभर्तॄणां[4] निश्चयो न तु राजनि " ॥

राजनीति पूर्वोक्तसकलसभ्योपलक्षणार्थम् । तेन श्रुताध्ययनसंपन्ना इत्युक्ताः सभ्या म्लेच्छादिविवादेषु नाऽऽदरणीयाः ।

बृहस्पतिः—" उभयोरपि संदिग्धं कितवास्तु परीक्षकाः ।
यदा विद्वेषिणस्ते तु तदा राजा विचारयेत् " ॥

## राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः ॥ २०२ ॥

विष्णुः—" द्यूते च कपटाक्षदेविनां करच्छेदः । उपधिदेविनां संदंशच्छेदः " ।

अन्यवचनार्थमन्योन्यसंप्रतिपत्तिर्हस्तचातुर्यादियथाभिमतपातनादि वोपधिः । संदंशच्छेदोऽङ्गुष्ठाङ्गुलीछेदः ॥ २०२ ॥

## द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ॥

द्यूतमेकमुखमेकप्रधानमेकेन राजपुरुषेणाधिष्ठितं तस्करज्ञानार्थं कार्यम् ।

यत्तु मनुनोक्तम्—" द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्याद्यश्च कारयेत् ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः "

---

१ क. °त्ययक्रि° । २ क. °भिज्ञो न । ३ ग.घ.छ.ज. 'दिग्धं स° । ४ ग. घ. छ. ज. °रभेभूणां ।

( वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८ )

इत्यादि, तद्राजपुरुषानधिष्ठितद्यूतविषयम् ।

बृहस्पतिः—" द्यूतं निषिद्धं मनुना सस्यशौचधनापहम् ।
तत्प्रवर्तितमन्यैस्तु राजभागसमन्वितम् " ॥

राजभागरहितं न प्रवर्तयितव्यमित्यर्थः ॥

**एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥ २०३ ॥**

इति द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् ॥ १७ ॥

एष उक्तो विधिः प्रकारः प्राणिभिर्मेषमहिषादिभिः साध्ये द्यूते समाह्वयसंज्ञके वेदितव्यः । इति द्यूत[समाह्वय]प्रकरणम् ॥ २०३ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् ॥ १७ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# वाक्पारुष्यप्रकरणम् । ( १८ )

---

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणमारभते । तस्य स्वरूपमाह नारदः—

" देशजातिकुलादीनां क्रोशनं न्यङ्कसंज्ञितम् ।
यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते " ॥

क्रोशनमाक्रोशनमाक्षेपः । तत्र देशाक्षेपो यथा—गौडं प्रति कलहप्रिया गौडा इति । जात्याक्षेपो यथा—विप्रं प्रति नितान्तलोलुपा विप्रा इति । कुलाक्षेपो यथा—क्रूरचरिता वैश्वामित्रा इति । न्यङ्कमसभ्यवचनम् ।

कात्यायनः—" हुंकारं कासनं चैव लोके यच्च विगर्हितम् ।
अनुकुर्यादनुब्रूयाद्वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥
निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम् ।
आक्षेपो निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्कसंज्ञितम् ॥
पतंनीयैरुपाक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ।
यस्त्वसत्संज्ञकैरङ्कैः परमाक्षिपति क्वचित् ॥
अभूतैर्वाऽथ भूतैर्वा निष्ठुरा वाक्स्मृता तु सा ।
न्यङ्कावगूरणं वाचाऽऽक्रोशात्तु कुरुते यदि ॥

---

१ ग. 'संयुत' । २ क. 'सत्यव' । ३ ग. संयुत' ।

वृत्तदेशकुलानां तु अश्लीला सा बुधैः स्मृता ।
महापातकयोक्त्री च राजद्वेषकरी च या ॥
जातिभ्रंशकरी वाऽथ तीव्रा सा प्रथिता[1] तु वाक् " ॥

**न्यङ्गावगूरणं निकृष्टाङ्गप्रकाशनेन तिरस्करणम् ।**

**बृहस्पतिः**—" अप्रियोक्तिस्ताडनं च पारुष्यं द्विविधं स्मृतम् ।
एकैकं तु त्रिधा भिन्नं दमश्चोक्तस्त्रिलक्षणः ॥
देशधर्मकुलादीनां क्षेपः पापेन योजनम् ।
द्रव्यं विना तु प्रथमं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥
भगिनीभ्रातृसंबद्धमुपपातकशंसनम् ।
पारुष्यं मध्यमं प्रोक्तं वाचिकं शास्त्रवेदिभिः ॥
अभक्ष्यापेयकथनं महापातकदूषणम् ।
पारुष्यमुत्तमं प्रोक्तं[2] तीव्रमर्मातिपातनम् " ॥

**द्रव्यं विनेत्यत्र द्रव्यशब्दोऽभिधेयपरः । तेनोच्यमानार्थव्यतिरेकेणैवंविधमभिधानं वाक्पारुष्यमित्यर्थः ।**

**तत्र वाक्पारुष्यविशेषे दण्डविशेषमाह—**

**सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ॥**
**क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान् ॥ २०४ ॥**

**अङ्गानि कर्मेन्द्रियाणि जिह्वादीनि, इन्द्रियाणि पुनः श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि । रोगाः कुष्ठादयः । न्यूनान्यङ्गानीन्द्रियाणि च येषां, येषां च व्याधयः सन्ति तेषां क्षेपमप्रियोक्तिं सत्येनासत्येन विपरीतस्तुत्या वा यः करोति, स द्वादश पणान्सार्धान्दण्डयः । तत्र सत्येनाङ्गहीनक्षेपो यथा—पादहीनं प्रति कुण्ठस्त्वमित्यादिः । असत्येन यथा—सकलाङ्गं प्रति विकलाङ्गस्त्वमिति विकलाङ्गं प्रति सकलाङ्गस्त्वमिति । विपरीतस्तुत्या यथा—हस्तहीनं प्रति सुबाहुर्महाबाहुर्वेति । एवमिन्द्रियहीनाक्षेपः । अर्धत्रयोदशो येषां पणानां तेऽर्धत्रयोदशाः पणाः ।**

**यत्तु मनुनोक्तम्**—" काणं वा यदि वा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणं वरम् "

**तदाक्षेप्तुरत्यन्तोत्कर्षे स्वल्पे वाऽऽशयदोषे ग्राह्यम् ।**

**बृहस्पतिः**—" समजातिगुणानां तु वाक्पारुष्ये परस्परम् ।
विनयोऽभिहितः शास्त्रे पणस्त्वर्धत्रयोदशः " ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °ताऽऽतैवा° । २ क. प्रोक्तमेवं सन्मति° ।

( वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८ )

विष्णुः—" समवर्णाक्रोशने द्वादश पणान्दण्ड्यः । हीनवर्णाक्रोशने तु षट् । यथाकाल*मुत्तमसमवर्णाक्षेपे तत्प्रमाणो दण्डस्त्रयो वा कार्षापणाः । शुल्कवाक्याभिधाने त्वेवमेव " ।

अल्पधनविषयमेतत् ।

" समवर्णद्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् " ॥

समवर्णग्रहणमाक्षेप्याक्षेप्यस्य च जातितो गुणतश्च साम्यप्रतिपादनार्थम् । तेन सर्वसाम्ये सति वाक्पारुष्यरूपव्यतिक्रमविषये द्वादशपणो दमः । जातिमात्रसाम्ये हीनगुणस्य बहुगुणं प्रत्याक्षेपकत्वे द्विगुणो दमः ।

शङ्खलिखितौ—" सवर्णव्यतिक्रमे द्वादश कार्षापणाः । यथारूपविशिष्टाक्षेपे ह्यविष्टस्य चतुर्विंशतिरविशिष्टातिक्रमे च विशिष्टस्य ततोऽर्धम् ॥ २०४ ॥

प्रथमे वाक्पारुष्ये दण्ड उक्तः संप्रति मध्यमे वाक्पारुष्ये दण्डमाह—

**अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह ॥**
**शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥**

तव भगिनीं मातरमभिगन्तास्मीत्येवमाक्षिपन्तं पञ्चविंशतिपणात्मकं दण्डं राजा दापयेत् । आक्रोश इत्यधिकृत्याऽऽहतुः शङ्खलिखितौ—

" तथाऽधिकृतान्विप्रान्गुरूंश्च निर्भर्त्सयतो मुण्डनं गोमयालेपनं खरारोपणं[4] दर्पहारो दण्डो वा " ।

दण्ड इत्यनुवृत्तौ विष्णुः—" गुरूनाक्षारयन्कार्षापणं शतम् " ।

बृहस्पतिः—" क्षिपन्स्वस्रादिकं दद्यात्पञ्चाशत्पणिकं दमम् " ।

अल्पधनविषयमेतत् ॥ २०५ ॥

प्रथमे मध्यमे च वाक्पारुष्ये सवर्णानां दण्ड उक्तः । तस्यैव दण्डनीयगुणसदसद्भावकृतं विशेषमाह—

**अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च ॥**

विद्यानुष्ठानादिगुणवताऽधमेष्वधमगुणेष्वाक्रुष्टेषूक्तस्यार्धमेव दण्डः स्यात् । तत्र प्रथमे वाक्पारुष्ये षट्पणाः । पणचतुर्थांशश्च दण्डार्थं, मध्यमे तु द्वादश

---

* यथाकालमुक्तमसवर्णाक्षेप इति घ. पुस्तके ।

---

१ क. °सव° । २ ग. घ. छ. ज. °मादो द° । ३ क. छ. ज. शुक्तवा° । ४ क. छ. °रोहणं ।

सार्धाः। यस्तु परस्त्रीराक्षिपति, तथाऽल्पगुणश्च सन्नुत्तमगुणांस्तस्योक्तो द्विगुणो दण्डः। तत्र प्रथमे वाक्पारुष्ये पञ्चविंशतिः।

बृहस्पतिः—"समानयोः समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणस्तु सः।
उत्तमस्याऽऽधिकः प्रोक्तो वाक्पारुष्ये परस्परम्" ॥

इदानीं ब्राह्मणादिवर्णानां मूर्धावसिक्तद्विजातीनामन्योन्यमाक्रोश्याक्रोशकभावे राज्ञा दण्डः कल्पनीय इत्याह—

## दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः ॥ २०६ ॥

वर्णानां जातीनां च मध्यादुत्तरैश्चाधराणामधरैश्चेतरेषामाक्षेपे कृते स्वयमभ्यू(भ्यु)द्य दण्डप्रणयनं राजा कुर्यात्। तत्र मूर्धावसिक्ता अम्बष्ठादयः। अनुलोमजा मातृभिस्तुल्यवर्णाः। ततश्च ते क्षत्रियादिवदेव दण्डभाजः ॥ २०६ ॥

इदानीं वर्णानां प्रातिलोम्याक्षेपे दण्डविशेषमाह—

## प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः ॥
## वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥ २०७ ॥

अधरो वर्ण उत्तरमाक्रोशतीति प्रतिलोमापवादः। तत्रानन्तरं वर्णमाक्रोशतः पूर्वोक्तात्पञ्चाशत्संख्याकाद्विगुणो दमः शतसंख्याको दमः स्यात्। एकान्तराक्षेपे तु तत एव त्रिगुणः सार्धशतिको भवेत्। ततश्च क्षत्रियस्य ब्राह्मणं वैश्यस्य क्षत्रियमाक्रोशतः शतसंख्याको दमः। वैश्यस्य ब्राह्मणाक्रोशेऽध्यर्धं शतम्। शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम्। क्षत्रियाक्रोशेऽध्यर्धम्। ब्राह्मणाक्रोशे तु दण्डान्तराभिधायकानि स्मृत्यन्तराण्युदाहरिष्यन्ते। उत्तरेण वर्णेनाधरस्याऽऽक्षेपोऽनुलोमापवादः। तत्र क्षत्रियस्य ब्राह्मणमाक्षिपतो दण्डः पणशतात्मकोऽभिहितः। तदर्धं पञ्चाशत्पणिकः क्षत्रियाक्षेपणे ब्राह्मणस्य दण्डः। वैश्याक्षेपे पञ्चविंशतिकः। शूद्राक्षेपे सार्धद्वादश पणाः। अस्य च व्याख्यानस्य—

"पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्यस्याप्यर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः"

इति मनुवाक्यं मूलम्। एवं क्षत्रियो वैश्यमाक्रोशन्पञ्चाशद्दण्ड्यः। शूद्रे तु पञ्चविंशतिः। वैश्यस्य शूद्राक्रोशे पञ्चाशदेव। शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे मनुराह—

"शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति" ॥

---

१ ग. °स्यार्धकः। २ क. °र्धाभिषिक्त°। ३ ङ. प्रातिलोम्यापवादेषु। ४ क. °शद्विंशति-संख्या°। ग. घ. छ. °शतिसंख्या°। ५ ग. घ. छ. ज. °राविधा°। ६ ग. घ. छ. पणः।

( वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८ )

वधोऽत्र जिह्वाच्छेदः । यदाह स एव—

" एकजातिर्द्विजातिं तु वाचा दारुणया क्षिपेत् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥
नामजातिग्रहांस्तेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः " ॥

अत्यन्ताभ्यास एतत् ।

" धर्मोपदेशं दर्पेण द्विजानामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः " ॥

अस्येति शूद्रस्य ।

बृहस्पतिः—" वैश्यमाक्षारयञ्शूद्रो दाप्यः स्यात्प्रथमं दमम् ।
क्षत्रियं मध्यमं चैव विप्रमुत्तमसाहसम् ॥
धर्मोपदेशकर्ता च वेदोदाहरणान्वितः ।
आक्रोशकश्च विप्राणां जिह्वाछेदनमर्हति " ॥

गौतमः—" शूद्रो द्विजातिमभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गं मोर्च्यं यो नाभिहन्यात् । अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणाज्जिह्वाछेदो धारणे शरीरभेदः " ।

विष्णुः—" श्रुतदेशजातिकर्मणामन्यथावादी कार्षापणशतं दण्ड्यः " ।

नारदः—" न किल्बिषेणापवदेच्छास्त्रतः कृतपावनम् ।
न राज्ञो धृतदण्डं तु दण्डभाक्त्व्यतिक्रमात् " ॥ २०७ ॥

**बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिको(के) दमः ॥**
**शत्यस्ततोऽर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥**

बाह्वादीनां वचनेन विनाशक्रियां तव बाहू खञ्जयामीत्येवमात्मिकां कुर्वतः शत्यः शतपरिमाणो दण्डो ग्राह्यः। पादनासादेर्वाचनिकं नाशमाचरतः शतार्धिको दण्ड आदेयः ॥ २०८ ॥

सामान्येनोक्तस्य विषयविशेषे व्यवस्थामाह—

**अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश ॥**
**य(त)था शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु ॥२०९**

---

१ ग. घ. ज. एका जा' । २ ग. घ. °जात्यं तु । ३ ग. घ. ज. मोवो यो । ४ क. °च्यं-येना° ५ ग. घ. छ. ज. श्रुतिदे° । ६ क. ङ. °स्तदर्धि° ।

बाह्वादिच्छेदं कर्तुं समर्थः स यदि तं ब्रूयात्तदोक्तं दण्डं गृहीत्वा क्षिप्तस्य क्षेमाय परिरक्षणार्थं प्रतिभुवं दाप्यः। बाह्वादिच्छेदासमर्थस्तु चेद्दशैव पणान्दाप्यः ॥ २०९ ॥

**पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ॥**
**उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥**

पतनीयैः पतितत्वकारणैर्ब्रह्महत्यादिभिर्ब्रह्महा त्वमसीत्यादावाक्षेपे कृते मध्यमसाहसो दण्डो भवति। उपपातकहेतुभिर्गोवधादिभिराक्षिपन्प्रथमसाहसं दाप्यः।

व्यासः—"पापोपपापवक्तारो महापातकशंसकाः।
आद्यमध्योत्तमान्दण्डान्दद्युस्ते ते यथाक्रमम्" ॥

उपपातकगणे यन्न निर्दिष्टं शास्त्रतः प्रतिषिद्धं च तदिह पापशब्दवाच्यम्।

विष्णुः—"परस्य पतनीये क्षेपे कृते तूत्तमसाहसम्। उपपातकयुक्ते मध्यमम्"।

उत्तमवर्णाक्षेपविषयमेतत् ॥ २१० ॥

**त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ॥**
**मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥ २११ ॥**

इति वाक्पारुष्यं प्रकरणम् ॥ १८ ॥

ऋग्यजुःसामवेदिनां नृपतेर्ब्राह्मणादिदेवानां वा क्षेप्तुरुत्तमसाहसो दण्डः कार्यः। ब्राह्मणादिजातीनां पूगानां परिषदादीनां व्यवहारनिर्णयाद्येककार्यकारिणां विदुषामाक्षेप्तुर्मध्यमसाहसः, ग्रामस्य जनपदस्य वा क्षेपं कुर्वतः प्रथमसाहसः।

विष्णुः—"त्रैविद्यवृद्धानां जातिपूगानां च ग्रामदेशयोः प्रथमम्"।

अल्पाशयदोषविषयमेतत्।

बृहस्पतिः—"देशादिकं क्षिपन्दाप्यः पणानर्धत्रयोदशान्।
पापेन योजयन्दर्पाद्दाप्यः प्रथमसाहसम्" ॥

उशना—"मोहात्प्रमादात्संहर्षात्प्रीत्या चोक्तं मयेति यः।
नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्धं तस्य कल्पयेत्" ॥

बृहस्पतिः—"एष दण्डः समाख्यातः पुरुषापेक्षया मया।
समन्यूनाधिकत्वेन कल्पनीयो मनीषिभिः" ॥

**इति वाक्पारुष्यं प्रकरणम् ॥ २११ ॥**

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के वाक्पारुष्यं प्रकरणम् ॥ १८ ॥ ]

---

१ ग. घ छ. 'पकवि'। २ घ. घ. छ. ज. °सः। त्रै°। ३ क. °यविद्यानां।

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## दण्डपारुष्यप्रकरणम् । ( १९ )

अथ दण्डपारुष्यनिमित्ते दण्डविधिः । दण्डपारुष्यं नाम शरीरस्य ताडनेनामेध्यसंयोजनेन ताडनार्थमवगूरणेन वा परस्य दुःखोत्पादनम् । तदाह नारदः—

" परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः ।
तस्मादेभिश्चोपघाते दण्डपारुष्यमुच्यते " ॥

तथा—" तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात् ।
अवगूरणनिःसङ्गपातक्षतजदर्शनैः ॥
हीनमध्योत्तमानां तु वर्णानां समतिक्रमात् " ॥

बृहस्पतिः—" हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांसुभिः ।
आयुधैश्च प्रहरणैर्दण्डपारुष्यमुच्यते " ॥

तत्रापराधसदसद्भावसंदेहे निर्णयहेतूंस्तावदाह—

असाक्षिके हते चिह्नैर्युक्तिभिश्चाऽऽगमेन च ॥
द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृताद्ऋते ॥ २१२ ॥

असाक्षिके देशेऽहमनेन हत इति केनचिद्राज्ञे निवेदिते राज्ञा सभ्यैश्च द्वेषादिकृतमिथ्याचिह्नं वर्जयित्वाऽन्यैश्चिह्नैर्युक्तिभिरागमेनाऽऽप्तवाक्येन चकारादिव्यैश्च विवादोऽयं वादी साधुरयमसाधुरयमिति विचार्य निर्णेतव्यः । चिह्नं क्षतादि । युक्तिभिर्हन्तृहन्तव्ययोः संनिधानं द्वेषहेतुसंभव इत्यादिभिः[1] । आगम आप्तवाक्यम् । केचित्पठन्ति—"कूटचिह्नकृताद्भयात्" इति । तस्यार्थः—न व्रणादिदर्शनमात्रेण विना विचारं निर्णयः कार्यः । यतो मत्सरादिवशात्कूटं कृत्रिममपि चिह्नं कर्तुं शक्यते ।

नारदः—" कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनाश्चिह्नं[2] द्वेषात्परमभिद्रवेत् ।
युक्तिहेत्वर्थसंबन्धैस्तत्र युक्तं परीक्षणम् " ॥

युक्तिरर्थापत्तिः । हेतुरनुमानम् । अर्थः प्रयोजनम् । संबन्धः प्राप्तिः संनिधिरिति यावत् । पूर्वकलहो वा ।

कात्यायनः—" हेत्वादिभिर्न पश्येच्चेद्दण्डपारुष्यकारणम् ।
तत्र साक्षीकृतं चैव दिव्यं वा विनियोजयेत् " ॥

---

१ घ. छ. ज. °त्यादि । आ° । २ ज. °त्मना चि°।

साक्षीकृतं साक्षिस्थाने कृतम् ।

नारदः—" +पारुष्ये सति संबन्धादुत्पन्ने क्षुब्धयोर्द्वयोः ।
*स मान्यते यः क्षमते दण्डभाग्योऽतिवर्तते ॥
पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ।
विशेषश्चेन्न दृश्येत विनयः स्यात्समस्तयोः " ॥

बृहस्पतिः—" द्वयोः प्रहरतोर्दण्डः समयोस्तु समः स्मृतः ।
आरम्भकोऽनुबन्धी च दाप्यः स्यादधिकं दमम् " ॥

नारदः—" द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः ।
स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वा परः ॥
पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ।
पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः " ॥

कात्यायनः—" आभीषणेन दण्डेन प्रहरेद्यस्तु मानवः ।
पूर्वं चाऽऽपीडितो वाऽथ स दण्ड्यः परिकीर्तितः " ॥

बृहस्पतिः—" पूर्वाक्रुष्टः समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन् ।
हत्वाऽऽततायिनं चैव नापराधी भवेन्नरः ॥
वाक्पारुष्यादिना नीचो यः सन्तमभिलङ्घयेत् ।
स एव ताडयंस्तस्य नान्वेष्टव्यो महीभुजा " ॥

वाक्पारुष्यादिना नीचेनाभिलङ्घिते साधौ साधुर्यदि नीचं ताडयेत्तदा राज्ञाऽसौ न दण्डनीय इत्यर्थः ।

नारदः—" श्वपाकपाण्डु(ण्ड)चण्डालवेश्यासु[1] वधवृत्तिषु ।
हस्तिपव्रात्यदारेषु गुर्वाचार्यातिगेषु च ॥
मर्यादातिक्रमे सद्यो घातयेच्चानुशासनम् ।
न च तद्दण्डपारुष्ये दोषमाहुर्मनीषिणः ॥
यमेव ह्यतिवर्तेरन्[2]ते सन्तं जना नृषु ।
स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाग्भवेत् ॥
मला ह्येते मनुष्याणां मलमेषां धनात्मकम् ।
अपि तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् " ॥

---

+ मिताक्षरायां तु पारुष्ये सति संरम्भादिति पाठः । * एतदर्धस्थाने क. पुस्तके—सामान्यतो यः क्षमेत सेवाभाग्यो निवर्तत इति पाठः ।

---

१ क. °कपाण्डु° । २ क. °सु भटवृ° । ३ क. °रन्न ते सन्तं जनं नृषु ।

कात्यायनः—" अस्पृश्यधूर्तदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम् ।
प्रतिलोमप्रसूतानां ताडनं नार्थतो दमः ॥ २१२ ॥

**भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः ॥**
**अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणस्ततः ॥ २१३ ॥**
**समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ॥**
**हीनेष्वर्धदमः प्रोक्तो मदादिभिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥**

जातितो गुणतो वा तुल्यं परं भस्मकर्दमधूलिभिर्योजयतो दशपणो दण्डः । यदि पुनरमेध्यादिभिः संयोजयति तदा विंशतिपणः । अत्र यदि परस्त्रीमात्रे, तथा जातितो गुणतो वोत्कृष्टेषु नरेषूक्तमपराधं कुर्यात्तदा पूर्वोक्तादण्डाद्द्विगुणो दण्डः कार्यो विंशतिपणः स्यात् । यत्र विंशतिपणस्तत्र चत्वारिंशत्पणः स्यात् । जातितो वा गुणतो वा हीनविषय उक्तस्यार्धं दण्डनीयः । मदादिना लुप्तज्ञानस्यापराधाभावतो दण्डाभावः । अमेध्यं वसाशुक्रादिशरीरमलात्मकम् । पार्ष्णिः पादापरभागः । निष्ठ्यूतं निष्ठीवित(वन)म् ।

बृहस्पतिः—" भस्मादीनां प्रक्षिपणं ताडनं च करादिना ।
प्रथमं दण्डपारुष्यं दमः कार्योऽत्र माषिकः ॥
एष दण्डः समेषूक्तः परस्त्रीष्वधिकेषु च ।
द्विगुणस्त्रिगुणो ज्ञेयः प्राधान्यापेक्षया बुधैः " ॥

परस्त्रीषु द्विगुण उत्तमेषु त्रिगुण इत्यर्थः । माषोऽत्र राजतः ।

कात्यायनः—" छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः ।
षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वेष्टगुणः स्मृतः "॥२१३॥२१४॥

किं च—

**विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु ॥**
**उद्यमे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥**

विप्रताडनकरणीभूतं क्षत्रियादेः करचरणाद्यङ्गं राजा छिन्द्यात् । विप्रताडनार्थं शस्त्रदण्डादिकं वोद्यच्छतः प्रथमसाहसो दण्डः । उद्यमनार्थं शस्त्रादिकं स्पृशतः प्रथमसाहसार्धम् । अयं च दण्डः क्षत्रियवैश्ययोः । शूद्रस्य तु मनुराह—

" येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् " ॥

---

१ ङ. °दमो मोहम° । २ ग. घ. छ. ज. त्वष्टागु° ।

अत्र च श्रेयांसमितिवचनात्क्षत्रियवैश्यपीडाकरमपि शूद्राङ्गं छेद्यम् ।

तथा—" पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति " ॥

द्विजातेरुपरि निष्ठीवनादि कुर्वतः शूद्रस्य दण्डान्तरं स एवाऽऽह—

" अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् " ॥

तथा—" सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यावकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिजौ(चौ) वाऽप्यस्य कर्तयेत् ॥
केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां तु ग्रीवायां वृषणेषु तु " ॥

दाढिकायां श्मश्रुणि । वृषणेषु वृषणादिष्वित्यर्थः । नान्यथा बहुवचनोपपत्तिः ॥ २१५ ॥

**उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ॥**
**परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥**

हस्ते परपीडार्थमुद्यमिते दशमो दमः । पादे विंशतिको दमः । शस्त्रे मध्यमसाहसः । उद्यमन एवैतन्न तु निपातने, तत्र दण्डान्तरविधानात् । परस्परमितिवचनात्सजातिविषयमेतत् । हीनजातेरुत्तमजातिं प्रत्युद्गूर्णमानस्य दण्डान्तरविधानात् । बृहस्पतिः—

" मध्यमः शस्त्रसंधाने संयोज्यः क्षुद्रयोर्द्वयोः ।
कार्यः कृतानुरूपस्तु लग्ने घाते दमो बुधैः ॥
इष्टकोपलकाष्ठैश्च ताडने तु द्विमाषिकः ।
द्विगुणः शोणितोद्भेदे दण्डः कार्यो मनीषिभिः " ॥ २१६ ॥

किं च—

**पादकेशांशुककरालुञ्चनेषु पणान्दश ॥**
**पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे[1] शतं दमः ॥ २१७ ॥**

पादयोः केशानामंशुकस्य वस्त्रस्य हस्तयोर्वा समानजातीयस्य पुंस आलुञ्चन आकर्षणे दश पणान्दण्ड्यः । पीडादीनां समुच्चितानां करणे पणशतं दमः । पीडा निष्पीडनम् । आकर्ष *आक्रोश आकर्षणम् । अंशुकावेष्टो ग्रीवादौ वस्त्रबन्धनम् । पादाध्यासो मूर्धादौ पादन्यासः ॥ २१७ ॥

---

* इदं पदमधिकम् ।

---

१ ङ. °पादन्यासे ।

किं च—

शोणितेन विना पीडां कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः ॥
द्वात्रिंशतं पणान्दाप्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

शोणितमदर्शयित्वैव काष्ठादिभिः परस्य समानजातीयस्य दुःखमुत्पादयन्द्वात्रिंशतं पणान्दाप्यः। शोणितदर्शने तु चतुःषष्टिम्।

मनुः—" त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः " ॥

[1]निबन्धातिशये सति लोहितदर्शकस्य शतमन्यथा चतुःषष्टिः।

बृहस्पतिः—" त्वग्भेदे प्रथमो दण्डो मांसभेदे तु मध्यमः।
उत्तमस्त्वस्थिभेदे स्याद्घातेन तु प्रमापणम् " ॥

क्षत्रियादीनां दण्डोऽयं न तु ब्राह्मणस्य, तस्य प्रमापणायोगात् ॥ २१८ ॥

करपाददन्तभङ्गे छेदने कर्णनासयोः ॥
मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा ॥ २१९ ॥

हस्ताङ्घ्रिदशनानां प्रत्येकं भङ्गे मोटने, कर्णस्य नासाया वा छेदने, पूर्णस्य व्रणस्योद्भेदे पुनर्नवीकरणे, यथा मृतकल्पो मृततुल्यो निःस्पन्दो भवति तथाऽभिघाते कृते, मध्यमो दण्डः। अत्र च विषमसमीकरणमनुबन्धादितारतम्येन कल्प्यम्।

" कर्णौष्ठघ्राणपादाक्षिजिह्वाशिश्नकरस्य च।
छेदने चोत्तमो दण्डो भेदने मध्यमो गुरुः " ॥

विष्णुः—" उभयनेत्रभेदिनं राजा यावज्जीवं न मुञ्चेद्बन्धनात्। तादृशमेव वा कुर्यात्" ॥ २१९ ॥

किं च—

चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने ॥
कन्धराबाह्वसक्थ्यङ्घ्रिभङ्गे मध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

चेष्टा गमनागमनमूत्रपुरीषोत्सर्गादिः। भोजनमभ्यवहारः। वाग्व्याहारः। एषां कस्यचिद्रोधे प्रतिबन्धे, नेत्रादेश्च ज्ञानेन्द्रियाधिष्ठानस्य प्रतिभेदने तदधिष्ठानत्वविनाशे, कन्धराया ग्रीवाया बाहोः सक्थ्नो जघनस्याङ्घ्रेः पादस्य

---

१ क. ग. घ. छ. 'शतिप'। २ क. निर्बन्धा°। ३ ङ. °दतो भ°। ४ ङ. °सक्थां च भ°।

वा भङ्गे, मध्यमसाहस एव दण्डः । पूर्वमिदं च वाक्यं ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य समानजातीयस्यापराध्नुवतो दण्डविधायकम् ।

विष्णुः—" चेष्टाभोजनवाग्रोधे प्रहारदाने च नेत्रकन्धराबाहुसक्थिभङ्गे चोत्तमम् " ।

उत्तममुत्तमसाहसः, दण्ड इति शेषः । अत्र क्षत्रियस्य वैश्यमपराध्नुवतो वैश्यस्य क्षत्रियमपराध्नुवतो यथाक्रमं दण्डदाने मध्यमोत्तमसाहसयोर्विषयव्यवस्था । अथवा मध्यमसाहसविधिः शूद्रस्य समानजातीयापराधे । उत्तमसाहसस्तु समानजातीयापराध एव क्षत्रियवैश्ययोः ॥ २२० ॥

किं च—

एकं घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद्द्विगुणो दमः ॥
कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्तथा ॥ २२१ ॥

यदा पुनरेकं प्रति बहवो हन्तारो दण्डपारुष्यकर्तारो भस्मकर्दमपांसुसंयोगकर्तारो भवन्ति तदा तेषां तस्मिन्विषये यो दण्ड उक्तस्तस्माद्द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं कार्यः । कलहे च वर्तमाने येन यस्य यदपहृतं तेन तस्मै तद्दत्त्वा ततो द्विगुणं धनं राज्ञे देयम् ।

विष्णुः—" एकं बहूनां घ्नतां प्रत्येकं स्वोक्ताद्दण्डाद्द्विगुणः ।
उत्क्रोशन्तमनभिधावतां तत्समीपवर्तिनां च " ।

कात्यायनः—" वाग्दण्डस्ताडनं चैव येषूक्तमपरादि(धि)षु ।
हृतं भग्नं प्रदाप्यास्ते शोध्यं निःस्वैस्तु कर्मणा " ॥ २२१ ॥

दुःखमुत्पादयेद्यस्तु समुत्थानधनव्ययम् ॥
दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन्कलहे समुदाहृतः ॥२२२॥

यस्तु शस्त्रादिताडनेन परस्य दुःखमुत्पादयेत्स व्रणारोपणादौ समुत्थाने यो धनव्ययस्तं दद्यात् । यश्च यस्मिन्कलहे दण्डपारुष्ये दम उक्तस्तं च राज्ञे दद्यात् । बृहस्पतिः—

" अङ्गावभेदने चैव पीडने छेदने तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः कलहापहृतं च यत् " ॥

कात्यायनः—" देहेन्द्रियविनाशे तु यथा दण्डं प्रकल्पयेत् ।
तथा तुष्टिकरं देयं समुत्थानं च पण्डितैः ॥
समुत्थानव्ययं चासौ दद्यादा व्रणरोपणात् " ।

---

१ ग.घ.छ. 'यमप' । २ ग.घ.छ.ज. °त्समवर्तिनां सतां च । ३ ग. घ. ङ.छ. ससमुत्थानजं व्य° । ४ ङ. दण्डश्च यो । ५ ग. घ. ज. °नाहे तु । ६ ग. घ. छ. ज. ज्ञेयं ।

( दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९ )

मनुः—" भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् " ॥

किल्बिषं दण्डः ।

ब्रह्मचार्यधिकारे नारदः—"अनुशास्यो गुरूणां तु न चेदनुविधीयते ।
अवधेनाथ वा हन्याद्रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥
भृशं न ताडयेदेनं नोत्तमाङ्गे न चोरसि ।
अनुशास्य च विश्वास्यः शास्यो राज्ञाऽन्यथा गुरुः ॥
पुत्रापराधे न पिता श्ववान्न शुनि दण्डभाक् ।
न मर्कटे च तत्स्वामी तेनैव प्रहृता(तो) नु चेत् " ॥

अवधेनाहिंसया ॥ २२२ ॥

अभिघाते तथा छेदे भेदे कुड्यावपातने ॥
पणान्दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥२२३॥

कुड्यस्यापहर्ता पञ्च पणान्दाप्यः । छेत्ता दश । भेत्ता विंशतिम् । पातयिता तु कुड्यव्ययं स्वामिने दाप्यः ॥ २२३ ॥

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ॥
षोडशाऽऽद्यः पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥२२४॥

यः परगृहेषु दुःखोत्पादकं वृश्चिकादि क्षिपेत्स षोडश पणान्दाप्यः । यस्तु प्राणहरं सर्पादि स मध्यमसाहसम् ॥ २२४ ॥

दुःखेऽथ शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ॥
दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपँणप्रभृतिः क्रमात् ॥२२५॥
लिङ्गस्य च्छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ॥

क्षुद्रपशूनामजादीनां ताडननिमित्ते दुःखे शोणितस्रावे शाखायाः शृङ्गस्य च्छेदनेऽङ्गस्य पादादेश्छेदने कृते सति यथाक्रमं द्विगु(प)णप्रभृतिर्दण्डः । द्विगु(प)णादुत्तर उत्तरः पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्द्विगुणः । तत्र दुःखोत्पादे द्विपणः । शोणिते चतुष्पणः । शृङ्गच्छेदेऽष्टपणः । अङ्गच्छेदे षोडशपणः । एषामेव पशूनां लिङ्गस्य

---

१ ग. घ. छ. मन्कटे । २ ग. घ. छ. ज. न । ३ क. ज. °यित्वा तु । ४ क. ग. घ. छ. ज. °पणात्प्रभृ° ।

पुंस्त्वस्य च्छेदे वृषणचूर्णने मध्यमसाहसः । मृत्यौ तु कृते मूल्यं पशुस्वामिने मध्यमसाहसं च राज्ञे दद्यात् ॥ २२५ ॥

**महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः ॥ २२६ ॥**

क्षुद्रपशुसंबन्धीनि दण्डनिमित्तानि यान्युक्तानि तानि यदा महापशूनां गवादीनां तदात(स) एव द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः ।

कार्षापणशतं दण्ड्य इत्यनुवर्तमाने विष्णुः—

"पशूनां पुंस्त्वोपघातकारी तथाऽश्वोष्ट्रगोघाती ×ज्येकरपादः(?) कार्यः । विमांसविक्रयी च ग्रामपशुघाती च कार्षापणशतं दण्ड्यः । पशुस्वामिनश्च तन्मूल्यं दद्यात् । आरण्यपशुघाती पञ्चशतं कार्षापणानाम् । पक्षिघाती मत्स्यघाती च दश कार्षापणान् । कीटोपघाती कार्षापणम् " ।

मनुः—" गोकुमारीर्देवपशूनुक्षाणं वृषभं तथा ।
वाहयन्साहसं पूर्वं प्राप्नुयादुत्तमं वधे " ॥

कात्यायनः—" श्रान्तांस्तृषार्तान्क्षुधितानकाले वाहयेन्नरः ।
खरगोमहिषोष्ट्रादीन्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् " ॥ २२६ ॥

**प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे ॥
उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणा दमाः ॥ २२७ ॥**

प्ररोहिणां न्यग्रोधादीनामुपजीव्यानां च टङ्काम्रादीनां शाखिनां वृक्षाणां च शाखायाः स्कन्धस्य सर्वस्य वृक्षस्य च भेदने यथाक्रमं त्रयो दण्डा भवन्ति । तत्र शाखाया भेदने विंशतिः । स्कन्धस्य द्विगुणाश्चत्वारिंशत् । सर्वस्य द्विगुणा अशीतिः । प्ररोहो न्यग्रोधः । स्कन्धः प्रधानशाखामूलम् ॥ २२७ ॥

**चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ॥
जातद्रुमाणां द्विगुणा दमा वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥**

चैत्यादिस्थानजातानां द्रुमाणां शाखास्कन्धसर्वविदारणेषु विश्रुतद्रुमविषयेषु पूर्वोक्ता विंशत्यादयो दमा द्विगुणा वेदितव्याः । चैत्यं मनोहरस्थानम् ॥२२८॥

**गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम् ॥
पूर्वस्मृतार्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥**

[ इति दण्डपारुष्यप्रकरणम् ॥ १९ ॥ ]

---

* इत आरभ्य ग्रामपशुघातीत्यन्तं क पुस्तके न विद्यते ।

---

१ ग. घ. छ. ज. °नि य° । २ क. यदपशूनां गवादी तदा ए° । ३ ङ. °गुणो दमो वृ° ।

( साहसप्रकरणम् २० )

वृक्षेभ्यो न्यूनपरिमाणा उद्भिज्जा गुल्माः कुरुवकादयः । ततो न्यूनपरिमाणा गुच्छाः । ततोऽपि हसीयांसः क्षुपाः । लता वल्ल्यः । ता एव स्थूलाः प्रतानाः । व्रीहियवादयः फलपाकान्ता ओषधयः । बीजकाण्डप्ररोहिण्यो वीरुधः । आसां पूर्वोक्तेषु दण्डनिमित्तेषु पूर्वोक्तदण्डानामर्धमर्धं ग्राह्यम् ।

मनुः—" वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा ।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा " ॥

विष्णुः—" फलोपभोगद्रुमच्छेदी त्वुत्तमसाहसं दण्ड्यः । पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमम् । वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतम् । तृणच्छेद्येकम् । सर्वेषां च तत्स्वामिनां तदुत्पत्तिं दण्डपारुष्यम् ॥ २२९ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के दण्डपारुष्यप्रकरणम् ॥ १९ ॥]

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

## साहसप्रकरणम् । ( २० )

साहसं पत्याह—

**सामान्यद्रव्यप्रसभहरणं साहसं स्मृतम् ॥**

सामान्यस्यानेकेषां भ्रात्रादीनां[1] मध्यमकस्य धनस्य प्रसभं स्वामिसमक्षं तानवगणय्य हठादपहरणं साहसम् । एतच्च न साहसस्य लक्षणं किंतूपलक्षणम् । तल्लक्षणं त्वाह नारदः—

" साहसात्क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः ।
तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥
मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्ष(र्श)णम् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥
व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्ष(र्श)णम् ।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम्[2] ॥

---

१ ङ. °रणात्साह° । २ क. °नां स्वामिनां म° । ३ ग. घ. छ. ज. °म् । वासः प° ।

नाशः पश्वन्नयानानां गृहोपकरणस्य च ।
एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ” ॥

बृहस्पतिः—“ हीनमध्योत्तमत्वेन त्रिविधं तत्प्रकीर्तितम् ।
द्रव्यापेक्षो दमश्चात्र प्रथमो मध्य उत्तमः ” ॥

मध्यमकथनापहारे दण्डमाह—

**तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः ॥ २३० ॥**

अपहृतद्रव्यमूल्यमपेक्ष्य द्विगुणोऽपहर्तुर्दमः । अपहारापह्नवेऽपलापे तु कृते तन्मूल्याच्चतुर्गुणः ।

बृहस्पतिः—“ क्षेत्रोपकरणं सेतुं मूलपुष्पफलानि च ।
विनाशयन्हरन्दण्ड्यः शतोद्यमनुरूपतः ॥
पशुवस्त्रान्नपानानि गृहोपकरणं तथा ।
हिंसयंश्चौरवद्दाप्यो द्विशतोद्यं दमं तथा ॥
स्त्रीपुंसौ हेमरत्नानि देवविप्रधनं तथा ।
कौशेयं चोत्तमद्रव्यमेषां मूल्यसमो दमः ॥
द्विगुणो वा कल्पनीयः पुरुषापेक्षया नृपैः ।
हन्ता वा घातनीयः स्यात्प्रसङ्गविनिवृत्तये ” ॥

नारदः—“ तस्य दण्डः क्रियापेक्षः प्रथमस्य शतावरः ।
मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः ॥
उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते ।
वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने ॥
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे ।
स्यातां संव्यवहार्यौ द्वौ धृतदण्डौ तु पूर्वकौ ॥
धृतदण्डोऽप्यसंभाष्यो ज्ञेय उत्तमसाहसे ” ।

मनुः—“ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥
चर्म चार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च ।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ” ॥

कात्यायनः—“ क्षतं भङ्गोपमर्दौ च कुर्याद्द्रव्येषु यो नरः ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं द्रव्यभाक्स्वाम्युदाहृतः ” ॥ २३० ॥

---

१ क. °म्याक्षेपो द° । २ ग. 'तोऽयम° । ३ क. °तं मर्मोपभङ्गौ च ।

( साहसप्रकरणम् २० )

**यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ॥**
**यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥ १३१ ॥**

साहसकर्तुर्यो दण्ड उक्तः स तत्प्रयोजयितुर्द्विगुणः । यस्तु मदीयं साहसं भवान्कुरुते तदैवाहं धनं भवते दास्यामीत्युक्त्वा कारयति तस्य चतुर्गुणो दण्डः ।

कात्यायनः—" आरम्भकृत्सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ।
आश्रयशस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम् ॥
युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रदर्शकः ।
उपेक्षाकार्ययुक्तस्य दोषवक्तानुमोदकः ॥
अनिषेद्धा क्षमो यः स्यात्सर्वे तत्कार्यकारिणः ।
यथाशक्त्यनुरूपं तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत् ॥ २३१ ॥

**अर्घ्याक्रोशातिक्रमकृद्भ्रातृभार्याप्रहारकः ॥**
**संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥ २३२ ॥**
**सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः ॥**
**पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः ॥२३३॥**

अर्घ्याणां पूज्यानामप्रियोक्तिपरिभवयोः कर्ता, भ्रातृभार्यायास्ताडयिता, प्रतिश्रुतस्यामदाता, मुद्रावतो गृहस्य भेत्ता, सामन्तानां समीपगृहक्षेत्रादिस्वामिनां कुलिकानां कुलोद्भतानामन्येषां च साधूनामपकर्ता, इत्येतेषां प्रत्येकं पञ्चाशत्पणिको दण्डः शास्त्रेषु विनिश्चितः ।

मनुः—" अभक्ष्यमथ वाऽपेयं वैश्यादीन्भक्षयन्द्विजान् ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टदण्डानर्हेद्यथाक्रमम् ॥
पणाः शूद्रे भवेद्दण्डश्चतुष्पञ्चाशदेव तु ।
ग्रसितारः स्वयं कार्या राज्ञा निर्विषयास्तु ते " ॥

विष्णुः—" जातिभ्रंशकरस्याभक्ष्यस्य भक्षयिता निर्वास्यः " ।

मनुः—" अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि विद्वेषे कृत्यासु विविधासु च ॥
अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे[1] तु दण्डः प्रथमसाहसः ॥

---

१ ज. °था । मुनीनामपवेदे तु । २ घ. छ. °वेदे तु ।

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव विवासयेत् " ॥

तथा—" संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च " ॥

कात्यायनः—" हरेद्भिन्द्याद्धेद्वाऽपि देवानां प्रतिमा यदि ।
तद्गृहं चैव यो भिन्द्यात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् " ॥

विष्णुः—" अभक्ष्यस्याविक्रेयस्य विक्रयी देवप्रतिमाभेदकश्चोत्तम साहसं दण्डनीयः " ।

नारदः—" अविक्रेयाणि विक्रीणन्ब्राह्मणः प्रच्युतः पथः ।
मार्गे पुनरवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा " ॥

यमः—" यस्तु पूर्वनिषिद्धस्य तडाकस्योदकं हरेत् ।
आगमं चाप्यपां भिन्द्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥
तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
तद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद्दद्याद्वोत्तमसाहसम् " ॥

अत्र वधः शूद्रादेः । दण्डान्तरं द्विजातेः ॥ २३२ ॥ २३३ ॥

**स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेऽनभिधावकः ॥**
**अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमान्स्पृशन् ॥२३४**
**शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पित्र्ये च भोजकः ॥**
**अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥**
**वृषक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ॥**
**साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥**
**पितापुत्रस्वसृभ्रातृदंपत्याचार्यशिष्यकाः ॥**
**एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥ २३७ ॥**

स्वच्छन्देन स्वेच्छया न शास्त्रवशाद्विधवागामी, चौरादिभिरभिभूयमानेन जनेन विक्रुष्टेन धावत धावतेत्यार्तस्वने कृते विक्रोष्टारं प्रत्यनभिधावकः, अकारणे चौराद्युपद्रवविरहेऽपि विक्रोष्टा, उत्तमान्द्विजातीन्बुद्धिपूर्वं चण्डालः[1] स्पृशन्, शूद्राणां प्रव्रजितानां देवान्पितॄन्वोद्दिश्य भोजयिता, अयुक्तमनर्हं[2] कोशपानादिकं ब्राह्मणोऽपि कुर्वन्, अयोग्योऽनुपनीतोऽकृतप्रायश्चित्तो वा

१ क. लोकाद° । २ ग. घ. °र्हं कोश° ।

( साहसप्रकरणम् २० )

यद्योग्यस्योपनीतादेः कर्म कुर्वन् , वृषस्योक्ष्णः क्षुद्रपशूनामजाविकादीनां च पुंस्त्वप्रतिघातं वृषणमर्दनेन करोति, साधारणं स्वस्यान्यस्य च यद्रव्यं तस्यापलापी, दास्या गर्भस्य नाशकः, पित्रादीनामपतितानामन्योन्यत्यागी च, शतसंख्याकपणदण्डभाक् ।

शङ्खलिखितौ–" अत्याज्या माता तथा पिता सपिण्डा गुणवन्तः सर्वे वाऽत्याज्या यस्त्यजेत्कामादपतितान्स दण्डं प्राप्नुयाद्द्विगुणं शतम् । न मातापितरावतिक्रामेन्न गुरुं त्रयाणां व्यतिक्रमादङ्गच्छेदः " ।

गुरुरत्राऽऽचार्यो न पिता, तस्य पृथगुपादानात् । येनाङ्गेनातिक्रामेत्तस्य च्छेद इत्यर्थः ।

मनुः—" न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दाप्यः शतानि षट् " ॥

समुच्चितानां त्याग एतत् । इति साहसप्रकरणम् ॥ २३४ ॥ २३५ ॥ ॥ २३६ ॥ २३७ ॥

## वसानस्त्रीन्पणान्दाप्यो नेजकस्तु परांशुकम् ॥
## विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

रजको यदि परकीयं वासः प्रक्षालनाय नीतं स्वयं वस्ते परिधत्ते तदा त्रीन्पणान्दाप्यः । अथ तस्यैव वाससो विक्रयादिकं करोति तदा दश पणान्दाप्यः । अवक्रयो भाटकेन दानम् । आधानमुत्तमर्णे प्रत्याधित्वेन दानम् । याचितं याचितकम् ।

मनुः—" शाल्मले फलके श्लक्ष्णे निर्ज्याद्वासांसि नेजकः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् " ॥

वासोभिर्बद्ध्वा वासांसि न नयेत् । न वासयेत्स्वगृहे न स्थापयेदित्यर्थः । धनमादायाऽऽच्छादनार्थं न दद्यादिति वाऽर्थः ॥ २३८ ॥

## पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ॥
## अन्तरे तु तयोर्यः स्यात्तस्याप्यष्टगुणो दमः ॥२३९॥

पितापुत्रयोर्विरोधे वादे तयोर्विप्रतिपत्तेर्निराससमर्था अपि तामनिरस्य साक्षिणो ये भवन्ति तेषां त्रिपणो दमः । यस्तु तयोरन्तरे प्रतिभूत्वे जितधनादानाय तिष्ठेत्तस्य त्रिपणादष्टगुणो दण्डः ।

विष्णुः—"पितृपुत्रविरोधसाक्षिणां दशपणो दण्डः। यस्तयोरन्तरे तस्योत्तमसाहसः"।

निर्बन्धातिशय एतत्।

शङ्खलिखितौ—"पित्रापुत्रयोर्विरोधे साक्षी न तिष्ठेत्। यस्तिष्ठेत्स दण्ड्यः स्त्रीन्काषार्पणान्यश्चान्तरे तिष्ठेत्सोऽप्यष्टशतं दाप्यः"।

मध्यमापराधविषयमेतत्॥ २३९॥

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च॥
एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम्॥ २४०॥

तुलादीनां कूटकृत्, तथा कूटैश्च तुलादिभिर्ज्ञानपूर्वं यो व्यवहरति, स उत्तमसाहसं दाप्यः। धरिममेयानां मानदण्डस्तुला। शासनं "दत्त्वा भूमिं निबन्धं च" इत्यत्रोक्तम्। एतच्चोपलक्षणार्थम्। मानं कुडवादि। नाणकं द्रम्मादि॥ २४०॥

अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम्॥
स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम्॥ २४१॥

यो नाणकस्य द्रम्मादेः परीक्षया जीवति स चेदकूटं समीचीनमसमीचीनमिति ब्रूयात्कूटं चाकूटमिति। तदैव स उत्तमसाहसं दण्ड्यः। एतच्च तत्त्ववेदिनो रागद्वेषादिवशादन्यथा ब्रुवतो दमविधानम्॥ २४१॥

भिषङ्मिथ्याऽऽचरन्दाप्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम्॥
मानुषे मध्यमं राजमानुषे तूत्तमं दमम्॥ २४२॥

तिर्यक्षु गवादिषु मिथ्याचिकित्सामाचरन्वैद्यः प्रथमसाहसं दण्डं दाप्यः। मानुषे मध्यमसाहसं, राजसंबन्धिमानुषे तु पुनरुत्तमसाहसं दाप्यः। अयथाशास्त्रं मिथ्या।

व्यासः—"भिषजो द्रव्यभेदेन क्लेशयन्ति चिरं नरान्।
व्याधिप्रकोपं कृत्वा तु धनं गृह्णन्ति चाऽऽतुरात्"॥

बृहस्पतिः—"अजानन्नौषधं तन्त्रं यश्च व्याधेरतन्त्रवित्।
रोगिभ्योऽर्थमुपादत्ते स दण्ड्यश्चौरवद्भिषक्"॥

तन्त्रं शास्त्रम्।

विष्णुः—"उत्तमं साहसं दण्डनीयो भिषङ्मिथ्याऽऽचरन्नुत्तमेषु पुरुषेषु मध्यमं मध्यमेषु तिर्यक्षु प्रथमम्"॥ २४२॥

अबध्यं(न्ध्यं) यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति॥
अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम्॥ २४३॥

( साहसप्रकरणम् २० )

अबन्ध्यं[1] बन्धनानर्हमदोषं यो दर्पाद्बध्नाति, राज्ञा बद्धं निगडितं यो दर्पात्प्रमुञ्चति, यश्चाप्राप्तव्यवहारं वादिनं मुञ्चति, स उत्तमसाहसं दाप्यः ।

विष्णुः—" दण्डमुन्मोचयन्दण्ड्याद्द्विगुणं दण्डमावहेत् ।
नियुक्तश्चाप्यदण्ड्यानां दण्डकारी नराधमः " ॥

यो दण्ड्यदण्डने राज्ञा नियुक्तः स दण्ड्यादण्डं मुञ्चति अदण्ड्यं च दण्डयति, तस्य द्विगुणो दण्डः ॥ २४३ ॥

मानेन तुलया वाऽपि योंऽशमष्टमकं हरेत् ॥
दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥२४४॥

यो मानेन कुडवादिना तुलया वा पण्यस्य क्रयविक्रये वाऽष्टममंशमपहरेत्स पणशतद्वयं दाप्यः । अष्टमादंशाद्वृद्धावधिके हानावल्पेऽपहृते तदनुसारेण कल्पितं दण्डं दाप्यः ।

मनुः—" समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
स प्राप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥
अबीजविक्रयी यश्च बीजोत्कृ(त्क)ष्टा[2] तथैव च " ॥

समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टविषयद्रव्यदानेन यो व्यवहरत्यसौ पूर्वसाहसं प्राप्नोति । समे च द्रव्ये बहल्पं च मूल्यमाददानो मध्यमसाहसमित्यर्थः । अबीजविक्रयी अबीजं बीजत्वेन यो विक्रीणाति । बीजोत्कृ(त्क)ष्टा, उप्तं बीजं य उत्खननेन गृह्णाति ।

तथा—" मर्यादाभेदनाच्चैव विकृतं[3] प्राप्नुयाद्दमम् " ॥

तथा—" तुलामानं प्रतीमानं सर्वं तत्स्यात्सुरक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

बृहस्पतिः—" प्रच्छन्नदोषव्यामिश्रं पुनः संस्कृतविक्रयी ।
पण्ये तद्द्विगुणं दाप्यो वणिग्दण्डं च तत्समम् " ॥ २४४ ॥

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ॥
पण्येषु हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजादिषु पण्येषु हीनमल्पमूल्यं[5] पणं(ण्यं) क्षिपतो विक्षिपतो निश्चयतः षोडशपणो दण्डः । भेषजमौषधम् ॥ २४५ ॥

---

१ क. छ. अबध्यं २ ग. ज. °जोत्कुष्टा । घ. छ. °जोत्कुष्टा । ३ ग. घ. ज. विक्रयं । ४ ग. घ. ज. पणस्तद्द्वि° । ५ °ल्यं क्षि° ।

मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम् ॥
अजातौ जातिकरणे विक्रयेऽष्टगुणो दमः ॥ २४६ ॥

मृदादीनां मध्ये किंचिदनुत्कृष्टजातीयमपि तदुत्कृष्टजातीयद्रव्यसादृश्यमापाद्य क्रेतारं प्रति समीचीनमेतदिति भ्रान्त्यापादनेनासमीचीनं द्रव्यं दत्त्वा यः समीचीनद्रव्यमूल्यमादत्ते, तस्य तत एव मूल्यादष्टगुणो दण्डः। यथा मृदः कस्तूरिकया कस्तूरिकाभ्रान्तिकरणेनाधिकमूल्यापादानम्। एवं चर्मादिष्वपि संभवति। वल्कलं वृक्षत्वक्।

बृहस्पतिः—" अल्पमूल्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूल्यताम्।
स्त्रीबालकान्वञ्चयन्ति दण्ड्यास्तेऽर्थानुरूपतः ॥
हेममुक्ताप्रवालाद्यं कृत्रिमं कुर्वते तु ये।
क्रेत्रे मूल्यं प्रदाप्यास्ते राज्ञा तद्द्विगुणं दमम् ॥ २४६ ॥

समुद्रपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ॥
आधानं विक्रयं वाऽपि नयतो दण्डकल्पना॥ २४७॥
भिन्ने पणे तु पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ॥
द्विपणे द्विशतो दण्ड्यो(ण्डो) मूलवृद्धौ तु वृद्धिमान् २४८

मुद्रया द्वारबन्धेन सह वर्तत इति समुद्रम्। तदन्यत्समीचीनं प्रदर्श्यान्यत्ततोऽपकृष्टं क्रेत्रे चोत्तमर्णाय वा कौशलेन भ्रान्ति जनयन्नर्पयति। यश्चासारमल्पमूल्यं मृदादिकं सारभाण्डतया कस्तूरिकादिमहार्घपण्यतया परं प्रत्यार्धानकृते नयति विक्रीणीते वा तस्य दण्डकल्पनोच्यते। भिन्ने पणे पणादल्पमूल्ये द्रव्य आहिते विक्रीते वा पञ्चाशत्पणो दण्डः। पणमूल्ये तु पणशतम्। द्विगुणमूल्ये तु द्वे पणशते। इत्थं यावन्तः पणा मूल्यस्य वर्त(र्ध)न्ते तावन्ति पणशतानि दण्डे वर्धनीयानि ॥ २४८ ॥

संभूय कुर्वतामर्घं संबाधं कारुशिल्पिनाम् ॥
अर्घस्य ह्रासे वृद्धौ वा साहस्रो दण्ड उच्यते॥२४९॥

पण्यानां राजकृतमर्घं विदित्वा ततोऽन्यथाभूतमर्घं वाणिज्याजीविनां कारुशिल्पिप्रभृतिजनस्य संबाधं पीडाकरं कुर्वतां राजकृतार्घापेक्षयाऽर्घस्य ह्रासे वृद्धौ वा पणसहस्रपरिमितो दण्डः कार्यः ॥ २४९ ॥

---

१ क. °द्रयोद्वारबन्धनेन। २ ग. घ. ज. °धाने कृ°। ३ ङ. सबाधं। ४ ङ. °र्धंह्रासं च वृद्धिं वा जानतां दण्ड उत्तमः।

( साहसप्रकरणम् २० )

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम् ॥
विक्रीणतामभिहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ २५० ॥

राजनिर्मितमर्घमगणयित्वा स्वयं कल्पितेन महताऽर्घेण वणिजां मिलितानां वणिगन्तरैराहृतं पण्यमुपरुन्धतां विरुद्धं विक्रयं कुर्वतां, तथा राजकृतादर्घाद्धिहीनार्घापादनेन स्वकीयस्य पण्यस्य निर्गमं(मं) कुर्वतामुत्तमसाहसो दण्डः ।

मनुः—" राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निक्षिपतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः " ॥ २५० ॥

येनार्घेण व्यवहारो वणिग्भिः कार्यस्तमाह—

राजभिः स्थापितो योऽर्घः प्रत्यहं तेन विक्रयः ॥
क्रयो वा निस्रवस्तस्माद्वणिजां लाभकः स्मृतः॥२५१॥

राजभिर्योऽर्घः स्थापितो निर्मितस्तेन वणिग्भिः प्रत्यहं विक्रयः क्रयश्च कार्यः । तस्मादर्घाद्यो निस्रवो द्रव्योत्कर्षः स एव वणिजां प्रशस्तो लाभः । नान्यथा । मनुः—

" आगमं निगमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वं पण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥
पञ्चरात्रे सप्तरात्रे पक्षे मासे तथा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः " ॥ २५१ ॥

स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग्गृह्णीत पञ्चकम् ॥
दशकं पारदेशे तु यः सद्यः क्रयविक्रयी ॥ २५२ ॥

यः क्रयदिन एव पण्यं वणिग्विक्रीणीते स स्वदेशागते पण्ये पञ्चकं देशान्तरादागते तु दशकं शतं गृह्णीयात् ॥ २५२ ॥

क्रयदिनादिनान्तरविक्रयविषयमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् ॥
अर्घोऽनुग्राहकः कार्यः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ॥ २५३ ॥

[इति साहसप्रकरणम् ॥ २० ॥]

स्वदेशपरदेशादागतस्य पण्यस्योपरि तत्प्रतिबद्धो व्ययः संस्थाप्यः, पण्ये-

---

१ क. °ममकुं । २ क. राज्ञा । ३ क. निर्हरतो । ४ क. राजनि । ५ क. °भक्तस्मृतः । ६ ङ. °देश्ये तु ।

नैव तन्निबन्धनं सकलं व्ययं परिशोध्य क्रेतुर्विक्रेतुश्च तुल्यानुग्रहहेतुरर्धो राज्ञा परिकल्पनीयः ॥ २५३ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के साहसप्रकरणम् ॥ २० ॥ ]

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् । ( २१ )

---

संप्रति विक्रीयासंप्रदानं नाम विवादपदमारभते । तत्स्वरूपमाह नारदः—

" विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते ।
विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते " ॥

पण्यविक्रयार्थं मूल्यं गृह्णाति पण्यं च न ददातीति विवादपदमनेनोक्तम् ।

तथा—" लोकेऽस्मिन्द्विविधं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं तथा ।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत्पण्यमुच्यते ॥
षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः ।
गणिमं तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया " ॥

गणिमं पूगादि, तुलिमं हिरण्यादि, मेयं व्रीह्यादि, क्रियया दोहनवाहनादिकया च गवाश्वादि, रूपतः पण्याङ्गनादि, श्रिया धनेन ग्रामारामादि श्रिया कान्त्या वा रत्नादि । तत्र मूल्यं गृहीत्वा पण्यमनर्पयतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ॥
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते ॥२५४॥

यस्य पण्यस्य मूल्यं विक्रेत्रा गृहीतं तद्गृहीतमूल्यं तद्यो विक्रेता क्रेतुर्न समर्पयति स तत्पण्यं तन्निबन्धनेन सोदयमुदयेन धनलाभेन सहितं क्रेतुरर्पयेत् । यदि पुनर्विक्रेतुं दिगन्तरे पण्यं नीतं तदा तत्र दिगन्तरे तस्य विक्रीतस्य पण्यस्य यो लाभो भवति, तेन सहितं तत्तस्य देयम् । न(स) चोपचय उच्यते । अत्रोदयो [न] दिग्लाभरूपः । किं तु सर्वा मूल्यस्य वृद्धिः । पण्यस्य च तत्कालविक्रये यो लाभस्तेनोभयेन सहितं पण्यं देयम् । विक्रीयानुशयाँ-

---

१ ग. घ. छ मूलेन । २ ग. घ. छ. मूलेन । ३ ग. घ. छ दिशाग° । ४ क. तत्तन्निबन्धनमूल्यनिबन्धेन सो° । ५ ग. घ. छ. ज. विक्रेयानु° । ६ ग. °यालाभे प° ।

( विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् २१ )

भावे पण्यमप्रयच्छत एतत् । अनुशयवशादप्रयच्छति ( *तु विवादान्तरम् ।

नारदः—" विक्रीय पण्यं मूलेन क्रेतुर्यन्न प्रयच्छति । )
स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥
अर्घश्चेदपचीयेत सोदयं पण्यमावहेत् ।
स्थायिनामेष नियमो दिग्लाभो दिग्विचारिणाम् " ॥

स्थावरस्य क्षयमिति स्थावरविषयं, क्रेतुरुपभोगक्षयं दाप्य इत्यर्थः । क्रिया भारवाहनादिका । फलं क्षीरादि ।

विष्णुः—" गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव दद्यात्तस्यासौ सोदयं
दाप्यो राज्ञा च पणशतं दण्ड्यः " ।

नारदः—" उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापहियेत वा ।
विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः " ॥ २५४ ॥

**विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णति ॥**
**हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥**

यदा तु मूल्यं दत्त्वा पण्यं न गृह्णाति तदा विक्रेत्रा तदन्यत्र विक्रेयम् । यदि तन्नश्यति तदा क्रेतुरेव तन्नश्यति । तस्य मूल्यं न प्रत्यर्पणीयमित्यर्थः ।

नारदः—" दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी ।
स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः " ॥

विक्रेतुर्दोषः " उपहन्येत वा पण्यम् " इत्याद्युक्तः ॥ २५५ ॥

उक्तस्यापवादमाह—

**राजदैवोपघातेन पण्यदोष उपागते ॥**
**हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः ॥ २५६ ॥**

यदा तु ग्राहकेण याचितोऽपि गृहीतमूल्यं पण्यं दायको न ददाति, तदा तद्विनाशो राजदैवादिकृतो दायकस्यैव । ततश्च तेन ग्राहकस्य तुष्टये पण्यान्तरं मूल्यं वा प्रत्यर्पणीयम् ॥ २५६ ॥

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतं ग. घ. छ. ज. पुस्तकेषु नास्ति ।

---

१ ग. घ. ज. °दः । अप° । २ ग. घ. छ. °ल्यं प्र° । ३ ग. घ. ज. दयति । ४ ग. घ. ज. °प्यानन्त° ।

**अन्यहस्ते च विक्रीतं दुष्टं वाऽदुष्टवद्यदि ॥**
**विक्रीणीते दमस्तत्र मूल्याच्च द्विगुणो भवेत् ॥२५७॥**

येन विक्रेत्रा पण्यमेकत्र विक्रीतं तदेव पण्यं तेनैव दायकेनान्यहस्ते विक्रीतमन्यस्य विक्रीतमिति यावत् । तथा यः पण्यं सदोषं जानन्नपि निर्दोषमित्र दोषान्प्रच्छाद्य विक्रीणीते, तस्य विक्रेतुर्मूल्याद्विगुणो दमो भवति । चकाराद्विगुणमेव मूल्यं क्रेतुः प्रत्यर्पणीयम् ।

नारदः—" अन्यहस्ते तु विक्रीतं योऽन्यस्मै तत्प्रयच्छति ।
द्रव्यं तद्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥
सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत् " ।

इति दत्ताप्रदानिकं नाम ॥ २५७ ॥

क्रयकर्तुरनुशयं प्रति किंचिदाह—

**क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता ॥**
**क्रीत्वा नानुशयः कार्यः कुर्वन्षड्भागदण्डभाक् ॥ २५८ ॥**

[ इति विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् ॥ २१ ॥ ]

क्रीतस्य पण्यस्य यन्मूल्यं तदीयक्षयवृद्धी सम्यगपरिभावयता क्रीत्वा नानुशयः पश्चात्तापः कार्यः । क्षयवृद्धिज्ञस्तु सद्य एवानुशयीत ।

नारदः—" क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी ।
विक्रेतुः प्रतिदेयं[1] तत्तस्मिन्नेवाह्नयविक्षितम् ॥
द्वितीयेऽह्नि ददत्क्रेता मूल्यात्त्रिंशांशमाहरेत् ।
द्विगुणं तत्तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् " ॥

एतच्चापरीक्षितपण्यविषयम् । यदाह स एव—

* " क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक्स्वयं गुणदोषतः ।
परीक्षाभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः " ॥

परीक्षाकालश्चोक्तः—" दशैकमसप्तपञ्चाह[2] " इत्यादिना । एवंच सत्युक्तकालायां परीक्षायां सत्यामनुशयकर्तुर्[3]मूल्यस्य षष्ठोंऽशो दण्डः । ( *अकृतायामपि सत्यामनुशयकर्तुः स एव मूल्यस्य षष्ठोंऽशो दण्डः । ) यदा पुनरदुष्टं पण्यं क्रीत्वाऽनुशयकाल एव क्रेता सानुशयो भवति तत्राऽऽह कात्यायनः—

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थो न विद्यते ग. घ. छ. ज. पुस्तकेषु।

---

१ ग. घ. छ. ज. 'देयेत तस्मिं' । २ क. °कपञ्चसप्ताह । ३ क. 'कर्तुः स एव मू° ।

( संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२ )

" क्रीत्वा सानुशयात्पण्यं त्यजेद्दोषादि यो नरः ।
अदुष्टमेव काले तु स मूल्याद्दशमं वहेत् ॥
क्रीत्वा गच्छन्ननुशयं क्रेये हस्तमुपागते ।
षड्भागं तत्र मूल्यस्य दत्त्वा क्रीतं त्यजेद्गुः " ॥

अनुशयकालादूर्ध्वमेतत् ।

बृहस्पतिः—" परीक्षेत स्वयं पण्यमन्येषां च प्रदर्शयेत् ।
परीक्षितं बहु मतं गृहीत्वा न पुनस्त्यजेत् " ॥

मनुः—" क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहे तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाऽऽददीत वा ।
परेण तु दशाहस्य न दद्यान्न च दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दाप्यः शतानि षट् " ॥

इति क्रयविक्रयानुशयप्रकरणम् ॥ २५८ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् ॥ २१ ॥]

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

## संभूयसमुत्थानप्रकरणम् । ( २२ )

संभूयसमुत्थानं नाम विवादपदमारभते—

**समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ॥**
**लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ॥२५९॥**

समवायो मेलकः समूह इति यावत् । तेन वणिजां वणिगादीनां लाभार्थमधिकधनलाभार्थं कर्म वणिज्यादि कुर्वतां लाभक्षयौ यैर्यैव द्रव्यं मेलितं यथैव वा संवित्कृता तद्द्रव्यं परिगुणीकृतं तथैव तदनुसारेण विभाजनीयौ ।

नारदः—" वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते ।
तत्संभूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् " ॥

बृहस्पतिः—" अशक्तालसरोगार्तमन्दभाग्यनिराश्रयैः ।
वणिज्याद्याः सहैतैस्तु न कर्तव्या बुधैः क्रियाः " ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. क्रयो ह° । २ ग. घ. छ. °भागस्तत्र । ३ ग. °जेदुरुः । अ° । ४ क. यथाद्रव्यं मिलि° । ५ ग. घ. छ. ज. °तं तथै° । ६ क. विदुः ।

आश्रयो मूलधनम् ।

" कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः ।
आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सह क्रियाः " ॥

नारदः—" फलहेतोरुपायेन कर्म संभूय कुर्वताम् ।
आधारभूताः प्रक्षेपा उत्तिष्ठेरंस्ततोंऽशतः " ॥

संभूय कर्म कुर्वतामाधारभूत आश्रयभूतो मूलधनं प्रक्षेपः । ततस्तमवेक्ष्योत्तिष्ठेरन्पृथग्धना भवेयुः ।

" समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्रांशो यस्य यादृशः ।
क्षयाक्षयौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः ॥
समो न्यूनोऽधिको वांऽशो येन क्षिप्तस्तथैव सः ।
दायं दद्यात्कर्म कुर्याल्लाभं गृह्णीत चैव हि " ॥

कात्यायनः—" समवेतास्तु ये केचिच्छिल्पिनो वणिजोऽपि वा ।
अविभज्य पृथग्भूतैः प्राप्तं तत्र फलं समम् " ॥

अयमर्थः—पित्रादिधनमविभज्य भ्रातृभिर्यत्फलमविभक्तैः प्राप्तं तत्समं विभजनीयं न विषममिति ।

" भाण्डपिण्डव्ययोद्धारभारसारार्थवीक्षणम् ।
कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समयेन व्यवस्थिताः " ॥

भाण्डं विक्रेयं द्रव्यं, पिण्डं पाथेयम् ।

व्यासः—" समक्षमसमक्षं वाऽवञ्चयन्तः परस्परम् ।
नानापण्यानुसारेण प्रकुर्युः क्रयविक्रयौ " ॥

बृहस्पतिः—" परीक्षकाः साक्षिणश्च त एवोक्ताः परस्परम् ।
संदिग्धेऽर्थेऽवञ्चनीया न चेद्विद्वेषसंयुताः ॥
यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रयविक्रये ।
शपथैः स विशोध्यः स्यात्सर्ववादेष्वयं विधिः " ॥

कात्यायनः—" प्रयोगं कुर्वते ये तु हेमधान्यरसादिना ।
समन्यूनाधिकैरंशैर्लाभस्तेषां तथाविधः ॥
बहूनां संमतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः ।
ऋणं च कारयेद्वाऽपि सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥
ज्ञातिसंबन्धिसुहृदामृणं देयं सबन्धकम् ।
अन्येषां लग्नकोपेतं लेख्यसाक्षियुतं तथा ॥

---

१ ग. °श्चिद्वन्धक°।

( संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२ )

स्वेच्छादेयं हिरण्यं तु रसा धान्यं च सावधि ।
देशस्थित्या प्रदातव्यं ग्रहीतव्यं तथैव च ॥
समवेतैस्तु यद्दत्तं प्रार्थनीयं तथैव तत् ।
न च याचेत यः कश्चिल्लाभात्स परिहीयते " ॥ २५९ ॥

**प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ॥**
**स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षितां दशमांशभाक् ॥ २६० ॥**

संभूयकारिभिरिदमित्थं न कार्यमिति प्रतिषिद्धं व्यापारमाचरता तथाऽनादिष्टमनुक्तं कर्म कुर्वता तत्समुदायमध्यवर्तिना प्रमादात्प्रज्ञापराधाद्धनं विनाशितं तत्तेनैवेतरेभ्यो देयम् । येन तु राजदैवकृताद्विप्लवाद्विनाशाद्धनं परिरक्षितं स तस्य दशममंशमधिकं भजेत ।

बृहस्पतिः—" अनिर्दिष्टो वार्यमाणः प्रमादाद्यस्तु नाशयेत् ।
तेनैव तद्भवेद्देयं सर्वेषां समवायिनाम् ॥
दैवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।
तस्यांशं दशमं दत्त्वा गृह्णीयुस्तेऽशतोऽपरम् " ॥ २६० ॥

**अर्धप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ॥**
**व्याप्तिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥**

पण्यस्यार्धप्रक्षेपणान्मूल्याद्विंशतितमं भागं शुल्कसंज्ञितं राजा गृह्णीयात् । यत्तु राज्ञा नेदमत्र विक्रेतव्यमिति प्रतिषिद्धविक्रयं, यत्तु(च्च) राजयोग्यं गजतुरंगादि अनिषिद्धविक्रयमपि, तदुभयं विक्रीतमपि राजगामि न क्रेतृगामि ।

मनुः—" शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् " ॥

राज्ञ इत्यनुवृत्तौ गौतमः—" विंशतिभागाः शुल्कं पण्ये मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः । तद्रक्षणधर्मित्वात्तेषु नित्ययुक्तः स्यात् " ।

बौधायनः—" सामुद्रशुल्को वरं रूपमुद्धृत्यै दशपणं शतमन्येषामपि सारानुसारेणानुपहत्य धर्मं प्रकल्पयेत् " ।

सामुद्रस्य पण्यस्य यद्वरं स एव शुल्कः । तमुद्धृत्य दशकं शतं ग्राह्यम् । अन्येषामपि द्रव्याणां सारानुरूपेण धर्ममनुपहत्य शुल्कं कल्प्यमित्यर्थः ।

---

१ ङ. °ताद्दश° । २ ग. घ. छ. ज. °शतः । सं° । ३ ग. घ. छ. दिष्टे वा° । ४ क. °द्रक्षिण° । ५ ग. घ. छ. ज. °ल्य शतप° । ६ क. °पहत्य धनं प्र° । ७ क. °पहत्य ।

**वसिष्ठः**—" न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्कं न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न द्यूते ।
न भैक्ष्यलब्धे न *हुतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे " इति ।

**मनुः**—" राज्ञा प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वस्वं हारयेन्नृपः " ॥

**विष्णुः**—" राजनिषिद्धं विक्रीणतस्तदपहारः " ।

**अस्माच्च वचनाद्गम्यते**—प्रतिषिद्धं विक्रीणता पूर्वक्रेतुर्मूल्यमर्पणीयं, राज्ञा च मूल्यं विनैव प्रतिषिद्धक्रयं भाण्डमपहार्यमिति ॥ २६१ ॥

**मिथ्या वदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ॥**
**दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥**

**पण्यविक्रयी पण्यपरिमाणं शुल्कहानये मिथ्या वदञ्शुल्कग्रहणस्थानाच्चापाक्रामन्वणिक्शुल्कादष्टगुणं दण्ड्यः । यश्च सव्याजौ शौल्किकप्रतारणवन्तौ क्रयविक्रयौ करोति, सोऽपि शुल्कादष्टगुणं दण्ड्यः ।**

**नारदः**—" शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् " ॥

**अत्ययोऽतिक्रमनिमित्तो दण्डः ।**

**बृहस्पतिः**—" शुल्कस्थानं वणिक्प्राप्तः शुल्कं दद्याद्यथोचितम् ।
न तद्व्यभिचरेद्राज्ञां बलिरेष प्रकीर्तितः " ॥

**विष्णुः**—" शुल्कस्थानमपक्र(क्रा)मन्सर्वस्वापहारमाप्नुयात् " ॥ २६२ ॥

**तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्यः पणान्दश ॥**
**ब्राह्मणः प्रतिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥**

**तरिको जलशुल्काधिकारी स्थलोद्भवं शुल्कं गृह्णन्राज्ञा दश पणान्दाप्यः । ब्राह्मणभोजने कार्ये प्रतिवेश्यानां समीपगृहस्वामिनां निमन्त्रणाकरणे ब्राह्मणो दश पणानित्येव दाप्यः । जलशुल्कमाह मनुः—**

" पणं यानं तरे(रं) दाप्यः पुरुषोऽर्धपणं तरम् ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं द्विकरः पुमान् ॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः " ॥

---

* मिताक्षरायां हतावशेष इति पाठः ।

---

१ क. ज. द्यूते । २. ग. न सुता° । ३ क. 'ताशलब्धे न श्रो° । ४ ङ. °ह्मणप्राप्तिं° ।

( संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२ )

अस्यार्थः—तरे(रं) जलोत्तरं यानं शिबिकादिकं पणं दाप्यः (प्यम्), पुरुषश्चार्धपणं दाप्यः । पशुः पणस्य चतुर्थांशं योषिच्च दाप्यः, पुमांश्च द्विकरो रिक्तहस्तः । भाण्डैः पूर्णानि यानानि प्रत्येकं यथासारतस्तार्यं नद्यादितरणनिमित्तं शुल्कं दाप्यानि । तान्येव रिक्तभाण्डानि यत्किंचिदल्पं तार्यं नद्यादिपणनिमित्तं शुल्कं दाप्यानि, पुमांसश्चापरिच्छदा अपरिकरा दाप्याः । अत्रापवादं स एवाऽऽह-" गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।

ब्राह्मणो लिङ्गिनश्चैव *न दाप्यास्तारिकान्त(त)रे " ॥

तथा—" प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।

अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् " ॥

मुनिश्चान्द्रायणादिकारी । लिङ्गिनो ब्रह्मचार्यादयः । अनुवेश्यः स्वगृहात्तद्गृहा(ह) द्रष्टा । विंशतिर्द्विजा यत्र कल्याणे तद्विंशतिद्विजम् । कल्याणं शोभनम् ।

" श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।

तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हैरण्यं चैव माषकम् ॥

भूतिकृत्यानि बहुधनसाध्यानि ब्राह्मणभोजनादीनि मङ्गलप्रधानानि ।

विष्णुः—"येषां देयः पन्थास्तेषां सु(त्व)पथदायी कार्षापणपञ्चविंशतिं दण्ड्यः । आसनार्हस्याऽऽसनमदत्त्वा पूजार्हमपूजयंश्च प्रातिवेश्यब्राह्मणातिक्रामी च निमन्त्रयित्वा भोजनादायी च निमन्त्रितस्तथेत्युक्त्वानभुञ्जानः सुवर्णमाषकं निकृंतयितुश्च द्विगुणमन्नम् " ॥

मत्स्यपुराणे—" निमन्त्रितो द्विजो यस्तु वर्तमानः प्रतिग्रहे ।

निष्कारणं न गच्छेत स दाप्योऽष्टशतं दमम् " ॥ २६३ ॥

संभूयकारिणो मृतस्य धनाधिकारिणां क्रममाह—

देशान्तरगते प्रेते धनं दायादबान्धवाः ॥
ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः ॥ २६४ ॥

संभूयकारिणि देशान्तरगते मृते तद्धनं दायादाः पुत्रा गृह्णीयुः । तदभावे बान्धवाः संबन्धिनः पत्नी दुहितर इत्याद्याः । तेषामभावे ज्ञातयः समानोदकाः । तेषामभावे संभूयकारिणस्तेन सहाऽऽगताः । तदभावे नृपः ।

---

* न दाप्यस्तारिकं नरा इति पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ क. जलेतु (त) रं । २ ग. घ. ज. °र्हो विभो° । ३ ग. घ. ज. °णाधिका° । ४ म. घ. छ. ज. °दन्नैर्द्विगु° । ५ ग. घ. ज. °ण्यं दैवमाषिक° ।

संभूयकारिणां द्रव्याधिकारित्वप्राप्त्यर्थं वचनम्। अन्यैस्तु पत्नी दुहितर इत्याद्युक्तमनूद्यते।

नारदः—" एकस्य चेत्स्याद्व्यसनं दायादोऽस्य तदाऽऽप्नुयात्।
अन्यो वाऽसति दायादे सक्तश्चेत्सर्व एव वा " ॥

व्यसनं मरणं, सक्तः[3] संबद्धः, सर्वे संभूयकारिणः।

"कश्चिच्चेत्संचरन्देशान्प्रेयादभ्यागतो वणिक् ॥
राजाऽस्य भाण्डं तद्रक्षेद्यावद्दायाददर्शनम्।
दायादेऽसति बन्धुभ्यो ज्ञातिभ्यो वा तदर्पयेत् ॥
तदभावे स्वगुप्तं[4] तद्धारयेद्दश वत्सरान्।
अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं धनम् ॥
राजा तदात्मसात्कुर्यादेवं धर्मो न हीयते " ॥

दायादः पुत्रः।

बृहस्पतिः—" एकक्रियाप्रवृत्तानां[5] यदा कश्चिद्विपद्यते।
तद्बन्धुना क्रिया कार्या सर्वैर्वा सहकारिभिः ॥ २६४ ॥

## जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत् ॥

संभूयकारिणां यो जिह्मः कुटिलः प्रातिस्विककर्मकारीति यावत्। तमितरे निर्लाभं लाभरहितं कृत्वा त्यजेयुः पेटकाद्बहिः[6] कुर्युः। यदि पुनर्न जैह्म्यात्कर्म न करोति किंत्वशक्तेस्तदाऽन्येन तत्कारयेत्॥

उक्तमर्थमृत्विगादिष्वतिदिशन्नाह—

## अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम्[7] ॥२६५॥

अनेन वणिजां धर्मेण ऋत्विगादीनां धर्मविधिराख्यातो वेदितव्यः। ततश्च वृतेनर्त्विजा व्याध्यादिवशात्कर्म कर्तुमशक्तेनान्येन तत्कारयितव्यम्। शाठ्याच्चेन्न करोति त्याज्य एव। तदाह वसिष्ठः—

" ऋत्विगाचार्यावयाजकानध्यापकौ हेयावन्यत्र हानात्पतति "।

नारदः—" ऋत्विजां व्यसनेऽप्येवमन्यस्तत्कर्म निर्हरेत्।
लभेत दक्षिणाभागं स तस्मात्संप्रकल्पितम् " ॥

मनुः—" ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥

---

१ ग. घ. छ. °दे शक्त°। २ ग. घ. छ. शक्तः। ३ क. सुगुप्तं। ४ ग. घ. छ. ज. °या-विपन्नानां। ५ ग. घ. छ. ज. °द्बन्धना। ६ क. पेठका'। ७ क. °त्विक्कार्षिक°।

( संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२ )

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयेत् ।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥
सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽर्धिनः ॥
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः " ।

सर्वमेव कर्म कुर्युश्चेदृत्विजस्तदाऽशेषमंशं यजमानादादद्युः । तत्र सर्वेषामृत्विजां मध्ये ये मुख्याश्च महर्त्विजो होतृब्रह्माध्वर्यूद्गातार ईषत्न्यूनार्धग्रहणेऽपि साभीप्यतस्तेऽर्धिनो दक्षिणार्धस्वामिनः । ये त्वर्धिनो द्वितीयिनो ब्राह्मणाच्छंसिप्रशास्तृप्रस्तोतृप्रतिप्रस्थातारस्तेऽर्धिनो महर्त्विग्भागार्धि(र्धि)नः कार्याः । ये तृतीयांशिन आग्नीध्राच्छावार्ध(क)प्रतिहर्तृनेष्टारस्ते महर्त्विग्दक्षिणायास्तृतीयमंशं लभन्ते । ये तु पादिनश्चतुर्थांशिनो ग्रावस्तुत्पोतासुब्रण्योन्नेतारो महर्त्विग्दक्षिणायाश्चतुर्थमंशं लभन्त इति ।

" यस्य कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः ।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा " ॥

अङ्गमङ्गं प्रति ऋत्विग्विशेषसंबन्धेन समाम्नाता दक्षिणास्ताः किमेकैकेन ग्राह्या यत्संबन्धेन समाम्नाताः । यथाऽभिषेचनीये हिरण्यप्राकाशावध्वर्यवे ददातीति तेनैवाध्वर्युणा ग्रहीतव्या उताध्वर्युद्वारमात्रं, सर्वे विभज्य गृह्णीरन्निति संशयः ।

मनुबृहस्पती—" रथं हरेदथाध्वर्युर्ब्रह्माऽऽधाने च वाजिनम् ।
होता चापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये " ॥

पूर्वोक्तसंशयेऽयं निर्णयः—केषांचिच्छाखिनामाधानेऽध्वर्यवे रथ आम्नायते, ब्रह्मणे वेगवानश्वः । होत्रे चाश्व उद्गात्रे सोमक्रये सोमवहनं शकटमेवं व्यवस्थायां ददातिर्मुख्यार्थो भवति । पुरुषसंयोगश्च नादृष्टो भवति ।

यदुक्तं मनुना—" ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् "

इति, तत्क्रमागतेषु स्वयंवृत्तेषु ऋत्विक्षु द्रष्टव्यम् ।

शङ्खलिखितौ—अथर्त्विजि वृते पश्चादन्यं वृणुयात्पूर्ववृत्तस्यैव दक्षिणायाः पश्चादाहृतः किंचिल्लभते प्रवसेच्चेत्कालं निमित्तं चावेक्षमाणस्तं कालमपेक्षेत नान्तरा यजेत् । स्यादात्ययिको वा तं क्रतुं संपादयेत् । प्रोष्य प्रत्यागतश्च किंचिल्लभेत ।

---

१ क. °त्र ऋत्विगंशं यजमान आददीत । स° । २ ग. घ. छ. °नावप्र° । ३ क. °व्यप्रका° । ४ क. °ल्लभेत । प्र° । ५ ग. घ छ. °त्ययको ।

अथ चेत्प्रतिषिद्धः प्रवसेत्कामादनुप्राप्तः सवने स ऋत्विक्शतं दण्ड्यः स एव चादुष्टस्तस्य ऋत्विक्कुलोपाध्यायः । एवं व्याधितपतितोन्मत्तप्रहीन(ण) प्रध्वस्तेष्वसंप्रदानकरणमृत्विक्षु । कामाच्चेदपतितं याज्यं त्यजेदृत्विक्प्राप्नुयाद्विंशतं दण्डं, याज्यश्चैत्यजेत्तदेवाऽऽप्नुयात् । त्याग ऋत्विजोऽपतितस्य । कामपतितमश्रोत्रियं त्यजेत् । याज्यं चाभिशस्तमदातारम् " ।

**कालं पक्षमासादि । निमित्तं विवाहादि । स्यादात्ययिक इति, अत्यय एवाऽऽत्ययिकः । तेन यदि तत्परीक्षणे यज्ञात्ययो यज्ञबाधः संभाव्यते, तदा ऋत्विगन्तरेण तं यज्ञं निष्पादयेदित्यर्थः । प्रहीनोऽ(णोऽ)भिशापादिना त्यक्तः । प्रध्वस्तोऽतिवृद्धः ।**

**बृहस्पतिः**—" प्रयोगः पूर्वमाख्यातः समासेनोदितोऽधुना ।
श्रूयतां कर्षकादीनां विधानमिदमुच्यते " ॥

**प्रयोग ऋत्विगादिधनप्रयोगः ।**

" बाह्यैः कर्षकबीजाद्यैः क्षेत्रापकरणेन च ।
ये समानास्तु तैः सार्धं कृषिः कार्या विजानता ॥
बाह्यबीजात्ययाद्यत्र क्षेत्रहानिः प्रजायते ।
तेनैव सा प्रदातव्या सर्वेषां कृषिजीविनाम् ॥
एष धर्मः समाख्यातः कीनाशानां पुरातनः ।
हिरण्यकुप्यसूत्राणां काष्ठपाषाणचर्मणाम् ॥
संस्कर्ता तु कलाभिज्ञः शिल्पी चोक्तो मनीषिभिः ।
हेमकारादयो यत्र शिल्पं संभूय कुर्वते ॥
कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशतः " ।

**कीनाशाः कृषीवलाः ।**

**कात्यायनः**—" शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्यश्चेति शिल्पिनः ।
एकद्वित्रिचतुर्भागान्हरेयुस्ते यथोत्तरम् " ॥

**बृहस्पतिः**—" हर्म्यं देवगृहं वाऽपि धार्मिकोपस्कराणि च ।
संभूय कुर्वतां चैषां प्रमुखो ह्यंशमर्हति ॥

---

१ क. °दुष्ट ऋ° । २ क छ ज. °स्तेषु संप्र° । ३ क. °त्विक्प्रका° । ४ क. °क्षणं य° । ५ क. °तां कार्ष° । ६ क. °ह्यकार्ष° । ७ क. °मुख्यो ह्यं° ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

नर्तकानामेष एव धर्मः सद्भिरुदाहृतः ।
तालज्ञो लभतेऽध्यर्धं गायनास्तु समांशिनः ॥
स्वाम्याज्ञया तु यश्चौरैः परदेशात्समाहृतम् ॥
राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं भजेयुस्ते यथांशतः ।
चतुर्रोऽशांस्ततो मुख्यः शूरस्त्र्यंशं समाप्नुयात् ॥
समर्थस्तु हरेद्द्व्यंशं शेषाः सर्वे समांशिनः ॥ २६५ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के संभूयसमुत्थानप्रकरणम् ॥ २२ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# स्तेयप्रकरणम् । ( २३ )

---

चौरस्य दण्डनार्थं परिज्ञानोपायमाह—

**ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ॥**
**पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासकः ॥ २६६ ॥**

ग्राहकैश्चौरग्रहणाधिकृतैर्लोप्त्रादिना चौरो गृह्यतेऽवगम्यते । लोप्त्रमपहृतद्रव्यैकदेशः । पांसुकर्दमादिवर्ती पादाङ्कः पदं तस्य पुरुषस्य पादेन संमितम् । यस्य गृहं प्रति नष्टदेशादारभ्य पदपरम्परा जाता सोऽपि चौरः । अपहृतस्य गवादेः पदपरम्परा यस्य गृहं प्रति प्रवृत्ता सोऽपि चौरः । एतच्च चौर्याव्यभिचारिधर्मजातस्य प्रदर्शनार्थम् । तेन यन्नष्टावशिष्टं तण्डुलादि परस्परगृहे दृश्यते तस्यैकप्रकारकत्वे परस्पर[1]चौरत्वं श्रूयते । यश्च पूर्वं पूर्वं कृतेन चौर्यकर्मणाऽपराधीति ज्ञातः, यश्चाशुद्धवासको न विद्यते शुद्धः समीचीनो वासो निवासस्थानं यस्य सोऽशुद्धवासकः, सोऽपि चौरः ॥ २६६ ॥

निर्णयरूपस्य[2] ग्रहणस्य हेतव उक्ताः । तस्यैव संशयरूपस्य हेतूनिदानीमाह—

**अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या नामजात्यादिनिह्नवैः ॥**
**द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः ॥ २६७ ॥**

---

१ ग. घ. °चौरं तु श्रू° । ज. °चौर्यं तु श्रू° । २ ग. घ. छ. ज. °यमृप° ।

परद्रव्यगृहाणां च पृ(प्र)च्छका गूढचारिणः ॥
निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः ॥ २६८ ॥

उक्तेभ्योऽन्येऽपि नामजातिग्रामदेशादीनां निह्नवैरपलापैर्या चौर्याशङ्का तया ग्राह्याः । चौरत्वेन शङ्कनीया इत्यर्थः । तथा ये द्यूतादिसक्ताः, ये च चौरत्वेनाभियुक्ताः शुष्कमुखा भिन्नस्वराश्च भवन्ति, ये च कस्येमानि द्रव्याणि कस्य वा गृहाणीति परद्रव्यगृहाणां पृ(प्र)च्छकाः, ये च गूढाः प्रच्छन्नाः सन्तो विचरन्तीति तच्छीलाः, ये च निराया अदृष्टधनागमा व्ययवन्तश्च भवन्ति, ये च विनाशितग्रैवेयाद्यलंकारस्य विक्रयिणस्ते चौरशङ्कया ग्राह्याः ।

नारदः—" सहोढग्रहणे स्तेयं होढे सत्युपभोगतः ।
शङ्का त्वसज्जनैकार्थ्यादनायव्ययतस्तथा ॥
अहोढान्विमृशेच्चौरान्गृहीतान्परिसंख्यया ।
भयोपधाभिश्चित्राभिर्ब्रूयुस्तथ्यं यथा हि ते ॥
देशं ग्रामं दिशं नाम जातिं वा संप्रतिश्रयम् ।
कृतकार्यसहायाश्च प्रष्टव्याः स्युर्विगृह्य ते ॥
वर्णस्वराकारभेदात्ससंदिग्धनिवेदनात् ।
अदेशकालदृष्टत्वान्निवेशस्य विशोधनात् ॥
असद्व्ययात्पूर्वचौर्यादसत्संसर्गकारणात् ।
दोषैरप्यनुगन्तव्या न होढेनैव केवलम् " ॥

होढो लोप्त्रम् । उपभोगोऽपहृतद्रव्यस्यासाधारणस्य प्रकारान्तरेणासंभवात्प्राप्तेः । ऐकार्थ्यमेकप्रयोजनवत्त्वम् । भयोपधा भयहेतवः के(क्ले)शायुक्तयः ।

तथा—" गवादिषु प्रनष्टेषु द्रव्येष्वपहृतेषु च ।
पदेनान्वेषणं कुर्युरा मूलात्तद्विदो जनाः " ॥

आ मूलादा गवादिहरणस्थानात् ।

" ग्रामे व्रजे विवीते वा यत्र तन्निपतेत्पदम् ।
वोढव्यं तद्भवेत्तेन न चेत्सोऽन्यत्र तन्नयेत् ॥
पदे प्रमूढे भग्ने वा विषमत्वाज्जनान्तिके ।
यस्त्वासन्नतरो ग्रामो व्रजो वा तत्र पातयेत् ॥

---

१ ग. घ. ज. °विक्रियाः । २ ग. घ. छ. सद्यो वि° । ३ ग. घ. ज. °दः । महो° । ४ ज.°ङ्का तु स° । ५ ग. घ. छ ज. °मृषेच्चौ° । ६ ग. घ. ज. °विगर्हिते । ७ क. °वेशना° । ८ क. छ. °लदृष्टत्वा° । ९ क. विभेदना° । १० क. °व्यसा° । ११ क. छ. °वः । लेशा° । १२ ग. घ. छ.जने ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

समेऽध्वनि द्वयोर्यत्र स्तेनप्रायोऽशुचिर्जनः ।
पूर्वापराधैर्दुष्टो वा संसृष्टो वा दुरात्मभिः ॥
नैवान्तरिक्षान्न दिवो न समुद्रान्न चान्यतः ।
दस्यवः संप्रवर्तन्ते तस्मादेवं प्रकल्पयेत् ॥
ग्रामेष्वन्वेषणं कुर्युश्चण्डालवधकादयः ।
रात्रिसंचारिणो ये च बहिः कुर्युर्बहिश्चराः " ॥

**समेऽध्वनि तुल्यमार्गे । द्वयोर्ग्रामयोः । स्तेनप्रायश्चौरबहुलः ।**

**मनुनारदौ**—" समाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥
शीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि वाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैरप्यनुचारयेत् " ॥

**तथा**—" तान्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवादिभिः ।
विद्यादुत्साहयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥
भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥
ये तत्र नोपसर्पेयुश्चारैः प्रणिहितैरपि ।
तेऽपि स्युः संग्रहीतव्याः समित्रज्ञातिबान्धवाः ॥
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयुस्तान्विताड्य विडम्ब्य च ।
अवघोष्य च सर्वत्र हन्याच्चित्रवधेन तु ॥
अचौरा अपि दृश्यन्ते चौरैः सह समागताः ।
यदृच्छया नैव तु तान्नृपो दण्डेन संस्पृशेत् " ॥

**कात्यायनः**—" अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुद्धृतं भुवि ।
चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत् " ।

**अस्यार्थः—किमेतदन्यहस्तात्परिभ्रष्टं सदस्य हस्ते दृश्यते, किं वा चौर्यकामनया विनाऽनेनोद्धृतं, यद्वा चौरेण सताऽनेन परिक्षिप्तमुद्धृतमिति संशयस्य संदेहस्य संभवाद्यत्नतो लोप्त्रं विचार्यमिति ॥ २६८ ॥**

---

१ ग.घ.छ. समजाः । २ ग. घ. छ. ज. °रैः प्राणि° । ३ ग. घ. छ. ज. °वघुष्य । ४ ग. घ. छ. ज. °भ्रष्टाद° ।

गृहीतः शङ्कया चौर्य आत्मानं चेन्न शोधयेत् ॥
दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत् ॥ २६९ ॥

शङ्कया संदेहेन चौर्यविषयेण गृहीतोऽभियुक्तो यद्यात्मानं दिव्येन मानुषेण वा प्रमाणेन न शोधयेद्व्यपेतचौर्यशङ्कं न कुर्यात्, तदाऽपहृतं द्रव्यं दापयित्वा वक्ष्यमाणेन चौरदण्डेन दण्डनीयः । न चात्र वाच्यं चौरत्वेनाऽऽशङ्कितस्य प्रमाणानर्हता मिथ्यावादित्वादिति । यतो न मिथ्यावादित्वमात्रं साधनानर्हत्वे प्रयोजकम् । किंतु प्रथमवादिनोऽवष्टम्भाभियोक्तृत्वे सति । अतोऽत्र युक्तं यच्छङ्कितः प्रमाणं कुर्यादिति । न च चौर्याद्यभावे प्रमाणाभावः । तथा हि सति " महाभियोगेष्वेतानि " " रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात् " " राजभिः शङ्कितानां च " इत्यादिवचनानि नैवाऽऽरभ्येरन् । न च वाच्यं मानुषप्रमाणानामभावो न साध्यत (ध्य) इति । यस्माच्चौर्याद्यभावाव्यभिचारिणं भावविशेषं साधयतां सिध्यत्येव(वा)भावसाधकत्वमपि । यथा यत्र कालेऽस्य द्रव्यं केनाप्यपहृतं तदा ततोऽपहारप्रदेशादतिदूरेऽहं व्यवस्थितो महता व्याध्यादिनाक्रान्त इत्यादि भावयन्साधयत्येवाऽऽत्मनश्चौर्याद्यभावमिति । अत एव शङ्खः—

" असाक्षिप्रणिहिते दिव्यम्" इत्युक्त्वा "अथवा मित्रैः सज्जनैरात्मानं ना शोधयेदेव । स चेद्दण्ड्योऽर्थिनां चार्थं दापयेत् "

इत्युक्तवान् ॥ २६९ ॥

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः ॥
सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२७० ॥

प्रमाणतो निश्चितं चौरमपहृतं द्रव्यं स्वरूपतो मूल्यतो वा स्वामिने प्रदाप्य विविधैर्वधैर्वधोपायैर्घातयेद्धिंस्यात् । ब्राह्मणं तु चौरं सचिह्नं श्वपदाङ्कितं कृत्वा स्वराष्ट्राद्राजा विप्रवासयेत् । न तु घातयेत् । अत्र मनुः—

" न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् " ॥

महापातकव्यतिरिक्तापराधविषयमेतत् । तत्र पुनस्तेनैवोक्तम्—

" गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् " ॥

---

१ ङ. चौर्ये नाऽऽत्मानं चेद्विशो° २ ग. घ. छ. ज °णार्हं° । ३ ग. घ. ज. °तो न मिथ्या न वा° । ४ क. °र्यादिभावौव्यभिचारिणं साधक° । ५ क. °नाऽऽक्रान्त° । ६ क. °दिना भा° । ७ क. °नं शो° । ८ क. °नुः—राजा न ब्रा° ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

ते च—" असंभोज्यास्त्वसंयाज्या असंपाठ्या विवाहिकाः(?) ।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः " ॥

अङ्कनं च प्रायश्चित्तमनिच्छतां कार्यं, यत आह—

" प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणास्त्रयो वर्णा यथोचितम् ।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् " ॥

अतश्च दण्डप्रायश्चित्तयोः समुच्चयो गम्यते । प्रायश्चित्ताकरणे तूत्तमसाहसः शरीरदण्डयोः समुच्चय उक्तस्तेनैव—

" चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शरीरधनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पितम् " ॥

चतुर्णां महापातकिनामित्यर्थः ।

नारदः—" ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनं तथा ।
ललाटे चाङ्ककरणं प्रयाणं गर्दभेन वा " ॥

गौतमः—" न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डः कर्मवियोगविरूप्यापननिर्वासनाद्यङ्ककरणानि " ।

शारीरो दण्डोऽङ्गच्छेदादिः ।

आपस्तम्बः—" पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्त्र्यन्यादाय वध्यश्चक्षुर्निरोधस्तु तेषु ब्राह्मणस्य " ।

बृहस्पतिः—" वृत्तस्वाध्यायवान्स्तेयी बन्धने क्लेश्यते चिरम् ।
स्वामिने तद्धनं दाप्यः प्रायश्चित्तं च कार्यते[2] " ॥ २७० ॥

गृहीते चौर उक्तम्, अगृहीते यत्कार्यं तदाह—

**घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ॥**
**विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥ २७१ ॥**

मनुष्यादौ हते गवाश्वादौ वाऽपहृते हन्तरि चादृष्टे ग्रामाद्बहिरनिर्गते चौरस्य पथि मार्गे ग्रामस्वामिनश्चौर्यदोषः । तेन चौरो देयोऽपहृतं वेति तात्पर्यार्थः । विवीते तु घातापहारौ चेज्जातौ विवीताच्च बहिरदृष्टे चौरमार्गे विवीतभर्तुर्दोषः । अवीतके विवीतादन्यत्र तु घातेऽपहारे च कृते चौरोद्धरणनियुक्तस्य दोषः । विवीतं तृणादिप्रयोजनभूः ।

नारदः—" गोचरे यस्य मुष्येत तेन चौरः प्रयत्नतः ।
ग्राह्यो दाप्योऽथवा मोषं पदं यदि न निर्गतम् ॥

---

१ घ. छ. ज. °क्षुन्निरो° । २ ग. घ. छ. ज. कथ्यते ।

निर्गते तु पदे तस्मान्न चेदन्यत्र पातितम् ।
सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत् " ॥

पदे चौरमार्गे तस्माद्ग्रामान्निर्गते, तद्यदि न ग्रामान्तरे पातितं चौरेण तदा सामन्तादीन्दापयेत् ।

कात्यायनः—" गृहे तु मुषितं राजा चौरग्राहांस्तु दापयेत् ।
अरक्षकांश्च दिक्पालान्यदि चौरो न लभ्यते ॥
ग्रामान्तरे हृतं द्रव्यं ग्रामाध्यक्षं प्रदापयेत् ।
विवीते स्वामिना देयं चौरोद्धर्ता विवीतके " ॥

तथा—" स्वदेशे यस्य यत्किंचिद्धृतं देयं नृपेण तु ।
गृह्णीयात्तत्स्वयं नष्टं प्राप्तमन्विष्य पार्थिवः ॥
चौरैर्हृतं प्रयत्नेन स्वरूपं प्रतिपादयेत् ।
तदभावे तु मूल्यं स्यादन्यथा किल्बिषी नृपः ॥
लब्धेऽपि चौरे यदि तु[3] मोषस्तस्मान्न लभ्यते ।
दद्यात्तमथवा चौरं दापयेत्तु यथेष्टतः ॥
*तस्मिंश्चेद्दाप्यमानानां भवेद्दोषे तु संशयः ॥
मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वा विशोधयेत् " ।

बन्धुभिः साक्षिभिर्भूतैर्निकटवासिभिरदुष्टैरित्यर्थः ।

" यस्मादपहृताल्लब्धं द्रव्यात्स्वल्पं तु स्वामिना ।
तच्छेषमाप्नुयात्तस्मात्प्रत्यये स्वामिना कृते " ॥ २७१ ॥

**स्वसीम्नि[3] दद्याद्ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति ॥**
**पञ्चग्रामी बहिः[4] क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः ॥ २७२ ॥**

ग्रामसीम्न्येव यदि मोषो भवति, तदा स एव ग्रामो मुषितं दद्यात् । यदि तु पदं चौरमार्गो ग्रामसीम्नो बहिः कंचन ग्रामं प्रति यायात्तदा स एव ग्रामो दद्यात् । यदा तु क्रोशमात्रव्यवस्थितानामनेकेषां ग्रामाणां मध्ये चौर्यं भवति, तदा तुल्याध्वानः पञ्च ग्रामाः समाहृता मोषं दद्युः । यदा पुनर्दश ग्रामा मोषस्थानात्तुल्यान्तराला भवन्ति तदा दशापि समाहृता हृतं दद्युः ॥२७२॥

चौरं विचित्रैर्वधैर्हन्यादिति सामान्येनैवोक्तम् । तत्र चौर्यविशेषमाह—

---

* अत्रायं पाठो मिताक्षरायाम्—"यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः" इति ।

---

१ ग. घ. छ. ज. °त् । आर° । २ क. तु मूल्यं तस्मा° । ३ ग. °सीम्नि य° । ४ क. °हिः कथं च ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

**बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः ॥**
**प्रसह्यघातिनश्चैव शूलमारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥**

शूलारोपणं च वधपर्यन्तम् ।

मनुः—" अग्न्यागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् " ॥

प्रसह्यघातिनो जनसमक्षं मनुष्यादिहन्तारः ।

व्यासः—" अश्वहर्ता हस्तपादौ कटिं छित्त्वा प्रमाप्यते ।
पशुहर्तुश्चार्धपादं तीक्ष्णशस्त्रेण कर्तयेत् " ॥

मनुः—" संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् " ॥

यतो हस्तावच्छिन्नस्तत्र शूलद्वयं निवेशयेदित्यर्थः ।

बृहस्पतिः—" संधिच्छिदो हृतं त्याज्यां[:] शूलमारोपयेत्ततः ।
तथा पान्थमुषो वृक्षे गले बद्ध्वाऽवलम्बयेत् " ॥

कात्यायनः—" स्वदेशघातिनो ये स्युस्तथा मार्गनिरोधकाः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा शूले निवेशयेत् ॥ २७३ ॥

**उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ ॥**
**कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥**

योऽङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां परस्वमुत्क्षिपत्यपहरति, यश्च ग्रन्थिं भिनत्ति, तौ करसंदंशेनाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यामपराधहेतुभूताभ्यां हीनौ कार्यौ । द्वितीयेऽपराधे एकेन करेणैकेन च पादेन हीनौ कार्यौ ।

मनुः—" अङ्गुली ग्रन्थिभेदस्य च्छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति " ॥

कात्यायनः—" येन येन परद्रोहं करोत्यंशेन तस्करः ।
छिन्द्यादङ्गं नृपस्तस्य न करोति यथा पुनः " ॥ २७४ ॥

उक्तमविशेषेण—" चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः "

इति, तद्विषयविशेषमुपसंहर्तुमाह—

---

१ ग. घ. छ. °सह्य घा° । २ क. शूलानारो° । ३ ग. घ. छ. °हन्तॄंश्च । ४ ग. घ. छ. °हन्ता ह° । ५ ग. घ. छ. °हन्तुश्चार्धपदं । ६ घ. छ. ज. °ज्याछूल° । ७ क. छ. °तीय-हरणे क° ।

**क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः ॥**
**देशकालवयःशक्ति संचिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥**

क्षुद्रद्रव्याणि मृद्भाण्डादीनि, मध्यमनि[1] वस्त्रादीनि, महाद्रव्याणि हिरण्यादीनि, तेषां सारतो यथासारं दमो धनापहाराङ्कनगात्रच्छेदवधात्मा चौराणां कल्प्यः। देशश्च कालश्च वयश्च शक्तिश्च देशकालवयःशक्ति। एतत्सर्वं दण्डे कार्ये ब्राह्मणैः सह नृपेण चिन्तनीयम्। तत्र द्रव्यत्रैविध्यमाह नारदः—

" मृद्भाण्डासनखड्गादि चारुचर्मतृणादि यत्।
शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रद्रव्यमुदाहृतम् " ॥

शमीधान्यं शिम्बिधान्यं माषमुद्गादि। कृतान्नं सिद्धान्नम्।

" वासः कौशेयवर्जं च गोवर्जं पशवस्तथा।
हिरण्यवर्जं लोहं च मध्यं व्रीहियवं तथा ॥
हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीगुल्मो[2](पुंगो)गजवाजिनः।
देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् " ॥

कौशेयमतसीमयम्। हिरण्यं सुवर्णं रजतं च। अत्र त्रिविधस्यापहारे त्रिविधसाहसदण्डातिदेशं स एवाऽऽह—

" साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः।
स एव दण्डः स्तेयेऽपि त्रिषु द्रव्येष्वनुक्रमात् " ॥

तत्र धान्ये विशेषमाह मनुः—

" धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् " ॥

कुम्भो द्रोणद्वयम्। तदुक्तम्—

" पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम्।
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः॥
आढकैस्तैश्चतुर्भिश्च द्रोणस्तु कथितो बुधैः।
कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणास्तु षोडश " इति ॥

दशभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकधान्यहारिणो वधः। शेषे[3]ऽनधिके हृते यत्र धान्यापहारे यो दण्डस्तमेकादशगुणं दण्डं दाप्यः। यावदपहृतं तावच्च स्वामिने।

---

१ ग. घ. छ. ज. मध्यमानि। २ क. स्त्रीमुञ्जो ग°। छ. स्त्रीमुञ्जौ। ३ ग. घ. छ. ज. 'षे नाधि°।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

" तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् " ॥

धरिमेण तुलया मीयन्त इति धरिममेयानि, तान्येव सुवर्णरजतादीनामित्यनेन विशेषितानि। यदि सुवर्णरजतादीनामित्येतावन्मात्रमुच्यते ततो लोहानामेव ग्रहणं स्यात्। अथ धरिममेयानामित्येवोच्येत, तदा गुडादीन्यपि गृह्णेरन्। उभयोपादाने तु लोहव्यतिरिक्तानामपि मुक्ताप्रवालादीनां तुलामेयानां परिग्रहः। महार्घत्वेन सुवर्णरजतप्रकारत्वात्। प्रकारवचनश्चायमादिशब्दः। अत एव गुडादीनां धरिममेयत्वेऽपि निवृत्तिः। अमहार्घत्वेन सुवर्णतुल्यताविरहात्। तेन लोहानामपि त्रपुसीसादीनामसाराणां नेह ग्रहणम्। उत्तमानि च वासांसि पत्तो(त्रो)र्णनेत्रपटीप्रभृतीनि।

तथा—" पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥
पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥
महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत्" ॥

महापशवो गवादयः।

" सूत्रकार्पासकिण्वानां[1] गोमयस्य गुडस्य च।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥
वेणुवैणवभाण्डानां लवणानां तथैव च।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम्॥
अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः॥
कार्षापणं भवेद्दण्डो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र विप्रो भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥
अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु॥

---

१ क. किण्ठानां। २ ग. घ. ज. °प्रोद्भवे°।

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःपष्टिस्तद्दोषगुणवद्धि सः" ॥

विद्वद्विषयमिदं वाक्यम् । तद्दोषगुणवद्धि स इति हेत्वभिधानात् । तेन यः स्तेयास्तेययोर्गुणदोषावैहिकामुष्मिकौ बालादिर्न जानाति तस्य स्ते[ये] यो दण्डः सोऽष्टगुणस्तद्विदुषः शूद्रस्य भवति । तदुक्तम्—अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य किल्बिषमिति । अष्ट दण्डा आपाद्या येन किल्बिषेण स्तेयेन तदष्टापाद्यम् ।

"यज्ञार्थान्युपकृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तं शतं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥
यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम् ।
दण्डं स प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥
महापशून्स्तेनयतो दण्ड उत्तमसाहसः ।
मध्यमो मध्यमपशून्पूर्वः क्षुद्रपशौ हृते ॥
पुरुषं हरतो हस्तौ दण्ड उत्तमसाहसः ।
सर्वस्वं हरतो नारीं कन्यां तु हरतो वधः ॥
तुलाधरिममेयानां गणिमानां च सर्वशः ।
एभ्यस्तूत्कृष्टमूल्यानां मूल्याद्दशगुणो दमः ॥
काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च ।
वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम् ॥
शाकानां सार्द्रमूलानां हरणे फलपुष्पयोः ।
गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः ॥
पक्वान्नानां कृतान्नानां मधूनामामिषस्य च ।
सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः" ॥

स्मृतिः—"तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
अनापृच्छंस्तु गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति" ॥

शङ्खलिखितौ—"अब्राह्मणो ब्राह्मणस्य समिदाज्येध्माग्निकाष्ठतृणोलपशप्पपुष्पधूपफलान्यपहरेद्बलादविज्ञातो वा हस्तच्छेदनमाप्नुयात् । कुशचर्मभाण्डं करकाग्निहोत्रद्रव्याण्यपहरतः प्रत्यक्षतोऽङ्गच्छेदः स्यादप्रत्यक्षं यदा विदितोऽयं किल्बिषीति ब्राह्मणः खरयानमाप्नुयात् । सूत्रमौण्ड्यम् । इतरेषां खरयानमेव" ।

---

१ क. °दिवन्न जा° ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

विष्णुः—" स्तेनाः सर्व एवापहृतं धनिकस्य दाप्यास्तत-
स्तेषामभिहितदण्डप्रयोगः " ।

मनुः—" न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् " ॥

होढं लोप्त्रम् । उपकरणं चौर्योपकरणम् ।

कात्यायनः—" सहोढमसहोढं वा तत्त्वागमितसाहसम् ।
प्रगृह्याऽऽच्छिन्नमावेद्य सर्वस्वैर्विप्रयोजयेत् " ॥

तत्त्वतः प्रमाणतः साहसकर्तृकतया निश्चितं होढं विनाऽपि साहसिकोऽय-
मिति सर्वजनविदितं कृत्वा यथाविधि सर्वस्वहरणाङ्गच्छेदादिकं वैधं
कुर्यादित्यर्थः ।

" अयःसंधानगुप्तास्तु मन्दभक्ता बलान्विताः ।
कुर्युः कर्माणि नृपतेरामृत्योरिति कौशिकः " ॥

अयःसंधानमयोनिगडः । मन्दभक्ता अल्पभक्ताः ।

" परदेशाद्धृतं द्रव्यं वैदेश्येन यदा भवेत् ॥
गृहीत्वा तस्य तद्द्रव्यमदण्डं तं विसर्जयेत् " ॥

वैदेश्यः प्रवासी ॥ २७५ ॥

स्तेयप्रसङ्गादन्यदप्याह—

भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययम् ॥
दत्त्वा चौरस्य हर्तुर्वा जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

चौरोऽयं साहसिकोऽयमित्यवगच्छन्नपि तस्य भक्तमन्नमवकाशं निवासं
पाकादिसिद्धयेऽग्निं शीतापनोदाय वा स्नानपानाद्यर्थमुदकं मन्त्रं स्तेयहरणो-
पायकथनमुपकरणं खनित्रशस्त्रादि व्ययं पाथेयादिकमेवमादिकं चौरसाहसि-
कयोरनुकूलं कुर्वत उत्तमो दमः स्यात् । मनुराह—

" ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदांश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥
अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरानिवेश्वरः " ॥

नारदः—" क्रेतारश्चैव भाण्डानां प्रतिग्राहिण एव च ।
समदण्डाः स्मृताः सर्वे ये च प्रच्छादयन्ति तान् " ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °रणम् । हो° । २ क. वेधं । ३ ग. घ. छ. ज. °संदान° । ४ घ. छ. ज. °योगडः । ५ ङ. °च्यवान् । द° । ६ ङ. हन्तुर्वा ।

गौतमः—" चौरसमः सचिवो मतिपूर्वं प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्तात् " ।

अत्रैव ब्राह्मणं प्रत्याह मनुः—

" अदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥
राष्ट्रेषु राष्ट्राधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्शिष्यांश्चौरानिव द्रुतम् ॥
ग्रामघाते हिडामङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितोऽनभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः " ॥

परक्षेत्रोप्तसस्यस्य नाशनं हिंड(डा)भङ्गः ।

नारदः—" उत्क्रोशतां जनानां च ह्रियमाणे जने तथा ।
श्रुत्वा ये नाभिधावन्ति तेऽपि तद्दोषभागिनः ॥ २७३ ॥

## शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः ॥
## उत्तमोवाऽधमो वाऽपि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

शस्त्रावपातः शस्त्रघातः, परं प्रति तस्मिन्कृते गर्भपातने चोत्तमसाहसो दण्डः । दासीगर्भपातने तु पणशतस्योक्तत्वात्ततोऽन्यदत्र गर्भपातनं द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणीगर्भपातने तु—

" हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् "

इति प्रायश्चित्तमात्रातिदेशादप्राप्तो दण्डोऽनेन विधीयत एव । पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव वधे यथासंख्यमुत्तमाधमौ ज्ञेयौ । अधमः प्रथमसाहसः । वाशब्द-द्वयादण्डान्तरमपि गुणाद्यपेक्षया वेदितव्यम् ।

उशना—" परिक्लेशेन पूर्वः स्याद्भैषज्येन तु मध्यमः ।
प्रहारेण तु गर्भस्य पातने दम उत्तमः " ॥

बौधायनः—" क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधः सर्वस्वहरणं च तेषामेव तुल्यावकृष्टवधे गोसहस्रमृषभौधिकं राज्ञ उत्सृजेत् । वैरनिर्यातनार्थं शतशतं वैश्ये, दश शूद्रे वृषभश्चात्रा-धिकः । शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातौ । अन्यत्राऽऽत्रेय्या धेन्वनड्वाहोश्चान्ते चान्द्रायणं चरेत् । आत्रेय्या वधः क्षत्रियवधेन व्याख्यातः " ।

---

१ ग. घ. छ. ज. °पूर्वे प्र° । २ क. हिड्णभ° । ३ क. छ. हिड्णभ° । ४ क. तुलावकृष्टवधे यथाबलमनुरूपं दण्डं प्रकल्पयेत् । क्षत्रियवधो(धे) गो° । ५ ग. घ. छ. ज. °भादिकं । ६ ग. घ छ. ज्ञ. °होश्च धेन्वनडु होस्ते चा° ।

( स्तेयप्रकरणम् २३ )

**आत्रेयी रजस्वला ।**

" हंसभासबर्हिणचक्रवाकबलाकाकाकोलूकनकुलमण्डूक-
हिण्डिकाभेरीकश्चवभ्रुनकुलादीनां वधे शूद्रवत् " ।

**बृहस्पतिः**—" प्रकाशघातका ये तु तथा चोपांशुघातकाः ।
ज्ञात्वा सम्यग्वधं हत्वा हन्तव्या विविधैर्वधैः ॥
मित्रप्राप्त्यर्थलाभे वा राज्ञा लोकहितैषिणा ।
न मोक्तव्याः साहसिकाः सर्वलोकभयावहाः ॥
लोभाद्भयाद्वा यो राजा न हन्त्यन्याय्यकारिणः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं राज्याच्च परिहीयते ॥
एकस्य बहवो यत्र प्रहरन्ति रुषाऽन्विताः ।
मर्मप्रहारदो यस्तु घातकः स उदाहृतः ॥
समघाती तु यस्तेषां यथोक्तं दापयेद्दमम् ।
आरम्भकृत्सहायश्च दोषभाजस्तदर्धतः ॥
क्षतस्याल्पमहत्त्वं च मर्मस्थानं च यत्नतः ।
सामर्थ्यं चानुबन्धं च ज्ञात्वा चिह्नैः प्रसादयेत् " ॥

**नारदः**—" अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः ।
वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति ॥
शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् ।
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च " ॥

**साहसचौर्ययोर्यमः**—" न ब्राह्मणस्य शारीरो दण्डो भवति कर्हिचित् ।
गुप्ते तु बन्धने बद्ध्वा राजा भक्तं प्रदापयेत् ॥
अथवा बन्धनं रज्ज्वा कर्म वा कारयेन्नृपः ।
मासार्धमासं कुर्वीत कार्यं विज्ञाय तत्त्वतः ॥
यथापराधं विप्रं तु विकर्मण्यपि कारयेत् " ॥ २७७ ॥

**विप्रदुष्टां स्त्रियं भ्रूणपुरुषघ्नीमगर्भिणीम् ॥**
**सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बद्ध्वा प्रवेशयेत् ॥२७८॥**

विविधं प्रकर्षेण दुष्टामेनस्विनीं, तथा भ्रूणस्य गर्भस्य पुरुषस्य हन्त्रीं, बहूनां लोकानामुपकारकस्य सेतोर्भेत्त्रीमगर्भिणीं स्त्रियं शिलां बद्ध्वा जले निमज्जयेत् ॥ २७८ ॥

---

१ क. °कवभ्रून° । २ छ. °साधये° । ३ ग. छ. ज. °ज्ञाततत्त्व° । ४ ङ. °यं चैव पुं° ।

विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम् ॥
विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रवासयेत् ॥ २७९ ॥

या तु मनुष्यमृत्यवे विषं ग्रामादिदाहाय चाग्निं ददाति, तथा पतिं गुरुं पितरं श्वशुरं वा निजमपत्यं वा हन्ति, तस्याः कर्णौ हस्तौ नासामोष्ठौ च छित्त्वा तां बलीवर्दमारोप्य देशाद्बहिः कुर्यात् । प्रमापयेदिति पाठे तां पादयोर्वरत्रया युगे बद्ध्वा बलीवर्दा यथाऽऽकृष्य प्रमापयन्ति तथा कुर्यात्॥२७९॥

घातकाविज्ञाने तत्परिज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याऽऽशु कलहं सुतबान्धवाः ॥
प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥२८०॥
स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह ॥
तत्प्रदेशसमासन्नं पृच्छेद्वाऽपि जनं शनैः ॥ २८१ ॥

अविज्ञातेन विशेषतो न ज्ञातेन हतस्य पुत्रा बान्धवाश्च केनास्य कलहो भवेदिति शीघ्रं प्रष्टव्याः । तथाऽयं कस्य स्त्रियं द्रव्यं वृत्तिं वा कामयेत, तथाऽयं केन सह च गत इति तदीयाः स्त्रियो याः पुंश्चल्यस्ताः प्रत्येकं पृच्छेत् । तथा यत्रासौ मृतस्तं प्रदेशं प्रति समासन्नं जनं पूर्वोक्तप्रकारेण शनैः पृच्छेत् ।

बृहस्पतिः—" हतस्तु दृश्यते यत्र घातकश्च न दृश्यते ।
पूर्ववैरानुसारेण ज्ञातव्यः स महीभुजा ॥
प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च तस्य मित्रारिबान्धवाः ।
प्रष्टव्या राजपुरुषैः सामादिभिरुपक्रमैः ॥
विज्ञेयोऽसाधुसंसर्गाच्चिह्नहोडेन वा नरैः " ।

व्यासः—" ज्ञात्वा तु घातकं सम्यक्ससहायं सबान्धवम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः " ॥

बृहस्पतिः—" दिव्यैर्विशुद्धो मेध्यः स्यादशुद्धो वधमर्हति ।
निग्रहानुग्रहै राज्ञः कीर्तिर्धर्मश्च वर्धते " ॥ २८० ॥ २८१ ॥

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ॥
राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥२८२॥

इति स्तेयप्रकरणम् ॥ २३ ॥

---

१ ङ. प्रमापयेत् । २ ङ. °ह । मृत्युदे° । ३ क. °मापन्नं ।

( स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४ )

क्षेत्रस्य सस्यवतो वेश्मनो महतो राजकीयादेर्वनस्याऽऽरामस्य ग्रामस्य गृहसमूहस्य विवीतस्य तृणाद्यांधारायां[1] भुवः खलस्य धान्यसाधनस्थानस्य[2] च दाहकाः, राजपत्न्यभिगामी च, प्रत्येकमेते कटाग्निना कटस्यानलेन दग्धव्याः । वीरणमय उपवेशनार्थो द्रव्यविशेषः कटः ।

मनुः—" प्राकारस्य च भेत्तारं परिखानां(णां) च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भेत्तारं क्षिप्रमेव प्रमापयेत् ॥
राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् " ॥

राज्ञ इति प्रत्येकं संबध्यते । तेन दण्डेन विधीयमानेन प्रसङ्गात्साहसिकानामपि वधोऽत्रैव प्रकरणे विहितः । इति स्तेयप्रकरणम् ॥ २८२ ॥

[इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
स्तेयप्रकरण ॥ २३ ॥]

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

## स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् । ( २४ )

अथ परस्त्रीसंभोगात्मके संग्रहणे निमित्ते पुरुषस्य ग्राह्यतायां कारणमाह—

**पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया ॥**
**सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा ॥२८३॥**

संग्रहणे परस्त्रिया सह मिथुनीभावे निमित्ते दण्डयितुं पुमान्ग्राह्यः । केन हेतुनेत्यपेक्षित उक्तं—केशाकेशि, परस्त्रिया सह परस्परकेशग्रहणवत्या क्रीडया पुमान्ग्राह्य इत्यन्वयः । बहुव्रीहिसमासात्मकं तृतीयान्ता(न्त)वृत्तीच्समासान्तं केशाकेशीत्यव्ययम् । न केवलमयमेव हेतुः, किंतु सद्यः संभूतानि परस्परमिथुनीभावाभिलाषादुत्पन्नानि दन्तनखक्षतादीनि चिह्नानि सुरत(ता)व्यभिचारीणीति, तैरपि हेतुभिर्ग्राह्यः । उक्तहेत्वभावेऽपि द्वयोः स्त्रीपुंसयोः सिद्धो मिथुनीभाव आवयोरित्येवंरूपायां संप्रतिपत्तौ सत्यामपि ग्राह्यः ।

मनुः—" परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तेषु महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्चिह्नयित्वा प्रवासयेत् ॥

---

१ ग. घ. छ. 'द्याधरा' । २ घ. छ. धान्यासादनस्था° ।

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते " ॥

बृहस्पतिः—" पारुष्यं द्विविधं प्रोक्तं साहसं च द्विलक्षणम् ।
पापमूलं संग्रहणं त्रिप्रकारं निबोधत ॥
बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।
तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं प्रथमं मध्यमोत्तमम् ॥
अनिच्छन्त्या यत्क्रियते सुप्तोन्मत्तप्रमत्तया ।
प्रलपन्त्या वा रहसि बलात्कारकृतं तु तत् ॥
छद्मना गृहमानीय दत्त्वा वा मद्यकार्मणम् ।
संयोगः क्रियते यस्यास्तदुपाधिकृतं विदुः ॥
अन्योन्यचक्षूरागेण दूतीसंप्रेषणेन च ।
कृतं रूपार्थलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम् " ॥

रूपार्थयोर्लोभो रूपार्थलोभः । कार्मणं वशीकरणम् ॥ २८३ ॥

## नीवीस्तनप्रावरणसक्थिकेशावमर्शनम् ॥
## अदेशकालसंभाषं सहैकस्थानमेव च ॥ २८४ ॥

संग्रहणे ग्राह्य इत्यनुवर्तते । यः परस्त्रीणां नीव्यादिस्पर्शं करोति, यत्र देशे च काले च परस्त्रिया सह भाषमाणः शिष्टैर्न गर्ह्यते ततोऽन्यो देशः कालश्चादेशकालम् । तत्र यः परस्त्रीसंभाषणं कुरुते, यश्चैकत्र शयन आसने वा परस्त्रिया सहावतिष्ठते, स पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः । नीवी परिधानग्रन्थिः । कुचयोरावरणं स्तनप्रावरणम् । सक्थि जघनम् ।

व्यासः—" संग्रहस्त्रिविधो ज्ञेयः प्रथमो मध्यमस्तथा ।
उत्तमश्चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥
अदेशकालसंभाषा अरण्ये च परस्त्रिया ।
अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं पूर्वसंग्रहणं स्मृतम् " ॥

मनुः—" परस्य पत्न्या संभाषं पुरुषो योजयन्सह ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥
( *यस्त्वनाक्षारितो दोषैरभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः " ॥

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतग्रन्थो ग. घ. छ. ज. पुस्तकेषु न विद्यते ।

---

१ क. ग. घ. छ. ज. °मर्षणम् । अ° । २ क. करोति ।

( स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४ )

**दोषैस्तत्स्त्रीप्रार्थनादिभिरशस्तैः ।**

" प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम् ।)
प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमः संग्रहः स्मृतः ॥
शय्यासने विविक्ते तु परस्परसमाश्रयः ।
केशाकेशिग्रहश्चैव ज्ञेय उत्तमसंग्रहः " ॥

**विविक्तं विजनम् ।**

**बृहस्पतिः**—" त्रयाणामपि चैतेषां प्रथमो मध्य उत्तमः ।
विनयः कल्पनीयः स्यादधिको द्रविणाधिके " ॥

**व्यासः**—" उपकारः क्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह शय्याऽऽसनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥
स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा ।
परस्परस्यानुमतं सर्वं संग्रहणं स्मृतम् " ॥

(+**नारदः**—" दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत् ।
पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥ )
पाणौ यश्च निगृह्णीयाद्वेण्यां वस्त्राञ्चलेऽपि वा ।
तिष्ठ तिष्ठेति वा ब्रूयात्सर्वं संग्रहणं स्मृतम् " ॥

**शङ्खलिखितौ**—" अबुद्धिपूर्वमलंकृतो युवा परदारमनुप्रविशन्कुमारीं वाऽवाच्यः । बुद्धिपूर्वं तु दुष्टभावो दण्ड्यः " ॥ २८४ ॥

**स्त्री निषेधे शतं दद्याद्द्विशतं तु दमं पुमान् ॥**
**प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥**

**येन पुरुषेण सह स्त्रियाः संभाषणं भर्त्रादिभिः प्रतिषिद्धं तत्तेन सह समाचरन्ती पणशतं दण्ड्या । एवं पुरुषोऽपि पणशतद्वयम् । उभयोः प्रतिषिद्धमन्योन्यसंभाषणमाचरतोर्यो वक्ष्यते संग्रहणे दण्डः स एव वेदितव्यः ।**

**मनुः**—" चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ।
भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ॥
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ।
न संभाषं सह स्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ॥

---

+ एतच्चिह्नान्तर्गतग्रन्थो ग. घ. छ. पुस्तकेषु नास्ति ।

---

१ क. °मसाहसः । विविक्तं । २ ङ. °द्याद्दण्डं तु द्विगुणं पुं° । ३ ग. घ. छ. °हणं त° । ४ क. °न साहसं समा° ।

निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ।
नैष चारणदारेषु विधिर्नाऽऽत्मोपजीविषु ॥
सज्जयन्ति हि ते नारीं निगूढाश्चारयन्ति च ।
किंचिदेव हि दाप्यः स्यात्संभाषं तामिराचरन् ॥
प्रेष्यासु चैकभक्तास्तु रहः प्रव्रजितासु च" ।

भिक्षुकादयोऽप्रतिवारिता अनिषिद्धभाषणाः स्त्रीभिः सह संभाषेरन् । प्रतिषिद्धा न संभाषेरन्नित्यर्थसिद्धम् । ततश्च "न संभाषं सह स्त्रीभिः" इति भिक्षुकादिव्यतिरिक्तपुरुषविषयो निषेधः । तद्विषय एव च सुवर्णं दण्डमर्हतीति दण्डविधिः । सुवर्णशब्दोऽयं परिमाणवचनः । तथाहि सति जातिपरिमाणयोरुक्तिः । अन्यथा तु जातेरेव । न चापरिमाणा जातिरुपासीनाऽङ्गं भवति । ततश्च पणशतद्वयस्य स्व(सु)वर्णस्य च दण्डत्वं शक्त्यपेक्षया व्यवस्थाप्यम् । प्रेष्या दास्यादयः । एकभक्ता अव्यभिचारिण्यः । प्रव्रजितासु च नैष विधिरित्यन्वयः ।

मत्स्यपुराणम्—"भिक्षुकोऽप्यथवा नारी योऽपि स्यात्तु कुशीलवः ।
प्रविशेत्प्रतिषिद्धस्तु प्राप्नुयाद्विंशतं दमम् ॥
यस्तु संचारकस्तत्र पुरुषः स तथा भवेत् ।
पारदारिकवद्दण्ड्यो यश्च स्यादवकाशदः" ॥ २८५ ॥

**संजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः ॥**
**प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥२८६॥**

सर्वेषां वर्णानां सजातौ सवर्णे यत्संग्रहणं तत्रोत्तमसाहसो दण्डः । आनुलोम्ये ब्राह्मणादेः क्षत्रियादिस्त्र्यभिगमने तु मध्यमसाहसो दण्डः । गुप्तां बलाद्गच्छत एतत् । यदाह मनुः—

"सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः" ॥

ते क्षत्रियावैश्ये ।

तथा—"अगुप्ते वैश्यराजन्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दाप्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्" ॥

प्रातिलोम्ये हीनवर्णः पुरुष उत्तमवर्णा स्त्रीत्येवंरूपे संग्रहणे पुंसो वधः । स्त्रियास्तु कर्णकरनासौष्ठच्छेदनं कार्यम् । गुप्तायां स्त्रियामेतत् । यदाह मनुः—

---

१ ग. घ.छ. ज. °स्व सुबलस्य । २ ग. घ. छ. संस्कार° । ३ ङ. स्वजाता° । ४ क. °गुप्त-वैश्यराजन्ये शूद्रायां ब्रा° ।

( स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४ )

" ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥
उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्विजातं वर्णमावसन् ।
+अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी गुप्ते सर्वेण हीयते " ॥

एकाङ्गं लिङ्गं, सर्वेण जीवितधनेनेत्यर्थः । तथा च शूद्रस्यानुवृत्तौ गौतमः—

" आर्यस्त्रयभिगमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं च " ।

मनुः—" वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः " ॥

अत्यन्तविप्लुतायामगुप्तायां क्षत्रियायां वैश्यस्य पञ्चशतिको दण्डोऽयम् । अविप्लुतायां गुप्तायां वधः "प्रातिलोम्ये वधः" इति विशेषवचनादुक्तः । सजातौ सामान्येनोत्तमसाहसो दण्डः । तदपवादाय स्त्रीविशेषे दण्डान्तरमाह—

नारदः—" माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥
आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते ।
शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते " ॥

मनुः—" पुमान्संदाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् " ॥

ब्राह्मणव्यतिरिक्तगुरुतल्पगविषयमेतत् । तथाविधं ब्राह्मणं प्रति बृहस्पतिराह—

" छद्मना कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दमः ।
अङ्कयित्वा भगाङ्केन पुरान्निर्वासयेत्ततः ॥
सहमार्यः कामयते धनं तस्याखिलं हरेत् ।
उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद्गर्दभेन तु ॥ २८६ ॥

---

+ मिताक्षरायां त्वयं पाठः—" अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते " इति ।

---

१ क. तु भावेन ब्रा° । २ क. °वितेनेत्य° । ३ ग. घ. छ. ज. इत्यावि° । ४ ख. पातकम् । ५ क. ससहाया कामयेत ध° । ६ ग. °माया: का° । ज. °माया का° ।

प्रसङ्गात्कुमारीविषयमाह—

अलंकृतां हरन्कन्यामुत्तमं त्वन्यथाऽधमम् ॥
दण्डं दद्यात्सवर्णां तु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः॥२८७॥
सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथोऽधमः ॥

सवर्णां कुमारीमलंकृतां हरञ्जुत्तमसाहसं दण्डं दद्यात् । अनलंकृतां तु प्रथमसाहसम् । हीनवर्णस्योत्तमवर्णां कन्यां हरतो वधो दण्डः । उत्तमवर्णेन हीनवर्णासु सकामासु कन्यास्वपहृतासु नास्त्यपहर्तुर्दोषः । अन्यथा त्वकामास्वधमः प्रथमसाहसः । एतच्चापहारमात्रे दण्डविधानम् ॥ २८७ ॥

कन्यां दूषयतोऽधुना दण्डमाह—

दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥ २८८ ॥

यस्तु कन्याया अङ्गुल्या योनिक्षतं कृत्वा दूषणं करोति, तस्य करच्छेदो दण्डः । अस्मिन्दोष उत्तमवर्णकन्याविषये दूषयितुर्वधः । करशब्दोऽत्राङ्गुल्यां वर्तते । अत एव मनुः—

" अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याऽऽशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् " ॥

अभिषह्य प्रसह्य, कन्यां क्षतयोनित्वेन दुष्टां कुर्यादित्यर्थः । तस्याविलम्बेनाङ्गुल्यौ कन्यादूषणहेतुभूते कर्त्ये छेद्ये ।

तथा—" सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलीछेदमर्हति ।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये " ॥

तुल्यः सवर्णः । प्रसङ्गोऽतिप्रसङ्गः ।

यस्तु मैथुनेन कन्यां दूषयति, तं प्रत्याह मनुरेव—

" योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः " ॥

अकामामनिच्छन्तीं कन्यामकृतविवाहां चाक्षतयोनिं दूषयति, स ब्राह्मणव्यतिरिक्तः सवर्णोऽसवर्णो वा वधमर्हति । ब्राह्मणस्य तु दण्डः कल्प्यः । सकामां यदि तुल्यः सवर्णोऽभिगच्छेत्ततोऽस्य न वधः । किं तूत्तमसाहसो दण्डः ।

" कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किंचिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे " ॥

---

१ ङ. 'वर्णासु प्रा' । २ ग. घ. छ. ज. 'था दमः । ३ ग. घ. छ. भर्ल' । ४ ग. घ. ज. सेव्यमा' ।

( स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४ )

उत्कृष्टमुत्कृष्टवर्णं, जघन्यं हीनवर्णम् । सवर्णं उत्तमग्रहणेन लक्ष्यते ।

" उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि " ॥

समां सवर्णां सेवमान इच्छते तत्पित्रे शुल्कं दद्यात् ।

नारदः—" सकामायां तु कन्यायां सवर्णे नास्त्यतिक्रमः ।
किं त्वलंकृत्य संस्कृत्य स एवैनां समुद्वहेत् " ॥

शङ्खलिखितौ—" कन्यायामसकामायां व्यङ्गुलच्छेदो दण्डश्चोत्तमायां
वधो जघन्यस्य, समायां सकामायां च शुल्कमामरणं
द्विगुणं च स्त्रीधनं दत्त्वा प्रतिपद्येत स्व(स)कन्याम् " ।

मनुः—" कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः ।
शुल्कं च त्रिगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाऽऽप्नुयाद्दश " ॥

अयमर्थः—या कन्या केनापि हेतुनाऽङ्गुल्यादिना कन्यां क्षतयोनिं कुर्यात्सा पणशतद्वयं राज्ञे दद्यात् । तथा यच्छुल्कं मूल्यं कन्याऽर्हति, तत्त्रिगुणं तस्यै दूषितायै दत्त्वा दश शिफाश्चाऽऽप्नुयात् । रज्जुप्रहारो लताप्रहारो वा शिफा ।

" या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अङ्गुल्योरेव च च्छेदं खरेणोद्वहनं तथा " ॥

स्त्री चात्र कन्याव्यतिरिक्ता वेदितव्या । कन्यायाः पूर्वमुक्तत्वात् ॥२८८॥

किं च—

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद्द्वे तु मिथ्याभिशंसिता ॥
पशुं गच्छञ्शतं दाप्यो हीनस्त्रीं गां च मध्यमम् ॥२८९॥

स्त्रियाः कन्याया दूषणं क्षतयोनित्वादिकेनाकन्यात्वाभिधानम् । तत्कर्तुः पणशतं दण्डः । तदेव चेन्मिथ्या ब्रूयात्पणशतद्वयं दण्ड्यः । गोव्यतिरिक्तं पशुं गच्छन्पणशतं दाप्यः । अन्त्यजां स्त्रीं गां च गच्छतो मध्यमसाहसो दण्डः । हीनस्त्रीं गच्छतो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्यायं दण्डः । ब्राह्मणस्य तु सहस्रं, " सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् " इतिवचनात् । कन्यादोषानाह नारदः—

" दीर्घकुत्सितरोगार्ता व्यङ्गा संसृष्टमैथुना ।
धृष्टाऽन्यगतभावा च कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः " ॥

---

१ छ. °मानास्समा° । २ ङ. पशून्गच्छ° । ३ क. हीनां स्त्रीं । ४ ग. घ. छ. °शतद्वयं वा° । ५ ग. घ. ज. व्यङ्गसंसृष्टमैथुनम् । धृ° ।

यत्तु—" दूषयंस्तु मृषा शतम् " इत्युक्तम्, तदल्पधनविषयम् ॥ २८९ ॥

**अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ॥**
**गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥**

या दास्यः स्वामिनाऽवरुद्धा निषिद्धपुरुषसेवा याश्च भुजिष्याः स्वामिनैवोपभुज्यन्ते, ता यद्यपि दासत्वे सत्यानुलोम्येन गम्यास्तथाऽपि तदभिगन्ता पुमान्पञ्चाशत्पणं दाप्यः। गम्यत्वाभिधानं चेदं न प्रत्यवायाभावाभिप्रायम्। किं तु दण्डभावाभिप्रायम् । तेन भुजिष्यामनवरुद्धां च दासीं गच्छतो नास्ति दण्डः ।

नारदः—" स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या ।
गम्याः स्युरानुलोम्येन[1] स्त्रियो न प्रतिलोमतः ॥
आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत् ।
गम्या अपि हि नोपेया यतस्ताः सपरिग्रहाः " ॥

व्यासः—" परोपरुद्धागमने पञ्चाशत्पणिको दमः ।
प्रसह्य वेश्यागमने दण्डो दशपणः स्मृतः " ॥

बन्धकीमधिकृत्याऽऽह यमः—

" परदारे सवर्णासु दण्ड्याः स्युः पञ्च कृष्णलान् ।
असवर्णास्वानुलोम्ये दण्डो द्वादशकः स्मृतः " ॥

द्वादशको द्वादशपणः ।

व्यासः—" बहुभिर्भुक्तपूर्वा या गच्छेद्यस्तां नराधमः ।
तस्य वेश्यावदिच्छन्ति दण्डनं न तु दारवत् " ॥

कात्यायनः—" कामार्ता स्वैरिणी या तु स्वयमेव प्रकामयेत् ।
राजादेशेन भोक्तव्या विख्याप्य जनसंनिधौ " ॥ २९० ॥

**प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ॥**
**बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥**

परदासीं हठादभिगच्छतो दशपणो दण्डः । अनिच्छन्तीं बहूनामभिगच्छतां प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणः* ॥ २९१ ॥

---

* इत उत्तरं ङ. पुस्तके मोहमयीमुद्रितमिताक्षरापुस्तके च—"गृहीतवेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् । अगृहीते समं दाप्यः पुमानप्येवमेव च" इति श्लोकोऽधिको दृश्यते । अयं श्लोकस्तन्नाम्ना च सटीकपुस्तकेषु नास्ति ।

---

१ क. °याभिं । २ ग. घ. छ. ज. °न न स्त्रियोऽप्र' ।

अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं चाधि मेहतः ॥
चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९२ ॥

यः पुनरयोनौ मुखादौ योषां योषितं गच्छति, यश्च पुरुषमधि पुरुषस्योपरि मेहं मूत्रपुरीषं चोत्सृजति, यश्च प्रव्रजितां श्रमणिकादिकामुपैति, तस्य चतुर्विंशतिपणो दण्डः । चत्वारिंशत्पणो दण्ड इति वा पाठे चत्वारिंशत्पणरूपः ॥ २९२ ॥

अन्त्यागमने त्वाङ्क्य कबन्धेन प्रवासयेत् ॥
शूद्रस्तथाऽङ्क्य एव स्यादन्त्यस्याऽऽर्यागमे वधः ॥ २९३ ॥

इति स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् ॥ २४ ॥

अन्त्याश्चण्डालक्षत्त्रायोगवस्त्रियः । तदभिगन्तारं द्विजातिं प्रायश्चित्तमकुर्वाणं कबन्धेन शिरोरहितेन पुंसा ललाटेऽङ्कयित्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । शूद्रस्तु प्रायश्चित्तं कुर्वाणोऽप्यङ्क्य एव । अन्त्यस्य चण्डालादेरुत्तमवर्णां गच्छतो वध एव । इति स्त्रीसंग्रहणम् ॥ २९३ ॥

[ इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् ॥ २४ ॥ ]

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# प्रकीर्णप्रकरणम् । ( २५ )

---

अधुना प्रकीर्णाख्यं विवादपदं प्रस्तौति—

ऊनं वाऽप्यधिकं वाऽपि यो लिखेद्राजशासनम् ॥
पारदारिकचौरौ वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः ॥ २९४ ॥

दत्तस्य भूम्यादे राजनिर्दिष्टं यत्परिमाणं तच्छासने न लिखति । किं तु ततो न्यूनमधिकं वा यः शासनलेखनेऽधिकृतः स लिखेत् । यश्चौ(श्चौ)रादिग्रहणेऽधिकारी चौरं पारदारिकमन्यं वा दण्डनीयं गृहीत्वा राजाज्ञामन्तरेण मुञ्चेत्स उत्तमसाहसं दण्डनीयः ।

---

१ क. °षं वाऽपि मे° । २ क. °थाऽन्त्य ए° ।

शङ्खलिखितौ—" कूटशासनप्रयोगे राजशासनप्रतिषेधे कूटतुलामान-
प्रतिमानव्यवहारे शारीरोऽङ्गच्छेदो वा "।

कात्यायनः—" प्रमाणेन तु कूटेन मुद्रया वाऽपि कूटया।
कार्यं तु साधयेद्यो वै स दाप्यो दम उत्तमम् " ॥

मनुः—" कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विट्सेविनस्तथा " ॥

प्रकृतयः स्वाम्यादिराज्याङ्गानि, द्विट्सेविनो राजद्वेषिसेविनः।

विष्णुः—" कूटशासनकर्तृंश्च राजन्यात्कूटलेख्यकरांश्च " ॥ २९४ ॥

**द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण दण्ड्य उत्तमसाहसम् ॥**
**क्षत्रियं मध्यमं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम् ॥ २९५ ॥**

अभक्ष्येण लशुनादिना ब्राह्मणं दूषयित्वोत्तमसाहसं दण्ड्यः। क्षत्रियं दूषयित्वा मध्यमसाहसम्। वैश्यं दूषयित्वा प्रथमसाहसम्। शूद्रं तु तदर्धम्। दण्ड्य इत्यनुवृत्तौ विष्णुः—

" अभक्ष्येण ब्राह्मणस्य दूषयिता षोडश सुवर्णान्।
जात्यपहारिणा शतम्। सुरया वध्यः। क्षत्रियं दूषयितुस्तदर्धं, वैश्यं दूषयितुस्तदर्धमपि शूद्रं दूषयितुः प्रथमसाहसम्। जातिभ्रंशकरस्याभक्ष्यस्य भक्षयिता विवास्यः "॥२९५॥

**कूटस्वर्णव्या(व्य)वहारी[1] विमांसस्य च विक्रयी ॥**
**व्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥२९६॥**

असुवर्णे सुवर्णबुद्धिं परस्योत्पाद्य यो व्यवहरति, यश्च विरुद्धं विड्वराहादिमांसं समीचीनमांसबुद्धिमुत्पाद्य विक्रीणीते, स त्रिभिरङ्गैर्नासाकर्णहस्तैर्हीनः कार्यः। उत्तमसाहसं च दण्ड्यः।

यत्तु मनुनोक्तम्—" सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लघुशः क्षुरैः "

तद्ब्राह्मणसुवर्णापहारिसुवर्णकारविषयम् ॥ २९६ ॥

विषयविशेषे दण्डापवादमाह—

**चतुष्पादकृतो दोषो नापै(पे)[2]हीति प्रजल्पतः ॥**
**काष्ठलोष्टेषु पाषाणैर्वाह्ययुग्यकृतस्तथा[3] ॥ २९७ ॥**

---

१ ग. घ. छ. दण्ड ई°। २ ङ. °र्णव्यवहा°। ३ ङ. °णबाह्ययुग्मकृ°।

चतुष्पादैर्गोजाश्वादिभिः कृतो मनुष्यमारणादिरपराधस्तद्वाहकस्य दण्डनिमित्तं भवति । यद्यसावुच्चैरपै(पे)हीति परं प्रति ब्रूयात्, काष्ठादि व्यापारयतश्चापै(पे)हीत्युच्चैर्भाषमाणस्य काष्ठादिकृतोऽपराधो दण्डनिमित्तं न भवति । लोष्टो मृत्पिण्डः । इषुर्बाणः । युग्यं यानम् ॥ २९७ ॥

## छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ॥
## पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाम्यदोषभाक् ॥ २९८ ॥

बलीवर्दनासिकार्पिता रज्जुर्नस्या, सा छिन्ना यत्र याने तच्छिन्ननस्यं यानम् । तथा भग्नं युगादि यस्य तत्तथोक्तम् । आदिशब्देन चक्राक्षादीनि यानाङ्गानि गृह्यन्ते । तेनोक्तप्रकारेण यानेन पश्चादपसरता कृते प्राणिहिंसने स्वामी न दोषभाग्भवति । चकारात्पश्चादपसरणव्यतिरिक्ता अपि यानस्य गतयः परिगृह्यन्ते । स्वामिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेन सारथ्यादिरपि न दोषभाक् ।

मनुः—" छिन्ननस्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।
अक्षभावे च यानस्य चक्रभावे तथैव च ॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपै(पे)हीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥
यत्रोपवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् " ॥

प्राजकः सारथिः । स्वामी रथी ।

" प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् " ॥

आप्तो निवारणसमर्थः । अनाप्ते तु तस्मिन्युगस्था यानस्थाः सर्वे प्रत्येकं शतं दण्ड्याः ।

तथा—" स चेत्तु प्रतिसंरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डो विचारतः ॥
मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥

---

१ ग. घ. छ. हिंस्येन स्वा° । २ क. युगो युगा° । ग. घ. छ ज. युग्यं युगा° । ३ ग घ. छ. ज. अक्षभागे च यानस्य चक्रभागे तु° । ४ क.ज. °त्राप्तव° । ५ क निर्वार° । ६ ग. घ. छ. ज. °भृत्स्वम° ।

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥
गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः ।
माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने " ॥ २९८ ॥

**शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ॥**
**प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ २९९ ॥**

दंष्ट्रिणां गजादीनां शृङ्गिणां बलीवर्दादीनां स्वामी प्राणिव्यापादने प्रवर्तमानानां तन्निवारणे शक्तः सन्यो न निवारयति, तस्य प्रथमसाहसो दण्डः । यस्तु व्यापाद्यमानेनं त्रायस्वेति विक्रुष्टेऽपि न निवारयति तस्य पूर्वोक्ताद्द्विगुणो दण्डः ॥ २९९ ॥

**जारं चौरेत्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम् ॥**
**उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०० ॥**

यस्तु स्वकीयस्त्रीणां दोषं प्रच्छादयितुकामस्तज्जारं चौरत्वेनाभिवदति, तस्य पञ्च शतानि यस्य स पञ्चशतः[ दण्डः ] । यस्तु जाराद्द्रव्यं गृहीत्वा तं राजन्यनिवेद्य मुञ्चति, स गृहीतं धनमष्टगुणं दाप्यः ॥ ३०० ॥

किं च—

**राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाऽऽक्रोशकारिणम् ॥**
**तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥ ३०१ ॥**

राज्ञो जनपदादिपालकस्य यदनिष्टमप्रियं शत्रुप्रशंसादि तस्यातिशयेन वक्तारं, तथा राजविषयस्याऽऽक्रोशस्य शपथस्य कर्तारं, तदीयमन्त्रस्य च संधिविग्रहादिविषयस्य भेत्तारं प्रकाशयितारं छिन्नजिह्वं कृत्वा प्रवासयेत् ।

मनुः—" राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् " ॥

उपजापका उपोद्बलकाः । विविधैर्दण्डैरिति । यथापराधं सर्वेऽपि दण्डाः प्रयोक्तव्या इत्यर्थः ।

तत्र सर्वस्वापहारे जीविकासाधनं नापहार्यमित्याह नारदः—

" आयुधान्यायुधीयानां बाह्यादीन्बाह्यजीविनाम्[2] ।
वेशस्त्रीणामलंकारानातोद्यादीनि तद्विदाम् ॥

---

१ ग. घ. छ. ज. °न न त्रा° । २ क. °म् । वैश्यास्त्री° ।

यश्च(ञ) यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारवः ।
सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति " ॥ ३०१ ॥

**मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ॥**
**राजयानासनारोढुर्दण्डो मध्यमसाहसः+ ॥ ३०२ ॥**

शवालंकरणाय तदङ्गलग्नं वस्त्रादि विक्रीणानस्य गुरुमुक्तलक्षणं ताडयतः प्रहरतो राज्ञो यानासनयोस्तदाज्ञामन्तरेणाऽऽरोढुर्मध्यमसाहसो दण्डः॥ ३०२॥

**द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ॥**
**विप्रत्वेन तु शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः ॥ ३०३ ॥**

यो द्वे अपि नेत्रे रोषात्परस्य भिनत्ति, यश्च राजद्विष्टस्याऽऽज्ञाकारी, यश्च शूद्रो विप्रलिङ्गेन जीवति, तस्याष्टौ शतानि दण्डः । विप्रत्वेन जीवता शूद्रेण यदि द्विजातिभिः सह ब्राह्मो योनौ वा संबन्ध आचरितस्तदाऽसौ वध्य एव ।

" तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः " इति मनुवचनम् ।

यत्तु—" शूद्रस्य विप्रवेशधारिणस्तप्तशलाकया
यज्ञोपवीतं दद्याद्वपुष्यपि लिखेत् "

इति स्मृत्यन्तरवचनं, तच्छ्राद्धभोजनवैश्वदेवादिकं स्मार्तं कर्म परार्थं कुर्वतो द्रष्टव्यम् ।

मनुः—" यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् " ॥

क्षत्रियवैश्यविषयमेतत् ॥ ३०३ ॥

सर्वव्यवहारशेषतया किंचिदाह—

***सम्यग्दृष्ट्वा तु दुर्दृष्टान्व्यवहारान्नृपेण तु ॥**
**सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं पृथक्॥ ३०४॥**

ये दुर्दृष्टा लोभादिवशादयथाशास्त्रं दृष्टा व्यवहारास्तान्पुनः सम्यग्दृष्ट्वा राज्ञा पूर्वसभ्यास्तत्र च यो जयी वादी तेन सहिताः प्रत्येकं पराजितस्य यो दण्डस्ततो द्विगुणं दण्डं दण्डनीयाः ।

---

* ङ. पुस्तकेऽत्रार्धे पाठान्तरम्—"दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु" इति । + मिताक्षरायामुत्तमसाहस इत्येव पाठो दृश्यते ।

---

१ ङ. °र्दण्ड उत्तम° । २ ङ. °ष्टगुणो द° ।

" सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् " ।

इत्युक्तं, तद्धनविवादविषयम् । इदं तु तद्व्यतिरिक्तविषयमिति न पौनरुक्त्यम् । यदा तु साक्षिदोषाकृष्टदुष्टो व्यवहारः स्यान्न तदा सभ्यदण्डस्तेषां तत्राहेतुत्वात् । यदा तु विवादादिसभ्यसभापतिसाक्षिवशादसमीचीनो व्यवहारः स्यात्तदा सर्वेषां क्लेशतः प्रत्यवायसमवायः स्यात् । तदुक्तम्—

" पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति " ॥ ३०४ ॥

न्यायतः पराजितस्य वादिनो न्यायदर्शनोपायमाह—

**यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ॥**
**तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् ॥ ३०५ ॥**

यो वादी शास्त्रतः पराजितोऽपि नाहं पराजितोऽस्मीति मन्यते, तं पुनर्व्यवहारदर्शनायाऽऽयान्तमागतं पुनर्व्यवहारदर्शनेन जित्वा द्विगुणं दमं दापयेत् । द्विगुणदमाङ्गीकारे सत्येव तदीयो व्यवहारः पुनर्द्रष्टव्यो नान्यथेति तात्पर्यार्थः ।

अत एव नारदः—

" तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः ।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् " ॥

अयमर्थः—यत्तस्य पराजयहेतुलिखितं तीरितं यश्च(च्च) तस्य दण्डनं तदनुशिष्टं तदुभयं विधर्मतो धर्मशास्त्रविरोधतो जातमिति यो मन्यते, स द्विगुणं दण्डमङ्गीकृत्य व्यवहारदर्शनं पुनः कारयेदिति । यदि पुनर्द्विगुणदण्डा[न]ङ्गीकारो वादिनोऽस्ति, तदा पूर्वदृष्टं नैव चालनीयमित्याह—

" तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन विद्यते ।
कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्प्राज्ञो निवर्तयेत् " इति ॥ ३०५ ॥

**राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ॥**
**निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम् ॥ ३०६ ॥**

इति प्रकीर्णप्रकरणम् ॥ २५ ॥

यदा तु राज्ञाऽन्यायेन न्यायातिक्रमेण कुतोऽपि दण्डो गृहीतस्तद्दण्डधनं

---

१ ग. घ. छ. °गुणाद' । २ ग. छ. ज. पूर्वं दण्डं नै° ।

( प्रकीर्णप्रकरणम् २५ )

तस्मै दत्त्वा ततस्त्रिंशद्गुणं वरुणाय निवेद्य वरुणमुद्दिश्य स्वयं त्यक्त्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । ब्राह्मणेषु प्रतिपादयेदित्यर्थः ॥ ३०६ ॥ *

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्य-देवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के प्रकीर्ण-प्रकरणम् ॥ २५ ॥

---

समाप्तोऽयं व्यवहाराध्यायो द्वितीयः ॥

---

* इत उत्तरं मूलपुस्तकेषु त्रयः श्लोका अधिका उपलभ्यन्ते ते च यथा-" राजभिर्दत्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा । एवमुद्धृतदण्डानां विशुद्धिः पापकर्मिणाम् । स्वधर्मस्थापनाद्राजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते । यत्र दण्डविधिर्नोक्तः सर्वैरेव महात्मभिः । देशकालादि संचिन्त्य तत्र दण्डो विधीयते " इति ।

समाप्तोऽयमपरार्कापराभिधापरादित्यविर-
चितटीकासमेतयाज्ञवल्क्यस्मृतेर्द्वि-
तीयो व्यवहाराध्यायः ॥२॥

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ तृतीयः

# प्रायश्चित्ताध्यायः ।

## तत्राऽऽशौचप्रकरणम् । ( १ )

पूर्वेणाध्यायद्वयेन वर्णानामाश्रमिणोश्च ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्धर्मा उक्ताः । संप्रति गृहस्थस्य स्वेषु धर्मेषु येन निमित्तेनानधिकारस्तस्मिंश्च सति येषु धर्मेष्वधिकारस्तदुभयच्छेदार्थमध्यायान्तरमारभते । एवं सति वक्ष्यमाणमर्थजातमेकाध्यायार्थतां याति । तथा हि—आशौचप्रकरणे सपिण्डजननमरणयोर्निमित्तयोस्त्रिरात्रादिकालिकोऽनधिकारः । [ *मृतसपिण्डशरीरसंस्कारादौ कर्मराशावधिकारः । ] एवमापन्नस्याऽऽपद्वृत्तिवर्तितया हीनवर्णवृत्तौ विहितायामायुधीयकृष्यादावधिकारः । तथा च जीवतः स्ववृत्तौ प्रतिग्रहादावनधिकारः । तथाऽऽश्रमसमुच्चयसंकल्पवतः पञ्चविंशतिवत्सरपरिमितगार्हस्थ्यान्ते गार्हस्थ्येऽनधिकारः । वनस्थत्वे चाधिकारः । एवं तृतीयमायुषो भागं वनस्थतया निर्वाह्य न वनस्थो भवेत् । किं तु परिव्रजेत् । पातित्ये सति द्विजातिकर्मस्वनधिकारः । तत्प्रसङ्गादुपपातकेषु सत्सु कर्मानधिकाराभावेऽपि प्रायश्चित्तमेव विधीयत इति सर्वमेवाध्यायार्थो भवति । यद्यपि च पातित्यं प्रायश्चित्तं च सर्वेषामाश्रमिणां तुल्यं, तथाऽपि गृहस्थस्यापि तद्भवतीति प्रसङ्गादत्रैवाध्याये तत्कथनमुचितम् ।

ऊनद्विवर्षं निखनेन्न कुर्यादुदकं ततः ॥
आश्मशानमनुव्राज्य इतरो ज्ञातिभिर्मृतः ॥ १ ॥
यमसूक्तं तथा गाथा जपाद्विलौकिकाग्निना ॥
स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृताऽर्थवत् ॥ २ ॥

चत्वारीमानि वाक्यानि, तत्र ऊने असंपूर्णे द्वे वर्षे यस्य तं मृतं पित्रादिः प्रत्यासन्नो बान्धवो वा निखनेत् । भुवं खात्वा निधाय पूरयेत् । अत्र मानवो विशेषः—

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

१ क. °र्हस्थ्ये° । २ ङ. °शानादनुव्रज्य । ३ घ. छ. °नुव्रज्य । ४ घ. छ. °ना । संद° ।

" ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते " इति ॥

बान्धवा इति बहुवचनमविवक्षितार्थम् । बहिर्ग्रामाद्बहिरित्यर्थः । गन्धपुष्पादिभिः प्रेतमलंकृत्य शुचावनुपहतायां भूमौ निदध्युः । अस्थिसंचयनादृते, अस्थिसंचयनं न कुर्युरित्यर्थः । न पुनर्यत्र भूमावस्थिसंचयनं न कृतं तत्रेति । शुचावित्यनेनैव तत्सिद्धेः ।

यमः—" ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्भुवि ।
यमगाथा गायमानो यमसूक्तमनुस्मरन् " ॥

मनुः—" दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथावर्णं द्विजातयः ॥

निर्हरणीया इति शेषः । प्रातिलोम्येन वर्णक्रमः । तथा चाऽऽदिपुराणम्

" पूर्वामुखस्तु नेतव्यो ब्राह्मणो बान्धवैर्गृहात् ।
उत्तराभिमुखो राजा वैश्यः पश्चान्मुखस्तथा ॥
दक्षिणाभिमुखः शूद्रो निर्हर्तव्यः स्वबान्धवैः " इति ।

बान्धवाभावेऽन्ये निर्हरेयुः । तत्र मानवो विशेषः—

" न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता " इति ॥

स्वेषु द्विजेषु ।

हारीतः—" न ग्रामाभिमुखं प्रेतं न कुर्यादुदकं ततः " इति ।

ततो निखननादनन्तरमुदकं न कुर्यात् । स्नानं तु शुद्धये कुर्यादेव । उदकदाननिषेधश्च सकलौर्ध्वदैहिकप्रतिषेधप्रदर्शनार्थः । तथा चोनद्विवार्षिकाधिकारे मनुः—

" नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेतैं व्य(युस्त्य)हमेव तु " ॥

काष्ठवदितिवचनात्सकलौर्ध्वदैहिकनिवृत्तावूनद्विवार्षिकस्याकृतचूडस्य निखननमुदकनिषेधश्च वैकल्पिकः । यतो लौगाक्षिराह—

" तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च ।
सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् " इति ॥

---

१ क. °वनप° । २ क. °नं कृ° । ३ कृ. °वर्णे द्वि° । ४ क. चाऽऽद्यपु° । ५ घ. छ. क्षपेत । ६ क. घ. °त्तूर्णं सं° ।

अन्यत्राकृतचूडानामित्यर्थः । [+एवं च " ऊनद्विवर्षं निखनेत् " इत्यकृतचूडविषयं द्रष्टव्यम् ।] अस्ति हि प्रथमेऽब्देऽपि चूडाकर्म । अकृतचूडस्य चाग्निसंस्कारविकल्पो नामकरणादूर्ध्वमेव । यदाह मनुः—

" नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाग्नौ वाऽपि कृते सति " इति ॥

उदकक्रियाऽग्निसंस्कारं गमयत्यव्यभिचारात् । आश्मशानमिति । इतरः संपूर्णद्विवर्षो मृतो ज्ञातिभिः सपिण्डैः श्मशानसंस्कारभूमिं यावदनुव्राज्यः । ततो यमदै(दे)वत्यं सूक्तं " परेयिवांसम् " [ ऋ० अष्ट० ७ अ० ६ व० १४ ] इति षोडर्चं यमदृष्टं त्रैष्टुभं यमदै(दे)वत्याश्च गाथाः " योऽस्य कौष्ठ्य जगतः " इति तिस्रो जपञ्छिलौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना दग्धव्यः । उपनीतश्चेन्मृतस्तदाऽऽहिताग्नेर्या संस्कारक्रिया तयाऽर्थवदलुप्तार्थं यथा भवति तथा दग्धव्यः । लुप्तार्थानां[1] पात्रचमसादीनां लोपोऽन्येषां च होमादीनां पदार्थानामनुष्ठानम् ।

यमः—" यस्याऽऽनयति शूद्रोऽग्निं तृणं काष्ठं हवींषि च ।
प्रेतत्वं च सदा तस्य स चाधर्मेण लिप्यते " ॥

स शूद्र इत्यर्थः ।

प्रचेताः—" स्नानं प्रेतस्य पुत्राद्यैर्वस्त्राद्यैः पूजनं ततः ।
नग्नदेहं दहेन्नैव किंचिद्देयं परित्यजेत् " ॥

स्नानं पूजनं कार्यमित्यर्थः । किंचिद्वस्त्रं यल्लोके देयत्वेन प्रसिद्धं[3] तत्परित्यजेत्, तत्स्थेभ्यश्चण्डालादिभ्यः ।

हारीतः—" विहितं हि सपिण्डस्य प्रेतनिर्हरणादिकम् ।
दोषः स्यादसपिण्डस्य तत्रानौर्ध्वक्रियां विना ॥
धनिष्ठापञ्चकमृते पञ्चरत्नानि तन्मुखे ।
न्यस्याऽऽहुतित्रयं कर्ता दद्याद्वह वपामिति ॥
वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थ निहितान्पराके ।
मेध(द)सः कुल्याः उप ताः स्रवन्तु सत्या एता आशिषः सन्तु कामैः ॥
वहान्नं जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थ निहितान्पराके ।
अन्नस्य कुल्याः उप ताः स्रवन्तु सत्या एता आशिषः सन्तु कामैः ॥

---

+ न विद्यत एतच्चिह्नान्तर्गतं घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °नां च पात्राच° । २ घ. छ. स्नानेन पू° । ३ घ. छ. प्रतिषिद्धं । ४ छ. तत्र ना° । ५ घ. °नार्थक्रि° ।

वह मा(मां)सं जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थ निहितान्पराके ।
मांसस्य कुल्यात उप ताः स्रवन्तु सत्या एता आशिषः सन्तु कामैः ॥
ततो निर्हरणं कुर्यात्तं संस्कुर्याद्यथाविधि ।
इतरं निखनेदेव जले वा प्रतिपादयेत् ॥
त्रिपादर्क्षमृते तद्वद्धिरण्यशकलं मुखे ।
न्यस्य पिष्टमयं कुर्यात्पुरुषत्रितयं ततः ॥
होमं प्रतिमुखं कुर्यात्ततो वह वपामिति ।
आस्य एव सकर्पासं कुमुम्भं प्रतिपाद्य च ॥
निर्याल्य साग्निं संस्कुर्याद्व्युग्नौ वाऽन्यमुत्सृजेत् " ।

**स्मृत्यन्तरम्**—" कनकं हीरकं नीलं पद्मरागं समौक्तिकम् ।
पञ्चरत्नमिति प्रोक्तमृषिभिः सर्वदर्शिभिः ॥
रत्नानां वाऽप्यभावे तु कर्षं कर्षार्धमेव वा ।
सुवर्णं योजयेत्तत्र यथाशक्त्यथवा बुधः ॥
सुवर्णशकलार्थस्तु यत्र यत्र न विद्यते ।
तत्र तत्र नयेदाज्यं तेजोऽसीतिनिदर्शनात् " ॥

**क्रियाश्रयः**—" पुनर्वसूत्तराषाढा कृत्तिकोत्तरफाल्गुनी ।
पूर्वभद्रा विशाखा च ज्ञेयमेतत्त्रिपुष्करम् " ॥

**सारावलिश्च**—" विषमचरणं धिष्ण्यं भद्रा तिथिर्यदि जायते
शनिरविगुरुक्ष्मापुत्राणां कथंचन वासरे ।
मुनिभिरुदितः सोऽयं योगस्त्रिपुष्करसंज्ञक-
स्त्रिगुणफलदो लब्धे नष्टे हृतेऽपि मृतेऽपि वा ॥
द्वितीया सप्तमी षष्ठी द्वादशी दिग्वसू तिथी ।
क्रमाद्गुरुबुधौ शुक्रसौरभौमनिशाकराः ॥
एतैर्नष्टं हृतं लब्धं यच्चान्यत्कारणं भवेत् ।
सर्वं तत्त्रिगुणं प्रोक्तं तेन चैतत्त्रिपुष्करम् " ॥

**विष्णुः**—" मृतं द्विजं न शूद्रेण निर्हारयेत् । न शूद्रं द्विजेन ।
पितरं मातरं च पुत्रा निर्हरेयुर्न द्विजं पितरमपि शूद्रः " ॥

**कात्यायनः**—" हुतायां सायमाहुत्यां दुर्बलश्चेद्गृही भवेत् ।
प्रातर्होमस्तदैव स्याज्जीवेच्चेच्छ्वः पुनर्न वा ॥

---

१ क. कुसम्भं । २ घ. छ. °शक्त्याऽथ । ३ क. °त्र यजेदा° ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

दुर्बलं स्नापयित्वा तु शुद्धचैलाभिसंवृतम्।
दक्षिणाशिरसं भूमौ बर्हिष्मत्यां निवेशयेत् ॥
घृतेनाभ्यक्तमाप्लाव्य शुद्धवस्त्रोपवीतिनम्।
चन्दनोक्षितसर्वाङ्गं सुमनोभिर्विभूषितम् ॥
हिरण्यशकलान्यस्य क्षिप्त्वा छिद्रेषु सप्तसु।
मुख्येष्वथापिधायैनं निर्हरेयुः सुतादयः ॥
आमपात्रेऽन्नमादाय प्रेतमग्निपुरःसरम्।
एकोऽनुगच्छेत्तस्यान्नमर्धं पथ्युत्सृजेद्भुवि ॥
अर्धमादहनं प्राप्त आसीनो दक्षिणामुखः।
सव्यं जान्व(न्वा?)स्य शनकैः सतिलं पिण्डदानवत् " ॥

**तस्यान्नस्यार्धमादायैकः पुरुषः प्रेतमनुगच्छेत्। अपरस्तदर्धं भुवि पथि च त्यजेत्। आदहनं श्मशानम्।**

**वृद्धयाज्ञवल्क्यः**—" आहिताग्निर्यथान्यायं(यं) दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः।
अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनेतरो जनः " ॥

**एकेन गृह्येणेत्यर्थः। लौकिकश्चाग्निर्जातारण्योरभावे ग्राह्यः। तत्सद्भावे तु मथित एव। लौकिकाग्निपक्षे विशेषमाह देवलः—**

" चण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतिकाग्निश्च कर्हिचित्।
पतिताग्निश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणेऽर्हति " ॥ १ ॥ २ ॥

**उपनीते संस्थिते संस्कारान्तरकर्माऽऽह—**

**सप्तमाद्दशमाद्वाऽपि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः ॥**
**अप नः शोशुचदघमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥**

**ज्ञातयः सपिण्डाः समानोदकाश्च सप्त वा दश वा दिनानि यावत्पितृदिङ्मुखा दक्षिणाभिमुखाश्च स्नात्वा जलं प्रेताय दातुमभ्युपेयुर्गच्छेयुः। गत्वा चाप नः शोशुचदघमिति कुत्सदृष्टयाऽग्निदै(दे)वत्ययाऽब्दै(ब्दे)वत्यया वा गायत्र्या स्नात्वोदकं दद्युः ॥ ३ ॥**

**अज्ञातिष्वतिदेशमाह—**

**एवं मातामहाचार्यप्रेतानां चोदकक्रिया ॥**
**कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्रीयश्वशुरर्त्विजाम् ॥ ४ ॥**

---

१ क. °नात्यर्थमा°। २ क. सूतका°।

मातामहादीनां प्रेतानां दौहित्रादिभिः पूर्वोक्तप्रकारेणोदकक्रिया कार्या, सखिप्रभृतीनां कामोदकं कुर्यात्। यद्युदकं दातुं कामयते दद्यादित्यर्थः। प्रत्ता कृतविवाहा दुहित्रादिः।

पारस्करः—" कामोदकमृत्विक्श्वशुरसखिमातुलभागिनेयानाम् " ॥ ४ ॥

उदकदानधर्मविधिमाह—

## सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण वाग्यताः ॥

उक्तसंख्याकेषु प्रत्यहं सकृदेकवारं स्नात्वादय उदकं नामगोत्राभ्यां वाचंयमाः प्रसिञ्चेयुः।

कात्यायनः—" अथानपेक्षमेत्यापः सर्व एव शवस्पृशः।
स्नात्वा सचैलमाचम्य दद्युरस्योदकं स्थले ॥
गोत्रनामपदान्ते च तर्पयामीत्ययं वदन्[1]।
दक्षिणाग्रान्कुशान्कृत्वा सतिलं[2] तु पृथक्पृथक् " ॥

विष्णुः—" निर्हृत्य बान्धवाः प्रेतं संस्कृत्याप्रदक्षिणेन चितामभिगम्याप्सु सवाससो निमज्जनं कुर्युः। प्रेतस्योदकनिर्वापणं[3] कृत्वैकं च पिण्डं कुशेषु दद्युः "।

वसिष्ठः—" सव्योत्ताभ्यां पाणिभ्यामुदकक्रियां
कुर्वीरन्नयुग्मा दक्षिणामुखाः "।

बैजवापः—" उदकान्तं गत्वा सकृदुन्मृज्याप्सु सव्यस्य पाणेः कनिष्ठिकयाऽवलिखन्ति कनिष्ठं पापमिति, तस्मिन्नेकमुदकाञ्जलिं प्रेताय दद्युरमुष्मै स्वधेति "।

हारीतः—" निष्क्रम्य संस्कृत्यापो गत्वाऽऽप्लाव्यासौ तृप्यतामित्युदकाञ्जलिं निनयन्ति "।

निष्क्रम्य ग्रामान्निष्क्रम्येत्यर्थः॥

पैठीनसिः—" प्रेतं मनसा ध्यायन्दक्षिणाभिमुखस्त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयेत्। शौवं प्रकृत्यैकादशाहे विरमेत् "।

प्रचेताः—" दिने दिनेऽञ्जलीन्पूर्णान्प्रदद्यात्प्रेतकारणात्।
तावद्वृद्धिस्तु कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते " ॥

गौतमः—" प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषूदकक्रियाः "।

---

१ घ. छ. वदेत्। २ क. सलिलं। ३ क. °निर्वप°। ४ घ. छ. सार्धं।

( आशौचप्रकरणम् १ )

**प्रचेताः**—" प्रेतस्य बान्धवा यथावृद्धमुदकमवतीर्यापोऽभ्युपेयुरुदकान्ते प्रसिञ्चेयुरपसव्ये यज्ञोपवीतवाससी कृत्वा दक्षिणाभिमुखा ब्राह्मणस्योदङ्मुखप्राङ्मुखा राजन्यवैश्ययोर्यावदाशौचं तावत्प्रेतस्योदकं पिण्डं च दद्युः " ।

**आदिपुराणात्**—" आदौ तु वस्त्रं प्रक्षाल्य तेनैवाऽऽच्छादितैस्ततः ।
कर्तव्यं तु सचैलं च स्नानं सर्वमलापहम् ॥
ततः पाषाणपृष्ठे तु सर्वैर्देयं तिलोदकम् ।
एकैकैकेन देयास्तु विप्रायाञ्जलयो दश ॥
क्षत्रे द्वादश देयास्तु वैश्याय दश पञ्च च ।
त्रिंशच्छूद्राय देयास्तु प्रेतभूमिगताय च ॥
अपसव्यं क्वचित्कृत्वा वस्त्रयज्ञोपवीतकैः ।
दक्षिणाभिमुखैर्विप्रैर्देयं तोयाञ्जलित्रयम् ॥
वामाङ्गुष्ठप्रवाहेन भूमावेवाथवा क्वचित् ।
असावमुकगोत्रस्तु प्रेतस्तृप्यत्विदं पठन् " ॥

**अत्र विप्रादिभ्यो दशादिसंख्याकजलाञ्जलिप्रदानमेकं कर्म, अञ्जलित्रयदानं तु कर्मान्तरम् । यद्वा प्रत्यहं देयोऽस्य जलाञ्जलिः साकल्येन वा । अत्र चासावमुकगोत्रः प्रेतस्तृप्यत्विति मन्त्रः ।**

**शङ्खः**—" प्रेतस्य बान्धवा यथावृद्धमुदकमवतीर्यापि न इत्यर्थयेरन्नपः प्रसिञ्चेरन्सकृत्प्रदक्षिणाभिमुखो राजन्यवैश्यावप्येवमेव, वासोयज्ञोपवीते कृत्वाऽञ्जलिनाऽसावेतदुदकमित्युक्त्वा तस्मादुत्तीर्य प्रेतसंस्पृष्टानि वासांसि परित्यज्य परिदध्युरन्यानि " ।

**अञ्जलीनां नामसंख्याविधानं प्रेतोपकारातिशयायेति मन्तव्यम् । रामायणे जलप्रदानवाक्यं राम आह—**

" इदं पुरुषशार्दूल विमलं दिव्यमक्षयम् ।
पितृलोकेषु पानीयं मद्दत्तमुपतिष्ठताम् " ॥

**तथा**—" पितरं तर्पयामास भरतः ससुहृज्जनः ।
स च पौरजनः सर्वः सामात्यः सपुरोहितः ॥

---

१ क. °र्याभ्यु' ।

तर्पयामास राजानं सलिलेन विधानतः " इति।

स्मृत्यन्तरम्—" स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्यायुजः पृथक्[1]।
प्राचीनावीतिनो नामगोत्राभ्यां दक्षिणामुखाः॥
जलं प्रेताय मध्याह्ने दद्युर्यावदशुद्धता "।

अत्रापवादमाह—

## न ब्रह्मचारिणः कुर्युरुदकं पतितास्तथा॥ ५॥

ब्रह्मचारिणः सपिण्डसोदकत्वे सत्यपि प्रेतायोदकं न दद्युः, तथा वक्ष्यमाणलक्षणाः पतिताः। अत्र मनुर्विशेषमाह—

" आदिष्टो नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् "॥

आदिष्टो ब्रह्मचारी। आ व्रतस्य समापनादा समावर्तनादित्यर्थः॥ ५॥

अधुना केषांचिदुदकदानकर्तृत्वसंप्रदानत्वयोरपवादमाह—

## पाषाण्डानाश्रिताः स्तेना भर्तृघ्न्यः कामगादिकाः॥
## सुराप्य आत्मघातिन्यो नाशौचोदकभाजनाः॥ ६॥

पाषाण्डान्बौद्धादीनाश्रितास्तद्दीक्षायां प्रविष्टाः, स्तेनाश्चौराः, स्त्रियश्च या भर्तृघातिन्यः कामगाः स्वैरिण्यः। आदिशब्देन स्वगर्भस्य ब्राह्मणस्य च हन्त्रीप्रभृतिका गृह्यन्ते। सुराप्य आत्मघातिन्यश्च प्रसिद्धाः। पाषाण्डाश्रितादयोऽशौचस्य त्रिरात्राद्यपनेयतया वक्ष्यमाणस्योदकदानस्य च भाजनाः संबन्धिनो न भवन्ति। एतेषु मृतेषु सपिण्डैः सपिण्डमरणे चैतैराशौचादि न कार्यमित्यर्थः।

वृद्धमनुः—" क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना व्रात्या विकर्मिणः।
गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः "॥

सुरापीनां(णां) पातित्यादेव प्रतिषिद्धोदकदानानां तत्संप्रदानत्वप्रतिषेधार्थं पुनर्ग्रहणम्। मरणविशेषेऽपि नोदकं देयम्। यदाह वृद्धयाज्ञवल्क्यः—

" विद्युद्वोनृपविप्राम्बुशस्त्राग्निदंष्ट्र्यग्निघातिताः।
वृथोत्पन्नो महाक्लीबो व्रती नैवोदकार्हकाः "॥

लिङ्गरहितो महाक्लीबः। व्रती महाव्रत्यादिः। पाषाण्डी(?)।

---

१ क. प्राच्यायजः। २ घ. छ. °ता न च। ब्रो। ३ घ. छ. °न द्वयो°। ४ ङ. पाखण्ड्यना°। ५ ङ. °त्मत्यागिन्यो।

( आशौचप्रकरणम् १ )

यमः—" चण्डालादुदकात्सर्पाद्ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि ।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम् ॥
उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते ।
नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥
नाशौचं नोदकं नास्तु न दाहाद्यं च कर्म च ।
ब्रह्मदण्डहतानां च न कुर्यात्कटधारणम् " ॥

ब्रह्मदण्डो ब्रह्मशापः । कटः शवखट्वा ।

आपस्तम्बः—" व्यापादयेदिहाऽऽत्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः ।
विहितं तस्य नाशौचं नापि कार्योदकक्रिया " ॥

मनुः—" वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया " ॥

स्वयं ग्रहणाद्रागतः प्रवृत्तो न विधित इति गम्यते । अत एव गौतमः[1]—

" प्रायानशनशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रयाणैश्चेच्छताम् " ।

इच्छतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादाद्विधितो वा मृतानामदोष इति । तथा चाङ्गिराः—

" अथ कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः ।
तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया " ॥

प्रमादोऽनवधानता ।

अस्ति च प्रायश्चित्तादौ विधिः । तथा चाऽऽदिपुराणम्—

" दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितस्तु पुमान्यदि ।
प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं करोत्यनशनं तथा ॥
अगाधतोयराशिं वा भृगुप्रपतनं तथा ।
गच्छेन्महापथं वाऽपि तुषारगिरिमादरात् ॥
प्रयागवटशाखायां देहत्यागं करोति वा ।
स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः ॥
उत्तमान्प्राप्नुयाल्लोकान्नऽऽत्मघाती भवेत्क्वचित् ।
महापापक्षयात्स्वर्गे दिव्यान्भोगान्समश्नुते ॥
एतेषामधिकारस्तु सर्वेषां सर्वजन्तुषु ।
नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा ॥

---

१ घ. छ. °मः—"प्रया° ।

ईदृशं मृतकं तेषां जीवतां कुत्रचिद्भवेत् ।
आशौचं स्याच्त्र्यहं तेषां वज्रानलहतेषु च ॥
वाराणस्यां म्रियेद्यस्तु प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
काष्ठपाषाणमध्यस्थो जाह्नवीजलमध्यगः ॥
अविमुक्तोन्मुखस्तस्य कर्णमूलगतो हरः ।
प्रणवं तारकं ब्रूते नान्यथा कस्यचित्क्वचित् " ॥

तथा—" वृद्धतीर्थस्य पूर्वार्धे गङ्गायाः पश्चिमेन तु ।
अग्नितीर्थं ततः पुण्यं वृद्धतीर्थादधः स्थितम् ॥
इन्द्रगोपनिभादीनां ज्वाला यत्र प्रदृश्यते ।
तच्च स्थानं न सुलभं मर्त्यैस्तच्च न विन्दते ॥
यदि वा विन्दते कश्चित्प्रसादान्नरपुंगवः ।
स्वशरीरं नयेन्मोक्षमिति सत्यं वदाम्यहम् ॥
वृद्धो वाऽप्यथवा बालो यौवनस्थोऽपि मानवः ।
देहत्यागं तु यः कुर्यात्तत्र सर्वात्मना विभोः ॥
आदित्यमण्डलं भित्त्वा सोऽपि मोक्षं गमिष्यति ।
अविनाशमिदं तीर्थं नित्यं संनिहितो हरिः ॥
विशोकासंनिधौ पापमणुमात्रं कृतं यदि ।
निस्तरेन्मेरुतुल्यं वै क्षेत्रमाहात्म्यसंनिधेः ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पापं तत्र विवर्जयेत् " ।

तथा—" अतः परं प्रवक्ष्यामि वृद्धतीर्थस्य दक्षिणे ।
देहत्यागेन वै पुंसां या गतिर्भवतीति च ॥
*स्वर्गद्वारं समासाद्य शुचिवस्त्रपरिवृतः ।
मृगचिह्नशिलां गत्वा स्वर्गद्वारेण तेन च ॥
ततः स्वर्गशिलां प्राप्य पुण्यकर्मा नरोत्तमः ।
वरं प्रार्थयते यत्र त्यक्तात्मा धैर्यमाश्रितः ॥
आदौ प्रणमते देवं तथा तीर्थं सुरार्चितम् ।
ॐ नमस्ते विश्वरूपाख्ये विशोके विश्वसंभवे ॥

---

* एतदर्धं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °ते उच्च ।

( आशीर्वचप्रकरणम् १ )

नमस्ते मोक्षमार्गाय पराय परमात्मने ।
नमो हिरण्यनाभाय हयशीर्षाय विष्णवे ॥
अजतुङ्गाय तीर्थाय अविनाशाय पातु माम् ।
यथा विष्णुर्विशोकाय यथा तीर्थमनामयम् ।
याच्ञा मे वरमेतत्तु श्रवणं दीयतामिति ॥
भीतोऽस्म्यतः पितृपथयानमूर्छितो महापथे दण्डसहस्रताडितः ।
विनाशिनं त्रिगुणरागरञ्जितं +कलेवरं मरणभियाऽर्पयामि तत् ॥
यथा पुण्यं महातीर्थं यथा नौबन्धनो गिरिः ।
तेन सत्येन कायान्मे विमुक्तिस्त्वक्षया भवेत् ॥
इति मन्त्रोत्तमं स्मृत्वा देहं त्यक्त्वा जलाशये ।
स्मरणात्तस्य मन्त्रस्य तथा नौबन्धनस्य च ॥
आदित्यमण्डलं भित्वा परब्रह्मणि लीयते " इति ।

[ *वृद्धतीर्थादीनि काश्मीरदेशे नौबन्धनगिरेर्मूले विज्ञेयानि । ]

**तथा**—" भिक्षाहारो निराहारो लघ्वाशी विगतस्पृहः ।
सर्वद्वंद्वनिरोधेन न वसेत्तत्र मानवः ॥
विमलो विरजा विप्रो विपाप्मा व्योमसंनिभः ।
इह लोके यशोवाप्तिः प्रेत्य स्वर्गं च शाश्वतम् " ॥

**तथा**—" महाप्रस्थानयात्रा च कर्तव्या तुहिनोपरि ।
आश्रित्य सत्त्वं धैर्यं च सद्यः स्वर्गप्रदा च सा ॥
यावत्पुरंदरो लोके न जातः कार्यगौरवात् ।
तावत्तुषारमध्ये तु कस्तनुं त्यक्तुमुत्सहेत् ॥
यावत्तुषारदग्धस्तु मुञ्चेत्प्राणान्विचेतनः ।
प्रदक्षिणावर्तशिखं पश्येद्दीप्तं हुताशनम् ॥
संकर्षणं वपुर्विष्णोश्चण्डाग्निभवदाहकम् " ।

**विवस्वान्**—" सर्वेन्द्रियविरक्तस्य स्वव्यापाराक्षमस्य च ।
प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्निपातो महापथः ॥

---

+ अत्र पुंस्त्वमार्षम् । * एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. 'का च य' ।

धर्मार्जनासमर्थस्य कर्तुः पापाङ्कितस्य च ।
ब्राह्मणस्याप्यनुज्ञातं तीर्थे प्राणविमोक्षणम् ॥
इच्छन्ति जीवितं देवा धर्मार्थं तु द्विजातिषु ।
अधर्मजीविनस्तीर्थे देहत्यागो विधीयते " ॥

**ब्रह्मगर्भः**—" योऽनुष्ठातुं न शक्नोति महाव्याध्युपपीडितः ।
सोऽग्निं वारि महायात्रां कुर्वन्नामुत्र दुष्यति " ॥

**वृद्धगार्ग्यः**—व्याधिभिर्लुप्तचेष्टानां गृहस्थानां विधीयते ।
महाप्रस्थानगमनं ज्वलनाम्बुप्रवेशनम् ॥
भृगुप्रपतनं चैव वृथा नेच्छेत्तु जीवितुम् " ।

**भृगुः पर्वतकटकः ।**

**वसिष्ठः**—" भृगुप्रपतनाद्राज्यं नाकपृष्ठमनाशकात् ।

**व्यासः**—" जले सप्त सहस्राणि चतुर्दश हुताशने ॥
अनाशकस्य राजेन्द्र फलसंख्या न विद्यते " ॥

**जमदग्निः**—" वैतानं प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे ।
पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा मृते " ॥

**स्मृत्यन्तरम्**—" आत्मनस्त्यागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया ।
तेषामपि तथा गङ्गातोये संस्थापनं हितम् " ॥ ६ ॥

**सापवादमुदकदानमभिधाय तदुत्तरकर्माऽऽह—**

**कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाद्वलसंस्थितान् ॥**
**स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ ७ ॥**

**तान्प्रेतसंबन्धिनः** पुत्रादीन्स्नातान्कृतोदकदानांस्तीर्थादुत्तीर्णानुद्धृतान्मृदौ **शाद्वले** हरितत्रणावृते प्रदेशे समवस्थितानन्ये वृद्धाः साधवश्चिरंतनैरितिहासैः पूर्ववृत्तान्तकथाभिरपवदेयुरपगतदुःखान्कुर्युः ।

**पैठीनसिः**—" आपो अस्मानित्युत्तीर्य अन्यवस्त्रानुवेष्टनम् ।
तच्चक्षुरित्युपस्थाय सूर्यं बालपुरःसराः " ॥

**शाद्वलेऽवतिष्ठेरन्निति शेषः ।**

**कात्यायनः**—" एवं कृतोदकान्सम्यक्सर्वाञ्शाद्वलसंस्थितान् ।
आप्लुत्य पुनराचान्तान्वदेयुस्तानमायिनः ॥

---

१ क. °शनात् । व्या° । २ घ. छ. कृत्वोद° ।

मा शोकं कुरुतानित्ये सर्वस्मिन्प्राणिधर्माणि ।
धर्मं कुरुत यत्नेन यो वः सह गमिष्यति " ॥ ७ ॥

यथाऽपवदेयुस्तथाऽऽह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम् ॥
करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ ८ ॥
पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ॥
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना॥९॥
गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च ॥
फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥१० ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।

श्रीरामायणे—" संयोगोऽभिमतो येषां वियोगः कथमप्रियः ।
संयोगो हि वियोगेन ग्रस्त एवाभिजायते ॥
किंतु खल्वसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि ।
यदा त्वामनुशोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतेः ।
गत्वाऽसौ वेद न त्वन्तमतः किमनुशोचसि ॥
नायमत्यन्तसंवासः कस्यचित्केनचित्सह ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्यैः पृथग्जनैः " ॥

महाभारते शल्यपर्वणि हते दुर्योधने धृतराष्ट्रस्य वासुदेवकृतं परिदेवनम्—

" ततः प्रायान्महाराज माधवो भगवान्रथी ।
नागसाह्वयमासाद्य प्रविवेश च वीर्यवान् ॥
प्रविश्य नगरं वीरो रथघोषेण नादयन् ।
विदितो धृतराष्ट्रस्य सोऽवतीर्य रथोत्तमात् ॥
अभ्यगच्छददीनात्मा धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
पूर्वं चाभिगतं तत्र सोऽपश्यदृषिसत्तमम् ॥
पादौ प्रपीड्य व्यासस्य राज्ञश्चापि जनार्दनः ।
अभ्यवादयदव्यग्रो गान्धारीं चापि केशवः ॥

---

१ घ. छ. °नुषीक° । २ क. घ. छ. संपूर्णो । ३ घ. छ. °लोके न । ४ घ. छ. शोध्यः । ५ क. °तः । न चासौ । ६ घ छ. कृष्णस्य ।

ततस्तु यादवश्रेष्ठो धृतराष्ट्रस्य माधवः ।
पाणिमालम्ब्य राज्ञः स सस्वरं प्ररुरोद ह ॥
स मुहूर्तमिवोत्सृज्य वाष्पं शोकसमुद्भवम् ।
प्रक्षाल्य वारिणा नेत्रे ह्याचम्य च यथाविधि ॥
उवाच प्रश्रितो[1] वाक्यं धृतराष्ट्रमरिंदमः ।
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् " ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

रोदने दोषमाह—

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ॥
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः प्रयत्नतः[2] ॥११॥

अयमपि निगदव्याख्यातः श्लोकः ॥ ११ ॥

उत्तरकर्माऽऽह—

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं[3] बालपुरःसराः ॥
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥ १२ ॥
आचम्याथाग्निमुदकं[4] गोमयं गौरसर्षपान्[5] ॥
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

साधुभिरुदीरितमितिहासवाक्यजातं श्रुत्वा बालान्पुरस्कृत्य गृहं गच्छेयुः । तस्य च द्वारि निम्बपत्राणि दन्तैः खण्डयित्वा परित्यज्य नियतात्मानोऽप आचम्यानन्तरमग्निमुदकं [गोमयं] गौरसर्षपान्स्पृष्ट्वा पाषाणे चरणं कृत्वा शनैः प्रविशेयुः ।

शङ्खः—" दूर्वाप्रवालमग्निं वृषभं चाऽऽलभ्य गृहद्वारे
प्रेताय पिण्डं दत्त्वा पश्चात्प्रविशेयुः " ।

पैठीनसिः—" गृहं गत्वा स्थिता द्वारि सर्पिरन्यजगोमयान् ।
प्रविशेयुर्गृहं स्पृष्ट्वा संविशेयुः कटोपरि " ॥ १२ ॥ १३ ॥

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ॥
इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिरन्येषां स्नानसंयमात्[6] ॥ १४ ॥

---

१ घ. छ. °श्रितं वा° । २ ङ. स्वशक्तितः । ३ क. घ. छ. °च्छेयुः सर्वे वा° । ४ ङ. °म्यागन्यादि सलिलं गो° । ५ घ. छ. °पान्दृष्ट्वा । ६ ङ. °च्छुद्धिः परेषां ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

उक्तं गृहप्रवेशनं तदादि कृत्वा यदुपरिष्टाद्वक्ष्यते । त्रिरात्रं दशरात्रं वेत्येतदुक्तं कर्म तदसपिण्डानां विहितं वेदितव्यम् । ये तु नेच्छातः शवसंस्पर्शिनः किंतु विधितः, तेषां सद्यः स्नानप्राणायामसमनन्तरमेव शुद्धिः । ये शवस्यालंकरणनिर्हरणदाहान्कुर्वन्ति, ते शवस्पृशः[1] । विधिमन्तरेण[2] च शवस्पृशां दशरात्रेण शुद्धिरित्याह मनुः—

" अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति व्यहात्तूदकदायिनः " ॥

अह्ना चैकेन रात्र्या चेत्यहोरात्रस्योपलक्षणार्थम् । त्रिरात्रैरेव च त्रिभिरिति नवरात्रस्य । एवं दशरात्रोऽयं शवस्पृशां क्षत्रियादिशवस्पृशां शुद्धये विधीयते । अत्र च दशरात्राच्छुद्धिर्ब्राह्मणशवस्पृशां, क्षत्रियादिशवस्पृशां तु कालान्तरात् । तथा च विष्णुपुराणे—

" योऽसवर्णं तु मूल्येन नीत्वा चैव दहेन्नरः ।
आशौचं तु भवेत्तस्य प्रेतजातिसमं सदा " ॥

यदा तु न मूल्यरागात्प्रवृत्तिस्तदा नैतत्, किंतु स्नानात् । तदाह मनुः—

" नासपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् " ॥

एतच्च तद्गृहवासिनस्तद[न्ना]नाशित्वे सति द्रष्टव्यम् । यदाह स एव—

" यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् " ॥

दशाहग्रहणं सर्ववर्णाशौचोपलक्षणार्थम् ।

धर्मार्थं तु शवस्पृशो न कश्चिद्दोष इत्याह पराशरः—

" अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः ।
पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्या लभन्ति ते ॥
न तेषामशुभं किंचित्पापं चाशुभकर्मणि ।
जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते " ॥

तथा—" प्रेतसंस्पर्शसंस्कारैर्ब्राह्मणो नैव दुष्यति ।
वोढा चाप्यग्निदाता च सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत् " ॥

यत्तु हारीतेनोक्तम्—

" प्रेतस्पृशो ग्रामं न प्रविशेयुरा नक्षत्रदर्शनात्, रात्रौ चेदादित्यस्य "

---

१ क. °शः । विधिमन्तरेण शवस्पृशः । वि° । २ क. °ण श° ।

इति, तत्स्नेहवशेन शवस्पृशामशवस्पृशां वाऽसपिण्डानां तदन्नमनश्नतां तद्गृहे चानिवसतां वेदितव्यम् ॥ १४ ॥

निर्हरणादिसकलप्रेतकर्मप्रतिषेधदर्शनार्थं ब्रह्मचार्युदकं न कुर्यादित्युक्तम् । तस्य विषयविशेषेऽपवादमाह—

**आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हर्त्यापि व्रती व्रती ॥**
**सकटान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥**

आचार्यादीनां निर्हरणादि कुर्वन्नपि व्रती ब्रह्मचारी व्रती भवति नाव्रती । अन्यांस्तु निर्हरन्नव्रती ब्रह्मचर्यात्मकव्रतानधिकृतो विनष्टोपनयनसंस्कार इत्यार्थिकोऽर्थः । स ब्रह्मचारी निर्हरन्प्याचार्यादीन्कटान्नमशौचान्नं नाश्नीयात् । तैराशौचा(च्या)दिभिः सह च न संवसेत् । मनुस्तु मातुर्गुरोश्चौपचारिकस्यापि निर्हरणे दोषाभावमाह—

" आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्यापि व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते " ॥

वसिष्ठः—" ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतावृत्तिरन्यत्र मातापितृभ्याम् " ।

व्रतावृत्तिः पुनरुपनयनम् ।

ब्रह्मपुराणम्—" आचार्यं वाऽप्युपाध्यायं गुरुं वा पितरं च वा ।
मातरं वा स्वयं दग्ध्वा व्रतस्थस्तत्र भोजनम् ॥
कृत्वा पतति नो तस्मात्प्रेतान्नं तत्र भक्षयेत् ।
अन्यत्र भोजनं कुर्यान्न च तैः सह संवसेत् ॥
एकाहमशुचिर्भूत्वा द्वितीयेऽहनि शुध्यति " ।

तथा—" ब्राह्मणो न दहेच्छूद्रं मित्रं वाऽप्यन्यमेव तु ।
मोहाद्दग्ध्वा ततः स्नातः स्पृष्ट्वाऽग्निं प्राशयेद्घृतम् ॥
उपवासरतः पश्चात्त्रिरात्रेण विशुध्यति ।
सर्वेषां स्यादहोरात्रं शवानुगमनादपि ॥
शवस्पर्शविधानोक्तं विहितं सार्ववर्णिकम् " ॥ १५ ॥

ज्ञातीनां नियमविशेषमाह—

**क्रीतलब्धाशना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥**
**पिण्डयज्ञावृता देयं प्रेतायान्नं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥**

---

१ घ. छ. व्रत्येव भ° ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

ते ज्ञातयो गृहं प्रविश्य त्रिरात्रं यावत्क्रीतमन्नमश्नीयुरयाचितं लब्धं वा । तथा पृथक्पृथग्भुवि शयीरन् । तथा पुत्रादिना प्रेताय पिण्डः पिण्डपितृयज्ञस्याऽऽवृता मन्त्रवर्जितया प्रक्रियया देयः । क्रीताद्यशनभोजनं च त्रिरात्रोपवासासमर्थान्प्रति विधीयते, यदाह वसिष्ठः—

" गृहान्व्रजित्वाऽघप्रस्तरे त्र्यहमनश्नन्त
आसीरन्क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन् " ।

अघप्रस्तर आशौचिनां शयनाद्यर्थः कटः ।

पैठीनसिः—" एकाहमुपवासः स्यादश्नीयुर्लब्धमेव वा ।
गत्वाऽरण्यं चतुर्थेऽह्नि पूर्वाह्णे त्वस्थिसंचयः " ॥

मार्कण्डेयः—" क्रीतलब्धाशनाश्चैव भवेयुः सुसमाहिताः ।
न चैव मांसमश्नीयुर्व्रजेयुर्न च योषिताम् " ॥

मनुः—" अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् ।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक्क्षितौ ॥

गौतमः—" अधः शय्यासनिनो ब्रह्मचारिणश्च सर्वे समासीरन्,
मांसं न भक्षेयुरा प्रदानात्, प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषूदककर्म, नवमे वाससां त्यागः । अन्त्ये त्वन्त्यानाम् " ।

प्रदानमेकादशाहादिकं श्राद्धम् । वाससां त्यागः प्रक्षालनार्थं रजकार्पणम् । अन्त्यमाशौचान्त्यमहः । तत्रान्त्यानां वाससामत्यन्तत्याज्यानां त्यागः । अन्त्यानां शूद्राणां वा । अन्ते त्वन्त्यानामित्यपि पठन्ति ।

बृहस्पतिः—" प्रथमेऽह्नि तृतीये च पञ्चमे सप्तमेऽपि च ।
नवमे वाससां त्यागो नखरोम्णां तथाऽन्तिमे " ॥

सप्तमेऽपि स्नातव्यमिति शेषः । नवमदशमयोस्तु वस्त्रत्यागो नखादिच्छेदनं च स्नानेन समुच्चीयते ।

ब्रह्मपुराणम्—" स्नात्वा त्रिरात्रं कुर्वन्ति प्रेतायोदकतर्पणम् ।
श्मशानदेवतायागं चतुर्थदिवसे ततः ॥
भवन्ति पूजिता यस्मात्तत्रस्थाः शंकरादयः ।
स्नातैः सुधौतवस्त्रैश्च श्मशानस्य समीपगैः ॥
स्वजातिविहितैर्द्रव्यैर्यथाशक्ति समाहितैः ।
मृन्मयेषु तु भाण्डेषु हृद्येषु चरुकेषु च ॥

---

१ घ. छ. °शक्त्या स° ।

सुपक्वैर्भक्ष्यभोज्यैश्च पायसैः पानकैस्तथा ।
फलमूलैर्वनोत्थैश्च पूज्याः क्रव्याददेवताः ॥
कैश्चिदर्घ्यं प्रदातव्यं कैश्चित्पुष्पं सुशोभनम् ।
धूपो दीपस्तथा माल्यं कैश्चिद्देयं त्वरान्वितैः ॥
तत्र पात्राणि पूर्णानि श्मशानाग्नेः समन्ततः ।
कैश्चिद्देयानि सर्वाणि यानि ह्यन्यकृतानि च ॥
निवेदयेति वक्तव्यं तैः सर्वमनहंकृतैः ।
नमः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्य इति सर्वदा ॥
येऽस्मिञ्श्मशाने देवाः स्युर्भगवन्तः सनातनाः ।
तेऽस्मत्सकाशाद्गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्षयम् ॥
प्रेतस्यास्य शुभाँल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान् ।
अस्माकमायुरारोग्यं सुखं च ददतां वराः ॥
एवं कृत्वा बलीन्सर्वान्क्षीरेणाभ्युक्ष्य वाग्यतैः ।
विसर्जनं च देवानां कर्तव्यं तु समाहितैः ॥
ततो यज्ञियवृक्षोत्थां शाखामादाय वाग्यतः ।
अपसव्यं क्रमाद्वस्त्रं कश्चित्कृत्वा सगोत्रजः ॥
प्रेतस्यास्थीनि गृह्णाति प्रधानाङ्गोद्भवानि च ।
पञ्चगव्येन सुस्नाप्य क्षौमवस्त्रेण वेष्टय च ॥
प्रक्षिप्य मृन्मये भाण्डे नवे साच्छादने शुभे ।
अरण्ये वृक्षमूले वा शुद्धे संस्थापयेत्क्वचित् ॥
तत्स्थानाच्छनकैर्नीत्वा कदाचिज्जाह्नवीजले ।
कश्चित्क्षिपति सत्पुत्रो दौहित्रो वा सहोदरः ॥
गृहीत्वाऽस्थीनि तद्भस्म नीत्वा तोये विनिक्षिपेत् ।
ततः संमार्जनं भूमेः कर्तव्यं गोमयाम्बुभिः ॥
पूजा च पुष्पधूपाद्यैर्बलिभिः पूर्ववत्क्रमात् ।
भूमेराच्छादनार्थं तु वृक्षः पुष्करकोऽथ वा[1] ॥
एडूको वा प्रकर्तव्यस्तत्र सर्वैः स्वबन्धुभिः ।
ततः सचैलं स्नानं तु कर्तव्यं तैर्विधानतः " ॥

तथा—" क्वचित्तृतीये विप्रस्य चतुर्थे क्षत्रियस्य तु ।
पञ्चमे वैश्यजातेस्तु शूद्रस्य दशमेऽहनि ॥

---

१ क. सर्वैरनलंकृ°। २ क. वा । ऐरूको ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

अस्थ्नां तु संचयः प्रेते क्रियते दोषगौरवात् ।
जीवतामपि वर्णानां संपन्ने चाप्ययं क्रमः ॥
चतुर्थे ब्राह्मणानां तु पञ्चमेऽहनि भूभृताम् ।
नवमे वैश्यजातीनां शूद्राणां दशमात्परे ॥
कर्तव्यं तु नरैः श्राद्धं देशकालाविरोधतः ।
सपिण्डाश्च सजातीयास्तथाऽन्येऽपि बुभुक्षिताः ॥
दीनानाथान्धकृपणास्तत्रान्नमपि भुञ्जते ।
व्यहाच्छौचे द्वितीयेऽह्नि कर्तव्यस्त्वस्थिसंचयः " ॥

**तथा**—" अस्थीनि मातापितृपूर्वजानां नयन्ति गङ्गामपि ये कदाचित् ।
सद्भावकस्यापि दयाभिभूतास्तेषां तु तीर्थानि फलप्रदानि " ॥

**तथा**—" स्नात्वा ततः पञ्चगव्येन सिक्त्वा हिरण्यमध्वाज्यतिलैश्च योज्य
ततस्तु मृत्पिण्डपुटे निधाय पश्यन्दिशं प्रेतगणोपगूढाम् ॥
नमोऽस्तु धर्माय वदन्प्रविश्य जलं स मे प्रेत इति क्षिपेच्च ।
उत्थाय भास्वन्तमवेक्ष्य सूर्यं स दक्षिणां विप्रमुखाय दद्यात् ॥
एवं कृते प्रेतपुरे स्थितस्य स्वर्गे गतिः स्याच्च महेन्द्रतुल्या " ।

**तथा**—" मातुः कुलं पितृकुलं वर्जयित्वा नराधमः ।
अस्थीन्यन्यकुलोत्थस्य नीत्वा चान्द्रायणाच्छुचिः " ॥

**मरीचिः**—" प्रेतपिण्डं बहिर्दद्याद्धर्ममन्त्रविवर्जितम् ।
प्रागुदीच्यां चरुं कृत्वा स्नातः प्रयतमानसः " ॥

**प्रचेताः**—" असंस्कृतानां भूमौ पिण्डं दद्यात्संस्कृतानां कुशेषु " ।

**गृह्यपरिशिष्टात्**—" असगोत्रः सगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान् ।
प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् " ॥

**शुनःपुच्छः**—" फलमूलैश्च पयसा शाकेन च गुडेन च ।
तिलमिश्रं तु दर्भेषु पिण्डं दक्षिणतो हरेत् ॥
द्वारदेशे प्रदातव्यो देवतायतनेषु वा ।
तूष्णीं प्रसेकं पुष्पं च दीपं धूपं तथैव च ॥
शालिना सक्तुभिर्वाऽपि शाकैर्वाऽप्यथ निर्वपेत् ।
प्रथमेऽहनि यद्द्रव्यं तदेव स्याद्दशाहिकम् " ॥

**शङ्खः**—" भूमौ माल्यं पिण्डं पानीयमुपलेपनं च दद्युः " ।

---

१ घ. छ. °ते देशगौ° । २ क. दशाभि° । ३ क. °प्रगणाय । ४ क. °शाहिक° ।

**पारस्करः**—" ब्राह्मणे दश पिण्डास्तु क्षत्रिये द्वादश स्मृताः ।
वैश्ये पञ्चदश प्रोक्ताः शूद्रे त्रिंशत्प्रकीर्तिताः " ॥

**उक्तसंख्यायामसमर्थान्प्रति स एव संख्यान्तरमाह**—

" प्रेतेभ्यः सर्ववर्णेभ्यः पिण्डान्दद्युर्दशैव तु ।
श्राद्धकर्मणि संप्राप्ते पिण्ड एको विधीयते " ॥

**एते च पिण्डा याज्ञवल्क्यमते त्रिरात्र एव देयाः । अन्यमते तु प्रत्यहं यावदाशौचमेकैकः पिण्डो देयः । तथा च विष्णुः**—

" यावदाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दद्युः " ।

**वृद्धप्रचेताः**—" नवान्यादाय भाण्डानि आलुकं[1] चरुकं तथा ।
तोयार्थं तु ततो गच्छेद्गृहीत्वा पुरुषं पुनः ॥
गृहीत्वा लगुडं यत्नात्सर्वदुष्टनिवारणम् ।
ततो गृहं संप्रविशेत्प्रेतस्यान्नं तु यत्सदा ॥
तस्य प्रसूतिमादाय कर्तव्या पिण्डकर्मणि ।
द्विः प्रक्षाल्य तु तं सम्यक्चरुं संपादयेत्ततः ॥
तं सबाष्पमथाऽऽदाय दर्भेषु विनिवेशयेत् ।
दक्षिणाग्राश्च दर्भाः स्युः स च वै दक्षिणामुखः ॥
द्वारदेशे प्रदातव्यो देवतायतने क्वचित् ।
पिण्डमुद्धृत्य तत्सर्वं नाम्ना गोत्रेण चार्पयेत् ॥
वाग्यतः प्रयतश्चैव तिष्ठेत्पिण्डस्य संनिधौ ।
ततो बाष्पे निवृत्तेऽस्य नद्यां च प्रक्षिपेत्तु तत् ॥
दिने दिनेऽञ्जलीन्पूर्णान्प्रक्षिपेत्प्रेतकारणात् ।
तावद्वृद्धिश्च कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते " ॥

**शातातपः**—" अशौचस्यापि च ह्रासे पिण्डान्दद्युर्दशैव तु ।
पिण्डमेकमथ श्राद्धे सम्यग्दद्याद्यथा विधिः " ॥

**पारस्करः**—" प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः ।
द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसंचयनं तथा ॥
त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्तथा ।
एकोद्दिष्टं च कर्तव्यं श्राद्धकर्म ततः परम् " ॥

**दक्षः**—" प्रथमेऽहनि तत्पिण्डं द्वितीये चतुरस्तथा ।
तृतीये पञ्च वै दद्यादेष पिण्डविधिः स्मृतः " ॥

---

१ क. आलकं ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

**मरीचिः**—" प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे नवमे तथा ।
ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम् " ॥

**मत्स्यपुराणे**—" प्रेताय पिण्डदानं तु द्वादशाहं समाचरेत् ।
पाथेयं तस्य तत्प्रोक्तं यतः प्रीतिकरं महत् ॥
यस्मात्प्रेतपुरं प्रेतो द्वादशाहेन नीयते ।
गृहपुत्रकलत्रं च द्वादशाहं प्रपश्यति " ॥

**ऋष्यशृङ्गः**—" प्रथमेऽहनि यः पिण्डस्तेन मूर्धा प्रजायते ।
चक्षुः श्रोत्रं नासिका च द्वितीयेऽहनि जायते ॥
भुजौ वक्षस्तथा ग्रीवा तृतीयेऽहनि जायते ।
नाभिस्थानं गुदं लिङ्गं चतुर्थेऽहनि जायते ॥
ऊरू तु पञ्चमे ज्ञेयौ षष्ठे मर्माणि निर्दिशेत् ।
सप्तमे तु शिराः सर्वा जायन्ते नात्र संशयः ॥
अष्टमे तु ततः पिण्डे सर्वलोमान्यनन्तरम् ।
नवमे वीर्यसंपत्तिर्दशमे क्षुत्परिक्षयः ॥
आशौचान्ते ततः सम्यक्पिण्डदानं समाप्यते ।
ततः श्राद्धं प्रदातव्यं सर्ववर्णेष्वयं विधिः " ॥

एवं च सति संनिपाताशौचेन शुद्धौ संजातायामपि पुत्रादिनैकैकस्मिन्नेव दिन एकैकशः पिण्डदानादिकं कर्म कर्तव्यमिति गम्यते । तस्य पुनरस्पृश्यत्वमभोज्यान्नत्वं च भवत्येव निमित्तान्तरत्वात्तयोः । यन्मनुः—

" स्पर्शः क्रमेण वर्णानां त्रिचतुःपञ्चषड्दिनैः ।
भोज्यान्नो दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः " इति ॥

एवं च सति तदीयं नित्यदानादि शुष्कं न निषिध्यते, तस्याशौचे निवृत्तिस्मरणात् । तथा च विष्णुः—

" अशौचे च होमदानप्रतिग्रहस्वाध्याया निवर्तन्ते " इति ।

न च तस्याशौचमस्ति, संनिपाताशौचेन निवारितत्वादिति ॥ १६ ॥

किंच—

## जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ॥

प्रेतमुद्दिश्य जलं मृन्मये पात्रे कृत्वा क्षीरं च मृन्मयान्तरे कृत्वाऽऽकाशे भूमेरन्यत्र शिक्यादौ स्थापनीयम् । एकाहं प्रथमेऽहनीत्यर्थः ।

---

१ क. °दशेऽहनि नी° । २ क. अशौचं । ३ घ. छ. °पातशौ° ।

पारस्करः—" प्रेतात्र स्नाहीति जलमन्त्रः पिब चेदमिति क्षीरमन्त्रः " ।

मत्स्यपुराणम्—" ततो निवेश्यमाकाशे द्वादशाहं पयस्तदा ।
सर्वदाहोपशान्त्यर्थं प्रथमश्रमवारणम् " ॥

वक्ष्यमाणस्याशौचस्य विषयविशेषेऽपवादमाह—

## वैतानोपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदिताः ॥१७॥

वितानस्त्रेता, तत्संबन्धिन्यो वैतान्यः, ताश्च ता उपासनाश्च वैतानोपासनाः। पुंवद्भावाद्वैतानशब्दे स्त्रीप्रत्ययलोपः । उपासनाश्च—

" उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाऽग्नींस्तानुपास्य च "

इति स्मृतिविहिताः । अत्र चाग्न्युपासना पुरुषार्थत्वेन विधीयते न होमाङ्गत्वेन, प्रमाणाभावात् । न च क्त्वाप्रत्ययो होमाङ्गत्वेन[२] विधीयते होमाङ्गत्वेन[च?] प्रमाणमिति वाच्यम् । तथा सति हुत्वा—उपास्येत्यन्वयः स्यात् । न च क्त्वाप्रत्ययान्तयोरस्त्यन्वयः । आख्यातगुणत्वेनोभयोः समानत्वात् । किमर्थं तर्हीदं वचनम् । पौर्वापर्यप्रतिपत्त्यर्थमिति ब्रूमः । क्रमविधिपरत्वे च वाक्यस्य निश्चितोऽयमर्थः संपद्यते—संध्यामुपास्य जुहुयात्, हुत्वोपासीतेत्यादिः । न चेदानीमङ्गाङ्गिभावेन[३] प्रामाण्यं कल्पयितुं शक्यम् । क्रमपरत्वावधारणविरोधात् । न च क्रमपरत्वे वाक्यस्योपासनाविधिपरत्वमनुपमन्नमिति वाच्यम् । न ह्युपासनाविधिरिह श्रौतः, किं त्वार्थः । न ह्यविहितायामुपासनायां तद्विषयः क्रमः शक्यो विधातुम् । न चान्यतस्तस्या विधिरस्ति, अतोऽत्रैव तद्विधिः कल्प्यते । तस्याश्च पुरुषार्थत्वे सिद्धे तन्निर्वाहाय पापक्षयोऽपूर्वसिद्धिर्वा फलं कल्पनीयम् । उपासना इति बहुवचनं व्यक्त्यभिप्रायम् । क्रियाश्च श्रुतिचोदिताः, क्रियाः कर्माण्यग्निहोत्रादीनि, चकारो वैतानिकत्वविशेषणानुकर्षणार्थः[४] । तेनात्र वैतान्य एव क्रिया विवक्षिताः । तासामेव विशेषणार्थं श्रुतिचोदिता इत्युक्तम् । संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत् । न चोक्तानां क्रियाणां श्रुतिचोदितत्वं व्यभिचरतीति विशेषणदोषपरिहाराय[५] श्रुतिपदार्थविशेषणाय प्रत्यक्षत्वमध्याहियते । तेनैतत्सिद्धं—या वैतानाग्न्युपासनास्ता(या)श्च वैतान्यः प्रत्यक्षश्रुतिविहिताः क्रियाः [इति] । ब्रह्मयज्ञाद्या आशौचे[६] हेया एव न हि ता वैतान्यः । तथा वैतान्योऽपि या न प्रत्यक्षश्रुतिविहिताः यथा,—

---

१ ङ. °चोदनात् । २ क. °न प्र° । ३ क. °वे प्रा° । ४ क. °कत्वानु° । ५ क. °परिहारार्थ° । ६ क. °चे पितृकार्या न पुनस्त्याज्याः । इत्येवं च सति याः प्रत्यक्षश्रुतिविहिताः क्रिया आशौचे हे°।

( आशौचप्रकरणम् १ )

" एषामसंभवे कुर्यादिष्टिं वैश्वानरीं द्विजः "

इत्यादिस्मृतिविहिताः ।

अत्र केचिद्व्याचक्षते—वितानेवेदे भवा वैतानाः । तथा—उपासने गृह्ये भवा औपासनाः । वैतानाश्चो(श्चौ)पासनाश्च वैतानोपासनाः क्रिया इति । तदेतद्व्याख्यानमनुपपन्नम् । वैतान्यौपासन्य इति हि तदा शब्दः स्यान्न पुनर्वैतानोपासना इति । पूर्वव्याख्यायां तु कर्मधारयोऽयं समासः । तत्र पुंवद्भावविधानेन वैतानोपासना इति शब्दसाधुतासिद्धिः । तथोपासनाशब्दो नाण्प्रत्ययान्तः । येन स्त्रियां ङीबन्तः स्यात् । यश्च(च) तैः श्रुतिचोदनादिति पाठं कृत्वा हेतुपरत्वेन व्याख्यातं तदपि न युक्तम् । एवं हि ते मन्यन्ते, यस्माच्छ्रुत्या—

" यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् " " यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत "

इत्यादिकयाऽवश्यकार्यतया विहितत्वान्न स्मृत्या शक्यमाशौचेऽपि तन्निवर्तनं विधातुमिति । तदनैकान्तिकं, श्रुतिविधानादिति पातित्येन श्रुतिविहितमप्यावश्यकमग्निहोत्रादिकं स्मृत्या पातित्यदशायां निवर्तत एव, तस्माद्धेतुत्वेन श्रुतिविहितत्वस्य व्याख्यानमयुक्तम् । वि(वै)तानशब्दश्च वेदविहितत्वेनादृष्टप्रयोगत्वान्न तत्परत्वेन व्याख्येयः* । तस्मात्पूर्वैव व्याख्या श्रेयसी ।

मनुः—" न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् " ॥

निष्कर्मा सुखमासिष्य इति बुद्ध्या नाशौचाहानि वर्धयेत् । शास्त्रोक्तां दिनसंख्यां नातिक्रामेदित्यर्थः । अग्निषु श्रौतेषु याः क्रिया अग्निहोत्राद्या नियतास्ता न प्रत्यूहेन्न त्यजेत् । आशौचे सत्यपि कुर्यादित्यर्थः । न चाशुचेः क्रियास्वनधिकारात्प्रत्यूह एव युक्त इत्यत्राऽऽह—न च तत्कर्मेति । सत्यप्याशौचे नास्त्यधिकारः, किं तु कर्मविशेषे वचनसामर्थ्यादशुचित्वमेव नास्तीति मन्तव्यम् । अत्र कुर्वाण इत्यात्मनेपदादधिकारी तत्कर्म कुर्वाणः

---

* इत उत्तरं घ. छ. पुस्तकयोरधिको ग्रन्थः, स यथा—

" न ब्राह्मणायावगुरेरि(दि)त्येकब्राह्मणं प्रतिपादान्नय मे शास्त्रार्थस्यानुष्ठितत्वादन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्योऽवगूरणे प्रत्यवायः स्यादित्यादि जातिः पदार्थः । ब्राह्मणानपवदेदिति यो यो ब्राह्मणस्तते ( स्तं तं) नो(ना)पवदेदिति व्यक्ति. पदार्थः " इति ।

---

१ क. गृहे । २ घ. छ. °नाश्च ता उपा° । ३ क. 'तानौपा' । ४ घ. छ. °साध्यता' । ५ क. °त्वा होत्रप° ।

सनाभ्योऽपि जातमृतयोः प्रत्यासन्नोऽपि नाशुचिर्भवति, किं तु शुचिरेवेति गम्यते । तस्मात्सनाभ्यानामार्त्विज्ये भवत्येवाशौचम् ।

व्याघ्रपात्—" स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके ।
श्रौतकर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात् " ॥

राहोः सूतकादन्यत्र सूतक आशौच इत्यर्थः । पारस्करे तु विशेषः—

" नित्यानि निवर्तन्ते वैतानवर्जं शालाग्नौ
चैके । अन्य एतानि कुर्युः " इति ।

शालाग्निर्गृह्याग्निस्तत्संबन्धिकर्माणि यदि क्रियेरंस्तदा सपिण्डेभ्योऽन्ये कुर्युः । अन्यैः कारयेदित्यर्थः । यागं दक्षिणादानं च स्वयमेव कुर्यात् । तयोः स्वद्रव्यत्यागात्मकत्वम(त्वेना)न्यैः कर्तुमशक्यत्वात् ।

जाबालः—" जन्महान्योर्वितानस्य कर्मत्यागो न विद्यते ।
शालाग्नौ केवले होमः कार्य एवान्यगोत्रजैः " ॥

बृहस्पतिः—" सूतके मृतके चैव अशक्तौ श्राद्धभोजने ।
प्रवासादिनिमित्तेषु हावयेन्न तु हापयेत् " ॥

जातूकर्ण्यः—" सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म *यथा भवेत् ।
पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् " ॥

संवर्तः—" होमस्तत्र तु कर्तव्यः शुष्कान्नेन फलेन वा ।
पञ्चयज्ञविधानं च न कुर्यान्मृतजन्मनोः " ॥

शुष्कान्नमामान्नं व्रीहियवादि । वैश्वदेवहोमस्तु न कार्य इति स एवाऽऽह—

" विप्रो दशाहमासीत वैश्वदेवविवर्जितः " ।

यन्मनुनोक्तम्—" उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते "

इति, तत्स्मार्तहोमविषयम् ।

विष्णुपुराणम्—"सर्वकालमुपासा तु संध्यायाः पार्थिवेष्यते ।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः " ॥

पैठीनसिः—" सूतके सावित्र्याऽञ्जलिं प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं
कृत्वा सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात् " ।

---

* अत्र कथं भवेदिति पाठो मिताक्षरायाम् ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

पुलस्त्यः—" संध्यामिष्टिं[1] चरुं होमं यावज्जीवं समाचरेत् ।
+न त्यजेत्सूतके चापि त्यजन्गच्छेदधो द्विजः ॥
सूतके मृतके चैव संध्याकर्म न संत्यजेत् ।
मनसोच्चारयेन्मन्त्रान्प्राणायाममृते द्विजः " ॥

एवं च सत्यशौचे संध्यानिषेधा मन्त्रोच्चारणविशिष्टसंध्यागोचरा इत्यनुसंधेयम् । अञ्जलिप्रक्षेपस्तूच्चार्यमाणया सावित्र्या कार्यः ॥ १७ ॥

एवं चाशौचापगमहेतुभूतो निखननादिः कर्मकलाप उक्तः, संप्रति तदपगमसमर्थं कालविशेषमाह—

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते ॥
ऊनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि ॥ १८ ॥

शावं शवनिमित्तमशुचित्वं समानोदकानां त्रिरात्रं, सपिण्डानां दशरात्रं, मन्वादिभिरिष्यते । ऊनद्विवर्षे तु प्रेते यदशुचित्वं तदुभयोरेव मातापित्रोः । सूतकं प्रसवनिमित्तमाशौचं मातुरेव, सूतिकाया एवेत्यर्थः ।

त्रिरात्राशौचं समानोदकानामित्याह मनुः—

" अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति व्यहात्तूदकदायिनः " इति ॥

उदकदायिनः समानोदकाः । तेषां च लक्षणं स एवाऽऽह—

" सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने " इति ॥

अनेन चार्थादेवंसंज्ञकादेषामस्माकं च संतानजन्मेति यावज्ज्ञानमनुवर्तते तावत्तेषां समानोदकत्वमिति । दशरात्राशौचं सपिण्डविषयम् । तदाह मनुरेव—

" दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते " इति ।

तत्रापि पक्षान्तरत्रितयं स एवाऽऽह—

" आवासं चयनादस्थां व्यहमेकाहमेव वा " ।

आवासं चयनादस्थामिति चतुरहोपलक्षणम् । तस्य चतुर्थेऽहनि विहितत्वात् । तथा च संवर्तः—

" चतुर्थेऽहनि कर्तव्यं मृते संचयनं द्विजैः " ।

---

+ नविद्यतेऽयं श्लोको घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °मिष्टं च° ।

यद्यपि "संचयनमूर्ध्वं दशम्याः कृष्णपक्षे" इत्याश्वलायनेन कालान्तरे संचयनं विधीयते, तथाऽपि चतुर्थेऽहनि तस्य विधिरस्तीति चतुरह एव संचयनेन लक्ष्यते। दशरात्रान्यूनस्य कालस्यात्र विवक्षितत्वात्। अत एव दक्षः—

"सद्यः शौचं तथैकाहस्त्र्यहश्चतुरहस्तथा" इत्युक्तवान्।

एवं च सति दशाहश्चतुरहस्त्र्यह एकाह इति तत्राशौचे चत्वारः पक्षाः। तेषां व्यवस्था स्मृत्यन्तरे विहिता। तत्र पराशरः—

"एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः" ॥

दक्षस्तु दश पक्षानाह—

"सद्यःशौचमथैकाहस्त्र्यहश्चतुरहस्तथा।
षड्दशद्वादशाहश्च पक्षो मासस्तथैव च ॥
मरणान्तं तथा चान्यद्दश पक्षास्तु सूतके।
उपन्यासक्रमेणैव वक्ष्याम्यहमशेषतः ॥
ग्रन्थार्थतो विजानाति वेदमङ्गैः समन्वितम्।
सकल्पं सरहस्यं च क्रियावांश्च न सूतकी" ॥

सद्यःशुचिरित्यर्थः।

बृहस्पतिः—"स्वाध्यायः क्रियते यत्र होमश्चोभयकालिकः।
सततं वैश्वदेवश्च तत्राशौचं न विद्यते" ॥

पराशरः—"स्वाध्यायः क्रियते यत्र भारतं यत्र पठ्यते।
सततं वैश्वदेवश्च तत्राशौचं न विद्यते" ॥

बृहस्पतिः—"एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
हीने हीनतरे वाऽपि त्र्यहश्चतुरहस्तथा" ॥

अग्निवेदसंयुक्ताद्धीनः केवलवेदः। यस्त्वधीतवेदोऽपि वेदं न धारयति, स हीनतरः। यद्वा श्रौताग्निरहितो हीनः। स्मार्ताग्निमान्केवलवेदाध्यायी हीनतरः, श्रौतस्मार्ताग्निरहितः संपूर्णवेदाध्यायी च।

बृहस्पतिः—"त्रिरात्रेणैव शुध्येत्तु विप्रो वेदाग्निसंयुतः।
पञ्चभिर्वाऽग्निहीनस्तु दशाहाद्ब्राह्मणध्रुवः ॥
शिलोञ्छायाचितैर्जीवन्सद्यः शुध्येद्द्विजोत्तमः।
गायत्रीमात्रसारोऽपि तिस्रः संध्या उपास्ति च ॥

---

१ क. °यनादूर्ध्वं। २ क. विहित°। ३ घ. छ. °हितः सं°। ४ घ. छ. °हाद्ब्रह्म°।

न करोति श्ववृत्तिं च षडहः सूतकं भवेत् " ।

**दक्षः**—" अस्नात्वा चाप्यहुत्वा च अदत्त्वाऽश्नंस्तु यो द्विजः ।
एवंविधस्य विप्रस्य सर्वदा सूतकं भवेत् ॥
व्याधितस्य कदर्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा ।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः ।
श्रद्धात्यागविहीनस्य भस्मान्तं सूतकं भवेत् ॥
न सूतकं कदाचित्स्याद्यावज्जीवं तु सूतकम् ।
एवं गुणविशेषेण सूतकं समुदाहृतम् " ॥

**ब्रह्मपुराणे**—" अन्यपूर्वा यस्य गेहे भार्या स्यात्तस्य नित्यशः ।
अशौचं सर्वकार्येषु देहे भवति सर्वदा ॥
दानं प्रतिग्रहः स्नानं सर्वं तस्य भवेद्वृथा " ।

**शातातपः**—" जन्मकर्मपरिभ्रष्टः संध्योपासनवर्जितः ।
नामधारकविप्रस्तु दशाहेन विशुध्यति " ॥

अत्र च सूतकशब्द आशौचमात्रे वर्तते । आशौचसंकोचाश्च दानप्रतिग्रहादिविषयायामा[प]त्तौ विधीयन्ते, नाविशेषेण सर्वकर्मसु । यदाह गौतमः—

" ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम् " इति ।

अयमर्थः—बहुतरसपिण्डस्य दुर्मेधसः संपूर्णाशौचे क्रियमाणे स्वाध्यायो निवर्तते । स्वाध्यायै(या)निवृत्तिग्रहणं च प्रदर्शनार्थम् । तेन कुसूलकुम्भधान्यादीनां वृत्तिसंकोचितानां संपूर्णेऽशौचपक्षे प्रतिग्रहनिवृत्त्या जीवनमेव दुर्लभं स्यात् । तेन तेषां यथासंभवं सद्यःशौचैकाहादिविधानं प्रतिग्रहविषयमेव । विषयान्तरे तु तैरपि संपूर्णमेवाशौचं कार्यम् । ऊनद्विवर्षे प्रेते तूभयोरेव मातापित्रोरस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचम् । अनधिकारलक्षणं तु सर्वेषामेव । यदाह वसिष्ठः—

" ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रमाशौचम् " इति ।

यत्त्वत्र तैरुक्तम्—" सद्यः शौचमिति गौतमः " इति, तदस्पृश्यत्वाशौचाभिप्रायमिति । सूतकं मातुरेव हीति दृष्टान्तार्थम् । यथा सूतके मातुरेवास्पृश्यता तथोनद्विवर्षमरणे पित्रोरेवेति । जन्ममरणयोः सपिण्डसमानोदकानां कर्मविशेषानधिकारलक्षणमस्पृश्यत्वलक्षणं चाशुचित्वमस्ति ॥ १८ ॥

तत्र जन्मन्यस्पृश्यत्वविशेषमाह—

---

१ क. °यानिमित्तमिति । २ क. °यग्र° ।

**पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदस्पृग्दर्शनाद्ध्रुवम् ॥**
**तदहर्न प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥**

सूतकं प्रसूतिभवमस्पृश्यत्वात्मकमशुचित्वं मातापित्रोर्नान्येषां सपिण्डानाम्। तत्र यदि पिता सूतिकायाः संस्पर्शलक्षणं संसर्गं तया सह न भजते, तदा मातुरेवास्पृश्यत्वं रजोदर्शनहेतुकं ध्रुवमविचलं दशरात्रं यावद्भवति । यदाह वसिष्ठः—

" नाशौचं सूतके पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति ।
रजस्तत्राशुचि भवेत्तच्च पुंसि न विद्यते " इति ॥

यस्मिन्नहनि पुत्रजन्म तदहर्न दुष्यति, न तस्मिन्नहनि पितुरशुचित्वं भवतीत्यर्थः । अत्र "पूर्वेषां जन्मकारणात् " इति हेतुः । पूर्वेषां पित्रादिपुरुषाणां तत्र जन्म भवतीति हेतोस्तस्मिन्नहन्यशुद्धिर्नास्तीति ।

शङ्खलिखितौ—" पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
भूयस्तत्रैव जायन्ते तदहर्वेदयन्ति च ॥
तस्मात्स दिवसः पुण्यः पितॄणामभिवर्धनः " ।

मनुः—" जाते कुमारे तदहः कामं कुर्यात्प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यधान्यगोवाससस्तिलान्नगुडसर्पिषाम् " ॥

शङ्खलिखितौ—" कुमारप्रसवे नाभ्यामच्छिन्नायां गुडतिलहिरण्यवस्त्रप्रावरणगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषः । तदहरित्येके " ।

वृद्धयाज्ञवल्क्यः—" कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यः प्रतिग्रहः ।
हिरण्यभूगवाश्वाजवासःशय्यासनादिषु ।
तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं तु न भक्षयेत् ।
भक्षयित्वा तु तन्मोहाद्द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ॥

अत्र च—" सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः "

इत्येवमादीन्यस्पृश्यतालक्षणाशौचविषयाणि, न पुनरनधिकारलक्षणाशौचविषयाणि, तस्य सर्वसपिण्डविषयत्वेन—

" दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम् "

इति मनुना विहितत्वात् । अनेन च वचनेन शावाशौचवत्तत्कर्माणि जननेऽप्यतिदिश्यन्ते । ततश्च तद्वदशुचित्वं तद्व्युदासोपायश्च लभ्यते । तत्र

( आशौचप्रकरणम् १ )

पिण्डोदकदानसंचयनादि शुचित्वापायतयाऽतिदिष्टं सदेवकारेण[1] निवर्त्यते । दशाहचतुरहादिकं पक्षदशकमादिश्यत एव । न च तथा सति सूतिकाया अप्येकाहादिना कल्पेन शुद्धिः शिष्टाचारविशुद्धा प्रसज्यत इति वाच्यम् । अनधिकारलक्षणस्याशौचस्यायमतिदेशो नास्पृश्यतायाः । अत एवाऽऽह वृद्धमचेताः—

" सूतिका सर्ववर्णानां दशाहेन विशुध्यति ।
श्रुतौ च न पृथक्शौचं सर्ववर्णेष्वयं विधिः " ॥

कर्माधिकारेऽ(रोऽ?)पि तस्या एकादशाहादिना[3] नास्तीत्याह पैठीनसिः—

" सूतिका पुत्रवती विंशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत्, मासेन स्त्रीजननीम् " इति ।

एतच्च प्रक्रान्तसोमयागव्यतिरिक्तकर्मविषयम् । यतः सोमयागं प्रत्याह कात्यायनः—

" पत्न्युदक्या दीक्षारूपाणि विधाय[4] सिक्ताऽन्वासीनोपश्रवणात्तिष्ठेत्संधिवेलयोर्वेदिसमीपे । सू(सु)त्यासु त्रिरात्रान्ते गोमूत्रमिश्रेणोदकेन स्नापयित्वा[5] परिधानादि करोति सांनिपातिकम् । प्रसूतायाश्च दशरात्रादूर्ध्वं स्नानादि " ।

एवं तावत्सूतकेऽपि दशाहसंबन्धिन्याशौचे सामान्यतः प्राप्ते तदपवादविशेषं व्यास आह—

" सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः ।
तासां यागनिमित्तं तु शुद्धिर्जन्मनि कीर्तिता ॥
प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा ।
त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि " ॥

मार्कण्डेयः—" रक्षणीया तिथिः षष्ठी निशा चैव विशेषतः ।
रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः ॥
पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः ।
रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके " ॥

ब्रह्मपुराणे—" कन्याश्चतस्रो राकाद्या बालेतक्षणी[7] च पञ्चमी ।
क्रीडनार्था च बालानां षष्ठी च शिशुरक्षिणी ॥
खड्गे तु पूजनीया सा वैश्यवात्यैर्द्विजातिभिः " ।

राकाऽनुमतिः सिनीवाली कुहूरिति चतस्रः कन्याः ॥ १९ ॥

---

१ घ. छ. °कारणेन निवर्तते । २ क. °कादशाहा° । ३ घ. छ. °काहा° । ४ घ. छ. निधाय । ५ घ. छ. °स्नीतोप° । ६ क. घ. स्नापयित्वा । ७ घ. छ. °लउक्षणी° ।

आशौचसंनिपातं प्रत्याह—

## अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुध्यति ॥

पूर्वप्रवृत्ताशौचकालस्यान्तरा मध्ये जनने मरणे वा जाते तन्निमित्तमाशौचं पूर्वप्रवृत्तस्यैव दशरात्रादेः शेषाहोभिरवशिष्टैरहोरात्रैः शुध्यति, न पुनर्मध्योत्पन्नं जननं मरणं वाऽऽरभ्य दशरात्रान्तरं शुद्धये कार्यम् । अत्र च यदि पूर्वं जन्मतो दशाहमध्ये मरणं तदा मरणादारभ्य दशाहः कार्यः । यदाहाङ्गिराः—

" सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् ।
तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकम् " ॥

षट्त्रिंशन्मतात्—" शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् ।
शावेन शुध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधिनी " ॥

समसंख्याकदिनापनोद्याशौचविषयमेतत् । यदाह बौधायनः—

" जननमरणयोः संनिपाते समानो दशरात्रोऽथो यदि दशरात्राः
संनिपा(प)तेयुराद्यं दशरात्रमाशौचमानवमाद्दिवसात् " ।

अत्र दशरात्रग्रहणमाशौचस्य तुल्यकाल्योपलक्षणार्थम् । तथा च शङ्खः—

" समानाशौचसंपाते प्रथमेन समापयेत् ।
असमानं द्वितीयेन धर्मराजवचो यथा " ॥

यमः—" अघवृद्धिर्मदाशौचं पश्चिमेन समापयेत् ।
यथा त्रिरात्रे प्रक्रान्ते दशाहं प्रविशेद्यदि ॥
अशौचं पुनरागच्छेत्तत्समाप्त्या विशुध्यति " ।

अघमाशौचं, तस्य पूर्वोत्पन्नाशौचकालादधिककालत्वं वृद्धिमत्त्वम् ।

हारीतः—" शावान्तः शावमाशौचे(चं) पूर्वाशौचेन शुध्यति ।
लघुना लघु शुध्येत्तु " ॥

लघुनैकाहादिनैकाहादिकं शुध्येन्न तु पक्षिण्यादिकम् ।

प्रजापतिः—" सूतके तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् ।
कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुध्यति " ॥

---

१ क. °त्रान्तं शु° । २ क. °म् । अधिकृत्याधिकीकृत्येत्यर्थः । ष° । ३ घ. छ. °शोधिनी । ४ क. °त्रोऽथवा य° । ५ घ. छ. °मशौचं च प° ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

कर्तुर्जातकर्मादिकर्तुः । पूर्वाशौचेन पूर्वाशौचकालेनेत्यर्थः ।

तथा—" अघानां यौगपद्ये तु ज्ञेया शुद्धिर्गरीयसी ।
मरणोत्पत्तियोगे तु गरीयो मरणं भवेत् " ॥

ततश्चायमर्थः सिद्धः—शावाशौचे वर्तमाने यदि तेन तुल्यकालापनोद्य(द्यं) शावं सूतकं वाऽशौचं जायते, तदा पूर्वेणैव शुद्धिः । यदा तु स्वल्पकालापनोद्ये शावे वर्तमाने बहुकालापनोद्यं सूतकं मृतकं वाऽऽपद्यते, यदि वा सूतकं (केन?) वर्तमानेन मृतकं तुल्यकालमेवाऽऽपद्येत, तदोत्तरेणैव शुद्धिः ।

गौतमः—" तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुध्येरन् " ।

अत्र च तच्चेदिति समानकालमाशौचं परामृश्यते, न पुनर्जनने जननं मरणे मरणमिति विवक्षितम् । शास्त्रान्तरविरोधप्रसङ्गात् । यद्यपि—

" जनने जननं चेत्स्यान्मरणे मरणं तथा "

इति वचनं तदप्यनुवादकं न नियामकं, विरोधप्रसङ्गादेव । अत्र च विशेषस्तेनैवोक्तः—

" रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिस्तथा " इति ।

अयमर्थः—रात्रिरेव शेषो यस्याऽऽशौचस्य तस्मिन्सति यद्याशौचान्तरमापद्येत, तदा द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां तस्य शुद्धिः । प्रभाते तस्यां रात्रौ व्युष्टायां पुरा सूर्योदयादाशौचसंनिपाते त्रिभिरहोरात्रैः शुद्धिरिति ।

अङ्गिराः—" सूतकं यदि तुल्यं स्यान्मृतकेन कथंचन ।
अस्पृश्यं तद्भवेद्गोत्रं सर्वमेव सबान्धवम् " ॥

अत्र सूतकमृतकग्रहणमशौचसंनिपातोपलक्षणार्थम् ।

[ + आ नवमादिवसात्पूर्वाशौचेनैव शुद्धिरुक्ता । अवशिष्टदशमाहोरात्रस्य रात्रेर्विभागे—

" रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिस्तथा "

इत्यनेन कृतेऽवशिष्टं दिनरूपं भागद्वयं तत्र किं कार्यमित्याह ] ब्रह्मपुराणम्—

" आद्यं भागद्वयं यावत्सूतकस्य तु सूतके ।
द्वितीये पतिते त्वाद्यात्सूतकाच्छुद्धिरिष्यते ॥
अत ऊर्ध्वं द्वितीयात्तु सूतकान्ताच्छुचिः स्मृता ।
एवमेव विचार्यं स्यान्मृतके मृतकान्तरे ॥

---

+ एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ क. 'च्चेत्पुन' । २ घ. छ. 'तकम् । द्वि° । ३ घ. छ. 'वादाशौचाच्छु° ।

मृतकस्यान्तरे यत्र सूतकं प्रतिपद्यते ।
*सूतकस्यान्तरे वाऽथ मृतकं प्रतिपद्यते ॥
मृतकान्ते भवेत्तत्र शुद्धिर्वर्णेषु सर्वशः " ।

+अयमर्थः—आशौचान्तिमाहोरात्रस्य यदाद्यं भागद्वयं दिनरूपं तत्र पूर्वाशौचमध्येऽशौचान्तरपाते पूर्वेणैव शुद्धिः । अवशिष्टे रात्रिरूपे भागद्वयेऽर्थविभागः—

" रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिस्तथा " इति ।

लेखकैः पुनर्यदेतल्लिखितम्—आशौचकालस्य त्रिभागकरणेनात्र भागद्वयम् । अतोऽविहिताद्भागद्वयाच्छुद्धिः । एतच्च निर्गुणविषयम् । सगुणस्य तु पुनर्गौतमीयम् । एवमेवेति त्रिभागकरणादिना । [ *तदयुक्तम् । एतेनैव ग्रन्थकारेण पूर्वमा नवमादिवसादिति स्वयमुक्तत्वात् । तथा रात्रिशेषे सति द्वाभ्यामित्यत्र रात्रिरेव शेषो यत्र काल इत्युक्तत्वाच्च । ]

शङ्खः—" मातर्यादौ परीतायामशुद्धौ म्रियते पिता ।
पितुः शेषेण शुध्येत्तु मातुः कार्या तु पक्षिणी " ॥

अस्यार्थः—माता चेदादौ म्रियते तदशौच एव पश्चात्पिता म्रियते, तदा पितृसंबन्ध्याशौचस्य शेषेणैव पुत्रादिः कर्ता शुध्येत् । पिता चेदादौ म्रियते पश्चादशौच एव माता म्रियते तदाऽधिका पक्षिण्येव कार्या । पक्षिणी दिनद्वयम् । " कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः " इतिवचनात्प्राप्तायां शुद्धौ तदे(दै)व, तद्वचनपरिहारार्थमिदं वचनम् ॥

## गर्भस्रावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥२०॥

गर्भाधानप्रभृति यावत्संख्याके मासि गर्भः स्रवति च्यवते तावन्त्यहोरात्राणि व्यतीतानि सन्ति स्त्रीशुद्धेः कारणं भवति । गर्भस्रावो नामाप्राप्तप्रसवकालस्य गर्भस्य निर्गमः । अत्र गौतमः—

" गर्भमाससमा रात्रीः स्रंसने गर्भस्य व्यहं वा " ।

व्यवस्थितविकल्पोऽयम् । ततश्च मासत्रयं यावत्त्र्यहं, ततः परं मासत्रयं माससमा रात्रयो ज्ञेया इति ।

---

* एतदर्धस्थानेऽयं पाठो घ. छ. पुस्तकयोः—" मृतकस्यान्तरे वाऽथ मृतकं यत्र विद्यते " इति । + एतत्प्रभृति लिखितमित्यन्तं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः । * एतच्चिह्नान्तर्गतं नास्ति घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °दौ तु वृत्ताया° ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

आदिपुराणे—" षण्मासाभ्यन्तरे यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदि ।
तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥
अत ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ।
सद्यः शौचं सपिण्डानां गर्भस्य पतने सति " ॥

सद्यः शौचविधानमस्पृश्यतालक्षणाशौचविषयम् । अनधिकारलक्षणं त्वाशौचं त्रिरात्रं यावत्सपिण्डानां भवत्येव । यदाह वसिष्ठः—

" ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रमाशौचम् " ।

मरीचिः—" गर्भस्रुत्या यथामासमाचरेन्नूतनस्त्र्यहः ।
राजन्येव चतूरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव च ॥
अष्टाहेन च शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्तिता ।
स्रावे मातुस्त्रिरात्रं स्यात्सपिण्डाशौचवर्जनम् ॥
पाते मातुर्यथामासं पित्रादिनां दिनत्रयम् " ।

अत्र विशेषमाह वृद्धवसिष्ठः—

" गर्भस्रावे मासतुल्या रात्रयः स्त्रीणां स्नानमात्रमेव
पुरुषस्येषत्काठिनगर्भस्रावे तु त्रिरात्रम् " ।

स्रावपातविवेकश्चोक्तः स्मृत्यन्तरे—

" आ चतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः ।
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत् " इति ॥ २० ॥

विप्रादिहतस्याऽऽशौचसंकोचमाह—

+ विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं चाऽऽत्मघातिनाम् ॥

विप्रादिभिर्हतानामविहितात्मत्यागकारिणां चोपरमेऽन्वक्षं प्रत्यक्षं दह्यमाने तच्छरीरे तत्सपिण्डानामाशौचमित्यर्थः ।

गौतमः—" गोब्राह्मणहतानामन्वक्षं राजक्रोधाच्च युद्धे प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपातनैरिच्छतां च " इति ।

राज्ञा यदि क्रोधमन्तरेण प्रमादाद्धतः, यदि वा क्रुद्धेन युद्धे हतस्तदा तत्सपिण्डानां तत्समवाये नाऽऽशौचम् । राजक्रोधाच्च युद्ध इति विशेषणोपादानात् । प्रायादिभिश्च प्रमादान्मृतेषु पूर्णमेवाशौचम् । इच्छतामित्युपादानात् ।

---

+ " हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चाऽऽत्मघातिनाम् " इति पाठो ङ. पुस्तके विद्यते ।

---

१ घ. छ. 'धाचायु' ।

शुनःपुच्छः—" अग्न्यादिना विपन्नस्य चातुर्वर्ण्यस्य रोगिणः ।
सपिण्डास्तस्य शुध्यन्ति त्रिरात्रेण न संशयः " ॥

अङ्गिराः—" वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
आत्मानं घातयेद्यस्तु मृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥
तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वास्थिसंचयः ।
तृतीये तूदकं दत्त्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् " ॥

वृद्धः सप्ततिमतिक्रान्तः । तथा च स्मृतिः—

आ षोडशाद्भवेद्बालो यावत्क्षीरप्रवर्तकः ।
मध्यमः सप्ततिं यावत्तत्परं वृद्ध उच्यते " ॥

तथा—" व्यापादयेदथाऽऽत्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः ।
विहितं तस्य नाशौचं नाग्निर्नाप्युदकक्रिया ॥
अथ कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः ।
तस्याऽऽशौचं विधातव्यं कार्या स्यादुदकक्रिया " ॥

ब्रह्मपुराणे—" प्रमादादपि निःशङ्कस्त्वकस्माद्विधिचोदितः ।
शृङ्गिदंष्ट्रिनखिव्यालविषविद्युज्जलाग्निभिः ॥
चण्डालैरथ वा चौरैर्निहतो यत्र कुत्रचित् ।
तस्य दाहादिकं कार्यं यस्मान्न पतितस्तु सः ॥
शृङ्गिदंष्ट्रिनखिव्यालविषवह्निस्त्रिगोजलैः ।
आदरात्परिहर्तव्यः कुर्वन्क्रीडां मृतस्तु यः ॥
नागानां विप्रियं कुर्वन्हतश्चाप्यथ विद्युता ।
निगृहीतस्तु यो राज्ञा चौरदोषेण कुत्रचित् ॥
परदारान्गतश्चैव द्वेषात्तत्पतिभिर्हतः ।
असमानैस्तु संकीर्णैश्चण्डालाद्यैश्च विग्रहम् ॥
कृत्वा तैर्हि हतास्तांस्तु चण्डालादीन्समास्थिताः ।
चौराग्निविषदाश्चैव पाषाण्डाः क्रूरबुद्धयः ॥
क्रोधात्प्रायं विषं वह्निं शस्त्रमुद्बन्धनं जलम् ।
गिरिवृक्षप्रपातं वा ये कुर्वन्ति नराधमाः ॥
कुशिल्पजीविनो येऽपि सूनालंकारकारिणः ।
मुखेभगास्तु ये केचित्क्लीबप्राया नपुंसकाः ॥

---

१ घ. छ. कृत्वा ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

ब्रह्मदण्डहता ये च ये च स्युर्ब्राह्मणैर्हताः ।
महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्तिताः " ॥

**महाभारतम्**—" पापात्पापसमाचाराद्विहीनाच्च नराधिप ।
पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः " ॥

**तथा**—" विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात्तथा वधः ।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते " ॥

**ब्रह्मपुराणम्**—" पतितानां न दाहः स्यान्नान्त्येष्टिर्नास्थिसंचयः ।
न चास्रुपातः पिण्डो वा कार्यं श्राद्धादि न क्वचित् ॥
एतानि पतितानां च यः करोति विमोहितः ।
तप्तकृच्छ्रद्वयेनैव तस्य शुद्धिर्न चान्यथा ॥
पतितस्य तु कारुण्याद्यस्तृप्तिं कर्तुमिच्छति ।
स तु दासीं समाहूय सर्वगां दत्तवेतनाम् ॥
अशुद्धघटहस्तां तु तथावृत्तां ब्रवीत्यपि ।
हे दासि गच्छ मूल्येन तीर्थादादाय सत्वरम् ॥
तोयपूर्णं घटं चेमं सतिलं दक्षिणामुखी ।
उपरिष्टात्तु वामेन चरणेन ततः क्षिप ॥
कीर्तयेत्पातितीं संज्ञां तं पिबेति दिशेन्मुहुः ।
निशम्य तस्य वाक्यं स्याल्लब्धमूल्या करोति तत् ॥
एवं कृते भवेत्तृप्तिः पतितानां च नान्यथा ।
क्रियते पतितानां तु गते संवत्सरे क्वचित् ॥
देशधर्मप्रमाणत्वाद्वयाकूपे स्वबन्धुभिः ।
मार्तण्डपादमूले वा श्राद्धं हरिहरौ स्मरन् " ॥

**मार्तण्डपादमूलं काश्मीरेषु प्रसिद्धम् ।**

**स्कन्दपुराणम्**—"अदग्धानामपिण्डानां पतितव्रतिनां तथा ।
श्राद्धं पिण्डप्रदानं च नैव कुर्यादिति श्रुतिः ॥
तेषां मलिम्लुचे मासि सूर्यक्षेत्रे प्रयत्नतः ।
सितासितानां पक्षाणां यस्तिथिः श्राद्धकर्मणि ॥
तस्मिंस्तस्मिन्रविक्षेत्रे मासे चैव त्रयोदशे ।
श्राद्धं पिण्डप्रदानं च कुर्यान्मार्तण्डपादयोः " ॥

---

१ क. मार्ताण्ड° ।

सुमन्तुः—" भृग्वग्निजलसङ्क्रामदेशान्तरसंस्थसंन्यास्यनशनिमहाध्व-
निकानामुदकक्रिया कार्या सद्यः शौचं भवति " ।

कश्यपः—" अनशनगतानामशनिहतानामग्निजलप्रवेशितानां भृगुसङ्क्रामका-
न्तारगतानां गर्भाणां जातदन्तानां त्रिरात्रेण शुध्यति " ।

मरण इति शेषः ॥

**प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे त्र्यहमेव च ॥ २१ ॥**
**सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्त्वोदकं शुचिः ॥**

प्रोषिते देशान्तरस्थे सपिण्डे मृते दैशरात्रादाशौचकाले चानतिक्रान्ते श्रुते, दशरात्रेः शेषं यावदाशौचं भवति । अशेषेऽतिक्रान्ते दशरात्रादौ यदि तन्मरणं श्रुतं, तदा त्रिरात्रमाशौचं सर्वेषां सपिण्डानाम् । यदि वत्सरे पूर्णे तच्छ्रुतं तदा प्रेतायोदकं दत्त्वा शुचिर्भवति। गौतमस्तु दशरात्रादूर्ध्वं देशान्तर-स्थमरणे पक्षिणीं रात्रिमाशौचमाह—"श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणीम्" इति ।

वसिष्ठः पुनरहोरात्रमेवाशौचमाह—

" देशान्तरस्थे प्रेत ऊर्ध्वं दशाहाच्छ्रुत्वैकरात्रमाशौचम् " इति ।

मनुस्तु सद्यःशौचमाह—

" निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः " इति ॥

निर्दशं निर्गतदशाहम् । एषां विरोधपरिहारार्थं व्यवस्थामाह देवलः—

" आ त्रिपक्षात्त्रिरात्रं स्यात्षण्मासात्पक्षिणी ततः ।
परमेकाहमा वर्षादूर्ध्वं स्नातो विशुध्यति " इति ॥

उभयतोदिवसा रात्रिः पक्षिणी । अनेनैवाभिप्रायेण विष्णुरप्याह—

" अर्वाक्त्रिपक्षात्त्रिनिशं षण्मासात्तु दिवानिशम् ।
अहः संवत्सरादर्वाग्देशान्तरमृतेष्वपि " इति ॥

दिवाशब्देनाप्यहर्द्वयमुच्यते पक्षिणीत्वसिद्धये ।

विष्णुः—"श्रुत्वा देशान्तरस्थे जन्ममरणे आशौचशेषेण शुध्येत्, व्यतीते त्वाशौचे संवत्सरस्यान्तस्त्वेकरात्रेण, अतः परं स्नानेन " ।

देशान्तरलक्षणमाह वृद्धमनुः—

---

१ क. °नां जा° । २ ङ. °स्यात्पूर्णे द° । ३ क. दशाहोरा° । ४ क. °रात्रादेः शे° । ५ क. °त्वप्रसि° ।

" महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः ।
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते " ॥

**बृहस्पतिः**—" देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतम् ।
चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च " ॥

**स्मृत्यन्तरम्**—" तिर्यग्यवोदराण्यष्टौ यवार्धं व्रीहयस्त्रयः ।
प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुला ॥
वितस्तेर्द्विगुणाऽरत्निस्ततः किष्कुस्ततो धनुः ।
धनुःसहस्रे द्वे क्रोशश्चतुष्क्रोशं तु योजनम् " ॥

किष्कुरत्नेर्द्विगुण एव । ततः किष्कुतो धनुरपि द्विगुणमेव, नामैकोशोऽप्येवम् । किष्कु(धनु)र्हस्तचतुष्टयम् । मातापितृविषयं पैठीनसिराह—

" पितरौ तु मृतौ श्रुत्वा दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः ।
ज्ञानात्तु दिनमारभ्य दशाहं सूतकं चरेत् " ॥

सूतकमाशौचमित्यर्थः । दशरात्रादूर्ध्वमिति शेषः । तस्य मध्ये तु शेषेणैव ।

**दक्षः**—" महागुरुनिपातेषु त्वार्द्रवस्त्रोपवीतिना ।
अतीतेऽब्देऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि " ॥

**तथा**—" पितृपत्न्यामतीतायां मातृवर्गे द्विजोत्तमः ।
दशरात्रे व्यतीतेऽपि त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् " ॥

प्रसवविषये देवल आह—

" नाशुद्धिः प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि " ।

**मनुः**—" बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति " ॥

देशान्तरस्थत्वेन बालासपिण्डौ विशि(शे)ष्येते ॥ २१ ॥

क्षत्रियाद्यशौचकालमाह—

**क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशः पञ्चदशैव च ॥ २२ ॥**
**त्रिंशदहानि शूद्रस्य तदर्धं न्यायवर्तिनः ॥**

क्षत्रियादीनां यथाक्रमं द्वादश पञ्चदश त्रिंशदहोरात्रा जननमरणयोराशौचकालः । न्यायवर्तिनः पुनः शूद्रस्य पञ्चदशाहः । न्यायवर्तित्वं विहितकारित्वम् । एवं च सति " त्रिरात्रं दशरात्रं वा " इत्यनेन पारिशेष्याद्ब्राह्मणस्याऽऽशौचकाल उक्त इति मन्तव्यम् । यत्तु पराशरेणोक्तम्—

---

१ क. °मकोशोऽ ।

" क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः ।
तथैव द्वादशाहेन वैश्यः शुद्धिमवाप्नुयात् ",

तद्वेदाग्नियुक्तक्षत्रियादिविषयम् । यत्तु शातातपेनोक्तम्—

" एकादशाहाद्राजन्यो वैश्यो द्वादशभिस्तथा ।
शूद्रो विंशतिरात्रेण शुध्यते मृतसूतके "

इति, तत्केवलवेदाध्यायिक्षत्रियवैश्यविषयम् । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

" पञ्चदशरात्रेण राजन्यो विंशतिरात्रेण वैश्यः, "

तज्जातिमात्रोपजीविराजन्यादिविषयम् ।

यत्पुनराङ्गिरसम्—" सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा ।
दशाहाच्छुद्धिरथ वा शातातपवचो यथा "

इति वाक्यं, तत्सर्ववर्णानां ब्राह्मणेन पित्रा सहैकत्र वसतामाशौचविधायकम् । तथा च मनुः—

" सर्वे तूत्तमवर्णानामाशौचं कुर्युरादितः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं त्वाशौचं स्वयोनिषु " ॥

अयमर्थः—सर्वे क्षत्रियादयो हीनवर्णा ब्राह्मणाद्युत्तमवर्णजा उत्तमवर्णसंबन्धिनि जनने मरणे च सति, तद्वर्णविधिदृष्टेन दशरात्रादिनाऽऽशौचं कुर्युः, स्वयोनिषु तु जातेषु मृतेषु च स्वमाशौचं कुर्युरिति । तथा चाऽऽपस्तम्बः—

" क्षत्रविट्शूद्रजातीनां यदा मृतकसूतके ।
तेषां तु पैतृकं शौचं विभक्तानां तु मातृकम् " ॥

यत्तु मनुनोक्तम्—"शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् "

इति, तत्र पञ्चदशरात्रात्मक एव वैश्यस्याऽऽशौचकल्पोऽतिदिश्यते स्वशास्त्रे तस्यैवोक्तत्वात् । न्यायवृत्तिश्च शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषणपञ्चयज्ञनिर्वपणभृत्यभरणभार्यारतत्वादिः । क्षत्रियादौ च कृतोपनयने संस्थिते द्वादशाहादि विधीयते । शूद्रस्य चोपनयनस्थाने वस्त्रद्वयग्रहणम् । तदा[ह] स एव—

" आ मौञ्जिबन्धनाद्विप्रः क्षत्रियश्च धनुर्ग्रहात् ।
आ प्रतोदग्रहाद्वैश्यः शूद्रो वस्त्रद्वयग्रहात् " ॥

---

१ क. तु पूर्वक°।

( आशौचप्रकरणम् १ )

शङ्खः—" अनूढभार्यः शूद्रस्तु षोडशाद्वत्सरात्परम्।
मृत्युं समधिगच्छेत्तु मासात्तस्यापि बान्धवाः " ॥

शुध्यन्तीति शेषः।

ब्रह्मपुराणे—" बान्धवेषु च विप्रस्य क्षत्रविट्शूद्रजातिषु।
मृतेषु वाऽथ जातेषु दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥
देशधर्मप्रमाणत्वात्षड्रात्रे क्षत्रियेष्वथ।
त्रिरात्रमपि वैश्येषु शूद्रेष्वेकाहमेव च ॥
क्षत्रियस्याथ वैश्यस्तु वैश्यस्य वृषलस्तु वा।
म्रियते जायते बन्धुस्तत्राऽऽशौचं स्वकं भवेत् ॥
एकरात्रं त्रिरात्रं च षड्रात्रं मासमेव च।
शूद्रे सपिण्डे वर्णानामाशौचं क्रमशः स्मृतम् ॥
त्रिरात्रमथ षड्रात्रं पक्षस्त्वेकस्तथैव च।
वैश्ये सपिण्डे वर्णानामाशौचं क्रमशः स्मृतम् ॥
सपिण्डे क्षत्रिये शुद्धिः षड्रात्राद्ब्राह्मणस्य तु।
वर्णानां परिशेषाणां द्वादशाहेन निर्दिशेत् ॥
सपिण्डे ब्राह्मणे वर्णाः पूर्व एवाविशेषतः।
दशरात्रेण शुध्यन्ति इत्याह भगवान्यमः " ॥ २२ ॥

***अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ॥ २३ ॥**
**गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥**

**वरायादत्ताः कन्या यदि म्रियेरंस्तदा तत्सपिण्डा अहोरात्रेण शुध्यन्ति, तासां च त्रिपुरुषं सापिण्ड्यम्।**

" अप्रत्तानां स्त्रीणां त्रिपुरुषं सापिण्ड्यम् "

**इति वसिष्ठवचनात्। अत्र चाप्रत्तोपादानसामर्थ्यात्प्रत्तानां भर्तृपक्षेण सह सप्तपुरुषं सापिण्ड्यं गम्यते। यत्तु मनुनोक्तम्—**

" स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति च सनाभयः " इति ॥

---

* एतच्छ्लोकात्प्राक् ङ. पुस्तके—" आ दन्तजननात्सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता। त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्"। इति श्लोको वर्ततेऽयं च व्याख्याकृता न गृहीतः। मिताक्षरायां त्वयं गृहीतोऽस्ति।

---

१ क. त्रिपौरु°।

अस्यार्थः—असंस्कृतानामनूढानां स्त्रीणां बान्धवा भर्तृपक्ष्यास्त्र्यहेण शुध्यन्ति, सनाभयः पितृपक्ष्यास्तु पूर्वोक्तेन कल्पेन शुध्यन्तीति । अत्र च सनाभिशब्देन पितृपक्ष्याणां पृथगुपादानाद्बान्धवशब्दो भर्तृपक्षो वर्तते । न च प्रदानात्प्राग्भर्तृपक्षः संभवति, अतः पित्रादिना वाग्दत्तानां स्त्रीणां विवाहकर्मणा चासंस्कृतानां मरणे विधिरयम् । सनाभयः पितृसपिण्डाः कुमारस्य चौलादूर्ध्वं प्रागुपनयनान्मरणे यस्त्रिरात्मकः कल्प उक्तस्तेन शुध्यन्ति ।

" वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः "

इतिमनुवचनदर्शनाद्विवाह उपनयनस्थानम् । ततश्चादत्तासु कन्यास्वेकाहः प्रत्तासु च त्र्यह इति व्यवस्था । तथा च वृद्धमनुः—

" अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते ।
अहस्त्वदत्तकन्यासु तथा दत्तासु च त्र्यहम् " ॥

मरीचिः—" कन्यानां प्रक्चूडाकरणात्सद्यः शौचम् । प्राग्दानादेकाहः । दत्तानां प्राक्परिणयनात्त्र्यहम् " ।

पुलस्त्यः—" सद्यस्त्वप्रौढबालायां प्रौढायां वासराच्छुचिः ।
प्रदत्तायां त्रिरात्रेण दत्तायां पक्षिणी भवेत् " ॥

प्रदत्तायां प्रक्रान्तदानायां वाग्दत्तायामिति यावत् ।

विष्णुः—" संस्कृतासु स्त्रीषु नाऽऽशौचं पितृपक्षे, तत्प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे स्यातां तदैकरात्रं त्रिरात्रं वा " ।

प्रसव एकरात्रमन्यत्र त्रिरात्रम् ।

पैठीनसिः—" पितृगोत्रं कुमारीणामूढानां भर्तृगोत्रता ।
जलदाने प्रमीतानामुद्वाहादुभयत्र तु " ॥

यमः—" पित्रोरुपरमे स्त्रीणामशौचं तु कथं भवेत् ।
त्रिरात्रेण विशुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः " ॥

ब्रह्मपुराणम्—" दत्ता नारी पितुर्गेहे सूयते म्रियतेऽथ वा ।
तद्बन्धुवर्गस्त्वेकेन जनकः शुध्यते त्रिभिः ॥
आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते ।
सद्यः शौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥
ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव तु ।
अतः परं प्रवृद्धानां ज्ञेयं तूभयतस्त्र्यहम् ॥

( आशौचप्रकरणम् १ )

पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि ।
स्वजात्युक्तमशौचं स्यात्सूतके मृतकेऽपि च ॥
पित्रा दत्ता तु या कन्या स्वातन्त्र्यादन्यमाश्रिता ।
यं यं श्रितवती भूयस्तस्याऽऽशौचं भवेत्त्र्यहम् ॥
मृतायां वा प्रसूतायां नान्येषामिति निश्चयः ।
पदे तु सप्तमे यत्र[1] बालात्काचिद्धृता भवेत् ॥
स्वामिगोत्रं भवेत्तस्यास्तच्च भूयो विशिष्यते[2] ।
पैतृकं तु प्रसूतायां ततैः[3] पौर्विकमर्तृकम् ॥
कामादक्षतयोनिश्चेदन्यं गत्वा व्यवस्थिता ।
तस्यान्यस्य सगोत्रा स्याद्यं त्वाश्रितवती स्वयम् " ॥

एवं कन्याविषयमुक्त्वा बालविषयमाह—बालेषु च विशोधनम्, इति । बालाः कृतनामकरणा अजातदन्तास्तेषु च मृतेष्वहरेव विशोधनम् । तथा गुर्वादिष्वसपिण्डेषु संस्थितेष्वहोरात्रेणैव विशुद्धिः ।

प्रसङ्गादन्यदपि किंचिल्लिख्यते, तत्र मनुः—

" जीवंजातो यदि *म्रियान्मृतो वा सूयते यदि ।
सूतकं तत्र मातुः स्यात्पित्रादीनां त्रिरात्रकम् " ॥

सप्तमासप्रभृतिप्रसव एतत्, जीवंजात इति लिङ्गात् । पित्रादीनां गुणवतां त्रिरात्रम् । अन्येषां दशाहः । यत्तु बृहद्विष्णुनोक्तम्—

" जातमृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यः शौचम् "

इति, सत्समानोदकविषयं न सपिण्डविषयम् । अत एव मनुः—

" बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति " ॥

पृथक्पिण्डोऽसपिण्डः । बालोऽत्राकृतनामा । अत्रैव विषये कात्यायनोऽप्याह—

" अनिवृत्ते दशाहे च पञ्चत्वं यदि गच्छति ।
सद्य एव विशुद्धिः स्यान्न प्रेतं न च सूतकम् " ॥

---

* अत्राऽऽर्षे परस्मैपदं, म्रियतेर्लुङ्लिङोश्चेत्यात्मनेपदनियमेऽपि ।

---

१ घ. छ. °त्र बाला काचि° । २ क. यतः । ३ क. °विशेषमा° ।

अथ वा विष्णुकात्यायनवाक्ये अस्पृश्यत्वनिषेधपरे। अत एव वृद्धमनुः—

" दशाहाभ्यन्तरे बालः प्रमादान्म्रियते यदि।
शावाशौचं न कर्तव्यं सूती(ति)शौचेन शुध्यति " ॥

हारीतः—" जातमृते मृतजाते वा सपिण्डानां दशाहः "।

यत्तु बृहन्मनुवचनम्—

" जीवंजातो यदि मृतो मृतः सूयेत एव वा।
सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् "

इति, यत्त्व(च्च) बृहत्प्रचेतोवचनम्—

" मुहूर्तजीवितो बालः पञ्चत्वं यदि गच्छति।
मातुः शुद्धिर्दशाहेन सद्यःशौचास्तु गोत्रिणः "

इति, तद्गुणवत्तरगोत्रविषयमग्निहोत्रानुष्ठानविषयं समानोदकविषयं वा। मुहूर्तजीवितो जीवंजात इत्यर्थः। शङ्खोऽप्यग्निहोत्रानुष्ठानाभिप्रायेणाऽऽह—

"अनिवृत्ते दशाहे तु पञ्चत्वं यदि गच्छति।
मातुः प्रासविकं शौचमुपस्पृश्य पिता शुचिः " इति ॥

कश्यपः—" बालानामजादन्तानां त्रिरात्रेण शुद्धिः "।

पैठीनसिः—"बाले चाजातदन्ते त्रिरात्रं शावमाशौचम् "।

शङ्खः—" अजातदन्ते बाले तु सद्यः शौचं विधीयते।
अहोरात्रात्तथा शुद्धिर्बाले तु कृतचूडके ॥
तथैवानुपनीते तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः "।

ब्राह्मणविषयमेतत्। मातापितृव्यतिरिक्तज्ञातिविषयं वा। यः पुनरजातदन्ते काश्यपीयस्त्रिरात्रविषयः स क्षत्रियादिविषयः पितृविषयो वा। अत्र चाजातदन्तशब्दोऽकृतनामविषयः। यदाह शङ्खः—

" प्राङ्नामकरणात्सद्यः शुद्धिः " इति।

यत्त्वङ्गिरसोक्तम्—"अनुजातस्य तावत्स्यादाशौचं संस्थितस्य तु।
यावत्स्नानं न कुर्वन्ति सचैलं बान्धवा बहिः "

इति, तन्मातापितृव्यतिरिक्त[2]गुणवत्सपिण्डविषयम्। आशौचादूर्ध्वं नामकरणात्प्राङ्मृते चैतत्।

---

१ क. सूते शौ°। २ घ. छ. °रिक्तागु°।

( आशौचप्रकरणम् १ )

यत्तु यमेनोक्तम्—" अजातदन्ते तनये शिशौ गर्भच्युते तथा ।
सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रेण शौचकम् "

इति, तन्नामकरणे सति द्रष्टव्यम् । गर्भच्युते यदेकाहविधानं तद्गुणातिशयवत्सु सपिण्डेषु ग्राह्यम् । इतरेषु त्र्यहः । जातदन्तस्य त्वग्निसंस्कारे चूडाकरणाभावेऽपि त्रिरात्राशौचम् । यदाहाङ्गिराः—

" यदाऽप्यकृतचूडो वै जातदन्तस्तु संस्थितः ।
दाहयित्वा तथाऽप्येनमाशौचं त्र्यहमाचरेत् " इति ॥

यत्पुनरूनद्विवर्षाधिकारे मनुनोक्तम्—

" नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेत त्र्यहमेव वा "

तत्प्रथमेऽब्दे यः कृतचूडस्तद्विषयम् । न चैतन्नियतम् । यतः षट्त्रिंशन्मते प्रथमाब्दे कृतचूडस्याग्निसंस्कार उक्तः—

" यदाऽप्यजातदन्तः स्यात्कृतचूडस्तु संस्थितः ।
तथाऽपि दाहयेदेनं त्र्यहमाशौचमाचरेत् " इति ॥

तृतीयवर्षे तु कृतचूडस्य संस्थितस्याग्निसंस्कारः । तत उदकं च । निखननोदकनिषेधयोरूनद्विवर्षविषयत्वात् । ततश्चैतद्व्यवस्थितम् । आशौचमध्ये बालोपरमे सद्यः शौचम् । नाम्न ऊर्ध्वं प्राग्दन्तजननात्पित्रोस्त्रिरात्रम् । सपिण्डान्तराणामेकाहः । प्रथमेऽब्देऽकृतचूडस्यापि विपत्तावग्निसंस्कारपक्षे ज्ञातीनामपि त्रिरात्रम् । पक्षान्तरे त्वेकाहः । कृतचूडस्य पक्षद्वयेऽपि त्र्यह एव । तृतीयेऽब्दे कृतचूडस्य संस्थितावावश्यकाग्न्युदकदानं(ने) वा त्र्यह इति । सर्वं चैतद्ब्राह्मणविषयम् । क्षत्रियादिविषये त्वङ्गिरा आह—

" विप्रे न्यूने त्रिभिर्वर्षैर्मृते शुद्धिस्तु नैशिकी ।
त्र्यहेण क्षत्रिये शुद्धिस्त्रिभिर्वैश्ये मृतेऽपि च " इति ॥

अकृतचूडाभिप्रायं चैतत् ।

तथा—" निर्वृत्तचूडके विप्रे त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।
निर्वृत्ते क्षत्रिये षड्भिर्वैश्ये नवभिरिष्यते ॥
शूद्रे त्रिवर्षान्यूने तु मृतः शुद्धिस्तु पञ्चभिः ।
अत ऊर्ध्वं मृते शूद्रे द्वादशाहो विधीयते ॥

---

१ घ. छ. °हः । जातदन्तस्य ।

षड्वर्षान्तमतीतो यः शूद्रस्तु म्रियते यदि ।
मासिकं तु भवेच्छौचमित्याङ्गिरसभाषितम् " इति ॥

ऋष्यशृङ्गः—" यत्र त्रिरात्रं विप्राणामाशौचं संप्रपद्यते ।
तत्र शूद्रे द्वादशाहं षण्नष क्षत्रवैश्ययोः " ॥

हारीतः—" आ मौञ्जिबन्धनाद्विप्रः क्षत्रियश्च धनुर्ग्रहात् ।
आ प्रतोदग्रहाद्वैश्यः शूद्रो वस्त्रद्वयग्रहात् " ॥

मृतः परिपूर्णाशौचनिमित्तं भवतीति शेषः । मौञ्जीबन्धनादेः प्राक्तु—

" अविशेषेण सर्वेषां वर्णानामनुपूर्वशः ।
त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वद्धा विधीयते " ॥

पारस्करः—" ऊनद्विवार्षिके प्रेते मातापित्रोरशौचं नेतरेषाम् " ।

अस्पृश्यत्वाभिप्रायमेतत् । इति प्रासङ्गिकम् ।

गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ।

गुर्वादिष्वसपिण्डेषु संस्थितेष्वहोरात्रेणैव शुद्धिः । गुरुरत्रौपचारिको न मुख्यः । तस्य सपिण्डत्वात् । यद्वा दत्तापविद्धादीन्प्रति निवृत्ते सापिण्ड्ये मुख्यस्यापि गुरोरुपादानमविरुद्धम् । अन्तेवासी शिष्यः । अनूचान उपाध्यायः । मातुलः प्रसिद्धः । यद्यपि च्छन्दोध्यायिमात्रे श्रोत्रियशब्दः प्रसिद्धस्तथाऽपि सब्रह्मचारिविशिष्ट एवैतस्मिन्नयं वर्तते । तथा च मनुः—

" सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् " इति ।

एकाचार्यः सहाध्यायी सब्रह्मचारी ।

मनुः—" गुरोः[1] प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेताहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति " ॥

आचार्योऽत्र गुरुः । पितृमेधोऽन्त्यकर्म ।

यत्तु तेनैवोक्तम्—" त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः "

इति, तत्पितृमेधाचरणाभावे सति द्रष्टव्यम् ।

तथा—" श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च " ॥

उपसंपन्नत्वं मातुलादीनामपि विशेषणम् । तेन श्रोत्रियविषयस्य त्रिरात्रस्य मातुलादिविषयायाश्च पक्षिण्या याज्ञवल्क्कीयेनैकाहेनाविरोधः । उपसं-

---

१ घ. छ. गुरुः प्रेतस्य शिष्यस्य पि[2] ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

पक्षो गुणवान् । मानवे च, श्रोत्रियः समानग्रामो विवक्षितः । इतरत्रासमानग्रामः ।

यच्च—" अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ "

इति, समानग्रामाश्रोत्रियविषयम् ।

यच्च—" असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुरास्तांश्च बान्धवान् "

इति मनुवाक्यं, तदपि मातुरास्तानां बान्धवानां मातुलादीनां निर्हरणकर्तृविषयमित्यविरुद्धम् ।

बृहस्पतिः—" त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत् " ।

प्रचेताः—" मृते चर्त्विजि याज्ये च त्रिरात्रेण विशुध्यति " ।

कुलर्त्विग्विषयमेतत् ।

" संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते ।
संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः " ॥

संस्कृत उपनीतः ।

" पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत् ।
त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥
श्वशुरयोर्भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले ।
पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयेन्निशाम् " ॥

पित्रोर्मातापित्रोर्या स्वसा तस्यां संस्थितायामित्यर्थः ।

उशना—" मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च ।
आशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि " ॥

गौणोऽत्र गुरुः ।

गौतमः—" पक्षिणीमसपिण्डे योनिसंबद्धे सहाध्यायिनि " ।

योनिसंबद्धो मातापितृसंबद्धः । स चेदसपिण्डस्तदा पक्षिणीं कुर्यात् ।

विष्णुः—" असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रम् " ।

यदङ्गिरसोक्तम्—" गृहे यस्य मृतः कश्चिदसपिण्डः कथंचन ।
तस्याप्यशौचं विज्ञेयं त्रिरात्रं नात्र संशयः "

इति, तन्मृतस्य गुणवत्त्वे स्नेहाद्युपाधिना वा गृहमरणे । धर्मोपाधिना त्वेकाहः ।

---

१ क. °ग्रामे हि वि° । २ घ. छ. °ग्रामश्रो° ।

वृद्धयाज्ञवल्क्यः—" भगिन्याः संस्कृतायास्तु भ्रातर्यपि च संस्कृते ।
मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥
शालके तत्सुते चैव सद्यः स्नानेन शुध्यति " ।

संस्कृता कृतविवाहा । भ्रातुः संस्कार उपनयनम् । तस्मिन्नुपरते भगिन्याः संस्कृतायाः सद्यः शुद्धिः । दौहित्रभगिनीसुतयोः सद्यःशुद्धिविधानमावश्यकपञ्चयज्ञादिकर्मानधिकारापादकाशौचनिवृत्त्यभिप्रायम् । मांसस्त्रीसंगमक्षितिशयनमलस्नानोत्सवादिवर्जं(र्जनं) तु पक्षिणीपर्यन्तं वचनान्तरादवसेयम् । यद्वाऽनुपनीतदौहित्रभागिनेयविषयमेतत् ।

तथा—" ग्राममध्यगतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् ।
ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् " ॥

बृहस्पतिः—" दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके ।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः " ॥

सकुल्याः समानोदकभाजः ।

जाबालिः—" त्र्यहं समानोदकानां गोत्रजानामहः स्मृतम् ।
मातृबन्धौ गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथा " ॥ २३ ॥

## अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ॥ २४ ॥

औरसव्यतिरिक्तक्षेत्रजादिपुत्रेषु मृतेषु जातेषु परिणीताः स्त्रियो भार्यास्तासु पुरुषान्तराश्रितासु च मृतास्वहोरात्रमाशौचम् । चकारेणात्र पूर्वोक्तमहोरात्रमनुकृष्यते ।

प्रजापतिः—" अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च ।
गोत्रिणः स्नानशुद्धाः स्युस्त्रिरात्रेणैव तत्पिता " ॥

संनिधौ त्रिरात्रमसन्निधावेकरात्रं कल्प्यम् ।

विष्णुः—" अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च ।
परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु मृतासु च " ॥

त्रिरात्रमा(म)त्रानुवर्तते ।

मरीचिः—" सूतके मृतके चैव त्रिरात्रं परपूर्वयोः ।
एकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्रं यत्तु वै पितुः " ॥

परः पूर्वः पतिर्यस्या भार्याया यस्य च पुत्रस्य क्रीतादेः परः पिता पूर्वस्तयोः परपूर्वयोरित्यर्थः । तयोस्तु गुणवत्त्वे संनिधौ च त्रिरात्रम् । अन्यत्रैकाहः ।

नाऽऽशौचमित्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ—

अन्यपूर्वासु भार्यासु कृतकेषु सुतेषु वा
तथा नानध्यायो नोदकक्रिया " ।

ब्रह्मपुराणे—" औरसं वर्जयित्वा तु समवर्णेषु सर्वदा ।
क्षेत्रजादिषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च ॥
अशौचं च त्रिरात्रं स्यात्समानामिति निश्चयः " ।

तथा—" आदावन्यस्य दत्तायां कुत्रचित्पुत्रयोर्द्वयोः ।
पितुर्यत्र त्रिरात्रं स्यादेकं तत्र सपिण्डिनाम् ॥
एका माता द्वयोर्यत्र पितरौ यत्र कुत्रचित् ।
तयोः स्यात्सूतकादैक्यं मृतकाद्वा परस्परम् " ॥

" तत्समः पुत्रिकासुतः " इत्यौरसान्यः पुत्रिकासुत इति नात्र तस्य पृथगुपादानम् ।

हारीतः " परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु कृतकेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहस्त्वसपिण्डतः " ॥ २४ ॥

## निवासराजनि [1]तथा तदहः शुद्धिकारणम् ॥

यत्र विषये निवसति स निवासः, तस्य राजनि स्वामिनि मृते तद्विषयनिवासिनां यस्मिन्नहन्यसौ मृतस्तदेवाहः शुद्धिकारणम् । अत्र रात्रावपि चेन्मृतस्तदा सैव रात्रिर्विशुद्धिकारणम् । अहःशब्दो ग्रहोपलक्षणम् । यदाह यमुः—

" प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितिः " इति ।

ज्योतिषा सौरेण नाक्षत्रेण[3] वा सह वर्तते यदाशौचं तत्सज्योतिः ॥

सपिण्डजननादावपि क्वचिद्विषय आशौचापवादमाह—

*महीपतीनां नाऽऽशौचं हतानां विद्युता तथा ॥ २५ ॥
गोब्राह्मणार्थे सङ्ग्रामे यस्य चेच्छन्ति पार्थिवाः ॥

मह्याः क्षितेर्ये मण्डलात्मिकायाः करोत्पत्तिहेतवो भागास्तद्विषयोऽत्र महीशब्दः । न पुनः सकलभूगोलविषयः । न हि तस्य स्वामी कश्चित्संभवति । न हि गिरिसागरवननदीनदादिस्थानानि कस्यचिद्भवन्ति, यावान्खलु भूपस्य गमनागमनादिमार्गादिषु भोगस्तावाँल्लोकस्यापीति । महीपतयोऽत्र जनपदे-

* क. पुस्तक एतस्याग्रेतनब्राह्मणेनेत्यादिश्लोकस्य च पाठव्यत्यासो दृश्यते ।

१. क. °हस्तु स° । २ क. प्रेते । ३ घ. छ. नक्षत्रेण ।

श्वराः । तेषां सपिण्डजननादौ नाऽऽशौचम् । अथवाऽऽशौचप्रतिषेधो जनपदपालनोपयोगिदानादिविषयः । न पुनः सर्वत्र । यदाह विष्णुः—

" न राज्ञां राजकर्मणि, न व्रतिनां व्रते, न सत्रिणां सत्रे, न कारूणां कारुकर्मणि " इति ।

ये च विद्युता हता ये च गोब्राह्मणपरित्राणप्रयोजने सङ्ग्रामे हतास्तेषां सपिण्डा यस्य च पुरोहितादेः प्रजापालनसिद्ध्यर्थं शौचं पार्थिवा इच्छन्ति, तेषां सर्वेषां नाऽऽशौचम् । एतच्चोपलक्षणार्थम् । अत एवाऽऽह प्रचेताः—

" कारवः शिल्पिनो वैद्या *दासीदासास्तथैव च ।
राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः " ॥

एतच्च यदात्ययिकं वैद्यादिकार्यं तत्रैव तेषां शौचविधानम् ।

शातातपः—" मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासीदासास्तथैव च ।
स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिताः " ॥

आपद्विषयमेतत् ।

स्मृत्यन्तरम्—" सद्यःस्पृशो गर्भदासो भक्तदासस्तथाच्छुचिः " ॥

तथा—" चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते ।
तस्माच्चिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः " ॥

देवलः—" क्षत्रियस्याभिषिक्तस्य निवृत्तस्य च लिङ्गिनः ।
प्राधान्यात्त्यागतश्चैव नाशुद्धाः शुचयः स्मृताः " ॥

अभिषिक्तस्य क्षत्रियस्य तथा निवृत्तस्य त्यक्तसङ्गस्य लिङ्गिनो यतेस्तत्संबन्धिनो नाशुद्धाः किं तु शुचय एव, क्षत्रियस्य प्राधान्यान्मरणादि सपिण्डानामाशौचे कारणं न भवति । संन्यासिनश्च ज्ञातित्यागात् ।

सद्यःशौचमित्यनुवृत्तौ मनुः—

" डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः " ॥

अशस्त्रकलहो डिम्बाहवः ।

तथा—" उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथा शौचमिति स्थितिः " ॥

---

* अत्राऽऽर्षत्वाभैकवद्भावः । मध्यमपदलोपी वा समासः ।

---

१ घ. छ. गृह्यक' ।

(आशौचप्रकरणम् १)

यमः—" डिम्बाहवहतानां च तथैव प्राणसत्रिणाम् ।
नदीश्वापददंष्ट्रिभ्यः सद्यःशौचं विधीयते " ॥

प्राणसत्रिणः प्राणदायिनः । नद्यादिभ्यो मृतानां च ये सपिण्डास्तेषां सद्यःशौचम् ।

बृहस्पतिः—" डिम्बाहवे विद्युता च राज्ञा गोविप्रपालने ।
सद्यःशौचं हतस्याऽऽहुरुभयं चान्ये महर्षयः " ॥

सगुणागुणकृताऽत्र व्यवस्था, संनिधानासंनिधानकृता वा ।

पराशरः— " ब्राह्मणार्थे विपन्नानां बन्दिग्राहहतेषु च ।
आहवेषु विपन्नानामेकरात्रमशौचकम् " ॥

सुमन्तुः—" भृग्वग्निजलसङ्ग्रामदेशान्तरसंस्थसंन्याश्यनशनाशनिमहाध्वनिकानामुदकक्रिया कार्या सद्यःशौचं च भवति " ।

अप्रतिषिद्धभृग्वग्न्यादिविषयमेतत् ।

कश्यपः—" अनशनहतानामशनिहतानामग्निजलप्रविष्टानां भृगुसङ्ग्रामदेशान्तरगतानां गर्भाणां जातदन्तानां त्रिरात्रेण शुध्यति " ।

सगुणनिर्गुणापेक्षया सद्यःशौचत्रिरात्रयोर्व्यवस्था ॥ २५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

**ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो न द्विजः क्वचित् ॥ २६ ॥**
**अनुगम्याम्भसि स्नात्वा[1] वह्निस्पृग्घृतभुक्शुचिः ॥**

ब्राह्मणेन शूद्रो द्विजश्च सपिण्डव्यतिरिक्तो नानुगन्तव्यः । सपिण्डानुगमनस्य " अनुगन्तव्य इतरो ज्ञातिभिर्मृतः " इति विहितत्वात् । यद्यनुगच्छेत्तदा नद्यादिस्थेऽम्भसि स्नात्वा वह्निं स्पृष्ट्वा घृतं प्राश्य शुध्यति । एतच्च सजातीयानुगमनविषयं शुद्धिविधानम् । असजातीयानुगमने तु प्रायश्चित्तमधिकम् । तत्र शूद्रानुगमने पराशर आह—

" प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
नीयमानमनुप्रेयात्स त्रिरात्रेण शुध्यति ॥
त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य शुचिर्भवेत् ॥

---

१ घ. छ. ये च स° । २ ङ. °त्वा दृष्ट्वाऽग्निं घृत° ।

विनिवृत्ता यदा शूद्रा उदकान्तादवस्थिताः ।
द्विजैस्तदाऽनुगन्तव्या एष धर्मः सनातनः" ॥

यत्तु वासिष्ठम्—" मानुषास्थि स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचम-
स्निग्धे त्वहोरात्रं शवानुगमने चैवम् "

इति, प्रायश्चित्तविधानं न तद्धीनवर्णद्विजात्यनुगमनविषयम् ।

मानवं च—" अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति" ॥

इमं प्रेतमनुगच्छामीति कामनयाऽनुगच्छतः शुद्धिहेतुरयं, न तु यथाकथंचित्पश्चाद्गच्छतः ।

बौधायनः—" पारशवोपस्पर्शनेऽनभिसंधिपूर्वे सचैलोऽपः स्पृष्ट्वा शुद्धो
भवति, अभिसंधिपूर्वकं तु त्रिरात्रम् "

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवः, तच्छवस्पर्शन एतत् ।

गौतमः—" प्रेतोपस्पर्शने दशरात्रमाशौचमभिसंधाय चेत् । उक्तं
वैश्यशूद्रयोरार्तवीर्वा, पूर्वयोश्च त्र्यहं वा" ।

अस्यार्थः—यदि मूल्यमभिसंधायापेक्ष्य निर्हरणदाहात्मकं ब्राह्मणः प्रेतोपस्पर्शनं करोति, तदा दशाहमाशौचं कुर्यात् । एवं वैश्यशूद्रोपस्पर्शन उक्तमाशौचं यथासंख्यं पञ्चदशत्रिंशदहोरात्रात्मकम् । यद्वा—ऋतुसंख्याका रात्रीः, पञ्च षड्वा, ऋतवो भवन्ति । तत्र वैश्ये पञ्च रात्रीराशौचं, शूद्रे षट् । एतच्च गुणवत आपदि निर्हरणादि कुर्वतो द्रष्टव्यम् । पूर्वयोश्च वर्णयोर्ऋतुसंख्याका रात्रीस्त्र्यहं वा । तत्र ब्राह्मणे पञ्च क्षत्रिये षट् । उभयत्र वा तिस्रः । गुणवत्तारतम्यापेक्षो विकल्पः । तथा—अवरश्चेत्पूर्ववर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं, तत्र शावोक्तमाशौचम् । शवस्य यो वर्णस्तदीयमाशौचं दशरात्रद्वादशरात्रादिकं स्पृशतोऽपि जानीयादित्यर्थः ॥ २६ ॥

उक्ताशौचापवादं केषांचिदाह—

**ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ॥२७॥**
**सत्त्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥**
**दाने विवाहे यज्ञे च सङ्ग्रामे देशविप्लवे ॥ २८ ॥**
**आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥**

---

१ क. °वो वा भ° । २ क. °रात्रं द्वादशरात्रात्मकं ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

ऋत्विगुक्तो मनुना—" अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते " इति ॥

कृतदीक्षणीयोऽवभृथं यावद्दीक्षितस्तेषामृत्विजां दीक्षितानां च यज्ञसंबन्धीनि कर्माणि प्रवर्तयतां सद्यःशौचं विधीयते मन्वादिभिः । तथा सत्रिणां गवामयनाद्यधिकारिणां ये यजमानास्त ऋत्विज इति वचनबलादार्त्विजेषु कार्येषु यजमानेषु सद्यः शौचं विहितम् । अनेन पुनरार्त्विजपदार्थविषयं सत्रिणां विधीयते। "क्रियाश्च श्रुतिचोदिताः" इत्यनेन प्रत्यक्षश्रुतिविहितासु क्रियास्वाशौचाभाव उक्तः । अत्र तु ऋत्विग्दीक्षितसत्रिणां स्वकार्येषु प्रत्यक्षाप्रत्यक्षश्रुतिविहितेषु सद्यःशौचं विधीयत इति विवेकः । सत्रिग्रहणेन वा सततान्नदानमद्वत्तस्य ग्रहणम् । तथा व्रतिनां व्रते सद्यःशौचम् । सद्यःशौचं विधीयत इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । व्रतं स्नातकव्रतम् । प्रायश्चित्तादि वा । ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । दाता दानशीलः । ब्रह्मविद्यतिः । एतेषां सद्यःशौचम् । दानशीलव्यतिरिक्तस्यापि दाने वर्तमाने विवाहे च । तथा क्षत्रियादेराशौचे वर्तमान एकादशाहिकवृषोत्सर्गयज्ञे सङ्ग्रामे प्रस्तुते राज्ञः संनहनप्रयोगे देशस्य च विप्लवे राजदैविकोपप्लवे तत्परिहारकेषु ग्रहयज्ञादिषु तथाऽऽपदि कष्टायां नैर्घृण्यादौ स्वस्य पोष्यवर्गस्य वाऽऽत्यन्तिकदुःखहेतोः सद्य एव तु शुद्धिः । अत्र पराशरः—

" राज्ञां तु सूतकं नास्ति व्रतिनां न तु सत्रिणाम् ।
दीक्षितानां च सर्वेषां यस्य चेच्छन्ति ब्राह्मणाः ॥
दीक्षितेष्वभियुक्तेषु व्रततीर्थपरेषु च ।
तपोदानप्रसक्तेषु नाऽऽशौचं मृतसूतके " ॥

स्मृत्यन्तरम्—" नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिषु ।
निवृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने " ॥

सद्यः शौचमिति शेषः ।

छन्दोगपरिशिष्टम् । कात्यायनः—

" न दीक्षणात्परं यज्ञे न कृच्छ्रादि तपश्चरन् ।
पितर्यपि मृते तेषां दोषो भवति कर्हिचित् ॥
आशौचं कर्मणोऽन्ते स्याद्यहं वा ब्रह्मचारिणाम् " ॥

ब्रह्मपुराणे—" गृहीतमधुपर्कस्य यजनार्थे त्वथर्त्विजः ।
पश्चादशौचं पतितं न भवेदिति निश्चयः ॥

तद्बन्धुहीतदीक्षस्य त्रैविध्यस्य महामखे ।
स्नानं त्ववभृथे यावत्तावत्तस्य न विद्यते ॥
यतेर्वेदान्तनिष्ठस्य प्रशान्तस्य न कुत्रचित् ।
निवृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ॥
गृहीतनियमस्यापि न स्यादन्यस्य कस्यचित् ।
निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि ॥
निमन्त्रणादि(श्रितस्य) विप्रस्य स्वाध्यायाद्विरतस्य च ।
देहे पितृषु तिष्ठत्सु नाऽऽशौचं विद्यते क्वचित् ॥
नैष्ठिकस्याथ वाऽन्यस्य भिक्षार्थं प्रस्थितस्य च ।
वानप्रस्थस्य दातृत्वे साधिकारस्य सर्वदा ।
प्रतिग्रहाधिकाराच्च निवृत्तस्य न विद्यते ।
गोमङ्गलादौ वैश्यानां रक्षाकालात्ययादपि ॥
अपि दातृग्रहीत्रोश्च सूतके मृतके तथा ।
अविज्ञाते न दोषः स्याच्छ्राद्धादिषु कदाचन ॥
विज्ञाते भोक्तुरेव स्यात्प्रायश्चित्तादिकं क्रमात् ।
भोजनार्धे तु संभुक्ते विप्रैर्दातुर्विपद्यते ॥
यदि कश्चित्तदोच्छिष्टशेषं भुक्त्वा समाहिताः ।
आचम्य परकीयेण जलेन शुचयो द्विजाः " ॥

क्रतुः—" पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति " ॥

ब्रह्मपुराणात्—" विवाहयज्ञयोर्मध्ये सूतके सति चान्तरा ।
शेषमन्नं परैर्दत्तं दातां भोक्तृंश्च न स्पृशेत् " ॥

जाबालः—" ब्रह्मचारिणि भूपे च यतौ शिल्पिनि दीक्षिते ।
यज्ञे विवाहे सत्रे च सूतकं न कदाचन " ॥

विष्णुः— " न देवप्रतिष्ठोत्सवविवाहेषु पूर्वसंकल्पितेषु न देश-
विभ्रमे नाऽऽपद्यपि च[3] कष्टायामाशौचम् " इति ।

पूर्वसंकल्पश्च नियतः । यत्स्मृत्यन्तरम्—

" दिनदशकं दिनसप्तकमथ वा दिनपञ्चकं वदन्त्यन्ये ।
त्र्यहमपि केचित्तज्ज्ञाः संकल्पार्थे वदन्ति कालविदः " इति ॥

---

१ क. °दाद्दनि° । २ घ. छ. °दातुन्भोक्तुं° । ३ घ. छ. च काष्ठया° ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

पैठीनसिः—"विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि ।
न तत्र सूतकं तद्वत्कर्म यज्ञादि कारयेत् " ॥

दुर्गो दुर्भिक्षः ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रासङ्गिकं शुद्ध्यन्तरमाह—

**उदक्याशौचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ॥२९॥**
**अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥**

उदक्या रजस्वला । आशौचाः(चिनः) सूतकमृतकाभ्यामस्पृश्याः । एतैः संस्पृष्टः स्नायाच्छुद्ध्यर्थम् । तैरुदक्यादिस्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेत्, आचामेत् । उदक्यादिस्पृष्टस्तत्स्पृष्टश्च स्नात्वाऽब्लिङ्गान्यब्दैवतानि जपेत्, गायत्रीं च सकृन्मनसा तैरिति बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षम् । संस्पृष्ट इत्येकवचनमविवक्षितार्थम् । तस्य वा(चा)विवक्षितार्थत्वे स्नायादित्यस्याविवक्षितार्थत्वम् ।

मनुः—" दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितान्सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति " ॥

यद्यपि चात्र तत्स्पृष्टिशब्देन शवस्पृष्ट्येवोच्यते संनिधानात्, तथाऽपि दिवाकीर्त्यादीनामशुचित्वेन शवतुल्यत्वात्तत्स्पृष्टिनमपि स्पृशतः स्नानमेव स्यात् एकवर्गत्वात् । तथा च गौतमः—

" पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्यु-
पस्पर्शेन सचैलमुदकस्पर्शनाच्छुध्येत् " ।

अत एव स्मृत्यन्तरम्—" शवचण्डालपतितसूतिकोदक्यास्पृष्टि-
तत्स्पृष्टिस्पर्शे स्नानम् " इति ।

तत्स्पृष्टिस्पर्शे सति पूर्वं सचैलं स्नानम् । असति पूर्वं तु स्नानमात्रम् यदाह संवर्तः—

" तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते ।
ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा " ॥

प्रसङ्गादन्यान्यपि स्नाननिमित्तानि प्रदर्श्यन्ते, तत्र विष्णुः—

" उदक्याशवचण्डालानस्नेहास्थि नरोद्भवम् ।
स्पृष्ट्वा सचैलः स्नायीत क्रव्यादे शिरसि स्थिते " ॥

तथा—" अनुच्छिष्टस्तु संस्पृष्टो येनाऽऽचम्य शुचिर्भवेत् ।
तेनैवोच्छिष्टसंस्पृष्टस्त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत् ॥

---

१ क. संस्पर्शो ।

अनुच्छिष्टेन संस्पृष्टे येन स्नानं विधीयते ।
तेनैवोच्छिष्टसंस्पृष्टः प्राजापत्येन शुध्यति " ॥

पराशरः—" दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरे(रि)क्ते क्षुरकर्मणि ।
चितियूपे श्मशानाग्निस्पर्शने स्नानमाचरेत् " ॥

बृहस्पतिः—" मैथुने कटधूमे च सद्यः स्नानं विधीयते ।
अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् " ॥

स्मृत्यन्तरम्—" अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् ।
कृत्वा सचैलं स्नात्वा तु वारुणीभिश्च मार्जयेत् " ॥

मनुः—" वान्तो विरिक्तः[1] स्नात्वा च घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् " ॥

ऋताविति विशेषः ।

यमः—" अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते तथाऽस्तमिते रवौ ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते " ॥

सूर्योदयास्तमयव्यापिनी निद्राऽभ्युदयास्तमयौ ।

च्यवनः—" श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनं ग्रामयाजकं
सोमविक्रयिणं यूपं चितिं चितिकाष्ठं मद्यं मद्यभाण्डं
सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृशं रजस्वलां महापातकिनं शवं
स्पृष्ट्वा सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्य-
ष्टशतं जपेद्घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेत्" इति ।

कामतः स्पर्श एतत् । तथा च बृहस्पतिः—

" पतितं सूतिकामन्त्यं शवं स्पृष्ट्वा च कामतः ।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥
शवस्पृशं दिवाकीर्तिं चितिं यूपं रजस्वलाम् ।
स्पृष्ट्वा तु कामतो विप्रः स्नानं कृत्वा विशुध्यति " ॥

एवं च (तच्च) सचैलम् ।

कश्यपः—" उदयास्तमये स्कन्दित्वाऽक्षिस्पन्दने कर्णाक्रोशने
चित्यारोहणे यूपसंस्पर्शने च सचैलं स्नात्वा पुनर्मा-
मिति जपेत् । महाव्याहृतिभिः सप्ताऽऽज्याहुतीर्जुहुयात् " ।

---

१ क. विविक्ते । २ घ. छ. विरक्तः ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

स्मृत्यन्तरम्—" स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् ।
देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ॥
असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः " ।

षट्त्रिंशन्मतात्—"श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः ।
सचैलं सशिरः[1] स्नात्वा तदानीमेव शुध्यति ॥
बौद्धान्पाशुपतांश्चैव लौकायतिकनास्तिकान् ।
विकर्मस्थान्द्विजान्स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् " ॥

स्मृत्यन्तरम्—" नग्नान्पाशुपतान्बौद्धान्कालान्कौलान्दिशश्वरान् ।
एतान्दृष्ट्वा रविं पश्येत्स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् " ॥

अङ्गिराः—" यस्तु च्छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति ।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

मार्कण्डेयपुराणे—" अभोज्यसूतिकाषण्डमार्जारान्त्यश्वकुक्कुटान् ।
पतिताविद्धचण्डालमृतहारांश्च धर्मवित् ॥
संस्पृश्य शुध्यति स्नानादुदक्याग्रामसूकरौ ।
तद्वच्च सूतिकाशौचदूषितौ पुरुषावपि ॥
यस्य चानुदिनं हानिर्गृहे नित्यस्य कर्मणः " ।

तथा—" पक्षेण कर्मणो हान्या प्रयात्यस्पृश्यतां नरः " ।

आविद्धो ज्ञातिबहिष्कृतः ।

वृद्धयाज्ञवल्क्यः—" चण्डालपुक्कसम्लेच्छभिल्लपारसिकादिकम् ।
महापातकिनश्चैव स्पृष्ट्वा स्नायात्सचैलकम् " ॥

व्यासः—" भासवानरमार्जारखरोष्ट्राणां शुनां तथा ।
सूकराणाममेध्यं वै स्पृष्ट्वा स्नायात्सचैलकम् ॥

आपस्तम्बः—" यद्विष्ठितं[2] काकबलाककाभ्याममेध्यलिप्तं तु भवेच्छरीरम् ।
श्रोत्रे मुखे च प्रविशेत सम्यक्स्नानेन लेपापहतस्य शुद्धिः " ॥

पराशरः—" चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चण्डालः सोमविक्रयी ।
एतांस्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् " ॥

चितिप्रदेशभवो वृक्षश्चैत्यः ।

देवलः " श्वपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम् ।
सूतिकां सूयिकां नारीं रजसाऽभिपरिप्लुताम् ॥

---

१ क. °शिराः स्ना° । २ क. 'द्विष्ठिना का° ।

सचैलं सशिराः(रः) स्नात्वा तदानीमेव शुध्यति ।

**स्पृष्ट्वेति शेषः ।**

अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धश्च यदि स्पृशेत् ।
विशुध्यत्युपवासेन पुनः कृच्छ्रेण वा पुनः ॥
उपस्पृश्याशुचि स्पृष्टं तृतीयं वाऽपि मानवः ।
हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याऽऽचम्य शुध्यति " ॥

**तथा**—" मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी ।
मज्जानं शोणितं वाऽपि परस्य यदि संस्पृशेत् ॥
स्नात्वोपमृज्य लेपादीनाचम्य स शुचिर्भवेत् ।
तान्येव स्वानि संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात् " ॥

**संवर्तः**—" श्ववराहखरानुष्ट्रान्वृकगोमायुवानरान् ।
काककुक्कुटगृध्रांश्च स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् " ॥

**तथा**—" शूद्रोच्छिष्टं द्विजः स्पृष्ट्वा उच्छिष्टं शूद्रमेव वा ।
शुचिमप्यवगूह्यैनं सवासाः स्नानमाचरेत् ॥
नीलीं नीलीविकारांश्च मनुष्यास्थ्यपि वा द्विजः ।
चण्डालपतितच्छायां स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् " ॥

**पैठीनसिः**—" काकोलूकस्पर्शने सचैलं स्नानम् । अनुदकमूत्र-
पुरीषकरणे सचैलं स्नानं, महाव्याहृतिभिर्होमश्च ।
श्वखरोष्ट्रचण्डालस्पर्शने सचैलं स्नानम् " ।

**अनुदकमूत्रपुरीषकरणे शौचकालविलम्ब इत्यर्थः ।**

**वायुपुराणे**—" उदक्यां सूतिकां चैव श्वानमन्त्यावसायिनम् ।
नग्नाटान्मृतहारांश्च स्पृष्ट्वाऽऽशौचं विधीयते ॥
स्नात्वा सचैलौ मृद्भिस्तु शुध्येद्वादशभिर्नरः " ।

**कालिकापुराणे**—" स्पृष्ट्वा रुद्रस्य निर्माल्यं सवासा आप्लुतः शुचिः " ।

**स्मृत्यन्तरम्**—" गुरुवाक्ये ह्यघोरे च स्वमन्त्रे दक्षिणोत्तरे ।
चललिङ्गे तथा तूरे पटचित्रेऽथ हैमके ॥
स्फाटिकेषु न निर्माल्यं तथा बाणे स्वयंभुवे " ।

**तूरे शिरसि[1] पद्मरागमये वा ।**

**मनुः**—" नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च " ॥

---

१ क. °भाजान्मृ° । २ घ. छ. °सि । मनुः ।

( आशौचप्रकरणम् १ )

गवालम्भार्केक्षणयोः परस्परमाचमनेन समुच्चयः । अबुद्धिपूर्वस्पर्शविषयमेतत् । बुद्धिपूर्वे तु वासिष्ठम्—

" मानुष्यास्थि स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचम् । अस्निग्धे त्वहोरात्रम् " इति ।

विष्णुः—" भक्ष्यवर्जं पञ्चनखशवं तदस्थि च स्पृष्ट्वा
स्नातो वस्त्रं प्रक्षालितं बिभृयात् " ।

इति सचैलस्नानानि । अथ स्नानानि, तत्र यमः—

" अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमित्यभिधीयते " ।

देवलः—" मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी ।
मज्जानं शोणितं स्पृष्ट्वा परस्य स्नानमाचरेत् " ॥

विष्णुः—" नाभेरधस्तात्प्रबाहु च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्याऽऽचान्तः शुध्येत् ।
अन्यत्रोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नानेनेन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन, दशनच्छदोपहतश्च " ।

प्रबाहुः कफोणिकावधिर्वा(र्वा)ह्योरग्रभागः । परामेध्यविषयमेतत् ।

अङ्गिराः—" इन्द्रियैर्न प्रविष्टं स्यादमेध्यं यदि कर्हिचित् ।
मुखेऽपि संस्पर्शगतं तत्र स्नानं विधीयते " ॥

शङ्खः—" रथ्याकर्दमतोयेन[2] छीवनाद्येन वा तथा ।
नाभेरूर्ध्वं नरः स्पृष्टः सद्यः स्नानेन शुध्यति " ॥

ऋष्यशृङ्गः—" मद्यविण्मूत्रविप्रुड्भिः संस्पृष्टं मुखमण्डलम् ।
मृत्तिकागोमयैर्लेपात्पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

विष्णुः—" चण्डालोदकसंस्पृष्टः स्नानं कृत्वा विशुध्यति ।
उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टस्त्रिरात्रेण विशुध्यति " ॥

आपस्तम्बः—" एकां शाखां समारूढश्चण्डालादिर्यदा भवेत् ।
ब्राह्मणस्तत्र निवसन्स्नानेन शुचितामियात् " ॥

देवलः—" मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं वसा ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो मद्यं चामेध्यमुच्यते ॥

आर्तवं स्त्रीवीर्यम् । दूषिका नेत्रमलम् ।

---

१ क. प्रमृष्टं । २ घ. छ. °येषु छी° ।

माधूकमैक्षवं टाङ्कं कौलं खार्जूरपानसम् ।
मार्द्वीकं कारमार्दीकं मैरेयं नालिकेरजम् ॥
अमेध्यानि हि चैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ।
क्षत्रियश्चैव वैश्यश्च स्पृष्ट्वैतानि न दुष्यतः " ॥

मधूकपुष्पप्रभवं मद्यं माधूकम् । इक्षुविकारविशेष ऐक्षवम् । टाङ्कं टङ्कफलकृतं मद्यविशेषः । कौलं बदरमयम् । मार्द्वीकं द्राक्षामयम् । करमर्दमयं कारमार्दीकम् । प्रसिद्धमन्यत् ।

बृहस्पतिः—" ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते ।
तत्र स्नानमधस्तात्तु प्रक्षाल्याऽऽचम्य शुध्यति " ॥

मनुः—" वान्तो विर(रि)क्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् " ॥

भुक्त्वाऽन्नं वान्त आचामेदेव ।

आपस्तम्बः—" अपि वा लेपं प्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानां
मैथुने मूत्रवद्रेतस उत्सर्गे शौचम् " ।

तथा—" अस्पृश्यस्पर्शने वान्ते अश्रुपाते क्षुरे भगे ।
स्नानं नैमित्तिकं कार्यं दैवपित्र्यविवर्जितम् " ॥

देवादितर्पणरहितमित्यर्थः ।

वाग्भटस्मृतिसंग्रहात्—" अस्थिसंचयनात्पूर्वं रुदित्वा स्नानमाचरेत् ।
अन्तर्दशाहे विप्रस्य ऊर्ध्वमाचमनं स्मृतम् " ॥

यमः—" आतुरस्नानसंप्राप्तौ दशकृत्वस्त्वनातुरः ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत्स आतुरः " ॥

आतुरो रोगी ।

पराशरः—" अस्तं याते यदा सूर्ये चण्डालकुणपादिभिः ।
स्पर्शनं तु कथंचित्स्यात्कथं शुद्धिर्विधीयते ॥
जातवेदःसुवर्णं च सोममार्गं तथैव च ।
ब्राह्मणानुमतेनैव स्नात्वा दृष्ट्वा विशुध्यति " ॥

कुणपः शवः ।

स्नातातपः—" आदित्येऽस्तमिते रात्रावस्पृश्यं संस्पृशेद्यदि ।
भगवन्केन शुद्धिः स्यात्तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥
अनस्तमित आदित्ये संगृहीतं तु यज्जलम् ।
तेन सर्वात्मना शुद्धिः शवस्पृष्टं तु वर्जयेत् " ॥

( आशौचप्रकरणम् १ )

देवलः—" दिवाऽऽदित्यैर्जलैः स्नानं निशि कुर्यान्निमित्ततः ।
प्रक्षिप्य च सुवर्णं तु संनिधाप्य च पावकम् " ॥ २९ ॥

इदानीं नानाप्रकारेणोक्ताञ्शुद्धिहेतून्संगृह्याऽऽह—

**कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ॥३०॥**
**पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥**

कालादयः सर्वे प्रत्येकं शुद्धेरदुष्टताया हेतवस्तत्र तत्रोक्ताः । कालस्तावत् ' त्रिरात्रं दशरात्रं च ' इत्यादौ । अग्निः ' भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात् ' इत्यादौ । कर्म जपादि ' अब्लिङ्गानि जपेत् ' इत्यादौ । मृत्तिका ' सलिलं भस्म मृद्वारि ' इत्यादौ । वायुः ' मरुताऽर्केण ' इत्यादौ । मनः ' मनःपूतं समाचरेत् ' इत्यादौ शास्त्रान्तरे । ज्ञानमाध्यात्मिकं ' ज्ञानं बुद्धेः शोधनम् ' इत्यादौ । तपः ' विद्यातपोभ्यां भूतात्मा ' इत्यादौ । जलं ' वर्ष्मणो जलम् ' इत्यादौ । पश्चात्तापोऽनुतापः । ' ख्यापनेनानुतापेन ' इत्यादौ । निराहार आहाराभावः । ' त्र्यहमनश्नन्त आसीरन् ' इत्यादौ ॥ ३० ॥

किं च—

**अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्यास्तु शुद्धिकृत् ॥३१॥**
**शोध्यस्य मृच्च तोयं च संन्यासोऽथ द्विजन्मनाम् ॥**
**तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्ष्मणो जलम् ॥ ३२ ॥**
**जपः प्रच्छन्नपापानां मनसः सत्यमुच्यते ॥**
**भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ॥**
**क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ॥ ३३ ॥**

अकार्यं निषिद्धं तत्कर्तॄणां दानम् । नद्या अमेध्ययुक्ताया वेगः । वेगवता जलेन पूरणम् । बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनमित्यस्मात्प्राक्प्रत्येकं शुद्धिकृदुच्यत इति* संबध्यते । शोध्यस्यामेध्ययुक्तस्य मृज्जलं च । संन्यासः पारिव्राज्यं द्विजानाम् । तपः कृच्छ्रादि वेदविदामधीतवेदानाम् । क्षान्तिः परापराधसहिष्णुता विदुषां वेदार्थविदाम् । वर्ष्मणः शरीरस्य जलम् । सावित्र्यादिजपो गुप्तपापानाम् । मनसोऽन्तःकरणस्य सत्यं यथादृष्टार्थविवक्षा । भूतैर्भूतसूक्ष्मैरावृत आत्मा भूतात्मा तस्य तपो नित्यनैमित्तिकं वर्णाश्रमकर्म विद्या

* एतदनन्तरं सकलपुस्तकेषु प्रत्येकमित्यधिकं पदम् ।

१ क. °नमुच्यत इत्या' । २ घ. छ. °तविद्याना° ।

ब्रह्मोपासनमुभे शुद्धिकरे उच्येते । भूतात्मनश्च शुद्धिः काम्यनिषिद्धकर्मापूर्वस्य क्षयः । बुद्धेर्व्यवसायात्मिकाया ज्ञानं यथावत्स्थितात्मनाऽऽत्मविवेकः । क्षेत्रस्योपाधिभेदादीश्वराद्भिन्नस्य यदीश्वर एवाहमस्मीतीश्वरविज्ञानं तस्मात्परमा मुक्तिलक्षणा शुद्धिर्मन्वादीनां संमता ।

बृहस्पतिः—" साध्यायेनानुतापेन होमेन तपसैनसः ।
ध्यानेन क्षेत्रवासेन दानेनेह परिक्षयः ॥
परापवादाश्रवणं परस्त्रीणामदर्शनम् ।
एतच्छौचं श्रोत्रदृशोर्जिह्वाशुद्धिरपैशुनम् ॥
अप्राणिवधमस्तेयं शुचित्वं पादहस्तयोः ।
असंश्लेषः परस्त्रीणां शारीरं शौचमिष्यते " ॥

वसिष्ठः—" कालोऽग्निर्मनसस्तुष्टिरुदकान्यवलेखनम् ।
अविज्ञातं च भूतानां षड्विधा शुद्धिरिष्यते ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के आशौचप्रकरणम् ॥ १ ॥

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# आपद्धर्मप्रकरणम् । ( २ )

---

उक्तं सद्यःशौचमापदि—

" आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते "

इत्यादिषु, तत्प्रसङ्गेनाऽऽपदि वृत्तिविशेषानाह—

**क्षात्त्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः ॥**
**निस्तीर्य तामथाऽऽत्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि॥३४॥**

स्ववर्णविहितेन सर्ववर्णसाधारणेन च धनोपायेन तदप्राप्तिरापत् । तस्यां सत्यां द्विजो ब्राह्मणः क्षात्त्रेण कर्मणा क्षत्रियवृत्त्या शस्त्रजयादिकया जीवेत् । तदभावे वैश्यवृत्त्या कृष्यादिकया । तामापदं निस्तीर्य ब्राह्म्या वृत्त्या विगुणयाऽपि पोष्याणामात्मनश्च निर्वाहसंभवेऽथाऽऽत्मानं पावयित्वा प्रायश्चित्तैः परिशोध्य पथि स्वजातिविहितायां वृत्तौ न्यसेदवस्थापयेत् । अथवा हीनवर्ण-

( आपद्धर्मप्रकरणम् २ )

वृत्त्या यदर्जितं तत्पथि मार्गे न्यसेत् । अत्र पक्षे द्रव्यमर्जितमित्यध्याहार्यम् । तत्र प्रमाणम्—

" यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जपेन तपसैव च " इति मनुवाक्यम् ।

अत्र सर्ववर्णसाधारणधनोपार्जनोपायमाह नारदः—

" साधारणं स्यात्त्रिविधं शेषं नवविधं विदुः ।
क्रमागतं प्रीतिदायं प्राप्तं च सह भार्यया ॥
अविशेषेण सर्वेषां वर्णानां त्रिविधं धनम् ।
वैशेषिकं धनं विद्याद्ब्राह्मणस्य त्रिलक्षणम् ॥
प्रतिग्रहेण यल्लब्धं याज्यतः शिष्यतस्तथा ।
त्रिविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम् ॥
युद्धोपलब्धं कारं च दण्डश्च व्यवहारतः ।

कारं करादानप्रभवम् ।

वैशेषिकं परं ज्ञेयं वैश्यस्यापि त्रिलक्षणम् ।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यैः शूद्रस्तेभ्यस्त्वनुग्रहात् ॥
सर्वेषामेव वर्णानामेष धर्म्यो धनागमः ।
विपर्ययादधर्मः स्यान्न चेदापद्वरीयसी " ॥

शङ्खलिखितौ—" तस्य स्वधर्म एव श्रेयान्स्वल्पोऽप्यनुष्ठितो नावरं सेवेत । जघन्यतासेवी हि ब्राह्मणो जघन्येष्ववपद्यते, तस्मात्प्रशस्तसमयाचारं सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्नाऽऽत्मनस्तु ततस्तृप्तिमिच्छेत् । कामं त्रयाणां वर्णानां याजनं कुर्वीत, धर्मेण तेभ्यो वृत्तिमादाय धर्मकृत्येषूपहरेत् " ।

आपत्कल्पो ब्राह्मणस्येत्यनुवृत्तौ गौतमः—

" याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषां पूर्वः पूर्वो गुरुः ।
तदलाभे क्षत्रवृत्तिः । तदलाभे वैश्यवृत्तिः " ।

याजनादयः सर्वेषां वर्णानां ब्राह्मणेन कार्या इत्यर्थः ।

वसिष्ठः—" कामं वा स्वयं कृष्योत्पाद्य तिलान्विक्रीणीरन्न त्वेवाया-ज्ययाजनं प्रतिषिद्धं प्रतिग्रहो वाऽस्तीति ।

---

१ क. जप्येन । २ क. स्मृतम् । ३ क. °र्ययस्त्वधर्म्यः स्या° । ४ क. °रं प्र° ।

अथाप्युदाहरन्ति—अग्नय इव दीप्यन्ते तपोहोमैर्द्विजोत्तमाः ।
प्रतिग्रहेण शाम्यन्ति उदकेनाग्नयो यथा " ॥

शङ्खलिखितौ—" आपत्काले मातापितृमतो बहुभृत्यस्यानन्तरका वृत्तिरिति कल्पः । तत्र ब्राह्मणेषु त्रिगुणसंपन्नेषु वृत्तिदौर्बल्यमाख्येयम् । यद्ब्रूयुस्ते स धर्मः । तस्यानन्तरका वृत्तिः क्षात्रोऽभिनिवेशः । त्रयाणां ब्राह्मणकर्मणां या वृत्तिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहाणामेवमप्यजीवन्वैश्यमुपजीवेत् " ।

वैश्यं वैश्यवृत्तिमित्यर्थः । त्रिगुणसंपन्ना इज्याध्ययनदानसंपन्नाः । वैश्यवृत्त्यसंभवे ब्राह्मणस्य न शूद्रवृत्तिः । तथा च नारदः—

" आपद्यनन्तरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
वैश्यवृत्तिस्तथा चोक्ता न जघन्या कथंचन ॥

जघन्या शूद्रवृत्तिः+ ।

न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम् ।
वृषलः कर्म वा ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः ॥
उत्कृष्टं चावकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते " ॥

मध्यमे क्षत्रियवैश्यकर्मणी । क्षत्रियोऽप्यापदि वैश्यवृत्त्याऽनन्तरया, वैश्यश्चानन्तरया शूद्रवृत्त्या । यदाह वसिष्ठः—

" अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीं(यवीं)यसीं
वृत्तिमातिष्ठेरन्न तु कदाचिज्ज्यायसीम् " इति ।

शिलोञ्छाद्यन्तं स्वधर्मः । तदसंभवे क्षत्रियवृत्त्या वैश्यवृत्त्या वा ।

" आपत्काले साधुभ्यः प्रतिगृह्णीयात्संकरं न कुर्यात् ।
कामं वर्णसंकरं क्षेत्रफलसिद्ध्यर्थम् " ।

क्षेत्रं भार्या, तत्फलमपत्यं, संकराभ्यनुज्ञानं वर्णानुलोम्यविषयम् । न प्रतिलोमाभिप्रायम् ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणस्य वैश्यकर्मणा जीवतः पण्यविशेषविक्रयप्रतिषेधमाह—

**फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ॥**
**तिलौदनरसक्षारदधिक्षीरघृतं जलम् ॥ ३५ ॥**

+ इतः परमधिकं घ. छ. पुस्तकयोः " न कथंचन कुजघन्या शूद्रवृत्तिः " इति ।

१ क. °वृत्तिसंभवेऽपि ब्रा° । २ क. पातनीये । ३ ङ. °क्षारान्दधि° ।

शस्त्रासवमधूच्छिष्टमधुलाक्षाः सबर्हिषः ॥
मृच्चर्मपुष्पकुतपकेशतक्रविषक्षितीः ॥ ३६ ॥
कौशेयनीलीलवणमांसैकशफसीसकान् ॥
शाकौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥ ३७ ॥
वैश्यवृत्त्याऽपि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ॥

ब्राह्मणो वैश्यवृत्त्या जीवन्फलादिकं कदाचन नो विक्रीणीत । फलं पूगादि । उपलोऽश्मा । क्षौममतसीमयं वस्त्रम् । सोमो लताविशेषः । अपूपा उण्डेरकाः । वीरुधो गुल्मेभ्यो ह्रसीयांसः स्थावरविशेषाः । रसा इक्षुरसादयः । शस्त्रं खड्गादि । आसवो मद्यम् । मधूच्छिष्टं सिक्थकम् । मधु क्षौद्रम् । लाक्षा जतु । बर्हिषः कुशाः । मृन्मृत्तिका । कुतपः कम्बलविशेषः । केशश्चामरादिः । तक्रमुदश्वित् । क्षितिः क्षेत्रादिः । कौशेयं त्रसरीमयम् । नीली रञ्जनद्रव्यविशेषः । एकशफा अश्वादयः । सीसकं नागम् । आर्द्रं शृङ्गवेरम् । ओषधयो व्रीहियवाद्याः । पिण्याकमुद्धृतस्नेहतिलपिण्डः । पशवो गवादयः । गन्धाश्चन्दनादयः । प्रसिद्धमन्यत् । पशवोऽत्राऽऽरण्याः ।

"आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च" इति मनुस्मरणात् ।

ब्राह्मणं प्रत्येवायं निषेधः । यदाह नारदः—

"वैश्यवृत्तावविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयोदधि" ।

अत्र ब्राह्मणानुवृत्तौ गौतमः—

"तस्यापण्यं गन्धरसकृतान्नतिलपिण्याकशाणक्षौमाजिनानि रक्तनिर्णिक्ते वाससी, क्षीरं सविकारं, मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणोदकपथ्यानि, नारीपुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यं व्रीहियवजातयश्च वृषभधेन्वनडुहश्चैके" ।

वशा वन्ध्या गौः । वेहद्गर्भघातिनी । धेनुर्नवप्रसूता ।

वसिष्ठः—"वैश्यजीविकामास्थाय पण्येन जीवतामश्मलवणमपण्यं, शाणकौशेयक्षौमाजिनानि तान्तवस्य च रक्तम् । सर्वं च कृतान्नम् । पुष्पमूलफलानि च गन्धा रसा उदकं च । ओषधीनां रसः सोमः । विषं मांसं च क्षीरं सवि-

---

१ घ. छ. °पचणत° । २ क. °नीलिलव° । ३ क. गुल्मीभ्यो । ४ घ. छ. रक्तानि निर्णि° । ५ घ. छ. °यवा जातयवाश्च ।

कारम् । अयस्त्वपु जतु सीसं च, ग्राम्यपशूनामेकशफाः
केशिनश्च सर्वे वाऽऽरण्याः पशवो वयांसि दंष्ट्रिणश्च " ।

ग्राम्यारण्याः पशवो ग्राम्यारण्यवासिनो वा पारिभाषिका वा ।
यमवृद्धपरिशिष्टम्—

" गौरश्वः पुरुषोऽजाऽवीगर्दभाश्वतरावुभौ ।
एते ग्राम्यास्तु संख्याताः पशवः सप्त साधुभिः " ॥
सिंहा वराहा व्याघ्राश्च वारणा महिषास्तथा ।
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्ताऽऽरण्याः प्रकीर्तिताः " इति ॥

व्यन्तरास्तु ग्राम्यारण्यत्वादपण्यमेव ।

" गोमृगोऽथ वृकश्चैव अन्तस्थः श्वाऽथ कुक्कुटः ।
चौतकः कलविङ्कश्च सप्तैते व्यन्तराः स्मृताः " इति ॥

आपस्तम्बः—" अविहिता ब्राह्मणस्य वणिज्या, यदि व्यवहरेत्पण्यानामपण्यानि व्युदस्येन्मनुष्यान्रसान्गन्धान्नं चर्म गवां वंशाः श्लेष्मोदके तोक्मकिण्वे पिप्पलीमरिचे धान्यं मांसमायुधं सुकृतासंवतिलतण्डुलास्त्वेव धान्यस्य विशेषेण न विक्रीणीयात् " ।

विरूढधान्यं तोक्मं, सुरासाधनं द्रव्यं किण्वं, सुकृतं धर्मः ।

छागलेयः—" न वेदविक्रयं कुर्यादग्निविक्रयमेव वा ।
यो धर्मविक्रये पुंसां नरकः सोऽत्र जायते ॥
तस्मान्न विक्रयो वेदे अग्निहोत्रे तथैव च ।
अध्यापनं प्राध्ययनं प्रश्नपूर्वः प्रतिग्रहः ॥
याजनाध्यापने वादः षड्विधो वेदविक्रयः ॥

यमः—" गवां विक्रयकारी तु गवि रोमाणि यानि तु ।
तावद्वर्षसहस्राणि गव्यगोष्ठे कृमिर्भवेत् ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

तिलविक्रये प्रतिप्रसवमाह—

**धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥ ३८ ॥**

धान्यं गृहीत्वा तत्तुल्यमानास्तिला धर्मार्थं विक्रेयाः । एतच्चावश्यधर्मातिप्रसङ्गे वेदितव्यम् । अत्र मनुः—

---

१ क. °णश्चाग्राम्यारण्याः । २ घ. छ. चटकः । ३ घ. छ. °ण्यानामपण्यानि । ४ घ. छ. बंधः । ५ घ. छ. 'सवं तिलं त' । ६ घ. छ. गवि गो° । ७ ङ. धर्मार्थे ।

" काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलाञ्शुद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् " ॥

शुद्धान्द्रव्यान्तरामिश्रान् ।

नारदः—" अशक्तो भेषजस्यार्थे यज्ञहेतोस्तथैव च ।
यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः " ॥

मनुः—" भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
क्रिमीभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति " ॥

तथा—" रसा रसैर्निपा(मा)तव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः " ॥

शङ्खलिखितौ—" शुष्ककाष्ठबदरेङ्गुदबिल्वरज्जुका-
र्पासिकसूत्रैरविकृतैर्द्रव्यमाहरेत् " ।

हारीतः—" पूर्ववृत्तेश्चाजीवञ्शुष्ककाष्ठतृणविक्रयं
वा कुर्यात्, गा एव वा रक्षेत् " ।

वसिष्ठः—" रसा रसैः समतो हीनतो वा निपा(मा)तव्याः ।
न त्वेवं लवणं रसेन तिलतण्डुलपक्वान्नवि-
द्यामनुष्याश्च विहिताः परिवर्तकेन " ।

तिलतण्डुलानुवृत्तावापस्तम्बः—

" विहितश्चैषां विनिमयोऽन्नेन चास्य मनुष्याणां च मनुष्यैः । रसानां च रसैर्विद्यया च विद्यानाम् । अक्रीतपण्यैर्व्यवहरेत् । मुञ्जबिल्व-जैस्तृणकाष्ठैर्नात्यन्तमनुवसेद्वृत्तिं प्राप्य परवृत्तितो विरमेत् " ।

अयमर्थः—अक्रीतं गृहोत्पन्नं पण्यं विक्रेयं न तु क्रीतम् । न चात्यन्तं वणिग्वृत्तिरध्यवसातव्या, स्वकीयां वृत्तिं प्राप्य परवृत्तितो विरमेदिति ।

बौधायनः—" तृणकाष्ठमविक्रीतं विक्रेयम् । अथाप्युदाहरन्ति—
पशवश्चैकतोदन्ता अश्मा स्वलवणोद्भवः ॥
एतद्ब्राह्मणतोऽपण्यं तन्तुश्चारजनीकृतः " ।

लवणरवदात(?) उद्भवः स न तथा । अरजनीकृतो नीराग इत्यर्थः ।

नारदः—" ब्राह्मणेन तु विक्रेयं शुष्कं दारु तृणानि च ।
गन्धद्रव्यैरकार्पेत्रं तूलस्तूलीकृताद्ऋते ।

---

१ घ. छ. वा पा° ।

स्वयं शीर्णं च विदलं फलानां बदरेङ्गुदे ।
रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत् " ॥

एरका तृणविशेषः ।

शङ्खलिखितौ—"आपदि कामं ब्राह्मणो जिजीविषुरेकान्तरितां वृत्तिमास्थाय न पण्यं पण्यमिति ब्रूयात् । सकृदेवोक्तं मूल्यमिच्छेत् । गा वा रक्षेत् । तासु नापीतासु पिबेत्[1] । न तिष्ठन्तीषूपविशेत्[2] । न स्वयमुत्थापयेत् । शनैरार्द्रशाखया सपलाशया पृष्ठतोऽभिहन्यात् । नातीर्थेन विषमेणाल्पोदकेन वा तारयेत्[3] । बालवृद्धरोगार्ताः श्रान्ता उपावेशयेत्[4] । शक्तितः प्रतीकारं कुर्यात्[5] । गवामेष धर्मोऽन्यथा विप्लवः " ॥ ३८ ॥

द्रव्यविशेषविक्रये प्रत्यवायविशेषमाह—

**लाक्षालवणमांसानि[3] पतनीयानि विक्रये ॥**
**पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ३९ ॥**

लाक्षादीनि विक्रीयमाणानि विक्रेतुर्ब्राह्मणस्य[4] पतनीयानि पतननिमित्तानि भवन्ति । पतनं द्विजातिकर्मानधिकारः । पयःप्रभृतीनि तु हीनवर्णकराणि भवन्ति । शूद्रत्वं वैश्यत्वं वाऽऽपादयन्तीत्यर्थः । अत्र मानवो विशेषः—

" सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् " ॥

तथा—" इतरेषामपण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं प्रय(ग)च्छति " ॥

एतच्च वाक्यद्वयमकृतप्रायश्चित्तब्राह्मणविषयम् । ब्राह्मणग्रहणात्क्षत्रियस्य लवणादि विक्रीणानस्य नायं दोषः । तथा च मनुः—

" जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् " ॥

ब्राह्मणवृत्तिर्ज्यायसी ।

तथा—" वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्याऽपि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् " ॥ ३९ ॥

---

१ क. °त् । ति° । २ घ. छ. °पवसेत् । ३ क. °नि पात° । ४ क. °स्य पात° । ५. घ. छ. °व्ययनं ग° ।

( आपद्धर्मप्रकरणम् २ )

आपदि ब्राह्मणस्य स्वकीया वृत्तिर्विगुणाऽपि श्रेयसी, न तु सगुणाऽपि परकीयेत्याह—

आपद्गतः संप्रगृह्णन्भुञ्जानोऽपि यतस्ततः ॥
न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ ४० ॥

आपद्गतः कृच्छ्रजीवी यतस्ततो हीनवर्णादपि संप्रगृह्णन्, तथा भुञ्जानोऽभ्यवहरन्, एनसा पापेन न लिप्यते न युज्यते, यतो ज्वलनेनार्केण वा समोऽसौ पवित्रतया । अत्र च संप्रेत्युपसर्गद्वयप्रयोगो याजनाध्यापनप्रतिग्रहाणां स्वीकारार्थः । तेन क्षत्रियवैश्यावपि याज्यावध्याप्यौ च । प्रतिग्रहस्तु शूद्रादप्यनुज्ञातः । अत्र मनुः—

" वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥
वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वपथि स्थितः ।
स्ववृत्तिकर्षि(र्शि)तः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥
सर्वतः संप्रगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥
जीवतान्य(नात्य)यमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न पापेन स लिप्यते ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥
अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत दोषेण क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥
भारद्वाजः क्षुधं हन्तुं सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह शिशुर्ती(त)क्ष्णो महात्मनः ॥
क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥
प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथा वाऽध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥

---

१ क. जीवित्वययमा° । २ घ. छ. °शुउक्ष्णो । ३ क. प्रतिव° ।

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥
जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनात्कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च " ॥

एवं च सति यद्गौतमवचनम्—

" याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषां पूर्वः पूर्वो गुरुः "

इति, तस्यायमर्थः—सर्वेषां द्विजानां संबन्धिनो याजनादयो ब्राह्मणस्याऽऽपत्कल्पः । स च पूर्वः पूर्वो गुरुरदोषः । यत्तु मनुना याजनाद्यपेक्षया प्रतिग्रहस्य गुरुदोषत्वमुक्तं, तच्छूद्रसंबन्धिप्रतिग्रहविषयम् । अथवा मनुवाक्यवशाद्याजनादीनां यथापूर्वं गुरुत्वमभ्युदयगौरवजनकत्वेन गौतमोक्तमिति मन्तव्यम् ॥ ४० ॥

अपरामप्यापद्वृत्तिमाह—

**कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ॥**
**सेवाऽनूपो नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४१ ॥**

कृष्यादीन्यापद्विषये जीवनानि भवन्ति । जीव्यत एभिरिति जीवनानि । कृषिः प्रसिद्धा । शिल्पं वस्त्रालंकारसूपगानगृहनिर्माणादिकौशलम् । शकटं प्रसिद्धं, तेन च तन्निमित्तं भाण्डादिमापणं लक्ष्यते । गिरिः पर्वतः, तेनापि तत्समुत्थकाष्ठादिविक्रिया । सेवा प्रसिद्धा । बहुवृक्षजलो देशोऽनूपः । तेन च तत्रत्यकन्दमूलफलान्युपजीवनं लक्ष्यते । नृपः प्रसिद्धस्तेन च तदुपकारकत्वनिमित्ता वृत्तिरुपलक्ष्यते । भैक्ष्यं( क्षं ) प्रसिद्धम् । अत्र कृषिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेन पाशुपाल्यवाणिज्ययोरपि परिग्रहः । तथा च मनुः—

" विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
गिरिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः " ॥

यद्यपि—" क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः "

इत्यनेनैव कृष्याद्यनुग्रहः सिद्धस्तथाऽपि स्वयं कृषिः प्रतिषिद्धा फलादीनां च विक्रय इति तयोरप्यत्यन्तापदि प्रतिप्रसवार्थमेतद्वचनम् । तत्र कृषिनिषेधो मानव उदाहियते—

" वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥

---

१ क. भैक्ष्यमा° । २ क. °लाद्युपवृत्तिरुपल° ।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् " ॥

**स्वयंकृतकृषिविषयश्चायं निषेधः । यत आहाऽऽपद्धर्मेषु गौतमः—**

" कृषिवाणिज्ये स्वयंकृते कुसीदं च " इति ।

**तत्रात्यन्तापदि स्वयंकृषतो नियममाह हारीतः—**

" आपत्सु कृषिं प्राहुः कृषिश्चेदायोवानिदायोज्य(?)-
बालवृद्धकृशार्तादीन्वर्जयन्नदीर्घारेण प्रतोदेन शनैर्वा-
हयेद्यष्टिमुष्टिलोष्टारत्निजानुयोक्त्रप्रोषणाक्रोशनप्र-
भृतिभिर्नातिहन्यात् । न पर्वसु संधिवेलयोर्वाहयेत् ।
विह्वल्येत चेत्परित्यागो न मृद्य मोक्षणं, वृद्धाव-
स्थायां पानाहारादीन्दद्यात् । कृमिकीटकोकिलीत-
कदंशमशकमक्षिकातिवातसमीरशीतार्कात्युष्णाति-
वर्षेषूद्धरणावरणकण्डूयनधूमाग्निनिवातप्रच्छन्नसमुप-
स्तीर्णादिषु गोपायेत् । सन्नभग्नविलग्नादीनामौ-
षधयवसलवणस्नेहादिषु यथार्थं वपनलवणमर्दनप-
वनाभिहारेषु बलिहोमादीन्कुर्यात् । स्नात्वाऽनड्वु-
होऽलंकृत्य ब्राह्मणान्भोजयेत् । सौरभेयाणां पुण्यनि-
मित्तं षड्भागं राज्ञे दत्त्वा पञ्चमाद्ब्राह्मणांस्तोषयेत् "

त(अ)थाऽप्युदाहरन्ति—"यूपोऽयं निहितो मध्ये मेथीनामे(मि)ह कार्ष(र्षि)कैः ।
तस्मादतन्द्रितो दद्यादन्नधान्यार्थदक्षिणाः ॥
भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा हत्वा कीटपिपीलकान् ।
पुनन्ति खलयज्ञेन कार्षिका नात्र संशयः " ॥

**तथा बलीवर्दनियमेऽपि स एवाऽऽह—**

" अष्टगवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम् ।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं ब्रह्मघातिनाम् " ॥

**बृहस्पतिः—**" राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं देवतानां तु विंशकम् ।
त्रिंशद्भागं तु विप्राणां कृषिं कृत्वा न दोषभाक् ॥

---

१ क. योक्तृप्रापणा° । २ क. °र्नाभेह° । ३ क °ह्वल्यते चे° । ४ क. कीर्यलोकिल्युरकं शकम° । ५ घ. छ. °तप्र° । ६ घ. छ. मेथीना° । ७ क. °मे स । ८ क. °र्मफलं ।

अष्टवाहं हलं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम् ।
चतुर्गवं जघन्यं च शास्त्रविद्भिरुदाहृतम् " ॥

हारीतः—" बालानां दमनं चैव वाहनं च न शस्यते ।
वृद्धानां दुर्बलानां च प्रजापतिवचो यथा ॥
पुंस्त्वोपघातं नस्यं वा वाहानां न च कारयेत् ।
वृषं युगे न युञ्जीत जीर्णं व्याधितमेव वा " ॥ ४१ ॥

उक्तजीवनैरजीवतो जीवनान्तरमाह—

**बुभुक्षितस्त्वहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ॥**
**प्रतिगृह्य तथाऽऽख्येयमभियुक्तेन धर्मतः ॥ ४२ ॥**

बुभुक्षितोऽनश्नंस्त्वहं त्रिरात्रं यावदास्थाय ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य स्वामिनो धान्यं हरेच्चोरयेत्तच्च धान्यं प्रतिगृह्योपादाय किमिति त्वयैतदस्मदीयं धान्यं गृहीतमित्याक्षिप्तेन धर्मतस्तथ्यमेव तस्य कथनीयम् । मया त्रिरात्रमभुञ्जानेन स्थितवता प्राणधारणार्थं भवदीयं धान्यमपहृतमिति ।

मनुः—" तथैव सप्तमं भक्तं भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥
खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाऽप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति " ॥

अयमर्थः—षड्भोजनान्यकुर्वता सप्तमभोजनावसाने क्षेत्रादिकाद्धान्यमश्वस्तनविधानेनैकदिनपर्याप्तं हीनवर्णाद्धीनकर्मणश्चापहरेदिति । अत्रापवादं मनुरेवाऽऽह—" ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोश्च स्वमजीवन्हर्तुमर्हति " ॥ ४२ ॥

प्रसङ्गाद्राज्ञो विध्यन्तरमाह—

**तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं तपः ॥**
**ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥४३॥**

तस्योक्तदुर्गतिकस्य ब्राह्मणस्य वृत्तमाचारं कुलमन्वयं शीलं स्वभावं श्रुतं वेदार्थग्रहणमध्ययनं प्रसिद्धं तपः स्वधर्मवर्तित्वं कुटुम्बं पोष्यवर्गं च ज्ञात्वा राजा धर्म्यां धर्मादनपेतां वृत्तिं निर्वाहसमर्थं धनं प्रकल्पयेत् । दक्षः पोष्यवर्गमाह—

---

१ घ. छ. अष्टावा° । २ क. वाहनं । ३ ङ. तदाख्येय° । ४ क. 'र्तुमिच्छति ।

( वानप्रस्थप्रकरणम् ३ )

" पिता माता गुरुर्भार्या प्रजा दीनः समाश्रितः ।
अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥
+ ज्ञातिर्बन्धुजनः क्षीणस्तथाऽनाथः समाश्रितः ।
अन्योऽपि धनयुक्तस्य पोष्यवर्ग उदाहृतः ॥
ज्ञानविभ्यः प्रदातव्यमन्यथा नरकं व्रजेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पोष्यवर्गं सदा वहेत् ॥
भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम् ।
नरकः पीडनेनास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत् " इति ॥ ४३ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के आपद्धर्मप्रकरणम् ॥ २ ॥

---

## अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# वानप्रस्थप्रकरणम् ( ३ ) ।

---

कृतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रमेऽधिकृत इति ब्रह्मचर्यानन्तरं गृहस्थाश्रम उक्तो वानप्रस्थस्तु गृही ब्रह्मचारी वा भूत्वा भवतीति तदुभयाभिधानानन्तरं वानप्रस्थाश्रममाह—

**सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् ॥**
**वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥४४॥**

वानप्रस्थः संकल्पितवानप्रस्थाश्रमः सुतेषु पत्नीं विन्यस्य निर्वाह्यतया निधायाथ वा तयाऽनुगतोऽन्वितो ब्रह्मचारी मैथुनत्यागी, यदि सपत्नीको व्रजेत्तदाऽसौ साग्निरग्निसहितः सोपासनश्च व्रजेत् । पत्नीसहितस्य गृहमव्रज्यामेवाऽऽह च्छागलेयः—

" पुत्रेषु भार्यां संस्थाप्य वनं गच्छेद्यथाविधि ।
अपत्नीकः समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् " इति ॥

अत्र समारोप्येत्यस्य वनं गच्छेदित्यनेन व्यवहितेनान्वयो योज्यः । अग्नी-

---

+ न विद्यतेऽयं श्लोको घ. छ. पुस्तकयोः ।

निति वाऽध्याहारः । एकाकिना च वनं गतेन वानप्रस्थेन विधानान्तरेणाग्निराधेय इत्याह वसिष्ठः—

" श्रावणकेनाग्निमादायाऽऽहिताग्निर्वृक्षमूलिक ऊर्ध्वं
षड्भ्यो मासेभ्योऽनग्निरनिकेतनो दद्यादेवपितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम् " ।

श्रावणकं वैखानसशास्त्रं तदुक्तेन विधिनाऽग्निमादाय[1] वृक्षमूलनिकेतनः षण्मासानाग्निं परिचर्य ततोऽग्नीनात्मनि समारोप्यानग्निरनिकेतनो दद्यादेवादिभ्यः । एवंवृत्तिः केवलकर्मा स्वर्गं गच्छति, ज्ञानी तु मोक्षात्मकमानन्त्यम् ।

यमः—" द्वितीयमायुषो भागमुषित्वा तु गृहे द्विजः ।
तृतीयमायुषो भागं गृहमेधी वने[2] वसेत् ॥
उत्पाद्य धर्मतः पुत्रानिष्ट्वा यज्ञैश्च शक्तितः ।
दृष्ट्वाऽपत्यस्य चापत्यं ब्राह्मणोऽरण्यमाश्रयेत् " ॥

ब्राह्मणग्रहणं द्विजोपलक्षणार्थम् । ब्रह्मचर्यानन्तरमपि वानप्रस्थो भवेदित्याह वसिष्ठः—

" चत्वार आश्रमाः । ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकाः । तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वा विशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत् " ।

गार्हस्थ्यादानप्रस्थाश्रमं गच्छतो विशेषमाहतुः शङ्खलिखितौ—

" पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदमध्याप्य वृत्तिं विधाय दारैः संयोज्य गुणवति पुत्रे कुटुम्बमावेश्य कृतप्रस्थानलिङ्गो वृत्तिविशेषाननुक्रमेत् । क्रमशो यायावराणां वृत्तिमुपास्य वनमाश्रयेदुत्तरायणे पूर्वपक्षे " इति ।

यमः—" यज्ञाङ्गान्यग्निहोत्रं च धेनूरथ परिच्छदम् ।
समादाय सदारो वा तदाऽरण्यं व्रजेद्द्विजः " ॥ ४४ ॥

वानप्रस्थस्य श्रौतस्मार्तकर्मसाधनद्रव्यवेशविशेषमाह—

**अफालकृष्टनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि ॥**
**भृत्यांश्च तर्पयेच्छ्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥ ४५ ॥**

फालाद्यकृष्टभूप्रभवेण सस्येन श्यामाकनीवारादिनाऽग्निदेवपित्रतिथिभृत्यांस्तर्पयेत् । अग्नितर्पणमग्निसाध्यकर्मानुष्ठानं, देवपित्रादिदै(दे)वत्यक्रियाकरणं

---

१ क. °राराधनीय । २ घ. छ. °माधाय । ३ क. वनं ।

देवादितर्पणं, भृत्यतर्पणं प्रसिद्धं, श्मश्रुप्रभृतीनि च बिभृयात् । आत्मवान्विजितेन्द्रियश्च स्यात् ।

मनुः—" वैतानिकं[1] च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पूर्वं[2] पूर्णमासं च शक्तितः ॥
ऋक्षेष्ट्याग्रा(ग्र)यणं चैव चातुर्मास्यानि चाऽऽहरेत् ।
उत्तरायणं तु क्रमशो दक्षस्यायनमेव च " ॥

ऋक्षेष्टयो नक्षत्रेष्टयः । उत्तरायणे दक्षिणायन इष्ट्ययने ।

" वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव निर्वपेच्च पृथक्पृथक् ॥
देवताभ्यस्तु तच्छ्रुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् " ॥

तथा—" मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥
यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥
वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च " ॥

यमः—" अकृष्टान्नं मूलफलं व्रीहीन्संचिन्त्य(त्य) चापरान् ।
हविष्यान्नं प्रयच्छेत्तु महासत्रेषु पञ्चसु ॥
यस्यै यस्यै यथादृष्टं देवतायै हविर्द्विजः ।
तस्यै तस्यै तथा सम्यग्विधिवत्कल्पयेत्पृथक् " ॥ ४५ ॥

संग्राह्यद्रव्यपरिमाणविशेषमाह—

**अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ॥**
**अर्थाय[3] संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत्[4] ॥ ४६ ॥**

एकस्याह्नः साध्यैर्दृष्टादृष्टप्रयोजनस्य कर्मसमुदायस्यार्थाय प्रयोजनाय सस्यसंचयं कुर्यात् । अथवा मासेन षड्भिर्वा मासैः संवत्सरेण वा परिमितानां कर्मणां कृते सस्यपरिग्रहः कार्यः । तत्र यदवशिष्यते तदाश्वयुजे मासि परित्यजेत् । तथा च मनुः—

---

१ क. 'ताग्निकं । २ घ. छ. दर्शमस्कन्दयन्पर्व पू' । ३ ङ. अर्थस्य । ४ क. 'त्यदृष्ट' ।

" सद्यःप्रक्षालको वा स्यान्मासंचयकोऽपि वा ।
षण्मासंचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥
वर्जयेन्मधुमांसानि भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥
त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥
न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च " ॥

ग्रामजातान्याह लौगाक्षिः—

" व्रीहयो यवगोधूमा उभौ च तिलसर्षपौ ।
इक्षुः प्रियङ्गवश्चैव ग्राम्या ओषधयः स्मृताः " ॥ ४६ ॥

किं च—

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ॥
स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४७ ॥

दान्तोऽनिषिद्धोद्यमो मृषावादादिभ्य उपरतः संध्यात्रयस्नायी प्रतिग्रहान्निवृत्तः । चकाराद्याजनाध्यापनाभ्यां च । स्वाध्यायाध्ययनवान्भिक्षादिदानशीलः प्राणिहितनिरतश्च स्यात् ॥ ४७ ॥

दन्तोलूखलिकः कालपक्वाशी वाऽश्मकुट्टकः ॥
श्रौतस्मार्तं फलस्नेहैः कर्म कुर्यात्क्रियास्तथा ॥४८॥

दन्ता उलूखलकार्यं तुषकणविमोकाख्यं यस्य कुर्वन्ति स दन्तोलूखलिकः । अग्निं विना यत्कालेनैव पक्वरसास्रावि तदशननियमवान्वा स्यात् । यद्वा—अश्मकुट्टको भवेत् । अश्मना वा कुट्टयित्वा मुन्यन्नान्यश्नीयादित्यर्थः । तथा च श्रुतिस्मृतिविहितमाज्यसाध्यकर्म मेध्यवृक्षफलमूलसंभवेन तैलेन कुर्यात् । भोजनाभ्यञ्जनादिलौकिकाश्च क्रियाः ।

मनुः—" अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकस्तथा ॥
स्थलोदकजशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यान्स्नेहांश्च फलसंभवान् " ॥ ४८ ॥

---

१ घ. छ. °त्वा द्रव्याण्याश्री° ।

(वानप्रस्थप्रकरणम् ३)

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं सदा कृच्छ्रैश्च वर्तयेत् ॥
पक्षे यातेऽन्नमश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥ ४९ ॥

पिपीलिकामध्ययवमध्यादिभिश्चान्द्रायणैः कालं नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभिः सदा वर्तयेत् । कालमित्यनुषङ्गः । पक्षे मासेऽहन्येकस्मिन्वाऽतीतेऽन्नमश्नीयात् । प्रदर्शनार्थं चैतत् । तेनान्येऽपि तपःप्रकाराः स्वीकार्याः । तथा च मनुः—

+ "नक्तं यावं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाऽप्यष्टमकालिकः" ॥

शक्त्यपेक्षो विकल्पः । अङ्गीकृतपक्षश्च यावदाश्रमसमाप्ति निर्वाह्यः ॥ ४९ ॥

*शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ दिवसं प्रपदैर्नयेत् ॥
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा पुनः॥५०॥

शुचिः प्रयतः । भूमावेव न पर्यङ्कादौ स्वप्यात् । दिवसमहः प्रपदैः पादाग्रावयवैस्तिष्ठन्नयेत् । स्थानेन गतिनिवृत्त्याऽऽसनेनोपवेशनेन विहारेण चङ्क्रमणेन च दिवसं नयेत् । यद्वा यमनियमाद्यष्टाङ्गोपेतयोगाभ्यासेन नयेत् ।

मनुः—" भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनैर्वा विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चोपनिषद आत्मसंसिद्धये श्रुतीः" ॥

दीक्षा तपःसंकल्पः । संसिद्धिर्विनिश्चयः ।

" ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैश्चोपसेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये " ॥ ५० ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ॥
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वाऽपि तपश्चरेत् ॥५१॥

---

+ मिताक्षरायांतु नक्तं वाऽन्नं समश्नीयादिति पाठः । * एतदर्धं ङ. पुस्तके भङ्गयतरेण पाठः—' स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत् ' इति ।

---

१ ङ. 'लं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा । पक्षे गतेऽथवाऽश्नी' । २ घ. छ. यावः ।

सूर्य उपरिष्टाद्दिक्चक्रचतुष्टये चत्वारोऽग्नयः। एषां पञ्चानामग्नीनां मध्ये ग्रीष्मे व्यवस्थितः स्यात्। वर्षासु स्थण्डिलेशयः स्यात्। स्थण्डिलं गृहवृक्षाद्यनावृतं भूतलम्। शयनग्रहणाद्रात्रावपि तत्र स्थानं गमयति। हेमन्ते त्वार्द्रवासाः स्यात्। वासःशब्देन चीरवल्कलाद्यत्र विवक्षितम्। ऋतुत्रयात्मकं संवत्सरमभिप्रेत्यैतदुच्यते, तेन चैत्राद्याश्चत्वारो मासा ग्रीष्मः। श्रावणाद्यास्तावन्त एव वर्षाः। मार्गशीर्षाद्यास्तावन्त एव हेमन्तः। अथवा प्रकारान्तरेण यथाशक्ति तपश्चरेच्छरीरशोषणार्थम्। यथाऽऽह शङ्खः—

"काले शक्तितः शरीरं शोषयेद्यमनियममन्त्रोपवासादिभिः। कुशचीरचर्मवल्कलवासा जटी कृष्णाजिनोत्तरीयो जलशयनपञ्चतपाभ्रावकाशनियमपरः" इति।

मनुः—"उपस्पृशेत्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः" ॥ ५१ ॥

किंच—

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यो विलिम्पति ॥
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५२ ॥

यः कण्टकवितोदनादिभिर्दुःखयति, यश्च चन्दनविलेपनादिभिः सुखयति, तयोर्यथासंख्यं क्रोधपरितोषौ हित्वा सम उपेक्षकः स्यात्। अस्मत्कृतशुभाशुभपरतन्त्राभ्यामाभ्यां सुखं दुःखं च निर्मीयत इति सम्यक्परिभावयतो भवति तद्विषयोपेक्षा ॥ ५२ ॥

अग्नीन्वाऽप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षावासो मिताशनः ॥
वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५३ ॥

यः पुनराश्रमं परिगृह्य षण्मासान्यावदग्नीन्परिचर्य परस्तान्न शक्नोति परिचरितुं, सोऽग्नीनात्मसादात्मसमारूढान्कृत्वा वृक्षावासो वृक्षेणैव गृहकार्यकारी नियतभोजनः। यदा त्वेवंविधैः[1] प्रकारैर्देहयात्रां निर्वर्तयितु[म]समर्थस्तदा शरीरस्थित्यर्थं वानप्रस्थकुटीषु भैक्षमाचरेत्।

मनुः—"अग्नींस्त्वात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः" ॥

---

१ ङ. भैक्ष्यमा°। २ घ. छ. °विधैराकारैर्देहयात्रादितरैर्निर्व°।

( वानप्रस्थप्रकरणम् ३ )

निकेतो गृहम्। मुनिर्मौनवान्। भैक्षविधिर्मूलफलालाभे द्रष्टव्यः। अत एवानन्तरं मनुरेवाऽऽह—

" तापसेषु च विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाचरेत्।
गृहमेधिषु वाऽन्येषु द्विजेषु वनवासिषु " ॥ ५३ ॥

यदा तु वनस्थभिक्षया न शरीरवृत्तिस्तत्र यत्कार्यं तदाह—

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः ॥

निगदव्याख्यातमेतत्। आरण्यान्नभोजने ग्रासेषु षोडशसंख्या—

" अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्षं वानप्रस्थस्य षोडश "

इत्यादिभिर्विधीयते। इयं त्वष्टसंख्या ग्राम्यान्नग्रासेष्वित्यविरोधः।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः[1] प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽ वर्ष्मसंक्षयात्[2] ॥ ५४ ॥

आ वर्ष्मणः शरीरस्य संक्षयान्[3]निपातात्प्रागुदीचीमपराजितां दिशं वायुभक्षो भूत्वा गच्छेत्। एवं च वानप्रस्थस्य स्वधर्मानुष्ठानासमर्थस्य देहत्यागे[4] न प्रत्यवायः किं त्वभ्युदय इति मन्तव्यं विहितत्वात्।

मनुः—" अपराजितामास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः " ॥

युक्तः समाहितः। अयं च महाप्रस्थानोपदेशः प्रदर्शनार्थः। तेनाग्निजलप्रवेशादिकमपि विहितं भवति, तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" वानप्रस्थो दूराध्वानं ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुप्रपतनं वाऽनुतिष्ठेत् " इति।

मनुः—" आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते " ॥

" ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्यात् " इत्याद्यास्तपश्चर्या आसामित्यनेन परामृश्यन्ते। ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ता अविरोधिनो धर्मा गृहस्थवनस्थयतिभिरप्यनुष्ठेयाः। तदाह गौतमः—

" उत्तरेषां चैतदविरोधि " इति।

एतद्ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तं धर्मजातमुत्तरेषां गृहस्थादीनां वक्ष्यमाणानां वेदि-

---

१ घ. छ. °भक्ष्यः प्रा°। २ घ. छ. 'संख्यया'। ३ घ. छ. °संख्ययाग्नि'। ४ घ. छ. °त्यागो न।

तव्यम् । यत्तेषां स्वाश्रमविहितेन धर्मेणाविरोधीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के वानप्रस्थप्रकरणम् ॥ ३ ॥

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# यतिप्रकरणम् । ( ४ )

---

अथ प्रव्रजितानां धर्मान्वक्तुमुपक्रमते—

वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं *सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चाऽऽत्मनि ॥५५॥
अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ॥
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्याच्च नान्यथा॥५६॥

ब्रह्मचर्येऽधीतवेदः संध्योपासनादिरूपनित्यनैमित्तिकजपकारी गार्हस्थ्ये यथाविध्युत्पादितपुत्रो देवपितृमनुष्यादिभ्योऽन्नदाद्यावश्यकश्रौतस्मार्ताग्निसाध्यकर्मकारी यथाशक्ति यज्ञानुष्ठायीत्यादिविशेषणाद्वानप्रस्थाश्रमाद्गृहस्थाश्रमाद्वा प्रजापतिदेवताकां सर्वस्वदक्षिणामिष्टिं कृत्वा तस्या अन्ते तान्वैतानानग्नीनात्मनि समारोप्य मनोऽन्तःकरणं मोक्षे मोक्षोपाये पारिव्राज्ये कुर्यात् । पारिव्राज्यं संकल्पयेदित्यर्थः । यज्ञशब्देनात्र सोमयागो विवक्षितः । तस्य च बहुसामग्रीसाध्यत्वादग्निमानित्युक्त्वाऽपि यज्ञकृदिति पृथङ्निर्देशात् । एतच्च गार्हस्थ्यपूर्वके पारिव्राज्ये विधानं द्रष्टव्यम् । ब्रह्मचर्यमात्रपूर्वके तु पुत्रवत्त्वादि विशेषणमिष्टिश्चासंभवान्निवर्तते । अस्ति च ब्रह्मचर्यानन्तरं संन्यासः । तथा [च] जाबालश्रुतिः—

" ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा
वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव परिव्रजेद्गृहाद्वनाद्वा " इति ।

---

* सार्ववेदसदक्षिणामिति पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ घ. छ. प्रव्राजि° ।

**सङ्गलिखितौ**—"वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिणतवयसः कामतः प्रव्रज्या, तमेवाग्निमात्मन्यारोप्य व्यपगतभयलोभमोहक्रोधशोकद्रोहमदमत्सरः कालं नानुचिन्तयेदनवस्थितत्वान्मनसः श्रद्धा ह्यनियता भवति । तस्मान्न श्वः श्वः समुपासीत । तदहरेव संन्यसेत्सर्वारम्भपरिग्रहानुत्सृज्य" ।

**अत्र बौधायनः**—"अथातः संन्यासविधिं व्याख्यास्यामः । सोऽत एव ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजतीत्येकेषामथ शालीनयायावराणामनपत्यानां विधुरेव(रो वा) प्रजां स्वधर्मे प्रतिष्ठाप्य वा सप्तत्या ऊर्ध्वं संन्यासमुपदिशन्ति, वानप्रस्थस्य वा कर्मविराम एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य[न] कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेनेत्यपुनर्भावं नयतीति, नित्यो महदेनं गमयतीति महिमा । केशश्मश्रुनखानि वापयित्वा स्नात्वोपकल्पयते, यष्टयः शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमित्येतत्समादाय ग्रामान्ते ग्रामसीमान्तेऽन्यगारे वाऽऽज्यं पयो दधीति त्रिवृत्प्राश्योपवसेदपो वा । ॐ भूः सावित्रीं प्रविशामि, तत्सवितुर्वरेण्यं, ॐ भुवः सावित्रीं प्रविशामि, भर्गो देवस्य धीमह्यो स्वः सावित्रीं प्रविशामि, धियो यो नः प्रचोदयादिति पच्छोऽर्धर्चशस्ततः समस्तया चाऽऽत्मानमात्मनाऽऽश्रमादाश्रमान्तरमुपनीय ब्रह्मभूतो भवतीति विज्ञायते ।

अथाप्युदाहरन्ति—आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद्भवति भिक्षुक इति ॥
स एष भिक्षुरानन्त्याय पुराऽऽदित्यस्यास्तमयाद्गार्हपत्य-
[* मुपसमाधायान्वाहार्यपचनमाह्व(ट्ट)त्य ज्वला(ल)न्तमहा(माह)वनीयमुद्धृत्य न्युप्योपसमादाय गार्हपत्य] आज्यं

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. 'शानयायाव° । २ क. 'वरणाप' । ३ घ. छ. 'त्यानाविधुरेवाप्र' । ४ क. 'नीयम् । त' । ५ क. 'नेत्येव पु' । ६ क. 'मुपानी° ।

विलाप्योत्पूय स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा समिद्ध(द्व)त्याहवनीये पूर्णाहुतिं जुहोत्यों स्वाहेत्येतद्ब्रह्मान्वाधानमिति विज्ञायते । अथ सायं हुतेऽग्निहोत्र उत्तरेण गार्हपत्यं तृणानि संस्तीर्य तेषु द्वंद्वशो न्यञ्चि पात्राणि साध(द)यित्वा दक्षिणेनाऽऽहवनीये ब्रह्मायतने दर्भान्संस्तीर्य कृष्णाजिनं चान्तर्धायैतां रात्रिं जागर्ति य एवं विद्वान्ब्रह्मरात्रिमुपोष्य ब्राह्मणोऽग्नीन्समारोप्य वा प्रमीयते स समस्तं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्याम् । अथ ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय काल्प(कल्य) एव प्रातरग्निहोत्रं जुहोत्यथ पृथ्व्यां स्तीर्त्वाऽपः प्रणीय वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपति सा प्रसिद्धेष्टिः संतिष्ठते । आहवनीयेऽग्निहोत्रद्रव्याणि प्रक्षिपति अमृन्मयान्यैश्मयानि गार्हपत्येऽरणी भवतं नः समनसावित्यथाऽऽत्मन्यग्नीन्समारोपयति । या ते अग्ने यज्ञिया तनूरिति त्रिस्त्रिरेकैकमवाजिघ्रत्यथान्तर्वेदि तिष्ठन्नों भूर्भुवः स्वः संन्यस्तं मयेति त्रिर्निरूप्योपांशूक्त्वा त्रिरुच्चैः, त्रिषत्या हि देवा इति विज्ञायते । अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्त इति चापां पूर्णाञ्जलिं निनयति ।

अथाप्युदाहरन्ति—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयं वाऽपीह विद्यत इति ॥

स वाचंयमोऽभिप्रव्रजति । यष्टयः शिक्यं जलपवित्रकं कमण्डलुं पात्रमित्येतत्समादाय यत्राऽऽपस्तत्र गत्वा स्नात्वाऽप आचम्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन षोडश प्राणायामान्धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वाऽन्यत्प्रयतो वासः परिधायाप आचम्य, ओं भूर्भुवः स्वरिति पवित्रमादाय तर्पयाम्यों भूस्तर्पयाम्यों भुवस्तर्प-

---

१ क. °भिद्वृत्या° । २ क. °न्यनश्म° । ३ घ. छ. °निरोप्यो° । ४ घ. छ. °भिसत्या° । ५ घ. छ. °पैयत्यों भू° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

याम्यों स्वस्तर्पयाम्यों भूर्भुवः स्वर्महर्नम इति[×देवान् । पितृभ्योऽञ्जलिमादाय तर्पयामि । ॐ भूः स्वधा । ॐ भुवः स्वधा । ॐ स्वः स्वधा । ॐ भूर्भुवः स्वर्महर्नम इति] । अथोदु त्यं चित्रमिति द्वाभ्यामादित्यमुपतिष्ठते । ओमिति ब्रह्मोमिति ब्राह्मं वा । एष ज्योतिर्य एष तपति, एष वेदो(देवो) य एष तपति वेद्यमेतद्य एष तपति, एषमेवैष आत्मा तर्पयत्यात्मने नमः करोत्यात्मा ब्रह्मात्मा ज्योतिः । ॐ सावित्रीं तर्पयामि। ॐ भूस्तर्पयामि । ॐ भुवस्तर्पयामि । ॐ स्वस्तर्पयामि । ॐ भूर्भुवः स्वस्तर्पयामि । सहस्रकृत्व आवर्तयेत् । शतत्वोऽपरिमितकृत्वो वा । ॐ भूर्भुवः स्वरिति पवित्रमादायोपगृह्णाति । न चात ऊर्ध्वमनुद्धृताभिरपरिस्रुताभिरपरिपूताभिर्वाभिराचामेन्न चात ऊर्ध्वं शुक्लवासोऽभिधारयेत् । एकदण्डी त्रिदण्डी वा । अथेमानि व्रतानि भवन्त्यहिंसा सत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्याग इत्येव पञ्चैवोपव्रतानि भवन्ति, अक्रोधो गुरुशुश्रूषा प्रसादः शौचमाहारशुद्धिश्च " इति ।

वायुपुराणे—" एवं वनाश्रमे तिष्ठंस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत्संन्यस्य विधिना द्विजः ॥
दद्याद्विजेभ्यो देवेभ्यः स्वपितृभ्यश्च यत्नतः ।
दत्त्वा श्राद्धमृषिभ्यश्च मनुजेभ्यस्तथाऽऽत्मनः ॥
इष्टिं वैश्वानरीं कृत्वा प्राजापत्यमथापि वा ।
अग्नींश्चाऽऽत्मनि संस्थाप्य मन्त्रवत्प्रव्रजेत्ततः ।
ततः प्रभृति पुत्राद्यैः स्नेहलोभादि वर्जयेत् ॥
दद्याच्च भूमावुदकं सर्वभूताभयंकरम् ।
दण्डं च वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
वेष्टितं कृष्णगोवालरज्ज्वा च चतुरङ्गुलम् ॥
ग्रन्थिभिश्च त्रिभिर्युक्तं जलपूतेन चोपरि ।
गृह्णीयाद्दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु धर्मवित् ॥

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ क. °ति, एषमेवैष आतर्प° ।

क्षौमं वा कुशसूत्रं वा सूत्रं कार्पासिकं तु वा ।
तैरेव ग्रथितं श(शि)क्यं पद्माकारसमन्वितम् ॥
षड्भिर्वा पर्वभिर्युक्तं मुष्टिभिः शिक्यलक्षणम् ।
गृह्णीयान्मन्त्रतो विद्वान्पात्रं चापि कमण्डलुम् ॥
आसनं दारुजं प्रोक्तं समाश्रं वर्तुलं समम् ।
शौचार्थमासनार्थं वा मुनिभिस्तैरनुष्ठितम् ॥
कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥
एतानि तस्य लिङ्गानि यतेः प्रोक्तानि धर्मतः ।
संगृह्य कृतसंन्यासो गत्वा तीर्थमनुत्तमम् ॥
स्नात्वाऽथाऽऽचम्य विधिवज्जलपूतांशुकेन वै ।
वारिणा तर्पयित्वा तु मन्त्रवद्ब्रह्मकरं नमेत् ॥
आसीनः प्राङ्मुखो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत् ।
गायत्रीं च यथाशक्ति जप्त्वा ध्यायेत्परं पदम् ॥
वनेषु तु विगृह्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गं परित्यजेत् ॥
आश्रमादाश्रमं गच्छेद्धुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथाऽऽत्मजान् ।
अनिष्ट्वा च तथा यज्ञैर्मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः " ॥

एतच्च प्रव्रज्याया गार्हस्थ्यपूर्वकत्वपक्षे द्रष्टव्यम् । यस्तु ब्रह्मचर्य एव विरक्तो न तस्य दारपरिग्रहः, स्त्रीरागपयुक्तत्वात्तस्य । अदारस्य च प्रजोत्पत्तीज्ययोरनधिकारोऽनाधिकृतस्य चा[न]नुष्ठानेऽपि न प्रत्यवायः । ततश्च ब्रह्मचारिणः प्रव्रजितोऽधीतवेदत्वमेव प्रव्रज्याधिकारे हेतुः । न प्रजादिसंपत्तिः । न च " जायमानो ह वै ब्राह्मणः " इत्यादिवचनबलादुत्पत्तिमात्रावि-

---

१ क. °वारणी° । २ घ. छ. °व्रजितो° । ३ क. °जासमुत्पत्तिः ।

शिष्टस्यैवाध्ययनप्रजेज्यात्मकर्णापाकरणेऽधिकार इति वाच्यम् । असमर्थत्वात् । न ह्युत्पन्न एव शक्नोत्येतत्कर्तुं, तस्मादधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायत इति वाक्यार्थः । ततश्च ब्रह्मचर्यमात्रपूर्विकायां प्रव्रज्यायां न कश्चिद्विरोधः । ननु सप्तत्या ऊर्ध्वं संन्यसेदिति विरुध्यते, नैवम् । रागात्कृतगार्हस्थ्यपरिग्रहस्य हि मन्दवैराग्यस्य स्मृत्यैष काल आहार्यं वैराग्यं प्रति विधीयते । अन्यथा " यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् " इति श्रुतिविरोधो दुष्परिहारः स्यात् । तथा च नृसिंहपुराणम्—

" यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं शिरैः[1] ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो भैक्षचर्यवान् ॥
अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥
रागादिविषयासङ्गपुत्रदारशुभाशुभम् ।
लोकयात्राभयं चैव त्यक्तं[3] संन्यास उच्यते " ॥

तथा—" वेश्मदारसुतक्षेत्रं संन्यस्तं येन दुःखदम् ।
वैराग्यज्ञानपूर्वं वै लोकेऽस्मिन्नास्ति तत्समः " ॥

महाभारते—" चतुर्विधा भिक्षवस्तु कुटीचरबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः " ॥ ५६ ॥

परिव्रज्य किं कुर्यादित्यत आह—

**सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ॥**
**एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाश्रयेत् ॥ ५७ ॥**

उक्तप्रकारेण कृतप्रव्रज्योऽपकारकेष्वपि भूतेषु हितोऽनपकारकः । उपकारकेष्वप्युपरतस्नेहोऽननुग्राहक इति यावत् । तथा च गौतमः—

" हिंसानुग्रहयोरनारम्भी " इति ।

त्रिदण्डी वैणवदण्डत्रयवान् । यत्तु मनुनोक्तम्—

" वाग्दण्डश्च मनोदण्डः कर्मदण्डोऽथ ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते ॥
वाग्दण्डो मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डस्त्वहिंसनम् ।
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायामो विधीयते "

---

१ घ. छ. °हारं वै° । २ घ. छ. °रः । सप्तमेव कृ° । ३ घ. छ त्यक्तुं ।

इति, तत्र दण्डशब्दो वागादिसामानाधिकरण्याद्गौणः । न पुनरत्रापि गौणः कारणाभावात् । सकमण्डलुः शौचाचमनादिप्रयोजनसिद्धये कमण्डलुधारी च स्यात् । एकाराम एकाकी । तथा च दक्षः—

"एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्वौ चैव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥
नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं तु कुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥
राजादिवार्ता तेषां तु भिक्षावार्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥
लाभपूजानिमित्तं हि व्याख्यानं शिष्यसंग्रहः ।
एते चान्ये च बहवः प्रपञ्चाः कुतपस्विनाम् ॥
ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता ।
भिक्षोः कर्माणि चत्वारि पञ्चमं नोपपद्यते" ॥

भिक्षार्थमेव ग्राममाश्रयेत्प्रविशेत् । न निवासाद्यर्थम् । ततो ग्रामादन्यत्रैव निवसेत् । अयं च हंसपरमहंसयोर्विधिः । कुटीचरबहूदकयोस्तु ग्रामेऽप्यत्रस्थानमस्ति, तथा च प्रजापतिः—

"तत्र परिव्राजका नाम चतुर्विधा भवन्ति, तत्र( ते च ) कुटीचरो बहूदको हंसः परमहंसश्चेति । कुटीचरो नाम—स्वगृहे वर्तमानो विगतकलुष आहिताग्निषु भिक्षां भुञ्जानो व्यपगतकामक्रोधलोभमोहाहंकारो यदात्मानुग्रहं कुरुते स कुटीचरो नाम । बहूदको नाम—ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं प्राप्तं भोज्यं भुञ्जानः स बहूदको नाम । तत्र हंसो नाम—पर्वतगुहाश्रमदेवकुलारामवासी भिक्षार्थे ग्रामं प्रविशेत्स हंसो नाम । तत्र परमहंसो नाम—नदीपुलिनारण्यप्रदेशेषु तृणहरितशाद्वलेषु शयानोऽसंकुसुकश्चीरकौपीनकषायवान्यस्तु प्राणान्परित्यजति स परमहंसो नाम" इति ।

असंकुसुकोऽसंचयवान् ।

दक्षः—"बुधो ह्याभरणं भारं मलमालेपनं तथा ।
मन्यते स्त्री च मूर्खस्तु तदेव बहु मन्यते ॥

सत्त्वोत्कटाः सुरास्तेऽपि विषयैस्तु वशीकृताः ।
प्रमादिष्वल्पसत्त्वेषु मनुष्येषु तु का कथा ॥
तस्मात्पक्वकषायेण कर्तव्यं दण्डधारणम् ।
इतरस्तु न शक्नोति विषयैरवहीयते ॥
त्रिदण्डव्यपदेशेन जीवन्ति बहवो जनाः ।
यो हि ब्रह्म न जानाति न त्रिदण्डी भवेद्धि सः ॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डास्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन ।
एतै सर्वैः सुनिष्पन्नो यतिर्भवति नेतरः ।
मेखलाजिनदण्डेन ब्रह्मचारीति लक्ष्यते ॥
गृहस्थो यष्टिवेदाभ्यां नखरोमैर्वनाश्रितः ।
त्रिदण्डेन यतिश्चैव लक्षणानि पृथक्पृथक् ॥
यस्यैतल्लक्षणं नास्ति प्रायश्चित्ती स नाऽऽश्रमी " ।

मनुः—" एक एव चरेन्नित्यं सिध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥

**सिद्धिं न जहाति, तया स न हीयत इत्यर्थः ।**

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंचयको मुनिर्भावसमन्वितः ॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत् ॥

**निर्देशः कालावधिः ।**

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥

---

१ क. 'वैः स नि° ।

न क्रुध्यन्तं प्रति क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचं समुदीरयेत् ॥

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याहंकारदूषितां वाचं [न]समुदीरयेत् ।

अध्यात्मरतिरासीत निरपेक्षो निरेषणः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥
कृत(कृत्त)केशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसंभवम् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥
ग्रैष्महैमन्तिकान्मासानष्टौ प्रायेण पर्यटेत् ।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन वा ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते " ॥

मत्स्यपुराणे—"अष्टौ मासान्विहारः स्याद्यतीनां संयतात्मनाम् ।
एकत्र चतुरो मासान्वार्षिकान्निवसेत्पुनः ॥
अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारस्तु न विद्यते ।
न देहो भविता तत्र दृष्टं शास्त्रे पुरातने " ॥

वसिष्ठः—" परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत " ।

लोकान्वित्तं पुत्रांश्च वर्जयित्वा व्रजतीति परिव्राजकः । भाविनी चैषा संज्ञा व्रजनस्य भावित्वात् । सर्वेषां चराणामचराणां च भूतानामभयमेव दक्षिणां कृतेष्टिसंबन्धिनीं दत्त्वा विद्याद्यनपेक्षया प्रतिष्ठेत व्रजेत् । अभयं मत्तः सर्वभूतेभ्य इत्युक्त्वा प्रव्रजेदित्यर्थः ।

" अथाप्युदाहरन्ति—अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः ।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते " ॥

भूतसंप्रदानकाभयदातुस्तत एवाभयं मोक्षो भवति । अनेन च प्रव्रज्याया मुक्तिफलत्वमुक्तम् ।

परिव्रज्याभ्रंशे दोषमाह—

---

१ घ छ. °द्वारवकीर्णं च । २ क. °भवान् । वि° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

" अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यस्तु निवर्तते ।
हन्ति जातानजातांश्च प्रतिगृह्णाति यस्य च " इति ॥

अभयदानोपलक्षणायाः प्रव्रज्याया यो निवर्तते, स स्ववंशे जाताञ्जनिष्यमाणांश्च यस्य च प्रतिगृह्णाति तदीयांश्च हन्ति, निरयगामिनः(णः) करोतीत्यर्थः ।

" एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
उपवासात्परं भैक्षं दया दानाद्विशिष्यते " ॥

यत एकं प्रणवाख्यमक्षरं ब्रह्मणो वेदराशेः परमुत्कृष्टं, यतश्च प्राणायामस्तपसः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकात्परः श्रेष्ठः । यत एव भिक्षाणां समूह उपवासादनशनात्पर उत्तमः । यस्माच्च दया दानाद्विशिष्यते गुणवत्तया, तस्मात्प्रणवप्राणायामौ सभिक्षाचर्यां दयां च संततमनुतिष्ठेदिति तात्पर्यार्थः । तथा तत्रैव—

" मुण्डोऽसमोऽपरिग्रहः " ।

मुण्डोऽशिखः । इदं च वैकल्पिकं, "मुण्डः शिखी वा" इति गौतमवचनात् । असमः पुत्रादिममत्वरहितः । अपरिग्रहः शास्त्रोक्तदण्डकमण्डल्वादिव्यतिरिक्तच्छत्राद्युपकरणरहितश्च स्यात् ।

" सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम् । विधूमे
सन्नमुसल एकशाटीपरिहितोऽजिनेन वा " ।

एकशाटीमजिनं वा परिधाय धूमाभावमुसलव्यापाराभावोपलक्षितेऽपराह्णात्मके काले सप्त गृहाण्यत्र भिक्षितव्यमिति, भिक्षालोभेनासंकल्पितानि भैक्षं चरेत् ।

" गो[प्र]लूनैस्तृणैरवस्तृतशरीरः स्थण्डिलशायी " ।

स्यादिति शेषः । गोप्रलूनानि गवार्थं छिन्नानि । अवस्तृतशरीर आच्छादितशरीरः । स्थण्डिलशायी, अधःशायी ।

" अनित्यां वसतिं वसेत् । ग्रामान्तरे शून्यगृहे देवागारे
वृक्षमूले वा मनसा ज्ञानमधीयानः " ।

मनसैव ज्ञानं ब्रह्मज्ञानसाधनमुपनिषद्ग्रन्थमधीयानो ग्रामादिष्वेकत्रानियतदेशां वसतिमवस्थानं वसेत्कुर्यात् ।

" न ग्राम्यपशूनां संदर्शने विचरेत् " ।

अरण्ये विचरेदिति तात्पर्यार्थः ।

---

१ घ. छ. °ण्डोऽसमो । २ घ. छ. असमः पुत्रादिसम° । ३ घ. छ. °क्षाकालेना° ।

" अथाप्युदाहरन्ति—

अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य ।
अध्यात्मचिन्तागतमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरुपेक्षकस्य " ॥

नित्यमरण्ये वसतो वशीकृतेन्द्रियस्य कामापन्नमपीन्द्रियप्रीतिकरं रागोदयशङ्कया वर्जयत आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तस्य शास्त्रस्यार्थचिन्तां प्रति प्रवणमान[स]स्योपेक्षकस्य सर्ववस्तुषु हेयोपादेयबुद्धिरहितस्यानावृत्तिर्मुक्तिर्ध्रुवा नियता।

" अव्यक्तलिङ्गो व्यक्ताचारोऽनुन्मत्त उन्मत्तवेशेन युक्तः " ।

अव्यक्तं गूढं योगसिद्धिलिङ्गं यस्य स तथोक्तः । व्यक्ताचारो यथोक्तशौचाद्याचारः । अनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवेशेन युक्तः पूजादिभयात्स्यात् ।

"अथाप्युदाहरन्ति—न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चापि लोके(क) ग्रहणे रतस्य।
न भोजनाच्छादनगर्वितस्य न चातिरम्यावसथप्रियस्य " ॥

शब्दशास्त्रज्ञानमेव परमं प्रयोजनमित्यभिनिवेशिनो लोकपङ्क्तौ रतस्य च भोजनादिश्लाघिनो रम्यं निवासमिच्छतश्च न मोक्षलाभः ।

कस्य तर्हि स इत्यत आह—

" न कुट्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे ।
नागारे नाऽऽसने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः " इति ॥

कुट्यादिषु यतिद्रव्येषु यस्य न सङ्गो न तत्परता, स मोक्षविन्मोक्षलाभभाग्भवेदित्यर्थः । भिक्षाटनासमर्थं प्रत्यनुग्रहमाह—

" ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत तद्भुञ्जीत सायं प्रातर्मधुमांसवर्जम् " ।

व्याध्यादिना भिक्षायामसमर्थो ब्राह्मणगृहे यल्लभेत तन्मधुमांसवर्जं सायं प्रातर्वा भुञ्जीत । असमर्थ उभयत्र । असमर्थस्यैव सायमनुग्रहः । मधु मांसं च श्राद्धेऽपि वर्जयेत् ।

अनुग्रहेऽप्यतिप्रसक्तिवारणार्थमाह—

" न च तृप्येत् " ।

प्राणयात्रिकमात्रं भुञ्जीतेत्यर्थः । अपरमनुग्रहमाह—

" ग्रामे वा वसेत् " ।

किंच—" अजिह्मोऽशठोऽसंकुसुकः " ।

स्यादिति शेषः । जिह्मः कुटिलः । शठो मायावी । संकुसुकः संचयवान् । एवंरूपो न स्यादिति शेषः ।

" न चेन्द्रियसंसर्गं कुर्वीत केनचित् " ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

इंन्द्रिय(यं)प्रजनने(नं) तत्संयोगं केनचित्सह न कुर्यात् । अपि च—

" उपेक्षकः सर्वभूतानाम् " ।

सर्वभूतेषु रागद्वेषादिरहितो भवेदित्यर्थः ।

" पैशुनमत्सराभिमाना(न) ंनमस्या]हंकाराश्रद्धानार्जवात्म-
संस्तपरगर्हादम्भलोभवर्जनं सर्वाश्रमाणां धर्मिष्ठम् " ।

पैशुनं दोषसूचकत्वम् । मत्सरः परसमृद्ध्यसहनम् । अभिमानः स्तम्भः । नमस्या नाम प्रणाम इति यावत् । अहंकारोऽभिंजनप्रज्ञादिगर्वः । अश्रद्धा परलोकादिषु नास्तिकत्वम् । अनार्जवं मायावित्ता । आत्मस्तवः स्वगुणकीर्तनम् । परगर्हा परापवादः । दम्भः सोपधं धर्मचरणम् । लोभो विध्यतिक्रमेण द्रव्यस्याऽऽदानमप्रदानं च । एषां वर्जनं परिहरणं सर्वेषामाश्रमाणां धर्मान्तरेभ्य उत्कृष्टम् ।

" यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः शुचिर्ब्राह्मणो वृषलान्नवर्जी " ।

यज्ञोपवीती परिव्राजकः स्यात् । न पुनः सर्वाश्रमाणां यज्ञोपवीतीति संबन्धो युज्यते । न च सर्वाश्रमशब्दः प्रथमान्ततया विपरिणमय्य संबन्धनीयः । परिव्राजक इंत्यविपरिणतस्यैव साक्षात्प्रकृतत्वात् । तथा च यज्ञोपवीतमाश्रमान्तराणामनेन [न] विधेयं, यज्ञोपवीतीत्यादिभिः स्वयमेव विहितत्वात् । तथा सर्वाश्रमाणां यज्ञोपवीताविधानेन परिव्राजकस्यापि यज्ञोपवीतित्वं लभ्यते । अथ मतम्—

" नखान्निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृजेत् "

इति जाबालश्रुतिविहितेन यज्ञोपवीतविसर्गेण विशेषविहितेन सामान्यविहितं यज्ञोपवीतं बाध्यत इति । सत्यम् । यदि—

" नखानि निकृत्य पुराणवस्त्रं यज्ञोपवीतं कमण्डलुं
च त्यक्त्वा नवानि गृहीत्वा ग्रामं प्रविशेत् "

इति वचनान्तरं न ंस्यात् । किं च षष्ठीबहुवचनान्तः सर्वाश्रमशब्दः ंप्रथमान्तेन विपरिणतोऽपि बहुवचनान्त एव भवेदिति नैकवचनान्तेन परिव्राजकशब्देन समानाधिकरणो भवति, तस्मात्प्रकृतेन प्रथमैकवचनान्तेन परिव्राजकशब्देन यज्ञोपवीतीति संबध्यते । उदककमण्डलुरुदकपूर्णकमण्डलुस्तद्धस्तः । शुचिः प्रातिस्विकशौचवान् । वृषलान्नवर्जीति ब्राह्मणान्नालाभे क्षत्रियवैश्यान्नानुग्रहार्थम् । ब्राह्मणग्रहणं द्विजप्रदर्शनार्थम् ।

---

१ घ. छ. °जनेन त' । २ क. °भिमान' । ३ क. इति प° । ४ घ. छ. 'धेयय्ज्ञो° । ५ घ. छ. 'रं स्या' ।

पारिव्राज्यफलमाह—" न हीयते ब्रह्मलोकात् " ।

ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः ।

आपस्तम्बः—" अथ परिव्राजोऽत एव ब्रह्मचर्यवान्परिव्रजति" ।

एषणात्रयं परित्यज्य यो व्रजति स परिव्राट् । तस्य धर्मा वक्ष्यन्ते—अत एवाऽऽचार्यकुलवासाद्ब्रह्मचर्यवानविप्लुतब्रह्मचर्यः प्रव्रजति ।

" तस्योपदिशन्ति । अनाग्निरनिकेतनः स्यादशर्माऽश-
रणो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचम् " ।

अविद्यमानोऽग्निर्यस्यासावनग्निः । अनेन च लौकिकवैदिकाग्निकार्यं पाकहोमादिकं निवार्यते । अनिकेतनो नियतस्थानरहितः । अशर्मा सुखार्थोद्यमरहितः । अशरणो निर्गृहः । मुनिर्वाचंयमः स्यादित्यर्थः । स्वाध्यायेऽकर्मार्हमन्त्रप्रयोगे वाचमुत्सृजमानः । ब्रह्मयज्ञाध्ययनं तु यतेर्नास्ति ।

" अप. उपस्पृश्य गृहानेति । ततो यत्किंचि-
द्ददाति सा दक्षिणा " । इत्यर्थः ।
" ग्रामे प्राणवृत्तिं प्रतिलभ्यानीहोऽनमुत्रश्चरेत् " ।

प्राणस्थितिमात्रप्रयोजनं भैक्षं ग्रामे प्रतिलभ्य निःस्पृहः परलोकफलकर्मरहितो महीं विचरेत् ।

" तस्य मुक्तमाच्छादनं विहितम् " ।

मुक्तं वस्त्रस्वामिना परिधानायोग्यत्वात्त्यक्तम् । अत्रैकेषां मतमुपन्यस्यति—

" सर्वतः परिमोक्षमेके " ।

सर्वस्य परिमोक्षं त्यागमेके वादिनो मन्यन्ते ।

तमेवाऽऽह—" सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च
परित्यज्याऽऽत्मानमेव बुध्येद्बुद्धे क्षेमप्रापणम् " ।

सत्यं ब्रूयात्कचिच्च विषयेऽनृतमपि ब्रूयादित्यादिविधिविहितं सत्यमसत्यं, सुखदुःखोपायौ वेदविहितांश्च सकलानर्थान्परित्यज्याऽऽत्मानमेव बुध्येत्(त) । यतस्तस्मिन्बुद्धेऽविद्यानिवृत्तिरूपस्य क्षेमस्य प्राप्तिः । तद्दूषयितुमाह—

" तदेतच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् " ।

तदेतत्परमतं शास्त्रैः श्रुतिस्मृतिवाक्यैर्विप्रतिषिद्धं विरुद्धं बाधितमिति

---

१ घ. छ. परीमो' । २ क. 'लाङ्गान्प' ।

यावत् । तथा हि—विद्यापरपर्यायस्याऽऽत्मबोधस्याऽऽवश्यकवर्णाश्रमरहितस्य क्षेमप्राप्तिर्न फलं किंतु प्रत्यवाय इत्याह माध्यंदिनी श्रुतिः—

" अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते " ।
ततो भूय इव ते तमो येऽविद्यायां रताः " इति ॥

अस्यार्थः—ये मूढचेतसो विद्यामात्मज्ञानमुपेक्ष्याविद्यायां कर्मण्येव रतास्तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति, ये नित्यनैमित्तिककर्मरहितायां विद्यायामात्मज्ञाने रतास्तेऽपि ।

एवं केवलां विद्यां केवलं च कर्म निन्दित्वा तयोरन्योन्यसमुच्चितयोर्मोक्षोपायत्वं विधत्ते श्रुतिः—

" विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति ॥

विद्यामात्मोपासनामविद्यां वर्णाश्रमधर्मजातमन्योन्यसमुच्चितमेतदुभयं यो मोक्षोपायत्वेन वेद जानाति नासावन्धतमः प्रविशति । किं विद्याकर्मणोः समुच्चय आधानोत्तरक्रतुवत् । किं वाऽऽग्नेयाग्नीषोमीयादिवत् । यद्वाऽङ्गप्रधानवदिति विमर्शे निर्णयार्थमुक्तम्—

" अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति ।

विद्यया साक्षादमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति* । किंतु मृत्युं मृत्युतुल्यं मोक्षविघ्नं तीर्त्वा विद्ययाऽऽत्मज्ञानेनामृतं प्राप्नोति, न पुनः सत्कर्मनिबन्धनं विघ्नोपशममन्तरेणैव विद्यया मोक्षं कश्चिदाप्नोति । ततश्चामृतप्राप्तिकारणभूताया विद्याया विघ्नतरणरूपमुपकारं जनयद्भिः कर्मभिः सह विद्याया अङ्गाङ्गिलक्षणः समुच्चय इति सिद्धम् । न च वाच्यं कर्मणां मृत्युतरण एव हेतुभावो न तु मोक्षे, तेन तानि विद्याङ्गानीति । तथा हि सति अविद्यया मृत्युं तरति विद्ययाऽमृतमश्नुत इत्यर्थद्वयपरत्वे वाक्यद्वयभेदः स्यादेकं चेदं वाक्यं कृत्वाप्रत्ययसामर्थ्याद्गम्यते । एककर्तृकतां हि मृत्युतरणामृतप्राप्त्योः स ब्रूते । न च निमित्तनैमित्तिकभावमन्तरेण सा तयोः संभवति । तस्माद्विद्याङ्गतया कर्मणां मोक्षं प्रति निमित्तभावोऽत्र विधीयते । यानि तु—

" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः "

---

* इत उत्तरं मोक्षं कश्चिदाप्नोतीत्यन्तं न विद्यते क. पुस्तके ।

---

१ क. °त्तिकाभा° । २ घ. छ °ण सतयोः ।

इत्यादीनि कर्मणां मोक्षं प्रति निमित्तभावनिषेधकानि तानि केवलकर्मविषयाणीत्यविरोधः । यत एव मोक्षं प्रति कर्मणां निमित्तभावोऽस्त्यत एव[1]—

"य आत्मानमेव लोकमुपास्ते । नेहास्य कर्म क्षीयते "

इति कर्मणोऽक्षयत्वं प्रतिपादयद्वाक्यमस्य मोक्षोपायत्वं गमयति । अक्षयफलत्वेन हि कर्मणोऽक्षयत्वं न स्वभावतः क्षयित्वात् । अत एव—

" विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन "

इति मोक्षोपायभूतविद्याङ्गतां[2] तृतीयाश्रुतिः प्रतिपादयति । न च वाच्यं सन्प्रत्ययवाच्येच्छाङ्गत्वेन[3] तृतीया कर्मणां विनियोक्त्रीति, यतः प्रत्ययार्थीभूतेच्छां प्रतीप्सितकर्मत्वेन सन्नन्तेषु धात्वर्थः प्रतीयत इति स एव प्रधानम् । अतः स एव पदार्थान्तरैः संबध्यते । यथा—अश्वेन जिगमिषतीत्यश्वस्य करणभावो गमने प्रतीयते, न तदिच्छायाम् । स्पष्टं च ज्ञानकर्मणोः समुच्चये(यं) मोक्षविषयमाह[4]—" तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च " इति ।

एतावच्छ्रुतिवाक्यानि केवलबुद्धिक्षेमप्रापकत्वपक्षप्रतिक्षेपकाण्युदाहृतानि । अथ स्मृतिवाक्यान्युदाह्रियन्ते, तत्र मनुः—

" तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्परम् " ॥

योगयाज्ञवल्क्यः—" स्वकर्मणामनुष्ठानात्सम्यगात्मनिदर्शनात् ।
वेदान्तानां परिज्ञानाद्गृहस्थोऽपि विमुच्यते " ॥

अपिशब्दादन्येऽप्याश्रमिण एवं विमुच्यन्त इति गमयति ।

मार्कण्डेयपुराणे—" विहिताकरणात्पुंभिरत्यन्तं क्रियते तु यः ।
संयमो मुक्तये मोहात्प्रत्युताधोगतिप्रदः ।
प्रक्षालयामीति भवान्वत्साऽऽत्मानं तु मन्यते ॥
विहिताकरणोद्भूतैः पापैस्त्वं न विदह्यसे ।
अविद्याऽप्युपकाराय विषवज्जायते नृणाम् ॥
अनुष्ठितोऽप्युपायेन बन्धाय(या)न्यायतोऽपि वा " ।

---

१ घ. छ. °व यद्वा° । २ क. हि तस्य कर्मक्षयित्वं । ३ क. °ङ्गतृ° । ४ क. °विशेषमा° । ५ क. °तिविहितानि । ६ क. °त्वप्र° । ७ घ. छ. °त्प्रतिबाधो° । ८ घ. छ. °तान्युपा° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

**पुलस्त्यः**—" ज्ञानकर्मसमायोगात्परं प्राप्नोति पूरुषः ।
पृथग्भावान्न सिध्यन्ति उभे तस्मात्समाश्रयेत् ॥
ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनम् ।
तस्मादुभाभ्यां तु भवेत्प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति " ॥

**व्यासः**—" योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥
ब्रह्मण्यादा(धा)य कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
न स लिप्येत पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना " ।

**हविरर्प्यते प्रक्षिप्यते स्रुगादिना येन तदर्पणम् । कारकेषु क्रियायां च ब्रह्मबुद्धिकरणमनेन विधीयते । ब्रह्मात्मकं कर्म यः समादधाति बुध्यते स ब्रह्मकर्मसमाधिः ।**

**विष्णुधर्मेऽश्विनौ**-" द्वे कर्मणी नरश्रेष्ठ ब्रह्मणा समुदाहृते ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च स्वर्गमुक्तिफले हि ते ॥
प्रवृत्तमपि मोक्षाय कर्म पार्थिव जायते ।
कर्म स्वरूपतो भ्रष्टमनाकाङ्क्षिफलं स्मृतम् " ॥

**विष्णुः**—" एवं ज्ञानवतां कर्म कुर्वतोऽपि[1] प्रजादिकम् ।
भवेन्मुक्तिर्द्विजश्रेष्ठ वैम्यस्य वचनं यथा ॥
अनिर्वातो यथा वह्निर्ध्मायमानः प्रणश्यति ।
तथा कर्मविहीनस्य ज्ञानाग्निः संप्रणश्यति ॥
तस्मादाश्रमिभिः सर्वैर्नित्यं यज्ञोपवीतिभिः ।
नित्यनैमित्तिकं कर्म काले कार्यमतन्द्रितैः " ॥

---

१ घ. छ. °पि स्वजातिक° ।

हारीतः—"यथाऽश्वा रथहीनास्तु रथो वाऽश्वैर्विना यथा ।
एवं तपोऽप्यविद्यस्य विद्या वाऽप्यतपस्विनः ॥
यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् " ॥

एवं शास्त्रप्रतिषेध आत्मबोधमात्रस्य क्षेमप्रापकत्वपक्षेऽभिहित इदानीं प्रमाणान्तरविप्रतिषेधमाह—

" बुद्धे चेत्क्षेमप्रापणमिहैव दुःखं नोपलभेत " ।

आत्मनि बुद्ध एव चेन्मुक्तिस्तर्हीहैव शरीरे म्रियमाणे किमपि दुःखं नोपलभेत । समुच्चयपक्षे तु यावज्जीवमनुष्ठितेषु कर्मसु मुक्तिरिति न जीवतस्तत्संबन्धः । तथाऽऽह बौधायनः—

" परिव्राजकः परित्यज्य बन्धूनपरिग्रहः परिव्रजेदरण्यं गत्वा
शिखी मुण्डो वा कौपीनाच्छादनः काषायवासाः " ।

कषायो वृक्षरसस्तेन रक्तं काषायम् ।

वाङ्मनःकर्मदण्डैर्भूतानामद्रोही पवित्रभूच्छौ-
चार्थमुद्धृताभिरद्भिः कार्यं कुर्वाणः " ।

कार्यं मलक्षालनम् । आचमनं त्वनुद्धृताभिरेव ॥ ५७ ॥
भिक्षार्थं ग्राममाश्रयेदित्युक्तं, तत्र यथा भिक्षार्जनं कार्यं तदाह—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः ॥
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥ ५८ ॥

अप्रमत्त आदरवान् । अनभिलक्षितो भिक्षादातृभिर्गुणित्वेनानभिज्ञातः । अलोलुपः स्वाद्वन्नलोभरहितः । भिक्षुकैरन्यैर्ब्रह्मचारिप्रभृतिभिर्गृहीतभिक्षैर्विमुक्ते ग्रामे प्राणधारणप्रयोजनं भैक्ष्यं(क्षं) सायाह्नेऽह्नोऽन्तिमे मुहूर्तत्रये चरेत् । अत्र वसिष्ठः—

" सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षमेकशाटीप-
रिहितोऽजिनेन वा विधूमे सन्नमुसले " ।

विधूमे सन्नमुसल इति सायंकालोपलक्षणम् । सन्नं मुसलमचलं यस्मिन्काले स तथोक्तः ।

---

१ क. °रप्र° । २ ङ °द्भैक्ष्यं सा° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

मनुः—" एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्येत विस्तरे ।
भैक्षप्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि मज्जति ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभश्चैनं न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥

उपकरणद्रव्यं मात्रा ।

*अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभात्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते " ॥

अभिपूजिताः सत्कारपूर्वका लाभाः ।

तथा—" न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् " ॥

उत्पातोऽद्भुतदर्शनम् । निमित्तं शकुनादि । अङ्गं व्याकरणादि । सामुद्रं हस्तलक्षणादि वा ।

संवर्तः—" अष्टौ भिक्षाः समादाय स मुनिः सप्त पञ्च वा ।
अद्भिः प्रक्षाल्य तत्सर्वं भुञ्जीत सुसमाहितः ॥
अरण्ये निर्जने विप्रः पुनरासीत भुक्तवान् ।
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं मनोवाक्कायसंयुतः " ॥

यमः—" भैक्षभुग्ब्रह्मचारी स्यान्नैकान्नाशी भवेत्क्वचित् " ।

एतच्च सति सामर्थ्ये । असामर्थ्ये तु ब्राह्मणकुले वा यद्भुभेतेत्यादिकं यदुक्तं वसिष्ठेन तद्द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणकुलालाभे शूद्रान्नवर्जं वर्णान्तरान्नमपि भुञ्जीत । तदाह स एव " वृषलान्नवर्जी " इति ।

हारीतः—" आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्याचार्याः " ।

सत्त्वमन्तःकरणम् ।

बौधायनः—" अथ भैक्षचर्या, ब्राह्मणानां शालीनयायावराणामनिर्वृत्ते वैश्वदेवे भिक्षां लिप्सेत भवत्पूर्वं प्रचोदयेत् । गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेत भैक्षचर्यादुपावृत्तः शुचौ देशे न्यस्य हस्तपादं प्रक्षाल्याऽऽचम्याऽऽदित्यस्याग्रे निवेदयति उदु त्यं चित्रमिति । ब्रह्मणे निवेदयति ब्रह्म जज्ञानमिति विज्ञायते । आधानप्रभृति यजमान एवाग्नयो भवन्ति तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान

* एतदर्धं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

आहवनीय उदानसमानौ सम्यावसथ्यौ पञ्च वा एतेऽग्नय आत्मस्था आत्मन्येव जुहोति स एष आत्मयज्ञनिष्ठ आत्मप्रतिष्ठ आत्मानं क्षेमं नयतीति विज्ञायते। नक्षत्रोदयात्पूर्वं विभज्य शेषमद्भिः संसृज्यो(ज्यौ)षधवत्प्राश्नीयात्। प्राश्याप आचम्य ज्योतिष्मत्याऽऽदित्यमुपतिष्ठते, उद्वयं तमसस्परीति। वाङ्म आसन्नसोः प्राण इति जपित्वा—

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
आहारमात्रं भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम्" ॥

देवलः—"नित्यं प्रत्यावृत्त आदित्ये निवृत्तमुप(स)लोर्ङ्ख्यै(द्य)मे प्रशान्तधूमे काले ग्रामं प्रविश्य भैक्षार्थं सर्वतः पर्यटन्नग्रतो युगमात्रा[म]वलोकेय पूर्वसंकल्पितानि निविवृतद्वाराणि परगृहाण्यवचनेनाशक्तः प्रविशेत्। प्रविष्टः संजल्पप्रणयकुहकविस्मयविडम्बनपरिहासयाचनप्रेक्षितानि परिहरेत्। गोदोहमात्रं स्थित्वा व्रजेद्भिक्षालब्धौ न कुप्येदन्त्यावसायिपरिपन्थिज्ञातीश्वरप्रेतसूतकभिक्षां नोपलब्धा(ब्ध्वा) प्रहितां गृह्णीयादात्मनः संस्कृतां परबाधाकरीं वर्जयेत्। मधुमांसकुबीजविरहितां गृहीत्वा तद्भैक्षमेकान्ते तेनैव पात्रेणान्येन वा तूष्णीं भूत्वा मात्रया भुञ्जीत" ॥ ५८ ॥

**यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च ॥**
**सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ ५९ ॥**

**यतीनां भिक्षाभोजनार्थानि पात्राणि मृदादिमयानि भवन्ति। तेषामुच्छिष्टानां सलिलं गोवालघर्षणं च शुद्धिहेतुः।**

**मनुः**—" अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे" ॥

**हारीतः**—" मृद्दारुविदलालाबुशीर्णपर्णपात्रो वा पाणिपात्रो वा भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेन्नोच्छिष्टं दद्यान्नोत्सृजेन्न कुत्सयेत्। न चातिमात्रमश्नीयात्"।

---

१ घ. छ. °ङ्यसे प्र°। २घ. छ. °क्य सं°। ३ क. °नि वि°। ४ घ. छ. °भिक्षान्वोप°। ५. ङ. सलिलैः।

( यतिप्रकरणम् ४ )

**शङ्खलिखितौ**—" काष्ठालाबुविदलपार्थिवानामेकं भैक्षभाजनम् । तस्य गोवालरज्ज्वा सोदकं परिघर्षणं प्रत्यात्मकं शौचम् । नात्राऽऽचामेन्न भूमौ निक्षिपेन्नाशुचि संस्पृशेद्वु- क्त्वाऽऽचान्तः पुनराचम्य द्रव्याण्यभ्युक्षयेद्रज्जुं यच्चान्यदविरुद्धं स्यात् " ।

**नृसिंहपुराणे**—" स्थित्यर्थमात्मनो नित्यं भिक्षाटनमथाऽऽचरेत् । सायाह्नकाले विप्राणां गृहाणि विचरेद्यतिः ॥ उद्घाटयेच्च कवचं दक्षिणेन करेण वै । पात्रं वामकरे स्थाप्य दक्षिणेनावशेषयेत् ॥ स्याद्वृत्तिर्यावताऽन्नेन तावद्भैक्ष्यं(क्षं) समाचरेत् । ततो निर्वर्त्य(र्त्य) तत्पात्रं संस्थाप्याऽऽचम्य संयमी ॥ चतुरङ्गुलैः प्रक्षाल्य ग्रासमात्रं समाहितः । सर्वव्यञ्जनसंयुक्तं पृथक्पात्रे निवेदयेत् ॥ सूर्यादिदेवभूतेभ्यो दत्त्वाऽन्नं प्रोक्ष्य वारिणा । भुञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा वाग्यतो यतिः ॥ वटार्कोश्वत्थपर्णेषु कुम्भीतिन्दुकपर्णयोः । कोविदारकरञ्जेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥ समलाः सर्व उच्यन्ते यतयः कांस्यभोजिनः । कांस्यकस्य तु यत्पापं गृहस्थस्य तथैव च ॥ कांस्यभोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात्किल्बिषं तयोः । भुक्त्वा पात्रं यतिर्नित्यं क्षालयेन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ न दुष्येतास्य तत्पात्रं यज्ञेषु चमसा इव । अथाऽऽचम्य निरुद्धासुरुपतिष्ठेत भास्करम् ॥ जपध्यानेतिहासेषु दिनशेषं नयेद्बुधः । कृतसंध्यस्ततो रात्रिं नयेद्देवगृहादिषु ॥ हृत्पुण्डरीकनिलये ध्यात्वाऽऽत्मानमकल्मषम् । यतिर्धर्मरतः शान्तः सर्वभूतसमो वशी ॥ प्राप्नोति परमं स्थानं यत्प्राप्य न निवर्तते " ॥ ५९ ॥

**अत्राऽऽश्रमे यत्प्रधानकर्म यच्च तस्य फलं तदाह**—

---

१ घ. छ. °र्याचिता° । २ क. निवर्त्य । ३ क. °मेपरः शा° ।

संनिरुध्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ विहाय च ॥
भयं हित्वा[3] च भूतानाममृती भवति द्विजः ॥ ६० ॥

इन्द्रियवर्गं संनिरुध्य विषयाप्रवणं कृत्वा तथेन्द्रियाणां विषयोन्मुखत्व-प्रवृत्तिरहितत्वेऽपि तद्विषयगोचररागद्वेषसद्भावेऽमृतीभावानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्योक्तम्—रागद्वेषौ विहाय चेति । तथा च श्रुतिः—

" यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते " इति ॥

तथा—" स्वहेतुकं भूतानां भयमपहृत्यानुत्पाद्य द्विजोऽमृती भवत्यपैवृज्यते " ॥

अत्र च द्विजग्रहणं विवक्षितार्थम् । न ब्राह्मणोपलक्षणार्थम् । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतिः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् " इति ॥ ६० ॥

किं च—

कर्तव्याऽऽशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ॥
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥ ६१ ॥

आशयस्यान्तःकरणस्य शुद्धिरदोषता परमात्मज्ञानोत्पत्त्यर्थमात्मनश्च स्वतन्त्रभावाय रागद्वेषमोहाधीनत्वनिरासरूपा सर्वैराश्रमिभिः कार्या । विशेषतस्तु भिक्षुकेण यतिना ।

अत्रिः—" परः समाधिलाभो हि नाशुद्धैरिह लभ्यते ।
विशुद्धयेऽतः कर्तव्यो भावो ब्रह्म बुभुत्सुभिः ॥
जपेनैं साधयेत्पूर्वं प्राणायामैश्च शक्तितः ।
ततः शुद्धात्मनो ब्रह्म प्रकाशमुपगच्छति ॥
प्राणायामैस्तु संशुद्धो जपेद्ब्रह्म प्रयत्नतः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
प्रणवव्याहृतिमतीं गायत्रीं जपतस्तथा ।
न तस्य कृत्यमस्तीह तस्मिन्सर्वं समाप्यते ॥
अभ्यस्याऽऽत्रयं नप्यं शुद्धभावो द्विजोत्तमः ।
संयम्य चेन्द्रियग्राममतः प्रणवमभ्यसेत् ॥

---

१ ङ. प्रहाय । २ ङ. त्रहत्वा । ३ क. °पव्ययय° । ४ क. °न शोष° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

आनन्दं सर्वगं ब्रह्म कूटस्थं केवलं द्विजः ।
नातः परतरं ब्रह्म नाशुद्धैरिह लभ्यते ॥
अप्यब्दं जप्यमभ्यस्य ततः प्रणवमभ्यसेत् ।
अशुद्धात्मा जपन्नेनः(नं) प्रत्यवैति न संशयः ॥
नामैतद्ब्रह्मणः साक्षात्सर्वस्माद्वीर्यवत्तरम् ।
अनेनोच्चार्यमाणेन ब्रह्माभिमुखतामियात् ॥
अवज्ञातो यथाऽऽचार्यः शुश्रूषुमपि नाशयेत् ।
अनपायोपचारितस्तथैव परमः पुमान् ॥
तेनाविशुद्धोऽश्रद्धालुर्नाभ्यसेत्प्रणवं द्विजः ।
अश्रद्धालुरशुद्धश्च यात्यधोगतिमभ्यसन् ॥
ब्रह्मचर्या तपःशुद्धा नित्यमेकान्तशीलता ।
विषयेष्वस्पृहा स्थैर्यं सर्वभूतदयालुता ॥
क्षमा धृतिः शुचित्वं च निरोधो मनसश्च यः ।
एतैरुपायैः संयुक्तस्ततः प्रणवमभ्यसेत् " ॥

यमः—" यथा पर्वतधातूनां धा(ध्मा)स्यतां दह्यते रजः ।
इन्द्रियाणां तथा दोषं प्राणायामैर्विनिर्दहेत् " ॥ ६१ ॥

संसारवैराग्यादात्मयाथात्म्यं विज्ञानाच्च मुक्तिरुक्ता योगशास्त्रेषु । तत्र वैराग्योपायं तावदाह—

**अवेक्ष्या गर्भवासश्च कर्मजा गतयस्तथा ॥**
**आधयो व्याधयः क्लेशा जरा रूपविपर्ययः ॥ ६२ ॥**
**भवो जातिसहस्रेषु प्रियाप्रियविपर्ययः ॥**

अवेक्ष्यास्तत्त्वतः परिभावनीयाः । गर्भवासेऽत्यन्तसंकटे मातुर्जठरे मूत्रपुरीषपूर्ण उल्बजरायुभ्यां पिण्डैतः[2] सर्वावयवस्य गाढबद्धस्य क्षणमात्रमप्यसह्यां वेदनामनुभवतो दश मासान्यावद्गर्भवासः । तथा जनन्या स्वेच्छया क्रियमाणैराहारविहारविशेषैर्गर्भस्य दुःसहो दुःखनिवहो जन्यत इत्यनुमातव्यम् । प्रसवसमयभाविना च दुःखेन मरणदुःखं न विशिष्यते । तथा पापकर्मजा गतयो नरकेषु पतनानि शास्त्रतो ज्ञेयानि । आधयो दुःखप्रदा मनोव्यापाराः । व्याधयो ज्वरादयः । क्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । जरा

---

१ घ. छ. अनुपा° । २ घ. छ. °वासाच्च क° । ३ क. पिण्डितः ।

वयोवशाच्छरीरजर्जरता । रूपविपर्ययः सुरूपस्य कुरूपता । कुत्सितेषु श्वसूकरादिजातिसहस्रेषु भवो जन्म । प्रियस्यालाभो लब्धस्य नाशोऽप्रियस्य प्राप्तिरविनाशश्चेत्यादयोऽर्था अवेक्ष्यास्तत्त्वतः परिभावनीयाः ।

मनुः—" अवेक्षेत गतीर्नृणां कामदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संप्रयोगं तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥
देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवः ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥
अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥
देहेषु चैवोपपत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ।
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञानमकृतात्मभिः " ॥

यमक्षये यमगृहे ।

शङ्खः—" अशुचित्वशुचित्वस्य प्रियाप्रियविपर्ययान् ।
गर्भवासे च वसतिं पश्येन्मुच्येत नान्यथा " ॥

पश्येदित्यनुवृत्तौ विष्णुः—

" जन्मसमये तु योनिसंकटनिर्गमान्महादुःखानुभवेनं बाल्ये
मोहं गुरुवश्यतामध्ययनादानक्लेशं यौवने च विषया-
प्राप्तौ । अमार्गेण तदवाप्तौ विषयसेवनान्नरकपतनम् " ।

मार्कण्डेयपुराणे—

पुत्र उवाच—" निषेकमार्जे(र्ते)वे स्त्रीणां बीजप्राप्ते रजःस्थितिम् ।
विमुक्तमात्रो नरकात्स्वर्गाद्वाऽपि प्रपद्यते ॥
नाभिभूतं ततः स्थैर्यं याति बीजद्वयं पितः ।
कललत्वं बुद्बुदत्वं ततः पेपि(शी)त्वमेव च ॥
पेश्या यथा तु बीजस्य अङ्कुरादेः समुद्भवः ।
अङ्गानां तद्वदुत्पत्तिः पञ्चानामविभागशः ॥
उपाङ्गान्यङ्गुलीनेत्रनासास्यश्रवणानि च ।
प्ररोहं याति चाङ्गेभ्यस्तद्वत्तेभ्यो नखालकम् ॥

---

१ घ. छ. 'षु मृती' । २ क. °वन् । मार्क° । ३ क. °र्जने स्त्री° । ४ क. °मनुभा° ।

समं स वृद्धिमायाति तेनैवोद्भवकोशकः ।
नालिकेरीफलं यद्वत्सकोशं वृद्धिंमृच्छति ॥
तद्वत्प्रयात्यसौ वृद्धिं स कोशोऽधोमुखस्थितः ।
एवं वृद्धिं क्रमाद्याति जन्तुः स्त्रीगर्भसंस्थितः ॥
तले तु जानुपार्श्वाभ्यां करौ संन्यस्य वर्धते ।
अङ्गुष्ठौ चोपरि न्यस्य जान्वोरग्रे तथाऽङ्गुलीः ॥
जानुपृष्ठे तथा नेत्रे जानुमध्ये च नासिकाम् ।
स्फिजौ(चौ) पार्श्वद्वयस्थौ च जानुमध्ये व्यवस्थितौ ॥
एवं वृद्धिं क्रमाद्याति जन्तुः स्त्रीगर्भसंस्थितः ।
अध्यास्याम्बोदरं जन्तुर्यथारूपं यथास्थिति ॥
काठिन्यमग्निना याति भुक्तपीतेन जीवति ।
पुण्यापुण्याशयमयी स्थितिर्जन्तोस्तथोदरे ॥
नाडिराप्यायनी नाम नाभ्यां तस्य निबध्यते ।
स्त्रीणां तथाऽऽस्यमुशि(षि)रे सा निबद्धोपजायते ॥
क्रामन्ति भुक्तपीतानि स्त्रीणां गर्भोदरे तथा ।
तयाऽऽप्यायितदेहोऽसौ जन्तुर्वृद्धिमुपैति वै ॥
स्मृतिं तत्र प्रयान्त्यस्य बहव्यः संसारभूमयः ।
ततो निर्वेदमायाति पीड्यमानस्ततस्ततः ॥
पुनर्नैवं करिष्यामि मुक्तमात्र इहोदरात् ।
तथा तथा करिष्यामि गर्भं नाऽऽप्स्याम्यहं यथा ॥
इति चिन्तयते स्मृत्वा जन्मदुःखशतानि वै ।
यानि पूर्वानुभूतानि देवभूतात्मजानि वै ।
ततः कालक्रमाज्जन्तुः परिवर्तत्यधोमुखः ।
नवमे दशमे वाऽपि मासि संजायते पुनः ॥
निष्क्रम्यमाणो वातेन प्राजापत्येन पीड्यते ।
निष्क्रम्यते च विलपंस्तदा दुःखेन पीडितः ॥
निष्क्रान्तश्चोदरान्मूर्छामसह्यां प्रतिपद्यते ।
प्राप्नोति चेतनां चासौ वायुस्पर्शसुखान्वितः ॥

---

१ घ. छ. 'द्धिमिच्छ' । २ घ. छ. अप्यास्यास्त्रोद° । ३ घ. छ. 'स्थितिः । का° । ४ घ. छ. °भुक्तिपी° । ५ घ. छ. °डिमप्या° । ६ क शिरसे ।

ततस्तं वैष्णवी माया समास्कन्दति मोहिनी ।
तया विमोहितात्माऽसौ ज्ञानभ्रंशमवाप्नुते " ॥ ६२ ॥

वैराग्योपायमुक्त्वाऽऽत्मज्ञानोपायमाह—

**ध्यानयोगेन संदृश्यः सूक्ष्म आत्माऽऽत्मनि स्थितः ॥६३॥**

ध्यानं च योगश्च ध्यानयोगं, तेनाऽऽत्मा क्षेत्रज्ञः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेय आत्मनि परमात्मनि तादात्म्येन व्यवस्थितः संदृश्यः सम्यग्द्रष्टव्यः । परमात्मैवाहमित्यपरोक्षीकार्यः । ध्यानं परमात्मैवाहमिति चिन्तासंततिः । योगो विषयान्तरेभ्यश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

दक्षः—" वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ॥
सर्वभावविनिर्मुक्तं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ।
एतद्ध्यानं च योगश्च शेषोऽयं ग्रन्थविस्तरः " ॥

पुलस्त्यः—" कुत्र तिष्ठति गोविन्दो बाह्यार्थहृतचेतसाम् ।
तस्मान्निःसङ्गचित्तेन शक्यश्चिन्तयितुं हरिः " ॥

दक्षः—" न मौनमन्त्रकुहकैरनेकैश्च श्रुतैस्तथा ।
लोकयात्राभियुक्तस्य योगो भवति कस्यचित् ॥
अभियोगात्तथाऽभ्यासात्तस्मिन्नेव सुनिश्चयात् ।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिध्यति नान्यथा " ॥

शङ्खः—" प्राग्रात्रापररात्रेषु योगी नित्यमतन्द्रितः ।
ध्यायेत्तु पुरुषं विष्णुं निर्गुणं पञ्चविंशकम् " ॥

तथा—" प्रशान्तात्मा चतुर्विंशत्या तत्त्वैर्व्यतीतं चिन्तयेन्नित्यमतीन्द्रियमगुणं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धातीतं सर्वस्थमतिस्थूलं सर्वगतमतिसूक्ष्मम् । सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः सर्वेन्द्रियशक्तिमेवं ध्यायेत् । संवत्सरेण योगाविर्भावो भवति ।
विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते ।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥
कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं(क्षं) पर्यायेणोपभोजयेत् ॥

---

१ ङ. संपश्येत्सूक्ष्म । २ क. °र्वस्थू' । ३ घ. छ. °ण्याकं शा° । ४ घ. छ. °पयोज° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

महतस्तपसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम् ।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान् ।
निष्प्रचारेण मनसा परं तदधिगच्छति " ॥

दत्तात्रेयः—"निर्वाते विजने स्थाने शुभे चैव मनोरमे ।
निर्जन्तुके निराबाधे शर्करावालुकादिभिः ॥
शब्दादिवर्जिते स्थाने शुभं कृत्वा तु संस्तरम् ।
बध्द्वा सुखासनं तत्र प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ॥
कृत्वा त्रिरुन्नतं देहं सुशमं योगवित्तमः ।
नमस्कृत्य महादेवं महायोगीश्वरं हरिम् ॥
शोधयित्वा पुरा नाडीः प्राणायामांश्चरेत्ततः ।
प्राणायामांश्चरेत्तावद्यावच्चित्तं प्रसीदति " ॥ ६३ ॥

किं च—

**नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ॥**
**अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६४ ॥**

परिव्राजकाश्रमं प्रकृत्येन्द्रियजयरागद्वेषपरित्यागभूताभयदानसंसारवैराग्यध्यानादिना जीवपरयोस्तादात्म्यदर्शनरूपो धर्मोऽमृतीभावहेतुरुक्तः । तत्र धर्मे न चतुर्थाश्रम एव कारणं यस्मादाश्रमान्तरस्थैरपि क्रियमाणः स धर्मो भवेदेव । ततो यः कश्चिदत्र धर्मे प्रवृत्त आत्मनो यदपथ्यं दुःखहेतुस्तत्परेषां भूतानां नाऽऽचरेत् । अनेन च भूतानि प्रत्यभयंकरत्वमुच्यते, तच्च प्रदर्शनार्थम् । तेनामृतीभावहेतव इन्द्रियसंनिरोधादय एव तद्धर्मप्रवृत्तेन कार्याः ।

मनुः—" *भूमितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राऽऽश्रमे वसन् ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् " ॥

अत्रिः—" एवं विंशतितत्त्वज्ञे यत्र तत्राऽऽश्रमे वसेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु मुच्यते नात्र संशयः " ॥

तानि च तत्त्वानि स एवाऽऽह—

" पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चैतानि विजानीयान्महाभूतानि पण्डितः ॥

---

* दूषितोऽपि चरेद्धर्ममिति पाठो मिताक्षरायां स एव समीचीनः ।

---

१ घ. छ. 'रुत्तरं दे° ।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
बुद्धीन्द्रियाणि जानीयात्पञ्चैवास्मिञ्शरीरके ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
इन्द्रियार्थान्विजानीयात्पञ्चैव सततं बुधः ॥
हस्तौ पादावुपस्थश्च जिह्वा पायुस्तथैव च ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव नित्यमस्मिञ्शरीरके ॥
मनो बुद्धिस्तथैवाऽऽत्मा ह्यव्यक्तं च तथैव च ।
इन्द्रियेभ्यः पराणीह चत्वारि कथितानि वै ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि एतानि कथितानि तु ।
तथाऽऽत्मानं त्वद्वितीयं पुरुषं पञ्चविंशकम् " ॥

तथा—" दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वानुमानिकाः ॥
महात्मकाः सहस्राणि दश तिष्ठन्ति विज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य परिसंख्या न विद्यते " ॥ ६४ ॥

**सर्वाश्रमेषु यो धर्मो मोक्षोपायतयोक्तस्तस्य कात्स्न्र्यमाह—**

**सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ॥**
**संयतेन्द्रियता विद्या सर्वधर्म उदीरितः ॥ ६५ ॥**

सत्यं यथार्थवाच्यम् । अस्तेयमचौर्यम् । अक्रोधः क्रोधहेतावपि तद्वर्जनम् । ह्रीरन्यायप्रवृत्तौ लज्जा । शौचं भावशरीरार्थशुद्धिः । धीः कार्याकार्यविवेकः । धृतिरकार्यं प्रति प्रचलितस्य मनसः शुद्धिमुखतया धारणम् । दमः कृच्छ्रादिभिर्मनसो दमनम् । संयतेन्द्रियता वश्येन्द्रियता । विद्याऽऽत्मज्ञानम् । अयं सत्यादिपदार्थवर्गो धर्मः सर्वः कृत्स्न उदीरित उक्तः । अयं च सर्वेषामाश्रमिणां ब्रह्मचार्यादीनां मोक्षमिच्छतां साधारणकार्यतयोच्यते, न प्रातिस्विकवर्णाश्रमधर्मबाधकतया विरोधाभावात् ।

मनुः—" धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

---

१ घ. छ. °ह्यात्मिकाः । २ क. °ष्ठन्ति व्य° । ३ ङ. °द्या धर्मः सर्व उदाहृतः ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

दशलक्षणकं धर्मं येऽधीयेरन्द्विजातयः ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ६५ ॥

जीवः परमात्मैक्येन व्यवस्थितो दृश्य इति तदनुपपन्नम् । तथा हि—यदि जीवपरयोरभेदः कथं स एव दृश्यो द्रष्टा, न ह्येकस्यैकस्यां क्रियायां कर्तृकर्मभावो युज्यते, भेदश्चेत्कथमभेदेन शक्यो द्रष्टुमित्याह—

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः ॥
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ ६६ ॥

यथाऽयोगोलकात्तप्तादग्निवर्णात्सकाशात्स्फुलिङ्गका अग्निकणा निःसरन्ति ततश्च लोहपिण्डात्परस्परतश्च भिन्ना इति गृह्यन्ते, तद्वत्परमात्मनः सकाशादात्मनो जीवाः प्रभवन्ति । आत्मन इति " भुवः प्रभवः " इतिसूत्रविहिता पञ्चमी । यथा हिमवतो गङ्गा प्रभवतीति । तेनायमर्थः—परमात्मनो जीवात्मानः प्रभवन्ति प्रकाशन्त इति परमात्मनश्च तत्प्रकाशनिमित्तत्वात् ।

" तस्य भासा सर्वमिदं विभाति "

इति श्रुतिसिद्धम् । हिशब्दः प्रसिद्धौ । प्रसिद्धं खल्वेतच्छ्रुतितः, श्रुतिश्चेयं—

" यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति " इति ।

अयमर्थः—यथाऽग्नित्वेन विस्फुलिङ्गवर्तिनो लोहपिण्डवर्तिनश्चाग्नेरभेदेऽपि लोहगोलकतदेकदेशरूपोपाधिवशाद्भेदबुद्धिव्यवहारौ भवतः । एवमन्तःकरणरूपोपाधिभेदात्परमात्मनः परस्परतश्च जीवानां भेदः । स्वभाव[त]स्त्वग्निवदभेद एव । तेनौपाधिकभेदाश्रयो ध्यानध्येयभावः । स्वाभाविकभेदापेक्षमैक्यदर्शनमित्यविरोधः ॥ ६६ ॥

ननु यदि जीवः परेणाभिन्नस्तर्हि कथमसौ काम्यानि निषिद्धानि च कर्माणि[2] स्वबन्धहेतूनि कुरुत इत्यत्राऽऽह—

तत्राऽऽत्मा हि स्वयं किंचित्कर्म किंचित्स्वभावतः ॥
करोति किंचिदभ्यासाद्धर्माधर्मोभयाश्रयम्[3] ॥ ६७ ॥

तत्र परमात्मन एवोपहितस्य जीवत्वे स्थिते स जीवत्वमापन्न आत्मा किंचिदौदासीन्यं प्रच्युतिरूपं स्वयं स्वाश्रितं करोति । किंचित्तु यागादिकं

---

१ क. °मात्मन्येव । २ क. °णि सहबन्धे हे । ३ क. °यात्मकम् ।

स्वभावतः करोति । स्व आत्मीयः स्वकीयकर्मार्जितो देहा(ह)भावः स्वभावः । तत्र होमादिकमिदं करिष्य इत्येवमात्मकं मनोरूपं स्वभावत आत्मा करोति । मनोगतो हि यागादिकर्मविशेष आत्मकर्तृकः । न चान्यस्य व्यापारे कथमन्यस्य कर्तृत्वमिति वाच्यम् । दृष्टं हि रथेन गच्छत्यश्वेन गच्छतीति प्रयोगात्प्रतिपत्तेश्च । रथाश्वसमवेतेऽपि गमने रथिनोऽश्ववारस्य च कर्तृत्वम् । तत्र रथाश्वयोः करणत्वमेव तृतीयानिर्देशात् । न कर्तृत्वम् । येन रथप्रभृतेः प्रयोजककर्तृत्वमेव, न स्वतन्त्रकर्तृत्वमुच्यते । तेन बुद्धिशरीरेन्द्रियस्थे कर्मण्यात्मनः स्वतन्त्रं कर्तृत्वं युज्यते । यदीत्थमात्मनां कर्तृत्वं कथं तेषां केचिद्धर्मकारिणः केचिद्वाऽधर्मकारिण इत्यस्योत्तरं—करोति किंचिदभ्यासादिति । येन खलु पूर्वेषु जन्मसु क्रियाऽभ्यस्ता, स उत्तरेष्वपि भवेषु धर्मं करोति । एवमधर्ममपि कश्चित् । ततश्च संस्कारवशात्किंचिदेव कर्म करोति, यथा कश्चिद्दाने रज्यते, कश्चिदध्ययने कश्चित्तपसीति । तथा कश्चित्पैशुन्ये कश्चिद्धिंसायां कश्चित्पारुष्य इति । ततश्चाऽऽत्मनः सर्वज्ञस्याप्यनाद्युपाधियोगनिबन्धनाविद्यावशात्काम्येषु निषिद्धेषु कर्मसु कर्तृतोपपद्यत इति ॥ ६७ ॥

यदि जीवपरयोरभेदः स्वाभाविकस्तर्हि जगत्कारणत्वाव्ययत्वबोद्धृतादयः परमात्मधर्मा जीवेऽपि सन्ति ततश्च कथमसौ जात इत्युच्यत इत्यत्राऽऽह—

**निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धा[1] ब्रह्म गुणी वशी ॥**
**अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते ॥ ६८ ॥**

यद्यप्यजो जन्मरहित एव स्वभावतस्तथाऽपि जन्मवतः शरीरस्य ग्रहणादुपाधित्वेनाऽऽत्मनो(नः) स्वीकारात्तदुपहितेन रूपेण जात इत्युच्यते । तस्याजत्वे प्रमेये निमित्तत्वादिकं प्रमाणतयोपन्यस्य नियतोऽसौ निमित्तं कारणमविशेषात्सर्वस्य कार्यजातस्य, तस्मादजः । न च कार्यस्य सतस्तत्त्वादेरिवास्य जगन्निमित्तता वाच्या । यस्मादक्षरोऽसंभवदवयवविशरणो निरवयवत्वात् । ननु निरवयवस्यापि कारणस्य कर्मणो गुणस्य च विनाशित्वं दृष्टम् । अतः कथमक्षर इत्यत्रोक्तं कर्तेति । कर्ता स्वतन्त्रः । तेन परतन्त्राभ्यां गुणकर्मभ्यामन्यः स्वतन्त्रस्य च निरवयवत्वं नित्यत्वं गमयति । सांख्यपरिकल्पितमव्यक्तमेव जगत्कर्तृ न पुनरात्मेतिनिरासायोक्तं बोद्धेति । विविधभोक्तृभो-

---

१ क. बोध्यत्वाद° । २ क. °द्धा वक्ता वशी गुणी । अ° । घ. छ. °द्धा कर्मवशी गुणी । अ° । ३ घ. छ. तसत्त्वा° । ४ घ. छ. °नाशत्वं ।

गायतनभोगप्रसाधनादिरचनयोपेतं जगत्प्राक्संप्रधार्याव्यक्तं न शक्नुयात्कर्तुमचेतनत्वात् । परमात्मा तु सकलमेव कार्यजातं विमलकरतललुलितामलकफलवदाकलयतीति युक्ता तस्य कर्तृता । न चात्यन्तविततस्य जगतः कथमात्मा कर्तेति वाच्यम् । यस्मादसौ ब्रह्म बृहन्नन्त इत्यर्थः । नच वाच्यमेकाकिनः परमात्मनः स्वरूपतः सहायतश्च विलक्षणस्य कथमिव विलक्षणकार्यजनकत्वमिति । यतः स गुणी, गुणोऽत्र शक्तिः । अविशेषाच्च सर्वप्रकारा गम्यते । ततश्च सर्वप्रकारशक्तिमत्त्वाद्युज्यते तस्य विचित्रकार्यरचनाचतुरत्वम् । ननु च सर्वशक्तिरप्ययं कार्यं कुर्वाणः कुलालादिवत्कारणादिसहकारिकारणकलापमपेक्ष्यैव कर्ता भवेन्न पुनरद्वितीयः । नच जगत्सृष्टेः प्रागयं सद्वितीयः । अतोऽस्य कर्तृत्वमनुपपन्नमित्यस्योत्तरं वशीति । वशी स्वच्छन्दोऽन्यानधीन इति यावत् । अयमभिप्रायः-न तस्य जगत्कर्तृत्वमनुमानगम्यम् । यत्तर्केण बाध्यते । किं तु शास्त्रैकवेद्यं, शास्त्रं च—

" तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः "

इत्यादिकमेकाकिन एव परमात्मनः सकलकार्यकारितामाचष्टे । तस्य च तर्कविरोधः शारीरकमीमांसाभ्यासशालिनामपरिहार एव ॥ ६८ ॥

सह दृष्टान्तेन शरीरग्रहणप्रकारमप्याह—

सर्गादौ स यथाऽऽकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ॥
सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथाऽऽदत्ते भवन्नपि ॥ ६९ ॥

यथा जगत्सृष्ट्यादौ परमात्माऽऽकाशादीनर्थानेकोत्तरगुणान्सृजति । तत्राऽऽकाशस्य शब्द एको गुणः, स च स्पर्शश्च वायोः, तौ च रूपं तेजसः, ते च रसश्चाम्भसः, गन्धः पञ्चमः क्षितेः । एवमाकाशादीनामेकोत्तरगुणता । तान्यथोत्पादयति तथा भवञ्जायमानस्तानेवाऽऽकाशादीञ्शरीरारम्भकतया स्वी कुरुते ॥ ६९ ॥

आकाशादिस्वीकारप्रकारमाह—

आहुत्याऽऽप्यायते सूर्यस्तस्माद्वृष्टिरथौषधिः ॥
तदन्नं रसरूपेण शुक्रत्वमुपगच्छति ॥ ७० ॥
स्त्रीपुंसयोश्च संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ॥
पञ्च धातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ७१ ॥

---

१ क. °हृदन° । २ क. घ. छ. वायुर्ज्योतिर्जलं मही । सृ° ।

आहुत्या च पुरोडाशादिकया यथाविध्यनुष्ठितया सूर्यः सूर्यमण्डलमाप्यायते रसेनोपचितं क्रियते । तस्मात्सूर्यमण्डलाद्वृष्टिः । वृष्टितश्चौषधिव्रीह्यादिः । जात्यभिप्रायकमेकवचनम् । तस्या ओषधेः संबन्ध्योदनाद्यन्नं स्त्रीपुंसाभ्यां समभ्यवहृतं रसलोहितादिपरिणतिपरम्परया शुक्रत्वं बीजत्वं स्त्रीपुंसयोः शरीरे प्रतिपद्यते । तत ऋतुकाले तयोः संयोगे मिथुनीभावे यद्विशुद्धं वातपित्ताद्यनुपहतं शुक्रं शोणितं च परस्परसमाहृतमेकत्वमुपगतम् । तत्र ये नभःप्रभृतयः पञ्च धातवस्तान्युगपदेकदैव शरीरार्थं स्वयं षष्ठ आदत्ते । आत्माऽपि धातुशब्दवाच्य इति ज्ञापयितुं षष्ठग्रहणम् । प्रभुर्जगत्स्वामी । तत्स्वामित्वं चास्य परमात्मांशत्वात् । तदुक्तं श्रीभगवद्गीतासु—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति ॥ ७० ॥ ७१ ॥

किं च—

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ॥
धारणा प्रेरणं दुःखमिच्छाऽहंकार एव च ॥ ७२ ॥
प्रयत्न आकृतिर्वर्णः स्वरद्वेषौ भवाभावौ ॥
तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ७३ ॥

तस्य जीवस्यानादेः शरीरादिमिच्छत इन्द्रियादिकमात्मजमात्मार्जितधर्माधर्मजन्यत्वात् । इन्द्रियाणि बाह्यकरणानि वक्ष्यमाणानि । मनोऽन्तःकरणम् । प्राणः पञ्चवृत्तिः शारीरो वायुः । ज्ञानमवबोधः । आयुः प्राणधारणम् । सुखमाह्लादः । धृतिः शरीरेन्द्रियस्थैर्यम् । धारणा स्मरणशक्तिः । प्रेरणमिन्द्रियाणाम् । दुःखं पीडा । इच्छा रागः । अहंकारोऽभिमानः । प्रयत्न उद्यमः । आकृतिर्जातिः, खरनरतिर्यक्त्वादिशरीरावयवसंस्थानविशेषो वा । वर्णो ब्राह्मणत्वादिर्गौरत्वादिर्वा । स्वरो ध्वनिः, द्वेषोऽप्रीतिः, भवाभावौ विभवतद्विपर्ययौ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

अल्पतरस्यापि शुक्रशोणितस्य महाकार्यारम्भौपयिकक्रममाह—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुर्विमूर्छितः ॥
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः ॥ ७४ ॥

---

१ घ. छ. जीवत्वं । २ क. 'वद्गीता' । ३ क. घ. छ. 'रणा दुः' । ४ घ. छ. 'त्मनः स' । ५ घ. छ. 'स्थान वि' । ६ क. 'ल्पजातस्या' ७ घ. छ. 'रम्भोपयि' ।

पूर्वोक्तः पञ्चभूतात्मको धातुः प्रथमे गर्भमासि संक्लेदभूतः परित्यक्तात्यन्तद्रवत्वाभिमूर्छितो घनावस्थां प्राप्तुमुन्मुखो भवति पय इवाऽऽम्लद्रव्यसंपृक्तम् । द्वितीये तु मासि तच्छुक्रशोणितमर्बुदं भवति, विवृद्धं भवतीत्यर्थः । अर्बुदं विवृद्धमांसात्मको व्याधिविशेषः । तत्सदृशं भवतीत्यर्थः । तृतीये मास्यङ्गैः शिरःप्रभृतिभिरिन्द्रियैरिन्द्रियायतनैः कर्णनयननासिकादिभिर्जिह्वापाण्यादिभिश्च युक्तो भवति । अङ्गेन्द्रियाणामुत्पत्त्यनुकूलसूक्ष्मतरावयवसंस्थित्युपक्रमो भवतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

तृतीये(य) मासगतमेवाऽऽन्तरकार्यान्तरमाह—

आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं शब्दश्रोत्रबलादिकम् ॥
वायोस्तु स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रौक्ष्यमेव च ॥ ७५ ॥
पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपं प्रकाशताम् ॥
रसेभ्यो रसनं शैत्यं स्नेहं क्लेदं समार्दवम् ॥ ७६ ॥
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ॥
आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ७७ ॥

लाघवमगुरुत्वम् । सौक्ष्म्यं शरीरान्तः स्थितस्य स्वेदादेर्बहिर्निर्गमं प्रत्यविरोधकत्वम् । उच्चारणादौ सति शब्दसिद्धिसामर्थ्यम् । श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम् । बलं सामर्थ्यम् । आदिशब्दादत्र्या(त्रा)दिसुषिरपरिग्रहः । एतत्सर्वमाकाशात्तृतीये मास्यजोऽपि जायमाने शरीर आत्मा गृह्णाति । एवं वायोः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं चेष्टां स्पन्दनं व्यूहनमवयवविभागं रौक्ष्यं खरस्पर्शताम् । पित्तात्तेजसस्तु दर्शनं चक्षुरिन्द्रियं पक्तिं भुक्तस्य परिणतिमौष्ण्यं गात्राणां रूपं गौरत्वादि प्रकाशतां कान्तिमत्ताम् । रसेभ्यो जलेभ्यस्तु रसनं रसोपलम्भकमिन्द्रियं शैत्यं गात्रेषु । स्नेहमरूक्षत्वम् । क्लेदमार्द्रत्वम् । भूमेस्तु गन्धं, घ्राणं गन्धग्राहकमिन्द्रियम् । गौरवं भारवत्त्वम् । मूर्तिः काठिन्यम् । एतत्सर्वं तृतीये मास्यात्मा गृहीत्वा चतुर्थे मासि स्पन्दते गात्रं कम्पयतीत्यर्थः । अत्र गर्भोपनिषत्—

" आकाशाच्छ्रोत्रं व्यक्तता सर्वच्छिद्रसमूहः । तथा शौर्यामर्षतैक्ष्ण्यपक्त्यौष्ण्यभ्राजिष्णुतासंतापवर्णरूपेन्द्रियाणि तैजसानि "

॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

---

१ घ. छ. 'मेकान्त' । २ ङ. शब्दं श्रोत्रं ब' । ३ ङ. °काशिता° । ४ क. 'त्रं विविक्त' ।

चतुर्थे मासि गर्भरक्षार्थं यत्कार्यं तदाह—

दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ॥
वैरूप्यं मरणं वाऽपि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥७८॥

गर्भवत्याऽपेक्षितं वस्तु दोहदः, तस्याप्रदानेन गर्भस्य दोषो व्याध्यादिर्विरूपताऽङ्गविकलता मरणं वा स्यात् । एतस्माद्धेतोः स्त्रियाः प्रियं कार्यम् । दोहदो देय इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

किं च—

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ॥
षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च संभवः ॥ ७९ ॥

चतुर्थे गर्भमासे गर्भाङ्गानां(णां) शिरःप्रभृतीनां दार्ढ्यं भवति । पञ्चमे तु शोणितोद्भवः । शोणितस्य रक्तस्योद्भवः । बलवर्णनखतनूरुहाणां षष्ठे मासि संभवो वेदितव्यः ॥ ७९ ॥

किं च—

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्नायुशिरायुतः ॥
सप्तमे वाऽष्टमे वाऽपि त्वङ्मांसस्मृतिमानपि ॥ ८० ॥

मनसाऽन्तःकरणेन चैतन्येन विषयप्रकाशेन नाडीभिर्द(र्ध)मनीप्रभृतिभिः स्नायुभिरस्थिबन्धनैः शिराभिः सकलशरीरनिबन्धनीभी रज्जुतुल्याभिर्युतः सप्तमे मास्यसौ गर्भो भवति । अष्टमे त्वचा मांसेन स्मृत्या चोपेतो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ८० ॥

अपि च—

पुनर्गर्भे पुनर्धात्रीमोजस्तस्य प्रधावति ॥
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८१ ॥

गर्भस्याष्टमे मास्योजो जीवनहेतुर्बलं धात्रीं नाभिमाप्यायिकां गर्भं च प्रति धावति । अत एवाष्टमे मासि जातः प्राणी न चिरं जीवति ॥ ८१ ॥

नवमे दशमे[२] मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः ॥
निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ॥ ८२ ॥

---

१ क. गर्भदो' । २ ङ. °मे वाऽपि प्र° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

नवमे दशमे मासि प्रबलैर्बलवत्तरैः प्रसवहेतुभिर्वातैर्यन्त्रच्छिद्रेण योनिद्वारेण निःसार्यते प्रेर्यते बाण इवास्वतन्त्रः । तस्यां दशायां जातो जन्तुर्ज्वरवान्भवति, निरतिशयदुःखातिशयवशात् ॥ ८२ ॥

अथ शरीरं निरूपयति—

तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचं धारयन्ति च ॥
षडङ्गानि तथाऽस्थीनि सह षष्ट्या शतत्रयम् ॥८३॥

जरायुजमण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जमातिवाहिकं यातनार्थीयमिति षट्प्रकाराणि तस्य जीवस्य शरीराणि, तानि षडपि त्वचं धारयन्ति । षण्णां त्वगेव नियता, अन्यद्वक्ष्यमाणं षडङ्गत्वादिकमनियतमिति ज्ञापयितुं पुनः षड्ग्रहणम् । अण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां षडङ्गत्वाद्यभावात् । षडङ्गानीत्यादिना मनुष्यशरीरमेव निरूपयति । अत एव वक्ष्यति—

" इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ " इति ।

शिरः पाणी पादौ मध्यकाय इति षडङ्गानि । अस्थीनि च षष्ट्यधिकशतत्रयसंख्याकानि मनुष्यशरीरं धारयतीति बहुवचनान्तमपि संबन्धवशादेकवचनान्ततया विपरिणमनीयम् ॥ ८३ ॥

उक्तामस्थिसंख्यामुपपादयितुमाह—

स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ॥
पाणिपादशलाकाश्च तासां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८४ ॥

दन्ता द्वात्रिंशत् । द्वात्रिंशदेव तेषां स्थालसंज्ञकायतनास्थीनि । एवं सस्थाला दन्ताश्चतुःषष्टिर्भवन्ति । स्थालैरिति विस्पष्टार्थः पाठः, स्थालास्थिभिः सहेत्यर्थः । नखाश्च विंशतिः । तासां च शलाकानां स्थानमस्थिचतुष्टयम् । एवमष्टोत्तरास्थिशतम् ॥ ८४ ॥

षष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पाष्ण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ॥
चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु ॥ ८५ ॥

एकैकस्यामङ्गुल्यामस्थित्रयं ततश्च सर्वासामङ्गुलीनां षष्टिरस्थीनि । पादयोः पश्चिमौ भागौ पाष्णी, तयोरस्थिद्वयम् । जङ्घापाष्ण्योः संधिप्रदेशावन्तर्बहिरवस्थितौ । एकत्र पादे गुल्फौ । ततश्च पादयोर्गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि । अर-

---

१ ङ. 'त्वचो धा'। २ ङ. °थाऽस्थ्नां च स'। ३ क. °तू । तेषामेव च स्थालसंज्ञकानि द्वात्रिंशदाय° ।

त्रिरेवारत्निकः । यद्यप्यरत्निशब्दो बाहुग्र एव वर्तते, तथाऽप्यत्रास्थिचतुष्टय-संख्यासंपत्त्यर्थं प्रयुज्यमानः समग्रमेव हस्तमाह । एवमरत्निकास्थीनि चत्वारि भवन्ति । जङ्घाशब्दोऽप्यत्र समस्तपादवचनः । तथा च जङ्घयोरपि चत्वार्येवास्थीनि । एषा चतुःसप्ततिः पूर्वेणाष्टशतेन सह द्वाशीतं(ग्र्यशीति)शतम् ॥८५॥

किं च—

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ॥
अक्षतालूषके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८६ ॥

जानुनी जङ्घोरुसंधी । कपोलौ गल्लौ । ऊरू सक्थिनी, ते च फलकाकारे । अंसौ बाहुमूले । तथा—अक्षतालूषके नेत्रप्रान्तास्थिनी, श्रोणीफलके जङ्घास्पष्टमध्यदेशौ । एतत्समुद्भवे प्रत्यभिधानं द्वे द्वे अस्थिनी । एवंविधया संख्यया सह चतुर्नवत्यधिकं शतम् ॥ ८६ ॥

किं च—

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥
ग्रीवा पञ्चदशास्थीनि जत्रवेकं च तथा हनुः ॥ ८७ ॥

भगास्थि उपस्थास्थ्येकम् । पृष्ठे पञ्चचत्वारिंशत् । ग्रीवायां पञ्चदश । जत्रुणि उरोंसयोः संधावेकम् । हनुश्चिबुकं तदप्येकास्थि । सैषा त्रिषष्टिः पूर्वया संख्यया सह शतद्वयं सप्तपञ्चाशदधिकम् ॥ ८७ ॥

किं च—

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगंण्डे नासा घनास्थिका ॥
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८८ ॥

तन्मूले हनुमूले द्वे अस्थिनी, तथा ललाटास्थ्येकं, तथाऽक्ष्णोर्द्वे, गण्डयोर्द्वे, कपोलाक्षिमध्यप्रदेशौ गण्डौ । नासा घनसंज्ञकेनास्थ्ना वेदितव्या । तेनैतदस्थ्येकं, पार्श्वका वङ्क्रयस्ताः स्थालकैरर्बुदसंज्ञकैश्चास्थिभिः सार्धं द्वासप्ततिः । पूर्वैरष्टाभिः सार्धमशीतिः । पूर्वसंख्यया सह सप्तत्रिंशदधिकं शतत्रयम् ॥ ८८ ॥

किं च—

द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ॥
उरःसप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ८९ ॥

भ्रूकर्णमध्यप्रदेशकौ शङ्खकौ नामास्थिनी शिरःसंबन्धीनि कपालाकाराणि

---

१ ङ. °शास्थिः स्याज्जत्रवे° । २ क. घ. छ. °गण्डना° ।

चत्वारि । यत्तु " नवकपालं वै शिरः " इति श्रुतिवचनम् । तत्र शिरःशब्दः समुखे शिरसि वर्तते । अत्र तु मुखरहिते, तेनाविरोधः । उरो वक्षस्तस्य सप्तदश, तथा त्रयोविंशतिः पूर्वसंख्योपेताः षष्ट्यधिकं शतत्रयम् । एवं पुरुषस्य मनुष्यशरीरस्य शरीराणामस्थिसंख्यासंग्रहः ॥ ८९ ॥

शरीरं निरूप्येन्द्रियाणि निरूपणीयानि शरीरायत्तत्वात्तेषाम् । तानि चातीन्द्रियाणीति नासिकाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिगन्धाद्यनुभवबलेन कल्प्यानि । अतो विषयनिरूपणमुखेन नासिकादिशब्दलक्षणीयतया घ्राणादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्याह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ॥
नासिकालोचने जिह्वा त्वक्श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥९०॥

गन्धादयो विषयास्तद्ग्राहकाणि नासिकाद्यधिष्ठानानि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च वेदितव्यानीति तात्पर्यार्थः । विषयशब्दप्रयोगाच्च गन्धादीनां नियतो ग्राह्यभाव इति गमयति । अन्य(नन्य)त्रभावे(वो) हि विषयशब्दः प्रयुज्यते, तेन गन्धमेव यत्साक्षात्कारयति नासिकाधिष्ठानं तदेकमिन्द्रियम् । तथा चान्वर्थो जिघ्रत्यनेनेति व्युत्पत्त्या घ्राणशब्दः । एवं गुणानां मध्ये रूपस्यैव साक्षात्कारनिमित्तं नयनायतनमपरमिन्द्रियम् । चष्टेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तत्र चक्षुःशब्दः प्रयुज्यते । तथा रसं प्रत्येकं कारणं जिह्वायतनं रसनेन्द्रियमिन्द्रियान्तरेभ्योऽन्यत् । एवमेव स्पर्शमात्रोपलम्भहेतुस्त्वगायतनं स्पर्शनम् । तथैव शब्दैकग्राहकं श्रोत्रम् ॥ ९० ॥

जातस्य शरीरिणः प्राग्ज्ञानेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते, ततः कर्मेन्द्रियाणीति ज्ञानेन्द्रियेभ्यः पश्चात्कर्मेन्द्रियाण्याह—

हस्तौ पायुरुपस्थश्च जिह्वा पादौ च पञ्च च ॥
कर्मेन्द्रियाणि जानीत मनश्चैवोभयात्मकम् ॥ ९१ ॥

हस्ताद्यधिष्ठानानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि कर्मसिद्ध्या कल्प्यमानानि कर्मेन्द्रियाणि । तत्राऽऽदानलक्षणस्यैव कर्मणः कारणं हस्ताधिष्ठानं हस्तशब्दवाच्यमेवैकमिन्द्रियम् । अपरं तु मूत्रपुरीषविसर्गकर्मकरणतयोन्नेयं पाय्वधिष्ठानं तच्छब्दलक्षणीयम् । तृतीयं तु शुक्रशोणितविसर्गोपलक्षितानन्दविशेषकरणमुप-

---

१ क. 'नुभावेन । २ क. 'न्धरूपमेव यः साक्षात्करोति । ३ घ. छ. तत्र चा' । ४ क. करणं । ५ ङ. 'पस्थं च जि' । ६ ङ. 'नीयान्मन' । ७ घ. तत्र दा° । ८ घ. °गैकारणतयोपात्तं पा' । ९ क. 'पकार' ।

स्थशब्दवाच्यं प्रजननायतनमुपस्थशब्देनैवेति लक्ष्यते । अपरं तु गतिरूपकर्मकारणं पाददयाधिष्ठानं पादाविति लक्ष्यते । व्याहारकरणं तु जिह्वायतनत्वाज्जिह्वाशब्दलक्ष्यमिन्द्रियम् । उन्मेषनिमेषात्मकं कर्म नेन्द्रियविशेषकल्पकं वायुमात्रसाध्यत्वात् । दृष्टं हि वनस्पतिपर्णादौ तथाविधं कर्म वायुसाध्यम् । मनश्चान्तःकरणं तच्चोभयात्मकं ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकम् । हे मुनयो जानीत, अन्यविषये मनसि न घ्राणादिकं नापि हस्तादिकं स्वकार्यपर्याप्तं भवतीति ।

मनुः—" श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थौ हस्तपादौ वाक्चैव दशमी स्मृता ॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गुणौ " ॥ ९१ ॥

इन्द्रियाणामायतनान्युक्तानि प्राणस्य कोष्ठ्यस्य पञ्चवृत्तेर्वायोरायतनानि तज्ज्ञयार्थमिदानीमाह—

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ॥
मूर्धा सकण्ठहृदयः प्राणस्याऽऽयतनानि तु ॥ ९२ ॥

नाभ्यादीनि प्राणस्याऽऽयतनानि स्थानान्येष्वायतमानः प्राणः स्वकार्यं करोति । तस्मात्तं वशीकर्तुमेषु स्थानेषु धारयेत् । ओजो नाम हृदयकमलवर्ति द्रवं किंचिद्द्रव्यम् । प्रसिद्धमन्यत् ॥ ९२ ॥

प्रपञ्चेन जठरावयवानाह—

वपा वसाऽवहननं नाभिः क्लोम यकृत्प्लिहा ॥
क्षुद्रान्त्रं वृक्कको बस्तिः पुरीषाधानमेव च ॥ ९३ ॥
आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुदमेव च ॥
उत्तरौ च गुदौ कोष्ठौ(ष्ठ्यौ) विस्तरोऽयमुदाहृतः॥९४॥

वपादिगणोऽर्थगणः प्राणायतनविस्तारत्वेनोदाहृतः । वपावसे प्रसिद्धे । अवहननं यल्लौकिकैः पुप्फुस इति कीर्त्यते । क्लोम सदृकं याज्ञिकप्रसिद्धम् । यकृत्प्लीहवस्तय आयुर्वेदे प्रसिद्धाः । क्षुद्रान्त्रं सूक्ष्मान्त्रम् । पुरीषाधानं पक्वाशयः ।

---

१ क. ° रकार° । २ ङ. मूर्धासकण्ठं हृदयं प्रा° । ३ क. ङ. °दमेव ।

अपक्वस्थानमामाशयः। बाह्याद्बुदमण्डलादन्तर्व्यवस्थितं मण्डलद्वयमुत्तरौ गुदौ। एष कोष्ठ्यो जाठरो विस्तार उक्तः ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

अधुना सकलं शरीरं प्रपञ्चेनाऽऽह—

कनीनिके चाक्षिकूटे शष्कुली कर्णपुत्रकौ ॥
कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तावेष्टावोष्ठौ कुकुन्दरे ॥ ९५ ॥
वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातकौ स्तनौ ॥
उपजिह्वास्फिजौ(चौ) बाहू जङ्घोरुषु च पिण्डिकाः ॥९६॥
तालूदरं बस्तिशीर्षं चिबुकं गलशुण्डिके ॥
अवटुश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ९७ ॥

कनीनिके नेत्रतारे। अक्षिकूटे पक्ष्मणी। शष्कुली कर्णशष्कुली। कर्णपुत्रकौ कर्णशङ्कू। दन्तावेष्टौ दन्तपाल्यौ। कुकुन्दरे नितम्बकूपकौ। वङ्क्षणौ जघनोरुसंधी। वृक्कौ मांसपिण्डौ तौ च श्लेष्मसंघातटौ(कौ)। उपजिह्वा प्रतिजिह्वा। स्फिजौ(चौ) कटी। जङ्घयोरूर्वोश्च व्यवस्थिताः पिण्डाकारा मांसपिण्डिकाः। उदरं कोष्ठसुषिरम्। चिबुकं हनुः। गलशुण्डिके कण्ठावयवविशेषौ। अवटुः शारीरं छिद्रम्। प्रसिद्धमन्यत्। शरीरमेव शरीरकम्। तत्रैतानि स्थानानि स्थितिनिमित्तानि ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

+अक्षिवर्त्मचतुष्कं च पद्भ्स्तद्धृदयानि च ॥
नव च्छिद्राणि तान्येव प्राणस्याऽऽयतनानि तु ॥९८॥

अक्ष्णोर्वर्त्मचतुष्कं शुक्ले द्वे कृष्णे द्वे मण्डले चैवं चतुष्कम्। पादौ हस्तौ च हृदयम्। यानि च नव च्छिद्राणि गुदं प्रजननमास्यं नासिके अक्षिणी कर्णावित्येतानि च प्राणायतनानि ॥ ९८ ॥

तथा—

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ॥
धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ ९९ ॥

---

+ अक्षिवर्णचतुष्कं चेति पाठो मिताक्षरायाम्।

---

१ ङ. °र्णपत्र°। २ ङ. कक्कुन्दरे। ३ ङ. °तजौ स्त°। ४ °° ङ. °ण्डिका। ता°। ५ क. घ. छ. °था–सिराः।

शिरा वातपित्तश्लेष्मवहा नाड्यः । तासां नाभिसमुद्भूतानां सर्वतः सकलशरीरव्यापिनीनां प्रधानभूतानां सप्त शतानि । यास्तु पलाशपर्णतन्तुवच्छिराभ्योऽन्याः शिराः प्रवृत्तास्ता अनन्तास्तथा स्नायूनामस्थिसंबन्धबन्धनहेतूनां नव शतानि, धमनीनां तु वायुप्रवाहिनीनां नाडीनां द्वे शते । पेशीनां क्षुद्ररूपमांसपिण्डानां पञ्च शतानि भवन्ति ॥ ९९ ॥

स्थूलधमनीनामुक्ता संख्या, इदानीं क्षुद्रधमनीनामाह—

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ॥
षट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ॥ १०० ॥

धमनिसंज्ञिताः शिराः षट्पञ्चाशदधिकनवशतसहितान्येकोनत्रिंशल्लक्षाणि नव शतानि षट्पञ्चाशच्च धमन्यः ॥ १०० ॥

किं च—

त्रयो लक्षाश्च विज्ञेयाः केशश्मश्रु शरीरिणाम् ॥
सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०१ ॥
रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्चतस्रः कोट्य एव च ॥
सप्तषष्टिस्तथा लक्षाः सार्धाः स्वेदायनैः सह ॥१०२॥
वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ताः परमाणवः ॥
यद्यप्येकोऽनुवेदैषां भावानां चैव संस्थितिम् ॥१०३॥

केशाश्च श्मश्रूणि च केशश्मश्रु तस्य त्रयो लक्षा ज्ञेयाः । तस्येत्यध्याहार्यम् । तथा मर्मणां सप्तोत्तरं शतं वेदितव्यम् । यत्र हतो म्रियते स देहप्रदेशो मर्म । अस्थिसंधीनां द्वे शते ज्ञेये । रोम्णां स्वेदायनानां च मिलितानां चतुष्पञ्चाशत्कोट्यो लक्षाणां च सप्तषष्टिर्लक्षार्धं च ज्ञेयम् । स्वेदायनं स्वेदद्वारम् । एतानि स्वेदायनानि वायवीयैः परमाणुभिस्त्रसरेणुषष्ठांशैर्विभक्ताः शरीरपरमाणव इति प्रत्येकं परिमाणतो ज्ञेयानि । परमाणुपरिमितमेकैकं स्वेदायनमित्यर्थः । ततश्चास्मदीयप्रत्यक्षायोग्यत्वात्तदस्माभिर्नोपलक्ष्यते न पुनरसत्त्वात् । एषां सि(शि)रादिभावानामुक्तसंख्यासंस्थितिं यद्येकोऽपि योगीश्वरो योगप्रभावादनुवेद जानाति, न सर्वलोकः, तथाऽप्यसौ मान्या तत्संवेदनस्य

---

१ क. °णि । षं । २ ङ. °याः श्मश्रुकेशाः श° । ३ क. घ. छ. लक्षा रोम्णां स्वे° । ४ घ. छ. मर्माणां । ५ घ. छ. मर्मः । ६ घ. छ. मत्या ।

प्रमाणत्वात् । एवं च वदता मयैतद्योगबलेन विदितमिति मूर्खे प्रमाणमावेदितं भवति ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

किं च—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ॥
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०४ ॥
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं च चत्वारो मूत्रमेव च ॥
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो[2] मज्जैकोऽर्ध तु मस्तके ॥१०५॥
श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव च ॥

भुक्तस्यान्नस्य साररूपः परिणामो रसस्तस्याञ्जलयो नव विज्ञेयाः । शरीरारम्भ[क]पार्थिवद्रव्यानुग्राहकस्य जलस्य दश । पुरीषस्य सप्त । अष्टौ रक्तस्य । श्लेष्मणः षट् । पित्तस्य पञ्च । मूत्रस्य चत्वारः । वसायाः शरीरस्नेहस्य त्रयः । मेदसो मांसाभ्यन्तरवर्तिनो धातुविशेषस्य द्वौ । अस्थिमध्यस्थधातुविशेषस्य मज्जासंज्ञकस्यैकः । अर्धाञ्जलिर्मस्तके । श्लेष्मण ओजसस्तावदेवाञ्जल्यर्धमेव । हृदयवर्ती जीवनहेतुर्द्रव्यविशेष ओजः । रेतसोऽप्यञ्जल्यर्धमेव ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

कृतस्य शरीरनिरूपणस्य प्रयोजनमाह—

इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०६ ॥

एवमेतद्वर्ष्म शरीरमस्थिरं यस्य पुरुषविशेषस्य मोक्षाय संपद्यते स कृती पण्डितः । अस्थिरेणापि शरीरेण मोक्षः साध्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १०६ ॥

एवं नित्यात्मनः शरीरस्य विवेकार्थमनित्यत्वमुक्तम् । अधुनोक्तायां परमात्माभिन्नक्षेत्रज्ञोपासनायामसमर्थं प्रति प्रकारान्तरेणाऽऽत्मोपासनामाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ॥
+हिता नाम हि ता नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥१०७॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ॥
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०८ ॥

---

+ मिताक्षरायां त्वन्यः पाठ उपलभ्यते स यथा—"हिताहिता नाम नाड्यः" इति ।

---

१ घ. मूर्खे । २ घ. छ मेदो मं । ३ घ. छ 'कार्थं नि' । ४ घ. छ. नामा हि ।

या हृदयकमलप्रदेशादभिनिःसृता ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्प्रवृत्तास्ता हितासंज्ञिता द्वासप्ततिसहस्रसंख्याका नाड्यः। हि प्रसिद्धौ। तासां नाडीनां मध्ये हृदयाकाशे शशिप्रभं चन्द्रतुल्यमण्डलं तस्य मध्य आत्मा निश्चलो दीप इव स्थितो यः स ज्ञेयः साक्षात्कार्यः। दीप इवेति वदतोऽयमभिप्रायः—यथा दीपो दीपान्तरमन्तरेणैव स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च चक्षुर्विषयमेवमात्माऽपि सर्वस्य प्रकाशकः प्रकाशकान्तरमन्तरेण स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च सकलवस्तुजातमिति। एतमात्मानं विदित्वा साक्षात्कृत्येह संसारे पुनर्न जायते। आत्यन्तिकः शरीरच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अपवर्गहेतुतयोक्तं परमात्मज्ञानं प्रत्युपायमाह—

**ज्ञेयं चाऽऽरण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ॥**
**योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ १०९ ॥**

यदादित्यादारण्यकमधीतवान्, यच्च मया योगशास्त्रं प्रणीतम्, तदुभयं योगं प्राप्तुकामेनार्थतो ज्ञेयम्। प्रदर्शनार्थं चैतत्। तेनान्यानप्युपनिषद्योगशास्त्राणि ज्ञेयान्येव। अरण्याध्येयं ब्रह्माऽऽरण्यकं, जीवपरमात्मनोरभेदविज्ञानं विषयान्तरासंभिन्नं[3] योगः। तथा च विष्णुपुराणम्—

" आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते " ॥

देवलः—" विषयेभ्यो निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः "।

दक्षः—" वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञः परमात्मनि।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते " ॥

उक्तं योगशास्त्रं मत्प्रोक्तमित्यस्योपलक्षकत्वं, तत्र यान्युपलक्षणीयानि तानि कानिचित्के(ल्ले)शतो निर्दिश्यन्ते। तत्र देवलः—

" अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः।
देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः—अभ्युदयो निःश्रेयसमिति।
तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविधं निःश्रेयसम्—सांख्ययोगाविति। पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। विषयेभ्यो
निवर्त्याभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्था[प]नं योगः। उभयत्रापव-

---

१ क. °न्तरं विनैव स्वयं प्रकाशते प्रकाशयति च सकलं वस्तुजातं तथाऽयमात्मेति। ए°।
२ घ. छ. °ज्ञानवि°। ३ घ. छ °भिन्नयो°। ४ घ. छ. °लमापे°।

र्ग(गः)फलम् । जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताभावोऽपवर्गः । एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते । तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः । सप्त प्रकृतिविकृतयः । पञ्च तन्मात्राणि । षोडश विकाराः । पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि । अर्थाश्च(श्च) पञ्चभूतविशेषाः । त्रयोदश करणानि । त्रीण्यन्तःकरणानि । चतस्रश्चतस्रो मातृजाः पितृजाश्च कोशाः । पञ्च वायुविशेषाः । त्रयो गुणाः । त्रिविधो बन्धः । त्रयो बन्धहेतवः । द्वौ बन्धरागौ । त्रीणि प्रमाणानि । त्रिविधं दुःखम् । चतुर्विधः प्रत्ययसर्गः । तथा द्विविधः सर्गः । तथा विपर्ययः पञ्चविधः । अशक्तिरष्टाविंशतिविधा । तुष्टिर्नवविधा । सिद्धिरष्टविधेति प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत् ।

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वं परार्थमन्यत्वमथो* निवृत्तिः ।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य +च शेषवृत्तिः ॥

इति दश मूलिकार्थाः । अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तमहानहंकारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः । शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रसतन्मात्रं रूपतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि । द्विविधानीन्द्रियाणि । भूतविशेषाश्च विकाराः । चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि । रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः । वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि । भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्ग आनन्द एषां कर्माणि । वायवग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः । दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि । तेषु मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि । दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि च गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानमित्यनर्थान्तरम् । अध्यवसायलक्षणो

---

* तत्त्वसमासग्रन्थे परार्थमन्यत्त्वमकर्तृता चेत्युपलभ्यते पाठः । + तत्त्वसमासग्रन्थे विशेषवृत्तिरिति पाठस्तद्व्याख्याऽपि तत्रोपलभ्यते ।

---

१ क. °यसर्गः । त°।

महान्बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम् । अभिमानलक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम् । न[1] पूर्वपूर्विका प्रकृतिः । प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहंकारः । अहंकारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः । यो यस्मादुत्पद्यते स तस्मिँल्लीयत इति वाऽप्ययं(य)क्रमः " ।

यमः—" मनो बुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः ।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे ॥
श्रोत्राक्षिरसनघ्राणत्वचः संकल्प एव च ।
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धवाक्पाणिपायवः ॥
पादावुपस्थ इति ते विकाराः षोडश स्मृताः ।
चतुर्विंशकमित्येतज्ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥
पञ्चविंशकमव्यक्तं षड्विंशः पुरुषोत्तमः ।
एतज्ज्ञात्वा तु मुच्यन्ते यतयः शान्तबुद्धयः ॥
पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र यत्राऽऽश्रमे रतः ।
प्रकृतिज्ञो विकारज्ञो याति विष्णोः परं पदम् " इति ॥१०९॥

यदध्येयमुक्तं तत्प्रयोगकथनायाऽऽह—

**अनन्यविषय कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ॥**
**ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥११०॥**

अन्तःकरणसामग्र्यैकत्र स्पष्टीकृतः संकल्पादिदर्शनात्सर्वव्यापित्वे सत्यपि। यथा वह्नेः सकलकाष्ठव्यापित्वे सति यत्रैव मथनादिसामग्री भवति, तत्र स्पष्ट मुपलभ्यते । ध्येयोऽसावात्मा पूर्वोक्तफलसिद्ध्यर्थम् । कथम् । अनन्यविषयं कृत्वा । किं, मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियं, विषयान्तरत्वनिषेधेनाऽऽत्मविषयत्वप्रतिपत्त्यर्थमनन्यविषयग्रहणम्। अन्यथाऽऽत्मनो विषयत्वनिषेधेन तध्यानानुपपत्तिः । नहि निर्विषयं मनः प्रवर्तते नापि बुद्धिस्मृती, स्मृतेरनुभूतविषयत्वात् । न चेन्द्रियस्याविषयत्वे संवेदनम् । तस्मान्नैवाऽऽत्मनि विषयता निषिध्यते । तेन यदपि पा(प)तञ्जलिनोक्तम्—" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः " इति, तदप्यनेनैवाभिप्रायेणेतरथाऽपि चित्तवृत्तेरभाव इत्यभिलषितासिद्धिः समुच्छिन्नाकारत्वात् ।

---

१ क. न सर्वपूर्वि° । २ क. °रनि° । ३ क. °त्मवि° ।

अत एव " तदा द्रष्टुः स्वरूपेणावस्थानम् " इति तेनैवोक्तम् । अमुनैवाभिप्रायेण गीतासूक्तम्—

" शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् " इति ॥

तेषां चेन्द्रियाणां बहिर्विषयावभाससंकोचनानन्यविषयत्वं यदैव कृतं तदैवाभ्यन्तरविषयप्रवणता भवति । यथा यदा प्रदीपस्य रश्मयो बहिर्मुखा भवन्ति तदा घटादेः प्रकाशं कुर्वन्ति । यदा पुनः शरावसंपुटनिरुद्धप्रसरास्तदाऽऽत्मन्येव व्यवस्थानं कुर्वन्ति । एवमेवान्धकारे व्यवस्थितस्यैकाकिनो बहिर्मुखावभासनिरोधेन स्वचैतन्यमात्रेऽवस्थानम् । अत एवाऽऽरण्यके " शान्तायां वाचि किंज्योतिः " इति प्रश्ने कृते "आत्मज्योतिः" इत्येतदुत्तरम् । एवमेतदात्मज्ञानं यद्विषयतिरस्कारेणाऽऽत्मचैतन्यव्यवस्थानादन्त्यस्य चिन्मात्ररूपत्वात् । अत एव "तदिदमनल्पमह्रस्वमदीर्घमरसमगन्धमरूपमस्पर्शम्" इत्याद्यारण्यकेऽभिहितम् । ननु सर्व एव स्वं चैतन्यं समनुभवत्यहं पश्यामीत्युपदेशानर्थक्यं, सत्यं, यद्येतावन्मात्रं ज्ञेयं यावता विषयान्तरशून्यस्वचैतन्यावस्था निष्प्रकम्पा यावदिच्छ(ष्ट)कर्तृकरणकारकशून्या कार्या । अत एव—

" यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता "

इति । अतश्च प्राणायामध्यानप्रत्याहारधारणातर्कसमाधिभिः क्रियते । तत्रोक्तलक्षणैः प्राणायामैरिन्द्रियाणां दोषा निराक्रियन्ते । यथा—

" दह्यन्ते ध्या(ध्मा)यमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् " इति ॥

ततो ध्यानमात्मानुस्मरणं, ततो मनसश्चञ्चलत्वाद्विषयं विषयं प्रति प्रवृत्तस्याऽऽहरणं प्रत्याहारः । गीतास्वपि—

" यतो यतो निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतच्छनकैर्वशमानयेत् " इति ॥

एतच्च मनसो दुर्ग्रहत्वादिन्द्रियमूलत्वाच्चोच्यते—

" चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् " इति ॥

पुनः पुनराहृत्याऽऽत्मनि धार्यत इति धारणा । एते च पृथक्फलाः ।

---

१ घ. छ. °स्थानं त्यस्य । २ क. यदेता' ।

यथा—" प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् " इति ॥

अनीश्वरा गुणा रागद्वेषादयः । ततो मनोबुद्धिपरित्यागेनाऽऽत्मनि विमर्शस्तर्कः ।

" यदाऽऽत्मव्यतिरिक्तेन द्वितीयं नैव पश्यति ।
ब्रह्मभूतस्तदा शान्तः सुखमत्यन्तमश्नुते " इति ॥

ततः सकलविदितवेद्यस्याऽऽत्मनः सम्यगाधानमप्रकम्पतया समाधिरुच्यते । अत एव—

" प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते "

इति स्मर्यते ॥ ११० ॥

यस्य पुनरस्मिन्सवितर्के समाधौ निरालम्बनतया बहिर्मुखावभासतिरस्कारेण चित्तवृत्तिर्नाभिरमते तस्य शब्दब्रह्मोपासनेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासात्परब्रह्माधिगमोपायमाह—

*यथावधानेन पठन्साम गायत्यविस्वरम् ॥
सावधानस्तथाऽभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १११ ॥

अवधानेनैकाग्रचित्ततया साम पठन्नधीयानोऽविस्वरमविरुद्धस्वरं यथा गायति तथा सावधानो ब्रह्मज्ञानमभ्यस्यन्परं ब्रह्म परमात्मानमधिगच्छति वेत्ति ॥ १११ ॥

ब्रह्मज्ञानाभ्यासोपायविशेषमाह—

अपरान्तिकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ॥
त्रैवेणुकं सुराबिन्दमुत्तरं गीतकानि तु ॥ ११२ ॥
ऋग्गाथाः पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिकाः ॥
गायन्नेतत्तदभ्यासकारणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११३ ॥

---

* एतदर्धस्थानेऽयं पाठो ङ. पुस्तके—"यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् " इति ॥

---

१ घ. छ. °ल्बिषान् । प्र° । २ क °वेदस्याऽऽ° । ३ क. °भ्यासे विशेषोपायमा° । ४ घ. ङ. छ. °रान्तक° । ५ ङ. °था । ओवैणकं सरोविदुमु° । ६ क. °गाथाऽपणि° । ७ ङ. °तिका । गेयमेत° । ८ ङ. °सकर° ।

अपरान्तिकादयो भारतशास्त्रोक्ता गीतप्रकारविशेषा ब्रह्मज्ञानाभ्यासहेतोर्गेयाः । एतेषु गीयमानेषु नादस्य यत उदयो यत्र च लयस्तदवगन्तव्यम् । तदेव ब्रह्म । ततश्च तज्ज्ञानाभ्यासाय ते गेया इति युज्यते वक्तुम् ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

अपि च—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ॥
तालज्ञश्चाप्रयत्नेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥ ११४ ॥

वीणा वाद्यविशेषः । तद्वादनतत्त्वज्ञो भारतशास्त्रोक्तेन मार्गेण तालं तत्त्वतो यो वेत्ति, *तथा श्रुतिषु गीतशास्त्रोक्तस्वरूपासु जातिषु तच्छास्त्रोक्तास्वेव विशारदः प्रवीणः । तथा गन्धर्ववेदोक्तमार्गेण तालं तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽनायासेन मोक्षमार्गं मोक्षोपायभूतं मनस ऐकाग्र्यं ब्रह्मज्ञानहेतुं निगच्छति ॥ ११४ ॥

यस्तु वीणादिनादानां यत उदयो यत्र च लयस्त[त्ति]ज्ज्ञान्तरेभ्यो विविक्ततया न सम्यग्वेत्ति तं प्रत्याह—

गीतज्ञो यदि गीतेन नाऽऽप्नोति परमं पदम् ॥
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११५ ॥

यदि दैवापादितमनोविक्षेपवशेन गीतज्ञो गीतं कुर्वाणोऽपि परं पदं नाऽऽसादयति तदा रुद्रस्य परमेश्वरस्यानुचरोऽनुवर्ती भूत्वा तेनैव रुद्रेणैव सार्धं मोदते हृष्यति ॥ ११५ ॥

मुनीनां प्रश्नमाह—

अनादिरात्मा कथितस्तस्याऽऽदिस्तु शरीरकम् ॥
आत्मनश्च जगत्सर्वं जगतश्चाऽऽत्मसंभवः ॥ ११६ ॥
कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ॥
जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११७ ॥

हे भगवन्याज्ञवल्क्य त्वयाऽऽत्माऽनादिः प्रागभावरहितः कथितः । तस्याऽऽदिव्यवहारः शरीरस्याऽऽदिमत्त्वेनेति चोक्तम्—

---

* इत आरभ्य वेत्तीत्यन्तं न विद्यते घ छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °तोर्ज्ञेयाः । २ घ. छ. ज्ञेयाः । ३ ङ. °प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छे° । ४ घ. छ. °ज्ञो भर° । ५ ङ. योगेन । ६ घ. छ. °दिसत्त्वेनें° ।

" अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते "

इत्यत्र । तथाऽऽत्मनश्च सकलं जगदुत्पद्यत इति त्वयैवोक्तं " सर्गादौ स यथाकाम(श)म्" इत्यत्र । तथा जगतः सकाशादात्मनः शरीरवतः संभवो जन्मेति ब्रवीषि, तदेतद्भगवतो वचनं परस्परं व्याहतमिति विमुह्यामः । भवांस्तावदाप्ततरोऽतो भवद्वचनं न व्याहतं भवितुमर्हति, व्याघातं च पश्यामोऽतो विमुह्यामः । व्याघातमेव स्पष्टयति—सदेवासुरमानवं जगदात्मन उद्भूतं चेदात्मा शरीरग्रहणनिरपेक्ष एव स्वकार्यं करोति, ततश्च तस्मिन्कथमाकाशादौ कारणीभूते सत्यात्मनः संभवः शरीरग्रहणं शरीरनिरपेक्षस्यैवाऽऽत्मनो जगत्सृष्ट्यादिकार्यकारत्वाच्छरीरग्रहणमनर्थकं स्यात् । अथ तद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाय शरीरवानेव कार्यकारी, कथं तर्हि सर्गादावशरीर एवाऽऽत्माऽऽकाशादि सृजति, इत्येतन्मोहनिवृत्तयेऽस्मान्प्रति ब्रूहि ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

अत्रोत्तरमाह[3]—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ॥
सहस्रकरपन्नेत्रः[4] सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११८ ॥
स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ॥

मोहजालं नानाप्रकारं मिथ्याज्ञानं सत्कर्माचरणवेदान्तार्थावगाहनवशादपास्य निरस्य यः पुरुषः सहस्रकरोऽपरिमितहस्त एवं सहस्रपात्, सहस्रनेत्रः, सहस्रसूर्यवर्चाः सूर्य इव ज्योतिःसहस्रकः सहस्रमूर्धा च दृश्यते विद्वद्भिः स एवाऽऽत्मा क्षेत्रज्ञो जीव इति(वो) विज्ञानात्मेति यावत् । यज्ञो धर्मश्च स एव वेदान्तैकवेद्यः परमः पुरुषो विश्वरूपो भोक्तृभोग्यभोगायतनभोगसाधनभोगरूप इति यावत् । एकस्य चानेकरूपत्वं दृष्टं यथा वृक्षस्य स्कन्धशाखाविटपादिरूपता, अतो नानुपपन्नं वैश्वरूप्यम् । स एव प्रजानां पुनरनादिरूपाणां पतिः स्वामी। अत्र चामूर्तस्य निरवयवस्य परमात्मनोऽसंख्यकरादियोगः सर्वत्र सर्वदा च करादिकार्यकारणशक्तिमत्त्वादुपचारेणोच्यते । ततश्च सर्वविषयाचिन्तनीयशक्तेः परमात्मनोऽशरीरस्यापि व्योमादिविश्वसृष्टिर्नानुपपन्नेत्युक्तं भवति । विश्वरूपत्वाभिधानेन च जगदुपादानकारणं च परमात्मैवेति बोधयति। यथा— घटकरशरावोदञ्चनादिरूपा मृत्तिका तदुपादानकारणमेवं जगद्रूप आत्मा

---

१ क. व्याहतं । २ क. °र्यकर । ३ क. °ह श्रीयाज्ञवल्क्य इत्यादिना । मो । ४ घ. छ. °रपात्रे° । ५ घ. छ. °दार्था° । ६ क. °र्यकर° । ७ क. °था-करघटशरावादिरूपमृ° ।

तदुपादानकारणम् । विश्वशब्देनैव यज्ञस्यापि ग्रहणे सिद्धे पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम् । एवं च परमात्मा शरीरानपेक्ष एव स्वकार्यकारीत्युक्तम् । ततश्चार्थाच्छरीरसापेक्षता क्षेत्रज्ञस्येत्यापद्यते । ततश्च सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोरविरोधः ॥ ११८ ॥

औपाधिकश्च तस्य परमात्मनो भेदोऽस्तीत्युक्तमेव परमात्मनो महासृष्टिहेतुत्वं सर्वशक्तित्वेनोपपाद्यावान्तरसृष्टौ तद्धेतुत्वमुपपादयन्निदानीमाह—

विराट् च सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ ११९ ॥
यो द्रव्यदेवतात्यागात्संभूतो रस उत्तमः ॥
देवान्संतर्प्य *स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२० ॥
संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः ॥
ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२१ ॥
तन्मण्डलमसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ॥
यज्जन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२२ ॥
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ॥
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२३

विविधं विशेषेण वा राजत इति विराट्सूर्यः स एव पूर्वोक्तः परमात्मैव स आदित्योऽन्नरूपेण यज्ञो भवति । तदेव प्रपञ्चयितुमुक्तं यो द्रव्यदेवतेत्यादि । द्रव्यस्य च पुरोडाशादेर्हविषस्याज्यस्य देवतायाः उद्देशकारकस्याग्न्यादेर्यः संबन्धी त्यागो यज्ञस्तस्मात्संभूत उत्तमो रसः पुण्यधर्मादिपर्यायो देवानमृतेन प्रीणयित्वा यजमानं च स्वर्गादिना फलेन संयोज्य स धर्मो रसोऽमृतं भवति, सोऽमृतात्मा रसो वायुना सोममण्डलं नीयते । ततः सोममण्डलाद्रश्मिभिः सौरं धाम सूर्यस्थानमृग्यजुःसामात्मकतया विहितं वेदैः सैषा त्रय्येव विद्या तपतीत्यादिभिरवबोधितमुपनीयते । यत्तु त्रयीमयत्वेन विहितं तत्सूर्यस्य

---

* तपस इत्यपि पाठो घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °थक्त्वस्योपा° । २ घ. छ. °व स्वाकार्य° । ३ ङ. °राजः सो° । ४ ङ. °त्याग-संभू° । ५ घ. छ. सोमो नी° । ६ ङ. °ते । स्वमण्डलादसौ । ७ क. °र्वोक्तप्रकारेण प° । ८ घ. छ. °यत्वेन वि° ।

मण्डलं वेदितव्यम् । सर्वभूतानामशनानशनात्मनां चराचराणां स्थिराणां जन्मबीजमसौ सूर्यो मण्डलान्तर्वर्ती पुरुषोऽन्नरूपं रसं विसृजति । तस्माद्-न्नाच्च पुरोडाशादिरूपोपयुज्यमानात्पुनर्यज्ञोदयः । ततश्च यज्ञादुक्तेन क्रमेण पुनरन्नसंभवः । ततश्च ऋतुर्भवति । एवमाद्यन्तरहितमेतदुक्तं वस्तुजातं परस्परं हेतुहेतुस(म)द्भावेन व्यवस्थितं चक्रवत्परिवर्तते भ्राम्यति व्यवतिष्ठत इत्यर्थः । तथाऽऽह भगवान्गीतासु—

" अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति " ॥

यज्ञोऽपूर्वं, ब्रह्म वेदः । अक्षरं परमात्मा ।

मनुः—" अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः " ॥ ११९ ॥
॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

कारणभावव्यवस्थितं संसारचक्रं, न तत्कर्मात्मनः कैवल्यरूपो मोक्ष उपपद्यतीत्यत्राऽऽह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः ॥
समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १२४ ॥

सत्यं यद्यादिमानात्मा स्यात्तदा विनाश्यपि स्यात्ततश्च विनाशे मोक्षलक्षणोऽस्य धर्मो न स्यात् । किं त्वनादिरनुत्पत्तिरात्मा, न ह्यस्यान्तरात्मनः संभूतिः कारणमस्ति । न च नित्यस्यापि पूर्वोक्तचक्रेण स्वाभाविकसमवाययोगित्वादनिर्मोक्षो वाच्यः । यतोऽयं पुरुषोऽन्तरात्मा यज्ञादिचक्रस्य समवायी संबन्धी मोहेच्छाद्वेषसंभवात्कर्मतो जायते न स्वतः । ते च मोहादयश्चक्रसमवायोपाधयो विद्यातपोभ्यासातिशयाद्वैराग्याच्च निवर्तन्ते, तन्निबन्धनानि च कर्माणि ॥ १२४ ॥

---

१ घ. छ. सूर्यम° । २ घ. छ. °पास्याज्य° । ३ घ. छ. °क्तं जा° । ४ घ. छ. °रणाभा° । ५ घ. छ. °र्मणः । स° । ६ क. घ. किं तु नाऽऽदि° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

महासृष्टिकर्तृत्वे परमात्मनः प्रकारविशेषमाह—

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः ॥
मुखबाहूरुपज्जाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥१२५॥
पृथिवी पादतस्तस्य शिरस्तो द्यौरजायत ॥
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुखाच्छिखी॥१२६॥
मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ॥
जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२७ ॥

"सहस्रकरपत्रेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः" इत्यत्र यो मया युष्माकमादिदेवो जगत्कारणभूतो देव उदाहृत उक्तः, तस्य मुखबाहूरुपादेभ्यो यथासंख्यं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा जाताः । तथाऽस्य पादतो भूः शिरस्तश्च द्यौरजायत । नस्तो नासिकातः प्राणा जाताः । श्रोत्रादिशः । त्वचो वायुः । मुखादग्निः । मनसश्चन्द्रः । चक्षुषो रविर्जातः । जघनान्नाभितोऽन्तरिक्षं जङ्गमं स्थावरं जगज्जातम् ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

मुनयोऽत्राऽऽक्षेपमाहुः—

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ॥
ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२८ ॥
करणैरन्वितस्यापि पूर्वज्ञानं कथं च न ॥
वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥१२९॥

यद्यात्मैवमुक्तप्रकारेण विश्वसृष्टिहेतुरतश्च सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः कथं तर्हि ब्रह्मन्याज्ञवल्क्य परमात्मा पापयोनिषु श्वसूकरादिषु जायते कुत्सित-शरीरं परिगृह्णातीति यावत् । तथेश्वरः स्वतन्त्रोऽपि सन्कथमनिष्टैर्मूकान्धबधिर-त्वादिभिर्भावैः संबध्यते । तथा करणैः षड्भिरिन्द्रियैर्ज्ञानकारणैर्युक्तस्यापि पूर्वजन्मानुभूतार्थविषयचक्षुरादिभिः प्रत्यभिज्ञानं मनसा च स्मरणं कथं न भवति, सर्वपुरुषगतां च वेदनां दुःखं सर्वगः सर्वक्षेत्रज्ञात्माऽपि सन्कस्मान्न वेत्ति । वेदनाग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन सर्वपुरुषसमवेतान्मुखादीन्भावान्कथं न वेत्तीति चोद्यार्थः ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

---

१ ङ. °रसौ द्यौ° । २ क. घ. छ. °ते । कार° ।

अत्रोत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ॥
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवयोनिशतेषु च ॥ १३० ॥

नैवेश्वरो निरुपाधिः सन्प्रातिस्विकेनैव रूपेणान्त्यजादिकुत्सितदेहपरिग्रहं करोति, किं तु जीवः सन्नन्तःकरणोपहितः सन्मानसवाचिककायिकैर्निषिद्धैः कर्मभिर्यै जनिता दोषाः पापानि पूर्वाणि तैर्यथासंख्यमन्त्यजत्वं पक्षित्वं स्थावरत्वं च भवशतेषु कुत्सितयोनिशतेषु च याति । अत्र च पक्षिग्रहणं तिर्यङ्मात्रोपलक्षणार्थम् । तथा च मनुः—

" शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् " ॥

न चोपहितस्य यो धर्मो योगः स तस्य निरुपाधेर्भवितुमर्हति, यथा घटोपहितस्याऽऽकाशस्य धूलिधूमादियोगे(गो) न महाकाशस्य जीवभावश्चानादिरनादित्वादुपाधियोगस्य ॥ १३० ॥

किं च—

अनन्ता हि यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ॥
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३१ ॥

यथा शरीरेषु वर्तमानानां शरीरिणां जीवानामनन्ता असंख्याता भावाश्चित्तवृत्तयः कुशलाकुशलप्रवृत्तिहेतवो भवन्ति, तथा रूपाण्यपि काणकुब्जान्धबधिरत्वादीन्यशुभानि सर्वयोनिषु वर्तमानानां देहभाजां भवन्ति । अनेन चेश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इति चोद्यं परिहृतम् । अनेन च श्लोकद्वयेन सूक्ष्मशरीरोपहितस्य परमात्मनो जीवभूतस्य पापवशात्कुत्सितयोनिकुत्सितरूपप्राप्तिर्न परमात्मन इति परिहार उक्तः । अनेनैव च हेतुना भवान्तरानुभूतानां भावानामननुगमोऽनुसंधेयः । अत एव योगिनां क्षीणदोषाणां जातिस्मरत्वादिकं शास्त्रकारैरुच्यते ॥ १३१ ॥

न केवलं रूपवैचित्र्ये भाववैचित्र्यं कारणम् । शुभाशुभकर्मणां चैहिकामुष्मिकफलत्वेऽपि तदेव हेतुरित्याह—

---

१ ङ. 'वन्योनि' । २ घ. छ. 'निषु श' । ३ घ. छ. °न सहा' । ४ क. °भावाश्चाना' । ५ क. घ. छ. °र्वदेहेषु । ६ क. 'मव' । ७ घ. छ. °चित्र्यभा° ।

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ॥
इह चामुत्र चैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३२ ॥

केषांचित्कर्मणां विपाकः फलं शुभमायुरादि विपरीतं च तत्क्षयादि, केषांचिन्मर्माग्रहेण[1] कृतानां प्रेत्य जन्मान्तरे भवति, केषांचित्पुनरत्यन्ताभिनिवेशवशात्पुनः पुनः कृतानामत्रैव जन्मनि विपाको भवति । अन्येषां तु कर्मणां प्रचुरतराग्रहसंपादितानामिह परत्र च जन्मनि फलं भवति । तत्र चै[2] सर्वफलवैचित्र्ये भावश्चित्तवृत्ति[3]विशेषोपेतः प्रयोजनं प्रयोजककारणमिति यावत् ॥ १३२ ॥

यदुक्तम्—" अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः "इति तदेव प्रपञ्चयन्नाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथाऽनिष्टानि चिन्तयन् ॥
वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु॥१३३॥

परकीयानि (णि)धनान्यभिध्यायन्कथमेतानि परस्य न भवेयुर्मम च भवेयुरित्यभिचिन्तयन्नित्यर्थः । तथा यः परस्यानिष्टानि प्रतिकूलानि चिन्तयन्भवति, यद्ययमप्रजा अपशुरधनः स्यात्तथा सति सम्यग्भवतीति । तथा यो वितथाभिनिवेशी वितथे प्रमाणरहिते बौद्धचार्वाकादिसिद्धान्तादावभिनिवेश्यत्यन्ताग्रही[4], तादृशेषु प्रत्यवायवानन्त्यासु चण्डालादियोनिषु जायते । तदेतत्त्रिविधं मानसं पापम् । तदाह मनुः—

" परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् " ॥ १३३ ॥

वाचिकान्याह—

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः पु(प)रुषस्तथा ॥
अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३४ ॥

योऽनृतमयथा[6]दृष्टं वदतीत्येवंशीलो यश्च पिशुनः परदोषसूचको यो वा परोद्वेगकरणशीलो योऽनिबद्धप्रलापी पुराणादिविद्यास्थानप्रसिद्धविरुद्धाभि-

---

१ क. °न्मदाग्रहे कृ° । २ क. च फलवै° । ३ घ. छ. °विशेषस्तारतम्यविशेषोपेतोः प्र° । ४ घ. छ. °न्ताग्राही । ५ घ. छ. °षु तथेति प्रतिवायान् । अन्त्या° । ६ क. °थार्थद° ।

धायी पुरुषः स मृगयोनिषु पक्षियोनिषु वा दोषाभ्यासरतारतस्य (तारतम्य)-वशेन जायते तत्तनुमुपादत्ते । एतच्चतुर्विधं वाचिकं पापम् । तदाह मनुः—

" पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यमपि सर्वतः ।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ १३४ ॥

कायिकान्याह—

**अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ॥**
**हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते ॥ १३५ ॥**

यः पुनरदत्तादाने चौर्ये निरतोऽत्यन्तसक्तः परभार्यागामी वा यश्चाविहितं प्राणिवधं कुर्यात्स स्थावरेष्वोषधिवनस्पतिगुच्छगुल्मादिषु जायते ।

मनुः—" अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् " ॥

एवं दशविधं मनोवाक्कायजं पापं सप्रत्ययं साभ्यासं चाऽऽचरितमन्त्यादियोनिप्राप्तिनिमित्तमुक्तमिति वेदितव्यम् । यत्पुनरुक्तादन्यद्वाङ्मनःकायसाध्यमप्यबुद्धिपूर्वकं कृतमनाग्रहसेवितं स्यात्तस्य फलान्तरं बोद्धव्यम् । तथा च हारीतः—

" सर्वाभक्ष्यभक्षणमभोज्यभोजनमपेयपानमयाज्ययाजनमसत्प्रतिग्रहः परदाराभिगमनं परद्रव्यापहरणं प्राणिहिंसा चेति शारीराणि, पारुष्यमनृतं विवादः श्रुतिविक्रयश्चेति वाच्यानि, परोपतापनपरद्रव्याभिद्रोहौ क्रोधलोभौ मानोऽहंकारश्चेति मानसानि, तदेतान्यष्टादश समानरूपाणि कर्माणि । यस्मिन्यस्मिन्वयसि यः करोति शुभाशुभानि तस्मिंस्तस्मिन्वयसि शारीरवाचिकमानसान्याप्नोति । एवं ह्याह—

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमवाप्नुयात् ॥
शरीरेण तु शारीरं वाङ्मयेन तु वाङ्मयम् ।
मानसं मनसा चैव स्वकर्मफलमश्नुते " ॥ १३६ ॥

उत्कृष्टयोनिप्राप्तिकारणमाह—

---

१ क. 'सता°' । २ घ. छ. 'रिते मर्त्यादि' । ३ क. 'भौ मनोऽ°' ।

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥
धर्मकृद्वेदविद्याति सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३६ ॥

आत्मज्ञ आत्मोपासको न तत्साक्षात्कारी शौचेन शमप्रकारेण चोपेतो दान्तो दमयुक्तस्तपस्वी कृच्छ्रादिकारी विजितेन्द्रियो वशीकृतेन्द्रियो धर्मरतो नित्यनैमित्तिककारी वेदार्थज्ञो यः स सात्त्विकत्वादेवयोनितां प्राप्नोति । उद्रिक्तसत्त्वो योगी सात्त्विकः । सत्त्वस्वरूपमाह मनुः—

" तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रसादमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् " ॥

प्रीतिः सुखं तत्कारणं प्रीतिसंयुक्तं, शुद्धाभमनवद्यविज्ञानकारणं यत्तत्सत्त्वमित्यर्थः । तथा—

" वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् " ॥

गुणलक्षणं गुणलिङ्गं, सात्त्विकं सत्त्वसंबन्धिवेदाभ्यासादिकं सत्त्वकार्यत्वाद्भवति सत्त्वे लिङ्गम् ।

तथा—" यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं लज्जते यन्न चाऽऽचरन् ।
येन तुष्यति चाऽऽत्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् " ॥

सत्त्वे ह्युद्रिक्ते पुरुषो ज्ञेयं वस्तु सर्वेण वस्तुना साधारणासाधारणधर्मयोगिना ज्ञातुमिच्छति, अतस्तादृशीच्छा भवति सत्त्वलक्षणम् ।

तथा—" तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठमेतद्यथाक्रमम् " ॥

सत्त्वविपाकश्च प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः । तत्र देवत्वप्राप्तिर्मध्यमस्तद्विपाकः । तदाह मनुरेव—

" तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः " ॥ १३६ ॥

---

१ ङ. °यः । कर्मकृद्वेदवित्साक्षी सा° । २ क. °र्मतो । ३ क. सत्त्वलिं° । ४ क. °ति । इति स° ।

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः ॥
स राजसो मनुष्येषु पुनर्जन्माधिगच्छति ॥ १३७ ॥

सत्कार्यं धर्मस्ततोऽन्यदधर्म इति यावत् । तत्र विषयेऽनन्यव्यापारेण रतः सक्तस्तन्निरतोऽधीरः शीततापादिद्वंद्वासहिष्णुः । आरम्भी काम्ययुद्धकारी, विषयसक्तो य एवंविधः स राजसः, स पुनरपि मनुष्य एव भवति । रजोविपाकत्रैविध्यं मनुराह—

" कल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाश्च कुवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च प्रथमा राजसी गतिः ॥
राजानः क्षत्रियश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
दानयुद्धप्रधानाश्च द्वितीया राजसी गतिः ॥
गन्धर्वा गुह्यकाश्चैव विविधा भूचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसेषूत्तमा गतिः " ॥ १३७ ॥

अथ तामसलक्षणमाह—

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ॥
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३८ ॥

निद्रालुर्निद्राशीलः । क्रूरकृत्परदुःखकारी । लुब्धनास्तिकौ प्रसिद्धौ । याचकः सति द्रव्ये भिक्षणशीलः । प्रमादकार्य(दः कार्या) नादरः । भिन्नवृत्तो दुराचारः स तामसः स तिर्यक्षु जायते ।

मनुः—" स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सरीसृपाः ।
पशवश्च मृगाश्च जघन्या तामसी गतिः ॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छा विगर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसेषूत्तमा गतिः " ॥

अत्र च कर्मतारतम्येन फलतारतम्यम् ॥ १३८ ॥

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ॥
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १३९ ॥

---

१ ङ. °पु मृतो जन्मा' ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

एवमुक्तप्रकारेण रजसा तमसा च समाविष्ट उपहित इह संसारे भ्रमन्नेकयोनीः प्रतिपद्यमानोऽनिष्टैर्मूकादिभिर्भावैः संबद्धः संसारं जन्मपरम्परां प्रतिपद्यते । अनेन च —

" ईश्वरः स कथं भावैरनेकैः संप्रयुज्यते "

इत्यादि चोद्यं परिहृतम् । न हीश्वरस्य निरुपाधेर्महाकाशकल्पस्यौपाधिकानिष्टभावयोगो भवति किंतु रजःप्रमुखेनो(णो)पाधिनोपहितस्य जीवस्य न स्वाभाविकं किं त्वौपाधिकम् । न ह्यौपाधिकानिष्टभावयोगो दूषणम् । यथाऽऽदर्शोपाधिकं मुखस्य वक्रत्वं कुरूपत्वं वा ॥ १३९ ॥

" करणैरन्वितस्यापि " इति चोद्यस्य परिहारमाह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ॥
तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४० ॥

यद्यप्यात्मा जन्मान्तरानुभूतमर्थजातं पुरुषान्तरसमवेतं वेदनादिकं च स्वभावतो ज्ञातुं शक्तो मनःप्रभृतीनि च करणानि[1] तदवबोधसमर्थानि, तथा तान्यविपक्वानि कर्मभिः प्रतिबद्धशक्तीनि न भावान्तरानुभूतमर्थजातमुपलभन्ते । अत्र दृष्टान्तः—आदर्शस्य यथा सहजायां रूपावलोकनशक्तौ मलेन प्रतिबद्धायां न रूपालोकनक्षमोऽसौ भवति तथाऽऽत्माऽप्यपक्वकरणः । यद्यपि सर्वान्तःकरणेषु जलपात्रकल्पेषु सूर्यवदेक एवाऽऽत्माऽवभासते, ततश्चोपाध्यन्तरावच्छिन्नेऽस्मिन्सुखदुःखानुभवो जायमानोऽन्योपाध्युपहितेन[2] तेनैव प्रतिसंधातव्य इति न्याय्यं भवति, तथाऽपि सुखदुःखयोरुपाध्यन्तरसमवेतयोरैन्द्रियकत्वं[3] परिपक्वे चेन्द्रिये सुखादिग्रहणासंभवात्तदवच्छिन्नानुभवो[4] न शक्यः प्रतिसंधातुमिति ॥ १४० ॥

सन्नप्यर्थः परिपाकमन्तरेण न प्रकाशत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—

कटूवारौ यथाऽपक्वे मधुरः सन्नसोऽपि न ॥
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४१ ॥

अपक्वे कटूवारौ[5] चिञ्चिटविशेषे यथा सन्नपि मधुरो रसो न प्राप्यते

---

१ क. कारणानि । २ घ. छ. 'न्तरभू' । ३ घ. छ. 'पहते' । ४ क. 'योरिन्द्रि' । ५ घ. छ. 'भाव भ' । ६ क. 'न्तरमा' । ७ घ छ. 'टूर्धारौ ।

नोपलभ्यते, तथैवापक्वकरणेऽन्तरात्मनि ज्ञता व्यवहितविप्रकृष्टार्थबोद्धृता सत्यपि न प्राप्यते । कटुशब्दोऽयं न रसविशेषे वर्तते, किंतु जातिविशेषे ॥ १४१ ॥

उक्तमेवार्थं स्पष्टयितुमाह—

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ॥
+योगयुक्तश्च सर्वासां ज्ञाता नाऽऽप्नोति वेदनाम् ॥१४२॥

देही देहविषयाहंप्रत्ययवान्सर्वाश्रयां शिरःपाणिपादादिसकलदेहावयवायत्तोदयां वेदनां सुखदुःखात्मिकां निज एव देहे विन्दत्युपलभते । यस्तु योगयुक्तः सन्सिद्धयोगे निवृत्तदेहविषयाहंप्रत्ययः सर्वासां सर्वक्षेत्रवर्तिनीनां वेदनानां ज्ञाता वेदिता भवति न चासौ सर्वपुरुषवर्तिनीं वेदनां प्राप्नोति । स्वाभाव्यत्वेन प्रतिपद्यते परः सुखादिमान्न पुनरहमिति प्रतिपद्येत इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

ननु सर्वान्तःकरणेषु यदैक एवाऽऽत्मा भवेत्ततो योगिनः सर्ववेदनाबोद्धृतोपपद्यते, तदेवाऽऽत्मैक्यमहमिति भेदप्रत्ययेऽनुपपन्नमित्यत्राऽऽह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ॥
तथाऽऽत्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥१४३॥

अनौपाधिकं हि नानात्वमेकेन विरुध्यते न त्वौपाधिकम् । दृश्यते ह्येकस्यापि व्योम्नो घटाद्युपाधिवशान्नानात्वं घटाकाशः कुसूलाकाश इति । यथा च भिन्नेषु जलाधारेष्वेकोऽप्यंशुमान्नानेति प्रतीयते, एवमेकोऽप्यात्माऽन्तःकरणरूपोपाधिभेदादयमहमिति नानात्वेनावभासते । ततश्च स्वाभाविकमेकत्वमौपाधिकं च नानात्वमित्यविरोधः । न त्वे(चै)कत्वप्रत्यये सति नानात्वमौपाधिकं स्यात्स एव च कुत इति वाच्यम् । आगमादहमिति प्रत्यक्षत्वाच्चैकत्वसिद्धेः । भवति हि सर्वेषां जन्तूनां ग्राह्यावभासे विलक्षणो ग्राहकोऽहमित्यवभासः ॥ १४३ ॥

ननु ग्राहको व्योमादेर्भूतधातोरन्यो नास्तीत्यत आह—

---

+ एतदर्धं पाठान्तरं ङ. पुस्तके—' 'योगी मुक्तश्च सर्वासां यो न चाऽऽप्नोति वेदनाम्" इति ।

---

१ क. °बोध्यता । २ घ. छ °यते ज्ञतइ' । ३ घ. छ. यद्येक । ४ ङ. जलभाण्डेष्वि° । ५ घ. छ. °त्वमैक्येन । ६ घ. छ °ति न वा° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ॥
इमे लोका एष चाऽऽत्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥१४४॥

ब्रह्मादयः षड्धातवो धारयितारो न पुनर्व्योमादयो लोकाः । लोक्यन्त इति लोका ग्राह्या इति यावत् । न च ग्राह्या एव ग्राहकाः भवितुमर्हन्ति । अहमिदं गृह्णामीति ग्राह्याद्भिन्नतयैव ग्राहकस्यावभासात् । तस्मादेष ब्रह्मधातुरेवाऽऽत्मा सर्वस्य ग्राहकः । अत एव ब्रह्मैं सर्वानुभूरित्युपनिषद्युक्तम् । यद्येवं ग्राह्यात्सर्वस्मादचेतनाद्ग्राहकस्य चेतनस्य भेद एव ततश्च—

" सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

इत्यादिश्रुतिविरोध इत्येतत्परिहारायोक्तं-तस्माच्च सचराचरमिति। तस्माद्ब्रह्मणश्चेतनात्सचराचरं जगज्जायत इति शेषः । ततश्च " जनिकर्तुः प्रकृतिः " इत्येतल्लक्षणोक्तं प्रकृतित्वरूपं समा(पमपा)दानत्वं तस्मादिति पञ्चम्याचष्टे । न च प्रकृतितो विकृतिर्भिन्नैव, तथा सति हि सुवर्णकुण्डलं मृद्घट इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो नोपपद्यते । स ह्यत्यन्तभिन्नेभ्यो दण्डदेवदत्तादिभ्यो व्यावृत्त इति । न हि भवति दण्डो देवदत्त इति, किंतु दण्डवान्देवदत्त इति। तथाऽत्यन्ताभिन्नेभ्योऽपि निवृत्तो न हि भवति देवदत्तो देवदत्त इति किंतु देवदत्त इत्येव, तेन ब्रह्मैवेदं सर्वमिति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो वाक्यजन्यो ब्रह्मणा सह जगत आत्यन्तिकाद्भेदादभेदाच्च विलक्षणं भेदाभेदतादात्म्यादिपदास्पदीभूतं प्रकारं व्यवस्थापयति । न च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति गौणस्तादात्म्यव्यपदेशो गौर्बाहीक इतिवद्(दि)ति वाच्यम् । प्रमाणान्तरे गोबाहीकयोरत्यन्तभेदमवगम्य व्यपदेश्यगौणत्वमवसीयते । न च जगद्ब्रह्मणोरत्यन्तभेदग्राहकं किंचन प्रमाणमस्ति । यस्तु ग्राह्यग्राहकतया भेदप्रत्ययः स भेदं विधत्ते नाभेदं निषेधात् । ब्रह्मप्रपञ्चयोरभेदविधायिका श्रुतिरुदीरितैव । यस्मात्तयोस्त्वभेदोऽपि भेद एव तस्मात्सचराचरमित्यत्र जायत इत्यध्याहार्यम् । अन्यथा—

" सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

इति श्रुतिविरोधो दुष्परिहारः स्यात् ॥ १४४ ॥

यथाऽऽत्मा चराचरं सृजति तथाऽऽह—

---

१ घ. छ. जन्तवः । २ क. °दय एव । यत इमे व्योमादयो लोका प्रा° । ३ घ. छ. °का भावि° । ४ क. °ह्मनुभूरित्यायनुशासनमुप° । ५ क. °देशगौ° ।

मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम् ॥
करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४५ ॥
हेममात्रामुपादाय रूपं वा हेमकारकः ॥
निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः॥१४६॥
कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ॥
सृजत्यात्मानमात्मैव संभूय करणानि च ॥ १४७ ॥

यथा कुम्भकारः कुम्भस्य प्रकृतिभूताया मृदो दण्डादीनां चाप्रकृतिभूतानामन्योन्यसमवधानात्कुम्भं करोति । यथा वा गृहकर्ता गृहोपादानकारणैस्तृणमृत्काष्ठैरन्योन्यसंयुक्तैर्गृहं निर्मिमीते । यथा हेमकारकः सुवर्णैकदेशं गृहीत्वा रूपानुग्राहकं भूषणं कटकादि करोति । यथा च कोशकारकः शस्त्रशरीरसंज्ञकः कीटो निजलालयैव कोशं जनयति, एवमात्माऽनेकासु योनिष्वात्मानमात्मीयं शरीरं तत्कारणानि च पृथ्व्यादीनि करणानीन्द्रियाणि चाऽऽदाय सहकारित्वेन स्वीकृत्य स आत्मा भूयः पुनः पुनः सृजति । यद्यपि भूतादीनि सहकारीणि नाऽऽत्मनो भिद्यन्ते तथाऽपि तेषां सहकारित्वमुपपद्यते । यथा कोशकारकं प्रति तल्लालाया इति वक्तुं कोशकारदृष्टान्तः ॥ १४५ ॥ ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

बुद्धीन्द्रियशरीरव्यतिरिक्ते ह्यात्मनि प्रामाणिके सति शास्त्रेण तस्य ब्रह्मीभावः " तत्त्वमसि " इत्यादिना प्रतिपाद्यते, अतश्च ब्रह्मखानिलतेजांसीत्युपपद्यत इति क्षेत्रज्ञस्य प्रामाणिकतां तावदाह—

महाभूतानि सत्यानि यथाऽऽत्माऽपि तथैव हि ॥
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४८ ॥
वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ॥
अतीतार्था स्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः॥१४९॥

यथा कारणदोषबाधकप्रत्ययरहितानि विज्ञानवेद्यत्वादाकाशादीनि महाभूतानि सत्यानि, तथाऽऽत्माऽप्यहंप्रत्यये भासमानः सत्य एव । न चाहंप्रत्यय

---

१ क. °मात्रमु° । २ क. घ. छ. °धु । करोत्या° । ३ क. निर्मीयते । ४ क. °कः शास्त्र° । ५ क. °दोषाबा° । ६ घ. छ. °तावि° । ७ क. °मि त° ।

इन्द्रियालम्बनः । तथा ह्येकेन नेत्रेण दृष्टार्थो नेत्रान्तरेण न प्रत्यभिज्ञायते, ग्राहक-नेत्रान्यत्वात् । न ह्यन्येन गृहीतमन्यः प्रत्यभिजानीते । ज्ञानमात्रालम्बनेन चाहंप्रत्ययस्यापूर्ववर्णात्मिकां वाचं संश्रुत्य पुनस्तां श्रुतां सैवेयं वागिति को विजानाति, न कश्चिदित्यर्थः । न हि क्षणिकानि विज्ञानान्यन्योन्यं प्रत्यभि-जानन्ति, पूर्वोत्तरप्रत्यययोर्ह्येकस्मिन्प्रत्येतरि प्रत्येतव्ये च प्रत्यभिज्ञा भवति न पुनरन्यथा । तस्मात्स्थायी बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति निश्चीयते । तथा स्थायिन्यात्मन्यसत्यतीतार्थविषया स्मृतिर्न कस्यचित्स्यात् । अर्थस्य चातीतता प्रदर्शनार्था, तेन ज्ञानेन्द्रियात्मवादिनोऽस्तदर्थये स्मृतिदर्शनानु-पपत्तिः स्मर्तुरभावात् । तस्मादपि स्थाय्यात्मसिद्धिः । तथा स्थिरात्माभावे स्वप्नज्ञानकर्ता को भवेत्, न कश्चिदित्यर्थः । तस्यां दशायां ज्ञानान्तराणि न सन्ति । इन्द्रियाणि चोपरतव्यापाराणीति नैतानि तत्कारकाणि । विज्ञानवादे चेन्द्रियाण्यपि न सन्ति, तेन मनसोऽपि स्वप्नकर्तृत्वमनाशङ्कनीयम् । न च देहश्चेतयते, तदारम्भकद्रव्याणामचेतनत्वात् । तेषामपि चेतनत्वे तदारब्धानां घटादिद्रव्याणां चैतन्यप्राप्तिः । ततश्चासिततन्त्वारब्धः पटो यथा न सितः, तद्वदचेतनद्रव्यारब्धो देहोऽप्यचेतनः ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

किं च—

जातिरूपवयोवित्तविद्यादिभिरहंकृतः ॥
शब्दादिविषये सक्तः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५० ॥

यदि स्थायिनमेकमात्मानं लोको न प्रतिसंधत्ते तदा कस्य ब्राह्मण्यादि-जात्या गौरवर्ण्यादिना च रूपेण यौवनेन च वयसा वित्तविद्याभ्यां चाहंकृतो गर्वितः को भवेत् । न हि ज्ञानानां क्षणिकानां जात्यादिनिमित्ताहंकारसंभवः । तथा शब्दादिविषयोपभोगे वाङ्मनःकर्मासक्तिः कस्य ॥ १५० ॥

उक्तान्यात्मनि कानिचित्प्रमाणानि बन्धविशेषमधुना तत्प्रमाणत्वेनाऽऽह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ॥
संप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५१ ॥

---

१ क. °ण प्र° । २ घ. छ. °त्ययो हि एक° । ३ क. °न्द्रियवा° । ४ घ. छ °रात्मभा° । ५ क. °रणवि° । ६ घ. छ. °सोविस्व° । ७ ङ. °योवृत्त° । ८ ङ. °षयोद्योगं क° । ९ क. °कारा-सं° । १० ङ. विप्लुतः ।

मम दाराः सुतामात्या अहमेषामिति स्थितिः ॥
हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५२ ॥
ज्ञेये च प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ॥
अनाशकानलापातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५३ ॥
एवंवृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ॥
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १५४ ॥

संसारात्मबन्धः खलु बुद्धीन्द्रियशरीराणां न संभवति, न हि तेषामनेकेषु जन्मस्वनुवृत्तिरस्तीति भवति बुद्ध्यादिविलक्षणात्मसद्भावे प्रमाणं, तस्य चायमुपक्रमः—शास्त्रविहितस्य कर्मणः फलं स्वर्गादिकमस्ति वा नवेति संदिग्धमतिः संसारी भवति। अनेन च शास्त्रप्रामाण्ये संशय(यि)त्वमुच्यते। तत्र च संशयानः शास्त्रमतिक्रामतीति तात्पर्यार्थः। अत्र च श्लोकार्धान्तगतो वाशब्दोऽस्तीत्यनेन योजनीयः। तथा संप्लुतो विप्लुतोऽनात्मनि शरीर आत्मप्रत्ययवानिति यावत्। वस्तुतोऽसिद्धमनुत्पन्नमप्यात्मानं सिद्धमुत्पन्नं मन्यते। अथवाऽऽत्मनि पारमार्थिके केनोपनिषद्वेद्येन रूपेणासिद्धमनवगतमपि कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टेन रूपेण सिद्धमात्मानं मन्यते। एतावदेवाऽऽत्मनो रूपमिति मन्यत इत्यर्थः। अनात्मन्यात्मबुद्धेश्च मम संबन्धिन एते दारादयोऽहमेतेषां संबन्धीति स्थितिः पर्यवसानं भवति। तथा हिताहितेष्वनुकूलप्रतिकूलेषु भावेषु विपर्यस्तमतिर्भवति। हितमहितत्वेनाहितं च हितत्वेन मन्यत इत्यर्थः। तथा ज्ञेय आत्मयाथात्म्ये प्रकृतावव्याकृतविकारे च तत्कार्ये महदहंकारादावविशेषवान्, सन्तमप्येषां विशेषं न वेत्तीत्यर्थः। तथा दुःखरहितमप्यात्मानं दुःखितं मन्यमानस्तद्धानायानशनाग्निप्रवेशादिना देहत्यागोद्यमी भवति। एवंवृत्त एवंचेष्टितोऽविनीतस्तत्त्वावबोधेविधुर आत्मा यस्य स तथोक्तः। वितथे मिथ्याभूते वेदाप्रामाण्यनैरात्म्यादावर्थेऽभिनिवेशवांस्तथेति प्रतीतिमान्। कर्मणा काम्येन निषिद्धेन च द्वेषेणाप्रीत्या मोहेनाविद्यया, इच्छया रागेण च बध्यते संसर्य(स्रिय)त इति ॥ १५१ ॥ १५२ ॥ १५३ ॥ १५४ ॥

अधुना मोक्षं सोपायमात्मनि प्रमाणत्वेन श्लोकचतुष्टयेनाऽऽह—

---

१ ड. ज्ञेयज्ञे प्र°। २ घ. छ. थिकेणोप°। ३ क. °तिः। विपर्यमाणं भ°। ४ घ. छ. °था याज्ञवल्क्येय आत्मा याथात्म्येन प्र°। ५ क. °घरहित आ°। ६ घ. छ. °त्या मौढ्येन वि°।

आचार्योपासनं वेदशास्त्रस्य च विवेचनम् ॥
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५५ ॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ॥
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १५६ ॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ॥
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५७ ॥
निरजस्तमता सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ॥
एतैरुपायैः संशुद्धः स च योग्यमृती भवेत् ॥१५८॥

आचार्यः प्रसिद्धस्तस्योपासनं परिचर्या, वेदस्यान्येषां पुराणादीनां च विविक्तार्थज्ञता, शास्त्रोक्तानां नित्यनैमित्तिकानां कर्मणामनुष्ठानम् । सद्भिर्योगिभिः सङ्गस्तत्त्वे(त्व) परामर्ष(र्श)प्रयोजनं सहावस्थानम् । गिरः शुभा हितमितसत्यरूपाः । स्त्रीविषयालोकनस्पर्शनयोर्विगमो वर्जनम् । ऐकात्म्यज्ञानरूपं सर्वभूतेष्वात्मनस्तेषां वा स्वात्मनि दर्शनम् । परिग्रहाणां स्वीकाराणां त्यागः । जीर्णस्य पुराणस्य काषायस्य वृक्षनिर्यासादिरक्तस्य वाससो धारणम् । विषयाणामिन्द्रियाणां च संरोधः संनिकर्षनिरोधः । तन्द्रा निद्रातुल्यो जाड्यविशेषः । आलस्यमनुद्यमः । तयोस्त्यागः । शरीरस्य सर्वतोऽस्थिरत्वाशुचित्वादिना संख्यानं सम्यङ्निरूपणं च कार्यम् । सर्वासु चानावश्यकीषु प्रवृत्तिषु पापदर्शनम् । आवश्यकमेव लौकिकं वैदिकं च कर्म कार्यं नान्यदित्यर्थः । रजस्तमसोरुद्रेकपरिहारो राजसतामसाहारादिपरिहारेण कार्यः । सत्त्वशुद्धिः प्राणायामशुद्धाहारत्वादिना विधेया । निस्पृहता निरीहता धनादिष्वनीप्सा । शमः परापराधक्षमा । एतैरुक्तैरुपायैः संशुद्धो विपाप्मा सत्त्वोद्रेकयोगी सन्नमृती भवेदित्यर्थः ॥ १५५ ॥ १५६ ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

स चायं भवेद्ब्रह्मीभावो देहादिभ्यो व्यावृत्तस्तद्व्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणं योगमुक्तेः कारणमिति तदुपायमाह—

---

१ ङ. °शास्त्रेषु. च विवेकिता । तं° । २ ङ. सत्त्वयो° । ३ घ. छ. °षां च पुं° । ४ क. °णां स्वदाराणां । ५ क. °सु. च ना° । ६ क. °गयुक्तेः ।

*तत्त्वस्मृतेरवस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ॥
कर्मणां संनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १५९ ॥

तत्त्वस्य परमात्मनः शास्त्रावगतरूपस्य सातत्येन स्मृत्युदयाच्छुद्धसत्त्वयोगान्निषिद्धकाम्यकर्मणां यथासंभवं ब्रह्मज्ञानफलोपभोगाभ्यां परिक्षयात्सतां साधूनां योगिनां च संनिकर्षात्सङ्गतो योगः प्रवर्तते ॥ १५९ ॥

इदानीमसिद्धयोगं योगिनं प्रत्याह—

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ॥
अविप्लुतस्मृतिः सम्यक्स जातिस्मरतामियात् ॥१६०॥

शरीरसंक्षये मरणकाले यस्य योगमारुरुक्षतो मनः सत्त्वस्थं रजस्तमसी विहाय सत्त्व एव वर्तमानमीश्वरं मरणदशाभाविना दुःखेनोप(ना)पीड्यमानं +यस्य सोऽविप्लुतेश्वरस्मृतिर्जन्मान्तरे सकलपूर्वजन्मस्मृतिं दृढतरवैराग्यनिमित्तभूतां प्राप्नुयात् ॥ १६० ॥

इदानीं त्वयोगिनं प्रत्याह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ॥
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथाऽऽत्मा कर्मजास्तनूः ॥१६१॥

यथा भरतो नटो नानाविधानि रामरावणादिरूपाणि कुर्वाणो वर्णैर्वर्णकैः सितासितादिभिरात्मनस्तनुं वर्णयति तथाऽऽत्माऽप्यक्षीणकर्मा कर्मजास्तनूः शरीराणि सुरनराद्यात्मकानि गृह्णाति । भरतदृष्टान्तेनाऽऽत्मनः शरीरयोग औपाधिको न स्वाभाविक इति गमयति । कर्मजा इति वदन्कर्मणामुपाधित्वं दर्शयति ॥ १६१ ॥

रूपनानात्वेऽपि हेत्वन्तरमस्तीत्याह—

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ॥
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६२ ॥

गर्भस्याङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु श्रोत्रनेत्रादिषु च हीनत्वातिरिक्तत्वादि वैकृतं विकृतरूपत्वं कालकर्मबीजमातॄणां दोषैर्भवतीति शास्त्रदृष्टम् । न चैतद्गर्भ-

---

* सत्त्वस्मृतेरुपस्थानादिति पाठो ङ. पुस्तके । + यस्येत्यधिकम् ।

---

१ ङ. 'तमतिः । २ घ. छ. जन्मतः । ३ क. °तिरेकत्वा° ।

काल एव किंतु जन्मन ऊर्ध्वं(र्ध्वे)कालेऽपि । कालस्य दोषो ग्रहदौःस्थित्यम् । कर्मदोषः श्रद्धादिवैधुर्यं कर्मान्तरस्य च प्रतिषिद्धत्वम् । कर्मात्र धर्मः । भूतात्मनश्च दोषो धातुवैषम्यम् । बीजदोषः पितृदोषः । मातृदोषो गर्भविरुद्धचेष्टाकर्तृत्वम् । अङ्गविकारे काणादिदोषाणां निमित्तत्वमत्रोक्तम् । तनूत्पत्तिनिमित्तत्वं च कर्मणां पूर्वश्लोके, तेन पूर्वापराविरोधः ॥ १६२ ॥

प्रथमशरीराद्युत्पत्तिः कथमिति च न वाच्यमनादित्वाच्छरीरपरम्पर(रा)या इत्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ॥
शरीरेण च नाऽऽत्माऽयं मुक्तपूर्वः कथंचन ॥१६३॥
*दाता सत्यः क्षमी प्राज्ञः शुभकर्मा जितेन्द्रियः ॥
तपोरतो योगशीलो न रोगैरभिभूयते ॥ १६४ ॥

गतिर्धर्मात्मिका, कर्मफलं सुखदुःखभावानामनुभवः । प्रसिद्धमन्यत् ॥१६३॥ ॥ १६४ ॥

यदि कर्मभिर्देहिनः फलोपभोगाय देह आरभ्यते तर्हि तत्फलोपभोगसमाप्तेः प्राङ्न देहेन देहिनो वियोगः संभवतीत्यकालमृत्युनिवारणाय कर्मविद्यानर्थक्यमित्यत्राऽऽह—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ॥
विक्रियाऽपि च दृष्टैवमकाले देह(प्राण)संक्षयः॥१६५

यथा वर्त्यादीनां योगाद्दीपस्य वर्तिकावर्तिन्या ज्वालायाः संस्थितिरवस्थानं वर्त्यादियोगे सत्यपि विक्रिया प्रबलपवनाभिघातादिना दीपप्रध्वंसोऽपि दृष्टः, एवमकाले देहारम्भककर्मफलोपभोगासमाप्तावपि तत्परिपन्थिकर्मणा प्रतिबन्धे प्राणसंक्षयोऽपि संभवतीति । ततश्च परिपन्थिकर्मनिवारणार्थमकालमृत्युशान्तिफलाः कर्मविधय उपपन्नाः ॥ १६५ ॥

उक्तयोगवशादमृतीभावस्तन्मार्गमिदानीमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ॥
सितासिता बभ्रुनीलाः कपिला[3] नीललोहिताः ॥१६६॥

---

* न विद्यतेऽयं श्लोको घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ घ. छ. °म् । धर्मस्य कर्मणो दो° । २ घ. छ. °म् । भू° । ३ ङ. °पिलाः पीतलो° ।

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ॥
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

तस्य जीवस्य सूर्यस्य वाऽनन्ता असंख्याता रश्मयस्ते च सितासिताद्यनेकवर्णास्तेषां मध्ये रश्मिरेका (क) ऊर्ध्वगामी सूर्यमण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं चातिक्रम्य स्थितः। तेन रश्मिना मार्गेण परां गतिं परं गन्तव्यं ब्रह्म याति। हिताहितसंज्ञकनाडीचक्रमध्यगतस्य शशिसूर्यमण्डलस्यैते रश्मयो न तु जीवस्य। उपचारेण हि तस्य तेऽभिधीयन्ते। ननु च—

"नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति"

इत्यादिश्रुतिविरुद्धैषा स्मृतिः। मैवम्।

"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"

इतिप्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वादस्याः स्मृतेः। तेन श्रुत्योरेवात्र परस्परं विरोधो न श्रुतिस्मृत्योः। न च श्रुत्योरपि परमार्थतो विरोधोऽस्ति। नास्य प्राणा व्युत्क्रामन्तीत्यत्र पुनरुत्पत्तय इति वाक्यशेषः प्रकल्प्यते श्रुत्यन्तराविरोधाय। यद्वा प्राणानां तस्य प्रभुत्वादवशमिव तं परित्यज्य न यान्ति, किंतु स्वेच्छया देहं त्यजन्तीत्यर्थः। तथाऽत्रैव समवनीयन्त इत्यत्रात्रैव जन्मनि समवनीयन्ते न जन्मान्तर इति व्याख्या न पुनरत्रैव शरीर इति ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

किं च—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ॥
तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

परमगतिमार्गभूताद्रश्मेरन्यद्रश्मिशतमस्याऽऽत्मन ऊर्ध्वां दिशं प्रति व्यवस्थितम्। तेनास्माच्छरीरादुत्क्रामन्नयं जीवो देवजातीयानि शरीराणि देवानां धाम्ना स्थानेन सह प्रपद्यते। देवलोके देवो भवतीत्यर्थः। शरीराणीति बहुवचनमेकस्यामेव जात्याख्यायाम् ॥ १६८ ॥

इदानीं संसरणमार्गमाह—

येनैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मितप्रभाः ॥
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

---

१ घ. छ. °रश्मपोऽप्यमृत°। ङ. °रश्मयश्च मृदुप्र°।

अस्याऽऽत्मनो हृदयदेशस्थितस्याधस्तान्मन्दप्रभा अनेकरश्मयस्तैरितः शरीरान्निर्गच्छन्नेव लोके कर्मफलभोगाय संसरति, देहान्तरं कर्मवशः संप्रतिपद्यते ॥ १६९ ॥

प्रमाणतः साधितमप्यात्मानं दार्ढ्यार्थं पुनरपि प्रमाणान्तरैः साधयति—

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मना मरणेन च ॥
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥ १७० ॥
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ॥
निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १७१ ॥
तारानक्षत्रसंचारैर्जागरैः स्वप्नजैः फलैः ॥
आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ॥
वित्ताऽऽत्मानं वि(वे)द्यमानं सर्वस्य(कारणं) जगतस्तथा ॥

हे महर्षयो वेदादिभिः प्रमाणैर्बुद्धीन्द्रियशरीरव्यतिरिक्तमात्मानं वि(वे)द्यमानं वित्त जानीत । तत्रैव वेदैः कर्मकाण्डात्मकैरग्निहोत्रादिकर्तृगामिस्वर्गादिफलमाचक्षाणैरात्मा प्रसाध्यते । देहादीनामात्मत्वे कर्तृगामि फलं न स्यात् । उपनिषद्भागात्मकैस्तु वेदैः—

" अविनाशी वाऽरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा "

इत्येवमादिभिः श्रुत्यैव देहाद्यतिरिक्तात्मसद्भावोऽवबोध्यते । शास्त्रैश्च मीमांसादिभिरात्मा(त्म)साधकयुक्तिबोधकैर्विज्ञानसहितैरात्माऽवबोध्यते । तत्र शास्त्राण्यात्मसाधकयुक्तिप्रसाधनानि, विज्ञानानि शास्त्राण्यात्मसाक्षात्कारकारणप्राणायामादिप्रदर्शकानि । जन्मापि सुखदुःखहेतुभूतत्वेन विचित्रत्वोपपादकौ धर्माधर्मौ कल्पयत्तदाश्रयमात्मानं गमयति । एवं मरणमपि तद्धि दृष्टे तत्कारणे समानेऽपि कस्यचिदेव भवददृष्टस्य व्यवस्थापकत्वेनाऽऽक्षिपदात्मानमपि तदाश्रयमाक्षिपति । मरणसंबन्धिन्यार्त्या प्राणिषु स्तोकास्तोकरूपेण वर्तमानया स्वोपपादकाधर्मालपानल्पत्वकल्पनामुखेनाऽऽत्माऽपि कल्प्यते । तथा

---

१ घ. छ. भान्त्या । २ घ. छ. तद्विद° । ३ घ. छ. °मानोऽपि । ४ क. °दृस्वव्य° । ५ घ छ. °न्यान्त्याप्रा °। ६ घ. छ. °ना सुखे° ।

त्यज्यमानादेहात्सुखदुःखोपभोगाय स्वर्गं नरकं वा गच्छति । स्वर्गं नरकं वोपभुज्य वृष्ट्युदकेन सहेमं लोकमागच्छत्यात्मेति उपनिषदाद्यागमप्रसिद्धया गत्या चागत्या च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा साध्यते । सत्यं यथार्थं वाक्यम् । अनृतमयथार्थं, ताभ्यामात्मा साध्यते । न खलु तमन्तरेण सत्यत्वासत्यत्वे सिध्यतः[1] । यतोऽयमर्थं वाक्पादवगतवानस्मि, तमेव प्रमाणान्तरेण प्रत्येमीति प्रत्यभिजानन्वाक्यस्य सत्यत्वमध्यवस्यति । विपर्ययेण सत्यत्वमुक्तनीत्या च वाक्यार्थं न बुद्ध्यादयः प्रत्यभिजानन्तीति तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः । श्रेयः पुरुषप्रीतिः[2] । तेन च पुरुषः प्रमीयते । एवं सुखदुःखाभ्यामप्यात्मा साध्यते । धर्माधर्मयुक्तात्मसाध्यत्वात्तयोस्तुल्यव्युत्पत्तिभिस्तुल्यकुलोत्पन्नैः कर्तृभिः कैश्चिच्छुभानि धर्म्याणि कर्माणि क्रियन्ते, कैश्चित्तद्विपरीतानि । तत्र जन्मान्तरीयधर्माधर्मानुष्ठानाभ्यासवासनाभेदो व्यवस्थापकतयाऽऽत्मसमवायी कल्प्य इति शुभाशुभकर्मणामात्मनि प्रामाण्यम् । निमित्तमुपभुत्यादि । शाकुनं शकुनीनां गतिस्वनादि, तदेव प्रत्यासन्नफलस्य शुभाशुभकर्मणो ज्ञापकत्वाज्ज्ञानम् । ग्रहा आदित्यादयः । तेषां च परस्परं राशिभिर्वा संबन्धः संयोगस्तत्सूचितानि धर्माधर्मफलान्यात्मनि प्रमाणम् । निमित्तसूचितं ह्यदृष्टं जन्मान्तरार्जितमपि संभवति, तच्च देहाद्यतिरिक्तमात्मानमन्तरेण न संभवतीति निमित्तादेवाऽऽत्मनि प्रामाण्यम् । नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि । उडूनि तारास्तेषु ग्रहाणां संचारस्तथा जाग्रदशाभावीनि नक्तंचरदर्शनादीनि । स्वप्नजानि च खराद्यारोहणादिदर्शनानि । तत्सूचितैश्च फलैः पूर्ववदात्मानुमानम् । आकाशादिभिः शरीरेन्द्रियविषयादिरूपेण भोग्यतयाऽवस्थितैर्भोक्ताऽनुमीयते । मन्वन्तराणां स्वायंभुवादीनां च युगानां कृतत्रेतादीनां च विलक्षणस्वभावत्वेनाऽऽत्मसाधकत्वम् । उक्तं च मनुना—

" अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषां वयो ह्रसति पादशः ॥
चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः " इत्यादि ।

ततश्च कृतयुगे प्राणिनां धर्मोपचयः कलावधर्मोपचयस्तेषामेवेत्यनेकयुगस्थायिन्यात्मनि मन्वन्तरादिस्थितिः प्रमाणम् । एवं स एव मन्त्रस्तदेवौषधं कस्य-

---

१ क. 'तः । अतोऽयमर्थं वाक्यादेव' । २ क. 'षप्रतीतिः ।

चिदभीष्टफलदं कस्यचिन्नेति व्यवस्थां घटयितुं जन्मान्तरार्जिताद्दृष्टाश्रय आत्माऽनुमेय इति मन्त्रौषधफलमप्युक्तेऽर्थे प्रमाणम् ॥ १७० ॥ १७१ ॥ ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

किंच—

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ॥
इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥ १७४ ॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसोऽगतेः ॥
उन्मेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥१७५॥
यत एतानि लिङ्गानि दृश्यन्ते परमात्मनः ॥
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१७६॥

यस्मादहंकारादीनि लिङ्गान्यात्मनोऽनुमापकानि दृश्यन्ते तस्मादस्ति देहादन्यः परमः आन्तर आत्मा । सर्वज्ञः सर्वानुभाविता । ईश्वरः स्वामी । विशेषानुपादानात्सर्वस्याहंकारोऽहंप्रत्यय इदंप्रत्ययवेद्ये देहे नोपपद्यते । न ह्यभ्रान्तस्य प्रमेयविशेषे तदन्यवस्तुसंबन्धी प्रत्ययो घटते । तथा मम शरीरमिति प्रत्ययः शरीरादन्यस्याहंभावे घटते नान्यथा । ममाऽऽत्मेति च व्यपदेशो लाक्षणिकः । नाऽऽत्मन्यात्मशब्दः । अन्यथा ममाहमित्युक्तं स्यात् । एवमहंकृतिः शरीरादन्यस्याऽऽत्मनो लिङ्गम् । स्मृतिश्च जन्मान्तरानुभूते स्तनपानादौ भवन्ती सुखसाधनत्वेन भवत्यात्मनि लिङ्गम् । न ह्यधुना तेन देहेन प्राग्भवीयस्तनपानस्यापेक्षितोपायत्वमनुभूतं येन स एव स्मर्ता स्यात् । मेधा ग्रन्थधारणशक्तिर्जन्मान्तरीयतद्ग्रन्थविषयानुभावजनितं संस्कारातिशयं कल्पयति । देहातिरेकिणि संस्कारवत्यात्मनि लिङ्गम् । द्वेषोऽपि संसारे कस्यचित्प्राक्तनार्थपरिचयाज्जायमान आत्मनि लिङ्गम् । स हि दोषस्मरणाद्भवति । तच्च जन्मान्तराधीनमिति भवत्यात्मनि लिङ्गम् । बुद्धिः प्रज्ञा, साऽपि जन्मान्तरायत्तेत्यात्मनि लिङ्गम् । सुखमानन्दः । नासौ शरीरगुणः । वैशेषिकगुणत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । कारणगुणपूर्वको हि यावच्छरीरभावी स्यात् । तस्मान्नायं शरीराकारपरिणतानां भूतानां गुणः किंतु ततोऽन्यस्येति भवत्यात्मनि लिङ्गम् । एवं द्वंद्वसहिष्णुत्वलक्षणा धृतिरपि । इन्द्रियान्तरसंचार इन्द्रियान्तरं प्रति

---

१ ङ. °रणा म° । २ ङ. °तिः । निमेष° । ३ ङ. °वेग इ° । ४ घ. छ. °म आनन्तर । ५ क. °त्मनो लि° । ६ क. °न्तरप्र° ।

गतिः। सा देहस्य सर्वेन्द्रियव्यापिनो नोपपद्यते। आत्मनः पुनरणुपरिमाणान्तःकरणोपहितस्याणोरिन्द्रियसंचारो युज्यते। अत एव बृहदारण्यके—

" अणीयान्नीवारतण्डुलादणीयाञ्श्यामाकतण्डुलात् "

इत्युक्तम्। इच्छाऽपि जन्मान्तरानुभूतस्मृतार्थविषया परमात्मलिङ्गम्। धारणजीविते अपि। धारणं शरीरस्य न तच्छरीरेणैव शक्यं कर्तुम्। एकैकस्यां क्रियायां कर्मकर्तृत्वविरोधात्। शरीरमेव धार्यं तदेव धारकमिति नोपपद्यते। जीवितं प्राणधारणं तदपि न शरीरकार्यं प्रयत्नसाध्यत्वात्। प्रयत्नश्च न शरीरगुणः। अयावद्द्रव्यभावित्वात्पाकान्तरानिवर्त्यत्वाच्च। स्वर्ग(र्गो) लोकान्तरभोग्यं सातिशयं सुखम्। स देहव्यतिरिक्त आत्मा तू(त्मन्यु)पपद्यते। अन्यथा कृतनाशाकृताभ्युपगमप्रसङ्गः स्यात्। स्वप्नप्रत्यय आत्मलिङ्गम्। इह जन्मन्य[न]नुभूतस्य स्वप्ने दर्शनं जन्मान्तरीयानुभवाहितसंस्कारवशाद्भवतीत्यात्मलिङ्गता स्वप्नस्य। भावानां शरीरेन्द्रियाणां स्वकार्ये प्रेरणमात्मलिङ्गम्। न ह्यन्यस्तत्प्रेरकोऽपि। मनसोऽतिसूक्ष्मस्यानेकद्वारे शरीरेऽवस्थितस्यागतिरपतनमात्माश्रितादृष्टनिमित्तमात्मलिङ्गम्। उन्मेषश्च प्रयत्नवदात्मकार्यत्वादात्मलिङ्गम्। चेतना ज्ञानमचेतनारब्धाच्छरीरादन्यश्चे(न्यं चे)तनं गमयति। यत्नश्च शरीराश्रितो न भवतीति स्वाश्रयमात्मानमनुमापयति। देहत्वेन पञ्चानां भूतानां परिग्रहः स्वीकर्तर्यात्मनि लिङ्गम्॥ १७४॥ १७५॥ १७६॥

आत्मन उक्तां सर्वज्ञतामुपपादयन्नाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च॥
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि॥ १७७॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते॥
ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन्सदसच्च यः॥ १७८॥

बुद्धेर्गन्धादिसाक्षात्कारस्य करणतया संबन्धीनि घ्राणादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। तानि चार्थैर्गन्धादिभिर्विषयैः सहितानि सार्थानि। मनोऽन्तःकरणम्। कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि। बुद्ध्यहंकारौ, पृथिव्यादीनि पञ्च भूतानि, अव्यक्तं प्रधानमित्येतस्य क्षेत्रस्याऽऽत्मा सर्वेश्वरः सर्वभूतहृदये भासमानोऽत एव सन्स एव विभक्तयाऽनवभासमानतयाऽसन्। सदसद्भावाभावप्रकृतित्वाज्ज्ञाता, तस्मात्क्षेत्रज्ञ इति तज्ज्ञैरुच्यते॥ १७७॥ १७८॥

---

१ क- °निर्वर्त्यत्वा°। २ घ. छ. °लिङ्गिता। ३ घ. छ. °ति। प्रय°।

बुद्ध्यादीनां कारणान्याह—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः ॥
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि तु ॥ १७९ ॥

बुद्धेर्विषयनिश्चयहेतोरन्तःकरणस्याव्यक्तात्प्रधानादुत्पत्तिः। समानि सत्त्वरजस्तमांसि अव्यक्तं, ततो बुद्धेरहंकारस्य ज्ञानक्रियाकर्तृत्वाभिमानिनोऽन्तःकरणस्य संभवो जन्म। सूक्ष्माः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्राणि तान्यादियेषां भूतानामिन्द्रियाणां च तावन्मात्रादीनि तान्यहंकाराज्जायन्ते। भूतानि तु तन्मात्रव्यवधानेन। अहंकारश्च त्रिविधः, सात्त्विकः स एव तैजस इति पुराणेषु गीयते। तस्माद्बुद्धीन्द्रियाणामुदयो राजसोऽपरः। तस्माद्वैकारिकसंज्ञात्कर्मेन्द्रियाणां तामसस्तृतीयो भूतादिसंज्ञकस्तस्माच्छब्दादितन्मात्राणि तेभ्यो यथाक्रमं व्योमादिभूतानि[1] तानि च वक्ष्यमाणैः शब्दादिभिर्गुणैरेकोत्तरगुणानि। तत्र व्योम्नि शब्द एको गुणो वायोः स च स्पर्शश्च। तेजसि तौ च रूपं च। अम्भसि ते च रसश्च, भूमौ गन्धश्च पञ्चमः ॥ १७९ ॥

गुणानाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

ये व्योमादीनामेकोत्तरगुणा उक्तास्ते शब्दादयो गन्धपर्यन्ताः। यश्चैषां बुध्यादीनां मध्ये यस्मात्कारणादव्यक्तादेः सृष्टिकाले निःसृतोऽभिव्यक्तः स तस्मिन्नेव कारणात्मनि प्रलयकाले लीयते तिरोहितो भवति। तत्र च निःसृतो लीयत इति वदता सत्कार्यवादो दर्शितः ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थोपसंहारमाह—

यथाऽऽत्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ॥
विपाकान्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥१८१॥

ईश्वरः स्वतन्त्रोऽपि सन्नात्मा यथाऽऽत्मानं देहवन्तं मानसवाचिककायिकतया सात्त्विकराजसतामसतया त्रिविधस्य कर्मणो विपाकपूर्वं[2] तदुपादानवशात्सृजति, तथा वो युष्मभ्यं हे मुनयो मया कथितः ॥ १८१ ॥

---

१ क. तानि तन्मा°। २ घ. छ. °नि च। ३ घ. छ. °पाकोऽपू°।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्य[1] प्रकीर्तिताः ॥
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भ्राम्यते हि सः ॥ १८२ ॥

सत्त्वादयो गुणास्तस्य क्षेत्रज्ञस्य तन्निबन्धनबन्धमुक्तिभोक्तित्वात्, तदेव दर्शयति—रजस्तमोभ्यामित्यादिना । अर्थाच्च केवलसत्त्वोद्रेकेण विमुच्यत इत्यपि दर्शितम् । चक्रदृष्टान्तेन चानवस्थितत्वमुक्तं, ततश्च तमसाऽऽत्मस्वरूपापरिज्ञानात्मको मोहः । रजसा च फले रागात्कर्मसु प्रवृत्तिस्ततः कर्मफलस्य जात्यायुषोः सुखदुःखानुभवस्य चोदय इत्येतच्चक्रवच्चक्रम् । एतस्य परिवर्तनादात्माऽपि परिवर्तत इत्युपचर्यते ॥ १८२ ॥

अनादिरादिमांश्चैव[3] स एव पुरुषः परः ॥
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

स्वरूपतोऽनादिरादिमच्छरीरयोगित्वादादिमान् । परम औपनिषदः पुरुष एव क्षेत्रज्ञः समस्वरूपतो विकारतश्च यथासंख्यं लिङ्गेन्द्रियग्राह्यः । तत्राहंकारादिभिर्लिङ्गैः क्षेत्रज्ञात्मनो रूपं गृह्यते । तद्विकारस्तु शब्दादिभिरिन्द्रियैरेवंविध उक्त उत्तरश्लोकार्थतयाऽनुवादः ॥ १८३ ॥

पितृयानोऽजवीथ्याश्च[5] तथाऽ(यद)गस्त्यस्य चान्तरम् ॥
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथीमाह गर्गः—

"हस्तश्चित्रा विशाखिका अजवीथी" इति ।

कश्यपस्तु श्रवणादिनक्षत्रत्रयमजवीथीमाह—"अजवीथी विष्णुमाद्या" इति । तस्याश्चागस्त्यस्य यदन्तरं स पितृयानसंज्ञको मार्गः । तेन काम्यकर्मकारिणो दिवं स्वर्गं यान्ति[6] । अग्निहोत्रग्रहणं चैतानिककर्मप्रदर्शनार्थम् । दुःखसंभिन्नचिरकालोपभोग्यसुखानुभवास्पदीभूतो देशविशेषो द्यौः ॥ १८४ ॥

किं च—

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ॥
तेऽपि तेनैव (मार्गेण) सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

ये च सम्यग्दानादिपूर्तधर्मनिरतास्तथा दया सर्वेषु भूतेषु, क्षान्तिरनसूया

---

१ ङ. °स्तस्यैव की° । २ घ. छ. °भावात् । त° । ३ क. घ. छ. °दिमानादिमांश्च स । ४ क. सर्वस्व° । ५ ङ. °याणोऽज° । ६ क. घ. छ. गच्छन्ति ।

शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेत्यष्टाभिरात्ममुणैर्युक्ताः । ये च नियमेन सत्यवादिनस्तेऽपि पितृयानेनैव मार्गेण दिवं यान्ति ॥ १८५ ॥

तन्मार्गगामिनां(णां) पुनरावृत्तिमितिहासमुखेनाऽऽह—

*अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ॥
पुनरावृत्ति(वर्ति)नो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयस्तापसाः । इष्टापूर्तधर्मकारिण इति यावत् । गृहमेधिनो गृहस्थाः । अनेन चाकाम्यकर्मकारित्वं सूचयति । पुनरावर्तिनः पुनर्जन्मभाजः । जगत्सृष्टेर्धर्मप्रभावायास्ते प्रागनुष्ठितधर्मत्वाद्बीजभूताः । प्रवृत्त्याख्यस्य धर्मस्य च प्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते देवलोकं समाश्रिताः ॥
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ॥
तत्र गत्वाऽवतिष्ठन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १८८ ॥

नागवीथीमाह गर्गः—

"कृतिका भरणी स्वातिर्नागवीथी प्रकीर्तिता" इति ।

देवलस्तु—"अश्विन्यादित्रिभाः सर्वा नागाद्या दहनान्तिकाः" ।

अयमर्थः—प्रत्येकमश्विन्यादित्रिनक्षत्रा नागाद्या नव वीथयः । नागा गजा ऐरावती ऋषभा गौर्जरद्रवी मृगी अजा दहनेति । तस्या नागवीथ्याः सप्तर्षीणां च यदन्तरालं तेन मार्गेण गत्वाऽष्टाशीतिसहस्राण्येव मुनयः सकलनिषिद्धकाम्यकर्मारम्भनिवृत्तास्तपसाऽवश्यकेन वर्णधर्मेण तथा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन धर्मानुष्ठाननिमित्तख्यातिलाभपूजापरित्यागेन मेधया मेधाकार्येण वेदधारणेन युक्ता देवलोकं समाश्रित्य तत्र यावदाभूतसंप्लवं महाप्रलयं यावदवतिष्ठन्ते । तेऽपि पूर्ववत्पुनरावर्तिनो बीजभूता निवृत्तधर्मप्रवर्तकाश्च ॥ १८७ ॥ ॥ १८८ ॥

एवं श्लोकद्वयेनाऽऽत्मज्ञानरहितं काम्यं कर्माऽऽवश्यकं वा कुर्वतां पुनरावृत्तिरुक्ता । "स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः" इत्यादौ त्वात्मज्ञानसहितस्य कर्मणोऽना-

* तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनय इति ङ. पुस्तके पाठः ।

१ घ. छ. °वृत्ताख्य° । २ क. °थ्यन्तं दे° । ङ. °थ्यन्तर्देव° । ३ क. निर्वृत्ति° ।

वृत्तिफलत्वं वक्ष्यति । तत्राधुना तावज्ज्ञातव्यमात्मानं तज्ज्ञानोपायं च श्लोकद्वयेनाऽऽह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ॥
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् १८९
वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ॥
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

द्विधा ह्यात्मा व्यवस्थितो बन्धवर्तितया तद्रहिततया च । तस्य यन्मुक्तस्वभावं रूपं तत्सर्वेश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिगुणयोगित्वेन वेदान्तैरुपास्यतयोच्यते, न पुनर्यद्बद्धस्वभावम् । प्रकाशते हि स्वत एव तत्सर्वेषां हृदयेषु तत्प्रकाशाधीनो विश्वप्रकाशः ॥

" तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " इति ।

तत्र शास्त्रेण यदुपास्यतयोक्तं तदुपलक्षयितुमिदमुच्यते—यतो वेदा इत्यादि । यतो जगत्कारणाद्वेदाः श्रुतयः, पुराणानि प्रसिद्धानि । अन्याश्च धर्मशास्त्राद्या उपनिषदो ब्रह्मावबोधका वेदभागाः । तासाममृतीभावहेतुविज्ञानविधायकत्वात्प्राधान्येन वेदत्वे सत्यपि पृथग्ग्रहणम् । ये च(तथा)केचन श्लोकाः—

" यदक्षरं पञ्चविधं समेति " इत्येवमादयः । सूत्राणि विवक्षितार्थवाचकानि वाक्यानि । भाष्याणि सूत्रादीनां विवरणानि । अन्यदपि वाङ्मयं यत उद्भूतं तस्य परमात्मनो वेदानुवचनादयो ज्ञानहेतवः । वेदानुवचनं वेदाध्ययनं, गुरुवचनमनु पश्चाद्वचनमनुवचनम् । अनेन च सर्वस्य वेदाध्ययनस्य गुर्वध्ययनपूर्वकत्वं वदन्वेदस्यापौरुषेयत्वं गमयति । यत्तु परमात्मसकाशाद्वेदानामुदय इत्युक्तं न तेन वेदानां पौरुषेयतापत्तिः । प्रमाणान्तरेण हि वाक्यार्थं निश्चित्य तत्प्रतिपादनायेदं प्रथमतया वाक्यस्योत्पादितत्वं पौरुषेयत्वम् । अत एव बृहदारण्यके निःश्वसिततुल्यत्वमुक्तम्—

" स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि " इति ।

---

१ क. यच्च किञ्चन वाङ्मयम् । वें । २ क. तस्य ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारिकर्म । श्रद्धा भक्तिरास्तिक्यं वा । उपवासो गुरूपास्तिः । स्वातन्त्र्यं वश्येन्द्रियता । प्रसिद्धमन्यत् ॥ १८९ ॥ १९० ॥

पूर्वश्लोके ये निर्दिष्टा वेदानुवचनादयोऽर्थास्त एव ब्रह्मज्ञानस्वरूपमात्रोत्पादकतया विनियुक्ता इति भ्रान्तिनिरासायाऽऽह—

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समग्रैरेवमेव तु ॥
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥

स खलु परमात्मा समस्तैश्चतुर्भिरप्याश्रमैर्विजिज्ञास्यो विशेषतो ज्ञातुमेष्टव्यः । अत्र परमात्मविषयविज्ञानस्याऽऽश्रमान्प्रति साध्यता प्रत्येतव्या, इष्यमाणत्वात् । न पुनस्तद्विषयेच्छाया[1] इष्यमाणत्वं प्रति गुणत्वात् । प्रधानं च पदार्थान्तरेण संबध्यते[2] न गुणः । न च प्रत्ययार्थत्वेनेच्छायाः प्राधान्यं वाच्यम् । स हि सन्प्रत्ययेन धात्वर्थमीप्सिततमं प्रति गुणत्वेनैवोच्यते, तेन प्रत्ययार्थत्वेऽपि तस्या गुणभाव एव प्रयोजनवानेव च धात्वर्थ इष्यते, न सुखावाप्तिवत्स्वरूपेण । तेन " ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति । [ * न च (स) पुनरावर्तते " इत्यादिवचनावगतौ(ता) पुनरावृत्तिप्रयोजनं विज्ञानमाश्रमाणां साध्यमित्युक्तं भवति ]। ब्रह्मज्ञानस्य सप्रयोजनत्वादेव तद्विषयेच्छासिद्धेर्नेच्छाया विधेयता । अप्राप्तविषयत्वाद्विधेः । किं पुनस्तज्ज्ञानं वेदितव्यमित्यपेक्षित उक्तं—द्रष्टव्य इति । द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थः । दर्शनोपायतयोक्तं—मन्तव्य इति । श्रुतस्य युक्तिभिरनुसंधानं मननम् । तच्च श्रवणमन्तरेण न संभवतीति मत्वोक्तं—श्रोतव्य इति । उपनिषद्वाक्येभ्योऽवधारणीयः । द्विजातिभिरिति शूद्रव्युदासार्थम्[3] ॥ १९१ ॥

विहितयोर्ज्ञानकर्मणोः फलमाह—

य एवमेनं विन्दन्ति ये चाऽऽरण्यकमाश्रिताः ॥
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ॥
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम्[4] ॥ १९३ ॥

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते घ. छ. पुस्तकयोः ।

---

१ ङ. °मस्तैरे° । २ क. °येच्छया । ३ घ. छ. °माणं प्र° । ४ घ. छ. °ते गु° । ५ घ. छ. °जनादे° ।

ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानवो ब्रह्मलौकिकान् ॥
करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ये द्विजातय एनं परमात्मानमेवं श्रवणमननाभ्यां विन्दन्ति लभन्ते ब्रह्माहमस्मीति साक्षात्कुर्वन्ति, ये चाऽऽरण्यकमारण्याध्येतव्यं ब्रह्मविद्यात्मकं वेदभागं ब्रह्मप्रमाणतया समाश्रिताः सन्तः परमया भक्त्योपेताः सत्यं यथार्थभूतं परमेश्वरमुपासते ध्यायन्ति। अत्र ये चेत्युपासकत्वेन श्रवणमननं(न) कर्तृत्वेन समुच्चयार्थश्चकारो न पुरुषव्यक्तिसमुच्चयार्थः। तेन श्रवणमननध्यानार्चनवन्तो देहादुत्क्रम्य वक्ष्यमाणार्चिराद्यभिमानिनीर्देवताः संभवन्ति प्राप्नुवन्ति। अर्चिरग्निः। अहः दिवसः। शुक्लः शुक्लपक्षः। उत्तरमयनं सूर्यस्योदगयनम्। देवलोकसवितृवैद्युताः प्रसिद्धाः। ततो वैद्युताग्निं प्राप्तांस्तान्मानवः पुरुषोऽभ्येति। ततोऽसौ ब्रह्मलौकिकान्ब्रह्मलोकनिवासिनस्तान्करोति। ब्रह्मलोकं प्राप्तानां न पुनरावृत्तिर्जन्म न विद्यते ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

काम्यकर्मकारिणः प्रत्याह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ॥
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ॥
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥

फलार्थं विहितैर्यज्ञतपोदानादिभिर्ये स्वर्गं जितवन्तः स्वर्गप्रदं धर्मं कृतवन्तस्ते वक्ष्यमाणक्रमेण धूमादीन्संभवन्ति। धूमाद्यभिमानिनीर्देवताः प्राप्नुवन्ति। तत्र चन्द्रं यावदारोहणं वाय्वाद्यवरोहणं महीं पृथ्वीं तत्रत्यानोषधिवनस्पतीन्संभवन्तीत्यर्थः। तत ओषधिवनस्पतीन्भुक्तवतोः स्त्रीपुरुषयोर्विशुद्धे शुक्रशोणिते पञ्च धातूनित्यादि पूर्वोक्तमनुसंधेयम्। न पुनर्यज्ञाद्यनुष्ठाय देहपातादूर्ध्वमुक्तक्रमेण यान्त्यायान्ति च। अत एवोक्तं भगवता—

" गतागतं कामकामा लभन्ते "

इति गीतासु ॥ १९५ ॥ १९६ ॥

उक्तविपर्यये दोषमाह—

---

१ ङ. °नसो ब्र°।

एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मनः ॥
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः॥ १९७॥

उक्तमात्मनो मार्गद्वयं यो न विजानाति ज्ञात्वा च तन्मार्गगमनोपायं नानुतिष्ठति, स दन्दशूकः सर्पः पतङ्गः पक्षी कृमिः कीटो वा भवेत् ॥ १९७ ॥

उपासनेतिकर्तव्यतामाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्येतरं करम् ॥
उत्तानं किंचिदुन्नम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९९ ॥
संनिरुद्धेन्द्रियग्रामो नातिनीचोच्छ्रितासनः ॥
द्विगुणं त्रिगुणं वाऽपि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥
ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥
धारयेत्तत्र चाऽऽत्मानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

अनतिनीचोच्छ्रित आसन उपविश्योत्तानौ चरणौ स्थापयित्वा पद्मासनं बद्धेति यावत् । तदुपरि सव्ये करे दक्षिणं करमुत्तानं निधायाऽऽस्यं किंचिदुन्नम्य वक्षसा च कायं विष्टभ्याक्षिणी निमील्य रागद्वेषादिरजस्तमःकार्यविरोधि सत्त्वकार्यं मनःप्रसादादिकमास्थाय दन्तपङ्क्त्योरन्योन्यसंस्पर्शं परिहरंस्तालुनि जिह्वामचलां कृत्वा निष्कम्पः सन्विषयेभ्य इन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य द्वादशमात्रिकात्कनीयसः प्राणायामाद्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामं कुर्यात् । ततो हृद्योम्नि हितसंज्ञकनाडीसंभेदलक्षणे दीपवदवस्थित आत्मा सर्वेश्वरो ध्येयश्चिन्तनीयः । ध्यानानन्तरं धारणां कुर्वंस्तत्राऽऽत्मन्यात्मानमात्मीयं मनो धारयेन्नियच्छेत् । दत्तात्रेयः—

" निवाते विजने स्थाने शुभे चैव मनोरमे ।
निर्जन्तुके निराबाधे शर्करावालुकादिभिः ॥
शब्दादिवर्जिते स्थाने शुभं कृत्वा तु संस्तरम् ।
बद्ध्वा सुखासनं तत्र प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ॥

---

१ ङ. °त्मवान् । द° । २ ङ. न्यस्योत्तरं । ३ ङ. °रुध्येन्द्रियग्रामं ना° । ४ छ. °क्षणी दी° ।

कृत्वा सुसंनतं देहं सुसमं योगवित्तमः ।
नमस्कृत्य महादेवं महायोगीश्वरं हरिम् ॥
शोधयित्वा पुरा नाडीः प्राणायामांश्चरेत्ततः ।
प्राणायामांश्चरेत्तावद्यावच्चित्तं प्रसीदति " ॥

**महाभारते**—" यमनियम(मासन) प्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य " ॥

**ब्रह्मपुराणे**—" ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन् ॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ॥
एते यमाश्च नियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां(णां) विमुक्तिदाः ॥
एकं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युतः ।
यमाख्यैर्नियमाख्यैश्च युञ्जीत नियतो मुनिः " ॥

**वायुपुराणे**—"पद्ममर्धासनं वाऽपि तथा स्वस्तिकमासनम् ।
आस्थाय योगी युञ्जीत कृत्वा तु प्रणवं हृदि " ॥

**मार्कण्डेयपुराणे**—" प्राणापाननिरोधश्च प्राणायाम उदाहृतः " ॥

**विष्णुपुराणे**—" प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्क्रिय(त्कुरु)ते हि यः ।
प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च " ॥

**सबीजः** समन्त्रकः । **अबीज** इतरः ।

**मार्कण्डेयपुराणे**—" लघुमध्योत्तरीयाख्यः प्राणायामस्त्रिधोदितः ।
तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि तदलर्कं शृणुष्व मे ॥
लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः ।
त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः स उदाहृतः ॥
निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरस्तथा " ॥

**योगयाज्ञवल्क्यः**—" अङ्गुलिमोक्षत्रितयं जान्वोः परिमार्जनं वाऽपि ।
तालत्रयमपि तज्ज्ञा मात्रासंज्ञं प्रशंसन्ति " ॥

---

१ ख. °योगेश्च° । २ क. °प्रहम् । से° । ३ ख. °न् । संवीत । ४ क. °तां समनो नयेत् । स्वा° । ५ क. °न्प्रणवं । ६ क. °ध्योत्तरी° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

देवलः—" त्रिविधः प्राणायामः कुम्भो रेचनं पूरणमिति ।
निःश्वासनिरोधः कुम्भः । अजस्रनिःश्वासो रेचनम् ।
निःश्वासाध्मानं पूरणमिति । स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घा-
तैर्मृद्वंस(दुर्म)न्दस्तीक्ष्णो वा भवति । प्राणापानव्यानोदान-
समानानां सकृदुद्गमनं(म्य) मूर्धानमाहत्य निवृत्तिरुद्घातः " ॥

मार्कण्डेयपुराणे—" प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम् ।
विषादं तु तृतीयेन जयेद्दोषमनुक्रमात् ॥
मृदुत्वे सेवमानस्य सिंहशार्दूलकुञ्जराः ।
यथा यान्ति तथा प्राणो वश्यो भवति योगिनः ॥
वश्यं सन्तं यथेच्छातो नागं वहति हस्तिपः ।
तथैव योगी छन्देन प्राणं नयति साधितम् ॥
यथा हि साधितः सिंहो मृगान्हन्ति न मानवान् ।
तद्वन्निषिद्धः पवनः किल्बिषं न नृणां तनुम् ॥
तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
इत्थं योगी यताहारः प्राणायामपरायणः ॥
जितां जितां शनैर्भूमिमारु(रो)हेत्तु यथा गृहम् ।
दोषान्व्याधिं तथा मोहमाक्रान्ता मूरनिर्जिता ॥
विवर्धयति नाऽऽरोहेत्तस्माद्भूमिमनिर्जिताम् ।
प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीया च तथोरसि ॥
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्धसु ।
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा परमा स्मृता ॥
दशैता धारणाः प्राप्य प्राप्नोत्यक्षरसात्म्यताम् ।
नाऽऽध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ॥
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमादृतः ।
नातिशीते न चैवोष्णे द्वंद्वे नाम्बवनिलात्मके ॥
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ।
सशब्देऽग्निजलाभ्याशे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे ॥
शुष्कपर्णचये नद्यां श्मशाने ससरीसृपे ।
सभये कूपतीरे वा चैत्यवल्मीकसंचये ॥

---

१ छ. 'मृदुस्ती'। २ छ. मृतत्वंसे'। ३ छ नियति । ४ छ. 'जिताः । वि' । ५ क. नेत्रेभ्रू'।

देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत् ।
सत्त्वस्यानुपपत्तौ च देशकालविवर्जिते ॥
न सतो दर्शनं यागं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।
दोषानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै ॥
विघ्नाय तस्य ये दोषा जायन्ते तान्निबोध मे ।
बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता ॥
ज्वरश्च जायते सद्यस्तद्वदज्ञानयोगिनः ।
प्रमादाद्योगिनो दोषा यद्येते स्युश्चिकित्सितम् ॥
तेषां नाशाय कर्तव्यं योगिनस्तन्निबोध मे ।
स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत् ॥
वातगुल्मप्रशान्त्यर्थं गुल्मावर्ते तथा दधि ।
यवागूं वाऽपि पवनं वायुग्रन्थीन्प्रति क्षिपेत् ॥
तद्वत्कम्पो(म्पे) महाशैलं स्थितं मनसि धारयेत् ।
विघाते वचसो वाचि बाधिर्ये श्रवणेन्द्रिये ॥
तथैवाऽऽम्लफलं ध्यायेत्तृषार्ते रसनेन्द्रिये ।
यस्मिन्यस्मिन्रुजा देशे तस्मिंस्तदुपकारिणीम् ॥
धारयेद्धारणामुष्णे शीतां शीते विदाहिनीम् ।
कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् ॥
लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तेन जायते ।
यावत्पृथिव्यां वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत् ॥
अमानुषात्सत्त्वजाताद्बाधा स्याच्चेच्चिकित्सयेत् ।
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं(नः) प्रविशेद्यदि ॥
वाय्वग्निधारणादेनं देहसंस्थं विनिर्दहेत् ।
एवं सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदा नृप ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ।
प्राणायामा दश द्वौ च धारणा साऽभिधीयते ॥
द्वे धारणे स्मृते योगे योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
तथा वै योगयुक्तस्य योगिनो नियतात्मनः ॥

---

१ क. °धितं ज° । २ क. स्मृतियोगो यागि° ।

( यतिप्रकरणम् ४ )

सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति स्वस्थश्चैवोपजायते ।
ईक्षते च परं ब्रह्म प्राकृतांश्च गुणान्पृथक् ॥
व्योमादिपरमाणूंश्च तथाऽऽत्मानमकल्मषम् " ।

**तथा**—" शब्दादिभ्यो निवृत्तानि यदक्षाणि यतात्मभिः ।
प्रत्याह्रियन्ते योगेन प्रत्याहारस्ततः स्मृतः " ॥

**हारीतः**—" अणुत्वाल्लाघवाच्चापलाद्वायोर्योगभ्रष्टस्य मनसः समानीयार्थे योजनं प्रत्याहारः " ।

**विष्णुपुराणे**—" शब्दादिष्वनुरक्तानि सम्यगक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारः स उच्यते ॥
वश्यता परमा तेषां जायतेऽतिबलात्मनाम् ।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधनः " ॥

**देवलः**—" शरीरेन्द्रियमनोबुध्यात्मनां धारणोद्धारणा " ।

अत्राऽऽत्माऽहंकारः ।

**शङ्खः**—" मनःसंयमनात्तज्ज्ञैर्धारणेति निगद्यते " ।

**मार्कण्डेयपुराणे**—" योगयुक्तः सदा योगी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सूक्ष्मास्तु धारणाः सप्त भूराद्या मूर्ध्नि धारयेत् ॥
धरित्रीं धारयन्योगी गन्धसौक्ष्म्यं प्रपद्यते ।
आत्मानं मन्यते पृथ्वीं तद्गन्धं च जहाति सः ॥
तथैवाप्सु रसं सूक्ष्मं तद्द्रवं च तेजसि ।
स्पर्शं वायौ तथा तद्वद्विभ्रतस्तस्य धारणाम् ॥
व्योम्नः सूक्ष्मप्रवृत्तस्य शब्दं तद्वज्जहाति सः ।
मनसा सर्वभूतानां मन आविशते यदा ॥
मानसीं धारणां बिभ्रन्मनःसौक्ष्म्यं जहाति च ।
तद्वद्बुद्धिमशेषाणां सत्त्वानामेत्य योगवित् ॥
परित्यजति संप्राप्य बुद्धिसौक्ष्म्यमनुत्तमम् ।
एतासां धारणानां तु सप्तानां सौक्ष्म्यमाप्तवान् ॥

---

१ क.घ. स्वस्तिश्चै°। २ क. °क्षित्त्वानु°। ३ छ. °वद्यैस्तै°। ४ क. °णा । अ°। ५ क. यदि । ६ क. °मनन्तरम् । ए° ।

दृष्ट्वा दृष्ट्वा ततः सिद्धिं त्यक्त्वा त्यक्त्वा परां[1] भजेत् ।
एतान्येव च संधाय सप्त सूक्ष्माणि पार्थिव ॥
भूरादीनां[2] विरागोऽत्र सद्भावज्ञस्य मुक्तये[3] ” ।

विष्णुपुराणे—“प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ।
वशीकृतं ततः कुर्यात्स्थितं चेतः शुभाश्रये ॥
तद्रूपप्रत्ययायैकसंततिः साऽन्यनिःस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते[4] नृप ” ॥

अयमर्थः—ब्रह्मरूपप्रत्ययात्मिका संततिः प्रवाहः, सा विषयान्तरासंस्पृष्टा सती ध्यानमित्युच्यत इति ।

तथा—तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते[5] ” ॥

तस्य ब्रह्मणः कल्पनाहीनं ध्येयं ध्यानं ध्यातेतिभेदप्रत्ययरहितं ध्यानजनितसंस्कारसहितेन मनसा निर्विकल्पकमहं ब्रह्मास्मीति प्रत्यक्षसमाधिः । ध्रियमाणशरीरस्य ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि मानस इत्यभिप्रायेण मनसेत्युक्तम् । मुक्तावेव स्वयंप्रकाशो ब्रह्मीभावः । शरीरपातोत्तरकाला च मुक्तिरित्यतो वाक्याद्गम्यते ।

विष्णुः—“ ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये करे करं न्यस्य तालुस्थाचलजिह्वो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्स्वं नासाग्रं पश्यन्दिशस्त्वनवलोकयन्विभीः प्रशान्तात्मा चतुर्विंशत्यात्मतत्त्वैर्व्यतीतं चिन्तयेन्नित्यमतीन्द्रियमगुणं शब्दस्पर्शरसरूपगन्धातीतं सर्वस्थमतिस्थूलं सर्वगमतिसूक्ष्मं सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखं सर्वतःशक्तिमेवं ध्यायेत् । ध्याननिरतस्य संवत्सरेण योगाविर्भावो भवति । अथ निराकारे लक्ष्यबन्धं कर्तुं न शक्नोति, तदा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादिमनोबुद्ध्यात्माव्यक्तपुरुषाणां पूर्वं पूर्वं ध्यात्वा तत्र लब्धलक्ष्यस्तं परित्यजेदपरमपरं ध्यायेत् । एवं पुरुषो ध्यानमारोहेत् । तत्राप्यस-

---

१ क परं । २ क. भूतादी° । ३ क. ‘वस्य च मुं । ४ क. मनस । ५ क. ‘पो योगमा° ।

मर्थो हृदयपद्मस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत् । एवं पुरुषध्यानमपोहेत् । तत्राप्यसमर्थो भगवन्तं वासुदेवं कुण्डलिनमङ्गदिनं वनमालाविभूषितोरस्कं स्वरूपं चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापद्मधरं चरणमध्यगतवसुधं ध्यायेत् । यद्यध्यायति तत्तदाप्नोतीति ध्यानगुह्यम् । तस्मात्सर्वमेव क्षरं त्यक्त्वाऽक्षरमेव ध्यायेत् । न पुरुषं विना किंचिदप्यक्षरमस्ति तं प्राप्य मुक्तो भवति ''।

मनुः—"पुरमाक्रम्य सकलं शेते यस्मान्महाप्रभुः ।
तस्मात्पुरुष इत्येव प्रोच्यते तत्त्वचिन्तकैः ॥
प्राप्रात्रापररात्रेषु योगी नित्यमतन्द्रितः ।
ध्यायते पुरुषं नित्यं निर्गुणं पञ्चविंशकम् ॥
एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥
एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वमात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥
खं संनिवेशयेत्खे तु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।
पङ्क्तिदृष्टोः[1] परं तेजः स्नेहोऽ(हेऽ)पो गां च मूर्तिषु ॥
मनसीन्द्रं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् ।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥
प्रशासितारमेतेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षये नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥

---

१ क. ध्यानं गु° । २ क. °दृष्टोः प° । ३ क. °सीन्द्रदि° ।

य एवं सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् " ॥ १९८ ॥
॥ १९९ ॥ २०० ॥ २०१ ॥

योगसिद्धेर्लक्षणमाह—

**अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ॥**
**निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥ २०२ ॥**
**अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेस्तु लक्षणम् ॥**
**सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥**

अन्तर्धानमदृश्यशरीरत्वम् । तच्चाणुपरिमाणत्वे तस्य भवति । तच्चाणिमाख्यगुणप्राप्त्या, स्मृतिर्जन्मान्तरानुभूतार्थविषया । कान्तिः कमनीयत्वं, दृष्टिरतीतानागतव्यवहितविप्रकृष्टार्थविषया । श्रोत्रज्ञता श्रोत्रेन्द्रियसाक्षात्कारित्वम् । अनेन चाऽऽत्मव्यतिरिक्ताव्यक्तबुद्ध्यहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चभूतानां साक्षात्कारित्वमुपलक्ष्यते । निजं स्वकीयं शरीरं पूर्वकर्मारब्धमुत्सृज्य परकायं प्रविश्य तदन्तर्गततया तद्विषयोपभोक्तृत्वम् । अर्थानां पृथिव्यादीनां स्रष्टव्यानां स्वेच्छया स्वातन्त्र्येणोत्पादनमित्येतद्योगसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम् । एतच्च लक्षणमेव योगसिद्धेर्न प्रयोजनम् । प्रयोजनं त्वमृतीभाव एव, तदाह—सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पत इति । त्यजन्देहमितिवचनसामर्थ्याच्छरीरे नास्ति मुक्तिरिति दर्शयति । युक्तं चैतत् । मुक्तिर्हि बन्धाभावः । बन्धश्चोपाधिभूतान्तःकरणसंबन्धः । शरीरं च बध्यतेऽन्तःकरणेन, शरीरी तेनोपाधीयत इति व्याहतम् । रागद्वेषमोहादीनां क्षयोऽन्तर्धानादिगुणोदयश्च न मोक्षः, प्रत्युत मोक्षान्तरायः । अत एव च तत्राऽऽसक्तिर्योगिना परिहरणीयेति यत्नतः शास्त्रकारैरुच्यते ॥ २०२ ॥ २०३ ॥

एतत्सर्वं यतिं प्रत्यभिहितम् । वानप्रस्थं प्रतीदानीमाह—

**अथवाऽप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ॥**
**अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२०४ ॥**

चतुर्णां वेदानामेकं वेदमेकां शाखामरण्ये विजने । अयाचिताशी स्वयमुपनताशी, मितभुक्प्राणधारणायैव भुञ्जानो न्यस्तकर्मा त्यक्तकाम्यनिषिद्ध-

---

१ क. °दृश्य° । २ क. °तात्मवि° । ३ छ. °नां द्रष्ट° । ४ क. प्रचक्ष° । ५ क. °रणयै° ।

क्रियः । अथवा ब्रह्मणि निक्षिप्तावश्यकक्रियः । परां सिद्धिं मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

इदानीं गृहस्थं प्रत्याह—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ॥
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥२०५॥

न्यायेनानिषिद्धेन कर्मणाऽर्जितं स्वीकृतं धनं येन स न्यायार्जितधनः । तथा तत्त्वज्ञाने निष्ठा तात्पर्यं यस्य स तत्त्वज्ञाननिष्ठः । अतिथयः प्रिया यस्य सोऽतिथिप्रियः । तत्प्रियत्वेन च तत्पूजकत्वं लक्ष्यते । श्राद्धमावश्यकं पार्वणादिकं करोतीति श्राद्धकृत् । भूतहितार्थं वाक्यं सत्यं तद्वदतीत्येवंशीलः सत्यवादी । एवंविधो गृहस्थोऽपि विमुच्यतेऽपवृज्यते । अपिशब्देनान्येऽप्याश्रमिणो गृह्यन्ते । अत्र च न्यायार्जितधनत्वादिभिर्वर्णाश्रमधर्मा नित्यनैमित्तिकाश्चोपलक्षिता ज्ञानसहिता मुक्तये विधीयन्ते, तदेतद्व्याख्यानं केचिन्नानुमन्यन्ते, यत एतदर्थायाः स्मृतेरस्याः श्रुतिविरोधः स्यात् । तथा हि—

" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति "

इत्यनेन गृहस्थधर्माणां यागादिकर्मप्रजोत्पादनादीनाममृतत्वप्राप्तिहेतुभावं प्रतिषिध्य यतीनामेव तत्प्राप्तिर्विधीयते । तेनात्र त्यागशब्देन ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयकर्मणां त्यागादमृतीभाव इति प्रतिपाद्यते । तथा यतिव्यतिरिक्ताश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिर्यतेरेवामृतप्राप्तिरिति च्छान्दोग्योपनिषत्—

" सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति " इति ॥

ब्रह्मसंस्थो भिक्षुः । तथाऽग्निहोत्रादीन्यावश्यकानि कर्माणि दुरितक्षयाय श्रुत्या विहितानि । तानि मुक्तये विदधाना स्मृतिः श्रुत्या विरुध्यत एव । यदुच्यते श्रुत्यैव—

" विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा न चै(ऽनाश)केन "

इत्यादिकया वर्णाश्रमकर्माणि मुक्तौ विनियुक्तानीति, तन्न ब्रह्मज्ञानेच्छायामेव ह्येषा श्रुतिः कर्मणां विनियोक्त्री, न मुक्तौ नापि तत्साधने ज्ञाने । इच्छाऽपि च विधेयप्रतियोगिनी भवति । यथा भेषजविशेषस्य बुभुक्षा । ननु च

---

१ ङ. °यागत° । २ छ. यद्युच्य° । ३ छ. विधीय° ।

प्रधानेऽन्यत्प्रधीयते न गुणे, विविदिषन्तीत्यत्र च वेदनमिच्छां प्रति प्रधानम्। तेन विद्यायामेवमाद्येच्छां प्रति कर्मीभूतायां कर्मणां विनियोगो नेच्छायाम्। यथाऽश्वेन जिगमिषतीत्यश्वस्य गतौ, न पुनस्तदिच्छायामित्युच्यते। सत्यं प्रधानेऽन्यद्विनियुज्यते। प्रधानं तु द्विविधम्—शाब्दमार्थं च। तत्र शाब्दमन्वय उपयुज्यते नाऽऽर्थम्। अत एव राजपुरुषमानयेति पुरुष आनयनेन संबध्यते, न राजाऽर्थतः प्रधानभूतोऽपि। स हि शब्देन विशेष(ष्य)तया प्रधानभूतं पुरुषं प्रति विशेषणतां नीयते। सन्नन्तेषु च शब्देषु इच्छैव प्रत्ययार्थत्वात्प्रधानम्। तेन तत्रैव यज्ञादिविनियोगः। अश्वस्य तु गत्यन्वयः प्रमाणान्तरवशान्न शब्दतः प्रसिद्धहेतुकायामपि विविदिषायां, वैदिको यज्ञादिरुपायः पशुप्राप्ताविव चित्रादिः "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यत्र। किं च कर्माणि कुर्वताऽहं कर्ता कर्मणां फलभोक्ता चेतिप्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बनीयम्। तत्त्वज्ञाननिष्ठेन पुनरस्यैव प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमापाद्यम्। ततश्च ज्ञानकर्मणोर्विरोधादसमुच्चयः षोडशिन इव ग्रहणाग्रहणयोः। किं च परमकार्याभेदेऽवान्तरव्यापारभेदे तु कारकं कारकान्तरेण समुच्चीयते। यथा "अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इत्यत्राऽऽरुण्यमेकहायन्या न पुनरवान्तरव्यापारैक्ये, न हि व्रीहयो यवैः समुच्चीयन्ते। तुल्यं च ज्ञानकर्मणोर्दुरितक्षपणमवान्तरकार्यम्। न च ज्ञानस्याविद्यानिवृत्तिरेव कार्यं न तु कर्मक्षय इति वाच्यम्। न हि कर्मजन्याया अविद्यायाः कर्माण्यक्षपयता ज्ञानेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। तस्मान्न्यायविरुद्धमपि समुच्चयस्मरणं स्मृत्यन्तरविरुद्धं च। तत्र महाभारते—

शुक उवाच—"यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया याति कां च गच्छति कर्मणा॥
एते चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलता(तः)।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम्॥
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ।
यां दिशं विद्यया याति यां च गच्छति कर्मणा॥
शृणुष्वैकमनाः पुत्र गह्वरं ह्येतदन्तरम्।
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्यते॥

---

१ क. °न्यद्विधी°। २ क. तेनावि°। ३ क. °पाराभे°। ४ छ. °रैक्योन। ५ क. एव चान्योन्यरूपे वर्तते प्रतिकूलतः। इ°। ६ छ. °त्युक्त्वा प्र°।

( यतिप्रकरणम् ४ )

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान्षोडशात्मकः ॥
विद्यया जायते नित्यमव्ययो ह्यव्ययात्मकः ।
कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धितरा नराः ॥
तेन ते देहजातानि रमयन्त उपासते ।
ये तु बुद्धिपथं प्राप्ता धर्मनैपुणदर्शिनः ॥
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ।
कर्मणा फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ॥
विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ।
यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते ॥
न हीयते यत्र गत्वा यत्र गत्वा न वर्धते " इति ।

**मार्कण्डेयपुराणे पितापुत्रसंवादे—**

" एवं संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमता तात संकटे ।
ज्ञानमेतन्मया प्रोक्तं मोक्षसंप्राप्तिकारणम् ॥
विज्ञाते यत्र सर्वोऽयमृग्यजुःसामसंज्ञितः ।
क्रियाकलापो विगुणो न सम्यक्प्रतिभाति मे ॥
तस्मादुत्पन्नबोधस्य वेदैर्मे किं प्रयोजनम् " ।

**बृहस्पतिः**—"सत्यं ज्ञानं तपो दानमेतद्धर्मस्य साधनम् ॥
धर्मात्सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते " इति ।

तस्मादुक्तविरोधपरिहाराय स्मृतिरियमेवं व्याख्यातव्या । गृहस्थोऽपि विधिविहितकर्मकारी मुक्त्यनर्होऽपि तत्त्वज्ञाननिष्ठत्वाद्विमुच्यते किं पुनर्भिक्षुः कर्मत्यागी तत्त्वज्ञानैकनिष्ठ इति । तदेतदन्ये नानुमन्यन्ते । न हि समुच्चयविधायकस्मृतेः श्रुतिविरोधादप्रामाण्यमस्ति । यतः समुच्चयविधायकं प्रत्यक्षमेव श्रुतिवाक्यमस्या मूलमस्ति । तद्यथा—

" विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं
तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति ।

विद्या ब्रह्मज्ञानम् । अविद्या कर्म । तदुभयं सह समुच्चयं यो वेदानुष्ठानपर्यन्ततया जानाति स कर्मणा मृत्युं मृत्युफलदं दुरितं तीर्त्वाऽतिक्रम्य

---

१ क. प्राप्तं । २ छ. विविधवि° । ३ क. °ति स्वकं ।

विद्ययाऽमृतमश्नुत इति प्रसिद्धार्थम् । अत्र च विद्याशब्दं देवताज्ञानपरत्वेन केचन व्याचक्षते, तदयुक्तम् । प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात् । "ईशा वास्यम् " इत्यादिना परमेश्वरस्यैव प्रकृतत्वात् । एवमत्र मन्त्रे विद्याकर्मणोरमृतीभावे समुच्चयः । तदुपपादकतया चावान्तरव्यापारभेदो विद्यया मृत्युं तीर्त्वेति कथितः । क्त्वाप्रत्ययेन च विद्यां प्रति कर्मणोऽङ्गभावः । एतदेव स्पष्टयति— " विविदिषन्ति यज्ञेन " इत्यादिश्रुतिः । यद्यप्यत्र विविदिषा प्रत्ययार्थत्वाच्छब्दतः प्रधानं तथाऽपि न तत्र यज्ञान्वयो वाक्यप्रमेयोऽर्थसिद्धत्वात् । तथा हि—न हि विविदिषासंबन्धमन्तरेण विद्यार्थता यज्ञादीनामस्ति । न ह्यनिष्पाद्यमाणं प्रधानं भवति, तेन यज्ञादीन्प्रति विद्यायाः प्राधान्याद्विविदिषान्वयस्तेषां गम्यमानो न विधेयः, किं तु विद्यान्वय एवाप्राप्तत्वात् । यथा "एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्" इत्यत्र याजनान्वयमनूद्य यागान्वय एव प्राप्तोऽन्नाद्यकामस्य विधीयते । अत एव चाश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वेन गत्यन्वयः शाब्द एव । अस्तु वा विविदिषैव यज्ञादीन्प्रति प्रधानं किं तु विविदिषाप्रयोजनीभूतया च विद्यया विशिष्टेच्छा विविदिषोच्यते । यच्च प्रयोजनवतोऽङ्गं तत्प्रयोजनस्यापि । यथा "अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत" इति । अत्र सौत्रामण्यग्निं प्रत्यङ्गं भवन्ती तत्प्रयोजनं यागं प्रति चाङ्गतां याति । विद्याऽपि चापवर्गेण फलेन फलवती सतीच्छायाः प्रयोजनं भवति, न केवला । ततश्च विद्याङ्गभावं भजन्तोऽप्यविद्यादयोऽपवर्गेऽङ्गतां यान्ति । विद्यायाश्चापवर्गः फलं " ब्रह्मविदाप्नोति परम् । ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति " इत्यादिवाक्यप्रसिद्धेः । न च वाच्यं यथाऽऽधानमाहवनीयादिस्वरूपोत्पत्त्यङ्गं न तु तत्कार्योत्तरक्रत्वर्थं तथा यज्ञादयोऽपि विद्यास्वरूपमुत्पादयन्ति न तु तत्कार्यमपवर्गं कुर्वन्तीति । युक्तं ह्याधानस्याऽऽहवनीयादिस्वरूपोत्पत्तिमात्रशेषत्वम् । न ह्याधानविनियोगदशायां " यदाहवनीये जुहुति " इत्यादिभिराहवनीयादीनां प्रयोजनवतामवगमोऽस्ति । प्रसिद्धे ह्याहवनीयादौ तत्प्रयोजनावगमो भवति । तत्प्रसिद्धिश्चाऽऽधानविनियोगायत्ता । तेन पूर्वमाधानमग्निषु विनियोज्यं पश्चात्क्रतुष्वग्नयः । तेनागत्या विनियोक्ष्यमाणातीन्द्रियाहवनीयादिस्वरूपशेषताऽऽधानस्याऽऽश्रीयते, न तु गतिसंभवे । संभवति चात्र गतिः । यज्ञादिविनियोगात्प्रागेव विद्याया अपवर्गताज्ञानात् । विद्यास्वरूपस्य चैन्द्रिय-

---

१ छ. चाऽऽवर्तनव्या° । २ क. °योऽर्थे सि° । ३ क. °ते । तच्च । ४ छ. °तीच्छया अ° । ५ क. °द्याङ्गाभावं भजन्तोऽपि वि° । ६ छ. °सिद्धः । न ।

कत्वात् । नच यथा पश्वादीनां प्रमाणान्तराद्विदितपुरुषार्थभावानां शास्त्रेण चित्रादिरुपायो विधीयते तथा विद्यायां यज्ञादिरिति वाच्यम् । तस्य प्रमाणान्तरतः पुरुषार्थत्ववेदनात् । तस्माच्छास्त्रावगम्यापवर्गहेतुभूतायां विद्यायां साक्षादिच्छाद्वारेण वा यज्ञादयो विनियुज्यन्त इति सिद्धम् । ततश्च सर्वाण्येवाऽऽवश्यकानि वर्णाश्रमकर्माणि मोक्षे साध्ये ब्रह्मज्ञानेन समुच्चीयन्ते । "न कर्मणा" इत्यादयस्तु कर्मणां मोक्षोपायत्वनिषेधाज्ज्ञानरहितकर्मविषयाः । अन्यथा समुच्चयविधिनिरोधः स्यात् । अत एव मन्त्रेणाविद्याशब्दवाच्यं कर्म केवलं निन्दित्वा विद्याऽपि केवला निन्द्यते " अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो यदविद्यायां रताः " इति । यदपि च " सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति " इति वाक्यं तदपि केवलकर्मविषयम् । " ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति " इत्यस्यायमर्थः—प्रकृतानामाश्रमिणां मध्ये यो ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मप्रवणो ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं कर्म करोतीति यावत्, सोऽमृतत्वमेतीति । न पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्देन भिक्षुराख्यायते । तस्य तत्संज्ञत्वे प्रमाणाभावात् । योऽपि विद्याकर्मणोर्विरोध उक्तः सोऽपि नोपासनात्मिकया विद्यया किंतु साक्षात्कारात्मिकया ।

तथा चोक्तम्—" भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " इति ॥

तस्माद्गृहस्थोऽपि विमुच्यत इति स्मृतिर्न भङ्गेन व्याख्येया । गृहस्थस्य तु मुक्तिरुक्ता छान्दोग्ये " कुटुम्बी शुचौ देशे वेदमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न पुनरावर्तते " इति । विहिता हिंसा तीर्थानि(र्थेषु) । ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः । मुक्तौ ज्ञानकर्मसमुच्चयं स्मृतिकाराश्चाऽऽहुः ।

तत्र मनुः—" सुखाभ्युदयिकं चैतन्नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
ज्ञानपूर्वं तु विद्वद्भिर्निवृत्तमुपदिश्यते ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सात्म्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै " ॥

---

१ क. शास्त्रादिरु° । २ छ, °तुभावायां वि° । ३ क. मोक्षसा° । ४ क °त्मिकाया विद्यायाः किंतु साक्षात्कारात्मिकायाः । त° ।

वसिष्ठः—" यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् " ॥

योगयाज्ञवल्क्यः—" परिज्ञानाद्भवेन्मुक्तिरेतदालस्यलक्षणम् ।
कायक्लेशभयाच्चैव कर्म नेच्छन्ति पण्डिताः ॥
ज्ञानकर्मसमायोगात्परमाप्नोति पूरुषः ।
पृथग्भावो न सिध्येत उभे तस्मात्समाश्रयेत् " ॥

इत्यादि । तच्च न्यायार्जितधन इत्यादिस्मृतिर्मुख्यतयैव व्याख्यातव्येति । तदनयोर्मतयोर्यक्यार्थ्यं तद्ग्राह्यम् ॥ २०५ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के
मोक्ष(यति)प्रकरणम् ॥ ४ ॥

---

अथ सटीकयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

---

# प्रायश्चित्तप्रकरणम् ( ५ ) ।

---

पापक्षयाय प्रायश्चित्तानि विधास्यन्ते, दुःखफलत्वेन च पापस्य तत्क्षयार्थता प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य प्रयुज्यत इति तत्फलत्वं पापस्य तावदाह—

महापातकजान्घोरान्नरकान्प्राप्य गर्हितान् ॥
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिमहापातकप्रभृतिपापनिमित्तान्नरकांस्तामिस्रादीन्घोरान्सुदुःसहान्गर्हितानत्यन्तहेयान्प्राप्यानुभूय नरकदेशोपभोग्यदुःखविशेषफलस्य कर्मणः क्षयान्महापातकशेषवन्त इह लोके कुत्सितयोनिषु वक्ष्यमाणासु जायन्ते । नरकभोगतीव्रतरदुःखप्रदानरूपेण कर्मणः क्षयः स्वल्पदुःखप्रदानाकारेणावस्थानमिति कर्मणः क्षयो महापातकित्वं चेति द्वयमविरुद्धम् ॥ २०६ ॥

सामान्यत उक्तमर्थं विशेषत आह—

---

१ छ. °तिमुख्य° । २ ङ दारुणान् । ३ छ. °णः स्व° ।

मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥
खरपुक्कसवेनानां सुरापोऽपि न संशयः ॥ २०७ ॥

मृगादिजातीयं शरीरं ब्रह्महा, खरादिजातीयं सुरापः प्राप्नोति । पुक्कसवेनौ प्रतिलोमजविशेषौ ॥ २०७ ॥

किं च—

*क्रिमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ॥
तृणगुल्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतल्पगः ॥ २०८ ॥

क्रिमिकीटादिर्विप्रहेमहारी, गुरुतल्पगस्तु तृणगुल्मादिः क्रमशः स्यात् ॥ २०८ ॥

कुयोनिप्रापकत्वं पापस्याभिधाय कुशरीरप्रापकत्वमिदानीमाह—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः ॥
स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥
यो येन [1]संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते ॥ २०९ ॥

क्षयरोगी राजयक्ष्मी कुष्ठी वा, श्यावदन्तकः स्वभावात्कृष्णदन्तः । कुनखी कृष्णनखः । दुश्चर्मा कुत्सितचर्मा [2]पैण्डो वा, ब्रह्महादिसंसर्गी पापरोगादिलिङ्गः ॥ २०९ ॥

किं च—

अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥२१०॥
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ॥
तिलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रश्च सूचकः ॥ २११ ॥

अन्नहर्तृप्रभृतिरामयाव्याधि(दि)र्भवति । आमयाव्यत्र मन्दाग्निः । मूको वाग्ग्रीनः । वागपहारोऽननुज्ञाताध्ययनं पुस्तकचौर्यं परकृतग्रन्थस्याऽऽत्मीयतया ख्यापनं वा । धान्यमिश्रो व्रीह्यादेः कोद्रवादिना मिश्रकारी । अतिरिक्ताङ्गः षडङ्गुलिकः स्थूलैकचरण इत्यादि । पिशुनः पररन्ध्रप्रकाशकः । पूति-

---

*क्रमिकीटपतङ्गत्वमिति पाठो ङ. पुस्तके ।

---

१ ङ. °रपुल्कस° । २ क. छ. संपिवत्ये° । ३ घ. छ. पाण्डो ।

नासिको दुर्गन्धि(न्ध)घ्राणः । तैलपायी प्राणिविशेषः । सूचकः परदोषवादी । पिशुनस्तु नेत्रवक्त्रादिचेष्टया परदोषख्यापक इत्यपौनरुक्त्यम् ॥२१०॥२११॥

अपि च—

परस्य योषितं गत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ॥
अरण्ये निर्जने[2] देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

निगदव्याख्यातमिदम् ॥ २१२ ॥

हीनजातौ प्रजायन्ते[3] रत्नानामपहारकाः ॥
पत्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरिः शुभान् ॥२१३॥
मूषको धान्यहारी स्याद्यानमुष्ट्रः फलं कपिः ॥
जलं प्लवः पयः काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥२१४॥
मधु दंशः पलं गृध्रो गां गोधाऽग्निं बकस्तथा ॥
श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु चीरी लवणहारकः ॥ २१५ ॥

हीनजातिः शूद्रादियोनिः । तत्र रत्नानामपहारका जायन्ते । रत्नानि पद्मरागादीनि । पत्रशाकहारिप्रभृतिः शिखण्यादिः स्यात् । छुच्छुन्दरिर्गन्धमूषकः । यानमश्वादिः । प्लवः पक्षिविशेषः । गृहकारी प्राणिविशेषः । उपस्करो गृहोपकरणम् । पलं मांसं, गोधा बिलेशयः शिशुमारसदृशः प्राणिविशेषः । श्वित्री श्वेतचर्मा, रसः क्षीरादिः । चीरी प्राणिविशेषः । प्रसिद्धमन्यत् ॥ २१३ ॥ २१४ ॥ २१५ ॥

उक्तस्य तात्पर्यं स्वयमेवाऽऽह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं स्तेयकर्मणि ॥
द्रव्यप्रकारा[4] हि यथा तथैव प्राणिजातयः ॥ २१६ ॥

यदुक्तमेतदपहारक एवंविधो भवतीति तन्न नियमार्थं किं तु प्रदर्शनार्थम् । यतो यथाऽपहार्यद्रव्याण्यनन्तानि तथा तदपहारकस्य प्राप्तव्यजातिविशेषा अप्यनन्ताः । अतो नैते कात्स्न्र्येन शक्या वक्तुम् ॥ २१६ ॥

---

१ ङ. हत्वा । २ ङ निर्जले । ३ ङ. °जायेत पररत्नापहारकः । पं° । ४ क. छ. °कारो हि ।

पापस्य नरककुयोनिकुशरीरप्राप्तिः फलमुक्तं, तस्य समुचितस्य फलमिदानीमाह—

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ॥
जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः ॥ २१७ ॥

यथाकर्म कर्मानतिक्रमेण फलं नरकं प्राप्य तदनु तिर्यक्त्वं मृगत्वादि कालपर्ययात्कालक्रमेणानुभूय भ्रष्टशुभलक्षणा दारिद्र्यादिदोषोपेता अधमाः पुरुषा जायन्ते ॥ २१७ ॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ॥
जायन्ते विद्ययोपेता धनधान्यसमन्विताः ॥ २१८ ॥

तत उक्तफलोपभोगात्क्षीणपापा धर्मशेषेण गुणवति कुले विद्यया पुराणन्यायमीमांसादिकया धर्म(र्मा)विरुद्धैश्च विषयोपभोगैस्तत्साधनैश्च धनधान्यादिभिरुपेता जायन्ते ॥ २१८ ॥

पापस्य कार्यमुक्तमिदानीं कारणमाह—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ॥
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१९ ॥

विहितस्याऽऽवश्यकस्याननुष्ठानात्तदन्यानुष्ठानात् । निन्दितस्य निषिद्धस्य सेवनादनुष्ठानात् । अनिषिद्धेष्वपि विषयोपभोगेष्विन्द्रियप्रसङ्गनिवारणात् । नर उपनीतोऽनुपनीतो वा पतनं पापमृच्छति प्राप्नोति । अस्मादेव वाक्यान्नित्यकर्मणामकरणे प्रत्यवायोदय इति गम्यते । तत्प्रत्यवायप्रागभावार्थं चाऽऽवश्यकेषु कर्मसु पुंसां प्रवृत्तिः । अनुत्पाद्योऽपि प्रत्यवायप्रागभावः शङ्कितनिवृत्तिर्भवति । प्रयोजनं(?) यथाशङ्कितनिवृत्तिर्व्याधिप्रागभावो भेषजक्रियायाः । अथवोपात्तदुरितक्षय एवाऽऽवश्यकानां कर्मणामस्तु भाव्यश्च प्रयोजनं च । अत्र च पक्षे " विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छति " इतिवाक्येऽनुपात्तदुरितस्याविनाश एव पातकोदयत्वेन कथंचिल्लक्ष्यते । एवं च सति नैमित्तिकानां कर्मणामकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहार उपात्तदुरितक्षयो वा प्रयोजनमिति सिद्धम् । तदुक्तं भविष्यत्पुराणे—

---

१ छ. °लत्वमि° । २ क °पि विषयेष्वपि वि° । ३ क. °सङ्गानि° । ४ क. अनपाद्यो° । ५ क. °त्तिर्व्यो° । ६ क. भावश्च । ७ छ. °चिद्वक्ष्य° ।

फलं विनाऽप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तत् ॥
नैमित्तिकानां करणं त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यक्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलश्रुतिम् ॥

अस्यार्थः—नित्यनैमित्तिककाम्यानि त्रिविधानि कर्माणि । तत्र कदाचित्कर्मणां[२] रागविषयीकृतं फलमुद्दिश्य काम्यानामनुष्ठानं न तु नित्यानाम् । नैमित्तिकानां तु ब्रह्मवधादौ निमित्ते विहितानां दोषोपघातः फलम् । नित्यानां तर्हि किं फलमित्युपेक्षिते[१] तदुक्तमुपात्तदुरितक्षयः प्रत्यवायानुदयो वा तत्फलमिति । यत्तु नित्यकर्मणामानुषङ्गिकः स्वर्गः फलमिति तदानुषङ्गिकत्वादेव प्रयोजनमिति ॥ २१९ ॥

तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ २२० ॥

यस्माद्दुःखफलं पापं तस्मात्तस्य विशुद्धये । विगतामर्षेण विहिताकरणादिमता पुंसा वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तं कार्यम् । कृते हि तस्मिन्पापकारिणोऽन्तरात्मा लोकश्च प्रसीदति न बीभत्सते दुःखोपभोगभयं लोकासंव्यवहारश्च निवर्तत इत्यर्थः । उक्तप्रायश्चित्तस्य विशुद्ध्यर्था(र्थता) । विशुद्धिः पापक्षयो व्यवहारयोग्यता च ॥ २२० ॥

व्यवस्थामाह—

+[ चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ ]
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ॥
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ २२१ ॥

अजानता यत्कृतं पापं यथा सुप्तेन पर्यङ्कात्पतता कश्चिद्धतः । यथा वा

---

+ एतच्चिह्नान्तर्गतश्लोकः क. पुस्तक एव । अधिकश्च ।

---

१ छ. क्षये कें । २ छ. °मेरां । ३ क. °क्षित उक्त°।

जलबुद्ध्या सुरा पीता, तत्प्रायश्चित्तैरपैति नश्यति । यस्तु कामतो रागान्मर्त्यापकारी स्यान्न तस्य प्रायश्चितैः पापक्षयः किंतु वचनात्प्रायश्चित्तवचनात्संव्यवहार्यतया जनयोग्यता भवति । एतच्च महापातकेष्वेव । उपपातकादिकं तु पापं कामकृतमपि प्रायश्चित्तैः क्षीयते ।

यदाह च्छागलेयः—प्रायश्चित्तमकामानां कामावाप्तौ न विद्यते ।
उपपातक एव स्यात्तथा चाऽऽत्मोपघातिने ॥

अयमर्थः—कामावाप्तौ कामपूर्वके पापे प्रायश्चित्तं पापक्षयपर्यन्ततया न विद्यते । उपपातकात्महत्ययोस्तु कामपूर्वके विद्यत इति । यानि पुनर्मरणान्तिकप्रायश्चित्तानि तैः पापक्षयो भवत्येव । तथा चाऽऽपस्तम्बः—" गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा कर्म समाप्तमेतेनैव विधिनोच्छ्वासांश्चरेत् । नास्यास्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निहन्यते " इति ।

यमोऽपि—" महापातककर्तारश्चत्वारोऽप्यविशेषतः ।
अग्निं प्रविश्य शुध्यन्ति स्नात्वा महति वा क्रतौ " इति ॥

युक्तं चैतत् । अन्यथा प्राणान्तिकव्रतविधिरनर्थकः स्यात् । गौतमः—" अथ खल्वसौ पुरुषोऽयाज्येन कर्मणा लिप्यते । यथैतदयाज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांस्यते । न कुर्यादित्याहुः । न हि कर्म क्षीयत इति । कुर्यादित्यपरे । पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनः समवायन्तीति विज्ञायते । व्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा तरति सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते " । *अग्निष्टुभा(मिष्टाऽ)भिशस्यमानं याजयेदिति च । न हि कर्म क्षीयते । फलमदत्त्वेति शेषः । कुर्यादित्यपरं मतम् । सिद्धान्त इत्यर्थः । तत्र प्रायश्चित्तस्य संव्यवहारपापक्षयोऽ(यौ) फलमित्यत्र श्रुतेः(तिं) प्रमाणतयोदाहरति—पुनस्तोमेनेत्यादि । यः पुनःस्तोमः प्रायश्चित्तक्रतुस्तं कृत्वा पुनः सर्वं पुनर्यज्ञक्रियामायान्तीति । अनेनायाव्ययत्वलक्षणं(?) संव्यवहार्यतां प्राप्नुवन्तीति दर्शयति । व्रात्यस्तोमैः स्वकालानुपनीतं प्रति विहितैः प्रायश्चित्तक्रतुभिः सर्वं पाप्मानं व्रात्यतालक्षणं तरतीति वदतोपपातकप्रायश्चित्तानां पापक्षयफलता निदर्शिता । न केवलं व्रात्यतादिकमुपपातकमेव प्रायश्चित्तैः क्षीयते । अपि तु महापातकमपीति वक्तुमुदाहरणान्तरमाह—"तरति ब्रह्महत्यां

---

* इत आरभ्य योऽश्वमेधेन यजत इत्यन्तं न विद्यते क. पुस्तके ।

---

१ छ. रागपत्न्याप° । २ छ. °ते । अर्थे° । ३ क. सर्वमाय° ।

योऽश्वमेधेन यजते" इति । अत्र च रात्रिसत्रन्यायेनाऽऽर्थवादिकयोः संव्यवहारपापक्षययोः स्वीकारः । अत्र च प्रायश्चित्तैरपैत्येन इत्युपक्रान्तं वाक्यं, ज्ञानतो व्यवहार्यस्त्वित्युपसंहर्तव्यम् । तदुपक्रमवशाज्ज्ञानत इति मत्वा कामत इत्युक्तवान् । ततश्चायमर्थो भवति—ज्ञानतः कामतश्चैनस्वी प्रायश्चित्तैर्व्यवहार्यः क्रियते । यस्तु ज्ञानतो न कामतः पापकारी स्यात्स प्रायश्चित्तैरपापो भवत्येव । यथा म्लेच्छैर्हठात्सुरां पायितः । कामाद्यद्भवति तद्भ्रान्तिपूर्वकात्प्रमाणपूर्वकाच्च भवति । तत्र कामतो व्यवहार्य इत्यनेन प्रमाणपूर्वकात्कामत इत्येवंपरं वेदितव्यम् । भ्रान्तिपूर्वककामकृतं पापं प्रायश्चित्तापनेयमेव । यथा दूरस्थे ब्राह्मणे स्थाणुभ्रान्त्या हते । यत एव भ्रान्तिपूर्वकरागकृतं पापं प्रायश्चित्तहेयम्, अत एवाऽऽह मनुः—

" अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन नश्यति ।
कामतस्तु कृतं पापं प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः " इति ॥

अज्ञानं संशयो विपर्ययश्च मोहः ॥ २२१ ॥

महापातकजान्घोरानित्यत्र नरकः(क)दुःखोपभोगः पापफलतयोक्तः । तमनूद्य तामिस्रादिसंज्ञकानेकविंशतिनरकानाह—

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ॥
अपश्चात्तापिनो[1] यान्ति नरकानतिदारुणान् ॥२२२॥
तामिस्रं लोहशङ्कुं च महा[2]रौरवशाल्मलिम् ॥
रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२३ ॥
संघातं लो[3]हतोदं च ऋ[4]बीसं संप्रतापनम् ॥
महानरककाकोलं संजीव[5]नदीपथम् ॥ २२४ ॥
अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च ॥
असिपत्रवनं चैव तापनं चैकविंशतिम् ॥ २२५ ॥

निगदव्याख्याताः श्लोकाः ॥ २२२ ॥ २२३ ॥ २२४ ॥ २२५ ॥

न केवलं महापातकिनो नरकयायिनः । अपि तूपपातकिनोऽपीत्याह—

---

१ छ. °तं तु प्रा° । २ ङ. °पिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दा° । ३ ङ. °हानिरथशाल्मली । रौ° । ४ ङ. लोहितो' । ५ ङ. च सविषं संप्र' । ६ क. ऋमीमं संप्र° । ७ ङ. °नमहाप° ।

महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ॥
अन्विता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥२२६॥

यथा महापातकैरन्विता अकृतप्रायश्चित्ताः कापुरुषा नरकान्यान्ति एवं वक्ष्यमाणोपपातकापूर्वान्विता अपि नराधमा नरकान्यान्ति* ॥ २२६ ॥

अधुना महापातकिसंज्ञामाह—

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः ॥
एते महापातकिनो यश्च तैः संपिबेत्समाम् ॥ २२७ ॥

ब्रह्महा, सुरापो, ब्राह्मणसुवर्णस्तेयी, पितृदारगामी, एते प्रत्येकं महापातकिसंज्ञा ज्ञेयाः । यश्चैषामन्यतमेन सह समां संवत्सरं यावत्संपिबेत्संव्यवहरेत्सोऽपि महापातकी । यो ब्राह्मणप्राणवियोगफलव्यापारकर्ता स ब्रह्महा । कर्ता च स्वतन्त्रस्तत्प्रयोजकश्च । तत्र स्वतन्त्रो नाम द्वारभूतं कर्त्रन्तरमनपेक्ष्य क्रियाप्रवर्तकः । यस्तु स्वतन्त्रस्य कर्तुरनुकूलमाचरंस्तत्साध्यां क्रियां साधयति स प्रयोजकः । तत्र स्वातन्त्र्येण ब्रह्मवधकर्तारं ब्रह्महेति शब्दोऽन्तरङ्गत्वादेवाऽऽचष्टे न तु प्रयोजकं बहिरङ्गत्वादिति न वाच्यम् । यदाहाऽऽपस्तम्बः[3]—"प्रयोजयिताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु फलभागिनः । यो मूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः" इति । न चानुमन्तुः कथं कर्तृत्वमकर्तुश्च कथं स्वर्गनरकफलयोग इति वाच्यम् । प्रयोजकतया तस्यापि कर्तृत्वात् । प्रबले हि दण्डप्रणेतरि राजादौ तेनानुमतः सत्यपि ब्रह्मवधरागे न तं शक्नुयात्कश्चित्कर्तुम् । गोबलीवर्दन्यायेन प्रयोजककर्तुरनुमतस्तु शक्नुयादिति । वधादौ भवत्यनुमन्तुः प्रयोजककर्तृता । गोबलीवर्दन्यायेन प्रयोजककर्तुः पृथगनुमन्तोपात्तः । प्रदर्शनार्थं चैतत् । ततश्च येन विना हन्ता स्वक्रियामपि न शक्नुयात्कर्तुं स सर्वोऽपि हननसिद्धये व्याप्रियमाणोऽपि भवति घातकः । अत एवाऽऽह पैठीनसिः—

" हन्ताऽनुमन्ताऽप्युपदेशकर्ता प्रोत्साहकः संप्रतिपादकश्च ।
आरम्भकृत्सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः ॥

---

*इत उत्तरं ङ. पुस्तके—"प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् । कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते " इतिस्मृतिरधिकोपलभ्यते । तद्व्याख्याऽप्यादर्शपुस्तकयोर्न विद्यते ।

---

१ क. अथ । २ ङ. तैः सह संवसेत् । ३ छ. °म्बः—योप्रयो° । ४ छ. °योजिता° । ५ क. °र्हत्वम् । प्र° । ६ छ. °मू । अनु° । ७ क. °पातुः प्र° ।

आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम् ।
युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रदर्शकः ॥
उपेक्षाकारकश्चैव दोषवक्ताऽनुमोदकः ।
अनिषेद्धा क्षमो यश्च सर्वे तत्कार्यकारिणः ॥
यथाशक्त्यनुरूपं वै दण्डमेषां प्रकल्पयेत् " ।

भक्तदायकादयः परमरणमभिसंधाय यदि भक्तादि प्रयच्छन्ति तदा वधहेतवो न भक्तादिदानमात्रेण । यदि तन्मात्रेणापि हेतुता स्यात्तदा पित्रोरपि पुत्रं जनयतोस्तत्कर्तृकासु कुशलाकुशलक्रियासु हेतुता स्यात् । धर्मार्थनिर्मितकूपादौ च प्रमादपातिब्राह्मणमृत्युहेतुता कूपकर्तुरापद्येत । नचैवमस्ति कारणकारणत्वेनाकारणत्वात् । वधमनुद्दिश्यापि परेण कृतो व्यापारो यदि वधमाचरता कर्तृविशेषविशिष्टत्वेनापेक्ष्यते तदा भवत्येव तस्य हेतुर्यथाऽहमनेनाऽऽक्रुष्टस्ताडितो निर्धनो वा कृत इत्यात्मानं हन्मीत्यभिसंधायाऽऽत्मनि व्यापादिते भवत्याक्रोशादिकर्तुस्तव्यापत्तौ हेतुता न पुनः कूपादावेवं, न हि तत्र भवति यस्मादेवदत्तेनायं कूपो निर्मितस्तस्मादहमत्र पतामीत्यभिसंधिः । नापि यस्मादाभ्यां पितृभ्यामहमुत्पादितस्तस्मादिमां क्रियां करोमीति पुत्रस्य । आक्रोशादिकर्तुर्ब्रह्मवधनिमित्ततामाह विष्णुः—

" आक्रुष्टस्ताडितो वाऽपि धनैर्वा विप्रयोजितः ।
यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥*

यत्र त्वाक्रोशताडनादिसंबन्धमन्तरेण भ्रान्त्यादिवशेन परमुद्दिश्य ब्राह्मण आत्मानं हन्ति तत्र हन्तुरेव दोषो नोद्देश(श्य)स्येत्याह सुमन्तुः—

असंबन्धेन यः कश्चिद्द्विजः प्राणान्समुत्सृजेत् ।
तस्यैव तद्भवेत्पापं न तु यं परिकीर्तयेत् ॥

आततायिनं तु ब्राह्मणमपि हतवतो न ब्रह्महत्वमिति व्यास आह—

आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसन्तं जिघांसेत न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥

भ्रूणहेत्यपि पाठः । तत्र भ्रूणहा ब्रह्महेत्यर्थः ।

---

* इतः परं क. पुस्तके—"अन्यायेन गृहीतस्तु प्रायन्यायदर्शनाम् । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्" इति ।

---

१ छ. विकर्मणाम् । २ क. °यास्वहे° । ३ क. °धमुद्दि° ।

मनुः—गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

वसिष्ठः—स्वाधायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन ब्रह्महा भवति मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥

बृहस्पतिः—आक्रुष्टस्तु समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन् ।
विनाशार्थिनमायान्तं घातयन्नापराध्नुयात् ॥

विष्णुः—परदाररताश्चौरा दोषप्राप्ताश्च ये द्विजाः ।
अन्योन्यं वा हता युद्धे न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥

मनुः—शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ॥

बौधायनः—" षट्स्वनभिचरन्पतति " । षट्स्वाततायिषु ।
तानाह वसिष्ठः—अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

गरदो विषदः ।

मत्स्यपुराणम्—गृहक्षेत्रादिहर्तारं[1] तथा पत्न्यभिगामिनम् ।
अग्निदं गरदं चैव तथा चाप्युद्यतायुधम् ॥
अभिचारं च कुर्वाणं राजगामि च पैशुनम् ।
एते हि कथिता लोके धर्मज्ञैराततायिनः ॥

व्यासः—" उद्यतासिविषाग्निं च शापोद्यतकरं तथा ।
आथर्वणेन हन्तारं पिशुनं चैव राजनि ॥
भार्यापहारिणं चैव षडाहुर्ह्याततायिनः " ।

अत्र च वर्तमानाग्निदानादिव्यापार एवाऽऽततायिन उच्यन्ते । तद्व्यापार-निवारणं च यत्र वधमन्तरेण न संभवति तत्रैव तद्वधानुज्ञा । यत्र तु दण्ड-शा(श)स्त्रादिप्रहारमात्रेणैव शक्यो निवारयितुं तत्र तु तद्वधो दोषनिमित्तमेव । अत एवोक्तं बृहस्पतिना—

" आक्रुष्टस्तु समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन् "

इत्यादि । एतदेव मत्वा सुमन्तुनाऽप्युक्तम्—" नाऽऽततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणात् " इति । एवं च सति यत्र गोब्राह्मणवधादृते तत्प्रहारमात्रादिना

---

१ छ. °हन्तारं ।

शक्य आत्मा त्रातुं तत्र तद्वधकारी ब्रह्महत्यादिपातकवान्भवत्येव। ततश्च या आततायिवधे दोषस्मृतयः प्रायश्चित्तस्मृतयश्च ताः सर्वाः पूर्वोक्तविषया ज्ञेयाः। तस्मादेवंविधो ब्रह्महा। मद्यशब्दोऽत्र सुरावचनो ग्राह्यः।

तथा च मनुः—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमम्।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गं चैव तैः सह" ॥

सुरा च पैष्ट्येव।

यदाह मनुः—"गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथा चैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः" ॥

एकां पैष्टीं दृष्टान्तीकृत्य सर्वस्या ब्राह्मणं प्रति पाननिषेधं कुर्वन्नेका मुख्या गौणीतरेति दर्शयति। एवं च ब्राह्मणस्य तिस्रोऽप्यपेयाः, क्षत्रियवैश्ययोस्तु पैष्ट्येव।

यदाह स एव—"सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्" ॥

अन्नमलत्वं च व्रीह्यादिपिष्टमद्यायाः[2]। एवं च न संभवति गौडीमाध्व्योः। न हि गुडमधुनी अन्नम्। अन्नं तु व्रीह्याद्येव। ततश्च पैष्टीपानं द्विजानां प्रतिषिद्धम्। पैष्ट्या इतरयोश्च ब्राह्मणस्येति मन्तव्यम्। अत एवाऽऽह विश्वामित्रः—

"ब्राह्मणो न च हन्तव्यः सुरा पेया न च द्विजैः।
ब्राह्मणस्वर्णहरणं कर्तव्यं न कदाचन ॥
गुरुपत्नीं न गच्छेच्च संसर्गं तैश्च नाऽऽचरेत्।
महापातकिसंज्ञा तु निर्दिष्टैषा मनीषिभिः" ॥

स्तेनशब्दोऽत्र ब्राह्मणसुवर्णस्तेयवचनो द्रष्टव्यः। पञ्च महापातकान्याचक्षते—"गुरुतल्पं, सुरापानं, ब्रह्महत्यां, ब्राह्मणसुवर्णहरणं, पतितसंयोगं च" इति। स्वयमपि चेति(च) वक्ष्यति—ब्राह्मणस्वर्णहारी त्विति। गुरुः पिता तस्य तल्पो भार्या, तद्गामी गुरुतल्पगः। एतैरि(त इ)तिनिर्देशाच्चतुर्णामेवान्यतमेन संसर्गी महापातकी, न तु तेनापि यः संसर्गी। महत्त्वेन च विशेषणं पतितान्तरेभ्य एषां दोषमहत्त्वख्यापनार्थम्। तेन पतितस्योदकं कार्यमित्यादिकमेषामेव पतितान्तराणामिति गम्यते। अत एवाऽऽह देवलः—"पञ्चैतानि महापातकानि कृत्वा ब्राह्मणः

---

१ क. द्विजातिभिः। २ छ. °पिण्ड°।

सद्भिर्नाभिभाष्यो नानुग्राह्योऽभिशस्तः सर्वकर्मपरिवर्जितः पतितसमो भवति " इति। ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्। अन्येऽपि च पतिताः सन्ति। यदाह गौतमः— " ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबद्धागस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यास्यपतितत्यागिपतित (ता)त्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च तैश्चाब्दं समाचरन् "। अस्यार्थः— मातृसंबन्धा (द्धा) मातृभगिनी तद्दुहित्रादिस्तद्वामी। पितृसंबद्धा पितृभगिनी तद्दुहित्रादिस्तद्वामी। योनिसंबद्धा भगिनी तद्दुहित्रादिस्तद्वामी। स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णस्य। नास्तिको बौद्धादिसिद्धान्तावष्टम्भेन श्रौतस्मार्तविध्यतिक्रामी। निन्दितकर्माभ्यासी चिरकालं निषिद्धकर्मकारी। अपतितत्यागी पुत्रादीनामपतितानां त्यागी, तेषामेव पुत्रादीनां पतितानामत्यागी। एते पतिताः। ये च पातकेषु तत्कर्तॄन्प्रयोजयन्ति तेऽपि पतिताः। ब्रह्महादिशब्दैरेवोपादातुं शक्यानां पातकसंयोजकानां पृथगुपादानं प्रायश्चित्तान्यत्वप्रतिपादनार्थम्। न चेदमत्राऽऽशङ्कनीयं पातकसंयोजकवद्धर्मसंयोजकानामृत्विजां यागफलावाप्तिरपि स्यादिति। यतो यो विधिप्रतियोगी सन्विधिविषये प्रयुङ्क्ते स वै धर्मफलभागी। न चर्त्विजो यागविधिप्रतियोगिनः। अतो न ते तत्फलभागिनः। प्रत्यवायरूपं तु फलं रागतः क्रियायां कर्तृतायां सत्यां शास्त्रेणावबोध्यत इति युक्तं पातकसंयोजकाश्च पतिता इति वचनम्। किं पुनः पतितत्वमित्यपेक्षित आह—"द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्। परत्र चासिद्धिः"इति। द्विजातीनां स्वकर्मस्वध्ययनादिष्वनधिकारः पतनम्। अत्र च द्विजातिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्। तेन यस्य यत्कर्म विहितं तस्य तत्रानधिकारः पतनमिति सूत्रार्थः। अन्यथा स्त्रीणां न पतितत्वमुच्येताद्विजत्वात्। न चोपनयनस्थानीयो विवाहस्तासां द्विजत्वसंपादक इति वाच्यम्। तथा हि सति वेदाध्ययनमपि ताः कुर्युः। न चैवं तस्मादद्विजानामपि शूद्रादीनामस्ति पतनम्। प्राक्च पातित्यात्कृतानां शुभकर्मणां परत्र लोकान्तरे फले भोगासिद्धिः पातित्यम्। किं च—"तमेके नरकं ब्रुवते"। एक आचार्याः परत्रासिद्धिरूपं दुःखोपभोगविशेषं नरकमाहुः। गौतमस्तु नैवं मन्यते। पतितस्य हि नरकभोगो न पुनः स एव पतनमिति हि तदभिप्रायः। मात्रादिसंबद्धागः पतित उक्तः। तत्र पाक्षिकमपवादमाह— "न स्त्रीष्वगुरुतल्पं पततीत्येके"। सकृदबुद्धिविषयं चैतत्परमतम्। अगुरुतल्पमिति पितृभार्यापर्युदासः। चण्डालादिस्त्रीणामप्यत्र पर्युदासो द्रष्टव्यः।

---

१ क. °गमस्ते°। २ छ. °र्माभ्यस्व°। ३ छ. पातिताः। ४ क. °योगका°। ५ क. °योयिनः प्रतियोगे स°। ६ छ. °क्ते सैव घ°। ७ क. °घफ°। ८ छ. °क्षेऽव°। ९ क. फलभोगसि°।

अत एवाऽऽह मनुः—

" चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति " ॥

ततश्च पितृपत्न्यादिवर्जितासु गच्छन्न पतति श्रौतस्मार्तकर्मस्वनधिकारी न भवति । "अयाजनानध्यापनादृत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां हेयावन्यत्र हानात्पतति" । [*ऋत्विगयाजनात् । आचार्योऽनध्यापनात् । तथोभावपि पतनीयकर्मकारिणौ हेयौ । अन्यथा हानात्पतति] । " तस्य च परित्यजत इत्येके " । तस्य विना शास्त्रीयं कारणमृत्विगाचार्यौ परित्यजत इत्यर्थः । पतितात्यागी पततीत्युक्तं, तदपवादमाह—" न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः " । न कर्हिचित्कदाचित्पतितत्वदशायामप्यवृत्तिः[२], अशुश्रूषणमपोषणं वा । वसिष्ठस्तु पतितस्य पितुस्त्यागमाह—"पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रं प्रति न पतति " इति । तत्र पितुर्महापातकिनस्त्यागो न तु प्रकारान्तरेण पतितस्येत्यविरोधः । अप्राप्यपवादान्तरमाह—" दायं तु न भजेरन् " इति । दायं पित्रोर्धनम् ।

पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम्[३] ।
लशुनं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥

वसिष्ठः—" पतितेनोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः " । सा हि परगामिनी ।

तथा—सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥

बौधायनः—" समुद्रयानब्राह्मणन्यासापहरणमिति पतनीये " ॥

आपस्तम्बः—" न दोषं बुद्ध्वाऽपि पूर्वं परेभ्यः समाख्यापयेत् ।
समाख्याता हि पतितः स्यात् " ॥

देवलः—" गोभर्तृविश्वसितान्नदप्रव्रजितबन्धुमित्रघातका
मातृपितृपुत्रदारत्यागिनो यज्ञोपहर्ता वृषलीपतिः
सोमविक्रयी व्रात्यो निष्क्रियश्चेति पतिताः " ।

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं क. पुस्तक एव वर्तत ।

---

१ क. °यां व° । २ क. °त्तिः । आशुश्रषणमुपो° । ३ क. ग्राम्यकु° ।

यान्यत्रोपपातकमध्यपतितानि निर्दिश्यन्ते तेषामनुबन्धमत्ययाभ्यासवशेन पातित्यहेतुत्वमविरुद्धम् ॥ २२७ ॥

गुरूणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वधः ॥
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरूणां मुख्यामुख्यानामुपर्युपर्यधिक्षेपोऽनृतेन पापाभिशंसनम् । वेदानां निन्दनमप्रामाण्याभिधानम् । सुहृदो मित्रस्य ब्राह्मणव्यतिरिक्त[स्य] वधः । अधीतस्य वेदस्य बौद्धादिसिद्धान्तावष्टम्भेन नाशं(शनं) त्यागोऽनभ्यासः । एतत्प्रत्येकं ब्रह्महत्यासमं वेदितव्यम् ।

मनुना—" ब्रह्मोज्झं(ज्झं)वेदनिन्दा च कूटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् " ॥

इति सुरापानसमत्वेन वेदस्य त्यागनिन्दे सुहृद्वधश्च निर्दिष्टः । प्रायश्चित्तविकल्पार्थं समत्वाभिधानाऽन्यूनतेत्यनुसंधेयमृषिसमो ब्राह्मण इति यावत् । गर्हितं प्रसिद्धम् । अनाद्यं दुर्गन्धत्वादिना भक्षणानर्हम् ।

मनुः—अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥

समुत्कर्षे[1] गुणवत्तायां स्पर्धा गुणवत्तापरीक्षा वा । तत्रोभयत्र परीक्षकस्यानृतवचनं ब्रह्महत्यासमम् । अलीकनिर्बन्धोऽनृताभिशंसनम् । तथा च गौतमः—" कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरनृताभिशंसनं पातकसमानि " इति ।

प्रचेताः—" गोगर्भिणीबालवधो ब्रह्महत्यासमानि च " ॥ २२८ ॥

निषिद्धभक्षणं जैह्म्यमुत्कर्षे च वचोऽनृतम् ॥
रजस्वलामुखास्वादः सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

निषिद्धस्य लशुनादेर्भक्षणं, जैह्म्यं वाङ्मनःकायकर्मणामनार्जवम् । उत्कर्षेऽनृतवचनं व्याख्यातम् । रजस्वलामुखचुम्बनमित्येतानि प्रत्येकं सुरापानतुल्यानि । अभक्ष्यभक्षणमिति पाठे, अभक्ष्यशब्देनात्रात्यन्तगर्हितं पलाण्डुवादि गृह्यते ॥ २२९ ॥

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ॥
निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २३० ॥

---

१ छ. 'निर्देशे सु' । २ क. 'त्कर्षो गुणवर्तायां स्पर्धागुणवर्तापरी' ।

ब्राह्मणसंबन्धिनामश्वादीनां प्रत्येकमपहारः सुवर्णस्तेयसंमितः । मनुष्यः पुरुषः । स्त्री पुरुषी, मनुष्यसाहचर्यात् । गोबलीवर्दन्यायेन च पौनरुक्त्यपरिहारः । धेनुर्नवप्रसूता गौः । निक्षेपः स्वर्णव्यतिरिक्तः । विष्णुः—" ब्राह्मणस्य भूमिहरणं निक्षेपहरणं च सुवर्णस्तेयसमम् " ॥

मनुः—निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ २३० ॥

**सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ॥**
**सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥ २३१ ॥**

सखिभार्यादिषु रेतःसेचनं गुरुतल्पसममृषिभिः स्मृतम् । सगोत्रत्वेनैव सुतस्त्रीनिषेधे सिद्धे तस्याः पृथगुपादानं तद्गामिनो दोषगौरवख्यापनार्थम् ।

तथा च हारीतः—" मातृदुहितृस्नुषागमनमित्यतिपातकानि ।
अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥
न ह्यन्या निष्कृतिस्तेषां विद्यते हि कदाचन " ॥

स्वयोनिर्भगिनी, अन्त्यजा प्रतिलोमोत्पन्ना ।

मनुः—" रेतःसेकः स्वयोनीषु[1] कुमारीष्वन्त्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः " ॥

रेतःसेकग्रहणात्प्राक्ततो निवृत्तौ न ततो गुरुतल्पसमत्वम् । गौतमः—" सखिसयोनिसगोत्रशिष्यभार्यास्नुषायां च गवि च तल्पसमोऽवका(क)र इत्येके[2] " । तल्पो गुरुतल्पः । अवकरो रेतःसेकः ॥ २३१ ॥

गुरुतल्पनिर्देशमाह—

**पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ॥**
**मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥२३२॥**
**आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंश्च गुरुतल्पगः ॥**
**लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा॥२३३**

पितृभगिन्यादीनामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पगो भवति । गुरुतल्पगप्रायश्चित्तभाग्भवतीत्यर्थः । तस्य च ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य लिङ्गं भजननं छित्त्वा राज्ञा वधः कार्यः । उक्तानां योषितां मध्ये या योषिदुत्कटकामा सती पुरुषं प्रव-

---

१ छ. °स्वाख्या° । २ क. °योनिषु । ३ छ. °निशि° ।

र्तयति, तस्या अपि लिङ्गच्छेदः पूर्वोक्तो वध एव दण्डः । एवं दण्डितस्य पापक्षयो भवति ।

यदाह वसिष्ठः—" राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा " ॥

नारदः—" माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥
दुहिताऽऽचार्यमार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमाऽपि च ॥
आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते ।
शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते" ॥

अत्र मातुरुपादानं मातृवदितरासां गमने दोषगौरवख्यापनार्थम् । न तु दोषसाम्यप्रतिपादनाय ।

अत एव संवर्तः—

मातरं योऽभिगच्छेत्तु स्वसारं पुरुषाधमः ।
न तस्य निष्कृतिं विद्यात्स्वां चैव तनयां तथा ॥

तथा—" मातरं गुरुपत्नीं च स्वसारं तनयां तथा ।
गत्वा तु प्रविशेदग्निं नान्या शुद्धिर्विधीयते " ॥

गुरुपत्नी पितृभार्या, आचार्यभार्या वा ।

मरीचिः—" यद्येते नोपनेतारः पितृव्यभ्रातृमातुलाः । गुरुतल्पव्रतं चरेत् " । पितृव्यादीनामनुपनेतॄणां यो भार्यागामी न तस्य गुरुतल्पगत्वमिति मरीचिवाक्याद्गम्यते ।

अत एवोक्तं वसिष्ठेन—" बोद्धव्यं गुरुतल्पस्य भर्ता ह्यापत्सु देवरः " इति ।
" मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा ।
मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेद्द्विजः " ॥ २३२ ॥ २३३ ॥

उपपातकान्याह—

**गोवधो ब्रात्यता स्तेयमृणानां चानप(पा)क्रिया ॥**
**अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रयः परिवेदनम् ॥ २३४ ॥**

---

१ क. °भिर्वृत° । २ छ. स्नात्वा । ३ क. °लाः । ·····गु° ।

भृताद्ध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ॥
पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम् ॥
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥ २३६ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ॥
पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः ॥ २३७ ॥
कन्यासंदूषणं चैव पारिविन्दकयाजनम् ॥
कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥
आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ॥
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥२३९॥
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधिजीवनम् ॥
हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ॥ २४० ॥
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम् ॥
तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥
असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता ॥
भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

एषां गोवधादीनामेकैकमुपपातकसंज्ञं वेदितव्यम् । व्रात्यता सावित्रीपतितत्वं, स्तेयं चौर्यम् । तच्च सुवर्णचौर्यतत्समव्यतिरिक्तम् । ऋणानामनप(पा)क्रिया यज्ञप्रजोत्पादनस्वाध्यायाध्ययनानामकरणम् । अथवोत्तमवर्णाद्गृहीतानां धनानामप्रतिपादनम् । सत्यधिकारेऽनाहिताग्निता । अपण्यानां प्रतिषिद्धविक्रयाणां द्रव्याणां विक्रयः । दाराग्निपरिग्रहयोग्यं ज्येष्ठमतिक्रम्य कनिष्ठस्य परिग्रहः परिवेदनम् । भृतात्स्वाध्यायस्य ग्रहणम् । तस्य चाध्यापनम् । पारदार्यं गुरुदारतत्समाभ्यामन्यत् । परिवित्तेर्भावः पारिवित्त्यम् ।

परिवित्तिमाह मनुः—" दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः " इति ॥

---

१ छ. परवि° । २ ङ. °रिवेदक° । ३ छ. °षधजी° । ४ क. छ. °श्चैव एकै° ।

वार्धुष्यं निषिद्धवृध्युपजीवनम् । लवणक्रिया लवणोत्पादनम् । एतच्च वानप्रस्थव्यतिरिक्तविषयम् । तस्य च केवलं स्वयंकृतमिति लवणक्रिया विहिता मनुना । आत्रेयीव्यतिरिक्तायाः स्त्रियाः सवनस्थक्षत्रियवैश्ययोः शूद्रस्य च वधः । अनिषिद्धविक्रयस्यापि पण्यस्य प्रतिषिद्धार्थोपजीवनम् । नास्ति दैवमिति मतिमान्नास्तिकः । तस्य भावो नास्तिक्यम् । व्रतं ब्रह्मचर्यम् । ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तं वा, तस्य प्रक्रान्तस्य लोपस्त्यागः । सुतानामपत्यानां विक्रयः । धान्यं व्रीहिः । कुप्यं त्रपुसीसादि, पशुर्गवादिः । व्रात्यता स्तेयमित्यनेनैव स्तेयस्योपपातकत्वसिद्धौ धान्यादिस्तेयग्रहणमन्यस्तेयस्य पाक्षिकोपपातकत्वज्ञापनार्थम् । अथवा धान्यादिस्तेयस्य गौरवख्यापनार्थम् । तस्य प्रायश्चित्तगौरवसिद्धिः । त्यागकारणं विना पित्रादित्यागः । त्यागकारणं गौतमेनोक्तम्—" त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनम् । यच्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेत् " इति । तडागादिविक्रयस्तडागादिधर्मविक्रयः । कन्याया दूषणमङ्गुल्यादिना क्षतयोनिकरणम् । तद्दोषख्यापनं वा । परिविन्दकयाजनं परिवेत्तृत्वनिमित्ते विवाहे ब्रह्मत्वं तस्य परिवेदनप्रवृत्तस्य कन्यादानम् । कौटिल्यमनार्जवम् । व्रतस्य संकल्पस्य स्नातकव्रतादिरूपस्य लोपनं मिथ्याकरणम् । क्रियारम्भः पाकक्रियारम्भः ।

" अग्नं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् "

इत्यादौ तन्निन्दाश्रवणात् । स्वकीयाया अपि मद्यपस्त्रियाः सेवनं निषेवणं, स्वाध्यायस्य कार्यान्तरव्यग्रतया त्यागः । न तु तदप्रामाण्याध्यवसायितया । स हि ब्रह्महत्यासाम्येनोक्तः । अग्नेः श्रौतस्य स्मार्तस्य वा त्यागः । सुतस्यारक्षणमत्र त्यागः । स्वाध्यायाग्नित्यागसाहचर्यात् । पितृमातृसुतत्याग इत्यत्र तु जातकर्मादिसंस्काराकरणं सुतस्य त्यागः । बान्धवानां पितृव्यमातुलादीनां शास्त्रीयत्यागकारणाभावे संभोजनसंभाषणादिव्यवहारत्यागः । पाकादिप्रयोजनाग्निसमिन्धनार्थमशुष्कवृक्षभञ्जनं द्रुमच्छेदः । स्त्रीजीवनं भार्याया वेश्यात्वकरणेन जीवनम् । हिंसाजीवनं प्राणिवधेन जीवनम् । हिंस्रयन्त्रं तिलेक्षुप्रभृतिपीडनयन्त्रं, व्यसनानि मृगयादीन्यष्टादश, आत्मविक्रयो द्रव्यं गृहीत्वाऽऽत्मनो दासत्वकरणम् । शूद्रप्रेष्यमिति भावप्रधानो निर्देशः । तेन शूद्रं प्रत्यात्मनः प्रेष्यत्वकरणमित्यर्थः । हीनसख्यं जातितो गुणतश्च हीनमैत्रम् । हीनयोनिः

---

१ छ. ततश्च प्रा° । २ क. °कत्वादि° । ३ घ. छ. वेश्यत्वं ।

शूद्रा, तन्निषेवणं तदेकभार्यत्वम् । अनाश्रमे वासो ब्रह्मचर्याद्याश्रमराहित्यम् । परान्नपरिपुष्टता बाहुल्येन परान्नोपजीवनम् । असच्छास्त्राणां वेदविरोधिनामधिगमनं श्रवणचिन्तनादिकम् । असच्छास्त्राणां चानुत्तमयुगधर्महासाविष्करणचिकीर्षयैवेश्वरेणोक्तानामुत्पत्तिः शास्त्रेष्वेवमेव प्रसिद्धेः । तथा च वराहपुराणे पूर्वं इतिहासेऽगस्त्यं प्रति रुद्रः—

" कृते नारायणः शुद्धः सूक्ष्ममूर्तिरुपास्यते ।
त्रेतायां यज्ञरूपेण पञ्चरात्रैस्तु द्वापरे ॥
कलौ सत्कृतमार्गेण बहुरूपेण तामसैः[1] ।
इज्यते द्वेषबुद्ध्याऽसौ परमात्मा जनार्दनः ॥
न तस्मात्परमो देवो भविता न भविष्यति " ॥

भूयश्च तत्रैव—

" एवमुक्तस्ततो देवो मामुवाच जनार्दनः ।
युगानि त्रीणि बहवो मामुपैष्यन्ति जन्तवः ॥
अन्त्ये युगे प्रविरला भविष्यन्ति मदाश्रयाः ।
एष मोहं सृजाम्याशु यो जनं मोहयिष्यति ॥
त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ।
अल्पायासान्दर्शयित्वा फलं दीर्घं प्रदर्शय ॥
कुहकानि(नी)न्द्रजालानि विरुद्धाचरणानि च ।
दर्शयित्वा जनं सर्वं मोहयाऽऽशु महेश्वर ॥
एवमुक्तस्तदा तेन देवेन परमेष्ठिना ।
आत्माऽनुचोदितः सद्यः प्रकाशोऽहंकृतस्ततः ॥
तस्मादारभ्य कालात्तु मत्प्रणीतेषु सत्तम ।
शास्त्रेष्वभिरतो लोको बाहुल्येन न वेद सा(मा)म् " इति ॥

एवं तायि(?)प्रभृतिप्रणीताम्नायादीनामनुसंधेयम् । सर्वेष्वाकरेषु हेमरत्नाद्युत्पत्तिस्थानेष्वधिकारिता राजनियोगादाधिपत्यम् । भार्याया विक्रयः । चशब्दादनुक्तानां हिंसौषधीनां रुपाजीवोऽभिचारो मूलकर्म चेति मन्वादिशास्त्रेषु वशीकरणप्रभृतीनां समुच्चयार्थः ॥ २३४ ॥ २३५ ॥ २३६ ॥ २३७ ॥ ॥ २३८ ॥ २३९ ॥ २४० ॥ २४१ ॥ २४२ ॥

---

१ क. °सिद्धिः । त° । २ क. तापसैः ।

तदेशक्रमानुरोधेन ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तानि तावदाह—

**शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन् ॥**
**ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥**

ब्रह्महा ब्रह्मवधकारी द्वादश वर्षाणि शिरःकपाली शिरोस्थ्येकदेशधारी, ध्वजवान्खट्वाङ्गी, भिक्षाशी भिक्षाभोजननियमवान् । कर्म स्वकृतं ब्रह्मवधाख्यं वेदयन्कथयल्लोकानां शुध्यति ब्रह्मवधपापान्मुच्यते । शिरःकपालं च स्वयंहतस्य ब्राह्मणस्य ग्राह्यम् । यदाह शातातपः—"ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा वा तस्य शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुसंचरेत्" इति । कपालं च पाणिना धार्यं, यदाह गौतमः—"खट्वाङ्गकपालपाणिः" इति । खट्वा चात्र शवनिर्हरणार्था, तदङ्गमेव ध्वजशब्देन विवक्षितम् । ध्वजाग्रारोपितकपालेन भवितव्यं, तथाऽऽह मनुः—

"ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम्" इति ॥

भैक्षाशने विशेषमाह संवर्तः—"ब्रह्महा तु वनं गत्वा वालवासा जटी ध्वजी ।
वन्यान्येव फलान्यश्नन्सर्वकामविवर्जितः ॥
भिक्षाशी विचरेदेव वन्यैर्यदि न जीवति ।
चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षं खट्वाङ्गी नियतः पुमान् ॥
भिक्षास्त्वेवं समादाय वनं गच्छेत्ततः पुनः" ।

वाला गोपुच्छवर्तिनः केशाः । अत्रैव विशेषमाह वसिष्ठः—

"सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्" इति । अलब्धोपवास इत्यापस्तम्बीयोऽत्रापरो विशेषः । जटाधारणं च वपनादूर्ध्वं कार्यम् ।

"कृतवासो वसेद्गोष्ठे ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
आश्रमे वृक्षमूले वा सर्वभूतहिते रतः" ॥

इति मनुवचनात् । अत्र चाऽऽरण्यकुट्यसंभवे निवासान्तरविधिर्द्रष्टव्यः । ग्रामान्तो ग्रामारण्ययोः संधिः । आश्रमो महर्षीणां निवासः । अत्र च सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेतिन्यायेन स्मृत्यन्तरोक्ता अविरुद्धा धर्माः समुच्चयेन कर्तव्याः । विरुद्धास्तु विकल्पेन ।

अत्र शङ्खः—"नित्यं त्रिषवणस्नायी कृत्वा पर्णकुटीं वने ।
अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः ॥

ग्रामं विशेच्च भिक्षार्थी स्वकर्म परिकीर्तयन् ।
एककालं समश्नानो वर्षे तु द्वादशे गते ॥
रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे " ॥

**गौतमः**—" खट्वाङ्गकपालपाणिर्द्वादश संवत्सरान्ब्रह्मचारी भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत्कर्माऽऽचक्षाणः पथोऽपक्रामेत्संदर्शनादार्यस्य स्थानासनाभ्यां विहरन्सवनेपूदकोपस्पर्शी विशुध्येत् " । ब्रह्मचारिपदं चात्र वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहहर्षनृत्तगीतपरिवादभयानीत्यविरुद्धानां ब्रह्मचारिधर्माणां प्राप्त्यर्थम् । पथोऽपक्रामेत्संदर्शनादार्यस्येति । आर्यस्य त्रैवर्णिकस्य सम्यग्दर्शनपथो मार्गादपक्रामेदित्यर्थः ।

**वसिष्ठः**—" द्वादश वर्षाण्यात्मनोद्दिश्य न ग्रामे नाऽऽरण्ये वसेत्कपालपाणिः खट्वाङ्गी सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षं भ्रूणहनं भिक्षां देहीति स्वकर्माऽऽवेदयमानो विज्ञाय(ये)तेति निरुक्तमेनः कनीयो भवति " इति । आत्मनोद्दिश्याऽऽत्मना ब्राह्मणार्थं निवा(र्धा)र्य प्रायश्चित्तमुद्दिश्य संकल्प्य न ग्रामे न वाऽऽरण्ये वसेत्किंतु तयोः संधौ । असंकल्पितानि अत्र प्रवेष्टव्यमत्र नेति भिक्षालोभेनासंधारितानि । निरुक्तमेनः कनीयो भवति । आख्यातं पापं क्षीणं भवतीत्यर्थः ।

**यमः**—" अथ वा ब्रह्महत्यायां वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
मृन्मयेन कपालेन स्वकर्माऽऽख्यापयंश्चरेत् ॥
गोष्ठे वसेत्तपोयुक्तो ग्रामान्ते स्थण्डिलेऽपि वा ।
वृक्षमूले श्मशाने वा श्मश्रुलोमनखी जटी ॥
कुटीं कृत्वा वसेत्तत्र गोब्राह्मणहिते रतः ।
अम्भसः पतनादग्नेश्चौरव्याध्यादितो भयात् ॥
गोब्राह्मणं मोचयित्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
ब्राह्मणावसथान्सर्वानग्न्यागारांश्च वर्जयेत् ॥
शोचन्निन्दंस्तथाऽऽत्मानं संस्मरन्ब्राह्मणं च तम् ।
एवं दृढव्रतो नित्यं सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥
सप्तागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकल्पितानि च ।
संस्मरेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥

---

१ छ. °क्रामन्संद° । २ छ. °स्य स्नानास° । ३ क. °नार्थमाचार्य° । ४ क. आचार्यत्रै° । ५ क. °र्थं प्रा° । ६ छ. कुटिं ।

भ्रूणघ्ने देहि मे भिक्षामेनो विज्ञाप्य संचरेत् ।
एककालं चरेद्भैक्षमलब्धावुदकं पिबेत् ॥
एवं संचरमाणस्तु ब्रह्महत्यां ब्रुवन्सदा ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति " ॥

ब्राह्मणावसथान्वर्जयेन्न प्रविशेद्दूरे स्थित्वा भिक्षां याचेत देवांश्च तदगारेभ्यो दूरे स्थित्वा नमस्कुर्यात् ।

ब्रह्मचारी मृदुर्दान्तो धर्मारामः शुचिः क्षमी ।
स्नानव्रतपरो नित्यं चीरवस्त्रोऽजिनी जटी ॥
कुतपक्षौमशाणीयवल्कवासा मलाचितः ।
कृशाङ्गो लोमशः शान्तः सुखदुःखविवर्जितः ॥
मद्यतैलेक्षुरस्वादुसङ्गवर्जी जितेन्द्रियः ॥
देवागारगुहाकुञ्जचैत्यवृक्षादिकं ततः ।
चरेद्ब्रह्महणः सर्वं व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
समाप्ते तु शतं दद्याद्गवामस्मिन्व्रते शुभे ॥
शतार्धं वा तदर्धं वा दश वा भैक्षसंभृताः ।
विप्राणां भोजनं वस्त्रं यथाशक्ति निवेदयेत् ॥

मृदुरकठोरः । दान्तः शीतादिसहिष्णुः । धर्मारामः स्वप्रायश्चित्तरतः । चीरं वस्त्रखण्डम् । कुतपः कम्बलः । क्षौ(क्षु)माऽतसी, शाणः प्रसिद्धः । तयोर्वल्को वल्कलं त्वगिति यावत् । तन्मयवस्त्रचीरादीनि वस्त्राणि विकल्प्यन्ते । कुञ्जो गह्वरं, चैत्यवृक्षः श्मशानवृक्षः । भैक्षसंभृता गा भैक्षलब्धाः । एवमाद्या विरुद्धधर्माः स्मृत्यन्तरेभ्यो बोद्धव्याः । विरुद्धास्तु विषयव्यवस्थयाऽनुष्ठेयाः । तत्र द्वादशाब्दिकं व्रतमकामतो ब्राह्मणवधे द्रष्टव्यम् । एतद्विषयमेव मानवं वासिष्ठं च । अत एवोक्तं भविष्यत्पुराणे गुहं प्रतीश्वरेण—

" पापानां महतां वीर प्राथम्यं मुनिभिर्गुह ।
तेषां च ब्रह्महत्यायाः प्रथमं ग्रहणं कृतम् ॥
तत्रापि ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तानि सुव्रत ।
मनुना कीर्तितानीह त्रयोदश यथाक्रमम् ॥
व्यवस्थाप्यानि सर्वाणि तानि वै विषयेण[3] तु ।
अन्यथा तु लघूनां हि उपदेशान्महाबल[4] ॥

---

१ क. °न्तः सर्वदुः° । २ क. °लक्षरस्वाक्षस' । ३ क. °येन तु । ४ क. °बला । गु° ।

गुरूणामुपदेशस्य न योग्यत्वं भवेदिह ।
स्मृत्यन्तराण्यथाऽऽलोड्य पुराणानि च कृत्स्नशः ॥
एवं निरूप्यो विषयो गुरुहत्याद्यपेक्षया ।

तत्र—" सामान्यतो यदा हत्वा ब्राह्मणं सुरसत्तम ॥
प्रायश्चित्तं तु वै कृत्वा विधिवद्द्वादशाब्दिकम् ।
प्राप्नोति शुद्धिं जीवान्ते स्वर्गत्वं स्वजनैः सह " इति ॥

यत्पुनरापस्तम्बेनोक्तम्—" अरण्ये कुटिं(टीं) कृत्वा वाग्यतः शवशिरोध्व-
जोऽर्धशाणीपक्षमधो नाभ्युपरि जान्वाच्छाद्य
तस्य पन्थाश्चान्तरा वर्त्मणी(नी) दृष्ट्वा चान्य-
मुत्क्रामेत् । खण्डेन लोहितेन शरावेण ग्रामं
प्रतिष्ठेत । कोऽभिशस्ताय भिक्षां ददातीति सप्ता-
गाराणि चरेत्सा वृत्तिरलब्धोपवासेन विधिना
आ उत्तमादुच्छ्वासाच्चरेन्नास्यास्मिँल्लोके प्रत्या-
पत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निहन्यते " ॥

इति तन्मातापितृगुरुप्रभृतीनां वधे द्रष्टव्यम् । अत एव भविष्यत्पुराणे—

" मातरं पितरं हत्वा सोदर्यं भ्रातरं तथा ।
गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा आहिताग्निमथापि वा ॥
अनेन विधिना पापी कीर्तयन्पापमात्मनः ।
पृथिवीमटते सर्वां शृणुष्व गदतो विधिम् " ॥

इत्युक्त्वा " अरण्ये तु कुटीं कृत्वा " इत्यादिकमापस्तम्बीयमेवोक्तम् ।

अङ्गिराः—" एककालं तु भुञ्जानश्चरेद्भैक्षं स्वकर्मणा ।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन् ।
गते तु द्वादशे वर्षे ब्रह्महा पूयते नरः " ॥

युगपत्कामतो वाऽकामतो वाऽनेकब्राह्मणवधे विशेष उक्तो भविष्यत्पुराणे—

" एककालं यदा हन्याद्युगपत्सुरनन्दन ।
निमित्तमेकमाश्रित्य हन्त्यनेकेन वा विभो ॥

---

१ छ. °रुजात्या° । २ क. यथा । ३ क. °शस्ताय । ४ छ. °वासोऽनेन । ५ क. °सात् । नास्या° । ६ छं. सर्वं ।

ब्राह्मणं ब्राह्मणौ वीर ब्राह्मणान्सुबहूनपि ।
निहत्य युगपद्वीर एकं प्राणान्तिकं चरेत् ॥
किंत्वत्र सुरशार्दूल विशेषं गदतः शृणु ।
बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वं विशेषं शृणु पुत्रक ॥
अकामतो यदा हन्याद्ब्राह्मणान्मानवो गुह ।
चरेद्व्रते तदा घोरे यावत्प्राणपरिक्षयः ॥
कामतश्च यदा हन्याद्ब्राह्मणान्सुरसत्तम ।
तदाऽऽत्मानं दहेदग्नौ विधिना येन तच्छृणु ॥
भूत्वा निष्कालको वीर वेष्टयित्वा च वाससा ।
घृताक्तेन महाबाहो दत्त्वा सर्वस्वमेव हि ॥
हित्वा पादौ करीषाग्नौ दहेदात्मानमादरात् ।
आ उत्तमाङ्गावि(द्वि)धिवदत्रस्यन्सुरसत्तम ॥
सर्वमत्र महाबाहो निर्देशः परिकीर्तितः " इति ॥

ततश्चायमर्थः सिद्धः—यद्यकामतो युगपदनेकब्राह्मणवधस्तत्र यद्द्वादशाब्दिकं तप उक्तं, तदेव यावज्जीवं कार्यम् । यदि तु कामतस्तदोक्तप्रकारेणाग्निप्रवेश इति ॥ २४३ ॥

किंच—

ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य वा ॥
तथाऽश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥२४४॥

सर्पव्याघ्रादिना हन्यमानस्य ब्राह्मणस्य परिरक्षणाद्ब्रह्महत्याशुद्धिमाप्नोति । प्रक्रान्तं व्रतं कार्याभावात्तदेवोत्सृष्टव्यम् । अथ वा गवां द्वादशसंख्यानां वधपरित्राणाच्च शुध्यति । यद्वाऽश्वमेधावभृथस्नानात् । अश्वमेधावभृथे च विशेषमाह मनुः—

"शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते" ॥

भूमिदेवा ब्राह्मणाः । अभिषिक्तः क्षत्रियो नरदेवः । तेषामन्योन्यसमागमे स्वमेनो ब्रह्महत्यां शिष्ट्वा विरुध्याप्यावभृथस्नातः शुध्यतीत्यर्थः । एतच्च प्रक्रान्तद्वादशाब्दिकस्यैव । यदाह शङ्खः—"अन्तरा वा ब्राह्मणं मरणान्मोचयित्वा गवां द्वादशानां परित्राणात्सद्य एवावभृथस्नानेन पूतो भवति" । अन्तरा द्वादशाब्दि-

कव्रतमध्य इत्यर्थः । अत्र च गोब्राह्मणपरित्राणमश्वमेधावभृथस्नानं च पापक्षयहेतुत्वेन विधीयते, न पुनर्व्रतकर्तुर्मरणमप्यश्रवणात् । प्रक्रान्तव्रतमध्ये मरणं यदि स्यात्तदा तावतैव पापक्षयः ।

यदाह यमः—" प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्ता यदि विपद्यते ।
शुद्धस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च " इति ॥

अङ्गिराश्च—"यो यदर्थं चरेद्धर्ममप्राप्य म्रियते तु तत् ।
स तत्पुण्यफलं प्रेत्य प्राप्नुयान्मनुरब्रवीत्" ॥

सर्वधर्मविषयं चैतत् ।

यत्तु मनुनोक्तम्—" ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सम्यक्प्राणान्परित्यजेत् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च "

इति, तदुपक्रान्ते द्वादशाब्दिके द्रष्टव्यम् । गोब्राह्मणस्यापरित्राणेऽपि त्राणार्थं प्राणपरित्यागाच्छुध्यति । यत्तु(स्तु) प्राणपरित्यागपर्यन्तः(न्त) प्रयत्नः सगोब्राह्मणगोप्ता स जीवन्नपीति तस्यार्थः ॥ २४४ ॥

ब्राह्मणस्य परित्राणादिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयन्नाह—

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ॥
दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं कृत्वा वा ब्रह्महा शुचिः॥२४५॥

दीर्घकालेन तीव्रवेदनेनाऽऽमयेन व्याधिना ग्रस्तमत्यन्तपीडितं ब्राह्मणं गां वा पथि मार्गे दृष्ट्वा निरातङ्कमरोगं कृत्वा ब्रह्महा शुचिरपापः स्यात् । पथि दृष्ट्वेत्येतदनाथतासूचनार्थम् । गवां द्वादशकस्येत्युक्तत्वाद्गामित्येकत्वमविवक्षितम् । आमयग्रहणं चात्र प्रदर्शनार्थम् ।

अत एवाऽऽह यमः—अम्भसः पतनादग्नेश्चौरव्याघ्रादितो भयात् ।
गोब्राह्मणं मोचयित्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥२४५॥

अमरमपि प्रक्रान्तस्य पापक्षयोपायमाह—

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा ॥
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुध्यति ॥ २४६ ॥

यो विप्रस्वं चौरापहृतं तत्स्वामिने दातुं सर्वमानयति, यो वा तन्निमित्तं चौरैर्हन्यते व्यापाद्यते, यश्च तद्वशाच्चौरैर्वा शस्त्रैः क्षतो मृतकल्पः परित्यज्यते, स सर्वो ब्रह्महत्याया मुच्यते । एतच्च निर्गुणं ब्राह्मणममतिपूर्वकमकामतश्च हतवतः क्षत्रियस्य गुणवतो द्रष्टव्यम् ॥ २४६ ॥

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

उक्तमकामतो ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तम् । कामत इदानीमाह—

**लोमभ्यः स्वाहेति हि वा लोमप्रभृति वै तनुम् ॥**
**मज्जान्तं जुहुयाद्वाऽपि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥**

लोमभ्यः स्वाहा, त्वचे स्वाहा, लोहिताय स्वाहा, मांसाय स्वाहा, स्नायुभ्यः स्वाहा, मेदसे स्वाहा, अस्थिभ्यः स्वाहा, मज्जाभ्यः स्वाहा, एभिर्मन्त्रैर्यथाक्रमं वाजसनेयपाठक्रमानतिक्रमेण लोमप्रभृति मज्जान्तं यथा भवति तथा तच्छरीरं जुहुयात् । अत्र लोमादीनां मन्त्रसामर्थ्यादेवतात्वं, तेषामेव लोमप्रभृति वै तनुं जुहुयादितिवचनसामर्थ्याद्धविष्ट्वमपि । प्रथमोऽत्र वाशब्दो वासिष्ठशास्त्रोक्तेनैषां मन्त्राणां विकल्पार्थः । द्वितीयस्तु द्वादशवार्षिकेण तत्र होमस्य ।

अत्रैव मानवो विशेषः—"प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः" इति। कृतोपवासेनैतत्कार्यम् । यदाह गौतमः—" प्रायश्चित्तमग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य" इति । अवच्छातो बुभुक्षितः । तथा च काठकश्रुतिः—" अनशनेन कर्षि(र्शि)तोऽग्निमारोहेत्" इति। इदं च कामकारविषयं, मरणान्तिकत्वात्।

तथा चाङ्गिराः—"प्राणान्तिकं च यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ।
तत्कामकारविषयमेतन्नास्त्यत्र संशयः" ॥

तथा—" यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन ।
न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा भृग्वग्निपतनादृते " इति ॥

मरणान्तिकं च प्रायश्चित्तं क्षत्रियस्य ।

तथा च भविष्यत्पुराणम्—

" हत्वा तु क्षत्रियो विप्रं गुणाढ्यमपि कामतः ।
प्रायश्चित्तं चरेद्धीरो विधिवत्त्वात्मशुद्धये ॥
लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥
यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः ।
प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम् " इति ॥

विप्रस्य तु कामतो ब्रह्मवधे द्विगुणं व्रतम्—

" विहितं यदकामानां कामात्तु द्विगुणं भवेत् " इति देवलस्मरणात्॥ २४७ ॥

---

१ ङ. 'हेत्येवं हि लो'। २ क. °र्शी°।

अपरमपि मरणान्तिकं प्रायश्चित्तमाह—

**सङ्ग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥**
**मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुध्यति ॥ २४८ ॥**

अथ वा राज्ञामन्योन्यसङ्ग्रामे सेनाद्वयप्रेरितबाणसंपातदेशे लक्ष्यभूतो हतः परलोकगतो मृतकल्पो वा प्रहारपीडितो जीवन्नपि विशुध्यति ।

मनुः—" लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः " ।

विदुषां प्रायश्चित्तोपदेशकर्तॄणामिच्छया तदभावे स्वेच्छया युध्यमानानां लक्ष्यं भवेदित्यर्थः । अस्य च विषयः पूर्वमेव व्यवस्थापितः ॥ २४८ ॥

**अरण्ये नियतो जप्त्वा[1] त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥**
**शुध्येत्[2]यथ मिताशी वा प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्॥२४९॥**

अरण्ये वने नियतो नियताहारः ।

अत एवाऽऽह मनुः—

" जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् " इति ।

आहारस्य नियतत्वं हविष्यत्वमल्पत्वं वा । वेदस्य संहितां त्रिर्जपित्वा शुध्यति । अथवा पूर्ववन्मिताशी भूत्वा सरस्वतीं प्रतिस्रोतोऽन्तादारभ्योद्गमं यावदपि गत्वा शुध्यति ।

मनुः—" हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ।
सुमन्तुनोक्तमथ वा प्रायश्चित्तं निबोध मे ॥

अत्र भविष्यत्पुराणम्—

" हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद्गुह ।
तदेतत्कल्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तं निबोध मे " ॥

ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी त्रिषवणो भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यात् । स्थानवीरासनी संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोवृषान्नतिलभूसर्पींषि ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्पूतो भवति । अश्वमेधावभृथस्नानेन वा ॥ २४९ ॥

अपि च—

**पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ॥**
**आदातुश्च विशुध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता ॥ २५० ॥**

---

१ ङ. °प्त्वा त्रिःकृत्वो वेदसं । २ ङ. °ध्यते वा मिताशीत्वा प्र° ।

अथवा विद्यातपोव्रतवते कुलीनाय यावज्जीवं निर्वाहक्षमं धनं दत्त्वा शुद्धिमाप्नोति । यश्चैतद्धनं प्रतिगृह्णाति तेनाऽऽत्मशुद्धये वैश्वानरीष्टिः कार्या ।

मनुः—" सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् " ॥

जीवनपर्याप्तधनदानासमर्थो गृहं सपरिच्छदं, तदसमर्थः सर्वं दद्यात् । परिच्छदो गृहोपकरणजातम् ।

अत्राङ्गिराः—"साशीतिपणसाहस्रादूर्ध्वं सर्वस्वमुच्यते ।
निर्धनो ब्रह्महा मुच्येत्सुखाधिक्यान्नरेश्वर" ॥

भविष्यत्पुराणे ब्राह्मणस्याप्येतद्भवतीत्युक्तम्—

" जातिमात्रं यदा हन्याद्ब्राह्मणो ब्राह्मणं गुह ।
वेदाभ्यासविहीनो वै धनवानग्निवर्जितः ॥
प्रायश्चित्तं तदा कुर्यादिदं पापविशुद्धये ।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥
यद्वा पराशरोक्तेन प्रायश्चित्तेन शुध्यति " ।

तद्यथा—" चातुर्विद्योपपन्ने तु विधने ब्रह्मघातके ।
समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥
सेतुबन्धं तु संपश्येल्लङ्कामार्गं महोदधेः ।
दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥
सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत् ।
वर्जयित्वा विकर्मस्थांश्छत्रोपानद्विवर्जितः ॥
अहं दुष्कृतकर्मा च महापातककारकः ।
वेश्मद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ॥
गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ॥
एतेषु ख्यापयन्नेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् ।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत स्नात्वा तत्र महोदधौ ॥
ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् ।
जप्त्वा च सुपवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद्गृहम् ॥
गवां वाऽपि शतं दद्याच्चातुर्विद्याय दक्षिणाम् ।
एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः ॥

---

१ छ. 'याच्चतुर्विद्या' ।

विन्ध्यादुत्तरतो यस्य निवासः परिकीर्तितः ।
पराशरमतं तस्य सेतुबन्धस्य दर्शनम् ॥
रामभद्रसमादेशान्नलसंचयसंचितम् ।
सेतुं दृष्ट्वा महापुण्यं ब्रह्महा परिमुच्यते " इति ॥

भविष्यत्पुराणे—"जातिमात्रे हते विप्रे हन्तुर्वै निर्धनस्य च ।
प्रायश्चित्तं त्वाङ्गिरसं त्रैवार्षिकमुदाहृतम्" ॥

तद्यथा—" अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि कृच्छ्रं शक्रादिपूजितम् ।
यद्यधीतं श्रुतं वाऽपि पापान्मोचयते [1]नरम् ॥
युक्तस्त्रिषवणस्नायी स्नायान्मौनव्रते स्थितः ।
प्रातः [2]स्नात्वा समारम्भं कुर्याज्जप्यस्य यत्नतः ॥
सावित्रीं व्याहृतीस्तिस्रो जपेदष्टसहस्रकृत् ।
ओंकारमादितः कृत्वा रूपे रूपे तथाऽन्ततः ॥
शल्यविद्ध इवाऽऽसीनः पिबेद्गव्यं पयः शकृत् ।
गव्यस्य पयसोऽलाभे गव्यमेवं परं दधि ॥
तदभावे पिबेत्तक्रं तक्राभावे तु यावकम् ।
एषामन्यतमं यद्यदुपपद्येत तद्भवेत् ॥
गोमूत्रेण समायुक्तं यावकं वाऽपि योजयेत् ।
कृच्छ्रमैकान्तिकं चेदं दृष्टमाङ्गिरसा स्वयम् ॥
सर्वपापहरं दिव्यं नाम्ना वज्र इति स्मृतम् ।
कालस्य तु यथोक्तस्य ब्राह्मणा एव कारणम् " इति ॥ २५० ॥

ब्रह्महत्याव्रतादेशमाह—

**यागस्थक्षत्रविड्[3]हन्ता चरेद्ब्रह्महणि व्रतम् ॥**
**गर्भहा च यथावर्णं तथाऽऽत्रेयीनिषूदकः ॥ २५१ ॥**

यागस्थयोर्यागेऽधिकारपूर्वककर्तृत्वेन स्थितयोः क्षत्रियवैश्ययोर्हन्ता यद्ब्रह्महणि नानाप्रकारं व्रतं विहितं तच्चरेत् । यागोऽत्र सोमयागो विवक्षितः ।

"तत्क्षत्रं निधाय स्वान्यायुधानि ब्राह्मण एवाऽऽयु-
धैर्ब्राह्मणो रूपेण ब्रह्म भूत्वा यज्ञमुपावर्तते "

इति श्रुतिवाक्येन क्षत्रियस्य यजमानस्य सोमयागं प्रति ब्राह्मणत्वमित्यभिधानात् । एवं च दीक्षणीयाया ऊर्ध्वं प्रागवभृथान्ताद्वर्तमानयोः क्षत्रि-

---

१ क. नृणाम् । २ छ. स्नातः । ३ ङ. °विड्घाती च° । ४ क. ब्रह्मण । ५ क. °णीययो-रूर्ध्वं ।

यविशोर्हन्तुर्व्रतमेतदतिदिश्यत इति मन्तव्यम् । यदपि च वसिष्ठेनोक्तम्—

"ब्राह्मणीं चाऽऽत्रेयीं स्त्रियं हत्वा भ्रूणहत्याप्रायश्चित्तं, सवनगतौ राजन्यवैश्यौ"

इति, तत्रापि कृतदीक्षणीयावेव सवनगताविति विवक्षितम् । यश्च यस्य वर्णस्य गर्भमात्रेयी वहति, स तद्वर्णवधप्रायश्चित्तं कुर्यात् । मनुस्तु निमित्तान्तरेष्वपि ब्रह्महत्याव्रतातिदेशमाह—

" हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यावीजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥
उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरम्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् " इति ॥

गर्भमविज्ञातं स्त्रीपुरुषभावेनेत्यर्थः । गर्भश्चायं ब्राह्मणस्यैव । तथा चाऽऽपस्तम्बः—" गर्भं च तस्याविज्ञातम् " इति । तस्य ब्राह्मणस्येत्यर्थः । विज्ञाते तु गर्भे यथालिङ्गं प्रायश्चित्तम् । स्त्रीलिङ्गे गर्भे हत उपपातकप्रायश्चित्तम् । इतरत्र तु ब्रह्महणो व्रतम् । एतदेव व्रतमित्यनन्तरोक्तं नानाप्रकारं ब्रह्महव्रतं परामृशति, न तु द्वादशाब्दिकमेव विशेषहेत्वभावात् । यत्त्वापस्तम्बेन ब्राह्मणस्य गर्भमात्रेयीं च घ्नतो द्वादशाब्दिकमुक्तं, तत्प्रदर्शनार्थं, न नियमार्थम् । तथा हि सति सकृदभ्यासेन प्रत्ययाप्रत्ययानुबन्धतारतम्यादिकृते हनने द्वादशवार्षिकमेव व्रतं कार्यमिति विषमसमीकरणमन्याय्यमापद्येत । व्रतग्रहणाच्च प्रायश्चित्तातिदेशः । तेनातिदिष्टप्रायश्चित्तोऽपतितत्वाद्द्विजातिकर्मभिर(स्व)धिक्रियत एव । प्रतिरम्भः प्रातिकूल्यम् । कृत्वा तु स्त्रीसुहृद्वधमित्यत्र न स्त्रीमात्रं विवक्षितम् । आत्रेयीग्रहणस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गात् । अत एव तद्विशेषमाहाङ्गिराः—

" आहिताग्नेर्द्विजाग्र्यस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् ।
ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च " ॥

पराशरस्त्वन्यं विशेषमाह—

" सवनस्थां स्त्रियं हत्वा चरेद्ब्रह्महणि व्रतम् " इति ।

विष्णुः—" एतन्महाव्रतं ब्राह्मणं हत्वा द्वादश संवत्सरान्कुर्यादत्रिगोत्रां वा नारीं वा मित्रं वा " । अनेन चात्रिगोत्रैवाऽऽत्रेयीत्युक्तं भवति । वसिष्ठः पुनरन्यदाह(थैव)—" रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुः " इति वदन्रजोदर्शनप्रभृति षोडशाहोरात्राणि यावदात्रेयी भवतीति गमयति । अत्र शेष(त)दपत्यं भव-

---

१ छ. °त्यन्त° । २ छ. नहि नि° । ३ क. °परित° । ४ छ. °गोत्रं वा° । ५ क. °त्रां ना° । ६ छ. °माहूरजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुरितिवचनं र° ।

तीति व्युत्पत्तिप्रदर्शनं वन्ध्याव्युदासार्थम् । अन्यथाऽनर्थकं स्यादिति केचित् । व्युत्पत्तिमात्रपरमेतदित्यपरे । अनात्रेयीवधे व्रतान्तरातिदेशमाह स एव—"अनात्रेयीं ब्राह्मणीं हत्वा राजन्यहिंसायां राजन्यां वैश्यहिंसायां वैश्यां शूद्रहिंसायां शूद्रां हत्वा संवत्सरम्" इति । अयमर्थः—अनात्रेयीं ब्राह्मणीं हत्वा संवत्सरं राजन्यहिंसायां यद्व्रतमुक्तं तत्कुर्यादिति । एवमुत्तरत्रापि ।

*शूद्रां हत्वा संवत्सरं प्रायश्चित्तं कार्यम् । यत्तु स्त्रीगर्भस्योपपातकत्ववचनं तदभिव्यक्तस्त्रीत्वस्य गर्भस्य वधे द्रष्टव्यम् ।

विष्णुः—"समुत्कर्षानृते गुरोश्चालीकनिर्बन्धे तदाक्षारणे[1] मासं पयसा वर्तते"[2] । अल्पापराधविषयमेतत् । महापराधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तमेव । अत एव भगवान्याज्ञवल्क्यो ब्रह्महत्यादिसमत्वेनाभिहितानां गुर्वधिक्षेपादीनां पृथक्प्रायश्चित्तं नोक्तवान् ॥ २५१ ॥

किं च—

चरेद्व्रतमहत्वाऽपि घातार्थं चेत्समागतः ॥

यदि ब्रह्मवधे प्रवृत्तो विघ्नवशान्न हन्ति, न तु शास्त्रबलात्तदाऽपि ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं चरेत् । न च वधं कृतवतोऽकृतवतश्चैकमेव व्रतं युक्तम् । तेनाघ्नतः पादोनं कल्प्यम् । एवं क्षत्रियादिवधेऽपि । यत्तु गौतमेनोक्तम्[3]—"स्पृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधे हत्वाऽपि" इति, तत्र ब्राह्मणग्रहणं प्रदर्शनार्थम् ।

आपस्तम्बः—"धर्मार्थसंनिपातेऽर्थग्राहिण एतदेव प्रायश्चित्तम्" ।

ब्रह्महव्रतमेवेत्यर्थः ।

किं च—

द्विगुणं सवनस्थे च ब्राह्मणे व्रतमाचरेत् ॥ २५२ ॥

सोमयागाय कृतदीक्षस्य ब्राह्मणस्य वधे ब्रह्महत्याव्रतं द्विगुणमाचरेत् । एवं तद्वधे प्रवृत्तस्याघ्नतोऽपि द्विगुणमेव पादोनम् । एवं तावद्भगवता याज्ञवल्क्येन कानिचिद्ब्रह्मवधव्रतान्युक्तानि । अन्यान्यपि कानिचिन्महर्षय आहुः ।

तत्र जमदग्निः—"यद्वा वाराणसीं गच्छेत्सेतुं श्रीपर्वतादि वा ।
अन्यान्यपि च तीर्थानि गायत्रीं च जपेत्तथा" ॥

---

* शूद्रां हत्वा संवत्सरं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कार्यमिति क. पुस्तके वर्तते तत्पूर्वोक्तप्रायश्चित्तक्रमापेक्षयाऽधिकमिति भाति ।

---

१ क. 'रं ब्रह्महत्याप्रा' । २ छ. 'क्षारेण मा' । ३ छ. 'म् । स्पृष्ट' । ४ ङ. 'मादिशेत् ।

अत्रिः—"ब्रह्महाऽब्दत्रयं विप्रो गायत्रीमभ्यसेत्तदा ।
प्राणायामशतं कुर्यात्प्रत्यहं नियतः शुचिः ॥
एतदेव व्रतं स्तेनः पादन्यूनं समाचरेत् ।
गत्वैतदेव कुर्वीत गुरुतल्पमकामतः ॥

ब्रह्महत्यादिसमेष्वेतत्प्रयोजककर्तृषु वाऽल्पत्वात् ।

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रचारी ब्रह्महा पूयते नरः ॥
मासे मासे पराकेण त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ।
संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः ॥
गवां सहस्रं विधिवत्पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत् ।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च" ॥

मासे व्यतीतेऽश्नातीति मासाशी ।

देवलः—" तीर्थेषु पुण्यतमेषु यथावद्देहसंन्यासाद्ब्राह्मणो महापातकात्प्रमुच्यते । धर्मयुद्धे गोग्रहणग्रामघातादिषु प्राणत्यागात्पूयते क्षत्रियः " ।

विष्णुः—" अश्वमेधेन शुध्येयुर्महापातकिनस्त्विह ।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथांऽनुसरणेन वा " ॥

महापातकानुवृत्तौ कश्यपः—

"वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्धये ।
आत्मतुल्यं सुवर्णं वै दद्याद्वा विप्रतुष्टिदम्" ॥

भविष्यत्पुराणम्—"मतिपूर्वं यदा हन्याद्ब्राह्मणं जातिमात्रकम् ।
गोसहस्रं तदा दद्यात्[*अथवा स्वर्जिता यजेत्" ॥

अङ्गिराः—" परिषद्या ब्राह्मणानां सा]राज्ञां द्विगुणा भवेत् ।
वैश्यानां त्रिगुणा चैव पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम्" ॥

अत्र भविष्यत्पुराणम्—" क्षत्रियो ब्राह्मणं हत्वा प्रायश्चित्तद्वयं चरेत् ।
यजेत वाऽश्वमेधेन वैश्ये तद्द्विगुणं स्मृतम्" ॥

प्रायश्चित्तद्वयं द्वादशवार्षिकमित्यर्थः । पतितस्य वैतानाग्नित्यागो नास्तीत्यश्वमेधादिक्रतुविधानाद्गम्यते ।

---

* एतन्न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ क. °षु यावद्दे° । २ छ. °द्यात्सरा । ३ क. °गुणं भ° । ४ छ. °त् । वर्षाणां त्रि° । ५ क. °गुणं चै° । ६ क. चरेत् ।

अत एवाऽऽह कात्यायनः—"महापातकसंयुक्तो दैवात्स्यादग्निमान्यदि ।
पुत्रादिः पालयेदग्नीन्युक्त आ दोषसंक्षयात् ॥
प्रायश्चित्तं न कुर्याच्चेत्कुर्वन्वा म्रियते यदि ।
गृहं निर्वापयेत्सर्वमुदस्येत्सपरिच्छदम् ॥
शामयेदुभयं वाऽद्भिरद्भ्योऽग्निरभवद्यतः ।
पात्राणि दद्याद्विप्राय दहेदप्स्वथवा क्षिपेत् " ॥

आ दोषसंक्षयादा प्रायश्चित्तापवर्गादित्यर्थः ।

एवं च सति—"वैतानं प्रक्षिपेदप्सु यज्ञपात्राणि निर्दहेत् "

इत्यादिकं वचनं प्रायश्चित्तमकुर्वाणे द्रष्टव्यम् ।

भविष्यत्पुराणम्—प्रायश्चित्तत्रयं वैश्यो हत्वा विप्रं सुराधिप ।
चत्वारि द्वादशाब्दानि भिक्षाशी वनगोचरः ॥
जपन्नन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥
कृतवापनो वा निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥
शूद्रो वा ब्राह्मणं हत्वा प्रायश्चित्तचतुष्टयम् ।
कुर्यादात्मविशुद्ध्यर्थं यथावच्छृणु सुव्रत ॥
दत्त्वा विप्रे वेदविदि सर्वस्वं प्रथमं गुरु ।
हविष्यभुक्चरेत्पश्चात्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥
सेतुबन्धं ततो गच्छेद्भिक्षाशी कृतवापनः ।
गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा सम्यक्प्राणान्परित्यजेत् " ॥

शङ्खः—" अकामकृते ब्रह्महा परिषदोऽनुमते खट्वाङ्गी गर्दभाजिनी मृन्मयपात्रपतितशिष्टान्नभोजी कपालचिह्नध्वजी स्वकर्म ख्यापयंश्चरेद्भैक्षमेककालाहारः शून्यागारपर्वतगुहानदीवृक्षमूलनिकेतनः । स एवं गोसहस्रं दत्त्वा द्वादशवर्षे शुद्धिमाप्नोति । अन्तरा वा ब्राह्मणं मरणान्मोचयित्वा गवां द्वादशानां परित्राणात्सद्य एवाश्वमेधावभृथे स्नात्वा पूतो भवति " ।

---

१ क. गृह्यं नि° । २ छ. °यादप्रा° । ३ क. °वापो न वा । ४ छ. °तः । शुद्धो वा । ५ छ. °पात्रापं° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

अथ भविष्यत्पुराणे विषय उक्तः ।

तद्यथा—" शङ्खेनोक्तं तु यद्वीर प्रायश्चित्तं महात्मना ।
तद्यज्ञगतविप्रस्य विनाशे परिकीर्तितम् " इति ॥

वसिष्ठः—" अथापरं भ्रूणहत्याया द्वादशरात्रमब्भक्षो द्वादशरात्रमेवोपवसेत् " ।

अस्यापि विषयो भविष्यत्पुराण एवोक्तः—

" यदाऽत्यर्थं गुणैर्हीनो गायत्र्याऽपि विवर्जितः ।
निहतः कामतश्चैव तदा स्यात्तन्निबोध मे ॥
हन्ता दानासमर्थश्च तदैवं परिकल्पयेत् ।
वसिष्ठेन समाख्यातं ब्रह्महत्याव्यपोहनम् ॥
द्वादशरात्रमब्भक्षो द्वादशरात्रमुपवसेत् " इति ॥

शङ्खलिखितौ—"पतितशिष्टान्नभोजी द्वादश वर्षाणि गवां
सहस्रं दत्त्वा द्वादशे वर्षे शुद्धिमाप्नोति " ।

पतितशिष्टः पतितव्यतिरिक्तः । एतदपि सवनस्थब्राह्मणवधविषयम् ।

बृहस्पतिः—" गङ्गायमुनयोर्वाऽपि संगमे लोकविश्रुते ।
शुध्येत्त्रिषवणस्नायी त्रिरात्रोपोषितो द्विजः " ॥

एवमादीनि गुरूणि लघूनि च प्रायश्चित्तानि सन्ति तेषां देशकालसामर्थ्य-वयोजातिगुणाद्यपेक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया । अन्यथा गुरुकल्पोपदेशोऽनर्थकः स्यात् ।

भविष्यत्पुराणे—

"गुह उवाच—यमुद्दिश्य द्विजं[1] हन्याद्ब्राह्मणः स्वयमेव हि ।
आत्मानं सहसा क्रोधात्तस्य किं नु भवेद्विभो ॥
ईश्वर उवाच—केशश्मश्रुनखादीनां कृत्वा वै वपनं गुह ।
ब्रह्मचर्यं चरेद्वीर वर्षेणैकेन तद्व्रतः ॥
ससंबन्धं यदा विप्रो हत्वाऽऽत्मानं[2] नृपो गुह ।
निर्गुणः सहसा क्रोधाद्दृहक्षेत्रादितो विभो ॥
त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्याद्ब्रह्महत्यां चरन्वने ।
एवं शुद्धिमवाप्नोति हत्वाऽऽत्मानं मृतो यदि ॥

---

१ छ. द्विजो । २ क. कृत्वा ।

तिरस्कृतो यदा विप्रो निर्गुणो म्रियतेऽनघ ।
सनिमित्तं तथा पुत्र तदेव सुविशुद्धये ॥
त्रैवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कृत्वा शुध्येत विप्रहा ।
प्रतिलोमं च गच्छेद्वा नियताशी सरस्वतीम् ॥
अत्यर्थं निर्गुणो विप्रो ह्यत्यर्थं गुणिनोपरि(?) ।
संबन्धेन विना पुत्र म्रियते परिभर्त्सितः ॥
प्रायश्चित्तमिदं कुर्यात्तदा पापविशुद्धये ।
वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्धये ॥
आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वै विप्रतुष्टिदम् ।
वाचोक्त्या चार्पिते शस्त्रे हत्वा विप्रः क्षयं गतः ॥
य एवं म्रियमाणं तु ब्राह्मणं समुपेक्षते ।
तस्य ते निष्कृतिं वच्मि निर्गुणस्य विशेषतः ॥
सशिखं वपनं कृत्वा छातोऽभ्यक्तस्तथा गुह ।
आत्मानं निर्दहेदग्नावापादतलमस्तकम् ॥

छातोऽनशनः ।

यद्येकं बहवो विप्रा घ्नन्ति विप्रमनागसम् ।
तदैषां निष्कृतिं वच्मि शृणुष्वैकमना गुह ॥
तेषां यस्य प्रहारेण स विप्रो निधनं गतः ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतः स चरेत्पापशुद्धये ॥
अन्ये कुर्युरिदं पुत्र प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
कुर्युः कृच्छ्रं द्विषण्मासांश्चातुर्विद्यैपते गुह ॥
सिंहादयस्तथा सर्पा राजा विप्रकदम्बकम् ।
नैते दोषेण लिप्यन्ते घ्नन्तोऽपि सकलं जगत् ॥
गुरुलघुतां प्रति यदाऽऽत्मतुष्टिर्न जायते ।
प्रतिपूरणं वै तत्र जपादिभिरुदाहृतम् ॥
जपादीनां च सर्वेषां धर्मशास्त्रेषु सर्वशः ।
प्रायश्चित्तविशेषेण सर्वेषामिदमुच्यते ॥
शोधनं देवशार्दूल जपहोमादिकं महत् ।
जपस्तपस्तथा होम उपवासोऽघमर्षणम् ॥

---

१ क. °नोरपि । सं° । २ छ. °श्यमते । ३ क. °लघूतां ।

ज्ञानाज्ञानकृतानां च पापानां शोधनं परम् ॥
अन्यशास्त्रोदितानां च निष्कृतीनां सुराधिप[1] ।
उत्प्रेक्ष्यो विषयो ह्येवं सततं गुरुलाघवे " ॥ २५२ ॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

उद्देशक्रमप्राप्तानि सुरापानप्रायश्चित्तान्याह—

सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ॥
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमाप्नुयात्[2] ॥२५३॥

सुरादीनामन्यतममेकं संतापनादग्निसंनिभमुष्णत्वेनाग्नितुल्यं, यस्मिन्पीते पातुर्मृत्युर्भवति, तथाविधं सुरापः पीत्वा मरणाच्छुद्धो भवति । मतिपूर्वकसुरापानविषयमेतत् ।

तथा च मनुः—" मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः " इति ।

मतिपूर्वमिति कामपूर्वम् । अनिर्देश्यमिति ब्रुवन्प्राणान्तिकप्रायश्चित्तं पर्षदाऽनुक्तं स्वयमेव शास्त्रतो विदित्वा कुर्यादिति गमयति ।

अत्र भविष्यत्पुराणम्-" गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥
सुरा हि पैष्टी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे " ।

नेतरयोर्मुख्यः सुराशब्द इत्यर्थः । अत्र च द्विजोत्तमग्रहणं विवक्षितं, तेन क्षत्रियवैश्ययोः पैष्ट्येव प्रतिषिद्धा नेतरे, मद्यान्तराण्यपि ब्राह्मणस्यैव प्रतिषिद्धानि नेतरयोः ।

यदाह मनुः—" यक्षरक्षःपिशाचान्नं[3] मद्यं मांसं सुराऽऽसवम् ।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः " इति ॥

ततश्चोपनयनात्प्रागपि द्विजातिभिः सुरा वर्ज्या, ब्राह्मणेन तु गौडीमाध्व्यादिमद्यमपि । राजन्यवैश्याभ्यां तु ब्रह्मचारिभ्यामेव । यत्तु गौतमेनोक्तम्—"प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षः[4]" इति, तदुपविष्टेनाऽऽचम्य भक्षणीयमित्यादिनियमनिवृत्त्यर्थं, न पुनरभक्ष्यभक्षणानुग्रहार्थम् ।

अत एव जातूकर्ण्यः—

" अनुपेतस्तु यो बालो मद्यं मोहात्पिबेद्यदि ।
तस्य कृच्छ्रत्रयं कुर्यान्माता भ्राता तथा पिता " इति ॥

---

१ छ. °प । तत्प्रे° । २ ङ. °द्धिमृच्छति । ३ क. °त्तं पार्षं° । ४ क. °चानां मं° । ५ क. °त्कामाचारो वा न भक्ष्य इं° ।

सुरापाने तु षट् कृच्छ्राः कल्प्या इति । मद्यपानात्सुरापानप्रायश्चित्तस्य द्वैगुण्यदर्शनात् । एतच्च पञ्चमादूर्ध्वं, पूर्वं तु दोषाभावः ।

यदाह कुमारः—" मद्यमूत्रपुरीषाणां भक्षणे नास्ति कश्चन ।
दोषस्त्वा पञ्चमाद्वर्षादूर्ध्वं पित्रोः सुहृद्गुरोः " इति ॥

एवं च पञ्चमवर्षप्रभृत्येव द्विजानां सुरापानप्रतिषेधो वेदितव्यः । बालस्य च कामतोऽपि न मरणान्तिकम् । यतो मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं न पर्षदादेश्यम् । किंतु स्वयमेव विदित्वा कार्यम् । तत्र बालोऽपि व्युत्पन्नश्चेत्तर्हि[1] मरणान्तिकमेव प्रायश्चित्तम् । तद्विषयाणि चानुग्रहवचनानि ।

यदाह विष्णुः—" अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च " इति ॥

पुलस्त्यः—" स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा ।
पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः " ॥

तथा—" असंस्कृतो निरुत्साहो रोगी नवतिजीवकः ।
यथाशक्ति प्रयुञ्जीत व्रतं ह्येषु न लुप्यते " ॥

अङ्गिराः—" ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
चरेद्गुरुः सुहृद्वाऽपि प्रायश्चित्तं विशुद्धये " ॥

न च मरणान्तिकस्यार्धपादकल्पना युज्यते । मद्यं पुनर्गौडीमाध्वीभ्यामप्यन्यदस्ति, तद्भेदानाह बृहद्[2]विष्णुः—

" माध्वीकमैक्षवं मैरं तालं खार्जूरपानसम् ।
मधूत्थं चैव मार्द्वीकं मैरेयं नारिकेलजम् ॥
अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु " ।

अगस्त्यः पुनरेकादशविधं तदाह—

" पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम् ।
मधूत्थं मैरमारिष्टं मैरेयं नारिकेलजम् ॥
समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु ।
द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥

[*यत एव व्यतिरिक्तमनेकविधं मद्यं, सुरात्मकं तु तदन्त्यं तन्निकृष्टम्] अत एवाऽऽह वसिष्ठः—

---

* न विद्यत एतच्चिह्नान्तर्गतं छ. पुस्तके ।

---

१ छ. 'त्तं प' । २ छ. °श्चेन्मर' । ३ क. °हस्पतिः । मा' ।

" मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रा-
तिकृच्छ्रौ घृतप्राशः पुनःसंस्कारश्च " ॥

**इदमत्यन्तांशक्तस्य बालतरस्याविद्यमानपित्रादिकस्य प्रतिषिद्धमेतत्पानमित्यविदुषो हठात्कारितपानस्य द्रष्टव्यम् ।**

**भविष्यत्पुराणे**—" पैष्टीपाने तु नैतासां प्रायश्चित्तं निबोध मे ।
मनुनोक्तं महाबाहो समासव्यासयोगतः " ॥

**एतासामिति सुराणामित्यर्थः ।**

**यमः**—" सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तयाऽस्य काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥
गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।
पयो घृतं सुवर्णं वा गोशकृद्रसमेव वा ॥
असकृज्ज्ञानतः पीत्वा वारुणीं पतति द्विजः ।
मरणं पूर्वनिर्दिष्टं प्रायश्चित्तं[3] विधीयते ॥
आयसे भाजने तप्तां ब्राह्मणो वारुणीं पिबेत् ।
अग्निवर्णां पापहरां ततः पापाद्विमुच्यते ॥
जीव(वि)तस्यान्तकाले तु श्मशाने विहितो विधिः " ।

**गौडीमाध्वीविषयमेतत् ।**

**उशना**—" गोवालचीरवासाः सुरापः सुरामग्निवर्णां पीत्वा पूतो भवति " ।

**बृहस्पतिः**—" सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीमिव तां मुखे ।
क्षिप्त्वा तया स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥
कुर्याद्वाऽनशनं तावद्यावत्प्राणैर्वियुज्यते " ।

**देवलः**—" सुरापाने ब्राह्मणो रूप्यताम्रत्रपुसीसानामन्यतममग्निकल्पं पीत्वा शरीरपरित्यागात्पूयते " ।

**हारीतः**—" सुरापोऽग्निवर्णां सुरां पीत्वा घृतमपः पयो
वा हिरण्यं वा विलाप्य मृत्युना पूतो भवति " ।

**सुरापानं सकृत्कृत्वेत्यनुवृत्तावङ्गिराः**—

" भृगुप्रपाते पतनं ज्वलनं वा समाविशेत् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठेन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः " ॥ २५३ ॥

**प्रायश्चित्तान्तरमाह**—

---

१ क. 'ने तु सुरायाश्चा'। २ क. 'न्तासक्त'। ३ छ. 'श्चित्ते वि'।

**वालवासा जटी वाऽपि[1] चरेद्ब्रह्महणि[2] व्रतम् ॥**
**पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्तु समां[3] निशि ॥ २५४ ॥**

वालाधिष्ठाः केशास्तन्मयं वसनं जटाश्च बिभ्राणो ब्रह्महणि यदुक्तं द्वादशाब्दिकं व्रतं तद्वा चरेत् । अत्र च वालवासा इत्यादिग्रहणं द्वादशाब्दिकब्रह्महव्रतप्राप्तिनियमार्थम् । अन्यथा व्रतान्तरमपि तदीयं स्यात् । यदि तु वालवसनजटित्वरूपधर्मद्वयं[4] नियमार्थमिदं स्यान्न तर्हि मनुरत्र ध्वजित्वग्रहणं कुर्यात् । कृतं च तत्तेन—

"कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं[5] वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी" इति ॥

पिण्याकमुद्धृतस्नेहं तिलकल्कं, कणांस्तण्डुलान्वा सकृद्रात्रौ वत्सरं यावद्भक्षीयात् । केचिदत्र समाशब्दं बहुवचनान्तं वर्षत्रयपरत्वेन व्याचक्षते, तेषां कणान्वा भक्षयेदब्दमिति मनुवाक्यविरोधः । अस्मादेव च सुरापानापनुत्त्यर्थमिति वचनात्कृतसुरापानस्यैतद्व्रतमिति गम्यते, न पुनस्तालुमात्रसंयुक्तसुरस्येति । तादृशसंयोगफलव्यापारे पानशब्दप्रयोगात् । ब्रह्महव्रतमतिदिष्टमपि द्वादशाब्दिकमेव सुरापः कुर्यात् ।

यदाह वृद्धहारीतः—"द्वादशभिर्वर्षैर्महापातकिनः पूयन्ते" इति ।

पिण्याकादिभक्षणं च तपस्त्वाद्भोजनान्तरनिवर्तकम्[6] । ब्रह्महत्याव्रतादेर्शश्चाकामतः सकृत्पीतायां समनन्तरमेव प्रच्छन्दि(र्दि)तायां वेदितव्यः । अत एव ब्रह्महत्यानुवृत्तौ व्यासः—

"एतदेव व्रतं कुर्यान्मद्यपैश्छर्दने[7] कृते ।
पञ्चगव्यं तु तस्योक्तं प्रत्यहं कायशोधनम्" इति ॥

पिण्याकादिभक्षणेन च संव्यवहार्यतैव भवति न पुनः पापक्षयः ।

अत एव हारीतः-"ब्राह्मणानुमताद्वा संवत्सरं गोमूत्रपुरीषभक्षो
गा अनु गच्छन्पुनः संस्कृतः संव्यवहार्यो भवति" ।

यद्वा द्वादशवार्षिकासमर्थं प्रति[8] पिण्याकादिभक्षणं पापक्षयकरमपि भवतीति सुरापानापनुत्त्यर्थमित्यविशेषवचनाच्छक्यं कल्पयितुम् ।

सुरापानं सकृत्कृत्वेत्यनुवृत्तावङ्गिराः—

---

१ ङ. °पि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् । पि° । २ ङ. °येत्त्रिसमा नि° । ३ छ. °द्वयनि° । ४ छ. °व्याकान्वा स° । ५ क °काभिभ° । ६ क. °शश्च का° । ७ क. °पच्छन्दवे । ८ क. °षिकस° । ९ छ. °ति पिण्याकासमर्थं प्रति पि° ।

" बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समत्वं ब्रह्मणो गच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥
भूमिप्रदानं यः कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तमः ।
पुनर्न च पिबेज्जातु संस्कृतः स विशुध्यति " ॥

संस्कृत उपनीतः ।

विष्णुः—" सुरापाने हि विज्ञानात्प्रमादात्सङ्कतोऽपि वा ।
शक्त्या कृच्छ्रद्वयं कार्यं वत्सरं संमितं तथा ॥
प्रथमे तप्तकृच्छ्रं तु पुनःसंस्कारकर्म च ।
द्वितीयं जन्म तस्य स्यात्संमितं तदनन्तरम् ॥
प्राजापत्यं ततः कार्यं पराकस्तु समापने ।
चान्द्रायणं त्रिरभ्यस्य ततो मुच्येत किल्बिषात् ॥
शक्त्या हिरण्यं रजतं गाश्च भूमिं च दापयेत् " ।

सुमन्तुः—" ब्राह्मणस्य सुरापस्य षण्मासानुद्धृतसमुद्रोदकस्नानम् ।
सावित्र्यष्टसहस्रं जुहुयात्प्रत्यहं त्रिरात्रमुपवासास्तप्त-
कृच्छ्रेण च पूतो भवत्यश्वमेधावभृथस्नानेन वा " ।

बृहस्पतिः—" गौडीं पैष्टीं तथा माध्वीं पीत्वा विप्रः समाचरेत् ।
तप्तकृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुक्रमात् " ॥

सकृदमत्याऽकामतः पीतासु प्रच्छर्दितासु व्रतान्तरासमर्थस्यैतत् । एवमादीनि गुरुलघूनि व्रतानि निमित्ताभ्यासानभ्यासानुसारेण कर्तुरनुबन्धतारतम्यवशेन देशकालगुणजातिसामर्थ्यवशेन च परिषदा व्यवस्थापनीयानि ॥ २५४ ॥

किं च—

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा रेतो विण्मूत्रमेव वा ॥
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २५५ ॥

अज्ञानादकामतः सुरां सकृत्पीत्वा रेतो विण्मूत्रं वा प्राश्य पुनः संस्कारमुपनयनं द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः कर्तुमर्हन्ति । अनेन च सुरापाननिमित्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनः संस्काराद्वा शुद्धिः । न तु संस्कारशुद्धिमात्रात्प्रायश्चित्तनिमित्ता शुद्धिरिष्यते ।

अनेनैवाभिप्रायेण मनुनाऽप्युक्तम्—

---

१ क. °त्वं ब्राह्मणैर्गच्छे° । २ छ. °त् । उपकृ° । ३ क. °मित्तस्यान° । ४ ङ. °नात्तु सुरां पी° ।

" अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा पुनः संस्कारमर्हति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः " ॥

मतिपूर्वसुरापानमनिर्देश्यप्रायश्चित्तं पर्षदाऽनिर्दिष्टमपि निमित्तवता तत्स्वयमेव कार्यम् । अन्यथा तदुपदेशोऽनर्थकः स्यात् ।

तथा—" अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव वा ।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः " ॥

सुरासंस्पृष्टं तिरोहितसुरारसमिति विज्ञेयम् । यथा शुष्कसुराभाण्डस्थितमुदकमितरस्य तु प्रायशः[1] सुरापानमेव । तत्रापि च प्रायश्चित्तपूर्वकमेव पुनः संस्कारः । तत्प्रायश्चित्तमाह शातातपः—

" सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतस्य प्राशनमहोरात्रोपवासश्च " इति ।

सुराभाण्डपर्युषितजलपाने बौधायन आह—

" सुरापानस्य यो भाण्डेष्वपः[2] पर्युषिताः पिबेत् ।
शङ्खपुष्पीविपक्वं तु क्षीरं स तु पिबेऽहम्[3] " ॥

क्षीरं च स्तोकमेव पातव्यं तपस्त्वात् । मतिपूर्वके मद्यभाण्डोदकपानाभ्यासे चामतिपूर्वके मनुराह—

" अपः[3] सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः " ॥

पयोऽत्र क्षीरम् । अबुद्धिपूर्वके तु सुराभाण्डोदकपाने विष्णुः—

" अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेत् " ।

अस्मिन्नेव विषये साभ्यासे बृहद्यम आह—

" सुराभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः ।
स द्वादशाहं क्षीरेण पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् " ॥

ब्राह्मी सुवर्चला, लवणिका ब्राह्मी । यत्तु(स्तु) सुरापा[ना]नुवृत्तौ गौतमेन—

" अमत्या पाने पयो घृतमुदकं वायुः प्रैतिऽहं तप्तानि
सकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारो मूत्रपुरीषरेतसां प्राशने च "

इति तप्तकृच्छ्रपूर्वकत्वेन संस्कारो विहितस्तत्रापि तप्तकृच्छ्रोऽल्पापराधविषय एव, विषयान्तरे तु प्रायश्चित्तान्तरं द्रष्टव्यम् ।

अत एव बौधायनः—"अमत्या सुरापाने कृच्छ्राब्दपादम्[4]" । कृच्छ्रेणाब्दपादं त्रीन्मासानित्यर्थः ।

---

१ क. प्रायशः । २ क. आपः । ३ क. प्रत्यहं । ४ क. °म् । त्रीं° ।

वसिष्ठः—" मद्यभाण्डस्थिताश्चापो यदि कश्चिद्द्विजः पिबेत् ।
पञ्चोड(दु)म्बरपो बिल्वपलाशकुशानामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति, ततः पुनरुपनयनं, वपनादीनां च निवृत्तिः " ।

मानवं चात्र श्लोकमुदाहरति—

" वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि " इति ॥

मद्यं च सुराया अन्यत् । तदाह पुलस्त्यः—

" पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं कौलमैक्षवम् ।
मधूत्थमैरमारिष्टमैरेयं नारिकेलजम् ॥
समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु ।
द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥
द्राक्षेक्षुटङ्कखर्जूरपनसादेस्तु यो रसः ।
सद्योजातस्तु तं पीत्वा त्र्यहाच्छुध्येद्द्विजोत्तमः " ॥

भविष्यत्पुराणम्—"प्रायेण धर्मशास्त्रेषु सर्वेष्वेव सुराधिप ।
मतिपूर्वे सुरापाने प्राणान्तिकमुदाहृतम् ॥
पैष्टीपाने तु मुनिभिर्नेतरस्यां कदाचन ।
वसिष्ठेन तथोक्तं वै प्रायश्चित्तं सुराधिप ॥
कामतो मद्यपाने तु न सुरायाः कदाचन ।

मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशः पुनः संस्कारश्च । अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरां पिबेत् । कामतो गौडीमाध्वीपान एतत् ।

कामतो मद्यपानं तु सकृत्कृत्वा सुराधिप ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा वै पुनः संस्कारतः शुचिः ॥

मद्यं सुराव्यतिरिक्तम् ।

अकामतः सुरां पीत्वा पैष्टीं सत्कुलनन्दन ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा वै पुनःसंस्कारतः शुचिः ॥

अत्यन्ताशक्तबालतरविषयमेतत् ।

चतुर्थकालं भुञ्जानः सुरापो ब्राह्मणो गुह ।
वर्षत्रयं हि विधिवत्तिष्ठेदात्मविशुद्धये ॥

---

१ क. °लाशा°। २ छ. मादूकं । ३ छ. °जातं तु तं ।

**पैष्टीपानेऽकामतः सकृत्कामतो वाऽभ्यासे गौडीमाध्वीपान एतत् ।**

प्रमादान्मद्यमसुरं सकृत्पीत्वा द्विजोत्तमः ।
गोमूत्रयावकाहारो दशरात्रेण शुध्यति ॥
अज्ञानान्मद्यपानं तु सकृत्कृत्वा द्विजोत्तमः ।
तप्तकृच्छ्रं समातिष्ठेद्धृतं प्राश्य ततः शुचिः ॥

**अत्रापि सुराव्यतिरिक्तमेव मद्यं विवक्षितम् ।**

प्रतिषेधः सुरापाने मद्यस्य च सुराधिप ॥
द्विजोत्तमानामेवोक्तः सततं गौतमादिभिः ।
तप्तकृच्छ्राभिधानं हि यदुक्तं गौतमादिभिः ॥
अबुद्धिपूर्वं पाने तु गौडीमाध्व्योस्तदुच्यते ।
गौडीमाध्व्योस्तथा पाने मतिपूर्वं कृते गुह ॥
वासिष्ठं तत्र विज्ञेयं सर्वपापहरं शुभम् ।

**वासिष्ठं मद्यपाने तु असुराया इत्यादिकम् ।**

असुरामद्यपाने तु कृते विप्रस्तु कामतः ॥
चान्द्रायणं समभ्यस्येच्छुद्धिकामः सुशुद्धये ।
यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत् ॥

**कणान्वा भक्षयेदब्दमित्यादिकम् ।**

गौडीमाध्व्योस्तथाऽभ्यासे प्राणान्तिकमुदाहृतम् ।
माध्वीं पीत्वा प्रमादेन सकृद्विप्रः सुराधिप ॥
गोमूत्रयावकाहारो दशरात्रेण शुध्यति ।
सकृत्पीत्वा तथा गौडीमज्ञानात्सुरसत्तम ॥
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ विहितौ घृतपानकमेव च ।
गौडीमज्ञानतः पीत्वा ब्राह्मणो ब्राह्मणप्रिय ॥
तप्तकृच्छ्रं तु वै कृत्वा पुनःसंस्कारतः शुचिः ।
मतिपूर्वं यदा गौडीं पिबेद्विप्रः सुराधिप ॥
तदा चान्द्रायणं कुर्याद्वां च दद्याद्विजोत्तमे"[3]।

**मरणान्तिकप्रायश्चित्तानुवृत्तौ पुनर्भविष्यत्पुराणम् ।**

" एतानि पैष्ट्याः पाने तु कामतः संप्रवर्तते ।
प्रायश्चित्तानि चोक्तानि गौडीपाने निबोध मे ॥

---

१ छ. °न्मध्यम° । २ छ. °सिष्ठ च म° । ३ क. °च्छ्रौ घृतभुग्यावपा° । ४ क. °मतश्च प्रवर्तितः । प्रा° ।

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा मद्यपो ब्राह्मणः पुनः ।
समत्वं ब्राह्मणैर्गच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः " ॥ २५५ ॥

किं च—

**पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ॥**
**इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥**

सत्कर्मार्जितमपि पतिलोकं स्वर्गादिकं सुरापी ब्राह्मणी न याति । दंपत्योः सहाधिकाराद्यो यागाधिकारिणः पत्युर्लोकः स एव पत्न्या अपीत्यभिप्रायेणोक्तम्—पतिलोकं न सा यातीति । न केवलं स्वर्गादिलोकं सा न याति किं तु कुत्सितां श्वादियोनिं प्राप्नोति । तस्माद्ब्राह्मण्याऽपि सुरा न पेया, पीता चेत्प्रायश्चित्तं कार्यमित्यर्थः ।

" तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् "

इतिवाक्यगतं लिङ्गं विवक्षितं मन्यमानः स्त्रीणां सुरापानप्रतिषेधं पृथगाह । स्मृतिकाराश्चानुपादेयस्यापि विशेषणं विवक्षितं मन्यन्ते । अत एव ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्येष प्रतिषेधो ब्राह्मणीवधविषयो न भवति । अत एवाऽऽत्रेय्यादिवधकारिणो ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशः । एवं सति ब्राह्मणसुवर्णहरणं महापातकमित्युक्ते ब्राह्मणीसुवर्णहरणं न महापातकमिति सिध्यति । अत्र ब्राह्मणीग्रहणं क्षत्रियादिस्त्रीणां व्यावृत्त्यर्थम् ।

अत एव वसिष्ठः—" या ब्राह्मणी सुरापी न तां देवाः पतिलोकं नयन्ति ।
इहैव सा भ्रमति क्षीणपुण्याऽप्सु लुम्भवति ।
शुक्तिका वेति ब्राह्मणी वा " इत्युक्तवान् ।

शङ्खोऽपि—" सुरालशुनपलाण्डुगृञ्जनकमांसान्यभक्ष्याण्याह रसमयं हि शरीरं तन्मयत्वाद्ब्राह्मणः संकीर्यते, मातुराशितपीताद्धि गर्भः संभवति " इति ॥ २५६ ॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

उद्देशक्रमानुसारेण सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तान्यधुनाऽऽह—

**ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ॥**
**स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥**

---

१ छ. °कं नाऽऽख्या° । २ क. छ. मुसुल° ३ छ. °कर्माऽऽख्या° ।

ब्राह्मणस्वभूतं सुवर्णं हृत्वा येन केनापि प्रकारेणाऽऽच्छिद्याभिषिक्ताय क्षत्रियाय स्वकीयं ब्राह्मणसुवर्णस्तेयाख्यं कर्म ख्यापयन्मुसलमर्पयेत्। तेन राज्ञा तेन मुसलेन हतः शुचिर्भवति, *यदि राजा न हन्ति किं तु मुञ्चति, तदाऽसौ तेन(ना) हतः शुचिर्भवति। यद्यपि सुवर्णशब्दोऽत्र हेमजातिवचन एव, तथाऽप्यत्र परिमाणविशेषविशिष्टस्यैव हेम्नोऽपहारे प्रायश्चित्तमिदं द्रष्टव्यम्। मरणान्तिकत्वात्।

अत एवोक्तं षट्त्रिंशन्मते—

"सुवर्णस्यापहरणे माषकेणापि पातकम्।
निष्कमात्रापहारेण न विद्मः किं भविष्यति॥
वालाग्रमात्रेऽपहृते प्राणायामं समाचरेत्।
लिक्षामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं बुधः॥
राजसर्षपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम्।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपेत्पापविशुद्धये॥
गौरसर्षपमात्रे तु गायत्रीं वै दिनं जपेत्।
यवमात्रे[1] सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम्॥
सुवर्णकृष्णलं ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तमः।
कुर्यात्सांतपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये॥
अपहृत्य सुवर्णस्य माषमात्रं द्विजाधमः।
गोमूत्रयावकाहारस्त्रिभिर्मासैर्विशुध्यति॥
सुवर्णस्यापहारेण वत्सरं यावकी भवेत्।
ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महव्रतम्" इति॥

मनुः—"राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
स्कन्धेनाऽऽदाय मुसु(स)लं लगुडं वाऽपि खादिरम्॥
अभ्रिं वोभयतस्तीक्ष्णमायसं दण्डमेव वा।
शासनाद्वाऽपि मोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते॥
अशासित्वा तु तं राजा चौरस्याऽऽप्नोति किल्बिषम्"।

ब्राह्मणोऽपि च वधमर्हतीत्याह स एव—

"वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा" इति॥

---

* इत आरभ्य भवतीत्यन्तं न विद्यते क. पुस्तके।

---

१ क. °न वा ह°। २ छ. °मात्रं सु°।

व्यवस्थापनमेतद्वाक्यमिति व्यवस्था[न] युज्यते । वाशब्दानर्थक्यप्रसङ्गात् । यत्तु मनुनैवोक्तम्—" न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम् "

इति, तद्दण्डविषयम् । इदं तु प्रायश्चित्तविषयम् ।

अत एव प्रायश्चित्तप्रकरणे स एवाऽऽह—

" सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
गृहीत्वा मुसु(स)लं ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥
गृहीत्वा मुसृ(स)लं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।

अत्र च विप्रग्रहणं न वर्णान्तरव्युदासार्थम् । किं तु ब्राह्मणो न हन्तव्य इतिनिषेधनिरासार्थम् । ब्राह्मणो न हन्तव्य इति निषेधो रागप्राप्तब्राह्मणवधविषयः । सुवर्णापहर्तुस्तु ब्राह्मणस्य स्वघाताय राजानं प्रत्यागतस्य वधः ।

" गृहीत्वा मुसु(स)लं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् "

इति विहितत्वाद्राज्ञो धर्म एव । तदकरणे च प्रत्यवायः । अत एवाऽऽह गौतमः—" अघ्नन्नेनस्वी राजा " इति । यदा तु हतोऽपि जीवति तदा तावतैव शुध्यति ।

यदाह संवर्तः—"ततो मुसु(स)लमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
यदि जीवति स स्तेनस्तदा स्तेयाद्विमुच्यते " ॥

वसिष्ठोऽन्यथाऽऽह—

" ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्णकेशो राजानमभिधावेत् । स्तेनोऽस्मि भोः शास्तु मां भवानिति । तस्मै राजौड(दु)म्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनाऽऽत्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवति " इति ।

दृढप्रहारासमर्थे राजन्येतत् । औड(दु)म्बरं ताम्रमयम् ।

" निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं दाहयेत् । मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते " ।

निर्गतं कालं कृष्णवर्णं केशादिकं यस्मात्स निष्कालकः । एवमादीनि मरणान्तिकप्रायश्चित्तानि कामकारकृते स्तेये वेदितव्यानि ।

तदाहाङ्गिराः—" मरणान्तं हि तत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ।
तत्तु कामकृते पापे विज्ञेयं नात्र संशयः " इति ॥ २५७ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

---

१ क. 'स्य स्वाघा' । २ छ. राजोड° ।

**अनिवेद्य नृपे शुध्येत्सुरापव्रतमाचरन् ॥**
**आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वै विप्रतुष्टिदम् ॥ २५८ ॥**

राज्ञे स्वकीयं स्तेयमनिवेद्यापि सुरापव्रतमाचरञ्शुध्येत् । स बहुधनश्चेदपहर्ता तदा स्वशरीरगौरवतुल्यगुरुत्वं सुवर्णं विप्राय दद्यात् । अल्पधनश्चेद्यावज्जीवं[1] कुटुम्बनिर्वाहक्षमतया तुष्टिकरं सुवर्णं विप्राय दद्यात् ।

मनुः—" तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् " ॥

अत्र च कपालधारणादि निवर्तते । अनेनैवाभिप्रायेण भगवता याज्ञवल्क्येनोक्तम्—" सुरापव्रतमाचरन् " इति । एतच्च निर्गुणब्राह्मणसंबन्धिनः सुवर्णस्यापहरण आपत्काले कुटुम्बार्थं गुणवद्ब्राह्मणकर्तृके द्रष्टव्यम् । निर्गुणस्य तु गुणवत्संबन्धि बहुतरं द्यूताद्यर्थमपहरतः प्राणान्तिकमेव प्रायश्चित्तम् ।

स्तेन इत्यनुवृत्तावापस्तम्बः—

" अग्निं वा प्रविशेत्तीक्ष्णं वा तप आयच्छेद्भक्तापचये-
नाऽऽत्मानं वा समापयेत्कृच्छ्रं संवत्सरं वा चरेत् " ॥

भक्तापचयोऽनशनम् ।

सुमन्तुः—" सुवर्णस्तेयी मासं गायत्र्यष्टशतमाज्याहुतीर्जुहुयात्प्रत्यहं त्रिरात्रमुपवासः । तप्तकृच्छ्रेण च
पूतो भवति । अश्वमेधावभृथस्नानेन वा " ।

लघुविष्णुः—" स्तेये ब्रह्मस्वभूते तु सुवर्णहरणे कृते[3] ।
तस्मात्तेनैव दातव्यं तस्मा एकादशाधिकम् ॥
ऋणसंशुद्धिभावाय ततश्चान्द्रायणत्रयम् ।
संवत्सरेण कर्तव्यं निपुणां शुद्धिमिच्छता ॥
अभावे काञ्चनस्य स्याद्व्रतमेतच्चतुर्गुणम् ।
चरेद्यतात्मा निःसङ्गः पूर्णं वर्षचतुष्टयम् ॥
समाप्ते काञ्चनं गाश्च(वो) रजतं चापि शक्तितः ।
देयमन्नं द्विजाग्र्येभ्यः शुभं पापापनुत्तये " ॥

एकादशाधिकमेकादशगुणम् । तद्दानस्य चर्णसंशुद्धये विहितत्वादपूर्वप्रायश्चित्तकल्पशेषभूतचान्द्रायणत्रयं यवमध्यपिपीलिकामध्ययतिचान्द्रायणात्मकं[4]

---

१ ङ. °द्याद्विप्रतुष्टिकृत् । २ क. °जीवकु° । ३ क. °ते । पश्चात्ते° । ४ छ. °शेषं भू° ।

तत्संवत्सरं तावदभ्यसेत् । निर्धनतया त्वेकादशगुणदानासमर्थस्तदेव वर्षचतुष्टयमभ्यसेत् । ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तानुवृत्तौ व्यासः—

" एतदेव व्रतं स्तेनः पादन्यूनं समाचरेत् " ।

अत्रिः—" षडब्दं वा चरेत्कृच्छ्रं यजेद्वा क्रतुना द्विजः ।
तीर्थानि च भ्रमन्विद्वांस्ततस्तेयाद्विमुच्यते " ॥

क्रतुर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणे द्रष्टव्यः । एकवचनं जात्यभिप्रायम् ।

सुमन्तुः—" सुवर्णस्तेयी द्वादशरात्रं वायुभक्षो भवति " इति ।

एवं गुरूणि लघूनि च प्रायश्चित्तानि शास्त्रेषु विहितानि पर्यालोच्य यथापराधं परिषदा व्यवस्थापनीयानि तत्सामान्यार्धप्रायश्चित्तानि । स्त्रीबालवृद्धातुराणां विहितमेषां चार्धप्रायश्चित्तम् ।

चतुर्विंशतिमतम्—" हृत्वा दशगुणं दत्त्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
रूप्यं हृत्वा द्विजो मोहाच्चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥
व(ग)व्यान(ण)दशकादूर्ध्वमा शताद्विगुणं चरेत् ।
आ सहस्रात्तु त्रिगुणमूर्ध्वं हेमविधिः स्मृतः ॥
सर्वेषां धातुलोहानां परार्कं तु समाचरेत् " ।

षट्त्रिंशन्मतात्—" बलाद्ये कामकारेण हरन्ति तु नराधमाः ।
तेषां तु बलहर्तॄणां प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥

भविष्यत्पुराणम्—" महापातकनिर्देशे तृतीयं स्तेयमुच्यते ।
न चाप्यबुद्धिपूर्वं तत्क्रियते केनचित्कचित् ॥
पातकत्वं चाविशिष्टं वदन्ति मुनयो गुह ।
क्षत्रियादिर्यदा हर्ता द्यूताद्येन प्रयोजनम् ॥
सानुबन्धोपहारश्च तदैवं शुद्धये चरेत् ।
निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पच्यां प्रभृत्यात्मानं निर्दहेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते ।
हृत्वा सुवर्णं राजन्यो ब्राह्मणस्याग्निहोत्रिणः ॥
रोमहीनो घृताक्तस्तु आत्मानं पावके दहेत् ।
विशिष्टब्राह्मणद्रव्यहरणे पृतनापते ॥
दोषो बहुतरः स्याद्वै क्षत्रियादिषु हर्तृषु ।

---

१ क. °मान्यर्धं° । २ छ. °द्धानां वि° । ३ छ. रूपं हित्वा । ४ क. °तकिनि° ।

तथाऽस्मिन्नेव विषये [1]चौर्ये याति द्विजोत्तमः ॥
अल्पानुबन्धे हि कृते क्षत्रियेणेतरेण वा ।
मूर्धाभिषिक्तो राजा स्याद्हुणवान्क्षत्रियस्तथा ॥
हृतविप्रसुवर्णश्च प्रायश्चित्तमिदं चरेत् " ।

" ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान्राजानमभिगच्छेत् । स्तेनोऽस्मि मोः शास्तु मां भवानिति । तस्मै [2]राजौड(दु)म्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनाऽऽत्मानं प्रमापयेत् । मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते " ।

तथाऽस्मिन्नेव विषय इत्यादेरयमर्थः—अग्निहोत्रिब्राह्मणसुवर्णापहारे ब्राह्मणोऽत्यन्तसानुबन्धद्यूतादिसिद्धये हर्ता क्षत्रियादिर्वाऽल्पानुबन्धः । तत्र यद्यभिषेकादिगुणवान्क्षत्रियो नृपतिरस्ति, तदा वसिष्ठोक्तं ब्राह्मणसुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान्राजानमभिगच्छेदित्याद्युक्तं कुर्यादिति ।

" अपहृत्य सुवर्णं च ब्राह्मणस्य नराधिप ।
पश्चान्निष्कप्रमाणं तु राजानं क्षत्रियो व्रजेत् ॥
तस्मादौड(दु)म्बरं शस्त्रं प्राप्याऽऽत्मानं हरेद्रुह ।
प्रयात्यवे न संदेहो यदि जीवति सुव्रत ॥
यदेतद्वचनं वीर ब्राह्मणस्तपसैव वा ।
तत्रैव कारणाद्विद्वान्ब्राह्मणस्य सुराधिप " ॥

तपसैवेत्यनेनैवकारणेन(रेण) विदुषो ब्राह्मणस्य प्राणान्तिकं निषिध्यते । अविदुषस्त्वत्र विषये प्राणान्तिकमेव । अन्यथा " सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः " इत्यादिमनुवाक्यविरोधः स्यात् ॥ २५८ ॥

इति सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

अथ गुरुतल्पप्रायश्चित्तान्याह—

तप्तेऽयःशयने [5]सु(स्व)प्यादायस्या योषिता सह ॥
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां वोत्सृजेत्तनुम् ॥२५९॥
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः ॥
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

---

१ क. चौर्ये । २ छ. राजोड° । ३ छ. °प एवेत्य° । ४ क. °नेन का° । ५ छ. °ने सार्धमायस्या योषिता स्वयम् । गृ° ।

उक्तलक्षणो गुरुतल्पगस्तप्ते ऽग्निवर्णे लोहमये शयने मृत्यवे सु(स्व)प्यात्संविशेत् । न केवलमेकाकी, आयस्या योषिता सहेति यावत् । यद्वा वृषणौ स्वकीयौ स्वयमेवोत्कृत्य च्छित्त्वाऽञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दिशि गत्वा तत्र तनुं शरीरमुत्सृजेत् । आ शरीरनिपाताद्गच्छेदित्यर्थः । एवमादीनि प्रायश्चित्तान्यकामतो मातरमुत्तमवर्णां च तत्सपत्नीं तदन्यां तु कामतो गच्छतो द्रष्टव्यानि ।

उक्तं च षट्त्रिंशन्मते—" पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽधिगच्छति ।
जननीं वाऽप्यविज्ञाय नामृतः शुद्धिमाप्नुयात् " इति ॥

अमतिपूर्वासमानवर्णपुंश्चलीगुरुस्त्रीगमने प्राग्रेतोविसर्गान्निवृत्तौ च समां संवत्सरमेकं वा प्राजापत्यं कृच्छ्रं चरेदभ्यसेत् । यद्वा वक्ष्यमाणलक्षणं चान्द्रायणं स्वाध्यायसंहितामभ्यसन्मासत्रयं तावदाचरेत् । मरणान्तिकं च प्रायश्चित्तं तत्र स्वकृतं गुरुतल्पगमनमभिभाष्य कार्यम् ।

यदाह मनुः—" गुरुतल्पोऽभिभाष्यैनस्तप्ते सु(स्व)प्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं वा श्लिष्येन्मृत्युना स विशुध्यति ॥
स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याऽऽदाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदा निपातादजिह्मगः " ॥

गुरुस्त्रीगमनं नियमेनाभिभाष्य कथयित्वेत्यर्थः । सूर्मी लोहादिमयी स्त्रीप्रतिकृतिः ।

हारीतः—" गुरुतल्पगो मृन्मयीमायसीं वा स्त्रियाः प्रतिकृतिमग्निवर्णां कृत्वा तामालिङ्ग्य पूतो भवति " ।

वसिष्ठः—" निष्कालको घृताभ्यक्तस्तप्तां सूर्मीं परिष्वज्य
मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते " ॥

निष्कालकोऽकृतलोमश्मश्रुकेशवपनः ।

प्राजापत्यकृच्छ्राभ्यासे च विशेषमाह—

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्रायश्चित्तं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥
चान्द्रायणं च त्रीन्मासानभ्यसेन्नियतव्रतः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये " ॥

---

१ छ. तु तत्सपत्नीं का° । २ क. °श्रुव° । ३ छ. प्राजापत्यं च° ।

यमः—" अथ वा शिश्नवृषणावुत्कृत्य प्रतिगृह्य च ।
गुरोरभिमुखस्तिष्ठन्पूतो भवति किल्बिषात् ॥
काले ऽष्टमे वा भुञ्जानो ब्रह्मचारी सदा व्रती ।
स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः ॥
अधःशायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपोहत पातकम् ।

अङ्गिराः—" गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमाशु संविशेत् ।
उत्कृत्य वृषणौ वाऽपि धारयेदञ्जलौ स्वयम् ॥
मरणायाथ वा पभ्द्यां प्रव्रजेद्दिशमुत्तराम् ।
शरीरस्य विमोक्षेण कर्मणो मुच्यतेऽशुभात् ॥
महाव्रतं चरेद्वाऽपि दद्यात्सर्वस्वमेव वा ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे मुच्यते गुरुतल्पगः " ॥

महाव्रतं द्वादशाब्दिकं ब्रह्महव्रतम् ।

शङ्खेनाप्युक्तम्—" अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः ।
एककालं समश्नन्वै वर्षे तु द्वादशे गते ॥
रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
व्रतेनानेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे "

इति, तच्चामतिपूर्वसवर्णगुरुदारगमनविषयम् ।

यत्तु—"मातुः सपत्नीं भगिनीम् " इत्यादिना गुरुतल्पव्रतमतिदिष्टत्वात्पादोनमुक्तं तदसवर्णगुरुतल्पगमनविषयम् । तत्रापि ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियां पितृभार्यां गच्छतो नववार्षिकं, वैश्यां षड्वार्षिकं, शूद्रां त्रैवार्षिकं, गुरुतल्पव्रतं भवतीत्येके मन्यन्ते । अन्ये त्वातिदेशिकं सर्वं संपूर्णमेव कार्यमित्याहुः । अखण्डप्राप्तत्वादतिदेशस्य पादोनत्वादिकल्पनायां च प्रमाणाभावात् । ततश्च याज्ञवल्कीयाङ्गिरसवाक्ययोः समविषयतैव । तत्समप्रायश्चित्तानां त्वन्यूनत्वे समशब्दप्रयोग एव प्रमाणम् । राजसमो मन्त्रीत्यादावन्यूनविषयस्य समशब्दप्रयोगस्य दर्शनात् ।

ब्रह्महत्यानुवृत्तौ व्यासः—"गत्वैतदेव कुर्वीत गुरुतल्पमकामतः ।
कामतो द्विगुणं प्रोक्तं पूर्वेषु तु यदुच्यते " ॥

पूर्वेषु ब्रह्महत्यादिषु द्वादशवार्षिकं व्रतमुच्यते, तदपि कामतः कृते पापे द्विगुणं भवतीत्यर्थः ।

---

१ क. °स्त्रेण स° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

**सुमन्तुः**—" गुरुदारगामी संवत्सरं कण्टकिशाखां परिष्वज्याधःशायी त्रिषवणी स्वकर्माऽऽचक्षाणो भिक्षाहारः पूतो भवत्यश्वमेधावभृथस्नानेन वा "।

**ब्राह्मणीपुत्रस्य वैश्यात्मकेष्वगुरुदारेष्वेतत् ।**

**आपस्तम्बः**—" गुरुदारव्यतिक्रामी खराजिनं बहिर्लोम परिधाय गुरुदारव्यतिक्रामिणे मे भिक्षां देहीति सप्तागाराणि चरेत्सा वृत्तिः षण्मासान् "।

**ब्राह्मणीपुत्रस्य शूद्रात्मकेषु गुरुदारेष्वेतत् ।**

**विष्णुः**—"मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषागमनमित्यतिपातकानि ।
अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ।
न ह्यन्या निष्कृतिस्तेषां विद्यते तु कदाचन " ॥

**संवर्तः**—" मातरं यदि गच्छेत्तु स्नुषां वा पुरुषाधमः ।
न तस्य निष्कृतिं विद्यात्स्वकां दुहितरं तथा " ॥

**जीवतो निष्कृतिर्नास्तीत्यर्थः ।**

**उशना**—" गुरुतल्पाभिगामी संवत्सरं ब्रह्महव्रतं षण्मासान्वा तप्तकृच्छ्रं चरेत् "।

**एतच्च क्षत्रियापुत्रस्य शूद्रात्मिकां गुरुस्त्रियं गच्छतः ।**

**वृद्धमनुः**—" गमने गुरुभार्याया गुरुभार्यागमे तथा ।
अब्दत्रयमकामात्तु कृच्छ्रं नित्यं समाचरेत् " ॥

**संवर्तः**—" शूद्रस्तु विप्रागमने गुरुतल्पव्रतं चरेत् ।
अज्ञानाज्ज्ञानतो गत्वा प्राणान्तिकमिति स्थितिः " ॥

**वसिष्ठः**—" शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वीरुद्भिर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां कृष्णखरमारोप्य महापथगमनं व्राजयेत् । पूता भवतीति विज्ञायते"।

**अनेकशिखावपनप्राप्तये शिरसीत्युक्तम् ।**

" वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथं व्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः

---

१ क. °त्वेन स° ।

शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां श्वेतखरमारोप्य महापथगमनं व्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते "।

महापथो राजपथः। पूता भवति प्रायश्चित्तयोग्या भवतीत्यर्थः।

यमः—" रेतःसेके कुमारीषु चाण्डालीष्वन्त्यजासु च।
सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते " ॥

कुमार्यादिषु कामतोऽभ्यासेऽपत्यदारेष्वकामतः सकृद्गमन एतत्।

गुरुतल्पप्रायश्चित्तानुवृत्तौ हारीतः—

" एवमेव गुरुपितृव्यस्त्रीगमनकन्यासगोत्रास्वस्त्रीयागमने चान्द्रायणं वा साभ्यासे मतिपूर्वके च पितृव्यादिस्त्रीगमने गुरुतल्पगप्रायश्चित्तम्। अन्यथा तु चान्द्रायणम् "।

गुरुतल्पगप्रायश्चित्तमभिधायाऽऽह वसिष्ठः—

" आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम् "।

क्रतुः—" रेतःसेकः स्वयोन्यासु गोषु शिष्याङ्गनासु च।
सखिभार्यासुतस्त्रीषु गमनाद्गुरुतल्पगः ॥ २५९ ॥ २६० ॥

इति गुरुतल्पगप्रायश्चित्तम्।

अथोद्देशक्रमप्राप्तब्रह्महादिपतितचतुष्टयसंसर्गिणः प्रायश्चित्तविधिमाह—

**एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः ॥**

एषां तु ब्रह्महादीनां मध्ये यः संवत्सरं यावत्संवसेत्संव्यवहरेत्सोऽपि प्रायश्चित्ततस्तत्समो यः प्रायश्चित्तविशेषस्तस्य स एव तत्संसर्गिणोऽपि भवति। पातित्येन तत्समत्वं प्रागेवोक्तम्। जानतश्च संवत्सरं यावदत्यन्तसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिः। यथाऽऽह देवलः—

" पतितेन सहोषित्वा जानन्संवत्सरं नरः।
मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयं च पतितो भवेत् " ॥

संसर्गहेतूनाह बृहस्पतिः—

+"एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापने यानं तथा च सह भोजनम् ॥

---

+ मिताक्षरायां तु—एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्। याजनाध्यापने योनिस्तथा च सहभोजनमिति पाठः।

---

१ छ. °व पि°। २ छ. °गमः क°। ३ छ. वाऽभ्या°। ४ क. °सेकात्स्वयो°। ५ छ. °पि पा°। ६ क. °तित्यं तु त°।

नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह " ।

देवलः—" संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् ।
याजनाध्यापनाद्योनात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥
याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।
कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः " ।

अत्र याजनाद्येकैकं पातित्यहेतुरसमासनिर्देशात् । संलापादि तु समुदितम् । अत एव संलापसंस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनादिति द्वंद्वनिर्देशः । याजनमत्र सोमयागविषयम् । पतिताय कन्यादानं तस्माच्च कन्याया आदानं योनिसंबन्धः । स्वाध्यायग्रहणेन पतितस्याध्ययनमध्यापकत्वं चात्र विवक्षितम्[1] । तथा सहभोजनम् [ *एकस्मिन्नमत्रे युगपद्भोजनम् ] । एतत्प्रत्येकं सद्य एव संसर्गिणः पातित्ये हेतुः ।

मनुः—" संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् ।
याजनाध्यापनाद्योनान्न तु यानासनाशनात् " ॥

अस्यार्थः—पतितेन ज्ञातेन संवत्सरं यावत्क्रियां सह कुर्वन्पतति । तत्समो भवतीत्यर्थः । तत्र का क्रिया क्रियान्तरनिरपेक्षा पातित्यहेतुः का वा सापेक्षेत्यपेक्षायामुक्तम्-" याजनाध्यापनाद्योनात् " इति । याजनादयः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षाः पातित्यहेतवः । न तु यानासनाशनात् । यानादयः परस्परनिरपेक्षाः पातित्यहेतवो न भवन्ति[3] किं तु सापेक्षा एवेति । यौनस्य च संवत्सरं यावत्क्रिया तत्संबन्धनिमित्तभोजनादिरूपाः । अनेनैवाभिप्रायेण बृहस्पतिराह—

" षाण्मासिके तु संयोगे याजनाध्यापनादिना ।
एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेत् " ॥

अमतिपूर्वक एव स्वल्पतरे पतितसंयोगे च वसिष्ठ आह—

" पतितसंयोगेन ब्राह्मेण वा स्त्रौवेण यौनेन वा यास्तेभ्यः
सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां च परित्यागः ।
तैश्च न संवसेदुदीचीं गत्वाऽनश्नन्संहिताध्ययनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते " ।

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं क. पुस्तक एव ।

---

१ क. 'नाध्ययना° । २ क. °पनं चा' । ३ क. °मित्ता भो° ।

ब्राह्मोऽध्ययनाध्यापनात्मा, स्त्रौवो याजनं, मात्रा धनम् । अमतिपूर्वक एव संसर्गे पराशर आह—

" संसर्गमाचरन्विप्रः पतितादिष्वकामतः ।
पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ॥
अब्दार्धमब्दमेकं वा भवेदूर्ध्वं तु तत्समः ।
त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरेत् ॥
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तृतीये पक्ष एव तु ।
चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे मतः ॥
षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्सप्तमे चैन्दवद्वयम् ।
अष्टमे तु तथा पक्षे षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेत् " ॥

मतिपूर्वकसंसर्गविषये तु स्मृत्यन्तरम्—

" पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तप्तकृच्छ्रकम् ।
पराकस्त्वर्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेत् ॥
मासत्रये तु कुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रयणोत्तरम् ।
षाण्मासिके तु संसर्गे कृच्छ्रं त्वब्दार्धमाचरेत् ॥
संसर्गे त्वाब्दिके कुर्यादब्दं चान्द्रायणं नरः " ।

संवर्तः—" एभिः संसर्गमायाति यः कश्चित्पापपूरुषः ।
षण्मासानब्दमेकं वा पूर्वोक्तानां व्रतं चरेत् " ॥

एभिर्ब्राह्मणहन्तृप्रभृतिभिर्गुरुतल्पगान्तैर्मतिपूर्वकं षण्मासान्संसर्गं य आयाति यश्चामतिपूर्वमब्दमायाति स तेषामेव व्रतं चरेदित्यर्थः । यत्तु व्यासेनोक्तम्—

" यो येन संपिबेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् ।
पादन्यूनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः "

इति, तन्महापातकिव्यतिरिक्तेन यः संस्पृष्टस्तद्विषयम् ।

बृहस्पतिः—" तथा वत्सरसंसर्गे योनियुक्ते विशेषतः ।
पूर्वोक्तेन विधानेन पतितव्रतमाचरेत् " ॥

योनिः प्रजननम् । तद्युक्ते पातित्ये पतितया वा मैथुनयुक्त इत्यर्थः । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—"साहचर्ये वा संवत्सरं प्राजापत्यं चरेत् "

इति, तन्महापातकिसमेन संस्पृष्टस्य वेदितव्यम् । साहचर्यं संसर्गः ।

विष्णुः—" स्तोकसंसर्गेष्वन्नपानादिवर्जितेषु विशोधनं तप्त-
कृच्छ्रं चरित्वा शिशुचान्द्रायणं चरेत् " ।

---

१ छ. संसृष्ट° । २ छ. संसृष्ट° ।

शातातपः—"पतितेन सहोषित्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति" ।

एतदमतिपूर्वकाल्पतरसंसर्गविषयम् । प्रचुरसंसर्गविषये शङ्ख आह—

"पतितसंस्पृष्टो ह्यात्मानमुद्धरन्संवत्सरं तप्तकृच्छ्रं
चरेत् । तथा पतितसंव्यवहारी मित्रध्रुक्शरणा-
गतघाती प्रतिरूपकवृत्तिर्जलशयनपञ्चतपोया-
वकाशाना(शन) आतिष्ठेद्धेमन्तग्रीष्मवर्षासु" ।

अत्र मार्गशीर्षमासादिमासचतुष्टयं हेमन्तः । चैत्रादिमासचतुष्टयं ग्रीष्मः । श्रावणादिमासचतुष्टयं वर्षाः । प्रतिरूपकवृत्तिरनाश्रमी सन्नाश्रमलिङ्गधारी । तथा मासं गोमूत्रयावकं पिबेत् । एवं शुध्यति ।

किं च—

## कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम् ॥ २६१ ॥

एषां ब्रह्महादीनां पतितानां संबन्धिनीं कन्यां तदीयधनरहितां कृतोपवासामुद्वहेत्, विवहेत् । पतितोत्पन्नाऽपि सा न पतिता यदाह वसिष्ठः—

"पतितेनोत्पन्नः पतित इत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः" ।

सा हि परगामिनी तामतिरिक्तामुपादेयादिति वदंस्तेनादत्तां स्वयमुपनतां परिणयेदिति गमयति । तथा च हारीतः—

"पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रमुपोषितां प्रातः
शुक्लेनाहतेन वाससाऽऽच्छादितां नाहमेतेषां मम नैत
इति त्रिरुच्चैरभिधानां तीर्थसंकटहेतोरुद्वहेत्" इति ।

कन्यायाश्च पतितेनोत्पन्नायाः प्रायश्चित्तमाह बौधायनः—

"अशुचिशुक्रोत्पन्नानामिच्छतां प्रायश्चित्तानि पतनी-
यानां तृतीयांशः स्त्रीणामंशात्तृतीयम्" इति ।

अयमर्थः—जनकस्य पतितस्य यानि पतनीयानि कर्माणि तत्प्रायश्चित्तानां तृतीयांशः पतितोत्पन्नानां पुंसां प्रायश्चित्तम् । तस्यापि तृतीयो भागः पतितोत्पन्नानां स्त्रीणामिति ॥ २६१ ॥

किं च—

## चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टान्निहत्य तु ॥

सर्वानेव वर्णेभ्योऽवकृष्टान्वर्णबाह्यानन्त्यजान्पुरुषान्निहत्य प्रत्येकं चान्द्रायणं चरेत् । यत्त्वङ्गिरसोक्तम्—

---

१ छ. °पोऽत्रावकाशानाति° । २ क. °तां शु° ।

" सर्वान्त्यजानां गमने भोजने संप्रमापणे ।
पराकेण विशुद्धिः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम् "

इति, तदमतिपूर्वकावकृष्टवधविषयम् । चान्द्रायणं तु मतिपूर्वकावकृष्टवधविषयमित्यविरोधः ॥

ननु चान्द्रायणपराकादितपो गायत्र्यादिमन्त्रजपयुक्तं कथं तत्र शूद्रादेरनधीतवेदस्याधिकार इत्या(त्यत आ)ह—

## शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुध्यति ॥२६२॥

जपहोमाद्यधिकारहीनोऽपि शूद्रो यथोक्तशारीरकर्मकारी कालेनानेनोक्तेन माससंवत्सरादिना शुध्यति, विपापो भवति । नन्वेवं सति पङ्क्तौविष्णुक्रमरहिते शूद्रस्य च मन्त्रादिहीने दर्शपूर्णमासादिकर्मण्यधिकारः स्यात् । मैवं वादीः । न हि तत्र साक्षाच्छूद्रः कर्तृत्वेन क्वचिद्वाक्येन निर्दिष्टोऽस्ति, येन तस्य मन्त्रादिरहिते दर्शादिकर्मण्यधिकारः परिकल्प्येत । सन्ति च मन्त्रादिसकलाङ्गोपेतकर्मप्रयोगसमर्था द्विजातयोऽधिकारिण इति तत्रैव स्वर्गकामादिश्रुतेरुपसंहारः । प्रायश्चित्ते तु यथा स्थपतीष्टौ[1] मन्त्रादिरहितोऽपि साक्षाच्छ्रुत्या निषादः कर्तृतया गृहीतस्तथा शूद्रः प्रायश्चित्तेषु । तथा चाङ्गिराः—

" तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् ।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् " ॥

तथा—" शूद्रः कालेन शुध्येत्तु गोब्राह्मणहिते रतः ।
दानैर्वाऽप्युपवासैर्वा द्विजशुश्रूषया तथा " ॥

जाबालोऽप्याह—" अकामकृतपापानां वदन्ति ब्राह्मणा व्रतम् ।
कामकारकृतेऽप्येके द्विजानां वृषलस्य च ॥
शूद्रं कृतैनसं प्राप्य सदा धर्मपुरःसरम् ।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं वेदमन्त्रविवर्जितम् " ॥

यदुक्तं मार्कण्डेयेन—

" कृच्छ्राण्येतानि कार्याणि सदा वर्णत्रयेण तु ।
कृच्छ्रेष्वेतेषु शूद्रस्य नाधिकारो विधीयते "

इति, तद्विशिष्टकृच्छ्रप्रतिषेधकं मन्त्रवर्जं कृच्छ्रं कुर्यादेव । यत्तु मनुनोक्तम्—

" न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् " ॥

---

१ छ. °र्बकवध इत्य° । २ क. °तीष्टाम° । ३ क. 'ष्टप्र° ।

इति, तदन्तरा ब्राह्मणमकुर्वतां प्रायश्चित्तात्मकव्रतातिदेशनिषेधपरम् । अत एव शङ्खोऽन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतादेशः कार्य इत्याह—

" न्यायतो मार्गतः क्षिप्रं क्षत्रियादेः कृतैनसः ।
अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतं सर्वं समादिशेत् ॥
आयतो ब्राह्मणानां यो वृत्तिं यश्च प्रयच्छति ।
ब्राह्मणानां च यो भक्तः स तार्यः सर्वयत्नतः " इति ॥

इति महापातकप्रायश्चित्तानि ।

अथ सर्वमहापातकप्रायश्चित्तान्युच्यन्ते, तत्र विष्णुः—

" अश्वमेधेन शुध्येयुर्महापातकिनस्त्विमे ।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानां तथाऽनुसरणेन वा " ॥

अश्वमेधादिक्रतुरूपं प्रायश्चित्तमाहिताग्निमिष्टप्रथमयज्ञं प्रति विधीयते । आधानादेर्द्विजातिकर्मत्वेन पतितानुष्ठेयत्वात् । एवमधीतवेदस्यैव संहिताजपादि विधीयते । अश्वमेधश्च राजक्रतुः । तेन यदि राजाऽकामतो गुणवन्तं ब्राह्मणं हन्ति, तथैव पैष्टीं सुरां वा पिबति, गुणवतो ब्राह्मणस्य सुवर्णं वाऽपहरति, कामत एव वा गुरुदारान्गच्छति तदाऽसौ प्रतिमहापातकं यजेत् । आपस्तम्बः—

" स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा ब्रह्महत्याम-
कृत्वा चतुर्थकालमितभोजिनोऽपोऽभ्युपेयुः । सवनानुकल्पं
स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैः पापं नुदन्ति " ।

पञ्चानां महापातकानां मध्ये ब्रह्महत्याया नैतत्प्रायश्चित्तमिति वक्तुमुक्तं ब्रह्महत्यामकृत्वेति । चतुर्थे भोजनकाले भोजनं येषां ते चतुर्थकालाः । मितभोजिनोऽतृप्तिरन्नस्य व्रतं येषां ते, तथाऽपोऽभ्युपेयुर्भूमिगतास्वप्सु स्नानमाचरेयुः । सवनानुकल्पं प्रातर्मध्यंदिने सायमिति । स्थानासनाभ्यां दिवा स्थाने रात्रावासने युक्ता भवेयुः । विहरन्तो विहरेयुः । यथाशक्त्यहरहरन्यमन्यं देशं गच्छेयुः । एतद्गुणवतः कर्तुर्निर्गुणविप्रस्वर्णापहारे गौडीमाध्व्योश्चामतिपूर्वके सकृत्पाने गुर्वङ्गनागमे प्रत्ययरहिते सकृद्गमने च वेदितव्यम् । यच्चाङ्गिरसा वज्राख्यं व्रतमुक्तम्—

" युक्तस्त्रिषवणस्नायी संयतो मौनमास्थितः ।
प्रातः स्नात्वा समारम्भं कुर्याज्जापस्य निश्चलः ॥

---

१ छ. 'रा ब्राह्मणं । २ क. 'यत इति । आ° । ३ क. °कालमि' ।

सावित्रीं व्याहृतीश्चैव जपेदष्टसहस्रकृत् ।
ओंकारमादितः कृत्वा रूपे रूपे तथाऽन्ततः ॥
भूमौ वीरासने युक्तः कुर्याज्जप्यं सुसंयतः ।
तत्राऽऽसीनः कांस्यपात्रे पिबेद्गव्यं पयः सकृत् ॥
गव्यस्य पयसोऽलाभे गव्यमेव पिबेद्दधि ।
दध्यभावे पिबेत्तक्रं तक्राभावे तु यावकम् ॥
*[एषामन्यतमं यद्यदुपपद्येत तत्पिबेत् ।
गोमूत्रेण समायुक्तं यावकं वोपयोजयेत् ॥
एकाहेनैव कृच्छ्रोऽयमुक्तस्त्वङ्गिरसा स्वयम् ।
सर्वपापहरो दिव्यो नाम्ना वज्र इति स्मृतः ॥
एतत्पातकयुक्तानामुपपातकिनां तथा ।
महद्भिश्चाभियुक्तानां प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥
महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुध्यन्ति वै त्रिभिः" ।

इदमपि महापातकेषु । आपस्तम्बीयेन समानविषयं तुल्यप्रायक्लेशत्वात् । पातकयुक्ते मासिकः प्रयोगः । उपपातयुक्ते तु त्रैमासिकः ।

जाबालः—" अपहारे सुवर्णस्य कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ।
गुर्वङ्गनागमे चैव सुरापाने तथैव च " ॥

बहुधननिर्गुणहीनवर्णसुवर्णमल्पतरमापदि गुणवतोऽपहरतो गुरोश्च हीनवर्णामकामतः सकृदङ्गनां गच्छतः सुरां चामुख्यां सकृदमत्या पीत्वा छर्दितवतश्चैतत् ॥ २६२ ॥

इति साधारणानि प्रायश्चित्तानि ।

+[किं च—

**मिथ्याभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः ॥**
**मिथ्याभिशस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन् ॥२६३॥**

मिथ्याभिशंसिनो निर्दोषं सदोषतया प्रतिपादयतो द्विर्दोषो भवति, मिथ्यावाक्यप्रयोगाच्चाभिशापाच्च । यस्तु भूतं सन्तमेव दोषं वदति, तस्य समः कीर्त्यमानदोषतुल्यो दोषो भवति । किं च मिथ्याभिशस्तस्य यः कश्चिद्दोषस्तं मिथ्याभिशंसी समादत्ते । अभिशस्तपुरुषसमवेतदोषेण तुल्यं दोषं

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतग्रन्थः क. पुस्तके न विद्यते । + एतच्चिह्नान्तर्गतग्रन्थ उपरिष्टाद्दृश्यमाणात् " क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् " इत्येतस्मात्परं वेदितव्यः ।

प्राप्नोतीत्यस्य तात्पर्यम् । न पुनः पुरुषान्तरदोषस्य पुरुषान्तरसंक्रमणे प्रमाणमस्ति । अपेक्षितव्यं च प्रमाणान्तरं पुरुषवचसा । न चैवंविधेऽर्थे श्रुतिः प्रमाणं किंतु कार्ये ।

मनुः—" पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः ।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् " ॥

आपस्तम्बः—' दोषं बुद्ध्वा न पूर्वं परस्य समाख्याता स्यात्परिहरेच्चैनं धर्मेषु" ।

स्वयं विदितमपि दोषं परेणाविज्ञातं न प्रकाशयेदित्यर्थः ॥ २६३ ॥ )

संप्रत्यवसरप्राप्तान्युपपातकप्रायश्चित्तानि वक्ष्यंस्तदुद्देशक्रमवशेन गोवधप्रायश्चित्तानि तावदाह—

पञ्चगव्यं पिबन्गोघ्नो मासमासीत संयतः ॥
गोष्ठशयो गोनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥ २६४ ॥
प्राजापत्यं वाऽतिकृच्छ्रं चरेद्वाऽपि समाहितः ॥
दद्यात्त्रिरात्रं वोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः ॥ २६५ ॥

गोघ्नो गोवधकारी गोः क्षीरं दधि सर्पिश्च शकृन्मूत्रमिति पञ्चगव्यं पिबन्नाहारान्तरं वर्जयन्रात्रौ गोष्ठे गोस्थानके शयानः स्वपन्दिवा गोनुगामी नियमेन गच्छन्तीश्चानुगच्छन्संयतो मासं यावदासीत, कार्यान्तरं प्रत्युदासीनो भवेत् । व्रतान्ते गां दत्त्वा शुध्यति । अथ वा कृच्छ्रं प्राजापत्यं चरेत् । कियन्तं कालं किंनु कुर्वन्नित्यपेक्षायां पूर्वश्लोकोक्तानि पदान्यत्रानुषज्यन्ते । पञ्चगव्यं पिबन्नित्येकं कृच्छ्रविधानविरोधान्निवर्तते, ततश्च गोष्ठशयो गोनुगामी मासं यावत्प्राजापत्यं कृच्छ्रं चरेत् । व्रतान्ते गोप्रदानेन शुध्यतीति वाक्यार्थः सिद्धो भवति । अथ वा मासं यावदतिकृच्छ्रं पूर्ववच्चरेत् । अथ वा त्रिरात्रमुपोष्य वृषभ एकादशो यासां ता वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् । अत्र जाबालः—

" प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः ।
गोहितो गोनुगामी च गोप्रदानेन शुध्यति " ॥

एतत्साहचर्यात् " पञ्चगव्यं पिबन्मासम्(न्गोघ्नः) " इत्यादीन्यपि याज्ञवल्क्योक्तान्यकामवधविषयाणि । एषां च गौरवलाघवं देशकालवयःसामर्थ्या-

---

१ छ. पिबेन्नोघ्नो । २ ङ. 'ति । कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरे° ।

पेक्षया व्यवस्थापनीयम् । सर्वत्र गोस्वामिनो द्रव्येण परितुष्टिः कार्या । यदाह मनुः—

" हिंस्याद्द्रव्याणि यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् " इति ॥

एषां प्रथमेन प्रायश्चित्तकल्पेन तुल्यविषयं प्रायश्चित्तकल्पान्तरं शातातप आह—

" पञ्चगव्येन गोघाती मासेनैकेन शुध्यति ।
गोमतीं च जपेद्विद्यां गवां गोष्ठे च संविशेत् " ॥

किं(के)चिदन्यथा पठन्ति—" गोघ्नस्त्रीन्कृच्छ्रान्प्राजापत्यान्कुर्यात् ।
गोमतीं च जपेद्विद्याम् " इति ॥

अस्मिन्नेव विषये हन्ता चेद्गुणवांस्तदा संवर्तोक्तम्—

" गोघ्नः कुर्वीत संस्थानं गोष्ठे गोरूपसंनिधौ ।
तत्रैव शयनं चास्य मासार्धं क्षितिशायिनः ॥
सक्तुयावकभक्ष्याणि पयो दधि शरः शकृत् ।
शरः क्षीरादेरुपरितनो भागः । ]

एतानि क्रमशोऽश्नीयान्नरस्तत्पापमोक्ष(च)कः ॥
शुध्येत सोऽर्धमासेन नखरोमविवर्जितः ।
स्नानं त्रिषवणं तस्य स भवेन्नियतेन्द्रियः ॥
एतत्समाहितः कुर्यान्नरो विगतमत्सरः ।
गायत्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
पूर्णे चैवार्धमासे तु स विप्रान्भोजयेद्द्विजः ॥
भुक्तवत्सु च विप्रेषु गाश्च दद्याद्विचक्षणः ॥
गवामलाभे दातव्यं गोमूल्यं न तु संशयः ।
अनेन च विधानेन गोघ्नो मुच्येत किल्बिषात् " इति ॥

अस्मिन्नेव विषये शङ्खोऽप्याह—

" गोघ्नः पञ्चगव्याहारः पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मप्रावृतो गा अनुगच्छेद्गोष्ठे वसेद्गोप्रदानं च " इति ।

पैठीनसिः—" यवागूप्रसृतिं तण्डुलमिश्रितां मासं भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वाणो गोघ्नः शुध्यति " ।

पञ्चगव्यं पिबेन्मासमित्यनेन समानविषयमिदम् ।

व्याधिवशादासन्नमरणामबुद्धिपूर्वं व्यापादितवन्तं प्रति सुमन्तुराह—

" गोघ्नस्य गोप्रदानं द्वाशरात्रं पञ्चगव्यप्राशनमु-
दकतर्पणोपस्पर्शने गवामनुगमनं च " इति ।

अथवा त्रासादिबलादुत्पन्नव्याधिबलाद्गोमरणनिर्वासनादिकर्तुः सौमन्तवं द्रष्टव्यम् ।

पराशरः—" गवां बन्धनयोक्त्रैस्तु भवेन्मृत्युरकामतः ।
अकामतः कृतं पापं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥
वेदवेदाङ्गविद्विप्रो धर्मशास्त्रबहुश्रुतः ।
अकामकृतपापस्य प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥
धुर्येषु वाह्यमानेषु दण्डेनाभिहतेषु च ।
काष्ठेन लो(ले)ष्टुना वाऽपि पाषाणेन च ताडितः ॥
मूर्छितः पतितश्चैव मृतो वा सद्य एव च ।
एवं गतानां धुर्याणां प्रवक्ष्यामि यथा विधिम् ॥
उत्थितस्तु पदं गच्छेत्पञ्च सप्त दशापि वा ।
ग्रासं वा यदि गृह्णाति तोयं वा पिबति स्वयम् ॥
सर्वव्याधिविनष्टानां प्रायश्चित्तं न विद्यते ।

अन्यत्र प्रायश्चित्तं भवत्येव ।

रोधने तु भवेत्पादं बन्धने चार्धमेव तु ।
योजने पादहीनं स्यात्प्राजापत्यं च घातने ॥
शीतानलहता चैव उद्बन्धनमृताऽपि वा ।
शून्यागाराद्युपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥

तथा—" अपालनात्प्रणश्येत्तु गौश्चरन्ती कथंचन ।
जलपल्वलमग्ना वा मेघविद्युद्धताऽपि वा ॥
श्वभ्रे वा पतिताऽकस्माच्छ्वापदैर्भक्षिताऽपि वा ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं गोस्वामी व्रतमुत्तमम् ॥
सशिखं वपनं कार्यं त्रिसंध्यमवगाहनम् ।
शृङ्गैर्वाऽपि खुरैर्युक्तं लाङ्गूलश्रवणादिभिः ॥
आर्द्रमेव हि तच्चर्म परिधाय समं व्रजेत् ।
तासां मध्ये वसेद्रात्रौ दिवा ताभिः समं व्रजेत् ॥

ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ॥
प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
अनड्वत्सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् " इति ॥

अस्यास्मादेव विषयोऽवगतः । अनेनाभिन्नविषयमाहाङ्गिराः—

" अङ्गुष्ठमात्रः स्थौल्येन बाहुमात्रः[1] प्रमाणतः ।
आर्द्रश्च सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते ॥
अस्मादूर्ध्वं प्रमाणेन यदि गां विनिपातयेत् ।
द्विगुणं तु चरेत्तत्र प्रायश्चित्तमिति स्थितिः ॥
रोधने बन्धने वाऽपि योजने वा गवां रुजाम् ।
उत्पाद्य मरणं वाऽपि निमित्ती तत्र लिप्यते ॥
पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् ।
योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥
शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च चर्मनिर्मोचनेऽपि वा ।
दशरात्रं पिबेद्बृध्नं स्वस्था सा यदि गौर्भवेत् ॥
अन्यत्राङ्कनलक्ष्मभ्यां बहिर्निर्मोचनेऽपि वा ।
सायं संगोपनार्थं वा न दुष्येद्रोधबन्धयोः " इति ॥

यदाऽनुबन्धनादिनिमित्तोऽकामतो विनाशस्तदा पाराशर्यमुक्तं वेदितव्यम् । अस्मिन्नेव विषये दानशक्तौ काश्यपोक्तम्[2] । तद्यथा—

" गोबलीवर्दवधे कामतः प्रायश्चित्तम् । कामकारकृतेऽप्येके । दोग्ध्रीदमनबन्धनवहनदामपाशसंघट्टनघण्टाभरणयोजनभोजनतैलपानौषधिविक्रिये[3]( क्रय )विनियोगेषु विपत्तौ प्रायश्चित्तम् । ब्राह्मणेभ्यो निवेद्य सशिखं वपनं कृत्वा प्राजापत्यं कृच्छ्रमाचरेत् । चीर्णान्ते दक्षिणां गां विप्राय दद्यात् । तिलधेनुं च " इति ।

एतच्चानादरेणौषधदानादिकर्मनिमित्तायां विपत्तौ सत्यां द्रष्टव्यम् । यत आह संवर्तः—

" यन्व्रणे गोचिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने ।
यत्ने कृते विपत्तिः स्यात्प्रायश्चित्तं न विद्यते " इति ॥

---

१ क. इत्यस्मा° । २ क. °मात्रं प्र° । ३ छ. °म् । गोबलीवर्दका° । ४ छ. °विक्राणि° । ५ क. °षधिदा° । ६ क. यन्त्रेण गो° ।

मूढगर्भोऽन्तर्मृतगर्भः । यद्वा गूढगर्भः । यत्तु तेनैवोक्तम्—

" व्यापन्नानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा ।
मिथश्मिथ्योपचारे तु द्विगुणं गोव्रतं चरेत् "

इति, तत्प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तिनिवारणाय । अत्र च मत्यमत्यादिवशेन यत्प्राप्तं तस्य द्वैगुण्यं विधीयते । यच्च तेनैवोक्तम्—

" एका चेद्बहुभिः काचिद्दैवाद्व्यापादिता क्वचित् ।
पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् "

इति, तदपि व्यापादकं न्यायतो व्रतसाकल्यप्राप्तौ व्रतपादविधानार्थम् । अमतिपूर्वकव्यापादन एतत् । दैवादिति वचनात् । मतिपूर्वके तु प्रत्येकं संपूर्णव्रतयोगः प्रत्येकं हन्तृत्वात् । वचनस्य चापवादकस्याभावात् । अत एव च—

" एकां घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद्द्विगुणो दमः "

इति दण्डद्वैगुण्यमुपपन्नं भवति ।

आपस्तम्बः—" न नालिकेरेण न वालरज्ज्वा न चापि मौञ्जेन न गात्रबन्धैः ।
एतैस्तु गावो न हि बन्धनीया बद्ध्वा तु तिष्ठेत्परशुं गृहीत्वा ॥
कुशकाशैस्तु बध्नीयात्स्थानेऽपायविवर्जिते ।
*गृहलग्नाग्निदाहेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥
खदायां पतने कृच्छ्रं पाषाणे तु द्वयं चरेत् ।
अर्धकृच्छ्रं तु वाप्यां स्यात्पादहीनं तु कूपके " ॥

काश्यपः—" चरेत्सांतपनं काष्ठैः प्राजापत्यं तु लोष्टकैः ।
तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणैरतिकृच्छ्रं तथाऽऽयसैः " ॥

काष्ठादिभिः प्रहृत्य सांतपनं कार्यमित्यर्थः । प्रहारमात्र एतत् । न तु मारणे ।

" शालायामवरुद्धानामग्निदाहविपत्तिषु ।
वर्षमारुतसंपाते मरणाद्रोधको भवेत् ॥
कान्तारेष्वथवा दुर्गे गेहदाहे खलेषु च ।
यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयते " ॥

पादश्चतुर्थो भागः । स चात्र प्रायश्चित्तस्य, न प्राजापत्यस्य तस्याप्रकृतत्वात् ।

---

* एतदर्धं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ क. °दिव° । २ क. °बन्धनैः । ए° ।

" कृच्छ्रत्रयं शस्त्रघाती यष्टिघाती द्वयं चरेत् ।
मृत्पिण्डं चातिकृच्छ्रेण प्राजापत्येन गोमये ॥
योजने पादहीनं स्यात्स्नापने कुजलेन च ।
तप्तकृच्छ्रेण गोधर्ता पराकेण नदीतरात् ॥
अर्धकृच्छ्रेण मुष्ट्वा स्यात्स्पर्शने पादकृच्छ्रतः ।
शकटेन तु कृच्छ्रेण अर्धकृच्छ्रेण वारिणा ॥
गवां निपातने चैव गर्भनाशो भवेद्यदि ।
एकैकस्य चरेत्कृच्छ्रं यथा पूर्वं तथा परम् ॥
पादमुत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते ।
पादोनं व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंभूते गर्भे चेतःसमन्विते ।
द्विगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोघ्नस्य निष्कृतिः " ॥

**वृद्धप्रचेताः**—" एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते ।
अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद्विपादस्तु द्विहायने ॥
त्रिहायने त्रिपादः स्यात्प्राजापत्यमतः परम् " ।

**बृहस्पतिः**—" अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम् ।
हत्वा पूर्वविधानेन चरेदब्दव्रतं द्विजः ॥
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेम तिलांस्तथा ।
हेमान्नतिलदानेन नरः पापात्प्रमुच्यते " ॥

**पराशरः**—" क्षतमुत्पादितं येन कुर्यात्स व्रणरोपणम् ।
मृत्युर्भवति चेत्तेन गोवध्या तस्य निष्कला ॥
शृङ्गभेदे त्रिरात्रं तु द्विगुणं पादभेदने ।
चतुर्थकाले भुञ्जीत गवामुत्पाद्य शोणितम् ॥
पादेन हत्वा भुञ्जीत रात्रौ दत्त्वा गवाह्निकम् " ।

**च्यवनः**—" गोघ्नः सौम्यत्रयं कुर्यात्कृच्छ्रं वा नवमासिकम् ।
गोमूत्रयावकाशी वा त्रिभिर्मासैर्विशुध्यति " ॥

**गुणवतीं गुणवत्स्वामिकाममतिपूर्वकं निर्गुणस्य हतवतं एतत् । सौम्यः कृच्छ्रविशेषः ।**

**संवर्तः**—" गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं हेमधेनुं च सुव्रताम् ।
रोधादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत् " ॥

---

१ क. °त इति । सौ' ।

यत्तु बृहस्पतिनोक्तम्—

" द्वादशाहेन गोघाती तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
गायत्र्याः शतसाहस्रं जपेद्वा यावकाशनः ॥
निर्मुण्डं वपनं कृत्वा मौञ्जीकौपीनवस्त्रधृत् ।
गवां मध्ये वसेद्गोष्ठे दिवा चैना अनुव्रजेत् ॥
चीर्त्वा व्रतं द्विजाग्र्येभ्यो दद्याद्गाः स्वर्णमेव च "

इति, तत्प्राणहारिणो रोगोत्पादकभीषणादिकारिणो वेदितव्यम् । गायत्रीजपसमर्थस्य शतसाहस्रिको जपोऽपराधातिशये सति द्रष्टव्यः । अस्मिन्नेव विषये यदुक्तं तेनैव—

" क्षीराहारो भवेद्वाऽपि क्षीरदध्यशनोऽपि वा "

इति, तद्द्वादशाहभोजनासमर्थविषयम् । यदपि बृहस्पतिमतं केचित्पठन्ति—

" द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः षड्रात्रं यावकाहारो गोष्ठे वसेद्देशकालशरीरानुरूपं[1] केशश्मश्रुनखादीनां वपनं कृत्वा ब्राह्मणान्प्रणिपत्यानुज्ञातश्चीर्णान्ते मां दद्याद्ब्राह्मणान्भोजयित्वा शुद्धिरित्याह बृहस्पतिः " ।

तदपि पूर्वेण समानविषयम् ।

आपस्तम्बः—" कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहेऽवटेषु च ।
यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयते ॥
घण्टाभरणदोषेण गौस्तु यत्र विपद्यते ।
चरेदेव व्रतं तत्र भूषणार्थं कृतं हि तत् ॥
दमने दामने चैव योजनेऽत्यन्तसंकुलम् ।
पांसुभिश्च विपन्ने वा गवि पादोनमाचरेत् ॥
अतिदोह्यातिवाह्येषु नासिकाभेदनेन वा ।
नदीपर्वतसंरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥
हेले[2] च शकटे चैव दुर्बलं यो नियोजयेत् ।
प्रत्यवाये समुत्पन्ने तत्र प्राप्नोति गोवधम् ॥
अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलस्य च च्छेदनम् ।
पातनं चैव शृङ्गाणां मासार्धं यावकं पिबेत् ॥

---

१ क. °पं वा के° । २ छ. फले ।

दातव्यो यवसस्तावद्यावद्रोहेत तद्व्रणम् ।
तद्वर्णां दक्षिणां दत्त्वा ततः पापात्प्रमुच्यते " ॥

एवं याज्ञवल्कीयेन समानविषयाणि समासङ्गिकानि स्मृत्यन्तरोक्तप्रायश्चित्तान्यशेषतः प्रदर्शितानि । यत्र पुनर्हन्ता निर्गुणो गुणवतीं गां गुणवतो ब्राह्मणस्य स्वभूतां कामतो मतिपूर्वकं च खड्गादिना व्यापादयति तत्र गौतम आह—

" गां च वैश्यवत् " इति । वैश्यवद्वैश्यहत्याप्रायश्चित्तवद्गां हत्वा प्रायश्चित्तं कुर्यादित्यर्थः । वैश्यहत्यायां व्रतत्रयं तेनैवोपदिष्टम्—" वैश्यं हत्वा त्रैवार्षिकं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तात्कं ब्रह्मचर्यं चरेत् " इत्येकं व्रतमुपदिश्यते । " वृषभैकादशा गा दद्यात् " इत्यपरम् । त्रैवार्षिकं गोशतदानसहितं तृतीयम् । अत्रैव गाश्चे(गां चे)ति चकारेणापरं प्रायश्चित्तत्रयमतिदिश्यते । यदि हि वैश्यव्रतातिदेश एवाभिमतः स्यात्तदा वैश्यं गां वा हत्वेत्येकमेव सूत्रं स्यात् । सूत्रान्तरमारभमाणो ज्ञापयति व्रतान्तरमप्यत्रातिदिश्यत इति । तदतिदेशश्चेत्थं व्याकरणीयः । गां वैश्यवच्चेति क्रमान्यत्वेन चकारो योजनीयः । ततश्च शूद्रवदिति चकाराल्लभ्यते । अनन्तरं हि शूद्रहत्यायां प्रकृतं ब्रह्मचर्यं सांवत्सरिकमृषभैकादशानां गवां च दानम् । तस्य च पूर्ववत्त्रैविध्यम् । तदेवं षड्व्रतान्यनेनातिदिश्यन्ते । तत्र ब्राह्मणस्य कुटुम्बिन आहिताग्नेर्गौरग्निहोत्रादिकेऽङ्गभूता दुर्भिक्षे कुटुम्बिनिर्वाहिका बहुक्षीरा बालापत्या कपिला सुशीला हता, हन्ता तु धनवान्निर्गुणः कृतानेकनिषेधातिक्रमस्तस्य दानसहितं तपः । निर्धनस्य तु तप एव । धनवतस्तपस्यसमर्थस्य दानमेव । अस्मिन्नेव विषये यदि हन्ताऽध्ययनादिगुणवानयमेव च प्रथमो व्यतिक्रमः । तदा तस्य शूद्रहत्याव्रतं दानसहितं, तपस्यसमर्थस्य दानमेव ।

यदा तूक्तलक्षणामुक्तलक्षणस्य स्वामिनो गामज्ञानादकामतो हन्ति तत्र वसिष्ठ आह—

" गां चेद्धन्यात्तस्याश्वमेणाऽऽर्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान्कृच्छ्रं
तप्तकृच्छ्रं चाऽऽतिष्ठेत । वृषभवेहतौ दद्याताम् " इति ॥

द्विवचननिर्देशाद्वयोर्हन्त्रोः प्रायश्चित्तोपदेशोऽयमिति गम्यते । तत्र बलीवर्दहन्तुः प्राजापत्यकृच्छ्रानुष्ठानं षाण्मासिकं वृषभदानसहितं विधीयते । स्त्रीगवीहन्तुस्तु तद्वत्तप्तकृच्छ्रानुष्ठानं वेहद्दानं च, वृषभः सेक्ता गौर्गौरेव गर्भघातिनी वेहत् । यदा तूक्तगुणरहितस्य स्वामिन उक्तगुणरहितां गां कामतो हन्ति तत्र मनुराह—

" उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाऽऽचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥
दिवाऽनुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथाऽऽसीत नियतो वीतमत्सरः ॥
आतुरामभिषक्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वप्राणैर्विमोक्षयेत् ॥
तथा वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीताऽऽत्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥
आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रे खलेऽथ वा ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं नैव वत्सकम् ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥
वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् " इति ॥

यवान्यवागूकृतान्पिबेत् । चतुर्थकालमश्नीयादित्युपोषितो रात्रौ पारणं कुर्यादित्यर्थः । मितमतृप्तिपर्यन्तम् । एतच्च प्रथममासे प्रत्यहं यावकं पीत्वा मासद्वयं कार्यम् । धर्मान्तराणि तु सर्वाणि त्रैमासिकानि । स्तम्भभित्त्याद्यवष्टम्भरहितमुपवेशनं वीरासनम् । स्थानयानासनानां मध्ये यद्बहीभिः क्रियते तदनुकुर्यात् । परसमृध्यसहनं मत्सरः । आतुरा व्याधिता । अभिषक्ता संबद्धा, चौरादिभिर्भयैः । एवंविधां गां सर्वप्राणैर्विमोक्षयेत् । स्वप्राणाननपेक्षमाण इत्यर्थः । अत्रैव यमेन षष्ठान्नकाले भोजनं प्रत्यहं दशाधिकसहस्रसंख्याको गायत्रीजपो वेदजपः प्रणवजपो गोमतीजपश्चेति विशेष उक्तः । [* गावः सुरभयो नित्यमित्यादिश्च गोमती तेनैवोक्ता । तथाहि]—

---

* न विद्यत एतच्छ. पुस्तके ।

---

१ क. °यतव्रतः । दि° । २ छ. 'यैः । स' । ३ छ. °दजः प्र° ।

" गावः सुरमयो नित्यं गावो गुग्गुलुगन्धिकाः ।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥
अन्नमेव परं गावो देवानां परमं हविः ।
पावनं सर्वभूतानां रक्षन्ति च वहन्ति च ॥
हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान्दिवि ।
ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमप्रवर्तिकाः ॥
सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम् ।
गावः पवित्रं परमं गावो मङ्गलमुत्तमम् ॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ।
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ॥
*नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः " इति ।

एष च विशेषो मानवेऽपि व्रते कार्यः सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन । एवं स्मृत्यन्तरोक्ता अप्यविरुद्धा विशेषा ग्राह्याः । विरुद्धास्तु पापानुबन्धभूयस्त्वे गुरवः कल्पाः कार्याः । तल्लाघवे तु लघवः । अङ्गिरसा च स्नानाद्याचमनक्रिया जलेनैव कार्येत्युक्तम् । [+पादशौचग्रहणं तत्रत्यसकलजलसाध्यक्रियोपलक्षणार्थम् । ] तथा च ब्रह्मचारिदण्डधारणं विशेष उक्तः । यत्तु शङ्खेनोक्तम्—

" पादोनं शूद्रहत्यायामुदक्याग्रहणे तथा ।
गोवधे तु तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा "

इति, तत्प्रयोजयितुरनुमन्तुश्च द्रष्टव्यम् ।

बौधायनः—" शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः । अन्यत्राऽऽत्रेय्याः । धेन्वनडुहोश्च । धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत् " ।

अन्ते प्रायश्चित्तान्ते । धेनुर्नवप्रसूता गौः ।

विश्वामित्रः—" कृच्छ्रांस्तु चतुरः कुर्याद्गोवधे बुद्धिपूर्वके ।
अमत्या तु द्वयं कार्यं तदर्धं वृद्धबालयोः ॥
स्त्रीशूद्रयोरेवमेव तद्वधे च न संशयः ।
चान्द्रायणं वा सर्वेषु निमित्तेषु विधीयते " ॥

---

* इत आरभ्य न्यायेनेत्यन्तं न विद्यते क. पुस्तके । + एतच्चिह्नान्तर्गतं छ. पुस्तके न ।

कृच्छ्राश्च प्राजापत्याद्या वक्ष्यमाणलक्षणाः । न पुनः प्राजापत्य एवाभ्यसनीयः । संख्ययाऽभिन्नविषयत्वात् । एतच्च मानवव्रतासमर्थविषयम् ।

च्यवनः—" प्राजापत्यद्वयं गोहत्याप्रायश्चित्तं रोधनबन्धनयोक्त्रवधे पादवृद्धिः । नखानि रोमाणि शिखावर्जं वपनं सशिखं त्रिषवणं गवामनुगमनं सह शयनं सुमहत्तृणानि च रथ्यासु चारयेद्व्रतान्ते ब्राह्मणभोजनं दश गा वृषभैकादशा दद्यात् । रोधने विकर्तनं, बन्धने रोमवपनं, वधे सशिखं वपनम् " ।

यमः—" यष्ट्या ऊर्ध्वं प्रहारेण यदि गा विनिपातयेत् ।
द्विगुणं तु चरेत्तत्र प्रायश्चित्तमिति स्थितिः " ॥

पराशरः—" अदक्षिणं व्रतं नास्ति हिंसायां च विशेषतः ।
न स्त्रीणां केशवपनं न दूराच्छयनं तथा ॥
न च गोष्ठे वसेद्रात्रौ न दिवा समनुव्रजेत् ।
नदीषु संगमे चैव पर्वतेषु विशेषतः ॥
न स्त्रीणां विजने वासो व्रतमेवं समादिशेत् ।
सर्वान्केशान्समुद्धृत्य च्छेदयेदङ्गुलद्वयम् ॥
एवमेव तु नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम् । "

संवर्तः—" पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुकर्तनम् ।
त्रिपादे तु शिखा धार्या सशिखं तु निपातने ॥
पादे वस्त्रद्वयं दद्याद्द्विपादे कांस्यभाजनम् ।
पादहीने तु गामेकां मिथुनं तु निपातने ॥
भुक्तवत्सु च विप्रेषु गां प्रदद्याद्विचक्षणः ।
गोरभावे तु दातव्यं गोमूल्यं नात्र संशयः ॥
नृपो गोवृषभं दत्त्वा केशार्थं प्रार्थयेद्द्विजान् ।
रोधे गोमिथुनं दद्याद्बन्धे गोवृषभं तथा ॥
वस्त्राणि योजने दद्याद्वृषभैकादशा वधे ।
गावः सांतपने पञ्च प्राजापत्ये तु गोत्रयम् ॥
तप्तकृच्छ्रे तथैवाष्टावतिकृच्छ्रे त्रयोदश " ।

---

१ क. संख्यायामभि° । २ क °नं त्रि° ।

**शङ्खः**—" औषधं स्नेहमाहारं दद्याद्वोब्राह्मणेषु च ।
प्राणिनां प्राणवृत्त्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते " ॥

[ +**सुमन्तुः**-" स्नेहाहारा(र)भिषक्क्रियात्ययेषु सर्वप्राणिनां सदोषः " ।

**व्यासः**—" औषधं लवणं स्नेहं पिण्याकं भोजनं तथा ।
अतिरिक्तं न दातव्यं केशे तुल्यं तु दापयेत् ॥
अतिरिक्तविपन्नानां कृच्छ्रपादो विधीयते ] ।
स्नेहमष्टपलं दद्यात्क्षीरं दद्यात्तु षोडश ॥
द्वात्रिंशच्चैव पानीयं सैषा मात्रा विधीयते ।
मात्रोपेतं तु दातव्यं नातिरिक्तं कदाचन ॥
अतिरिक्तप्रदानेन प्रायश्चित्तं विधीयते " ।

**यमः**—" निशि बन्धनिरुद्धेषु व्याघ्रसर्पहतेषु च ।
अग्निविद्युद्विपन्नेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

**एतच्च यथाशास्त्रबन्धनादौ द्रष्टव्यम् ।**

अथ तत्र भवेच्छङ्का सायं संगोपिते मृते ।
गोमूत्रेण तु संमिश्रं त्रिरात्रं यावकं पिबेत् ॥
अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा कटिभङ्गं तथैव च ।
यदि जीवति षण्मासान्प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

[ *अस्थिभङ्गादिनिमित्तं प्रायश्चित्तं भवत्येव । न गोवधप्रायश्चित्तमित्यर्थः ]

यज्ञार्थे गोचिकित्सार्थे गूढगर्भविमोचने ॥
यत्ने कृते विपत्तिः स्यात्प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम् ॥
द्विजानां गोहितार्थाय प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
+कूपखाते भ्रमन्नेव गृहदाहे विपद्यते ॥
ग्रामखाते तथा चौरैः प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
औषधे तु न दोषोऽस्ति स्वेच्छया यदि तत्पिबेत् ॥
अन्यथा दीयमाने तु प्रायश्चित्तं विधीयते " ।

**असम्यग्वैद्य इत्यर्थः ।**

---

+ एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते छ. पुस्तके । * एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते छ. पुस्तके । + अयं क. पुस्तक एव ।

---

१ क. गोपितार्था' ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

पराशरः—" तैलभेषजपानेन भोजनेन द्विजन्मनाम् ।
विशल्येन च गर्भाणां विपन्ने नास्ति पातकम् " ॥

बृहस्पतिः—" शस्त्रादिना तु हत्वा गां मानवं व्रतमाचरेत् ।
रोधादिना चाऽऽङ्गिरसमापस्तम्बोक्तमेव वा ॥
पादं चरेद्रोधवधे कृच्छ्रार्धं बन्धघातने ।
अतिवाह्येषु पादोनं कृच्छ्रमज्ञानताडने " ॥ २६४ ॥ २६५ ॥

इति गोवधप्रायश्चित्तानि ॥

अन्येषूपपातकेषु प्रायश्चित्तान्युपदेशातिदेशाभ्यामाह—

**उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ॥**
**पयसा वाऽपि मासेन पराकेणाथ वा पुनः ॥२६६॥**

उपपातकानां व्रात्यतादीनामेवं गोवधशुद्धिप्रकारेण शुद्धिः स्यात् । यद्वा चान्द्रायणेन मासपरिमितेन पयोव्रतेन वा । अथ वा पराकेण । चान्द्रायणपराकयोः स्वरूपं वक्ष्यते । पञ्चगव्यपानादेः प्रायश्चित्तचतुष्टयस्य गोवधशुद्धावेव वोपदेशो नोपपातकान्तरशुद्धौ किंतु तत्रातिदेशः । यदि हि सर्वत्रोपदेशः स्यात्तदा गोचर्मसंवरणगोष्ठशयनगवानुगमनादयो धर्मा न बाध्येरन् । न ह्युपदिष्टं बाध्यते । अतिदिष्टत्वे गोवधशुद्धिस्वरूपयुक्तानामन्यत्र बाधः । यथा पार्वणहोमयोर्दर्शपूर्णमासस्वरूपयुक्तयोस्तद्विकृतिषु च बाधः । अयं चाकामकृत उपपातके प्रायश्चित्तातिदेशो द्रष्टव्यः । कामकृते तु मानवः—

" एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्जं शुध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा " इति ॥

तत्रैमासिकं ह्यत्रातिदे(दि)श्यते । येष्वपि चोपपातकेषु प्रायश्चित्तविशेष उपदिश्यते तेष्वपि "उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा" इत्यादिना सामान्यप्रवृत्तेनापि वाक्येन गोवधप्रायश्चित्तादिव्रतगणः प्राप्यते । तत्र सामान्यविशेषन्यायेन बाध्यबाधकभावो ग्राह्यः । तथा सति तेषामुपपातकगणे पाठोऽनर्थः स्यात् । तस्मात्सामान्यविहितानि विशेषविहितानि च कल्प्यन्ते । एते पञ्चगव्यपानादयः प्रायश्चित्तकल्पाः कर्तृसामान्यानुसारेण व्यवस्थापनीयाः ॥ २६६ ॥

उक्तं साधारणमुपपातकप्रायश्चित्तम् । इदानीमुपपातकविशेषेषु क्षत्रियवै-

---

१ क. °तकशु° । २ क. °ष्टत्वगो° । ३ छ. °नव्यः-ए° ।

श्यशूद्रस्त्रीवधात्मकेषु प्रायश्चित्तविशेषानाह—

वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ॥
ब्रह्महत्याव्रतं वाऽपि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६७ ॥
वैश्यहाऽब्दं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ॥
षण्मासाञ्शूद्रहाऽप्येतद्धेनूर्दद्याद्दशापि वा ॥ २६८ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रम्। एकसहस्रस्य पूरण एकसहस्रः। वृषभ एकसहस्रो यासां ता वृषभैकसहस्रा गावः। ताः क्षत्रियवधे पुमान्दद्यात्। ब्रह्महत्याव्रतं वा त्रीन्वत्सरान्कुर्यात्। वैश्यघातकः पुनरब्दं ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्। गवामेकशतं वा दद्यात्। शूद्रस्य तु हन्ता षण्मासान्ब्रह्महत्रतं कुर्यात्। दश वा धेनूर्दद्यात्। एतदकामतो ब्राह्मणस्य वृत्तस्थमात्रक्षत्रियवधकारिणो द्रष्टव्यम्। तथा च मनुः—

"तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।
वैश्येऽष्टमोंऽशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः॥
अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद्वैकशतं गवाम्॥
एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्शूद्रहा चरेत्।
वृषभैकादशा वाऽपि दद्याद्विप्राय गाः सिताः" इति॥

तुरीयश्चतुर्थः। वृत्तस्थ इति क्षत्रियादिना सर्वेण संबध्यते। वृत्तं च स्मृत्यन्तर उक्तम्—

"गुरुपूजा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः।
प्रवर्तनं हितानां च तत्सर्वं व्रत(वृत्त)मुच्यते"॥

कामकृतक्षत्रियादिवधविषये गौतम आह—

"राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्" इति।

यत्त्वाहतुः शङ्खलिखितौ—

"अमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य द्वादशसंवत्सरान्षट्त्रिंशतं च व्रतान्यादिशेत्तेषामन्ते गोसहस्रं ततोऽर्धं तस्यार्धमर्धं च दद्यात्। सर्वेषामानुपूर्व्येण"

इति, तद्गुणवत्तरवर्णवधे द्रष्टव्यम्। यत्तु वृद्धहारीतेनोक्तम्—

" तुरीयोनं क्षत्रियस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम् ।
अर्धं वैश्यवधे कुर्यात्तुरीयं वृषलस्य तु "

इति, तद्ब्राह्मणस्यातिगुणवत्क्षत्रियादिविषयम् । एतस्मिन्नेव विषये वसिष्ठोऽप्याह—

" एवं राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि, षड्वैश्यं त्रीणि शूद्रम् " इति।

एवमिति ब्रह्महव्रतातिदेशार्थम् । क्षत्रियवर्णे हन्तुर्गुणवत्त्वं चात्र कल्प्यम् । यद्वा जातिमात्रक्षत्रियादिविषयमेवेदं हारीतवसिष्ठोक्तं दाननिरपेक्षं व्रतद्वयम् ।

विष्णुः—" नृपतिवधे महाव्रतमेताद्गुणं कार्यम् । पादोनं क्षत्रियवधे, अर्धं वैश्यवधे, सर्वेषु शवशिरोध्वजी स्यात् " ।

नृपतिर्जनपदगोप्ता क्षत्रियः । महाव्रतं द्वादशवार्षिकं ब्रह्महव्रतम् ।

संवर्तः—" प्रमाप्य क्षत्रियं त्वेव त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ।
कुर्याच्चैवाऽऽनपूर्व्येण त्रीन्कृच्छ्रान्सुसमाहितः ॥
वैश्यहत्यां तु संप्राप्य कथंचित्काममोहितः ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत स नरो वैश्यघातकः ॥
कुर्याच्छूद्रवधं प्राप्य तप्तकृच्छ्रं समाहितः " ॥

आनुपूर्व्यं तु कृच्छ्रोऽतिकृच्छ्रस्तप्तकृच्छ्र इति । एतच्च गुणवत्तरे हन्तुर्यमतिपूर्वके च वधे द्रष्टव्यम् । जातिमात्रक्षत्रियादिवधे तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं कार्यम् ।

उपपातकान्तरेष्वपि वैशेषिकप्रायश्चित्तानि स्मृत्यन्तरोक्तानि प्रदर्श्यन्ते । तत्र मनुः—

" येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् " ॥

त्रीन्कृच्छ्रानिति प्राजापत्यकृच्छ्रातिकृच्छ्रानित्यर्थः ।

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थाश्च ये द्विजाः ॥
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् " ।

यमः—" सावित्री पतिता यस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।
सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः ॥
एकविंशतिरात्रं च पिबेत्प्रसृतियावकम् ।
हविषा भोजयेच्चैव ब्राह्मणान्पञ्च सप्त वा ॥

---

१ छ. जातु क्षत्रियादिमात्रवि° । २ क. °प्य यत्किंचि° । ३ क. °न्तरि म° । ४ क. °वधरूप° । ५ क. °नूयेत । ६ छ. °रात्रे च ।

ततो यावकंशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतम्" ॥

एतदुभयमपि समानविषयम्। यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

"पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत्। द्वौ मासौ यावकेन वर्तयेत्। मासं पयसा। अर्धमासमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन, षड्रात्रमयाचितेन, त्रिरात्रमब्भक्षोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेद्व्रात्यस्तोमेन वा यजेत"

इति, तदनापदि बुद्धिपूर्वकं चिरकालं व्रात्यतयाऽवस्थितस्य द्रष्टव्यम्। अनापद्यनुपनीतस्य षोडशवर्षादूर्ध्वं चिरकालावस्थानरहितस्य मानवं त्रैमासिकमुपपातकसामान्यव्रतम्। तदसमर्थस्य बाभ्र्यं यावकाशनम्। प्राजापत्यादिकृच्छ्रत्रयं मानवम्। तत्राप्यसमर्थस्य चान्द्रायणं सर्वोपपातकसाधारणम्। अनुशासकपित्रादिकविरहे त्वमतिपूर्वके सावित्र्यतिक्रमे पराको मासिकं पयोव्रतं वा।

आपस्तम्बः—"अतिक्रान्ते सावित्र्याः काल ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपनयनं ततः संवत्सरमुदकोपस्पर्शनमथाध्याप्यः। अथ यस्य[पितृ]पितामहावनुपनीतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुतास्तेषामभिगमनं भोजनं विवाहमतिवर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम्। यथा प्रथमेऽतिक्रम ऋतुरेव संवत्सरेणोपनयनम्। तत्रोदकोपस्पर्शनं प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान्यावतोऽनुपनीताः स्युः सप्तभिः पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरक इत्येताभिर्यजुष्पवित्रेण सामपवित्रेणाऽऽङ्गिरसेनेत्यपि व्याहृतिभिरेवाथाध्याप्यः। यस्य प्रपितामहादेर्नानुस्मर्यत उपनयनं ते श्मशानसंभूतास्तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमतिवर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेत्। अथोपनयनम्। तत्रोदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिरथ गृहमेधोपदेशनं तस्माद्यो निवर्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमे सावित्रीकालातिक्रमे तत ऊर्ध्वं प्रकृतिवत्"।

---

१ छ. °कशूद्रस्य। २ छ. °महौउप°। ३ क. °रे चोप°। ४ छ. °त्रेणा°। ५ क. संस्तुता°। ६ क. °मभिग°। ७ छ. °हमिति। ८ छ. गृहे मठोपदेशेन नाध्यापनं ततो यो नि°। ९ छ. °मेऽतिक्र°।

अस्यार्थः—अतिक्रान्ते सावित्र्याः काल उपनयनकाले विप्रादीनां षोडशद्वाविंशतिवर्षात्मक ऋतुं मासद्वयं यावत्त्रैविद्यकं वेदत्रयसंबन्धि ब्रह्मचर्यं भैक्षाशनगुरुशुश्रूषादिकं चरेत् । वेदत्रयार्थमृतुत्रयं ब्रह्मचर्यं चरेदिति । अथ ऋतुत्रयब्रह्मचर्यानन्तरमुपनयनम् । ततः संवत्सरं यावदुदकोपस्पर्शनम् । प्रत्यहं स्नानं तदनन्तरमध्याप्यः । यस्य तु व्रात्यस्य [पितृ]पितामहौ स्यातां व्रात्यौ ते त्रयोऽपि ब्रह्महशब्दवाच्याः । तेषां गमनं तान्प्रति ज्ञातिकार्यसिद्ध्यर्थं गमनं भोजनविवाहौ च वर्जयेत् । तेषां शुद्धिमिच्छतां वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम् । ऋतोः स्थाने संवत्सरः । तेन प्रतिपुरुषं वत्सरत्रयं ब्रह्मचर्यं कार्यम् । अथोपनयनं ततः संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं, तत्र मन्त्राः—" यदन्ति यच्च दूरके " इति सप्त, " येन देवाः पवित्रेण " इति यजुष्पवित्रम् । " कया नश्चित्र आभुवत् " इति सामपवित्रम् । "हंसः शुचिषत्" इत्याङ्गिरसम्, एतैः प्रत्यहं संवत्सरं यावदुदकोपस्पर्शनं व्याहृतिभिर्वा । एते च मन्त्राः प्रायश्चित्तार्थमध्येतव्याः । कृतप्रायश्चित्तोऽध्याप्यः । यस्य तु प्रपितामहादेरुपनयनं न स्मर्यते, तत्रार्थादेतेषामपि पुरुषाणामनुपनीतत्वं ते सर्वे श्मशानवदशुचयः । तेष्वागतेष्वभ्युत्थानं भोजनं च वर्जयेदापद्यपि न कुर्यादित्यर्थः । तेषां स्वयमेव शुद्धिमिच्छतां प्रायश्चित्तमुपदेश्यं द्वादशवार्षिकं त्रैविध्यं(द्यं) ब्रह्मचर्यमिति। प्रायश्चित्तानन्तरमुपनयनं तदनन्तरं संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं पूर्वोक्तैर्मन्त्रैस्ततो नाध्यापनं किं तु गार्हस्थ्योपदेशनं, तत उपदिष्टगार्हस्थ्यात्पुरुषाद्यो निर्वर्तते जायते तस्य संस्कारो यथा प्रथमे सावित्रीकालातिक्रमे । तत ऊर्ध्वं प्रकृतिवदनतिक्रान्तसावित्रीकालवत्संव्यवहार्यता ।

अङ्गिराः—" व्रात्यस्तोमैर्याजयित्वा द्विजातीन्सर्व एव हि ।
निष्कृत्यर्थमिदं कृत्वा यथाविध्युपनाययेत् " ॥

अथ स्तेयोपपातके विशेषप्रायश्चित्तानि, तत्र मनुः—

" धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति " ॥

द्विजोत्तमो विप्रस्तस्य विप्र एव स्वजातीयः । ततश्च विप्रस्य विप्रसंबन्धिधान्याद्यपहर्तुः कृच्छ्राब्दः । तत्र च धनशब्देन सुवर्णादन्यत्सारद्रव्यमुच्यते, धान्यं च दशकुम्भपरिमितं ज्ञेयम् । प्रायश्चित्तमहत्त्वात् । कुम्भः पञ्चसहस्रपलपरिमाणः । क्षत्रियादेरपि स्वजातिसंबन्धिधान्याद्यपहारे नवषट्त्रिमासपरि-

---

१ क. °ह्मचार्य । २ क. °ह्मचार्य । ३ क. °वित्रे का° ।

मिता कृच्छ्रचर्या विधेया । अशक्तस्यानुबन्धाद्यपेक्षया तूपपातकसाधारणत्रैमासिकाद्यपि कल्प्यम् ।

तथा—" मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु " ॥

मनुष्याणामिति ग्रहणे सत्यपि स्त्रीणामिति पृथगुपादानं पुरुषहरणेन स्त्रीहरणस्य तुल्यदोषत्वख्यापनार्थम् । +अन्यथा हि हिंसावद्धरणेऽपि वैषम्यं स्यात् । कूपवापीभ्यां जलविशेषणं घटादिजलव्यावृत्त्यर्थम् । तेन सकलवापीकूपापहारे प्रायश्चित्तमिदम् । क्षत्रियादिसंबन्धिमनुष्याद्यपहार एतद्द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणसंबन्धिनश्च मनुष्यादेरपहारो रुक्मस्तेयसमत्वेनोक्तः—

" निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् " इत्यत्र ॥

तथा—" द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मनः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्याऽऽत्मशुद्धये " ॥

निर्यातनं प्रतिदानम् ।

तथा—" पञ्च भोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च[1] ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् " ॥

[ *पञ्चगव्यमाहारान्तरमकुर्वतो विशोधनम् । ]

पैठीनसिः—" भक्ष्यभोज्यान्नस्योदरपूरणमात्रहरणे[2]
त्रिरात्रमेकरात्रं वा पञ्चगव्याहारता " ।

हरणीयद्रव्याल्पत्वभूयस्त्वाभ्यामेकरात्रत्रिरात्रविषयः पञ्चगव्याहारविधिर्द्रष्टव्यः । रात्रिशब्दश्चाहोरात्रोपलक्षणार्थः । धान्यान्नधनचौर्याणीत्यत्रान्नशब्दो बहुतरान्नविषयः प्रायश्चित्तबहुत्वात् ।

मनुः—" तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
तैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् " ॥

पुरुषाहारत्रयपरिमितमूललभ्यतृणाद्यपहार एतत्[3] ।

तथा—" मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।
अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता " ॥

---

+ इत आरभ्य व्यावृत्त्यर्थमित्यन्तं न क. पुस्तके. । * एतच्चिह्नान्तर्गतं क. पुस्तक एव ।

---

१ छ. च । पञ्चमू° । २ छ. °मात्रेहरणं त्रि° । ३ छ. °यमित° ।

**मण्यादीनां ब्राह्मणसंबन्धिनामल्पमूल्यानामपहारे द्वादशाहं तण्डुलान्नत्वविधिः ।**

तथा[1]—" कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः " ॥

**विष्णुः**—" पक्षिगन्धौषधिरज्जुविदलानामपहा[3]रे दिनमुपवसेत् " ।

**जाबालः**—" अश्वगोभूमिकन्याश्च हृत्वा चान्द्रायणं *चरेत् ।
पक्वान्नमौषधं तैलं शय्यां वास उपानहौ ॥
कांस्यायस्ताम्रसीसं वा अञ्जं कृच्छ्रार्धमाचरेत् ।
उदके फलमूले च पुष्पपर्णसुगन्धिषु ॥
मृद्भाण्डमधुमांसेषु कृच्छ्रपादो विधीयते " ।

**अञ्जं शङ्खशुक्त्यादि ।**

**शङ्खः**—" यस्य यस्य तु वर्णस्य वृत्तिच्छेदं समाचरेत् ।
तस्य तस्य वधे प्रोक्तं प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
अपहृत्य तु वर्णानां भूमिं विप्रः प्रमादतः ।
प्रायश्चित्तं वैधः प्रोक्तं ब्राह्मणानुमते चरेत् ॥
गजाश्वस्यापहरणे मणीनां रजतस्य च ।
धनापहरणे चैव कुर्यात्संवत्सरव्रतम् ॥
तिलधान्यान्नवस्त्राणां शय्यानामामिषस्य च ।
संवत्सरार्धं कुर्वीत व्रतमेतत्समाहितः* ॥
+क्षुद्रान्पशूंश्चापहृत्य प्राजापत्यं समाचरेत् ।
गुडकार्पासधान्यानि सर्पिर्लवणमेव च " ॥

**सर्वत्र शङ्खवाक्येन व्रतशब्दो गोमूत्रयावकाहारवचनः ।**

**हारीतः**—" रजतस्तैन्ये चान्द्रायणमतिकृच्छ्रं, ताम्रे कार्ष्णायसे प्राजापत्यम् " ।

**सर्वमेव स्तेयप्रायश्चित्तमपहृतं द्रव्यं तत्स्वामिने प्रदायैव कार्यमित्याह विष्णुः—**

---

* क्षुद्रान्पशूंश्चेत्युपरिष्टाद्वक्ष्यमाणं शङ्खोक्तं वचनमत्र स्थले वर्तते क. पुस्तके । + इतः परं श्लोकद्वयमधिकं वर्तते क. पुस्तके—तृणेक्षुकाष्ठतक्राणांमरनामपहारकः । मासमेकं व्रतं कुर्याद्दधानां सर्पिषां तथा । लवणानां गुडानां च मूलानां कुङ्कुमस्य च । मासार्धं तु व्रतं कुर्यादेतदेव समाहित इति । * न विद्यत एतद्वचनं क. पुस्तके ।

---

१ क. °दीनामत्रा° । २ क. °था—कर्पा° । ३ क. °हारादि° । ४ क. वधे ।

"दत्त्वैवापहृतं द्रव्यं धनिकस्याभ्युपायतः ।
प्रायश्चित्तं ततः कुर्यात्कल्मषस्यापनुत्तये ॥
सीसकं द्विगुणं वाऽपि शक्त्या वाऽपि चतुर्गुणम् ।
दत्त्वा स्तेयी चरेत्कृच्छ्रं प्राजापत्यं विशुद्धये" ॥

**प्राजापत्यग्रहणमुक्तप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थम् ।**

"यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्याथ किल्बिषी[२] ।
ऋणाद्विगुणमुत्सृज्य कृच्छ्रार्धाच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥
अजाविबर्हिःकार्पासताम्रधान्यतिलादिकम् ।
चतुर्गुणं धनं दत्त्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ॥
गोहर्तुस्तप्तकृच्छ्रं स्यादर्धं हस्त्यश्वहारके ।
सुवर्णरजते दानं शक्तस्यैकादशोत्तरम् ॥
चान्द्रायणं च शुध्यर्थं दानं देयं च शक्तितः ।
कांस्यरीत्याऽऽयसे ताम्रे द्विगुणं स्तेयमोक्षणम् ॥
प्राजापत्यार्धभागश्च प्रायश्चित्तं विशोधनम्" ।

**इति स्तेयप्रायश्चित्तानि ।**

**अथ ऋणानप(पा)क्रियाप्रायश्चित्तानि । तत्र ऋणप्रस्तुतयज्ञप्रजाध्ययनानामकरणे तथा "पुत्रपौत्रैरृणं देयम्" इत्यादिधर्मशास्त्रविहितमृणाप(पा)करणं, तस्य चानपाकरणे शक्त्यनुसारेण गोवधप्रायश्चित्तचान्द्रायणादीनां साधारणोपपातकप्रायश्चित्तानामेकं कार्यम् । तत्र व्यतिक्रमकालाल्पत्वभूयस्त्वाद्यपेक्षया तद्विशेषोऽध्यवसेयः । एवमाधानाधिकारे सति तदकरणे साधारणमुपपातकप्रायश्चित्तं कार्यम् । तत्राधिकारित्वे सत्यग्न्याधेयमकुर्वतः संवत्सरादूर्ध्वमुपपातकव्रतम् । अपूर्णे वत्सरे काष्णाजिनिर्विशेषमाह—**

"काले त्वाधाय कर्माणि कुर्याद्विप्रो विधानतः ।
तदकुर्वन्त्रिरात्रेण मासि मासि विशुध्यति ॥
अनाहिताग्नौ पित्रादौ यक्ष्यमाणः सुतो यदि ।
स हि व्रात्येन विधिना यजेत्तन्निष्क्रयाय तु(ष्क्रियार्थकः)" ॥

**आवसथ्यानाधानेऽपि स एवाऽऽह—**

"कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नाऽऽदद्याद्धुताशनम् ।
चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा" ॥

---

+ न लुमतेतिनिषेधस्यानित्यद्रव्वाभावः ।

---

१ क. °त्कल्मशस्या° । २ क. °षी । धनाद्द्वि° । ३ छ. यो न दं° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

वर्षातिक्रमे चान्द्रायणम् । मासातिक्रमेऽहरुपवासः ।

अथापण्यविक्रयप्रायश्चित्तानि । तत्र हारीतः—

" गुडतिलमूलफलपक्वान्नविक्रये सोमायनम् । लाक्षालवण-मधुमांसतैलक्षीरदधिघृततक्रगन्धचन्दनकुवाससामेकतम-विक्रये चान्द्रायणम् । तथोर्णिकेशिकेसरिभूधेन्वनडुद्वे-ड्मशस्त्रविक्रये च । भक्ष्यमांसस्नाय्वस्थिशृङ्गनखशु-क्तिविक्रये तप्तकृच्छ्रः । हिङ्गुगुग्गुलसर्ज्जरसहरिताल-मनःशिलाञ्जनगैरिकक्षारलवणमणिमौक्तिकप्रवालदन्त-शङ्खवेत्रवैणवमृन्मयविक्रयेषु च । आरामतडागोदपा-नपुष्करिणीपूर्तस्वकृतविक्रयेषु च त्रिषवणस्नाय्यधः-शायी चतुर्थकालभुक्संवत्सरेण पूतो भवति । हीनमा-नोन्मानमापने संकीर्णविक्रये च " इति ।

सोमायनस्वरूपं वक्ष्यते । ऊर्णिनो मेषाद्याः । केशिनश्चमराद्याः । केसरि-णोऽश्वाद्याः । मानं प्रस्थादि । उन्मानं तुलादि । तैर्धान्यादिसंकीर्णं मिश्रितम् । प्राजापत्यं चरेदित्यनुवृत्तौ शङ्खलिखितौ[3]—

" शस्त्रबन्धनभूम्येकशफविक्रये चैतदेव । गृहपतिश्रयोद्याना-रामसभाप्रपातडाकपूज्यसेतुविक्रयं कृत्वा तप्तकृच्छ्रमाचरेत् "।

बन्धनं निगडादि । उद्यानागमेति पाठ आगमो वेदादिः ।

तथा—" न विक्रीणीयादविक्रेयाणि । तिलतैलदधिक्षौद्रलवणद्रा-क्षामद्यमांसकृतान्नस्त्रीपुरुषहस्त्यश्वगोवृषभगन्धरसक्षौम-कृष्णाजिनसोमोदकनीलीविक्रयात्सद्यः पतति ब्राह्मणः । तत्र प्रायश्चित्तमकामावासौ । कामकृतेऽप्येके, पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्संवत्सरं तप्तकृच्छ्रमाचरेत् । कृतवपनः शुचिरपोऽभ्युपेयात्त्रिः । एकार्द्रवासाः काष्ठ-मौनी वीरासनमासीत रात्रौ । दिवा तिष्ठेद्युक्तोऽग्नि-कार्यपरः सावित्रीं सवनानुगां जपेत् । स्वयं व्रतम-भ्युपगम्य कुशचीरवासा मौञ्जी मेखली दण्डी पवित्र-पाणिर्हविष्यं वा श्रपयेच्चरुं भैक्षमदुष्टं वा यात्रिकम-श्नीयात् । द्वादशरात्रं चोपवासः । ब्राह्मणतर्पणं गवा-

---

१ क. °णमौ° । २ छ. °डाकोद° । ३ क °तौ–शास्त्र° । ४ क. मधुमां° । ५ क. व्रजेत् ।

द्विकमित्येवं व्यवहार्यः। अन्यथा पतितः शिष्टैरसंभाष्यः
शूद्रधर्मा काष्ठमौनी हस्तसंज्ञाभिरपि वाक्कायं न कुर्यात्"।

तथा—" आर्द्रौषधिपुष्पमूलफलशाकचर्मवेत्रविदलतुषकपा-
लकेशभस्मास्थिकिलाटकूर्चिकाक्षीरविकाराविशेषाः "।

चतुर्विंशतिमतात्—

" सुराया विक्रयं कृत्वा चरेत्सौम्यचतुष्टयम्।
लाक्षालवणमांसानां चरेच्चान्द्रायणद्वयम्॥
पयःपायसपूपानां चरेच्चान्द्रायणं व्रतम्।
दध्नश्चैक्षुरसस्यैव गुडतक्रादिविक्रये॥
सर्वेषां स्नेहपक्वानां पराकं तु विनिर्दिशेत्।
कदलं नारिकेलं च नागरं बीजपूरकम्॥
एतेषां पादकृच्छ्रं स्याज्जम्बीरादेस्तथैव च।
कस्तूरिकादिगन्धानां विक्रये कृच्छ्रमाचरेत्॥
कर्पूराधे(दे)स्तदर्धं स्याद्धिङ्ग्वादिविक्रये।
तिलानां विक्रयं कृत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्॥
धर्मार्थं कृमिजातांश्च यज्ञार्थं विक्रयं त्यजेत्।
रक्तपीतादिवस्त्राणि कृष्णादीनि तथैव च॥
विक्रये त्वहमेतेषां गर्गस्य वचनं यथा।
गोविक्रयं नरः कृत्वा लाभार्थं धनमोहितः॥
प्राजापत्यं प्रकुर्वीत गजानामैन्दवं स्मृतम्।
खराश्वाश्वतराणां च करभाणां च विक्रये॥
पराकं तत्र कुर्वीत सुतानां द्विगुणं चरेत्।
नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणं व्रतम्॥
द्विगुणं पुरुषस्यैव व्रतमाहुर्मनीषिणः।
चान्द्रायणं प्रकुर्वीत एकाहाद्वेदविक्रये॥
अङ्गानां तु पराकं स्यात्स्मृतीनां कृच्छ्रमाचरेत्।
इतिहासपुराणानां चरेत्सांतपनं द्विजः॥
रहस्यपाञ्चरात्राणां कृच्छ्रमेवं समाचरेत्।
गाथानां नीतिशास्त्राणां प्राकृतानां तथैव च॥

---

१ छ. °रविशे°। २ क. करथूरादिकग°। ३ क. °रादिस्त°। ४ क. °वर्णानि कृ°। ५ क. °स्यपञ्च°।

सर्वासामेव विद्यानां पर्णकृच्छ्रं समाचरेत् " ॥

विष्णुः—" प्राणिमूपुण्यसोमविक्रयी तप्तकृच्छ्रं कुर्यात् । आर्द्रौषधिमूलफलचर्मवेत्रविदलतृषकपालकेशभस्मास्थिगोरसपिण्याकतिलतैलविक्रयी प्राजापत्यम् । श्लेष्मजतुमधूच्छिष्टशङ्खशुक्तिक्षपुसीसकृष्णलोहोड(दु)म्बरखड्गपात्रविक्रये महासांतपनम् " ।

श्लेष्मा चर्मविकारः, लोके दढक इति प्रसिद्धः ।

" मांसलवणलाक्षाक्षीरविक्रये चान्द्रायणं कुर्यात् । तं च भूयश्चोपनयेत् " ॥

शङ्खः—" धारयित्वा तुलां वक्रां विषमं कारयन्वणिक् ।
सुरालवणमद्यानां कृत्वा क्षीरस्य विक्रयम् ॥
लाक्षायाश्चैव मांसस्य कुर्यादर्धं महाव्रतम् ।
विक्रेता प्राणिनामष्टं तिलस्य च तथा चरेत् " ॥

भूयोभ्यासविषयमेतत् । महाव्रतं द्वादशवार्षिकम् ।

एतानि विशेषप्रायश्चित्तानि सर्वोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तैर्विकल्प्यमानानि जातिगुणानुबन्धाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ।

अथ परिवेदनप्रायश्चित्तानि, तत्र वसिष्ठः—

" परिवित्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत तां चोपयच्छेत् " ।

अकृतविवाहोऽग्रजोऽनुजेन प्रागात्मनो विवाहं कुर्वताऽतिक्रान्तः स परिवित्तिः । स च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं प्राजापत्यं चरित्वा निर्विशेतोद्वहेत, तां च कनीयसा पूर्वपरिणीतां तेन दत्तामुपयच्छेत, स्वी कुर्यादिति यावत् । तस्यैव सा भार्या नानुजस्य । अशास्त्रीयत्वात्तद्विवाहस्य, भार्यात्वं च शास्त्रीयविवाहजन्यम् ।

किं च—" परिविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत " ॥

अयमर्थः—अनुजो व्युत्क्रमेण विवाहमाचरन्परिविदान उच्यते, स कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ वक्ष्यमाणलक्षणौ चरित्वा ज्येष्ठाय तस्मै व्युत्क्रमोढां दत्त्वा पुनर्निविशेतान्यामुद्वहेदिति । एतच्च देशान्तरव्यवस्थिते ज्येष्ठे कृतविवाहोऽसाविति भ्रान्त्या कृते परिवेदनेऽतिनिर्गुणे वा ज्येष्ठे द्रष्टव्यम् । अल्पत्वात्प्रायश्चित्तस्य । यत्र गुणवति(ता) ज्येष्ठेन वार्यमाणः करोति, तत्राऽऽह हारीतः—

---

१ क. °कतै' ।

" ज्येष्ठेऽनिर्विष्टे कनीयान्निर्विशमानः परिवेत्ता, परिवित्तो ज्येष्ठः, परिवेदनी कन्या, परिदायी दाता, परिकर्ता याजकः, सर्वे ते पतिताः संवत्सरं प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पारयेयुः । समाप्तेऽब्दे तां कन्यां ज्येष्ठायोपपादयेयुः । तामनुपनयन्कनीयानन्यथा निर्विशेत, एवं धर्मो न लुप्यते " इति ।

निर्गुणे ज्येष्ठे बुद्धिपूर्वके परिवेदने शङ्ख आह—

" परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
+तद्दाता याजकश्चैव कुर्याच्चान्द्रायणं व्रतम् " इति ॥

यमः—" द्वे कृच्छ्रे परिवित्तेस्तु कन्यायाः कृच्छ्रमेव तत् ।
अतिकृच्छ्रं चरेद्दाता होता चान्द्रायणं चरेत् " ॥

यत्तु शङ्खेनोक्तम्—" परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मण-गृहेषु भैक्षं चरेयाताम् " ।

इति, तद्दारपरिवेदनेऽग्निपरिवेदने च सति द्रष्टव्यम् । भैक्षाशनं च तृप्तिपर्यन्तं न कार्यम् । तपस्त्वात् । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—

" परिवित्तिपरिवेत्तृकन्यादातृयाजकानां द्वादशरात्रं सक्तुपानं ब्राह्मणतर्पणं च तां पुनर्भुवमित्याचक्षते, भूयश्चैनामभिगच्छेत् "

इति, तत्क्षत्रियाद्यत्यन्तबालकविषयम् । प्रचेताः—

" परिवित्तिः परिवेत्तृपर्याहितपर्याधात्रग्रेदिधिषूपतीनां प्राकृतं संवत्सरं ब्रह्मचर्यं ब्रह्महव्रतम् " ।

वसिष्ठः—" दिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेतोद्वहेत् " ।

कथमित्यपेक्षित आह—"तां चैवोपयच्छेत " इति । तां कनिष्ठामग्रेदिधिषूसंज्ञितां तत्पतिना दत्तामुपयच्छेत परिणयेदिति । अग्रेदिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निर्विशेतान्यां परिणयेदित्यर्थः । अत्यन्तासमर्थस्याज्ञानादिनिमित्तेऽपराध एतत् ।

अथ भृतादध्ययनादेः प्रायश्चित्तम् । तत्र ब्रह्मसुवर्चलां पिबेदित्यनुवृत्तौ विष्णुः—

---

+ इत आरभ्य कृच्छ्रमेव तदित्यन्तं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ क °मपनयेत्कनी° । २ छ. °द्यन्त° । ३ क. °वेत्रपर्याहितधा । ४ क. °षूपतिः । ५ क. °शेत तस्मै दिधिषूपतये तां कनीयसीं दत्त्वा पुनर्निर्विशेता° ।

" भृतकाध्यापनं कृत्वा भृतकाध्यापितस्तथा ।
अनुयोगप्रदानेन त्रीन्पक्षान्नियतः पिबेत् " ॥

अनुयोगो यशोर्थं धनार्थं वा सम्यगधीयानस्य न सम्यगधीष इत्याक्षेपः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

" कृत्वाऽनुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत् " इति ।

शातातपः—" ब्रह्मविक्रयानुयोगनियोगेषु चतुर्विंशतिं ब्रह्मरूपाणि दद्यात् " ।

ब्रह्मरूपं वेदपारायणम् । अस्यापि सामान्यप्रायश्चित्तैः शक्त्याद्यपेक्षो विकल्पः । प्रसङ्गादन्यदपि कथ्यते । तत्र वसिष्ठः—

" पतितचण्डालशवश्रवणे त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन् । सहस्रपरमं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते " ।

शवश्रवणं शवसंनिधावध्ययनम् । यावद्ब्रह्म पतितादिसंनिधावधीतं तावत्सहस्रपरमं सहस्रसंख्या परमा यथा भवति तथाऽभ्यस्यन्तः पूयन्त इत्यर्थः ।

अथ महापातकतदतिदेशकतत्समव्यतिरिक्तपरदारगमनप्रायश्चित्तान्युच्यन्ते—

तत्र शङ्खः—" वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणमनुतिष्ठेत्, क्षत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि ब्राह्मण्यां, वैश्यावच्छूद्रायाम् "

अत्र ब्रह्मचर्यं ब्रह्महत्याव्रतात्मकम् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—

" सवर्णायामनन्यपूर्वायां सकृन्निपाते पादः पततीत्यपदिशन्त्येवमभ्यासे पादश्चतुर्थे सर्वम् " इति ।

अत्र च ब्रह्महव्रतं प्रकृतम् । अतिदेशादेव त्रिषवणप्राप्तौ पुनस्त्रिषवणविधानमरण्यवासादिधर्मान्तरनिवृत्त्यर्थम् । त्रैवार्षिकं च श्रोत्रियब्राह्मणसंबन्धिपत्न्यभिगमने द्रष्टव्यम् । यदाह गौतमः—

" द्वे परदारे, त्रीणि श्रोत्रियस्य, द्रव्यलाभे चोत्सर्गो यथास्थानं गमयेत् " इति ।

तथा—" दत्तं द्रव्यमुत्सृष्टव्यम् । यदीयं तत्र गमयितव्यम् । एवंविधमेव क्षत्रियां क्षत्रियस्य गच्छतस्त्रीणि, ब्राह्मणस्य द्वे, वैश्यां वैश्यस्य त्रीणि, क्षत्रियस्य द्वे, ब्राह्मणस्य त्वेकं कृच्छ्रम् " ।

---

१ क. 'वभाव°' । २ क. 'वभाव°' ।

संवर्तः—" मातृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां पितुरेव च ।
मातुलस्य सुतां गत्वा चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् " ॥

मतिपूर्वकाभ्यास एतत् । अमतिपूर्वके तु सकृद्गमने मनुः—

" पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुरासां च गत्वा चान्द्रायणं चरेत् " इति ॥

भगिनीशब्दः पैतृष्वसेय्यादिसमानाधिकरणः । यतोऽनन्तरमाह—

" एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः " इति ॥

ज्ञातित्वं सापिण्ड्यं तच्च पैतृष्वसेयीप्रभृतीनां यथा भवति तथोक्तं विवाहप्रकरणे ।

संवर्तः—" मातुलानीं सनाभिं च स्नुषां मातुः सनाभिकीम् ।
एता गत्वा स्त्रियो मोहात्पराकेण विशुध्यति " ॥

एतदमतिपूर्वकमत्यन्तगुणवतस्तद्गमने वीर्योत्सर्गात्प्राङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् । सनाभिर्भगिनी । विषयान्तरे तु गुरुतल्पव्रतं मनुराह—

" गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च " इति ॥

यमोऽपि—" पितृष्वसा स्नुषा माता सखी मातृष्वसा सुता ।
मातुलानीसुता श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेद्द्विजः ॥
एताश्चान्याश्च सततं नियतः परिवर्जयेत् ।
एतैरगम्यागमनैः सद्यः पतति वै द्विजः ॥
तथा स्कन्दति यो मोहाद्गुरुतल्पेन युज्यते ।
शिश्नस्योत्कर्तनं कृत्वा प्राणत्यागेन शुध्यति " ॥

[ *गुरुतल्पानुवृत्तौ च शङ्खलिखितौ—

" मातुलानीमातृष्वसृपितृष्वसृस्नुषादुहितृगमेन । आचार्यभार्यादुहितरि च " ।

गुरुतल्पानुवृत्तौ—] वसिष्ठः—" आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवं स्वयोनिषु च " ।

तथा—" गुर्वीं सखीं गुरुसखीं नवपात्रां पतितां
च गत्वा कृच्छ्राब्दपादं चरेत् " ।

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न छ. पुस्तके ।

---

१ क. स्वसा ।

कृच्छ्राब्दपादविधिरमतिपूर्वके हीनवर्णपुंश्चलीत्वादिदुष्टस्त्रीगमने द्रष्टव्यः । गुर्वी गुरुभार्या । नवपात्रा कुमारी ।

बौधायनः—" मातृष्वसा पितृष्वसा भगिनी भागिनेयी स्नुषा मातुलानी सखीत्यगम्याः । अगम्यागमने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तिः । अगम्यागमने महाव्रतविधानेनाब्दं चीरवासा वने प्राजापत्यं वा चरेत् । सर्वप्रायश्चित्तिरमतिपूर्वके सकृद्गमने, मतिपूर्वके तु सकृद्गमने कृच्छ्राब्दं तस्मिन्नेव साभ्यासे मरणान्तिकं वचनान्तरविहितं महाव्रतं ब्रह्महत्याव्रतम् " ।

संवर्तः—" गुरोर्दुहितरं गत्वा स्वसारं पितुरेव च ।
मातुलस्य सुतां चैव चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥

गुरुरत्रौपचारिक उपाध्यायादिः । पितृष्वसा हीनवर्णा ।

तथा—" पितृव्यभार्यागमने भ्रातृभार्यागमे तथा ।
गुरुतल्पव्रतं कुर्यान्नान्या निष्कृतिरुच्यते " ॥

एतत्पितृव्यभ्रात्रोरुपनेतृत्वे सति द्रष्टव्यम् । " यद्येते चोपनेतारः " इति स्मृत्यन्तरात् ।

वसिष्ठः—" ब्राह्मणश्चेद्ब्राह्मणदारानभिप्रेक्षापूर्वकमभिगच्छेन्निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रः । अनिवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्रः " ।

निवृत्तं धर्मकर्माग्निहोत्रं यस्मात्स निवृत्तधर्मकर्मा तस्य दारानित्यर्थः ।

संवर्तः—" सखिभार्यां समारुह्य श्वश्रूं वा श्यालिकां तथा ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् " ॥

अबुद्धिपूर्वकसकृद्गमन एतत् । श्यालिकां भार्याभगिनीम् ।

" पितृभार्यां समारुह्य मातृवर्जं द्विजाधमः ।
भगिनीं मातुराप्तां च स्वसारं चान्यमातृजाम् ॥
एतास्तिस्रः स्त्रियो गत्वा तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ।
कुमारीगमने चैव व्रतमेतद्विनिर्दिशेत् " ॥

अबुद्धिपूर्वकं सकृद्गमन एतत् । पितृभार्यां मातृहीनवर्णां विप्लुतां च । आप्तां प्रत्यासन्नां । स्वसारं चान्यमातृजां हीनवर्णां चेति द्रष्टव्यम् । आरुह्येति वचनात् । वीर्योत्सर्गात्प्राङ्निवृत्तावेतत् ।

---

१ क. °र्मणोऽतिकृच्छ्रः । अ° । २ क. 'र्वकमस° । ३ क. माता हीं ।

सुमन्तुः—" समानार्षेयीगमने कूष्माण्डैर्होमः । त्रिरात्रमुपवासश्च " ।

बौधायनः—" सवनस्थां समारुह्य भ्रातृजायां स्नुषामपि ।
अत्र सांतपनं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् " इति ॥

[इदं]पूर्ववत्सवनस्थव्यतिरिक्तासु कामकारे द्रष्टव्यम् ।

तथा—" पितृव्यभ्रातृभार्याश्च भगिनीं मातुरेव च ।
श्वश्रूमारुह्य धात्रीं च तप्तकृच्छ्रद्वयं चरेत् " ॥

निरनुबन्धस्यैतत् ।

तथा—" भ्रातुरेव कनिष्ठस्य भार्यां गत्वा तु कामतः ।
कुर्यात्सांतपनं कृच्छ्रं चान्द्रायणमथापि वा " ॥

वृषलीविषयमेतत् ।

तथा—" गत्वा तु मातुः स्वस्रेयीं पितृव्यतनयां तथा ।
तप्तकृच्छ्रं प्रकुर्वीत षड्रात्रं तत्सुतासु च ॥
गुरोर्दुहितरं गत्वा पराकं तु समाचरेत् ।
भागिनेयीं द्विजो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम् " ॥

गुरुरत्राऽऽचार्यः ।

हारीतः—" चण्डालीं पुक्कसीं व्याधीं स्नुषां तद्भगिनीं सखीम् ।
मातुः पितुः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥
मातुलानीं स्वसारं च सगोत्रामप्यनिच्छतीम् ।
शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

सकृदमतिपूर्वके निरनुबन्धके क्रियायामनिर्वृत्तायामेतत् ।

शातातपः—"कन्यादूषी प्राजापत्यं चरेत् " ।

कन्यादूष्यङ्गुल्यादिना कन्यायोनिक्षतकारी ।

संवर्तः—" शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा ।
गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापमोक्ष(च)कः " ॥

मतिपूर्वे तु गमने गोमूत्रयावकाहारो मासं तिष्ठेत् । अमतिपूर्वके तु मासार्धम् ।

" क्षत्रियामथ वैश्यां वा गच्छेद्यः काममोहितः ।
तस्य सांतपनं कृच्छ्रं भवेत्तत्पापमोचनम् ॥
विप्रामस्वजनां गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत् " ।

---

१ क. °न्धनस्यै° । २ छ. च स° ।

अस्वजनां मातृपितृपक्षासंबन्धाम् । एतच्चाश्रोत्रियभार्यायामगर्भपर्यन्ते सकृद्गमने द्रष्टव्यम् ।

" गोगमे तु नरः कुर्यात्कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा " ।

विष्णुः—" ब्राह्मणस्य क्षत्रियागमने सानुबन्धेऽनिच्छन्त्यां गोघ्नप्रायश्चित्तम् । वैश्यागमने चान्द्रायणं शूद्रागमने सांतपनं गोघ्नप्रायश्चित्तं तु त्रैमासिकम् " ॥

यमः—" ब्राह्मणो ब्राह्मणीं गत्वा द्विजे दद्यान्मृगाजिनम् ।
क्षत्रियायां धनुर्दद्याद्वैश्यायामायसीं शिलाम् ॥
शूद्रां गतेन विप्रेण उदकुम्भः प्रदीयते ।
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा दद्यात्संमार्जनीं तथा " ॥

इदमत्यन्तानियतानां ब्राह्मण्यादीनां गमने ।

शङ्खः—" तिर्यग्योनिषु गोवर्जं सचैलं स्नात्वौषधिभारं दद्याद्रोम्यः " ।

प्रायश्चित्तान्तरासमर्थविषयमेतत् ।

शङ्खः—" गोष्ववकीर्णः संवत्सरं प्राजापत्यं चरेत् " ।

गोष्विति बहुवचनात्साभ्यासे गमन एतत् ।

हारीतः—" अभिप्लुतानुपेत्य परदारानधोवर्णान्वेदमापः प्रवहतेत्यन्तर्जलेऽष्टशतं जप्त्वा तिलाढकं ब्राह्मणाय दद्यात् " ।

अभिप्लुता विप्लुताः ।

आपस्तम्बः—" दारव्यतिक्रमे खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रमणे भिक्षाशिने भिक्षां देहीति सप्तागाराणि चरेत्सा वृत्तिः षण्मासान् " ।

स्त्रियास्तु भर्तृव्यतिक्रमे कृच्छ्रद्वादशरात्राभ्यासस्तावन्तं कालं सानुबन्धे सति पूर्वेऽभ्यासे प्रायश्चित्तद्वयमिदम् । चतुर्विंशतिमतात्—

" वृषल्यामभिजातस्त्रीणि वर्षाणि चतुर्थसमये नक्तं चरेत् " ।

वृषल्यामभिजातो वृषल्यां जनितापत्यः । वृषली चात्र परिणीता शूद्रा ।

मनुः—" चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति " ॥

साम्ये च सति प्राणान्तिकमेव प्रायश्चित्तम् । आह चोशना—

---

१ क. °या सगं ।

" अन्त्यजेन तु संपर्के भोजने मैथुने कृते ।
प्रविशेत्संप्रदीप्तेऽग्नौ मृत्युना स विशुध्यति " इति ॥

यत्तु तेनैवोक्तम्—

" यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः ।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति " ॥

तज्ज्ञानादेकरात्रिपरिमितेऽभ्यासे ततश्च ज्ञानात्साम्यं तु गच्छतीत्यनेकरात्रिपरिच्छिन्नाभ्यासविषयम् । वृषल्यत्र चण्डाली । अस्मिन्नेव विषये गौतमोऽप्याह—

" अन्त्यावसायिनीगमने कृच्छ्राब्दः " ।

यत्तु " अमत्या द्वादशरात्रः " इति तेनैवोक्तं तदनिवृत्ते क्रियाफले द्रष्टव्यम् । अज्ञानतः सकृन्निवृत्तौ तु वसिष्ठः—

" द्वादशरात्रमभक्षो द्वादशरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेत् । एतेनैव चण्डालीविवाहो[1] व्याख्यातः " ।

विष्णुः—" चण्डालीगमने तत्साम्यमाप्नुयात् ।
अज्ञानतश्चान्द्रायणं कुर्यात् " ॥

पूर्वेण समानविषयम् । अत्रैव विषये संवर्त आह—

" चण्डालीं तु द्विजो गच्छेत्कथंचित्काममोहितः ।
त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्येत्तु प्राजापत्यानुपूर्वकैः ॥
पुक्कसीगमने श्रेष्ठः कामतोऽकामतोऽपि वा ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव प्रकुर्यात्पापमोचनम् " ॥

अकामतः कृच्छ्रः । कामतश्चान्द्रायणम् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्रायणानुवृत्तौ बौधायनः—

" एतेन चण्डालीव्यवायो व्याख्यातः " ।

अबुद्धिपूर्वकाभ्यासविषयमेतत् ।

संवर्तः—" नटीं शैलूषिकीं चैव रजकीं वेणुजीविनीम् ।
गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात्तथा चर्मोपजीविनीम्[2] " ॥

अकामतोऽभ्यासविषयमेतत् ।

---

१ क. °हो द्रष्टव्यः । वि° । २ छ. °म् । का° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

" रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनीम् ।
कामतस्तु यदा गच्छेत्कुर्याच्चान्द्रायणद्वयम् " ॥

अत्रिः—" नटनर्तकगान्धर्वगायनगान्धिकासूतमचूचुपमद्गवेनकुशी-
लवान्ध्रद्रमिडशकाम्भोजतुक्खारवाह्लीकखशौत्रगोत्रा-
दीनामभोज्यानामप्रतिग्राह्याणां भुक्त्वा प्रतिगृह्य च
स्त्रीगमने रहस्ये रहस्यं प्रकाशे प्रकाशं चरेत् ।
रहस्ये तप्तकृच्छ्रं तु चरेद्विप्रः समाहितः ।
प्रकाशे चैन्दवं कुर्यात्सकृद्गत्वा द्विजोत्तमः ॥
रहःपापे त्वविज्ञाते चरेत्सांतपनं नरः ।
विज्ञाते तप्तकृच्छ्रं वा एष एव विधिः सदा ॥
गर्भं कृत्वाऽन्त्यजातानां चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ।
चण्डाल्यां गर्भमारोप्य गुरुतल्पव्रतं चरेत् " ॥

अज्ञातविषयमेतत् ।

" रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च ।
कैवर्तमेदभिल्ला(ल्ल)द्याः सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः ॥
एषां भुक्त्वा स्त्रियो गत्वा पीत्वाऽपः प्रतिगृह्य च ।
ज्ञानात्कृच्छ्रार्धमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयम् " ॥

संवत्सरात्प्रागत्यन्ताभ्यास एतत् ।

आपस्तम्बः—"म्लेच्छी नटी चर्मकर्त्री रजकी बुरुडी तथा ।
एतासां गमनं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् " ॥

कामतोऽभ्यास एतत् ।

हारीतः—" कैवर्तीं ध्वजिनी चैव याश्चान्या अन्त्यसंभवाः ।
कामतस्तु वसन्विप्र एतानेव समाचरेत् ॥
द्वौ मासौ भैक्षभक्ष्येण द्वौ मासौ यवयावकैः ।
द्वौ मासौ पञ्चगव्येन षण्मासांश्चरितव्रतः ॥
एवं शुद्धिमवाप्नोति प्रायश्चित्तानुरोधतः " ।

संवत्सरात्प्रागत्यन्ताभ्यास एतत् । ऊर्ध्वं तु मरणान्तिकम् ।

---

१ क. °नगन्धिकामूतमयूथपसद्र°। २ क. °वान्द्रमिडश°। ३ क. जभुक्खारावा°। ४ क. °शोद्रगो°। ५ क. °तिगृह्या°। ६ क. °र्भं गत्वा। ७ छ. °च्छ्राब्दमु°।

आपस्तम्बः—" चण्डालमेदश्चपचकपालव्रतचारिणाम् ।
अकामतः स्त्रियो गत्वा पराकव्रतमाचरेत् ॥
कामतस्तु प्रसूतौ वा तत्समो नात्र संशयः " ।

अकामतः प्रसवात्कामतो गमनात्साभ्यासात्तत्समः ।

" कामतो योऽभिगच्छेत्तु ब्राह्मणीं शूद्रसंमताम् ॥
प्रायश्चित्तं कथं तस्य कृच्छ्रं त्रैवार्षिकं स्मृतम् " ।

भूयोभ्यासे गमने चैतत् ।

" हीनवर्णगतां विप्रां ब्राह्मणो योऽभिगच्छति ।
स कुर्यात्तु विशुध्यर्थं कृच्छ्रं संवत्सरं द्विजः " ॥

इदं कामतोऽभ्यासे ।

उशना—" गमने तु व्रतं कुर्याद्भर्मे तद्द्विगुणं चरेत् " ।

अथ स्त्रीणां व्यभिचारप्रायश्चित्तानि । तत्र मनुः—

" विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् " ॥

अत्र च—"प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च " ।

[इति] परिभाषा नाऽऽदरणीया तस्याः स्त्रीपुरुषसाधारणव्रतोपदेशविषयत्वात् । अयं पुनरसाधारणातिदेशः । अत एवाऽऽह बृहस्पतिः—

" यत्पुंसः परदारेषु समानेषु व्रतं चरेत् ।
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री तदशेषं समाचरेत् " इति ॥

समानेषु सवर्णेषु । इच्छापूर्वकव्यभिचार एतत् । अनिच्छापूर्वके तु स एवाऽऽह—

" अनिच्छन्तीं तु यो भर्ता गुप्तां तां धारयेद्गृहे ।
मलिनाङ्गीमधःशय्यां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ॥
कारयेन्निष्कृतिं कृच्छ्रं पराकं वा समागताम् " ।

सामर्थ्यापेक्षो विकल्पः । समेन सवर्णेनाऽऽगतां समागतामित्यर्थः ।

" हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वाऽप्य(वध्या)थ वा भवेत् " ।

बुद्धिपूर्वके तु गर्भपर्यन्ते क्षत्रियवैश्यगमने त्याज्या । एवं शूद्रगमने वध्या वधोऽत्र नासादिकर्तनम् ।

---

१ क. इदमका° । २ छ. °तिशयः । अ°।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५)

विष्णुः—" सकृद्दुष्टा स्त्री यत्पुरुषस्य परदारे व्रतं तत्कुर्यात् " ॥

मनुः—" सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपमन्त्रितम् ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् " ॥

षण्मासानुवृत्तावापस्तम्बः—

" स्त्रियास्तु भर्तुर्व्यतिक्रमे कृच्छ्रद्वादशरात्राभ्यासस्तावन्तं कालम् " ।

कामतोऽत्यन्ताभ्यासविषयमेतत् ।

उशना—" व्यभिचारिणीं भार्यां कुचैलवृत्तां निवृत्ता-
धिकारां चान्द्रायणं प्राजापत्यं वा चारयेत् " ।

मनूक्तकृच्छ्रसहितचान्द्रायणासामर्थ्ये चान्द्रायणमात्रम् । बलात्कार [त] उपभुक्ताविषयः प्राजापत्यः । तथा च संवर्तः—

" बलात्प्रमथ्य भुक्ता चेद्दह्यमानेन चेतसा ।
प्राजापत्येन शुद्धिः स्यान्न तस्याः पावनं परम् " ॥

अत्रासामर्थ्य ऋष्यशृङ्ग आह—

" बलेन कामिता नारी सवर्णेन कथंचन ।
प्रायश्चित्तं त्रिरात्रं वै तस्याः शुद्धिं समादिशेत् " ॥

प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वर्षं चरेदित्यधिकारे गौतमः—

" स्त्री चाभिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभेत " ।

सा चेत्पुनः प्रदुष्येदित्यनेन मानवेन समानविषयमेतत् ।

संवर्तः—" यदि वै ब्राह्मणी गच्छेत्क्षत्रियं वैश्यमेव वा ।
गोमूत्रयावकैर्मासात्तदर्धाच्च विशुध्यति " ॥

वैश्यगमने मासात्क्षत्रियगमने मासार्धात् ।

" ब्राह्मण्याः शूद्रसंपर्के कथंचित्समुपागते ।
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यात्तदस्याः पावनं परम् " ॥

बलात्कारविषयमेतत् । बृहत्प्रचेताः—

" विप्रा शूद्रेण संगम्य वसेत्तस्मात्प्रसूयते ।
प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम् ॥
चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रे च विप्राया वैश्यसंगमे ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव विप्रायाः क्षत्रसंगमे ॥
शूद्रं गत्वा क्षत्रिया तु कृच्छ्रं चाद्रायणद्वयम् ।
चान्द्रायणं सकृच्छ्रं च चरेद्वैश्येन संगमे ॥

शूद्रं गत्वा चरेद्वैश्या कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ।
आनुलोम्येन विहितं कृच्छ्रं पादावरोपितम् " ॥

**पादावरोपणं पादह्रासः । ततश्च क्षत्रियाया विप्रगमने कृच्छ्रः । वैश्यायाः पादद्वयम् । शूद्रायाः पादः । वैश्यायाः क्षत्रियगमने कृच्छ्रः । एवं शूद्रायाः क्षत्रियगमने वैश्यगमने च कल्प्यम् ।**

" चान्द्रायणं सजातीये पौनःपुन्ये सकृच्छ्रकम् ।
अकुष्ठगमने कल्प्यं तथैवाज्ञानसंगमे " ॥

**पौनःपुन्यमभ्यासः । तत्र बुद्धिपूर्वके सकृच्छ्रम् । अकुष्ठेनाभिचारिणीं प्रत्यबुद्धिपूर्वके गमने कल्प्यं परिषदा प्रायश्चित्तमित्यर्थः ।**

**ऋष्यशृङ्गः**—" कामिता स्यादथान्त्यैर्या सा कृच्छ्रोब्दं समाचरेत् ।
अन्तर्वत्नी च युवतिः कामिता चान्त्ययोनिना ॥
प्रायश्चित्तं नैव कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ।
न प्रचारं गृहे कुर्यान्न चाङ्गादिप्रसाधनम् ॥
न शयीत समं भर्त्रा न वा भुञ्जीत बान्धवैः ।
प्रायश्चित्तं सुते गर्भे विधिं कृच्छ्राब्दिकं चरेत् ॥
हिरण्यमथवा धेनुं दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् " ॥

**वसिष्ठः**—" शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वे(द्वी)रणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याश्च शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् । पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत् । पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां कृष्णखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते " ।

**एवं वैश्यो राजन्यां शूद्रश्च वैश्यराजन्ययोः । पूता भवति, प्रायश्चित्तयोग्या भवतीत्यर्थः ।**

---

१ क. 'च्छार्धं स' ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

" मनसा मर्तुरभिचारे त्रिरात्रं यावकं क्षीरौदनं वा भुञ्जानाऽधः शयीत। ऊर्ध्वं त्रिरात्रादप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात्पूता भवतीति विज्ञायते। वाक्संबन्धे चैतदेव मासं चरित्वोर्ध्वं मासादप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टसहस्रेण शिरोभिर्जुहुयात्। पूता भवतीति विज्ञायते। व्यवाये तु संवत्सरं घृतपट्टं धारयेत्। गोमयगर्ते कुशप्रस्तरे वा भुञ्जानाऽधः शयीत। ऊर्ध्वं संवत्सरादप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टसहस्रेण शिरोभिर्जुहुयात्पूता भवतीति विज्ञायते। व्यवाये तीर्थगमने धर्मेभ्यश्च निवर्तते। "

धर्मेभ्यो धर्माधिकारेभ्यः स्त्री निवर्तते, चकारात्प्रायश्चित्तादपि।

संवर्तः—" चण्डालं पुक्कसं म्लेच्छं श्वपाकं पतितं तथा।
एतान्गत्वा स्त्रियः श्रेष्ठाः कुर्युश्चान्द्रायणत्रयम् " ॥

श्रेष्ठा वर्णस्त्रियः।

चतुर्विंशतिमतात्—" कृच्छ्रार्धं ब्राह्मणी कुर्याद्विप्रस्य गमने सति।
क्षत्रियस्य चरेत्कृच्छ्रं विशः सांतपनं स्मृतम् ॥
शूद्रस्य गमने चैव पराकं च समाचरेत्।
अर्धं त्वेषु समाप्तेषु पापेषूक्तं मनीषिभिः " ॥

वीर्यक्षेपात्प्राग्निवृत्तौ सत्यां शूद्रादिसंगतानां ब्राह्मण्यादीनां कृच्छ्रार्धादिप्रायश्चित्तचतुष्टयादर्धं प्रायश्चित्तमित्यर्थः।

तथा—" विप्रगर्भे पराकः स्यात्क्षत्रियस्य तथैन्दवम्।
विशस्तदेव कर्तव्यं पराकेण समन्वितम् ॥
शूद्रगर्भे भवेत्त्यागस्तत्र चण्डालदर्शनात् "।

वार्धुष्यलवणक्रिययोस्तु साधारणोपपातकप्रायश्चित्तान्येव, विशेषविहितानामभावात् ॥ २६७ ॥ २६८ ॥

इदानीं स्त्रीवधे वैशेषिकं प्रायश्चित्तमाह—

दुर्वृत्ता ब्रह्मनृपविट्शूद्रयोषाः प्रमाप्य[3] तु ॥
दृतिं धनुर्वस्तमविं क्रमाद्दद्याद्विशुद्धये ॥ २६९ ॥

---

१ छ. 'रभीचारं त्रि'। २ ङ. 'धृत्तभ्र'। ३ छ. समाप्य।

दुर्वृत्ताः स्वैरिणीब्राह्मणादियोषितो हत्वा यथावर्णक्रमं हत्यादिकं ब्राह्मणाय दद्यात् । हतिश्चर्मादिमयं जलभाण्डम् । धनुः प्रसिद्धम् । वस्तश्छागः । हत्यादिदात्रा दक्षिणात्वेन सुवर्णमपि देयम् । तत्परिमाणं चानुबन्धाद्यपेक्षया कल्प्यम् । मनुरप्याह—

" जीर्णकार्मुकवस्तावीः पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हित्वाऽनवस्थिताः " ॥

अनवस्थिता भर्तर्यनवस्थिताः । भर्तृव्यभिचारिणीरिति यावत् ।

अङ्गिराः—" कोशं कूपेऽथ विप्रे वा ब्राह्मण्याः प्रतिपादयेत् ।
वधे धनुः क्षत्रियाया बस्तो वैश्यावधे स्मृतः ॥
शूद्राया आविकं चैव वेश्यां हत्वा जलं स्पृशेत् " ।

अस्यार्थः—ब्राह्मण्या वधे कोशं चर्ममयं जलपात्रं कूपे परोपकारार्थं ब्राह्मणाय वा दद्यात् । वेश्यायां[1] तु ब्राह्मणा(ण्या)दिकायां हतायां न किंचिद्दद्यात् । किंतु जलं स्पृशेत् ॥ २६९ ॥

## अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥

प्रकर्षेण दुष्टा प्रदुष्टा[सा] न भवतीत्यप्रदुष्टा । ईषद्दुष्टेति यावत् । तां ब्राह्मणादिस्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं व्रतं कुर्यात्[2] । दश धेनूर्वा दद्यात् । अदुष्टावधे च शातातप आह—

" षण्मासान्स्त्रीघाते प्राजापत्यं चरेत् । अमतिपूर्वके तु चान्द्रायणम् " ।

व्यासः—" अकामतः स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणीं वैश्यवच्चरेत् ।
कामतो द्विगुणं प्रोक्तं प्रदुष्टायां न किंचन ॥
पुण्याँल्लोकानवाप्नोति शूद्रगां यस्तु पातयेत् ।
पतिघ्नीमथ गर्भघ्नीं ता हि संकरकारिकाः " ॥

यत्तु प्राचेतसम्—

" अनर्तुमतीं ब्राह्मणीं हत्वा कृच्छ्राब्दं षण्मासान्वा,
क्षत्रियां हत्वा षण्मासान्मासत्रयं वा, वैश्यां हत्वा
मासत्रयं[3] सार्धमासं वा, शूद्रां हत्वा सार्धमासं
द्वाविंशतिदिनानि वा " ।

इति, तन्निर्गुणहन्तृविषयम् । अत्र च सर्वेषु विकल्पेषु पूर्ववत्कल्पः कामकारविषये । उत्तरस्तद्विपरीतविषयः । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

---

१ क. °यां ह° । २ क. °त् । जलधे° । ३ छ. °यं मासार्धमा° ।

" अनात्रेयीं राजन्यहिंसायां, राजन्यां वैश्यहिंसायां
वैश्यां शूद्रहिंसायां, शूद्रां संवत्सरम् " ।

इति, तत्सहधर्मचारिणीविषयम् । अत्र च शूद्रां हत्वा संवत्सरमित्यस्य भ्रूणहत्याप्रायश्चित्तमिति विशेषः । अत्रैव विषये हारीतोऽप्याह—

" षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यं, त्रीणि वैश्ये,
सार्धं शूद्रे, क्षत्रियवद्ब्राह्मणीषु । वैश्यवत्क्षत्रि-
यायां, शूद्रवच्च वैश्यायां, शूद्रं हत्वा नव मासान्" इति ।

अङ्गिरास्तु विषयविशेषे व्रतातिरेकमाह—

" आहिताग्नेर्द्विजाढ्यस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् ।
ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च " ॥

उपपातकप्रायश्चित्तविषय[मिद]म् । स्त्रीवधविशेषे स एवाऽऽह—

" अनाहिताग्निपत्नीनां तथा विट्शूद्रयोषिताम् ।
गोघातकव्रतं कुर्याच्छूद्रायां चैव नित्यशः " ॥

पैठीनसिः—" त्रिवर्षं स्थानासनाभ्यां नक्तमश्नीयाद्गो-
घातकः शुध्यति संवत्सरं प्राजापत्येन वा " ॥

प्रासङ्गिकं हिंसान्तरेऽपि प्रायश्चित्तमाह—

## [1]अस्थिमतां सहस्रं वा तथाऽनस्थिमतामनः ॥२७०॥

हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेदित्यनुवर्तते । अस्थिमतां सहस्रमनस्थिमतामनः शकटं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । अनश्चात्र परिणामत्वेन विवक्षितम् । तेन शकटपरिपूर्तिपरिमितानां वध एतत् । उक्तपरिमाणातिरिक्तवधे प्रायश्चित्तातिरेकः कल्प्यः । अल्पवधे तु वक्ष्यति । यत्तु मनुनोक्तम्—

" क्रिमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकव्रयहम् " ॥

तदुक्तपरिमाणापेक्षया न्यूनपरिमाणेषु क्रिमिप्रभृतिष्वनस्थिकेषु द्रष्टव्यम् । अस्थिमन्तश्च विशेषविहितप्रायश्चित्तरहिता अत्र ग्राह्याः । शूद्रहत्याव्रतं च षाण्मासिकं ब्रह्महव्रतम् । दशधेनुदानं वा । अनस्थिकानां च केषांचित्सहस्रसंख्याकानां वधे शूद्रवधप्रायश्चित्तमाह यमः—

---

१ क. छ. अस्थन्वतां सं । २ छ. °रणे येन तं ।

" अत ऊर्ध्वं क्रिमिकीटपतङ्गपिपीलिकभ्रमरदंशमशकमक्षिकाणां सहस्रं हत्वा शूद्रवधः । कोकिलशुककपोतकपिञ्जलकुक्कुटटिट्टिभखञ्जरीटादीनां पुरुषभारवधे शूद्रवधः "।

वैश्यवदित्यनुवृत्तौ गौतमः—

" अस्थिमतां सहस्रं हत्वाऽनस्थिमतामनडुद्धारे च "।

सप्रत्ययसानुबन्धविषयमेतत् ।

वसिष्ठः—" अनस्थिमतां च सत्त्वानां गोत्रं राशिं, हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत् । किंचिच्च दद्यात् "।

[*अस्थिमतां चैकैकम् ॥ २७० ॥ ]

अस्थिमतामेकैकस्य वधे किंचिद्देयमिति वक्ष्यति, तस्यापवादमाह—

**मार्जारगोधानकुलमण्डूकांश्च पतत्रिणः ॥**
**हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥२७१॥**

मार्जारादीनामन्यतमवधे त्रिरात्रं क्षीरं पिबेत् । वक्ष्यमाणं पादकृच्छ्रं वा चरेत् । पतत्रिणोऽत्र काकोलूकादय एव वक्ष्यमाणमनुवाक्यवशात् । अमतिपूर्वके सकृद्धनन एतत् । यत्तु विष्णूक्तम्—

" श्वानं हत्वा त्रिरात्रमुपवसेत् । हत्वा मार्जारनकुलमण्डूकडुण्डुभाजगराणामन्यतममुपोषितः कृसरं भोजयित्वा लोहदण्डं च दक्षिणां दद्यात् । गोधो लूककाकचाषवधे त्रिरात्रमुपवसेत् "

इति, तत्स्वल्पापराधनिर्धनपुरुषविषयम् ।

यत्तु मानवम्—

" मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् "

इति, तत्कामतोऽत्यन्ताभ्यासविषयम् ।

यमः—" श्वनकुलसर्पमार्जारमण्डूकबिम्बकाकिकीदिविकगोधागृध्रोलूकवायसमयूरग्रामचरकेकरमृगालमूषकान्हत्वैकैकस्य वधे शूद्रवधः "।

---

* एताश्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ क. °बिम्बिक° ।

पैठीनसिः—" काकोलूककृकलासकङ्कवृकखरशृगालशशबर्हिण-
मूषकचक्रवाकहंसप्रवेणीनकुलमण्डूकबिडालश्ववध
एतेषामेकैकस्मिञ्शूद्रवद्विहितः कल्पः " ।

उभयमप्येतन्मानवेन समानविषयम् । यत्तु वासिष्ठम्—

" श्वमार्जारमण्डूकनकुलसर्पदहरमूषकान्हत्वा कृच्छ्रं
द्वादशरात्रं चरेत् । किंचिच्च दद्यात् "

इति, तदमतिपूर्वकाभ्यासविषयम् । दहरः क्षुद्रः । यत्तु मार्जारवध एव मनुनोक्तम्—

" पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् "

इति, तद्याज्ञवल्कीयेन समानविषयम् । त्रिरात्रमिति[सर्वत्र] संबध्यते ।

लघुविष्णुः—" मार्जारसर्पनकुलश्वशृगालमृगेषु च ।
प्रमादाद्धनने कार्यः कृच्छ्रपादो विशुद्धये " ॥

कश्यपः—" श्वबिडालजात्यन्तस्थावरे गर्दभोष्ट्राश्वस्त्रीवधे प्रायश्चित्तं ब्राह्मणेभ्यो निवेद्य षड्रात्रोपोषितश्चीर्णान्ते तिलान्दद्यात् " ।

हारीतः—" मर्कटश्वभासमार्जारजालपादबर्हिणामेकतमवधे गां ब्राह्मणाय दद्यात् " ।

अङ्गिराः—" काके भासे च गृध्रे च टिट्टिभे खञ्जरीटके ।
यथा गवि तथा हत्यां भगवान्मनुरब्रवीत् " ॥

मतिपूर्वकाभ्यास एतत् ।

लघुविष्णुः—" हयच्छागाविकोष्ट्रेषु गर्दभेषु च मारणात् ।
प्राजापत्यार्धमेवेह प्रायश्चित्तं विधीयते " ॥

सकृदमतिपूर्वके हनन एतत् ॥ २७१ ॥

**गजे नीलवृषाः पञ्च शुके वत्सो द्विहायनः ॥**
**खराजमेषेषु वृषो देयः क्रौञ्चे त्रिहायनः ॥ २७२ ॥**

गजं हत्वा नीलवर्णा वृषाः शौण्डाः पञ्च ब्राह्मणेभ्यो देयाः, शुके पक्षिविशेषे हते द्विवर्षो वत्सो देयः । गर्दभच्छागमेषाणामन्यतमवधे वृषोऽनड्वान्देयः । क्रौञ्चवधे तु त्रिवर्षो वृषः । अनड्वाञ्शकटस्य वोढा गौः ॥ २७२ ॥

हंसश्येनकपिक्रव्याज्जलस्थलशिखण्डिनः ॥
भासं च हत्वा दद्याद्गामक्रव्यादे[1] तु वत्सिकाम्॥२७३॥

हंसादीन्हत्वा गां विप्राय दद्यात् । क्रव्यमपक्वं मांसं तद्योऽत्ति स क्रव्याद्व्याघ्रगृगालादिः । जलस्थलशब्दाभ्यां तच्चारिणः पक्षिणो लक्ष्यन्ते । शिखण्डी मयूरः ।

मनुः—" हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ[2] च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥
क्रव्यादस्तु[3] मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादो वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलाम्[4] " ॥

चतुर्विंशतिमतात्—

" सिंहव्याघ्रवृकादींश्च दुष्टान्हत्वा च दंष्ट्रिणः ।
हत्वा सरीसृपादींश्च दिनमेकमभोजनम् ॥
मत्स्यं च कृकि(क)लासं च हत्वा मण्डूकमेव च ।
उपोष्य सप्तरात्रं च पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
हंसं बकं बलाकां च शारिकां शुकतित्तिरम् ।
सारसं चाषभासादि हत्वा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥
कपोतबककाकानां गृध्राणां हनने द्विजः ।
सर्वेषां पक्षिणां चैव दिनमेकमभोजनम् " ॥ २७३ ॥

उरगेष्वायसो दण्डः पण्डके त्रपुसीसकम् ॥
कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा हये ऽशुकम् ॥२७४॥

उरगेषु सरीसृपेषु हतेष्वायसो लोहमयः खननसमर्थो दण्डो देयः । पण्डके नपुंसके त्रपु सीसकं च माषपरिमाणं देयम् । कोले वराहे घृतपूर्णो घटो देयः । उष्ट्रके तु गुञ्जापरिमाणं सुवर्णं देयम् । हये बन्धूकवस्त्रम् ।

मनुः—" अश्वीं काष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।
पलालभारकं शण्ढे माषकं चैव सीसकम् " ॥

पलालमघृतधान्यं तृणम् ॥ २७४ ॥

तित्तिरौ च तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ॥
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७५ ॥

---

१ ड. °व्यादांस्तु व° । २ क. °व्यादांस्तु । ३ क. वत्सलाम् । ४ क. °भासौ च ह° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

तित्तिरौ पक्षिविशेषे हते तिलद्रोणं दद्यात् ।

"अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिच्चत्वारि पुष्कलम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥
चतुराढको भवेद्द्रोणः खारी द्रोणास्तु षोडश" ।

कथितं द्रोणस्य लक्षणमिति । यस्तु निर्धनत्वेन गजादिवधशुध्यर्थं दानं न शक्नुयात्कर्तुं स गजादिवधपापक्षयार्थं प्रतिनिमित्तं कृच्छ्रं कुर्यात् । कृच्छ्रसंज्ञक(शब्द)श्च प्राजापत्यसंज्ञके तपोविशेषे रूढः । तत्र गजादीनामधिकदानसाध्यो वधपापक्षय इति प्राजापत्याभ्यासः कल्प्यः । न त्वेक एव प्राजापत्यः । विषमसमीकरणापत्तेः । अथ वा कृच्छ्रशब्दस्तपोमात्रे वर्तते, तच्च निमित्तस्य गुरुलघुभावानुसारेण गुरु लघु वा कल्पनीयम् । अत एव चतुर्विंशतिमते—

" हस्तिनं तुरगं खड्गं महिषोष्ट्रखरं मृगम् ।
रोह्यं च स(श)म्बरं हत्वा चरेत्सांतपनं द्विजः" ॥

संवर्तः—" हस्तिनं तुरगं हत्वा महिषोष्ट्रं कपिं तथा ।
एषु सर्वेषु कुर्वीत सप्तरात्रमभोजनम् ॥
व्याघ्रं श्वानं खरं सिंहं रोह्यं सूकरमेव च ।
एतान्हत्वा द्विजः कुर्याद्ब्राह्मणानां च भोजनम् ॥
सर्वासामेव जातीनां मृगाणां वनचारिणाम् ।
अहोरात्रोषितस्तिष्ठेज्जपन्वै जातवेदसम् ॥
हत्वा हंसं बलाकां च श्वाविकारण्डबर्हिणः ।
वानरं श्येनभासौ च हत्वा तिष्ठेत्त्र्यहं द्विजः ॥
टिट्टिभं जालपादं च मद्गुं कुक्कुटमेव च ।
एतान्हत्वा द्विजः कुर्यात्सप्तरात्रमभोजनम्" ॥

जाबालः—" हस्तिनं तुरगं हत्वा हिरण्यं गां तथैव च ।
महासांतपनं कुर्याद्द्रोभूकन्यानृते तथा" ॥

हिरण्यं गां चेति दद्यादिति शेषः ।

पराशरः—" क्रौञ्चसारसहंसानां बककुक्कुटयोस्तथा ।
मयूरमेषयोर्घाते एकभक्तेन शुध्यति ॥
मद्गूनां टिट्टिभानां च शुकपारावतस्य च ।
आटीव(ब)कस्य घाते तु शुध्येद्वै नक्तभोजनात् ॥
चाषकाककपोतानां शारीतित्तिरिघातकः ।
अन्तर्जलं उभे संध्ये प्राणायामेन शुध्यति ॥

गृध्रश्येनविहंगानामुलूकानां च घातने ।
अपक्काशी दिनं तिष्ठेद्द्विकाले मारुताशनः " ॥

**द्विकालः** सायंकालभोजनकालः ।

**हारीतः**—" वाजिरासभवधे कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् । वृथा पशुवधे प्राजापत्यं त्रिरात्रोपोषितः । मर्कटमार्जारजालपादबर्हिणानामेकतमवधे ब्राह्मणाय गां दद्यात् " ।

**विष्णुः**—" अनुक्तमृगवधे त्रिरात्रमुपवसेत् " ।

**शङ्खः**—" पशून्हत्वा तथा ग्राम्यान्मासं कुर्याद्विचक्षणः ।
अदत्तानां तथा दाने तदर्धं तु विधीयते ॥
हत्वा द्विजस्तथा सर्पं जलेशयबिलेशयम् " ।

**मासं कुर्याद्ब्राह्मणो व्रतमित्यन्वयः** ॥ २७५ ॥

**अपि च***—

**किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥**
**वृक्षगुल्मलतानां च च्छेदने जप्यमृक्शतम्+ ॥२७६॥**

**अनुक्तनिष्कृतिकस्य सास्थिकस्य वधे किंचित्कार्षापणादि देयम् । निरस्थिकवधे तु प्राणायामः कार्यः । अत्र सुमन्तुः—**

" यूकामष(श)कमक्षिकामत्कुणपूतिकीटमातृवाहकजलौकगण्डूपदादीनामन्येषां वाऽनस्थिमतां वधे प्राणायामः ।
अस्थिमतां वधे पणो देयः । वृक्षादीनां छेदन ऋचां शतं जप्यम्" ।

**गुल्माः** कुब्जादयः । **लता** अतिमुक्तकादयः । अत्र मनुः—

" फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् " ॥

**पुष्पितानामिति** गुल्मादिभिः संबध्यते । अपरिगृहीतेषु वृक्षादिष्वेतत् ।

" तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् ।
अपृष्ट्वा परिगृह्णीता(ह्णंस्तु) हस्तच्छेदनमर्हति "

---

* इतः परं मिताक्षरायां " फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनम् " इत्यर्धं दृश्यते । + इत उत्तरं "स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोनुगो दिनम् " इति पाठो ङ. पुस्तके । एतदर्धं तव्याख्या च क. छ. पुस्तकयोर्न विद्यते ।

---

१ क. 'टजा° ।

इति दण्डाधिक्यदर्शनात् । परिगृहीते प्रायश्चित्तातिरेकः कल्प्यते । कर्षणाद्वृक्षच्छेदने न दोषः । यथाऽऽह वसिष्ठः—

" पुष्पफलोपगान्पादपान्न हिंस्यात् । कर्षणकारणार्थं चोपहन्यात् " इति ।

यमः—" वृक्षलतागुल्मतृणच्छेदने वृद्धकृच्छ्रकः फलवतां प्राजापत्यम् " ।

" नीलीवस्त्रं परिधाय भुक्त्वा स्नानार्ह एव च ।
त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम् " ॥

गुल्मलतास्तथा(?) ।

शङ्खः—" क्षत्रियस्तु रणे नष्टः प्रौढः[1] प्राणपरायणः ।
संवत्सरं व्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम् " ॥

नष्टः पलायितः । व्रतमत्र गोमूत्रयावकं, शङ्खोक्तत्वात् । छित्त्वा वृक्षमिति सातिशयोपभोगवृक्षच्छेदनविषयम् ॥ २७६ ॥

**पुंश्चलीवानरखरैर्दष्टश्चोष्ट्रादिवायसैः ॥**
**प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति॥२७७॥**

पुंश्चल्यादिभिर्दष्टः स्नात्वा जल एव स्थित्वा प्राणायामं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति । घृतप्राशस्त्वाहारान्तरनिवर्तकः । तपस्त्वात् । आदिग्रहणात्सृगालादयो गृह्यन्ते । यथाऽऽह मनुः—

" श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्चोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति " ॥

अत्र सुमन्तुः—"श्वसृगालमृगमहिषाजाविकखरकरभनकुलमार्जारमूषकप्लवकपुरुषदष्टानामापोहिष्टीयाभिः स्नानं प्राणायामत्रयं च " ।

एतच्चोपवासासमर्थविषयम् ।

अङ्गिराः—" ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्र्यहं +सार्धं पिबेत्पयः ।
गृहस्थश्चेद्विरात्रं च एकाहं ह्यग्निहोत्रवान् ॥
नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।
स्यादेतत्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् " ॥

वसिष्ठः—" ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

---

+ सायमिति पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ छ. प्रौढप्रा° ।

शिरसि दष्टस्यैतत् ।

पराशरः—" ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा ।
उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् " ॥

जम्बुकः सृगालः । तस्यां सव्रतायां स एवाऽऽह—

" त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु सव्रता ।
सघृतं यावकं भुक्त्वा व्रतशेषं समापयेत् " ॥

पुलस्त्यः—" रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः ।
पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

प्राणायामासमर्थं प्रत्याह मरीचिः—

" तरक्षुणा यदा दष्टः खरोष्ट्रनरवानरैः ।
अग्नीन्दृष्ट्वा हूयमानान्सद्य एव शुचिर्भवेत् " ॥

तरक्षो व्याघ्रविशेषः । एवं च दिवादष्टस्याऽऽ सायंकालादभोजनम् । प्रातर्होमकालं यावद्रात्रिदष्टस्येति गम्यते ।

शङ्खः—" त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्यात्पुंश्चलीदशनक्षतः " ॥

पुलस्त्यः—" व्रतस्थं तु शुना दष्टं त्रिरात्रमुपवासयेत् ।
सघृतं यावकं भुक्त्वा व्रतशेषं समापयेत् ॥
अव्रतः सव्रतो वाऽपि शुना दष्टो द्विजोत्तमः ।
गवां शृङ्गोदकस्नातो महानद्याश्च संगमे ॥
समुद्रस्पर्शनाद्वाऽपि शुना दष्टः शुचिर्भवेत् ।
ब्राह्मणैः रहिते ग्रामे शुना दष्टस्तु ब्राह्मणः ॥
वृषं प्रदक्षिणीकृत्य प्राणायामेन शुध्यति ।
श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैर्गोवायसैस्तथा ॥
प्रवाहेभ्यो महानद्याः प्राणायामशतं भवेत् ।
घृतं प्राश्य विशुध्येत्तु त्रिरात्रोपोषणेन वा ॥
सुवर्णरजताभ्यां वा गवां शृङ्गोदकेन वा ।
नवैर्वा कलशैः स्नात्वा चतुर्भिस्तु विशुध्यति ॥
ब्राह्मणी तु शुना दष्टा सोमे दृष्टिं निपातयेत् ।
वेदविद्याव्रतस्नातः शुना दष्टस्तु ब्राह्मणः ॥
शतपर्यायमावर्त्य[2] गायत्रीं शुद्धिमाप्नुयात् ।
हिरण्योदकमिश्रं वा घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

---

१ क. °ददर्श° । २ क. °मावृत्य गा° ।

शङ्खः—" नीलीकाष्ठक्षतो विप्रः शुना दष्टस्तथैव च ।
त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्यात्पुंश्चलीदशनक्षतः " ॥

यमः—" सृगालशूकरखरैर्दष्टः श्वनरकुञ्जरैः ।
एतैस्तु ब्राह्मणो दष्टस्त्रिरह्नः समुस्पृशेत् ॥
हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्पञ्च सप्त वा " ।

ब्रह्मचार्यधिकारे हारीतः—

" शुना दष्टस्त्र्यहमेकाहारः समुद्रगां नदीं गत्वा
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य ततः शुचिः ।
एवमेव गोमायुमार्जारसर्पनकुलमूषकैर्दष्टानाम् " ।

देवलः—" ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो गायत्र्यष्टसहस्राभिमन्त्रितं
कृत्वा तीर्थोदकेन नवभिश्चतुर्भिर्वा कलशैः स्नातः
शुध्यति। नदीसंगमे वा बालकस्याज्ञस्याशक्तस्य
वा तत्र पिताऽस्यानुध्यायन्मनसा सर्वका-
र्याणि कुर्वीत, पितुरभावे सत्याचार्यः " ।

अभिमन्त्रितं कृत्वा, दंशस्थानमिति शेषः । अनुध्यायन्दोषनिर्घातं चिन्तयन् ।

पैठीनसिः—" शुना दष्टस्य त्रिरात्रोपवासः । विप्रगृहे वासश्च " ॥

भानुः—" विप्रस्य चेद्व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे ।
क्रिमिरुत्पद्यते सोम्य निष्कृतिं वच्मि तस्य तु ॥
गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत् ।
दधिक्षीरघृतं पीत्वा क्रिमिदष्टो विशुध्यति ॥
अधो नाभ्यां तु दष्टस्य आ पादाद्विनतात्मज ।
एतद्विनिर्दिशेत्प्रायः प्रायश्चित्तं खगाधिप ॥
नाभिकण्ठान्तरे वीर यदा चोत्पद्यते क्रिमिः ।
षड्रात्रं तु तदा प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ॥
यदा दशन्ति शिरसि क्रिमयो विनतात्मज ।
कृच्छ्रं तदाऽऽचरेत्प्राज्ञः शुद्धये विनतात्मज " ॥

पराशरः—" गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
त्र्यहं स्नात्वा च पीत्वा च क्रिमिदष्टो विशुध्यति " ॥

स्नात्वा पीत्वा हुत्वा चेति केचित्पठन्ति ।

" क्रिमिभिर्व्रणभूतेऽङ्गे मक्षिकाभिस्तु घातिते ।
कृच्छ्रार्धं संप्रकुर्वीत शक्त्या दद्याच्च दक्षिणाम् " ।

अङ्गिराः—" क्रिमिव्रणदर्शने सांतपनम् । वृषभो दक्षिणा ।
शूद्राणां चोपवासेन शुद्धिर्दानेन चैव हि ।
गां प्रदद्याद्वृषं चैकं तथा विप्रेषु दक्षिणाम् ॥ २७७ ॥

**फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनः ॥**
**स्यादोषधिवृथाछेदे क्षीराशी गोनुगं(गो) दिनम्॥२७८**

यानि फलेषूदुम्बरप्रभृतिषु, पुष्पेषु मधुकादिषु, अन्ने चौदनादौ जायन्ते सत्वानि तेषां घाते वधे दिनमेकं घृताशनः स्यात् । घृताशनं चैतद्भोजनकार्ये तपस्त्वात् । तथौषधीनां ग्राम्यारण्यानां वृथा शास्त्रीयप्रयोजनमन्तरेण च्छेदने दिनमेकं गवामनुगतः पयोव्रतः स्यात् ।

मनुः—" अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

घात इत्यनुवर्तते ।

तथा—" कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथारम्भेऽनुगच्छेद्वां दिनमेकं पयोव्रतः " ॥

वृथारम्भो निष्प्रयोजनं छेदनम् ॥ २७८ ॥
किं च—

**यन्मेऽद्य रेत एताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुमन्त्रयेत् ॥**
**स्तनान्तरं भ्रुवोर्वाऽपि तथाऽ(तेना)नामिकया स्पृशेत्२७९**

स्त्रीसंभोगमन्तरेण स्कन्नं रेतो यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामनुमन्त्रयेत् । ततोऽनामिकयोपकनिष्ठिकया तेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोर्वाऽन्तरं स्पृशेत् । ततः शौचार्थं स्नानादि कुर्यात् । विहितत्वाद्वा नाशुचित्वमस्तीति कल्प्यम् । एतद्गृहस्थविषयम् । अन्याश्रमिणां प्रायश्चित्तान्तरविधानात् । कामतस्तु रेतस्कन्दने यम आह—

" गृहस्थः कामतः कुर्याद्रेतसः स्कन्दनं भुवि ।
सहस्रं तु जपेद्देव्याः प्राणायामैस्त्रिभिः सह " इति ॥ २७९ ॥

---

१ क. ङ. °तोऽभिम° ।

किं च—

**मयि तेज इति च्छायां स्वां दृष्ट्वाऽम्बुनि[1] वै जपेत् ॥**
**सावित्रीमशुचौ[2] दृष्टे चापले[3] वाऽनृतेऽपि च ॥ २८० ॥**

आत्मीयां छायां प्रतिबिम्बमम्बुनि जले दृष्ट्वा " मयि तेजः " इत्यादिकं मन्त्रं वाजसनेये प्रसिद्धं जपेत् । अशुचौ तु मूत्रपरीषादौ दृष्टे पाणिपादादिचापलेऽनृतभाषणे वा कृते, सावित्रीं सवितृदै(दे)वत्यां प्रसिद्धामृचं जपेत् । मनुरसत्यवचने सत्याचमनमाह—

" सुप्त्वा भुक्त्वा च क्षुत्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च ।
पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् " इति ॥

एतद्गायत्रीजपेन समुच्चीयते कार्यभेदात् । आचमनस्य हि शुचित्वं कार्यं गायत्रीजपस्य च पापक्षयः । यत्तु संवर्तेनोक्तम्—

" क्षुते निष्ठीविते चैव दन्तोच्छिष्टे तथाऽनृते ।
पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् " ॥

इति, तदसामर्थ्याज्जलाभावाद्वाऽऽचमनासंभवे सति द्रष्टव्यम् । एवं तावत्स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रलक्षणेषूपपातकविशेषेषु प्रायश्चित्ता[नि] उक्ताः(क्तानि)। तत्र प्रसङ्गाद्विध्यन्तरेष्वपि तदन्तरम् । वृक्षादिच्छेदनेऽपि तत्प्रसङ्गात्प्रायश्चितान्तराण्युक्तानि निन्दितान्योपजीवनलक्षण उपपातके सामान्योपदिष्टमेव प्रायश्चित्तम्।नास्तिके तु यद्यपि प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तथाऽपि शास्त्रान्तरोक्तः संप्रदर्श्यते । तत्र वसिष्ठः—

" नास्तिकः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा विरमेन्नास्तिक्यात् ।
तथा नास्तिक्यवृत्तेस्त्वतिकृच्छ्रः " ।

नास्तिक्येन वृत्तिर्जीवनं यस्य स नास्तिक्यवृत्तिः ।

" कृतघ्नः कूटव्यवहारी मिथ्याशंसीत्येते पञ्च संवत्सरं ब्राह्मणगृहे भैक्षं चरेयुः " इति ।

पञ्च नास्तिकादयः संवत्सरं यावद्विप्रगृहे भैक्षं चरेयुरित्यर्थः । नास्तिको नास्तिक्यवृत्तिरित्यनुवृत्तौ हारीतः—

" पञ्चतपोभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुः ।
ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु " इति ।

ऋतुत्रयात्मकं संवत्सराभिप्रायेणैतत्सांवत्सरिकमेव व्रतम् ॥ २८० ॥

---

१ ङ. °म्बुगतां ज° । २ ङ. चापल्ये । ३ क. °ङ्गात्प्रा° । ४ छ. °तान्वोप° । ५ छ. °स्तिकवृ° । ६ छ. °स्तिकेन । ७ छ. °स्तिकवृ° ।

संप्रति व्रतलोपाख्यावकीर्णितानिरूपणपूर्वकं तत्प्रायश्चित्तमाह—

**अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ॥**
**गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥ २८१ ॥**

ब्रह्मचारी नैष्ठिक इतरो वा योषितं स्त्रियं गत्वाऽवकीर्णिसंज्ञो भवति । तत्र च गत्वेति क्त्वाप्रत्ययात्क्रियानिवृत्तावेव सत्यामवकीर्णीति गमयति । सोऽवकीर्णी नैर्ऋतदेवताकं गर्दभं पशुमालभ्य शुध्यति पापान्मुच्यते । गर्दभेन मृत्युमिष्ट्वा शुध्यतीत्यर्थः । पशुशब्दप्रयोगो गृह्योक्तपशुकल्पप्राप्त्यर्थः । अत्र च मनुः—

" अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन नैर्ऋतं यजते निशि ॥
हुत्वाऽग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समित्यृचा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सार्पिषाऽऽहुतीः ॥
कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रमं व्रतस्याऽऽहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः " ॥

अत्र गर्दभस्य काणत्वं विशेष उक्तः । तथा पाकयज्ञविधानाख्या(ख्य)-गृह्योक्तेतिकर्तव्यताप्रयोगः प्रधानाहुतयश्च । पूर्वं वाताय स्वाहेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैराज्यहोमः । रात्रिश्च कालः स चामावास्यायाम् । उक्तं हि तैत्तिरीयके—

" यो ब्रह्मचार्यवकिरेदमावास्यायां रात्रावग्निं प्रणीयोपसमाधाय " इत्यादि ।

कामतो रेतसः सेकं योषितीति व्याख्येयम् । याज्ञवल्क्यवचनात् । सर्वं चैतत्कर्मारण्यचतुष्पथे लौकिके चाग्नौ कार्यम् । यदाह वसिष्ठः—

" ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकाग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत, नैर्ऋतं वा चरुं निर्वपेत्तस्य जुहुयात् । कामाय स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा " इति ।

पशोरभावे चरुः कार्यः । तस्य चरोरेकदेशं कामाय स्वाहेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रत्येकं जुहुयात् । तदेवातिदिशति—

" एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने व्रतान्तरेषु वाऽऽ समावर्तनात् " इति ।

एतदेवेत्येवकारो होमेन समुच्चीयमानस्य सांवत्सरिकस्य निवारणार्थः । ततश्च योषिति रेतोऽवकिरतो ब्रह्मचारिणः सांवत्सरिकं तपोऽपि प्रायश्चित्तं भवति । तदाह मनुः—

" एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥
तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयेन्नैककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यति " ॥

**स्वप्ने तु रेतःसेक्तृन्मनुरेवाऽऽह—**

" स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् " ॥

**यमः**—" प्रकीर्य रेतः स्वप्ने तु ब्रह्मचार्यप्यकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमीक्ष्य प्रयतो गायत्र्यष्टशतं जपेत् " ॥

**तथा**—" ब्रह्मचारी तु यो गच्छेत्स्त्रियं कामप्रपीडितः ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं सुयन्त्रितः " ॥

**भूयोभ्यासविषयमेतत् ।**

**व्यासः**—" ब्रह्मचारी तु यः स्कन्देत्कामतः शुक्रमात्मनः ।
अवकीर्णिव्रतं कुर्यात्स्नात्वा शुध्येदकामतः " ॥

**गौतमः**—" रेतःस्कन्दने भये रोगे स्वप्नेऽग्नीन्धनभैक्ष-
चरणानि सप्तरात्रमकृत्वाऽऽज्यहोमः
समिधो वा रेतस्यैर्त्व्(स्याभ्याम्")

**भवदमीक(पुनर्मामैतु पुनर्मन) इति द्वे ऋचौ रेतस्ये ॥ २८१ ॥**

**प्रसङ्गाद्ब्रह्मचारिणं प्रति प्रायश्चित्तान्तरमाह—**

**भैक्षाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः ॥**
**कामावकीर्ण इत्याभ्यां हुत्वा चाऽऽज्याहुतिद्वयम् ॥२८२॥**
**उपस्थानद्वयं कुर्यात्समासिञ्चत्वनेन तु ॥**

अनातुरो व्याधिरहितो ब्रह्मचारी सप्ताहोरात्राणि यावद्यदि भैक्षादन्यदश्नाति, अग्निकार्यं वा न करोति, तदा कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामाय स्वाहा, कामावपन्नोऽस्म्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहेत्याभ्यां मन्त्राभ्यामाहुतिद्वयं हुत्वा सं मा सिञ्चन्तु मरुत इत्यनेनाग्निमुपतिष्ठेत । एतच्च गुरुशुश्रूषादिकार्यान्तरव्यग्रत्वे सति द्रष्टव्यम् । तदभावे तु मनुराह—

---

१ क. 'न्धने भै°। २ क. °स्यत्वं भ°। ३ क. °ति व्रतान्त'। ४ ङ. °भ्यां जुहुयादाहु'। ५ ङ. °स्थानं ततः कु°।

" अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् " इति ॥

**अत्रैव बृहस्पतिः**—" संध्योपासनमुद्दिष्टं प्रथमं ब्रह्मचारिणः ।
अग्नीन्धनं भैक्षचर्या चेति कुर्वीत प्रत्यहम् ॥
अस्य त्रयस्याकरणाद्व्रती रोगविवर्जितः ।
अवकीर्णिव्रतं कुर्यात्सप्तरात्रं न संशयः " ॥

**हारीतः**—" ब्रह्मचारी संध्यामुपास्योत्थितः सावित्र्याः सहस्रेणाऽऽदित्यमुपतिष्ठेत, उत्क्रम्याग्निकार्यं व्रातपत्याहुत्याऽतीतं संपाद्योपस्थितं कुर्यात् । अहन्यतीते पुनर्मनोव्रातपतीभ्यां मेखलादण्डाजिनयज्ञोपवीतकमण्डलुनाशे च त्रय्याऽऽहुत्या यथार्थं प्रतीयात् ।

**प्रणवो व्याहृतयः सावित्रीति त्रयी ।**

अस्नैद्रैक्षभोजनाभ्युदितनिर्मुक्तवान्तदिवास्वप्नस्कन्दितनग्नस्त्रीदर्शनेषु श्मशानमाक्रम्य हयादींश्चाऽऽरुह्य पूर्व्यातिक्रमे चैताभिरेव जुहुयात् । अन्यसामिन्धने स्थावरसरीसृपादीनां वधे यद्देवा देवहेडनमिति कूष्माण्डीभिराज्यं जुहुयात् । मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्" इति ।

**मनर्मनः पुनरायुर्म आगादित्यादिरेको मन्त्रः । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीति व्रातपती ।**

**पैठीनसिः**—" नष्टे दण्डकाष्ठे भैक्षं दत्त्वा ब्राह्मणाय तद्धरुपवसेत् । कमण्डलावप्येवमेव नष्टायां मेखलायां द्वे ऋचावुद्धरेदियं दुरुक्तेति " ।

**संवर्तः**—" भिक्षाटनमकृत्वा यः स्वस्थो ह्येकोऽन्नमश्नुते ।
अस्नात्वा चैव यो भुङ्क्ते गायत्र्यष्टशतं जपेत् ॥
उपासीत न चेत्संध्यामग्निकार्यं न चेत्कृतम् ।
स्नात्वा सूर्यं समभ्यर्च्य प्राणायामेन शुध्यति ॥

---

१ क. °तमन्याहुं । २ छ. 'हुत्वाऽतीतसं' । ३ क. 'नोव्रत' । ४ क. °सकृद्भोज' । ५ क. °भिर्मुहु° । ६ क. 'हरेवोप' ।

दिवा स्वपिति चेत्स्वस्थो ब्रह्मचारी कथंचन ।
स्नात्वा सूर्यं समभ्यर्च्य गायत्र्यष्टशतं जपेत् ॥
ब्रह्मसूत्रं विना येन संध्योपास्तिर्यदा कृता ।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपेत्स्नात्वा समाहितः ॥
ब्रह्मसूत्रं विना यस्तु भोजनं कुरुते द्विजः ।
गायत्र्यष्टशतेनैव प्राणायामेन शुध्यति " ॥

**यमः**—" सूर्योदये तु यः शेते स सूर्योदित उच्यते ।
अस्तंगते तु यः शेते सूर्यनिर्मुक्त एव सः ॥
ब्रह्मस्तेनावुभौ सम्यगहोरात्रोषितौ शुची ।
गायत्र्या दशसाहस्रं कुर्यातामाह्निकं पृथक् " ॥

**सूर्योदितोऽहरुपोषितः । सूर्यनिर्मुक्तो रात्रिमुपोषितः । एवमुभावहोरात्रोपोषितौ गायत्र्या दशाधिकं सा(स)हस्रजपमहनि कुर्याताम् ।**

**वसिष्ठः**—" सूर्याभ्युदितः सन्नहस्तिष्ठेत्सावित्रीं जपेत् ।
एवं सूर्याभिनिर्मुक्तो रात्रावासीत " ॥

**विष्णुः**—" सूर्याभ्युदितो निर्मुक्तः सचैलस्नातः सावित्र्यष्टशतमावर्तयेत् " ।

**संध्याधिकारे बौधायनः**—

" तत्र सायमतिक्रमे राज्युपवासः, प्रातरतिक्रमेऽहरुपवासः " ।

**आपस्तम्बः**—" स्वपन्नभिनिर्मुक्तोऽनश्नन्वाग्यतो रात्रिमासीत, श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वयमभ्युदितोऽनश्नन्वाग्यतोऽहस्तिष्ठेदातमितः प्राणानायच्छेदित्येके " ।

**अनश्नन्भुञ्जानः । आतमित आक्रान्तः । अस्तगमनाभिप्रायं वा ॥२८२॥**

**किं च—**

## मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषो[1] व्रतानि च ॥२८३॥

**ब्रह्मचारिणा मधुभक्षणे शिष्टभोजनीयमांसभक्षणे च प्राजापत्यः कृच्छ्रः कार्यः । उपक्रान्तस्य ब्रह्मचर्यस्य वेदव्रतानां वाऽन्यतमस्य शेषः कार्यः । पुनर्ब्रह्मचर्यारम्भशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं व्रतशेषकर्तव्यताविधिः । तदाशङ्का च पुनरुपनयनविधानात् । तथा च संवर्तः—**

" ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधुमांसे कथंचन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं मौञ्जीहोमेन शुध्यति " इति ॥

**मांसस्य च शिष्टभोजनीयस्य भक्षण एतत् । यदाह वसिष्ठः—**

---

१ ङ. शेषव्र° । २ क. °धुमांसभक्षणे शिष्टो भोजनीयमधुमांसभक्षणे च ।

" ब्रह्मचारी चेन्मांसमश्नीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं
द्वादशरात्रं चरित्वा व्रतशेषं समापयेत् " इति ।

एतच्चाव्याधितस्य । व्याधितस्य तु मधुमांसभक्षणेऽपि न दोष इत्याह स एव—

" स चेद्व्याधीयीत[1] (धितः) कामं गुरोरुच्छिष्टं भेषजार्थं सर्वं प्राश्नीयात् " इति ।

मधुमांसाद्यविप्रतिषिद्धम् । अकामोपनते च मधुभक्षणेऽपि न दोष इत्याह स एव—

" अकामोपनतं मधु वाजसनेयके[2][3] न दुष्यतीति विज्ञायते " ।

वाजसनेयं यजुःशाखान्तरम् । ब्रह्मचार्यधिकारे पैठीनसिः—

" मधुमांसप्राशने त्रिरात्रं पुनरुपनयनं च " ।

प्राजापत्यासमर्थविषयमेतत् ।

मनुः—" मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावृत्तको द्विजः ।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् " ॥

मासिकमत्र प्रतिमासं मृताहनिमित्तं यद्विहितं तद्ग्राह्यं, न पुनरामावास्यम् ।

" सूतिकान्नं नवश्राद्धं मासिकान्नं तथैव च ।
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयात्त्रिरात्रेण स शुध्यति "

इति संवर्तवाक्येन नवश्राद्धसाहचर्यात् ।

बौधायनः—" स चेद्व्याधीयीत[4] (धितः) कामं गुरोरुच्छिष्टं भेषजार्थं सर्वमश्नीयात् । येनेच्छेत्तेन विचिकित्सेत् । स यदाऽगदो भवति तदोत्थायाऽऽदित्यमुपतिष्ठेत, हंसः शुचिषदित्येतयर्चा " ।

अगदो रोगरहितः ।

वृद्धयाज्ञवल्क्यः—"ब्रह्मचारी व्रती चैव ब्राह्मणी विधवा च या ।
अशित्वा मधुमांसानि त्रिरात्रेणैव शुध्यति " इति ॥

यमः—" मधु मांसं च योऽश्नीयाच्छ्राद्धं[5] सूतकमेव च ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् " ॥

छर्दनाभाव[6] एतत् ।

शातातपः—"सूतके तु यदा विप्रो ब्रह्मचारी विशेषतः ।
पिबेत्पानीयमज्ञानात्समश्नीयात्स्पृशेत वा ॥

---

१ क. °धीयते का° । २ क. °सनीयके । ३ क. °सनीयं । ४ क. °धीयते का । ५ क. °च्छ्राद्धसु° । ६ छ. छन्दानुभा°।

पानीयपाने कुर्वीत पञ्चगव्यस्य भक्षणम् ।
त्रिरात्रं भोजने प्रोक्तं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते " ॥

**विष्णुः**—" ब्रह्मचार्यामश्राद्धाशने त्रिरात्रमुपवसेत् " ॥

**हारीतः**—" ब्रह्मचारी तु यो भुङ्क्ते शूद्रान्नं ज्ञानदुर्बलः ।
पराकेण विशुद्धिः स्यान्निष्कृतिर्नान्यथा भवेत् ॥
उच्छिष्टं क्षत्रियविशोः शूद्रोच्छिष्टमथापि वा ।
ब्रह्मचारी यदाऽश्नीयात्तस्य शुद्धिः कथं भवेत् ॥
स्नानं तथैव कृत्वा तु गायत्र्यष्टशतं जपेत् ।
उपोष्य द्वादशदिनमेवं शुद्धिः पृथक्पृथक् ॥
एवमेव गृहस्थस्य पादोनमिति निश्चयः " ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथाक्रमं क्षत्रियवैश्यशूद्रोच्छिष्टप्राशन एतत् । एतच्च ब्राह्मणस्य वैश्यशूद्रोच्छिष्टं क्षत्रियस्य च शूद्रोच्छिष्टमश्नतः किंचिदधिकं कल्प्यम् ।

**देवलः**—" सूतान्नं मधु मांसं च यद्यश्नाति व्रती क्वचित् ।
त्रिरात्रोपोषितः सम्यग्यात्रिमेकां जले वसेत् " ॥

अनेन रात्रौ जलवासो विहितः । मनुना त्वहनि, ततो विकल्पः । दोषभूयस्त्वे तु समुच्चयः ॥ २८३ ॥

ब्रह्मचारिप्रसङ्गाद्गुरुविषयं किंचिदाह—

**कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात्प्रहितो म्रियते यदि ॥**

ब्रह्मचारी गुरुणा प्रहितः प्रेषितः शक्यमानार्थविषये यदि म्रियते तदा गुरुः प्राजापत्यप्रमुखांस्त्रीन्कृच्छ्रानाचरेत् । अत्र पूर्ववाक्याद्ब्रह्मचारीति शब्दोऽनुवर्तते । अत एव ब्रह्मचारिप्रायश्चित्ते प्रकृते प्रसङ्गाद्गुरोः प्रायश्चित्तमुपदिश्यते ॥

**प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा प्रसाद्यैव विशुध्यति ॥ २८४ ॥**

गुरोः प्रतिकूलं दुःखकरं कृत्वा तं प्रसाद्य व्यपगतदुःखमकोपं च कृत्वा विशुध्यत्यपापो भवति । अत्र वसिष्ठः—

" गुरोश्चालीकनिर्बन्धे सचैलस्नातो गुरुं
प्रसादयेत्पूतो भवतीति विज्ञायते " ।

---

१ क. °स्य वै° ।

एतदमतिपूर्वकं सकृदल्पापराधविषयम् । अत्यन्तसानुबन्धमतिपूर्वकमहापराधे तु गुरुप्रातिकूल्ये द्वादशवार्षिकब्रह्महव्रतप्राप्त्यर्थमुक्तं मनुना—" परिरम्य गुरुं तथा " इति । यद्वा पितृविषयं मानवं वासिष्ठं वा, याज्ञवल्क्यीयं चौपचारिकगुरुविषयम् ।

विष्णुः—" समुत्कर्षानृते गुरोश्चालीकनिर्बन्धे तदाक्षारणे च मासं पयसा वर्तेत " ।

स्वल्पाभ्यासविषयमिदम् ॥ २८४ ॥

सामान्यतः प्राप्ते प्रायश्चित्तनिमित्तत्वे क्वचिद्विशेषे तदपवादमाह—

**क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम्+ ॥**

उपकारमुद्दिश्य चिकित्सादौ वा क्रियमाणे यद्युपकर्तव्यो विप्रादिः प्राणी म्रियते, तदौषधादिकर्तुर्हिंसानिमित्तं न पातकं भवतीति चिकित्सादि च सम्यग्ज्ञात्वा यत्नेन च कुर्वतां पातकाभावः । अज्ञानादनादराद्वा तत्क्रियानिमित्ते प्राणिमरणे भवत्येव तत्कर्तुः पापयोगः । अत एव यत्नग्रहणं संवर्तः करोति—

" यत्नेन[1] च चिकित्सार्थे गूढगर्भविमोचने ।
यत्ने कृते विपत्तिः स्यात्प्रायश्चित्तं न विद्यते " इति ॥

विप्रग्रहणं प्राणिमात्रप्रदर्शनार्थम् ॥

मिथ्याभिशापकर्तुः प्रायश्चित्तमाह—

**महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम् ॥२८५॥**
**अब्भक्षो मासमासीत स जापी नियतेन्द्रियः ॥**

महापापेन ब्रह्महत्यादिनोपपापेन गोवधादिना वा यो मृषा मिथ्या परमभिशंसेदनेनेदं पापं कृतमिति संव्यवहर्तॄन्प्रति ब्रूयात्, असौ मासमुदकभक्षः संयतेन्द्रियो जपन्नासीत । महापातकशंसने सकृत्कृते, उपपातकशंसने चासकृत्कृते प्रायश्चित्तमिदं द्रष्टव्यम् । महापापोपपापाभ्यामिति विशेषणे तृतीया । यज्जपनीयं तदाह वसिष्ठः—

---

+ इत उत्तरं ङ. पुस्तके—" मिथ्याभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः । मिथ्याभिशस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन् " इत्यधिका स्मृतिरुपलभ्यते । अयं श्लोकस्तटीका चात्र पूर्वमेव गता १०९२ पृष्ठे ।

---

१ क. °त्तत्वे । २ छ. °न स चिं° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

" ब्रह्महत्यामनृतेनाभिशस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा
मासमब्भक्षः शुद्धः शुद्धवतीरावर्तयेदश्वमेधावभृथं वा
गच्छेदेतेनैवाभिशस्तो व्याख्यातः " ।

**मिथ्याभिशस्तोऽप्येवमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादित्यर्थः ।**

**शङ्खलिखितौ**—" नास्तिकः कृतघ्नः कूटव्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो
मिथ्याभिशंसी चेत्येते षड्वर्षाणि ब्राह्मणगृहेषु
भैक्षं चरेयुः । संवत्सरं वा धौतभैक्षमश्नीयुः ।
षण्मासान्वा गा अनुगच्छेयुः " इति ।

**एतदत्यन्ताभ्यासे सानुबन्धे तदभिशंसननिमित्ते च ब्राह्मणस्याङ्कननिर्वासनादिदण्डप्राप्तौ सत्यां वेदितव्यम् । ब्राह्मणमभिशंसतो यान्युक्तानि प्रायश्चित्तानि तत्राऽऽनुलोम्ये तु वर्णानामभिशापे प्रायश्चित्तह्रासः, प्रातिलोम्ये तु तद्वृद्धिः कल्प्या । अत एव**—

" प्रातिलोम्यापवादे तु द्विगुणत्रिगुणा दमाः ।
वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः "

**इति प्रातिलोम्यानुलोम्यवर्णाभिशापे वृद्धिह्रासौ दण्डस्योक्तौ ।**

**यमः**—" क्रोधादुक्त्वा[1] त्वगम्यात्वं भार्यायां हि नरः क्वचित् ।
प्रायश्चित्तं चरेत्कृच्छ्रं तस्य पापस्य शुद्धये ॥
प्राजापत्यं चरेद्विप्रः क्षत्रियो दिवसान्नव ।
षड्रात्रं तु चरेद्वैश्यस्त्रिरात्रं शूद्र आचरेत् " ॥

**सुवर्चलाधिकारे हारीतः**—

" अनृताभिशंसनाक्रोशे गुरूणां पैशुनेषु च ।
एकविंशतिरात्रं तु पिबेत्तामेव यत्नतः " ॥

**तामेव सुवर्चलामित्यर्थः ।**

**शातातपः**—" देवगुरुब्राह्मणातिक्रमे त्रिसाहस्रो जपो गायत्र्याः " ।

**आपस्तम्बः**—" अनाक्रोश्यमाक्रोश्यानृतं चोक्त्वा त्रिरात्रमक्षारलवणं
भोजनं शूद्रस्य सप्तरात्रमभोजनं स्त्रीणां चैतत् " ।

**विष्णुः**—" विप्रस्य वधसंयुक्तं कृत्वा तु शपथं मृषा ।
ब्राह्मणो यावकान्नेन तीव्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥
क्षत्रियस्य पराकं स्यात्प्राजापत्यं तथा विशः ।
वृषलस्य त्रिरात्रं तु व्रतं ब्राह्मणवच्चरेत् " ॥

---

१ छ. °क्षः शुद्ध्यै । २ छ. °क्त्वा तु ग° ।

शङ्खः—" आक्रोशानृतवादेषु एकरात्रमुपवासः " ॥ २८५ ॥

अभिशंसकप्रायश्चित्तप्रसङ्गेनाभिशस्तप्रायश्चित्तमाह—

**अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव च ॥ २८६ ॥**
**निर्वपेत पुरोडाशं वायव्यं चरुमेव वा ॥**

मिथ्याभिशस्तः प्रायश्चित्तं चरेत् । आग्नेयमग्निदै(दे)वत्यं चरुं पुरोडाशं वा यद्वा वायव्यं चरुं पुरोडाशं निर्वपेत । एते च पक्षा येन पापेनाभिशस्तास्तद्गौरवलाघववशेन शक्त्यनुबन्धादिवशेन वा व्यवस्थाप्याः । यत्तु वसिष्ठेन मिथ्याभिशापेन मासं यावदब्भक्षतायां शुद्धवतीजपं च विधायोक्तम्—'एतेनैवाभिशस्तो व्याख्यातः' । इति, तन्महापापेनाभिशस्तस्य द्रष्टव्यम् । अभिशस्तस्य चानपराधिनोऽपि परिवित्तेरिव वचनात्प्रायश्चित्तम् । यच्च पैठीनसिनोक्तम्—

" अनृतेनाभिशस्यमानः कृच्छ्रं चरेन्मासं पातकेषु द्विमासम् " ।

इति, तद्बहुभिः पातकैरभिशस्तस्य वेदितव्यम् । पातकेषु महापातकेष्वितिं यावत् ।

बौधायनः—" पातकाभिशंसने कृच्छ्रः । तदर्धमभिशस्ते "

अल्पतरदोषाभिशापविषयमेतत् ॥ २८६ ॥

किं च—

**अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छंश्चान्द्रायणं चरेत् ॥२८७॥**

शास्त्रीयविनियोगमन्तरेण ज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वा भ्रातुर्जायां गच्छंश्चान्द्रायणं वक्ष्यमाणमाचरेत् । एतच्च सकृदमतिपूर्वके गमने मतिपूर्वके वा प्राक्क्रियासिद्धेर्निवृत्तौ विप्लुतभ्रातृजायाविषयं वा । अभ्यासे त्वमतिपूर्वके शङ्ख आह—

" परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयाताम् ।
ज्येष्ठभार्यायामनियुक्तो गच्छंस्तदेव कनिष्ठभार्यां वा" इति ।

मतिपूर्वके साभ्यासे तु गुरुतल्पैगव्रतातिदेशः ॥ २८७ ॥

किं च—

**त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां विशुध्यति* ॥**

---

* पुरस्तात्—११५१ पृष्ठे विद्यमानस्त्रीन्कृच्छ्रानिति श्लोको ङ. पुस्तक इतः परं दृश्यते ।

---

१ ङ. °पेत्तु पु° । २ छ. °ते चाभि° । ३ क. °सं महापा° । ४ छ. °ति वचनात् । बौ° । ५ छ. °ल्पव्रतादिनिर्दे° ।

उदक्यां रजस्वलां स्वभार्यां गत्वा त्रिरात्रमुपोष्य तदन्ते घृतं प्राश्य विशुध्यति, पापादस्माद्विमुच्यते । एतच्च स्वभार्यायां मतिपूर्वके सकृद्गमने । अमतिपूर्वके तु सकृद्गमने शातातप आह—

" अनुदकमूत्रपुरीषकरणात्सचैलस्नानं महाव्याहृतिभिर्होमश्च, रजस्वलाभिगमने चैतदेव । अमानुषीषु गोवर्जम् " इति ।

परदारेषु मतिपूर्वके सकृद्गमने वसिष्ठ आह—

" रजस्वलाव्यवाये कृष्णं वृषभं दद्याच्छुक्लिङ्गम् " इति ।

व्यवायो मैथुनं, लिङ्गं लाञ्छनम् । यत्तु मनुनोक्तम्—

" अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् "

इति, तन्मतिपूर्वके साभ्यासे च परस्त्रीगमने । अस्मिन्नेव विषयेऽनिच्छन्तीं गच्छन्तं प्रति संवर्तः—

" रजस्वलां तु यो गच्छेद्गर्भिणीं पतितां तथा ।
तस्य पापविशुध्यर्थमतिकृच्छ्रं विशोधनम् " ॥

शङ्खलिखितौ—" रजस्वलावधूताभिगमने त्रिरात्रमुपवासो घृतप्राशनं च " ।

अवधूता बन्धकी । तद्गमनं च पृथङ्निमित्तम् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे श्रोत्रियभार्यायां गर्भपर्यन्ते गमने द्वादशवार्षिकं प्रकृत्य शङ्ख आह—

" पादं तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा " ।

शूद्रहत्यायामुदक्यागमने च निमित्ते द्वादशवार्षिकस्य पादं त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यादित्यर्थः । अस्मिन्नेव गर्भाभावे श्रोत्रियपत्नीत्वाभावे वा बृहस्पतिराह—

" अकामात्पुक्कसीं गत्वा कामाद्गत्वा रजस्वलाम् ।
शिष्यभार्यां नरो गत्वा पराकेण विशुध्यति " ॥

शातातपः—" रजस्वलागमने सप्तरात्रम् " ।

मानवेन समानविषय[मिद]म् । इह सर्वत्र परभार्यारजस्वलागमने पारदार्यप्रायश्चित्तं पृथक्कार्यमन्योन्यनिरपेक्षनिमित्तभेदात् । यत्र तु निमित्तान्तराविनाभूतं तत्रैकमेव नैमित्तिकं प्रायश्चित्तम् । यथा गुरुतल्पगमने । पारदार्याविनाभावि हि गुरुतल्पगमनम् । तत्र हि रजस्वलागमनं पृथङ्निमित्तम् । अविनाभावविरहात् । एवं दिवागमनं पर्वगमनं च । ब्रह्महत्यां च कुर्वतः शस्त्रोद्यमनादिनिमित्तं पृथक्कार्यमेव, तेन विनाऽपि हिंसा भवत्येव । यथा वस्त्रादिना मुखनासिकापिधानाद्विषदानाद्गृहपातनादिति ॥

असत्प्रतिग्रहप्रायश्चित्तमाह—

**गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी माससमेकं पयोव्रतः ॥ २८८ ॥**
**गायत्रीजप्यनिरतो मुच्यतेऽसत्परिग्रहात् ॥**

गोष्ठे गोनिवासस्थान एव वसन्ब्रह्मचारी स्त्रियमनुगच्छन्पय एव व्रतयन्पिबन्सावित्रीजपोद्यतः । एवं माससमेकं सातत्येन वर्तमानोऽसत्परिग्रहान्मुच्यते । असतो निन्दितात्प्रतिग्रहोऽसत्प्रतिग्रहः । न पुनरसतः प्रतिषिद्धप्रतिग्रहस्य प्रतिग्रहोऽसत्प्रतिग्रहः । न हि तदुपपातकेषु पठितम् । निन्दितेभ्यो धनादानं तु मनुनोपपातकमुक्तम् । गोष्ठे वासाद्यप्येतत्प्रायश्चित्तत्वेन स एवाऽऽह—

" जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् " इति ॥

प्रतिगृहीतं धनं त्यक्त्वैव प्रायश्चित्तं कार्यम् । यदाह मनुः—

" यद्ग्रहीतेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तदुत्सर्गेण शुध्यन्ति जपेन तपसैव च " इति ॥

कश्यपः—" असत्प्रतिग्रहे मासं वसन्गोष्ठे पयः पिबेत् ।
चान्द्रायणं वा गोघ्नस्य यथोक्तं व्रतमाचरेत् " ॥

चान्द्रायणमाचरेत् । गोघ्नस्य वा त्रैमासिकं वा व्रतमाचरेदित्यर्थः ।

चतुर्विंशतिमतात्—

" भिक्षामात्रे गृहीते तु पुण्यं मन्त्रमुदीरयेत् ।
प्रतिग्रहेषु सर्वेषु षष्ठांशं परिकल्पयेत् ॥
जपहोमादिकं कुर्याज्ज्ञात्वा यज्ञप्रतिग्रहौ ।
+पवित्रेष्ट्या विशुध्यन्ति सर्वे घोराः प्रतिग्रहाः ॥
ऐन्दवेन मृगारेष्ट्या कदाचिन्मित्रविन्दया ।
देव्या लक्षजपेनैव मुच्यन्ते दुष्प्रतिग्रहात् " ॥

परिकल्पयेद्द्विजेभ्यो दद्यादित्यर्थः । देवी गायत्री ।

उशना—" पतिताद्द्रव्यमादत्ते भुङ्क्ते वा ब्राह्मणो यदि ।
कृत्वा तस्य समुत्सर्गमतिकृच्छ्रं चरेद्द्विजः " ॥

---

+ अत्रत्यपाठस्तु मिताक्षरास्थ एव परिगृहीतः । क. पुस्तके तु " पवित्रेष्टया विशुध्यन्ति मुच्यन्तेऽसत्प्रतिग्रहात् । ऐन्दवेन मृगा गोष्ठा कदाचिन्मित्रविक्रयात् " इति । छ. पुस्तके श्लोकोऽयं त्रुटितः ।

---

१ क. °यमाग° । २ क. °मादिशेत् । चा° । ३ छ. °न्ति मुच्यते दुष्प्रतिग्रहात् । प° ।

हारीतः—" मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्याः सहस्रं जपेत् ।
पञ्च मध्यमे दशोत्तमे द्वादशरात्रं पयोव्रतः । शतसह-
स्रमतिप्रतिग्रहेषु " ।

मध्यमप्रतिग्रहेषु पञ्च सहस्राणि जपेत् । प्रतिग्राह्यद्रव्यमध्यमत्वेन च प्रति-ग्रहस्य मध्यमत्वम् । एवमुत्तमप्रतिग्रहे दश सहस्राणि ।

अत्र देवलः—" नवोत्तमानि चत्वारि मध्यमानि विधानतः ।
अधमानीति शेषाणि त्रिविधत्वमिदं विदुः ॥
अन्नं दधि मधु त्राणं गोभूरुक्माश्वहस्तिनः ।
दानान्युत्तमदानानि उत्तमद्रव्यदानतः ॥
विद्यादाच्छादनावासपरिभोगौषधानि च ।
दानानि मध्यमानीति मध्यमद्रव्यदानतः ॥
उपानत्प्रेङ्खयानानि च्छत्रपात्रासनानि च ।
दीपकाष्ठफलादीनि चरमं बहुवार्षिकम् ॥
बहुत्वादर्थजातानां संख्या शेषेषु नेष्यते ।
अधमान्यवशिष्टानि सर्वदानान्यतो विदुः " ॥

अतिदानं छान्दोग्येऽभिहितम्—
" त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती " इति ॥

अत्र गाव इति बहुवचनम[पि]विवक्षितम् । तेन तदबहुत्वमुत्तमः प्रतिग्रहः ।

तथा—" राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा मासमप्सु सदा वसेत् ।
षष्ठे काले पयोऽश्नंस्तु पूर्णे मासे प्रमुच्यते ॥
तर्पयित्वा द्विजान्कामैः सततं नियतव्रतः ।
तपसैवेज्यया वाऽपि राजपापात्प्रमुच्यते " ॥

सुमन्तुः—" शूद्रयाजकः सर्वद्रव्यपरित्यागात्पूतो भवति " ।

बौधायनः—" बहुप्रतिग्राह्यस्य वा प्रतिगृह्यानाश्यस्य वाऽन्नमाशि-
त्वाऽयाज्यं वा याजयित्वा प्रतिग्राह्यस्य वाऽतिप्रति-
गृह्य तरत्समन्दीयं जपेत् " ॥ २८८ ॥

किं च—

**व्रीङ्कृच्छ्रानाचरेद्व्रात्ययाजकोऽभिचरन्नपि॥ २८९ ॥**
**वेदप्लावी यवाश्यब्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥**

व्रात्यानां सावित्रीपतितानां याजक ऋत्विक्माजापत्यप्रमुखांस्त्रीन्वक्ष्य-

प्राणान्कृच्छ्रानाचरेत् । एतदेवाभिचारमपि कुर्वन्नाचरेत् । अभिचारश्च बौधायनेन "षट्स्वभिचरन्पतति" इत्यग्निदप्रभृतिष्वाततायिषु षट्सु विहितः। तदन्य एव प्रायश्चित्तनिमित्तम् ।

मनुः—"व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति" ॥

अन्त्यकर्मान्त्येष्टिः । मूल्याय कुर्वत एतन्न धर्माय । क्षत्रियादीनामन्त्यकर्म कुर्वतो ब्राह्मणस्यैवैतत् । द्विरात्रादिर्द्वादशरात्रान्तोऽहर्गणोऽहीनः ।

शातातपः—"पतितसावित्रीकान्नोपनयेन्नाध्यापयेद्य एतानुपनये-
दध्यापयेद्वा स उद्दालकव्रतं चरेत्" ।

कामतोऽभ्यासविषयमेतत् । उद्दालकव्रतमुक्तम् । शूद्रपुरोहितयाजकाध्यापकानुवृत्तौ यमः—

"तेषामपि च सर्वेषां प्रत्यापत्तिं च याचताम् ।
भैक्षान्नमुपयुञ्जानो द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥
फलं नागह्रदे तोये प्लावयेदविचारितम् ।
अर्थोत्सर्गेण यत्नान्ते तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥
अक्षारलवणां रूक्षां पीत्वा ब्रह्मसुवर्चलाम् ।
तस्योपनयनं कृत्वा व्यवहार्यस्ततो भवेत्" ॥

फलं शूद्रादवाप्तोऽर्थः । यत्नः प्रायश्चित्तम् ।

"त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन्सहस्रपरमं
वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते"

इत्यनुवृत्तौ वसिष्ठः—

"एतेनैव गर्हिताध्यापका व्याख्याताः । दक्षिणा-
त्यागाच्च पूता भवन्तीति विज्ञायते" ।

तथा—वेदप्लावी वेदविप्लावकः । प्रतिषिद्धे देशे काले वा स्वयमशुचिश्च[3] योऽधीते यच्च(श्च) प्रतिषिद्धमध्यापयति प्रतिषिद्धादधीते चेत्येवमादिर्वेदविप्लावकः । तथा च शरणागतमयं मे प्राणांस्त्यक्ष्यति[4] इति परिभाव्याऽऽगतं परित्राणसमर्थोऽपि यः परित्यजति तावुभौ संवत्सरं तावद्यावाशिनौ स्याताम् । तथा च मनुः—

"शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य वा द्विजः ।
संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपकर्षति" ॥

---

१ क. °चारं कु° । २ छ. °ति । अग्निदप्रभृतीति । अग्नि° । ३ क. °श्च प्र° । ४ क. °स्यायत ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

**पितृमातृत्यागिनोऽपाङ्क्त्य(क्त)मध्यवर्तितया प्रायश्चित्तविशेषो मनुनोक्तः—**

" षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।
होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्त्या(क्ता)नां विशोधनम् " ॥

**अपाङ्क्त्या(क्ता)श्च श्राद्धकल्पे तेनैव दर्शिताः—**

" ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः "

**इत्यादिना । सुतत्यागादिषु साधारणान्येवोपपातकप्रायश्चित्तानि यथाशक्ति यथानुबन्धमभ्यासप्रत्ययाप्रत्ययपूर्वकं चापेक्ष्य कल्प्यानि । अत्र हारीतः—**

" कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारत्यागी सुरामद्यपः शूद्रयाजको गुरोः प्रतिकर्ता नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः कूटव्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी पतितसंव्यवहारी मित्रध्रुक्शरणागतघाती प्रतिरूपकवृत्तिरित्येते पञ्चतपोभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुः । ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमश्नीयुः " इति ।

**अत्र च कन्यादूषीतिशब्देन कन्यादूषकत्वमात्रं न विवक्षितं किंतु प्रातिलोम्येन यः कन्यादूषकः स एव, प्रायश्चित्तभूयस्त्वात् । अत्रैव विहितं दण्डभूयस्त्वं स्मरति—**

" सकामास्वानुलोम्येन न दोषस्त्वन्यथा वधः " इति ।

**वदँतस्तत्र सवर्णकन्यादूषणे त्रैमासिकं चान्द्रायणं वा दोषानुसारेण कल्प्यम्[1] । प्रातिलोम्यदूषणे तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रचर्या मासं पञ्चगव्याशनमित्यादि कल्प्यम् । यत्तु शङ्खेनोक्तम्—**

" कन्यादूषी सोमविक्रयी कृच्छ्रमष्टं चरेताम् "

**इति, तदपि प्रतिलोमकन्यादूषणविषयम् । प्रातिलोम्येऽपि शूद्रस्य वध एव, दूषणे तु करच्छेदः, "उत्तमायां वधस्तथा" इति दण्डदर्शनात् । स्वाध्यायत्यागे प्रायश्चित्तविशेषमाह वसिष्ठः—**

" ब्रह्मोज्झः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदमाचार्यात् " ।

**अत्र च यावन्तो द्वादशरात्रसाध्याः कृच्छ्रास्ते सर्वे विधीयन्ते विशेषवचनात् । तत्रात्यन्तापदि स्वल्पकाले च वेदत्यागे प्राजापत्यः । अधिककाले**

---

* वदत इत्यसंबद्धमिव भाति ।

---

१ क. °त्यागिषु । २ क. 'बन्धं साभ्या' । ३ छ. °म् । आनुलोम्येन दू' ।

त्वतिकृच्छ्रः। ततोऽपि कालभूयस्त्वे पराक इत्यनया दिशा कल्प्यम्। यदा तु धनार्जनव्यग्रतया चिरकालं वेदाध्ययनं त्यजति, तदा साधाराणानामुपपातकप्रायश्चित्तानामेकं प्रायश्चित्तं कल्प्यम्। तत्र मन्दतरायामापदि ब्रह्मोज्झस्य त्रैमासिकं गोघ्नप्रायश्चित्तं कल्प्यम्। मन्दायां चान्द्रायणमित्येष कल्पनाप्रकारः। यदि नास्तिक्याद्ब्रह्मोज्झो भवति, तस्य ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयम्। "अधीतस्य च नाशनम्" इति तत्समत्वविधेः। अग्नित्यागेऽपि वसिष्ठेनोक्तम्—

"योऽग्नीनपविध्येत्स कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधानं कारयेत्" इति।

अत्रापि पूर्वद्वादशरात्रसाध्यानेककृच्छ्रप्राप्तावग्नित्यागकारणं तत्त्यागकालाल्पत्वं भूयस्त्वं चापेक्ष्य लघुगुरुकृच्छ्रद्वादशरात्रत्वं कल्प्यम्।

मनुः—"अग्निहोऽयपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत्" ॥

मासमग्नीनपविध्येत्यन्वयः। वीरो यजमानः। अधिककाले तु तत्त्यागे त्रैमासिकं गोघ्नप्रायश्चित्तम्। यत्तु हारीतेनोक्तम्—

"संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादद्यात्।
द्विवर्षोत्सन्ने सोमायनचान्द्रायणे कुर्यात्। त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनरादद्यात्"

इति, तदकामतोऽग्न्युत्सादे[2]। सोमायनं चाग्रे वक्ष्यते।

शङ्खः—"अग्न्युत्सादी संवत्सरं चान्द्रायणं चरेद्वां च दद्यात्"।

संवत्सरत्रयोत्सन्नविषयमेतत्। संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेदित्यनुवृत्तौ गौतमः—

"अग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु"।

कृच्छ्राब्दे[3]नोर्ध्वं तुल्यमेतत्(?)।

पैठीनसिः—"अग्न्युत्सादी तप्तकृच्छ्रेण"

प्राङ्मासादाधानस्यैतत्। शङ्खलिखितौ—

"अग्न्युत्सादी मिथ्याधीती च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेताम्"।

प्राकृतब्रह्मचर्यात्मीयेन तुल्यमेतत्। मिथ्याधीती वेदविप्लावकः। अत्रैव विष्णुनोक्तो विशेषः—

"वेदाग्न्युत्सादी त्रिषवणस्नायी अधःशायी
संवत्सरं भैक्षेण वर्तयेत्" इति।

भरद्वाजेन तु यदुक्तम्—

---

१ छ. तत्रामन्दतारा'। २ क. °त्सादने सो°। ३ छ. °ब्देन नो°।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

" प्राणायामश्चतुर्विंशतिरात्रादुपवासश्च त्रिंशद्रात्रात्तिस्रो रात्रीः षष्टिरात्रादत ऊर्ध्वमा संवत्सरात्प्राजापत्यमत ऊर्ध्वं कालबहुत्वे दोषबहुत्वे दोषगुरुत्वम् "

इति, तद्गृह्याग्न्युत्सादिविषयम्।

" द्वादशातिक्रमे ऽयहमुपवासो मासातिक्रमे द्वादशाहं संवत्सरातिक्रमे मासोपवासः पयोभक्षणं वा "

इति, तदपि कामतो गृह्याग्न्युत्सादिविषयमेव। सुतत्यागो यदि विक्रयात्मकस्तत्प्रायश्चित्तमाह प्रचेताः—

" अनृतवाक्तस्करो राजभृत्यो वृक्षारोपकवृत्तिर्गरदोऽग्निदोऽध्वगजरथारोहवृत्ती रङ्गोपजीवी श्वागणिकः शूद्रोपाध्यायो माण्डिको नक्षत्रोपजीवी श्वावृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकित्सको देवलकः पुरोहितः कितवो मद्यपः कूटकारकोऽपत्यविक्रयी मनुष्यपशुविक्रेता चेति। तानुद्धरेयुः समेत्य न्यायतो ब्राह्मणा व्यवस्थया सर्वत्यागकाले चतुर्थकालाहाराः संवत्सरं त्रिषवणमुपस्पृशेयुः। तस्यान्ते देवपितृतर्पणं गवाह्निकं चेत्येवं व्यवहार्याः " इति।

एतच्च कामतोऽस्यन्ताभ्यासविषयम्। अत्र च श्राद्धप्रकरणोद्दिष्टा अपाङ्क्ता उक्तास्तेषामिदं वा मनूक्तं वा ' षष्ठान्नकालता मासम् ' इत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तं भवति। ये चात्रोपपातकिनः केचिद्विशेषतो न संवेशितास्तेषां सामान्यविहितानामुपपातकप्रायश्चित्तानामन्यतमं प्राप्नोति। तस्मिन्नेव विषये बौधायनोऽप्याह—

" अथाशुचिकराणि द्यूतमभिचारमनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिः समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो यच्च(श्च) तमध्यापयति नक्षत्रनिर्देशकश्चेति। द्वादशमासान्द्वादशार्धमासान्द्वादश द्वादशाहान्द्वादश षडहान्द्वादश ऽयहान्द्वादशाहं षडहं ऽयहमेकाहमित्यशुचिकरनिर्वेशः " इति।

---

१ क. मासंसं°। २ छ. °त्वे दोषगु°। ३ छ. श्वकवृ°। ४ क. °र्धका°। ५ क. °निवेश इ°।

श्वागणिको यः श्वगणेन जीवति । भाण्डिकोऽसंभाह्यवाक्यः । निर्वेशः प्रायश्चित्तम् ।

तथा—" समुद्रयानं ब्राह्मणन्यासापहरणं सर्वपण्यैर्व्यवहरणं भूम्यनृतं शूद्रसेवा यश्च शूद्रायामपि जायते तदपत्यश्च भवति तेषां तु निर्वेशः । चतुर्थकालाभितभोजिनः स्युरपोऽभ्युपेयुः सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैः स्वकीयं पापं घ्नन्ति " इति ।

एतच्च भूयोभ्यासविषयम् । हीनयोनिनिषेवणे शातातपः प्रायश्चित्तविशेषमाह—

" ब्राह्मणो राजन्यापूर्वी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत तां चोपयच्छेत । वैश्यापूर्वी तप्तकृच्छ्रं शूद्रापूर्वी कृच्छ्रातिकृच्छ्रं राजन्यश्चैवैश्यापूर्वी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत तां चोपयच्छेत " इति ।

राजन्यैव पूर्वा प्रथमभार्या यस्य स राजन्यपूर्वी स सवर्णामुद्वहेत । तां च राजकन्यामुपयच्छेत, स्वी कुर्यात् । एवमन्यत्रापि । एतदसमर्थविषयम् । समर्थस्य तु साधारणं त्रैमासिकं चान्द्रायणादि भवति । हीनयोनिनिषेवणेन हीनवर्णस्त्रीगमनं विवक्षितम् । तच्च यथावर्णक्रमेण परिणीताया गमने नोपपातकं, नापि परदारत्वे सति शक्यं वक्तुम् । तस्य पारदार्यशब्देनैव गृहीतत्वात् । तस्माद्व्युत्क्रमपरिणीतागमनविषयो वैश्यागमनविषयो वा हीनयोनिनिषेवणशब्दो व्याख्येयः । यद्वाऽन्त्यजातिस्त्रीगमनविषयः । तत्र संवर्तेनोक्तो वैश्यागमने प्रायश्चित्तविशेषः " पशुवैश्यागमने प्राजापत्यो विधेयः " इति । सकृदमतिपूर्वकगमनविषयं चैतत् । यत्तु यमेनोक्तम्—

" वैश्यागमनजं पापं व्यपोहन्ति द्विजातयः ।
पीत्वा सकृत्सकृत्तप्तं सप्तरात्रं कुशोदकम् "

इति, तदकामतो द्विस्त्रिरभ्यासे कामतो वा सकृद्गमने द्रष्टव्यम् । यत्तु यमेनैव वैश्यागमने गुरुतल्पव्रतादिकमुक्तं, यथा—

---

१ क. °सत्यवा° । २ क. निवेशः प्रा° । ३ क. °नुकालम् । स्था° । ४ क. पूर्वी प्र° । ५ छ. °न्यामुप° ।

" गुरुतल्पव्रतं केचित्केचिच्चान्द्रायणं व्रतम् ।
गोघ्नस्येच्छन्ति केचिच्च केचिदप्यवकीर्णिनः "

इति, तन्मतिपूर्वकाभ्यासविषयतया योज्यम् । अनाश्रमवासे हारीत आह—

" अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं चरित्वाऽऽश्रममुपेयात् । द्वितीये कृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमत ऊर्ध्वं चान्द्रायणम् " इति ।

आपद्विषयमेतत् । अनापदि त्रैमासिकं साधारणमुपपातकप्रायश्चित्तम् । निन्दितान्नादनं मनुनोपपातकमुक्तम् । अन्नस्य च निन्दितत्वं स्वभावकाल-संपर्कक्रियाभावपरिग्रहैः पोढा भवति । तत्र स्वभावाच्छुनादेः । कालतः शुक्तादेः । संपर्काच्छ्वस्पृष्टादेः । क्रियातो हस्तदत्तव्यञ्जनादेः । भावादिक्षु-रसादेः । भवति हि कस्यचिदिक्षुरसे सुरेयमिति भावः । परिग्रहात्तु पतितान्नादेः ।

अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्ते व्यवस्थामाह विष्णुः—

" विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये मतम् ।
वैश्येऽर्धं पादमेकं वा शूद्रजातिषु शस्यते " इति ॥

अत्र मनुः—

" छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥
अमत्यैतानि षड्जग्ध्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेपूपवसेदहः " ॥

मतिपूर्वके छत्राकादिभक्षणे पातित्यं द्विजातिकर्महानिलक्षणम् । प्रायश्चित्तं तत्र सुरापव्रतात्मकमेव ।

" ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कूटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् "

इति सुरापानसमत्वं मनुनैवोक्तम् ।

अमत्या साभ्यासभक्षणे यतिचान्द्रायणम् । शेषेष्वभक्ष्येषु भक्षितेष्वहरु-पवासः । चतुर्विंशतिमतात्—

" लशुनं गृञ्जनं चैव तृणराजफलं तथा ।
नीलीं चैव द्विजो भुक्त्वा चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥

अकामतोऽभ्यासे कामतो वा सकृद्भक्षण एतत् । तृणराजस्तालः ।

---

१ छ. °कीलिनः ।

अलाबु क्षुद्रवृन्ताकं कुसुम्भकमकण्टकम् ।
नालिकांशाणपुष्पं च जग्ध्वा दिनममोजनम् ॥
कन्दमूलफलादीनि संभ्रान्तानि न भक्षयेत् ।
उपवासो भवेत्तत्र शातातपवचो यथा " ॥

संभ्रान्तानि भक्ष्याभक्ष्यत्वेन संदिग्धानि ।

" शाणपुष्पं शाल्मलं च करनिर्मथितं दधि ।
बहिर्वेदि पुरोडाशं जग्ध्वा नाद्यादहर्निशम् ॥
लशुनादिषु ये तुल्या गन्धवर्णरसादिभिः ।
अभक्ष्यास्ते द्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

शङ्खः—" लशुनपलाण्डुगृञ्जनच्छत्राकनालिक्कविड्वराहग्रामकुक्कुटनखरोममांसभक्षणे चान्द्रायणं कुर्यात् " ।

गृञ्जनं लशुनानुकारि ।

" विषदिग्धेन शस्त्रेण यो मृगः परिहन्यते ।
अभक्ष्यं तस्य तन्मांसं तद्धि गृञ्जनमिष्यते "

इति केचित्पठन्ति ।

शातातपः—" लशुनपलाण्डुगृञ्जनकभक्षणे तप्तकृच्छ्रः ।
मतिपूर्वकाभ्यासगोमांसभक्षणे च " ।

चान्द्रायणानुवृत्तौ विष्णुः—

" लशुनपलाण्डुगृञ्जनपिच्छगन्धिर्विड्वराहग्रामकुक्कुटनरगोमांसभक्षणे च सर्वेष्वेतेषु द्विजातीनां प्रायश्चित्तान्ते पुनःसंस्कारं कुर्यात् " ।

सुमन्तुः—" लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुम्भीकश्राद्धसूतिकाभोज्यान्नमधुमांसमूत्ररेतोमेध्याभक्ष्यभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रं मूर्ध्नि संपातानवनयेत् । उपवासश्च । एतान्येव व्याधितस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चैवंप्रकाराणि तेष्वप्यदोषः " ।

संपातावनयोपवासावनुपनीतबालविषयौ ।

प्रचेताः—" पीयूषं श्वेतलशुनं वृन्ताकफलगृञ्जनम् ।
पलाण्डुं वृक्षनिर्यासं देवस्वं कवुकानि च ॥

---

१ क. 'काशाण' ।

उष्ट्रीक्षीरमविक्षीरं यस्त्वज्ञानात्पिबेद्द्विजः ।
त्रिरात्रमुपवासश्च पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**पीयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरम् । असमर्थस्य तदानीमेव प्रच्छर्दितवत एतत् ।**

यमः—" तण्डुलीयककुम्भीकबदरश्वनप्रभवांस्तथा ।
नालिका नालिकेरी च श्लेष्मातकफलानि च ॥
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव +खुखुडं क्षवकं तथा ।
एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं चरेद्व्रतम् " ॥

**नालिकेरी शाकविशेषः । क्षवकं राजसर्षपः ।**

आपस्तम्बः—"भक्षयेद्यदि नीलीं तु प्रमादाद्ब्राह्मणः क्वचित् ।
चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽ(म्बोऽ)ब्रवीन्मुनिः " ॥

संवर्तः—" अवत्सैकशफास्त्रीणां क्षीरं प्राश्य द्विजोत्तमः ।
अनिर्दशाया गोश्चैव त्रिरात्रं यावकं पिबेत् " ॥

**यावकस्य च पानमात्रं कार्यं, न तु तेन तृप्येत् ।**

तथा—" स्त्रीक्षीरमाविकं चैव संधिन्याश्चैव गोः पयः ।
प्राश्य शुध्येत्त्रिरात्रेण विद्वज्जानां भक्षणे तथा " ॥

**एतदमतिपूर्वके सकृद्भक्षणे ।**

विष्णुः—"उष्ट्रीखरीमानुषीक्षीरभक्षणे तप्तकृच्छ्रम् " ।

**एतदमतिपूर्वके सकृद्भक्षणे च ।**

शङ्खः—" माहिष्यं गव्यमाजं च भक्ष्यं क्षीरेषु[3] निर्दिशेत् ।
भुक्त्वा परस्य तु क्षीरं मासं कुर्याद्व्रतं बुधः ॥
अनिर्दशाहं गोक्षीरं माहिषं चाऽऽजमेव च ।
गोश्च क्षीरं विवत्साया संधिन्याश्च तथा पयः ॥
संधिन्यमेध्यभक्षाया भुक्त्वा पक्षव्रतं चरेत् ।
क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ॥
सप्तरात्रं व्रतं कुर्याद्यदेतत्परिकीर्तितम् " ।

**व्रतं गोमूत्रयावकम् । अन्यत्रापि शङ्खवाक्ये व्रतशब्देनेदमेवाभिधीयते ।**
**चतुर्विंशतिमतात्—**

---

* मिताक्षरायां खट्वाख्यं क्वकं तथेति पाठः ।

---

१ क. खुखकं । २ क. °णे । श° । ३ क. °रेष्वनिन्दितम् । भु° ।

" स्त्रियाः क्षीरं द्विजः पीत्वा कथंचित्काममोहितः ।
पुनः संस्कृत्य चाऽऽत्मानं प्राजापत्यं चरेत्ततः ॥
अव्युष्टीसंधिनीक्षीरं मृगाणां वनचारिणाम् ।
अनिर्दशाया गोश्चैव पीत्वा दिनमभोजनम् " ॥

**अमत्या सकृत्समनन्तरमच्छर्दने स्त्रीबालासमर्थविषयमेतत् ।**

**स्मृत्यन्तरम्**—" त्वङ्मांसमूर्णया सार्धमाविकं त्रितयं शुचि ।
पुरीषमूत्रे सक्षीरे अपवित्रं त्रयं पुनः ॥
प्रमादादशने तस्य दिनमेकं व्रतं चरेत् " ।

**तस्यापवित्रत्रयस्य व्रतमभोजनम् । पूर्वोक्तविषयमेतत् ।**

**शातातपः**—" उष्ट्रीक्षीरमविक्षीरमन्नं मृतकसूतके ।
चौरस्यान्नं नवश्राद्धं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**कामतोऽभ्यासविषयमेतत् ।**

**पैठीनसिः**—" अविखर्युष्ट्रीमानुषीदुग्धप्राशने पुनरुपनयनं प्राजापत्यं च " ।

**जाबालः**—" अनिर्दशाया गोः क्षीरं मानुषं चौष्ट्रमेव च ।
मदिरां च नवश्राद्धं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**अज्ञानतः सकृद्भोजन एतत् । मदिरा मद्यं सुराव्यतिरिक्तं द्रव्यान्तररतिरोहितरसरूपम् ।**

**आङ्गिराः**—" माहिष्यं(षं) गव्यमाजं च भक्ष्यं क्षीरेषु निर्दिशेत् ।
भुक्त्वा परमतः क्षीरं कृच्छ्रपादं समाचरेत् " ॥

*(**हारीतः**—" असुरामद्यपानेऽरुपके चौर्ये श्लेष्मातकप्राशने
मास(ष)मसूरकवमने मरिचभक्षणेऽमेध्यावपन्नानामपां पाने च सांतपनमेव चरेत् " ।)

**कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशः पुनः संस्कारश्चेत्यनुवृत्तौ वसिष्ठः—**
" मूत्रशकृच्छुक्राभ्यवहारेषु चैवम् " ।

**बृहस्पतिः**—" पीत्वा प्रमादतो मद्यमतिकृच्छ्रं चरेद्द्विजः ।
संस्कारं तु पुनः कुर्याच्छक्त्या विप्रांश्च भोजयेत् " ॥

**मद्यं खार्जूरपानसादि न तु सुरा । द्विजो विप्रः ।**

**मनुः**—" अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः " ॥

---

* धनुश्चिह्नान्तर्गतमधिकम् ।

---

१ क. सांतपमं । २ क. कृच्छ्रं पा° ।

पयः क्षीरम् । अपरिशुष्कसुराभाजन आर्द्रे च मद्यभाण्डे चानुपलभ्यमान-मद्यरसोदके पानान्तरप्रच्छर्दने च सति स्त्रीबालादेरेतत् ।

शङ्खलिखितौ—" सुराभाण्डोदकपाने षड्रात्रममोजनं[1] चान्द्रायणं कामतः " ।

आर्द्रसुराभाण्डोदके पीते जीर्णे चैतत् ।

शङ्खः—" अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा पक्षं व्रती भवेत् ।
मद्यभाण्डस्थिताः पीत्वा सप्तरात्रं व्रती भवेत् " ॥

त्रिरात्रोपवासघृतप्राशनानुवृत्तौ शङ्खलिखितौ—

" मध्वासवदुष्टभाण्डोदकपाने स्त्रिया सह भोजने चैतदेव " ।

विष्णुः—" सुरासंस्पृष्टभाण्डे तु रेतोमूत्रादिदूषिते ।
जलक्षीरादिके पीते तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् " ॥

सकृत्पाने छर्दने च सति द्विरात्रसाध्यस्तप्तकृच्छ्रः । छर्दनाभावे सप्तरात्र-साध्यः ।

कश्यपः—" प्रमादान्मद्यमसुरं सकृत्पीत्वा द्विजोत्तमः ।
गोमूत्रयावकाहारो दशरात्रेण शुध्यति " ॥

बुद्धिविरहः प्रमादः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । असुरं सुराव्यतिरिक्तम् ।

वसिष्ठः—" मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । पद्मोड(दु)म्बर-
बिल्वपलाशकुशानामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति "

सुराव्यतिरिक्तमद्यभाण्डस्थितोदकपानविषयमेतत् ।

जाबालः—" सुराभाण्डोदकं पीत्वा सप्तरात्रं यवान्पिबेत् " ।

सुरा पैष्टी । निर्लेपस्य तद्भाण्डस्य सकृदमतिपूर्वके च पान एतत् ।

शातातपः—" मद्यभाण्डोदकपाने[2] छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रं च " ।

घृतप्राशनादाहोरान्तरनिवृत्तिः[3] । अहोरात्रोपवासश्चापरः । समर्थविषयमेतत् ।

यमः—" शुनोच्छिष्टाः स्थिता* आपो यदि कश्चिद्द्विजः पिबेत् ।
शङ्खपुष्पीविपक्वेन त्र्यहं क्षीरेण शुध्यति ॥
मद्यभाण्डस्थिता आपो यदि कश्चिद्द्विजः पिबेत् ।
द्वादशाहं तु पयसा पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥
गायत्र्यष्टसहस्रं वा जप्यं कुर्वीत मानसम् " ।

ब्रह्मसुवर्चलां प्रत्यहं पिबेत् । तज्जप्यं वा प्रत्यहं कुर्वीतेत्यर्थः ।

---

* अत्र यास्ता इत्यध्याहारः ।

---

१ छ. ° नं वा चा° । २ छ. °दके छ° । ३ छ. °हारनिवृत्तिः । यमः ।

हारीतः—" स्त्रियोच्छिष्टाः स्थिता आपो यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः ।
शङ्खपुष्पीविपक्केन त्र्यहं क्षीरेण शुध्यति ॥
शूद्रोच्छिष्टाः स्थिता आपो यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः ।
कुशमूलविपक्केन त्र्यहं क्षीरेण वर्तयेत् " ॥

पराशरः—" भाण्डे स्थितमभोज्यान्नमपः पीत्वा पयो दधि ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैवोपसज्जति ॥
ब्रह्मकूर्चोपवासश्च योज्यं कर्मास्य निष्कृतेः ।
शूद्रस्य नोपवासश्च दानेनैकेन शुध्यति " ॥

उपसज्जति प्रायश्चित्तार्थमागच्छति । ब्रह्मकूर्चस्वरूपं वक्ष्यते ।

वृद्धशातातपः—" पिबतः पतितं तोयं भाजने मुखनिःसृतम् ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

शङ्खः—" पीत्वाऽवशेषितं पीत्वा पानीयं ब्राह्मणः क्वचित् ।
त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनः " ॥

पराशरः—" कूपे तु पतितं दृष्ट्वा श्वशृगालं च मर्कटम् ।
अस्थिचर्मादिपतनात्पीत्वाऽमेध्या ह्यपो द्विजः ॥
नारं तु कुणपं काकं विड्वराहं खरोष्ट्रयोः ।
गावयं सौप्रतीकं च वाग्गुदं त्वाखुजं तथा ॥
वैयाघ्रं मार्गं सैंहं वा कूपे यद्यस्थि मज्जति ।
तडौकस्यैव दुष्टस्य पीतं स्यादुदकं यदि ॥
प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य क्रमेणैतेन सर्वशः ।
विप्रः शुध्येत्त्रिरात्रेण क्षत्रियश्च दिनद्वयात् ॥
एकाहेन च वैश्यस्तु शूद्रो नक्तेन शुध्यति " ॥

सुप्रतीकोऽत्र गजः । तस्येदं सौप्रतीकम् । तडाकोदकोप[योग]विषयमेतत् । कूपोदकोपयोगे त्वधिकं कल्प्यम् ।

विष्णुः—" मृतपञ्चनखात्कूपादत्यन्तोपहताद्वोदकं पीत्वा ब्राह्मणस्त्रिरात्रमुपवसेत् । त्र्यहं राजन्यः । एकाहं वैश्यः । शूद्रो नक्तं, सर्वे च व्रतस्यान्ते पञ्चगव्यं पिबेयुः " ।

आपस्तम्बः—" अन्तः स्थितेषु क्लिन्नेषु सर्वपञ्चनखेषु च ।
पिबेदपो यस्त्वज्ञानात्षड्रात्रेण विशुध्यति ॥

---

१ छ. °ज्यानाम° । २ छ. °श्च ध्याने° । ३ क. °डागस्यै° ।

अक्लिन्नेषु त्रिरात्रं स्याच्छूद्राणां दिनमेव तु " ।

अङ्गिराः—" चण्डालपरिगृहीतं तु योऽज्ञानादुदकं पिबेत् ।
तस्य शुद्धिं विजानीयात्प्राजापत्येन नित्यशः ॥
कूपैकपानदुष्टानां कुर्यात्संपर्कदूषणम् ।
सर्व एतेोपवासेन पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
यस्तु चण्डालसंस्पृष्टं पिबेत्किंचिदकामतः ।
स तु सांतपनं कृच्छ्रं चरेच्छुध्यर्थमात्मनः " ॥

लघुविष्णुः—" अपो मूत्रपुरीषाद्यैर्दूषिताः प्राशयेद्यदि ।
तदा सांतपनं प्रोक्तं व्रतं कायविशुद्धये " ॥

लघुहारीतः—" यस्तु कूपात्पिबेत्तोयं ब्राह्मणः शवदूषितात् ।
उपवासत्रयं कृत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
क्लिन्ने भिन्ने शवे चैव तत्रस्थे यदि तत्पिबेत् ।
शुध्यै चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा " ॥

शक्तिकृतो विकल्पो ज्ञानाज्ञानकृतो वा ।

" यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादेन द्विजोत्तमः ।
जप्त्वा त्रिपवणस्नायी अहोरात्रेण शुध्यति " ॥

पानरहितं स्नानं कृतवत एतत् ।

देवलः—" क्लिन्नो भिन्नः शवश्चैव कूपस्थो यदि दृश्यते ।
पयः पिबंस्त्रिरात्रं च मानुषे द्विगुणं भवेत् " ॥

द्विगुणं षड्रात्रमित्यर्थः ।

उशना—" विण्मूत्रोत्सर्गकूपस्था अपः प्राश्य द्विजोत्तमः ।
त्रिरात्रेण विशुध्येत्तु कुम्मात्सांतपनं स्मृतम् " ॥

आपस्तम्बः—" चण्डालखातवापीषु अज्ञानाद्यः पिबेज्जलम् ।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
चण्डालभाण्डतोयं तु द्विजः पीत्वा विमोहितः ।
कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वाणस्ततः पापात्प्रमुच्यते ॥
चण्डालेन तु संस्पृष्टा अपो यः पिबति द्विजः ।
कृच्छ्रपादेन शुध्येत्तु पुनःसंस्कारमर्हति " ॥

अत्र यः पुनःसंस्कारः स पूर्वत्रापि द्रष्टव्यः ।

---

१ क. °षितम् । उ° ।

अत्रिः—" म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा ।
जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम् ॥
तत्तोयं यः पिबेद्विप्रः कामतोऽकामतोऽपि वा ।
अकामान्नक्तभोजी स्यादहोरात्रं तु कामतः " ॥

शातातपः—" चण्डालोदकभाण्डेषु यः पिबेत्तृषितो जलम् ।
तत्क्षणात्क्षिपते तच्चेत्प्राजापत्येन शुध्यति ॥
यदि न क्षिपते तोयं चिरेणैवास्य जीर्यते ।
प्राजापत्यं तु कर्तव्यं कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् " ॥

मनुः—" स्पृष्ट्वा दत्त्वा तु मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।
शूद्रोच्छिष्टस्तु पीत्वाऽपः कुशवारि पिबेत्त्रयहम् ॥
अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥
ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

सुमन्तुः—" सुरापस्याऽऽघ्राय गन्धं सोमप उदकमग्न-
स्त्रिरघमर्षणं जप्त्वा घृतप्राशनमाचरेत् "।

बृहस्पतिः—" सुरापलाण्डुलशुनस्पर्शे कामकृते द्विजः ।
त्र्यहं पिबेत्कुशजलं गायत्रीं च जपेत्तथा ॥
पलाण्डुलशुनस्पर्शे स्नात्वा नक्तं समाचरेत् ।
कृतोच्चारस्त्वहोरात्रमुच्छिष्टो व्यहमेव च " ॥

अकामत एतत् ।

मनुः—" विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ॥

अङ्गिराः—" प्राजापत्यं चरेद्वैश्योऽतिकृच्छ्रं क्षत्रियश्चरेत् ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत विप्रो विण्मूत्रभक्षणे ॥
शूद्रस्य तु कथं कुर्याद्विण्मूत्रस्य तु भक्षणे ।
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा तर्पयेत्पितृदेवताः " ॥

बृहस्पतिः—"अलेह्यानामपेयानामभोज्यानां च भक्षणे ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् " ॥

---

१ क. °णात्पिबते । २ छ. °ष्टाच्च पी° ।

कामकार एतत् ।

देवलः—" शङ्खपुष्पीं घृतं क्षीरं पद्मनालं सकेसरम् ।
पीत्वा पुष्करपर्णं च मुच्यते वारिसंकरात् " ॥

शङ्खलिखितौ—" केशमक्षिकरुधिरप्राशन आममांसभूमिभक्षणे
रुधिरच्छर्दने रजस्वलावधूताभिगमने त्रिरा-
त्रोपवासं घृतप्राशनं च कुर्यात् " ।

सुमन्तुः—"नखकेशरुधिरप्राशने सद्यः स्नानं घृतकुशहिरण्योदकप्राशनं च " ।

गौतमः—" अभोज्यभोजने निष्पुरीषीभावस्त्रिरात्रावसर्मभोजनं सप्त-
रात्रं वा स्वयंशीर्णान्युपयुञ्जानः फलान्यनतिक्रामन् " ।

स्वयंशीर्णानि स्वयं पतितानि । अनतिक्रामन्नप(न्प)थमलब्धानि फलानि निर्गुणान्यपि अपरित्यजन्नित्यर्थः ।

संवर्तः—" अभोज्यभोजनं कृत्वा ब्रह्मक्षत्रविशां गणः ।
गोमूत्रयावकाहारः सप्तरात्रेण शुध्यति " ॥

बृहस्पतिः—" पीत्वा शुक्तकषायाणि भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
भवेदप्रयतो विप्रः कर्मण्यः स्यादधोगते " ॥

अधोगते तस्मिन्नन्ने निष्पुरीषतायां सत्यामित्यर्थः ।

अथ मांसभक्षणप्रायश्चित्तानि । तत्र संवर्तः—

" गोमांसं मानुषं चैव सूनिहस्तात्समाहृतम् ।
अभक्ष्यं तद्धि[1]वेत्सर्वं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

शङ्खलिखितौ—" बकबलाकाहंसप्लवखञ्जनककारण्डवचक्रवाकक-
टभारगृहकपोतचटकपारावत[3]शुकशारिकासार-
सटिट्टिभोलूककाकोल[2]रक्तपादजालपादवाग्गुद-
चाषमासवायसकोकिलशाद्वलिकुक्कुटहारीतम-
क्षणे दशरात्रमनाहारः पिबेद्वा गोमूत्रयावकम् " ।

काकोलः श्येनः । एषामन्यतमस्यात्यन्तभक्षणाभ्यासे प्रत्येकं भक्षणसमु-
दाये वैतत् ।

शङ्खः—" मद्गुहंसं बकं काकं कोकिलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादांश्च तथा मत्स्यान्बलाकाः शुकशारिके ॥

---

१ क. °रभो° । २ छ. °वेत्पूर्वं । ३ छ. °तपाण्डवशु° । ४ छ. °क्षणं स° ।

चक्रवाकं प्लवं चैव मण्डूकं भुजगं तथा ।
मासमेकं व्रतं कुर्याद्भूयश्चैव न भक्षयेत् " ॥

मनुर्जलवायसः ।

" जलेचरांश्च[1] जलजान्प्रतुदान्नखविष्किरान् ।
रक्तपादाञ्जालपादान्सप्तरात्रं व्रतं चरेत् ॥

प्रतुद्य प्राणिनं भक्षयन्तीति प्रतुदाः । नखैर्विकीर्य भक्षयन्तीति नखविष्किराः । जालाकाराः पादा येषां ते जालपादाः । त एव रक्तवर्णाः पादा येषां ते रक्तपादाः ।

भुक्त्वा चोभयतोदन्तांस्तथा चैकशफानपि ।
दंष्ट्रिणश्च तथा भुक्त्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् ॥
सूनामांसं शुष्कमांसमात्मनोऽर्थे तथा कृतम् ।
भुक्त्वा मासं व्रतं कुर्यात्प्रयतः सुसमाहितः ॥

यत्र फलके मांसं खण्ड्यते सा सूना ।

" भ्रूमीकपक्वं[2] मांसं च सर्वं यत्नेन वर्जयेत् ।
संवत्सरं व्रतं कुर्यात्संप्राश्याज्ञानतस्तु तत् " ॥

भ्रूमीकं[3] नाम मांसपाकस्थानविशेषः । तत्र पक्वं सर्वं शिष्टं भोजनीयमपि मांसं न भक्षणीयम् । तप्तकृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेदित्यनुवृत्तौ मनुः—

" शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थं मांसमेतद्व्रतं चरेत् " ॥

कवकानि च्छत्राकाणि तेषां भूमिरूढानां भक्षण एतत्प्रायश्चित्तं न वृक्षादिरूढानाम् ।

" क्रव्याद्विट्सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रो विशोधनम् " ॥

सकृदमत्या भक्षण एतत् । क्रव्यमपक्वं मांसं तददन्तीति क्रव्यादा व्याघ्रादयः । शङ्खलिखितौ—

" श्वसृगालकाककुक्कुटदंष्ट्रिक्रव्यादनखरोष्ट्रगजवाजिगोमांसभक्षणे चान्द्रायणम् " ।

कामकार एतत् ।

वसिष्ठः—" श्वकुक्कुटग्राम्यसूकरकङ्कगृध्रभासवायसपारावतमानुषकाकोलूककानां मांसादने सप्तरात्रमुपवासो

---

१ छ. °रांश्चाज° । २ छ. °भीसप° । ३ छ. °भीसं ना° ।

निष्पुरीषीभावो घृतप्राशः पुनःसंस्कारश्च " ।

विष्णुः—" कलविङ्कहंसचक्रवाकरज्जुदालकसारसदात्यूहशुकशारिका-
बलाकाकोकिलखञ्जरीटाशने त्रिरात्रमुपवसेत् । एकश-
फोभयतोदन्ताशने च तित्तिरिकपिञ्जललावकवर्तिकामयूर-
वर्जं सर्वपक्षिमांसाशने त्वहोरात्रम् । कीटाशने दिनमेकं
ब्राह्मीं सुवर्चलां पिबेत् । पृष्ठमांसाशने सूनामांसाशने च " ।

कलविङ्को गृहचटकः । सर्वमेतदमतिपूर्वके सकृज्ज्ञक्षणे वा द्रष्टव्यम् ।

छागलेयः—" वृथामांसं न भोक्तव्यं भोक्तव्यं श्राद्धकर्मणि ।
अन्यथा भक्षयन्विप्रः प्राजापत्यं समाचरेत् " ॥

शिष्टभोजनीयमांसविषयमेतत् ।

शङ्खः—" भक्ष्याः पञ्चनखाश्चैव गोधाकच्छपशल्यकाः ।
खड्गश्च शशकश्चैव तान्भुक्त्वा नाऽऽचरेद्व्रतम् " ॥

तथा—" तित्तिरं च मयूरं च लावकं च कपिञ्जलम् ।
वाध्रीणसं वर्तकं च भक्ष्यानाह सदा यमः " ॥

तथा—" माहिषं त्वाजमौरभ्रं रौरवं मार्गमेव च ।
भक्ष्यं मांसं समुद्दिष्टं यश्चैव पार्षतं भवेत् " ॥

रुरुर्बहुशाखशृङ्गो मृगविशेषः ।

विष्णुः—" शशकशल्यकगोधाखड्गकूर्मवर्जं पञ्चनखमां-
साशने सप्तरात्रमुपवसेत् " ।

पराशरः—" अगम्यागमने चैव मद्यगोमांसभक्षणे ।
शुध्यै चान्द्रायणं कुर्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम् ॥
चान्द्रायणे ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
अनड्वत्सहितां गां च दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम् " ॥

मनुः—" अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥
बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् " ॥

आखुर्मूषकः ।

---

१ छ. 'रीषभा' । २ क. 'जुशाल' । ३ छ. बलबला' ।

विष्णुः—" गोरुच्छिष्टाशने दिनमेकमुपोषितः पञ्चगव्यं पिबेत् " ।

संवर्तः—" विण्मूत्रभक्षणे विप्रः प्राजापत्यं समाचरेत् ।
श्वकाकगोभिरुच्छिष्टभक्षणे तु दिनत्रयम् " ॥

वसिष्ठः—" श्वकाकावलीढशूद्रोच्छेषणसंभोजनेष्वतिकृच्छ्रः कृच्छ्रः
इतरेष्वन्यत्र मधुमांसफलविकारेषु " ।

मतिपूर्वकाभ्यास एतत् ।

शङ्खः—" शुनोच्छिष्टं तु भुक्त्वाऽन्नं माममेकं व्रतं चरेत् ।
काकोच्छिष्टं गवाघ्रातं भुक्त्वा पक्षं व्रती भवेत् ॥
दूषितं केशकीटैश्च मार्जारैर्दूषिकैस्तथा ।
मक्षिकामष(श)कैश्चैव त्रिरात्रं तु व्रतं चरेत् ॥
वृथा कृसरसंयावपायसापूपशष्कुलीः ।
भुक्त्वा त्रिरात्रं कुर्वीत व्रतमेतत्समाहितः " ॥

एतदमतिपूर्वाभ्यासे वेदितव्यम् । श्वकाकगवाघ्राते भोजने कामतः साभ्यास एतत् । व्रतं गोमूत्रयावकाशनम् । कामतः सकृद्भोजनविषये त्वाह प्रचेताः—

" पक्षिगोघाऽथ खद्योतः शतस्पृष्टोऽथ लोष्टकृत् ।
षड्बिन्दुरथ दुर्गश्च सप्तैते दुष्टकीटकाः ॥
एतैः काकादिभिश्चैव यदन्नं दूषितं भवेत् ।
तदन्नं कामतो भुक्त्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् " ॥

अबुद्धिपूर्वे तु सकृद्भक्षणे जाबाल आह—

" पर्युषितं पुनः सिद्धमभोज्यं लशुनादिकम् ।
शूद्रकाकगवोच्छिष्टं भुक्त्वा तु त्र्यहमाचरेत् ॥
केशकीटावपन्नं च स्त्रीभिः खातं तथैव च ।
श्वोदक्याशूद्रसंस्पृष्टं पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

शङ्खलिखितौ—"वृथा कृसरपायसापूपमांसभक्षणमाहि-
ताग्निः कृत्वा प्राजापत्यं चरेत् " ।

यमः—" माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।
हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु भोक्ता सांतपनं चरेत् " ॥

अभ्यासविषयमेतत् । फाणितमिक्षुरसविकारविशेषः ।

---

१ क. व्रतं चरेत् ।

**पराशरः**—" एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने ।
यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत् ॥
होमादृञ्जीत यस्त्वन्नं पङ्क्त्यामुच्छिष्टभोजनः ।
प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सांतपनं तथा " ॥

**सुमन्तुः**—" शूद्रोच्छिष्टभोजने त्रिरात्रमघमर्षणं जपेत्" ॥

**यमः**—" विप्रेण सह भुक्त्वाऽन्नं प्राजापत्येन शुध्यति ।
भूभुजा सह भुक्त्वाऽन्नं तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति ॥
शूद्रेण सह भुक्त्वाऽन्नं चान्द्रायणमथाऽऽचरेत् ।
बस्तिकर्मनिरूहैश्च प्रच्छर्दनविरेचनैः ॥
शिशुकृच्छ्रेण शुध्यन्ति तस्मात्पापान्न संशयः " ॥

**कामकारविषयमेतत् ।**

**शङ्खलिखितौ**—" ब्राह्मणोच्छिष्टभोजने महाव्याहृतिभिरभिमन्त्र्यापः पिबेत् ।
क्षत्रियोच्छिष्टभोजने ब्राह्मीरसविपक्वेन त्र्यहं क्षीरेण
वर्तयेत् । वैश्योच्छिष्टभोजने त्रिरात्रोपोषितो ब्रह्मसु-
वर्चलां पिबेत् । शूद्रोच्छिष्टभोजने सुराभाण्डोदकपाने
च सप्तरात्रमभोजनं चान्द्रायणं वा " ।

**विष्णुः**—" आमश्राद्धाशने त्रिरात्रं पयसा वर्तेत
ब्राह्मणः । शूद्रोच्छिष्टाशने वमनं कृत्वा
सप्तरात्रं [+वैश्योच्छिष्टाशने पञ्चरात्रं,
राजन्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रं] राजन्यः शूद्रो-
च्छिष्टाशी पञ्चरात्रम् । वैश्योच्छिष्टाशी
त्रिरात्रं वैश्यः शूद्रोच्छिष्टाशी च ।
शूद्रोच्छिष्टाशने मासं पक्षमेकं तथा विशः ।
क्षत्रियस्य तु सप्ताहं ब्राह्मणस्य तथा दिनम् ॥
आमश्राद्धाशने विद्वान्मासमेकं व्रतं चरेत् " ।

**नवश्राद्धविषयमेतत् ।**

**शातातपः**—" उच्छिष्टमगुरोरभोज्यं स्वमुच्छिष्टमुच्छि-
ष्टोपहतं च तद्भोजने कृच्छ्रम् " ।

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ क. °निगूहै° । २ छ. °च्छन्दन° । ३ क. चरेद्भो° ।

शङ्खः—" अमेध्यपतितचण्डालपुक्कसरजस्वलाकुणिकुष्ठि-
कुनखिसंस्पृष्टं च भुक्त्वा कृच्छ्रमाचरेत् " ।

कुणिः कुणपम् ।

यमः—" मसूरमाषमांसानि भुक्त्वा यो वमति द्विजः ।
त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥
प्राणायामैस्त्रिभिः स्नात्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति " ।

विष्णुः—" शूद्रजुष्टं[1] शुना वाऽपि संस्पृष्टं[2] वाऽपि भोजनम् ।
तप्तकृच्छ्रेण शुध्येत्तु प्राजापत्येन वा पुनः ॥
शक्त्या पराको दातव्य इति धर्मस्य निश्चयः ।
क्षत्रवैश्यादिभिर्जुष्टं गर्दभैः सूकरैस्तथा ॥
पादहान्या[3] भवेत्कृच्छ्रं शक्त्या सर्वं चरेद्द्विजः " ॥

जुष्टं भुक्तम् ।

शङ्खः—" वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते ।
भुक्त्वाऽन्नं ब्राह्मणः पश्चात्त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् " ॥

पराशरः—" भिन्नभाण्डे तु भुञ्जानो ह्यज्ञानेन द्विजोत्तमः ।
सुवर्णोदकसंस्पृष्टं घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

घृतप्राशनादाहारान्तरनिवृत्तिः ।

आपस्तम्बः—" विच्छर्दने द्विजातीनां भिन्नभाण्डे च भोजने ।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यादिति शातातपोऽब्रवीत् " ॥

संवर्तः—" शूद्राणां भाजने भुक्त्वा भुक्त्वा वा भिन्नभाजने ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

भिन्नभाण्डदोषः कांस्यस्यैव, यदाह बौधायनः—

" भिन्नकांस्ये तु यो भुङ्क्ते नद्यां गत्वा जपन्बुधः ।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु एकभक्तस्ततः शुचिः " इति ॥

संवर्तः—" अनाचान्तः पिबेद्यस्तु भक्षयेद्वाऽपि किंचन ।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपं कृत्वा विशुध्यति ॥
अ(आ)पोशा(श)नमकृत्वा तु यो भुङ्क्तेऽनापदि द्विजः ।
भुञ्जानस्तु यदा ब्रूयाद्गायत्र्यष्टशतं जपेत् " ॥

---

१ क. शूद्रोच्छिष्टं । २ छ. °ष्टं प्राश्य भो° । ३ क. °दहत्याभ° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

**लघुहारीतः**—" विना यज्ञोपवीतेन भुङ्क्ते तु ब्राह्मणो यदि ।
स्नानं कृत्वा जपं चैव उपवासेन शुध्यति " ॥

**वृद्धशातातपः**—" यदा भोजनकाले च अशुचिर्भवति द्विजः ।
भूमौ निक्षिप्य तं ग्रासं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ॥
भक्षयित्वा तु तं ग्रासमहोरात्रेण शुध्यति ।
अशित्वा सर्वमेवान्नं त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥
मूत्रोच्चारे शकृत्सर्गे मोहाद्भुङ्क्तेऽथ वा पिबेत् ।
त्रिरात्रं तत्र कुर्वीत इति शातातपोऽब्रवीत् ॥

**मूत्रोच्चारे भुञ्जानस्य पुरीषोत्सर्गे च पिबत एतत् ।**

मूत्रयित्वा व्रजन्मार्गे स्मृतिभ्रंशाज्जलं पिबेत् ॥
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ।
निगिरन्यदि मेहेत भुङ्क्ते वा मेहने कृते ॥
अहोरात्रोषितः स्नात्वा जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः " ।

**व्याहृतिभिरिति शेषः ।**

**बृहत्पचेताः**—" आरनालकृते शौचे प्रमादाद्भोजने कृते ।
षड्रात्रं यावकं पीत्वा शुध्येद्विप्रः समाहितः ॥
त्रिरात्रेण विशुध्येत्तु द्विजश्चाऽऽचमने कृते ।
विधाय शुद्धिं नीरे च यश्चाऽऽचामति काञ्जिकम् ॥
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति ।

**आरनालं काञ्जिकम् ।**

समुत्पन्ने द्विजः स्नाने भुञ्जीताथ पिबेत वा ।
गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपेत्स्नात्वा समाहितः " ॥

**पतितादिस्पर्शनिमित्तात्स्नानान्तर एतत् । तन्निमित्ते तु पैठीनसिराह**—

" महापातकिसंस्पर्शे स्नानमेव विधीयते ।
संस्पृष्टस्तु यदा भुङ्क्ते तप्तकृच्छ्रं तदाऽऽचरेत् " ॥

**वृद्धयाज्ञवल्क्यः**—" अस्नात्वा यदि वाऽश्नीयाच्चण्डालस्पर्शने द्विजः ।
त्र्यहं चोपवसेत्स्नात्वा पीत्वा चोपवसेदहः " ॥

**अकामकारविषयमेतत् ।**

भुञ्जानस्य तु विप्रस्य विष्ठा चेन्मस्तके पतेत् ।
अन्नं त्यक्त्वा नदीस्नातः प्राणायामं त्रिरभ्यसेत् ॥

---

१ क. नदीं गत्वा प्रा° ।

आसनारूढपादो यो वस्त्रस्यार्धपटीकृतम् ।
मुखेन धमितं कृत्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् " ॥

**अर्धपटीकृतं परिधानैकदेशीकृतमित्यर्थः । धमितं कृत्वेत्यन्नादि भुञ्जे यदीति शेषः ।**

" केशकीटनखं प्राश्य मत्स्यकण्टकमेव च ।
हेमतप्तं घृतं प्राश्य तत्क्षणादेव शुध्यति ॥
अस्थिकण्टकशालूकशङ्खशुक्तिकपर्दिकाः ।
पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**शालूकः कीटभेदः । कपर्दिका वराटिका । ग्रामेऽल्पकुल्यादिगतौघवारि अविहितशुद्धिकाभिनवकूपादिवारि वा नवोदकम् ।**

" शूद्रहस्तेन योऽश्नीयात्पानीयं वा पिबेत्क्वचित् ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
भार्यया सोदरैर्वाऽपि भुक्त्वा तूपवसेद्दिनम् ।
ज्ञातिभिः स्यादहोरात्रं त्रिरात्रमितरैः सह " ॥

तथा—" पिबतो ग्रसतो मूत्रं निर्गच्छेच्छर्दिकर्मणि ।
बहिरन्तर्मुखे लेपान्प्रक्षाल्य स्नानमाचरेत् " ॥

**मूत्रनिर्गमे छर्दौ च समनन्तरमेव भोजनत्याग एतत् ।**

" अभ्रतोऽनातुरस्याथ विप्रस्य स्याद्गुदस्रवः ।
उच्छिष्टमशुचित्वं च प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥
आदौ तु कृत्वा शौचं वै पश्चात्तप्त उपस्पृशेत् ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
*क्रतुभूमिं तु यः प्राप्तो द्विजो भुङ्क्ते प्रमादतः ।
गोमूत्रयावकाहारः पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
मूत्रोच्चारं नरः कृत्वा ह्यकृत्वा शौचमात्मनि ।
मोहात्पीत्वा त्रिरात्रं स्याद्यवान्पीत्वा विशुध्यति ॥
स्नानार्हस्तु च यः कश्चित्पिबेत्खादेत वा द्विजः ।
गायत्र्याख्निसहस्रेण शुध्यते नात्र संशयः " ॥

**प्रायश्चित्तपूर्वमेवैतत् । कामकारविषयमेतत् ।**

---

* न विद्यतेऽयं श्लोकः क. पुस्तके ।

---

१ छ. °पटे कृ° । २ छ. °पटे कृ° । ३ छ. °देशे कृ° । ४ क. °तमेवैतत् । हा° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

हारीतः—" लोम्नां खादने हस्तदत्तभोजनेऽप्रक्षालितपाणिपादस्य भोजने त्वधिकभोजने पङ्क्तिगतदूषणे पङ्क्त्यग्रतो भोजने त्यक्तमूत्रपुरीषकरणे मृतकसूतकशूद्रान्नभोजने शूद्रैः स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम् । लोष्टमृत्तिकादनेऽहोरात्राभोजनाच्छुद्धिः " ।

संवर्तः—" अनाचान्तः पिबेद्यस्तु अपि वा भक्षयेद्द्विजः ।
गायत्र्यष्टशतं तस्य प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् " ॥

शूद्रादिस्पर्शनिमित्तस्नानविषयमेतत् । चण्डालादिस्पर्शनिमित्तस्नानातिक्रमे प्रायश्चित्तातिरेकः ।

" विना यज्ञोपवीतेन भुङ्क्ते तु ब्राह्मणो यदि ।
स्नानं कृत्वा जपं कुर्वन्नुपवासेन शुध्यति " ॥

हारीतः—"चण्डालादीन्द्विजोऽश्नंस्तु दृष्ट्वा ग्रासं परित्यजेत् ।
अन्तर्बाह्यान्मुखालेपान्[1]प्रक्षाल्य स्नानमाचरेत् ॥
भुक्त्वा त्रिरात्रं नाश्नीयात्पीत्वा तोयमहर्निशम् ।
श्वानं दृष्ट्वा तथाऽऽचामेद्भुक्त्वा पीत्वा तदर्धिकम् ॥

श्वानं दृष्ट्वा तथाऽऽचामेदेवं, न तु स्नायात् । यदि भुक्त्वा त्वहोरात्रमुपोष्य नक्तमश्नीयात् । पिबेच्चेन्नक्तमेव भुञ्जीत(?) ।

चतुर्विंशतिमतात्—" उषिते छर्दिते चैव भिन्नभाजनभोजने ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

उषिते छर्दिते पूर्वेद्युर्भुक्तस्य वमन इत्यर्थः ।

" घृतहीनं तु यो भुङ्क्ते नरस्त्वाहुतिपञ्चकम् ।
पश्चाद्घृतेन यो भुङ्क्ते भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
भुञ्जानस्तु यदा पश्येच्छ्वानमन्त्यजगर्दभम् ।
आचम्य प्रयतो भूत्वा प्राणायामं त्रिरायमेत् ॥
दृष्ट्वा चैव तु यो भुङ्क्ते लोलुपत्वाद्द्विजोत्तमः ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
एकपङ्क्त्यां तु भुञ्जानो ब्राह्मणं तु यदा स्पृशेत् ।
तदन्नशिष्टं भुक्त्वा वै गायत्र्यष्टशतं जपेत् " ॥

---

१ क. °दन्तभो° । २ क. °दभो° । ३ छ. °खालेपा° । ४ छ. °व नाश्नी° ।

षट्त्रिंशन्मतात्—" समुच्छिष्टस्तु यो भुङ्क्ते भुङ्क्ते वा मुक्तभोजनः ।
एवं वैवस्वतः प्राह भुक्त्वा सांतपनं चरेत् " ॥

ज्ञानतोऽभ्यासविषयमेतत् ।

व्यासः—" सूतिकाद्यैस्तु यद्भाण्डं स्पृष्टं तैत्स्पृष्टिना तथा ।
तत्स्थं भुक्त्वा द्विजो मोहात्त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥
कृतमूत्रपुरीषस्य यदा नैवोदकं भवेत् ।
स्नानं शौचं च दशभिः प्राणायामैर्विशुध्यति ॥

स्नानं शौचं चेत्यत्र कृत्वेति शेषः ।

तैलाभ्यक्तस्तथा वान्तः श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
मूत्रोच्चारं यदा कुर्यात्त्रिरात्रेणैव शुध्यति " ॥
पराशरः—" दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं च यत् ।
अभ्यङ्गाचैव यच्छिष्टं जग्ध्वा नक्तेन शुध्यति " ॥

अथ परिग्रहदुष्टान्नभोजने तत्रभवता याज्ञवल्क्येनाग्रिहीनस्य नान्नमश्नीयादनापदीत्यादिना ग्रन्थेन स्वामिदोषवशाद्दुष्टमन्नं प्रतिपादितम् । तत्र मनुः—

" नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥
अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अश्लीलं लज्जाकरं, प्रतीपं प्रतिकूलम् ।

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥
भ्रूणघ्नाऽवेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणाऽवलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥
गवा चान्नमुपघ्रातं घृष्टान्नं च विशेषतः ।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥
स्तेनगायनयोश्चैव तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
अभिशस्तस्य शण्डस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ॥
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ।
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥

---

१ क. 'तो भूयोभ्या' । २ क. तद्भाण्डिना । ३ क. 'णहावे°' ।

उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्यायान्नमनिर्दशम् ।
अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ।
पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥
शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ।
कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतरकस्य च ॥
सुवर्णकर्तुर्वेनस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ।
श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ॥
रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ।

**अभक्ष्यप्रकरणे पदार्था व्याख्याताः ।**

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥
अभोज्यान्नं च भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् " ॥

**पैठीनसिः**—" कुनखी श्यावदन्तः पित्रा विवदमानः स्त्रीजितः कुष्ठी पिशुनः सोमविक्रयी वाणिजको ग्रामयाजकोऽभिशस्तो वृषल्यामभिजातः परिवित्तिः *परिविविदानो दिधिषूपतिः पुनर्भूपुत्रश्चौरः काण्डपृष्ठः सेवकश्चेत्यभोज्यान्ना अपाङ्क्त्या(क्ता) अश्राद्धार्हा एषां भुक्त्वा दत्त्वा चाविज्ञानात्त्रिरात्रम् " ।

**शङ्खः**—" अभिशस्तरजकपतितचाक्रिकतैलिकग्रामयाजकशूद्रसांवत्सरिककुलिकसुवर्णकारकर्मकारकर्मारचित्रवृत्तिघोषकतन्तुवायरङ्गावतारिककूटमानकृच्छौण्डिकवधजीविनृशंसात्मविक्रायिवार्धुषिकतारिकभगवृत्तिव्रात्यतस्करगणान्नभोजनेष्वतिकृच्छ्रं कुर्यात्" ।

---

* मिताक्षरायां परिविन्दान इति पाठः ।

---

१ छ. °था । स्ववं° । २ क. °विविदा° । ३ क. °कसां° । ४ छ. °रभास्करग° ।

कुलिको देवलकः । घोषको मूल्येन पाठकः । तारिको नद्यादिसंतारणजीवी । अभ्यासविषयमेतत् ।

विष्णुः—" गणगणिस्तेनगायनकान्नानि भुक्त्वा सप्तरात्रं पयसा वर्तेत " ।

सुमन्तुः—" अभिशस्तपतितपौनर्भवभ्रूणहपुंश्चल्यशुचिशस्त्रकारतैलिककचाक्रिकध्वजिकसुवर्णकारालेख्यकपण्डकबन्धकीगणगणिकान्नानि चाभोज्यानि । सौकरिव्याधनिषादवरुट(ड)चर्मकारा अभोज्यान्ना अप्रतिग्राह्यास्तदशनप्रतिग्रहयोश्चान्द्रायणं चरेत् " ।

सूकरेण दीव्यति जीवति वेति वक्तव्यादिणी(ण्(?)) । वरुटो(डो) वेणुजीवी । बुद्धिपूर्वकभूयोभ्यासविषयमेतत् ।

हारीतः—" चाक्रिकलोहकारामक्ष्यान्नभोजने त्रिरात्रमुपवसेत् ।
गोमूत्रं गोमयं च प्राश्नीयात् । ध्वजिवणिक्किराटिवाधुषिकान्नभोजने पञ्चरात्रं कृच्छ्रं चरेत् ।

अभ्यासविषयमेतत् ।

पुंश्चलीवेश्यान्नभोजने सप्तरात्रम् । दीक्षितप्रव्रजितगणैोद्धावरुद्धान्नभोजने चान्द्रायणम् । मृतके सूतके दशरात्रम् । ब्राह्मणोच्छिष्टान्नमृतकसूतकैकोद्दिष्टभोजने त्रिरात्रमेकरात्रं वा । क्षत्रियोच्छिष्टान्नमृतसूतकैकोद्दिष्टभोजने कृच्छ्रम् । वैश्योच्छिष्टान्नसूतकमृतकैकोद्दिष्टभोजने कृच्छ्रातिकृच्छ्रं, शूद्रोच्छिष्टान्नसूतकमृतकैकोद्दिष्टभोजने चान्द्रायणं, म्लेच्छान्नभोजने च ताम्रकांस्यसीसकारव्याधिततस्करान्नभोजने चैं तप्तकृच्छ्रम् । ब्राह्मणवृत्तिघ्नवधबन्धोपघातवृत्त्यन्नभोजने पौनर्भवैसौखसंकीर्णान्नभोजने च " ।

एकोद्दिष्टं नवश्राद्धादन्यत् । किराटी वणिग्विशेषः ।

अङ्गिराः—" अभोज्यानां च सर्वेषां भुक्त्वा चान्नमुपस्कृतम् ।
अन्त्यावसायिनो भुक्त्वा कृच्छ्रपादेन शुध्यति " ॥

सकृदमतिपूर्वके सामर्थ्याभावे च सत्येतत् ।

---

१ छ. °व्यात्करः । वं° । २ क. °रात्रं वा दी° । ३ क. °णोयष्ठाव° । ४ छ. च पौं° । ५ क. °सौशर्स° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

**शातातपः**—" यत्र नाश्नन्ति देवाश्च पितरश्च तथाऽतिथिः ।
वृथापाकः स विज्ञेयस्तत्र नाद्यात्कथंचन ॥
यो गृहीत्वा त्रिहायाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ॥
वृथापाकस्य भुञ्जानः प्रायश्चित्तं चरेद्द्विजः ।
प्राणायामं त्रिरभ्यस्य घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

**तथा**—" परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च ।
अपचस्य च भुक्त्वाऽन्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**अनिन्दितपाकादपि निवृत्तः । अपचो भिक्षुः ।**

**पराशरः**—" आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि ।
मनस्तापेन शुध्येत्तु द्विपदानां शतं जपेत् " ॥

**ब्रह्मपुराणे**—" यश्चोपनयने(नं) चक्रे बहूनां बहुयाजकः ।
यज्ञार्थं क्रीतसोमस्य दीक्षितस्य महाध्वरे ॥
यत्र चाश्रोत्रियस्त्वन्यस्त्वथ वा ग्रामयाजकः ।
होता क्लीबोऽथ नारी वा नाश्नीयाद्यत्र कुत्रचित् ॥
तपोयज्ञफलानां च यः क्रेता यश्च विक्रयी ।
पुरः पुरोहितं कालमुद्दिश्य नृपतेर्हितम् ॥
करोति यः स कथितस्त्वभोज्यान्नः पुरोहितः ।
मृगव्याधो व्यालजीवी मद्यपः शौण्डिको ध्वजी ॥
तिलनिष्पीडकश्चक्री रजको वस्त्रशौचकृत् ।
चेलनिर्णेजको नीलरक्तपीतोपरागकृत् ॥
नृशंसस्तु भवेद्वृद्धी नृणां शंसां करोति यः ।
निग्रहाधिकृतो यस्तु विज्ञेयः स हि दाण्डिकः ॥
बद्धानां रक्षिता यस्तु स च बन्धनको भवेत् ।
अविज्ञातकुलाचारो विज्ञेयोऽथ विदेशगः ॥
कितवो द्यूतकारश्च हेमचौरः सुवर्णकृत् ।
दाराः पण्यं च यस्येह स च दारोपजीवकः ॥
भवेदथोपपतिको जायाजारपरस्तु यः ।
भाण्डकर्ता कुलालस्तु चित्रकृच्चित्रकर्मकृत् ॥
वृद्धिं पण्येषु यो भुङ्क्ते स तु वार्धुषिकोऽधमः ।
चर्मकृच्चर्मणां छेत्ता सौनिकः पशुमारकः ॥

रोगभृत्युपजीवी च शलाकी च भिषङ्नरः ।
सूची स्यात्तुन्नवायस्तु वस्त्रकृत्तन्तुवायकः ॥
वृत्त्यर्थं सविकारस्तु रङ्गावतरको नटः ।
वृत्त्यन्वेषी नटानां तु स तु शैलूषकः स्मृतः ॥
शण्ढो मुखेभगश्चाथ दुर्लोमा दुष्टलोमवान् ।
वैनो धनुर्दण्डकर्ता कर्मारः शरघाटकः ॥
निषादो मत्स्यजीवी च तथाऽन्यौ कुण्डगोलकौ ।
आबाल्याद्यस्त्वदशनस्त्वजदंशः स उच्यते ॥
शय्यायां व्याधिना क्षीणस्त्ववसन्नश्च तादृशः ।
स्वजातिविहिताद्धर्मात्प्रच्युतः पतितो भवेत् ॥
यस्योपनयनात्कालो गतः स व्रात्य एव हि ।
बहूनां दीप्तिमानेकः स तु राजा महायशाः ॥
उग्रं दण्डं पातयते स तु तीक्ष्णोग्र उच्यते ।
जहाति मित्रं यश्चान्यं स कृतघ्नस्तु कीर्त्यते ॥
हत्वा परान्यस्तु जीवेद्वधजीवी स कीर्तितः ।
प्रकाशधर्मो गुप्ताघः स तु दाम्भिक एव हि ॥
धर्मं त्वधर्मरूपेण यः करोति स चाक्रिकः ।
परेषां मरणार्थाय शस्त्रकृच्छस्त्रविक्रयी ॥
एतेषां च न भोक्तव्यं दीनस्य रुदतस्तथा ।
करुणाक्रन्दितस्याथ च्छद्मना गरदस्य च ॥
यतीनां लिङ्गिनां चैव तथा पाषण्डिनामपि ।
स्त्रीजितस्य च नाश्नीयादन्नमस्वामिकस्य च ॥
दुहितुश्चाप्रसूतायास्तथाऽकल्पस्य वा क्वचित् ।
असंमानं तु गुणिनां संमानं पापकर्मिणाम् ॥
समं वा कुरुते यस्तु तदन्नं नैव भक्षयेत् ।
शूद्रानुमन्त्रितं यच्च ब्राह्मणान्नं च वा क्वचित् ॥
न भक्षयेत शूद्रान्नं ब्राह्मणेनानुमन्त्रितम् ।
मत्तोन्मत्तातुराणां च मुमूर्षोर्वा कदाचन ॥
निगडैरथ बद्धस्य चौरस्य वृजिनस्य च ।
अभिशस्तस्य तक्ष्णश्च कदर्यस्य च जाल्मिनः ॥

---

१ क. °कामध° ।

चिकित्सकस्य बद्धस्य क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
पुत्रभर्तृविरोधिन्याः स्त्रियाः पण्यस्त्रियास्तथा ॥
नगराधिपतेः शत्रोः पिशुनानृतिनोस्तथा ।
सावज्ञस्याथ मूर्खस्यासत्कारस्याथ दुर्मतेः ॥
असंस्कृतमविज्ञातं सरोषं विस्मयान्वितम् ।
भक्ष्यं त्वभक्ष्यवाक्येन(ण) यो दद्याद्दोषमानसः ॥
गुरोरपि न भोक्तव्यं वाग्दुष्टं तन्महाघदम् ।
असच्छूद्राच्च पक्वान्नं नाद्यादश्रद्धयाऽन्वितम् ॥
यस्याग्निकार्यं न गृहे नाग्रभुग्ब्राह्मणस्तथा ।
तद्गृहे नान्नमश्नीयात्प्रवासिन्यग्निहोत्रिणि ॥
कः क्षुधार्तश्च को भुङ्क्ते मामकं त्वन्नमेव हि ।
यशोर्थे यस्तु कथयेत्तद्वाग्दुष्टं न भक्षयेत् ॥
एतेषां तु गृहे भुक्त्वा वने चान्द्रायणं चरेत् " ।

**कामतो भूयोभ्यासविषयमेतत् ।**

**तथा**—" योगो मघात्रयोदश्योः कुञ्जरच्छायसंज्ञकः ।
भवेन्मघायां संस्थेन्दौ हंसे चैव करे स्थिते ॥
मृतके सूतके चाथ ग्रस्तयोश्चन्द्रसूर्ययोः ।
छायायां कुञ्जरस्याथ भुक्त्वा तु नरकं व्रजेत् ॥
भुक्त्वा प्रमादाद्विप्रस्तु सम्यक्चान्द्रायणं चरेत् ।

**बौधायनः**—" ब्रह्मौदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा ।
जातश्राद्धे नवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**भरद्वाजः**—" पक्षे वा यदि वा मासे न यस्याश्नाति वै द्विजः ।
भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**वृद्धयाज्ञवल्क्यः**—" यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ।
तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

**चतुर्विंशतिमतात्**—" निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च ।
अन्नं भुक्त्वा नरः कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥
आचार्याग्निगुरुद्वेष्टुर्धर्मशास्त्रद्विषस्तथा ।
गोब्राह्मणद्विषश्चैव तदेव व्रतमाचरेत् ॥

---

१ क. यशोर्थी य° ।

उपपातकयुक्तस्य चाब्दमेकं निरन्तरम् ।
अन्नं भुक्त्वा नरः कुर्यात्पराकं तु विशोधनम् " ॥

**यः समग्रं वर्षमुपपातकयुक्तस्तस्यान्नमभ्यासतो मत्या चासकृदुक्तवत एतत् ।**

**हारीतः**—" पतितान्नं यदा भुङ्क्ते विप्रश्चण्डालवेश्मनि ।
मासार्धं तु पिबेद्वारि मासं कामकृते तथा " ॥

**चण्डालवेश्मनीति चण्डालान्नोपलक्षणम् ।**

**छागलेयः**—" अज्ञानाद्भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा ।
प्राणायामशतं कृत्वा शुध्यन्ते शूद्रसूतके ॥
वैश्ये षष्टिर्भवेद्राज्ञि विंशतिर्ब्राह्मणे दश ।
एकाहं च त्र्यहं पञ्च सप्तरात्रमभोजनम् ॥
ततः शुचिर्भवेद्विप्रः पञ्चगव्यं पिबेत्ततः " ।

**ब्राह्मणादिक्रमेणैकाहादयः प्राणायामैः समुदिता ज्ञेयाः । आपदि सकृद्भोजन एतत् ।**

**मार्कण्डेयः**—" भुक्त्वा तु क्षत्रियाशौचे तप्तकृच्छ्रो विधीयते ।
वैश्याशौचे तथा भुक्त्वा महासांतपनं चरेत् ॥
शूद्रस्यैव तथा भुक्त्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ।

**सकृत्कामकारविषयमेतत् ।**

**शङ्खः**—" शूद्रस्य सूतके भुक्त्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् ।
वैश्याशौचे तथा भुक्त्वा त्रीन्मासान्व्रतमाचरेत् ॥
ब्राह्मणस्य तथाऽशौचे[2] मासमेकं व्रती भवेत् " ।

**कामतो भूयोभ्यासविषयमेतत् । व्रतं गोमूत्रयावकाशनम् ।**

**पराशरः**—" अज्ञानाद्भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा ।
प्रायश्चित्तं कथं तेषां वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत् ॥
गायत्र्यष्टसहस्रेण शुद्धिः स्याच्छूद्रसूतके ।
विशः पञ्चशतेनैव क्षत्रियस्य शतेन तु ॥
ब्राह्मणस्य यदा भुङ्क्ते प्राणायामेन शुध्यति ।
+अथवा वामदेव्येन साम्ना चैकेन शुध्यति " ॥

---

+ एतदर्धं न क. पुस्तके ।

---

१ क. द्विजः । २ क. °चे भुक्त्वा मासं व्र° ।

उपवासाद्यसमर्थस्याऽऽपदि सकृदज्ञानाद्भुञ्जत एतत् ।

शातातपः—" ब्रह्मक्षत्रविशां भुक्त्वा न दोषश्चाग्निहोत्रिणाम् ।
सूतके शावशौचे तु अस्थिसंचयनात्परम् " ॥

आपदि ब्राह्मणादीनामग्निहोत्रिणां सूतके शावशौचेऽन्नस्य भोक्तुरदोषः । तथैव तेषां मृतकसूतकेऽस्थिसंचयनादूर्ध्वम् ।

" अन्नसत्रप्रवृत्तानामाममन्नमगर्हितम् ।
भुक्त्वा पक्वान्नमेतेषां त्रिरात्रं तु पयः पिबेत् " ॥

अशौचान्नभोक्तृभिरशौचव्यपगमे वा प्रायश्चित्तं कार्यमित्याह विष्णुः—

" ब्राह्मणादीनां यः सकृदेवान्नमश्नाति तस्य तावदेवाऽऽशौचं यावत्तेषामशौचव्यपगमे प्रायश्चित्तं कुर्यात् । सवर्णस्याऽऽशौचे द्विजो भुक्त्वा स्रवन्तीमासाद्य तन्निमग्नस्त्रिरघमर्षणं जप्त्वोत्तीर्य गायत्र्यष्टसहस्रं जपेत् । क्षत्रियाशौचे ब्राह्मणस्त्रिरात्रोपोषितः कृत्वा शुध्यति । वैश्याशौचे[3] ब्राह्मणस्त्रिरात्रोपोषितश्च, ब्राह्मणाशौचे राजन्यः क्षत्रियाशौचे वैश्यः स्रवन्तीमासाद्य गायत्रीशतपञ्चकं जपेत् । वैश्यश्च ब्राह्मणाशौचे गायत्र्यष्टशतं जपेत् । शूद्राशौचे द्विजो भुक्त्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ॥ शूद्रश्च द्विजाशौचे स्नानमाचरेत् । शूद्राशौचे शूद्रः स्नात्वा पञ्चगव्यं पिबेत् " ।

अष्टसहस्रमष्टाभिरधिकं सहस्रम् ।

संवर्तः—" विप्रान्नं सूतके विप्रो भुक्त्वा नाद्याद्दिनत्रयम् ।
पीत्वा पानीयमज्ञानात्पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

वसिष्ठः—" अनिर्दशाहे मरणे नियोगाद्भुक्तवान्द्विजः ।
क्रिमिर्भूत्वा स देहान्ते तां विष्ठां समुपाश्नुते ॥
द्वादश मासान्द्वादशार्धमासान्वाऽनश्नन्संहिताध्ययनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते " ।

कामतो द्वादश मासा अकामतस्तदर्धम् । उभयं चैतदत्यन्ताभ्यासे । अनश्नन्प्राग्भोजनादित्यर्थः ।

---

१ छ. °क्त्वाऽन्नदो° । २ छ. °णस्त्वेतदेवोपो° । ३ छ. वैश्यस्याशौचे क्षत्रियश्च वैश्या° ।

शङ्खः—" चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः ॥
पक्षत्रयेऽतिकृच्छ्रः स्यात्षण्मासे कृच्छ्र एव तु ।
आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुनराब्दिके ॥
अत ऊर्ध्वं न दोषः स्याच्छङ्खस्य वचनं यथा " ।

कामत एतत् ।

चतुर्विंशतिमतात्-" प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं मासिके तथा ।
पादोनं कृच्छ्रमुद्दिष्टं षण्मासेऽथ तथाऽऽब्दिके ॥
त्रिरात्रं चान्यमासेषु प्रत्यब्दं चेदहः स्मृतम् " ।

अमतिपूर्वके सकृद्भोजन एतत् । मतिपूर्वकेऽप्यापदि वा ।

तथा—" शूद्रस्य तु नवश्राद्धे चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ।
चान्द्रायणद्वयं मासे त्रिपक्षे त्वैन्दवं स्मृतम् ॥
आमश्राद्धे भवेदर्धं प्राजापत्यं तु सर्वदा ।

सकृत्कामत एतत् ।

षट्त्रिंशन्मतात्—" प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादहीनं तु मिश्रके ।
त्रैपक्षिके तदर्धं तु पञ्चगव्यं द्विमासिके " ॥

असमर्थस्याऽऽपदि सकृदामश्राद्धं गृहीतवत एतत् । मिश्रकं प्रथमसंवत्सरान्तर्गतश्राद्धम् ।

विष्णुः—" आमश्राद्धाशने त्रिरात्रं पयसा वर्तेत " ।

प्रतिषिद्धश्राद्धविषयमेतत् । शूद्रश्राद्धविषयं वा ।

भरद्वाजः—" अपाङ्क्तेयान्समुद्दिश्य श्राद्धमेकादशेऽहनि ।
ब्राह्मणस्त्वत्र भुक्त्वाऽन्नं शिशुचान्द्रायणं चरेत् " ॥

अपाङ्क्तेयाः श्राद्धप्रकरण उक्ताः । तद्देवते तथैकादशाहिके श्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेदित्यर्थः ।

मार्कण्डेयः—" आमश्राद्धे तथा भुक्त्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति ।
संकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं क्षपणं भवेत् " ॥

शूद्रान्नविषयमेतत् ।

अङ्गिराः—" दशकृत्वा(त्वः)पिबेदा(च्चा)पो गायत्र्या चाभिमन्त्रिताः ।
संध्यात्रयमुपासीत जपेच्च जुहुयात्ततः " ॥

---

१ क. °वत्येत° ।

दशकृत्व इति जलपानाभ्यासो व्याख्येयः । समभिव्याहृतक्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्प्रत्ययविधानात् । गायत्र्यापि सकृदेव वाच्या । एकद्रव्यसाभ्यासपानप्रयोगाङ्गत्वात् ।

लिखितः—" यस्य चाग्नौ न क्रियते यस्य चान्नं न दीयते ।
न तद्भोज्यं द्विजातीनां भुक्त्वा चोपवसेदहः " ॥

भरद्वाजः—" शिष्टा नाश्नन्ति यत्किंचिदन्नं मूलफलादिकम् ।
तदुक्त्वा ब्राह्मणः कुर्यात्प्रायश्चित्तमभोजनम् " ॥

इत्युपपातकप्रायश्चित्तानि ।

अथ जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानि वक्ष्यन्ते, तत्र मनुः—

" ब्राह्मणस्य रुजः कृत्यं घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥

रुजः कृत्यं रोगोत्पादनम् । अघ्रेयं पूतिगन्धि लशुनप्रभृति ।

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥
खरोष्ट्रमृगबाणानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च " ॥

तथा—" निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसभ्यस्य च भाषणम् ॥

असभ्यं सभानर्हं मैथुनतत्कारकादिवचनम्[3] ।

संकरापात्रकृत्यासु मासः शोधनमैन्दवः " ॥

तथा—" कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहम् ।
शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्मोहात्सांतपनेन वा ॥
मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ।
संकरीकरणं कृत्वा मासमश्नीत यावकम् ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथ वा प्राजापत्यमथापि वा ॥
अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति " ॥

अभ्यासानुबन्धतारतम्यापेक्षया मतिपूर्वकेषु संकरीकरणापात्रीकरणमलि-

---

१ छ. चाग्नं न । २ क. °थुनं त° । ३ क. °त्कारिका° ।

नीकरणीयेषु सर्वेषु वा कृतेष्वेतानि । मानवं तु सकृदमत्या प्रत्येककरणे । अत्र बार्हस्पत्यो विशेषः—

" ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा गर्दभादिप्रमापणम् ।
निन्दितेभ्यो धनादानं कृच्छ्रार्धं व्रतमाचरेत् " ॥

जातिभ्रंशकरादिगणमध्यपठितानां पापानां यानि मनुनैव प्रायश्चित्तान्तराण्युक्तानि तैरेषां विकल्पः । तस्य च यथासामर्थ्यं व्यवस्था ॥ २८९ ॥

अथान्यानि प्रायश्चित्तान्याह—

**प्राणायामं[1] जले कृत्वा खरयानोष्ट्रयानगः ॥ २९० ॥**
**नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥**

खरयुक्तं यानं खरयानम् । एवमुष्ट्रयानं, तद्गस्तदारोही नग्नो विवसनः स्नात्वा भुक्त्वा वाऽहनि स्वदारानुपेत्य वा भूमिष्ठो जले स्नात्वा प्राणायाममाचरेत् । कामत एतत् । यदाह मनुः—

" उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं च कामतः ।
विवासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुध्यति " ।

कामत इति वचनादकामतः स्नानमात्रम् ।

विष्णुः—" उष्ट्रेण खरेण वा गत्वा नग्नः स्नात्वा सुप्त्वा
भुक्त्वा वा प्राणायामत्रयं कुर्यात् " ।

अभ्यासविषयमेतत् । अत्यन्ताभ्यासे त्वाह यमः—

" खरयानमुष्ट्रयानं योऽधिरोहेद्द्विजोत्तमः ।
अपो वा निविशेन्नग्नस्त्रिरात्रं क्षपणं भवेत् " ॥

शङ्खः—" दिवा तु मैथुनं कृत्वा नग्नः स्नात्वा तथाऽम्भसि ।
नग्नां परस्त्रियं दृष्ट्वा दिनमेकं व्रतं चरेत् " ॥ २९० ॥

**गुरुं त्वंकृत्य हुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ॥**
**बद्ध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनम् ॥२९१॥**

गुरुं गरीयांसं त्वंकृत्य भर्त्सनार्थं त्वमादिशब्दै गुरुं प्रति प्रयुज्य हुंकारञ्च यो हीनपुरुषं प्रति भर्त्सनाय प्रयुज्यते तं वा कृत्वा विप्रं वादादिकथया निर्जित्य वाससाऽपि[2] बद्ध्वा क्षिप्रं शीघ्रं प्रसाद्य विगतकोपं कृत्वा नक्तं भुञ्जीतेत्यर्थः ।

---

१ ङ. °यामी ज° । २ क. °सा वाऽपि ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

मनुः—" हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् " ॥

यमः—" पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तं विधीयते ।
दिवसोपोषितः स्नात्वा अभिवाद्य प्रसादयेत् " ॥

सानुबन्ध एतत् ।

तथा—" अवाच्यं ब्राह्मणस्योक्त्वा प्रायश्चित्तं विधीयते ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कृत्वा तु प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥
आवेष्ट्य ब्राह्मणं कण्ठे प्रायश्चित्तं विधीयते ।
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥

पीडातिशयेऽनुबन्धातिशये चैतत् ।
आक्रोशमनृतं हिंसामनुरूपां समाचरेत् ।
एकरात्रं त्रिरात्रं वा षड्रात्रं वा विधीयते " ॥ २९१ ॥

किं च—

**विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ॥**
**कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते॥२९२**

विप्रं प्रति प्रहारेच्छया दण्डोद्यमे कृच्छ्रः प्रायश्चित्तं, दण्डनिपातने त्वतिकृच्छ्रः, प्रहृताद्विप्रशरीरादसृजो रुधिरस्य पाते स्रावे कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । त्वचोऽभ्यन्तरे शोणितोत्पादने प्राजापत्यः कृच्छ्रः ।

बृहस्पतिः—" काष्ठादिना ताडयित्वा त्वग्भेदे कृच्छ्रमाचरेत् ।
अस्थिभेदे तु कृच्छ्रं तु पराकं चाङ्गकर्तने " ॥

यमः—" अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥
दशसंख्याश्च गा दद्यादङ्गच्छेदो यदा भवेत् " ।

विष्णुः—" विप्रस्य वधसंयुक्तं शपथं कारयन्मृषा ।
ब्रह्महा यावकान्नेन तीव्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥
क्षत्रियस्य पराकं स्यात्प्राजापत्यं तथा विशः ।
वृषलस्य त्रिरात्रं तु व्रतं शूद्रहणश्चरेत् " ॥

---

१ क. °रूपं स° ।

अन्यान्यपि प्रकीर्णप्रायश्चित्तानि(त्त)विधायकानि स्मृत्यन्तराणि कानिचित्प्रदर्श्यन्ते । तत्र भविष्यत्पुराणम्—

" नीलीमध्ये यदा गच्छेत्प्रमादाद्ब्राह्मणः क्वचित् ।
अहोरात्रोषितो भुत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
कुर्यादज्ञानतो यस्तु नीलीजं दन्तधावनम् ।
एकरात्रं निराहारः पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
रोमकूपे यदा गच्छेद्रजो नीरुग्यास्तु कस्यचित् ।
त्रिषु वर्णेषु सामान्यं तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥
पालनं तु व्ययश्चैव तद्वृद्धेरुपजीवनम् ।
पातित्यं तु भवेद्विप्रे त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशोधनम् ॥
नीलीदारु यदा भिन्द्याद्ब्राह्मणस्य शरीरतः ।
शोणितं दृश्यते तत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् " ॥

शरीरत इति द्वितीयार्थे तसिः ।

शङ्खः—" अध्यास्य शयनं यानमासनं पादुके तथा ।
पलाशस्य द्विजश्रेष्ठस्त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥
क्षिप्त्वाऽम्भावशुचिद्रव्यं तदेवाम्भसि मानवः ।
मासमेकं व्रतं कुर्यादुपाकृश्य तथा गुरुम् ॥

उपाक्रोश्येतिपाठे, आधिक्येनाऽऽक्रम्य ।

द्वौ विप्रौ ब्राह्मणाग्नी च दंपती तौ द्विनोत्तमौ ।
अन्तरेण यदा गच्छेत्कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥
होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसंग्रहे ।
अन्तरेण यदा गच्छेद्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥
दारान्नधनलाभानां बुद्ध्वा विघ्नं समाचरेत् ।
+[प्रत्येकं प्राकृतं कुर्याद्ब्रह्मचर्यं तु वार्षिकम् " ॥

भूमिकन्यानृतेषु गोमूत्रयावकं समश्नीयात् । दुःस्वप्नारिष्टदर्शने च घृतं हिरण्यं च दद्यात् ।

अत्रिः—" आहिताग्निरुपस्थानं न कुर्याद्यस्तु पर्वणि ।
ऋतौ न गच्छेद्यो भार्यां सोऽपि कृच्छ्रार्धमाचरेत् " ] ॥

---

* एतच्चिह्नान्तर्गतं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ छ. °र्यादपाक्रम्य तथा गुरुम् । उपक्रुश्ये° । २ छ. दानान्न° ।

उपस्थानमग्निसमीपे स्थानम् ।

मनुः—" विनाऽद्भिरप्सु वाऽप्यन्तः शारीरं संनिवेश्य तु ।
सचैलं बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति " ॥

शारीरं मूत्राद्युत्सर्गः ।

यमः—" अटव्यामटमानस्य ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्रनष्टसलिले देशे कथं शुद्धिर्विधीयते ॥
अपो दृष्ट्वैव विप्रस्तु कुर्याच्छौचं सचैलकम् ।
गायत्र्यष्टशतं जप्यं स्नानमेतत्परं भवेत् ॥
देशं कालं समासाद्य अवस्थामात्मनस्तथा ।
धर्मशौचेऽवतिष्ठेत न कुर्याद्वेगधारणम् " ॥

वेगो मलवेगः ।

वसिष्ठः—" दण्डचोत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत् । त्रिरात्रं पुरोहितः ।
कृच्छ्रमदण्डयदण्डने पुरोहितः । त्रिरात्रं राजा " ।

हारीतः—" ग्राम्योपयोगे वानप्रस्थानां चान्द्रायणम् ।
स्वधर्माचारनियमातिक्रमे फलचान्द्रायणम् " ।

वसिष्ठः—" वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादश-
रात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत् " ।

दीक्षाभेदो ब्रह्मचर्यव्यतिरिक्तनिजधर्मव्यतिक्रमः । ब्रह्मचर्यातिक्रमे तु भिक्षोः षाण्मासिकं कृच्छ्राचरणं वक्ष्यते । वानप्रस्थस्यापि तदेव, भिक्षुतुल्यत्वात् । महाकक्षं महावनम् । तस्य वृद्धिर्जलसेकादिना । स एवाऽऽह—

" भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवृद्धिं वर्जयेत् " ।

भिक्षुर्यतिः । स्वधर्मातिक्रमे वानप्रस्थवद्व्रतं कुर्यात् । सोमवृद्धिं कक्षवृद्धिं वर्जयेत् ।

शङ्खः—" पादप्रतापनं कृत्वा कृत्वा बर्हिं तथाऽप्यधः ।
कुशैः प्रमार्ज्य पादौ तु दिनमेकं भवेद्व्रती " ॥

स्नातकव्रताधिकारे क्रतुः—

" एतेषामाचाराणामेकैकस्य व्यभिचारे गायत्र्य-
ष्टशतं जप्यं कृत्वा पूतो भवति " ।

---

१ छ. °वृद्धिवर्जं भि° ।

मनुः—" वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् " ॥

अभोजनमुपवासः । अनुक्तप्रायश्चित्तविशेषातिक्रम एतत् ।

हारीतः—*"शय्यारूढपादुकोपानदारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्था-
शुद्धप्राप्तकृच्छ्रदेवपूजानिरतेत्येवमादीनामभिवादने द्विरा-
त्रमुपवासः । निमन्त्रिते तदन्यत्र भोजने त्रिरात्रम् " ।

क्रतुः—" शुध्यत्याह्निकविच्छेदे त्रिरात्रमुपवासतः ।
बहुदैवसिकभ्रंशे तदेव द्विगुणं भवेत् " ॥

बहुदिवसिको भ्रंशो बहुदैवसिकः ।

हारीतः—" उच्छिष्टस्य गमन एकाहमुपवासः । न
गृही नियमातिक्रमेऽश्नीयात् " ।

अङ्गिराः—" अनापदि चरेद्यस्तु सिद्धभिक्षां गृहे वसन् ।
दशरात्रं पिबेद्ब्रह्मापत्काले त्र्यहं द्विजः ॥
प्रतिमासमिदं प्रोक्तमभक्ष्यं प्रतिशङ्कया ।
प्रतिसंवत्सरं चैव श्रोत्रियस्य विधीयते ॥
वहन्कमण्डलुं रिक्तमस्नातोऽश्नंश्च भोजनम् ।
अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन वा शुचिः " ॥

ऋषि(ष्य)शृङ्गः—" इन्द्रचापं च शालाग्निं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत् ।
प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा " ॥

यमः—" केतनं कारयित्वा तु योऽतिपातयते द्विजः ।
ब्रह्महत्यामवाप्नोति शूद्रयोनौ च जायते ॥
एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते ब्राह्मणो नियतव्रतः ।
यतिचान्द्रायणं चीर्त्वा तस्मात्पापात्प्रमुच्यते " ॥

केतनं निमन्त्रणम् । अतिपातनमतिक्रमः । निमन्त्रिताय भोजनाप्रदान-
मिति यावत् ।

तथा—" नदीसंगमहर्तुश्च कन्याविघ्नकरस्य च ।
समे विषमकर्तुश्च निष्कृतिर्नोपपद्यते ॥

---

* मिताक्षरायां तु भिन्नः पाठः—शय्यारूढे पादुकोपानद्दारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्थ-
श्राद्धकृत्प्रदेवपूजानिरताभिवादने त्रिरात्रमुपवासः" इति ।

---

१ छ. 'कृच्छ्रादे° ।

त्रयाणामपि चैतेषां प्रत्यापत्तिं तु मार्गताम् ।
भैक्षेण च व्रतं मासं शुद्धये चान्द्रायणं स्मृतम् " ॥

बृहस्पतिः—" अनिर्वर्त्य महायज्ञान्यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही ।
अनातुरः सति धने स तु कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥

शङ्खः—" प्रेतस्य प्रेतकार्याणि अकृत्वा धनहारकः ।
वर्णानां यद्वधे प्रोक्तं तदर्धं प्रयतश्चरेत् ॥
अतिमानादतिक्रोधाद्भयादज्ञानतोऽपि वा ।
तद्बुभीयात्स्त्री पुमान्वा गतिर्येषां न विद्यते ॥
पूयशोणितसंपूर्णे तमस्यन्धे सुदारुणे ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते ॥
गोभिर्हृतं तथोद्वृद्धं ब्राह्मणेन च घातितम् ।
संस्पृशन्ति तु ये विप्रा अग्निदा गरदाश्च ये ॥
अनुयातारोऽपि चान्ये ये चान्ये पाशछेदकाः ।
सर्वे ते पापसंयुक्तास्तेषां वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥
तप्तकृच्छ्रेण शुध्येत्तु कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
अनड्वत्सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् " ॥

संवर्तः—" गोभिर्हृते तथा विप्रे तथा चैवाऽऽत्मघातिनि ।
नैवाश्रुपातनं कार्यं सद्भिः श्रेयोभिकाङ्क्षिभिः ॥
एषामन्यतमं प्रेतं यो वहेत दहेत वा ।
कटोदकक्रियां कृत्वा तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥
तच्छवं केवलं स्पृष्टमस्रु वा पतितं यदि ।
पूर्वोक्तानामकर्ता चेदेकरात्रमभोजनम् ॥
य आत्मत्यागिनः कुर्यात्स्नेहात्प्रेतक्रियां नरः ।
स तप्तकृच्छ्रसहितं चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् " ॥

बुद्धिपूर्वकमेतत् ।

यमः—" नाऽऽशौचं नोदकं नास्तु नापवादानुकम्पने ।
ब्रह्मदण्डहतानां च न कार्यं कटधारणम् ॥
स्नेहकार्यभयादिभ्यो यस्त्वेतानि समाचरेत् ।
गोमूत्रयावकाहारः स तु कृच्छ्रेण शुध्यति ॥
एतत्समुदितानां च कर्मणां मतिपूर्वके " ।

संवर्तः—" वोढॄणामग्निदातॄणां संविधानविधायिनाम् ।
तप्तकृच्छ्रद्वयाच्छुद्धिरेकमेवानुयायिनाम् " ॥

एतदपि समुदितकरणे ।

उशना—" प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोद्बन्धभृगूदकैः ।
काष्ठाद्यैश्चाऽऽत्मनो हन्तुर्नृपब्रह्मसरीसृपैः ॥
शृङ्गिदंष्ट्रिनखिव्यालविद्युताभिहतस्य च ।
तथा संकरजातस्य नाशौचोदकवद्व्ययः ॥
तत्स्पर्शे यदि चाऽऽक्रोशे दिनमेकमभोजनम् ।
अज्ञानाद्वहनादौ तु कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥
बुद्धिपूर्वे पुनस्तस्मिन्कृच्छ्रं[1] गोमूत्रयावकः ।
तप्तकृच्छ्रोऽप्यशक्तौ[2] तु मासं भिक्षाशनोऽपि वा ॥
कृत्वा च वहनादीनि प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
तप्तकृच्छ्रद्वयाच्छुद्धिरेकमेवानुयायिनाम् ॥
यस्तु शेषाः क्रियाः कुर्यात्स्नेहान्मूल्येन वा पुनः ।
भवेत्तस्य पुनस्तप्तकृच्छ्रचान्द्रायणोत्तरः[3] " ॥

बृहस्पतिः—" विषोद्बन्धनशस्त्रेण यस्त्वात्मानं प्रमापयेत् ।
मृतो मेध्येन लेप्तव्यो नान्यं संस्कारमर्हति ॥
पाशच्छेत्ता तु यस्तस्य वोढा वह्निप्रदस्तथा ।
सोऽपि कृच्छ्रेण शुध्येत्तु घातकोऽपि नराधमः " ॥

दक्षः—" आरूढपतितं विप्रं चण्डालाँश्वविनिःसृतम् ।
उद्बन्धनमृतं चैव स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् " ॥

सुमन्तुः—" उद्बन्धनपाशच्छेदनवहनेषु मासं
भैक्षभक्षणं त्रिषवणं स्यात् " ।

च्यवनः—" आत्मघातकस्य स्पर्शनवहनदहने तप्तकृच्छ्रं
चरेत् । विंशतिगावो दक्षिणा ब्राह्मणेषु " ।

आदिपुराणम्—" शृङ्गिदंष्ट्रिनखिव्यालविषवह्निमहाजलैः ।
सुदूरात्परिहर्तव्यः कुर्वन्क्रीडां मृतस्तु यः ॥
नागानां विप्रियं कुर्वन्दग्धश्चाप्यथ विद्युता ।
निगृहीतास्तु ये राज्ञा चौर्यदोषेण कुत्रचित् ॥

---

१ क. °न्कृच्छ्रगोमूत्रयावकैः । त° । २ छ. °च्छ्रोऽपि श° । ३ क. °त्तरैः । बृ° । ४ क. °ल्पधवि° ।

परदारान्हरन्तश्च रोषात्तत्पतिमिर्हताः ।
असमानैस्तु संकीर्णैश्चण्डालाद्यैस्तथा हताः ॥
चौराग्निविषदाश्चैव पाषाण्डाः क्रूरबुद्धयः ।
क्रोधात्प्रायं विषं वह्निं शस्त्रमुद्बन्धनं जलम् ॥
गिरिवृक्षप्रपातान्वा ये कुर्वन्ति नराधमाः ।
कुशिरुपजीविनो ये च ये चालंकारकारिणः ॥
मुखेभगास्तु ये केचित्क्लीबप्राया नपुंसकाः ।
ब्रह्मदण्डहता ये च ये च वा ब्राह्मणैर्हताः ॥
महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्तिताः ।
पतितानां न दाहः स्यान्नान्त्येष्टिर्नास्थिसंचयः ॥
न चाम्बुपातः पिण्डो वा कार्यं श्राद्धादिकं क्वचित् ।
एतानि पतितानां तु यः करोति विमोहितः ॥
तप्तकृच्छ्रद्वयेनैव तस्य शुद्धिर्न चान्यथा " ।

**पराशरः**—" चण्डालेन श्वपाकेन गोभिर्विप्रो हतो यदि ।
आहिताग्निर्मृतो विप्रो विषेणाऽऽत्महतोऽपि वा ॥
लोकाग्निना स दग्धव्यो मन्त्रसंस्कारवर्जितः ।
स्प्रष्टा दग्धा च वोढा च सपिण्डेषु च सर्वशः ॥
प्राजापत्यं चरेत्पश्चाद्विप्राणामनुशासनम् ।
दग्ध्वाऽस्थीनि पुनर्गृह्य क्षीरे प्रक्षालयेद्बुधः ॥
स्वेनाग्निना पुनर्दाहः स्वमन्त्रेण पृथक्पृथक् " ।

**वसिष्ठः**—" जीवन्नात्मत्यागात्कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेन्निरात्रं चोपवसेन्नित्यक्लिन्नेन वाससा प्राणानात्मनि चाऽऽयम्य त्रिः पठेदघमर्षणम् ।
अथवैतेन कल्पेन गायत्रीं परिवर्तयेत् ।
अपि वाऽग्निं समाधाय कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ।
घर्देन्यन्महापातकेभ्यः सर्वमेतेन पूयते ।
अथाऽऽचामेत् । अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यदह्ना पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । अहस्तदवलु-

---

१ क. °ष्टिर्नोदकक्रिया । न । २ क. °विप्रैर्हतो । ३ क. °रेण क्षा° । ४ छ. अथैवं ते° । ५ क. °दन्म° ।

म्पतु । यत्किंच दुरितं मयि । इदमहं माममृतयोनौ । सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा । सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद्रात्रिया पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । रात्रिस्तदवलुम्पतु । यत्किंच दुरितं मयि । इदमहं माममृतयौनौ । सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा" इति ।

**विष्णुः**—" उद्बन्धनमृतस्य यः पाशं छिन्द्यात्स तप्तकृच्छ्रेण शुध्यति । आत्मनस्त्यागिनां च संस्कर्ता तदस्तुपातकारी च सर्वस्यैव प्रेतस्य तद्बान्धवैः सहास्तुपातनं कृत्वा स्नानेन[1] वा कृतेऽस्थिसंचये सचैलस्नानात् । द्विजः शूद्रप्रेतानुगमनं कृत्वा स्रवन्तीमासाद्य गायत्र्यष्टसहस्रं जपेत् । द्विजप्रेतस्याष्टशतम् । शूद्रः प्रेतानुगमनं कृत्वा स्नानमाचरेत् " ।

**अथानाशकादिप्रच्युतप्रायश्चित्तानि । तत्र मार्कण्डेयः**—

" ये प्रेत्यवसिता विप्राः प्रव्रज्याग्निजलादितः ।
अनाशकान्निवृत्ता[2] ये वाञ्छन्ति गृहमेधिताम् ॥
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रांस्त्रीणि चान्द्रायणानि वा ।
जातकर्मादिसंस्कारैः संस्कृताः शुद्धिभाजनाः " ॥

**पराशरः**—" अनाशकान्निवृत्तस्तु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थितः ।
चण्डालः स तु विज्ञेयो वर्जनीयः प्रयत्नतः " ॥

**संवर्तः**—" संन्यस्य दुर्मतिः कश्चित्प्रत्यापत्तिं भजेत यः ।
स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्तः षण्मासान्प्रत्यनन्तरम् " ॥

**पराशरः**—" जलाग्निपतने चैव प्रव्रज्यानशने तथा ।
अध्यवस्य निवृत्तानां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥
ब्राह्मणानां प्रसादेन तीर्थानुगमनेन च ।
गवां शतप्रदानेन वर्णाः शुध्यन्ति वै त्रयः " ॥

**यमः**—" जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः ।
विषप्रपतनप्रायशस्त्रघाताश्च(च) ये च्युताः ॥

---

१ छ. °नेनाकृ° । २ छ. प्रत्याव° । ३ छ. अकामका निवृ° ।

सर्वे ते प्रत्यवसिताः सर्वलोकविगर्हिताः ।
चान्द्रायणेन शुध्येयुस्तप्तकृच्छ्रद्वयेन वा " ॥

असमर्थविषयमेतत् ।

अङ्गिराः—" यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्याग्निजलादितः ।
अनाशननिवृत्तस्तु गृहस्थत्वं चिकीर्षति ॥
चारयेत्त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि वा ।
जातकर्मादितः[2] प्रोक्तं पुनःसंस्कारमर्हति " ॥

चिरकालं प्रायश्चित्तमकुर्वतोऽवस्थान एतत् ।

आपस्तम्बः—" चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता ततः ।
प्राजापत्येन शुध्येत्तु तस्माद्वै पापकर्मणः " ॥

भविष्यत्पुराणम्—" आरूढो नैष्ठिकं धर्मं प्रत्यापत्तिं व्रजेत्तु यः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासमिति विद्धि खगाधिप " ॥

मानस्यां प्रत्यापत्तावेतत् ।

अथ स्पर्शप्रायश्चित्तानि, दक्षः—

" पाने मैथुनसंसर्गे तथा मूत्रपुरीषयोः ।
संसर्गं[3] यदि गच्छेत शवोदक्यान्त्यजैः सह ॥
दिनमेकं चरेन्मूत्रे पुरीषे तु दिनद्वयम् ।
दिनत्रयं मैथुने स्यात्पाने च स्याच्चतुष्टयम् " ॥

आपस्तम्बः—" भुक्त्वोच्छिष्टस्त्वनाचान्तश्चण्डालैः श्वपचेन वा ।
प्रमादात्स्पर्शनं गच्छेत्तत्र कुर्याद्विशोधनम् ॥
गायत्र्यष्टसहस्रं तु द्रुपदानां शतं तथा ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

शातातपः—" उच्छिष्टस्तु स्पृशेद्विप्रश्चण्डालं चेत्कथंचन ।
ऊर्ध्वोच्छिष्टस्तु संस्पृश्य द्विजः सांतपनं चरेत् ॥
अधोच्छिष्टस्त्रिरात्रान्ते पञ्चगव्येन शुध्यति " ।

भुक्तोच्छिष्ट ऊर्ध्वोच्छिष्टः । उत्सृष्टमूत्रपुरीषोऽधउच्छिष्टः ।

उशना—" चण्डालश्वपचस्पृष्टो विण्मूत्रे तु कृते द्विजः ।
त्रिरात्रेण विशुध्येत्तु भुक्तोच्छिष्टः षडाचरेत् " ॥

---

१ छ. 'शकानि' । २ छ. °दिभिः प्रो° । ३ क. °त्यावृत्ता° । ४ क. संस्पर्शे ।

व्याघ्रः—" चण्डालोदकसंस्पृष्टः स्नानेन स विशुध्यति ।
उच्छिष्टस्तेन संस्पृष्टस्त्रिरात्रेण विशुध्यति " ॥

सुमन्तुः—" चण्डालान्पतितांश्चैव तथा नारीं रजस्वलाम् ।
उच्छिष्टस्तु द्विजः स्पृष्ट्वा प्राजापत्येन शुध्यति " ॥

कश्यपः—" श्वसूकरान्त्यचण्डालमद्यभाण्डरजस्वलाः ।
यद्युच्छिष्टः स्पृशेत्तत्र कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् " ॥

आपस्तम्बः—" भुक्तोच्छिष्टोऽन्त्यजैः स्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ।
अर्धोच्छिष्टे स्मृतः पादः पाद आचमने तथा ॥

अर्धोच्छिष्टो वर्तमानभोजनः ।

" एकवृक्षे समारूढौ चण्डालब्राह्मणौ यदि ।
फलं भक्षयतस्तत्र प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।
ब्राह्मणान्समनुज्ञाप्य सवासाः स्नानमाचरेत् ॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ।
एकशाखां समारूढः फलान्यश्नात्यसौ यदा ॥
प्रायश्चित्तं त्रिरात्रं स्यात्पञ्चगव्येन शुध्यति ।
चण्डालेन गृहीतं यस्त्वज्ञानादुदकं पिबेत् ॥
तत्र शुद्धिं विजानीयात्प्राजापत्येन नित्यशः ।
भुक्तोच्छिष्टस्त्वनाचान्तो ह्यमेध्यं यदि संस्पृशेत् ॥
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ।

बृहस्पतिः—" उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टः शुना शूद्रेण वा द्विजः ।
कृत्वोपवासं नक्तं च पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

कामकारविषयमिदम् । अकामतस्तु च्छागलेयोदितम्—

" उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टः स्नानं येषु विधीयते ।
तैर्नैवोच्छिष्टसंस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ॥
कर्मारं रजकं वेनं(न)धीवरं नटमे(ए)व च ।
एभिः स्पृष्टस्तथोच्छिष्ट एकरात्रं पयः पिबेत् ॥
तैरुच्छिष्टैस्त्रिरात्रं स्याद्घृतं प्राश्य विशुध्यति ।
भुञ्जानेन तु विप्रेण स्पृष्टा यदि रजस्वला ॥
शिशुकृच्छ्रेण शुध्येत्तु प्राणायामशतेन च " ।

आपस्तम्बः—" उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो विशौचस्तु द्विजोत्तमः ।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

**चण्डालादिविषयमिदम् ।**

**हारीतः**—" महापातकिसंस्पर्शे स्नानमेव विधीयते ।
संस्पृष्टस्तु यदा स्पृष्टो ब्रह्मकूर्चेन शुध्यति ॥
त्रिरात्रमेकरात्रं वा योऽन(प्य)श्नन्पञ्चगव्यकम् ।
जपंच(श्च) प्रणवं सम्यगेवं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥
कृते मूत्रे पुरीषे वा भुक्तोच्छिष्टोऽथ वा द्विजः ।
श्वादिस्पृष्टो जपेद्देव्याः सहस्रं स्नानपूर्वकम् " ॥

**आपस्तम्बः**—" विप्रो विप्रेण संस्पृष्ट उच्छिष्टेन कथंचन ।
आचम्यैव तु शुद्धः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम् ॥
उदक्यास्पृष्ट उच्छिष्टो विड्वराहश्च कुक्कुटैः ।
काकमार्जारकव्याद्भिरुपवासेन शुध्यति ॥
येन केनचिदुच्छिष्टो ह्यमेध्यं यदि संस्पृशेत् ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**छागलेयः**—" उच्छिष्टः संस्पृशेद्विप्रो मद्यशूद्रशुनोऽशुचीन् ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
उच्छिष्टः स्पृष्ट आचामेदुच्छिष्टेन स्वजातिना ।
नक्तेन चोपवासेन क्षत्रविट्स्पर्शने क्रमात् " ॥

**शातातपः**—" यस्तु च्छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणोऽप्यधिगच्छति ।
तत्र स्नानं तु तस्योक्तं घृतप्राशो विशोधनम् " ॥

**तथा**—" अन्त्यजैर्हस्तकाष्ठेन वाससा स्पृष्ट एव वा ।
प्रक्षाल्याङ्गं समाचामेदुच्छिष्टस्तु निशां क्षिपेत् " ॥

**औपकायनः**—" अस्पृश्येन सहैकान्ती[1] तरन्नौसंक्रमादिभिः ।
निदध्यादप्सु पाण्यादि न दुष्येत्तेन चास्पृशन् " ॥

**शातातपः**—" कापालिकानां संस्पर्शे स्नानं कृत्वा यथाविधि ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति " ॥

**बृद्धशातातपः**—" चण्डालं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवमन्त्यजम् ।
सूतिकां सूयिकानारीं रजसा च परिप्लुताम् ॥
श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः ।
सचैलः सशिरः स्नात्वा तदानीमेव शुध्यति ॥

---

१ क. °कान्ते त° ।

प्रसवं कारयति या सा सूयिका ।

अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धो यदि संस्पृशेत् ॥
विशुध्यत्युपवासेन त्रिरात्रेणोत्तरेण च " ।

उत्तरेण भुक्तोच्छिष्टेनेत्यर्थः ।

गार्ग्यः—" क्रव्यादश्वखरोष्ट्रैश्च स्पर्शे व्यवहिते द्विजः ।
अचैलं वा सचैलं वा स्नानं कृत्वा विशुध्यति " ॥

सचैलं मतिपूर्वके । अचैलमन्यत्र ।

" शूद्रं स्पृष्ट्वा निषादं च शुध्येदाचमनाद्द्विजः ।
तद्धीनस्पर्शनात्स्नानप्राणायामैस्त्पोबलात् " ॥

स्नानासमर्थस्य शूद्रस्पर्शिन आचमनं, समर्थस्य तु स्नानमेव । अत एव स्मृत्यन्तरम्—

" एडकं कुक्कुटं काकं श्वशूद्रान्त्यावसायिनः ।
दृष्ट्वैतानाचरेत्कर्म स्पृष्ट्वैतान्स्नानमाचरेत् " ॥

यद्वा सच्छूद्रस्पर्शे आचमनमसच्छूद्रस्पर्शे स्नानम् ।

वृद्धयाज्ञवल्क्यः—" चण्डालपुक्कसम्लेच्छभिल्लुकापालिदारकान् ।
उपपातकिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानं समाचरेत् " ॥

संवर्तः—" कैवर्तमृगयुव्याधसौनिशाकुनिकानपि ।
रजकं च तथा स्पृष्ट्वा स्नात्वैवाशनमाचरेत् " ॥

स्नात्वैव भुञ्जीतेत्यर्थः । एवं च यद्रजकादिस्पर्शेऽशनं तद्व्याधितादिविषयं द्रष्टव्यम् ।

षट्त्रिंशन्मतात्—"चण्डालशवस्पर्शने कृच्छ्रं कुर्यात् । यानशय्यासनेषु त्रिरात्रम्" ।

चण्डाल[शव]स्पर्शन इति । चण्डालस्य शवत्वमापन्नस्य स्पर्शन इत्यर्थः । जीवता चण्डालेन सह यानादिषु त्रिरात्रमिति । तथा—

" व्रणबन्धनाभ्यञ्जनविस्रावणरुधिरोत्पादनेषु कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत् " ।

व्रणबन्धादीनां चण्डालं प्रति करणे चण्डालेन वाऽऽत्मनि करण एतत् । आपस्तम्बः—

" येन केनचिदभ्यक्तश्चण्डालं यदि संस्पृशेत् ।
उपवासेन चैकेन पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
तैलाभ्यक्तस्तथाऽऽचान्तः श्मश्रुकर्मणि मैथुने ।
मूत्रोच्चारं यदा कुर्यादहोरात्रेण शुध्यति " ॥

प्रचेताः—" स्वकाये चण्डालादिकायाभिस्पर्शने द्विरात्राभोजनाच्छुद्धिः "।

इदं परिष्वङ्गविषयम् ।

" चण्डालो यदि कायस्य रक्तमुत्पादयेत्क्वचित् ।
त्रिरात्रेण विशुद्धिः स्यादेकरात्रेण चोत्तरे " ॥

उत्तरे क्षत्रियादौ । त्रिरात्रादेकैकस्याहोरात्रस्य ह्रासः ।

क्रतुः—" चण्डालस्योच्छिष्टदाने चण्डालनृत्तदर्शने गीतवादित्रश्रवणे भैषज्यक्रियायां द्विरात्राभोजनेन शुद्धिः । अशुचिं दृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षेत, प्राणायामं कृत्वा पञ्चदशमात्रिकम् "।

अशुचिश्चण्डालादिः ।

पराशरः—" श्वपाकडोम्बचण्डालान्मिथः संभाषते यदि ।
द्विजसंभाषणं कुर्यात्सावित्रीं वा सकृज्जपेत् ॥
चण्डालेन समं सुप्त्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ।
चण्डालैकमयीं गत्वा सावित्रीस्मरणाच्छुचिः " ॥

मिथो ब्राह्मणैः सह संभाषेतेत्यर्थः ।

प्रचेताः—" चण्डालगृहप्रवेशने चण्डालेनैव गृहे वृक्षच्छायायां वा सहावस्थाने चण्डाल एव स्यात् ।
ब्राह्मणानुद्दिष्टं षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं कृच्छ्रं वा ब्राह्मणस्य चतुस्त्रिद्येकमासाः शेषाणाम्"।

शेषाः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः कैवर्तादिश्च । एषां यथासंख्यं चतुस्त्रिद्येकमासाः कृच्छ्राः ।

उशना—"अनिष्टगन्धोपघ्राणश्रवणदर्शनोदाहरणेष्वादित्यदर्शनाच्छौचम् "।

अनिष्टानां गन्धशब्दरूपवाक्याना(णा)मुपघ्राणश्रवणदर्शनोदाहरणेषु आदित्यदर्शनाच्छुद्धिरित्यर्थः ।

" चण्डालधर्मसंयोगे प्राजापत्यं समाचरेत् ।
चरेत्त्रिरात्रं चण्डालकूपतीर्थनिषेवणात् " ॥

धर्मस्य संयोग उपदेशः ।

आपस्तम्बः—" दृष्ट्वा चण्डालपतितौ संध्याकाल उपस्थिते ।
ईक्षेताऽऽदित्यमुद्यन्तं तथोदक्यां मलानि च " ॥

---

१ छ. °च्छ्रं ब्रा° ।

मनुः—" आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः " ॥

पराशरः—" अविज्ञातस्तु चण्डालो निवसेद्यस्य वेश्मनि ।
विज्ञाते(तु) रू(रु)पेम(स)न्नस्य द्विजाः कुर्युरनुग्रहम् ॥
ऋषिवक्त्रच्युतान्धर्मान्गायन्तो धर्मपाठकाः ।
पतन्तमुद्धरेयुस्तं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥
दध्ना घृतेन क्षीरेण कृच्छ्रं गोमूत्रयावकम् ।
भुञ्जीत सहितो भृत्यैस्त्रिसंध्यमवगाहनम् ॥
त्र्यहं तु दध्ना भुञ्जीत सर्पिषा तु त्र्यहं ततः ।
क्षीरेण तु त्र्यहं भोज्यमेकैकेन पुनस्त्र्यहम् ॥
भावदुष्टं न भुञ्जीत भोक्तव्यं गोरसप्लुतम् ।
तिष्ठेद्दिनानि यावन्ति तावन्त्येव समाचरेत् ॥
त्रिपलं तु दधि क्षीरं पलमेकं तु सर्पिषः ।
आकरे तु भवेच्छुद्धिरारकूटे सकांस्यके " ॥

आकर उत्पत्तिस्थानम् । आरकूटो रीतिकम् ।

" जलशौचेन वस्त्राणि परित्यागेन मृन्मयम् ।
कुसुम्भगुडकर्पासलवणं मधुसर्पिषी ॥
द्वारि कुर्वीत धान्यानि दद्याद्वेश्मनि पावकम् ।
हुताशज्वालासंस्पृष्टं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ॥
सपुत्रः सहभृत्यैश्च कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
गोविंशतिं वृषं चैकं दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम् ॥
पुनर्लेपेन खातेन होमजप्येन चैव हि ।
अवधारणेन विप्राणां तत्र दोषो न विद्यते " ॥

स्वल्पकालसंपर्क एतत् ।

संवर्तः—" अन्त्यजः पतितो वाऽपि निगूढो यत्र तिष्ठति ।
सम्यग्ज्ञात्वा तु कालेन ततः कुर्याद्विशोधनम् ॥
चान्द्रायणं पराको वा द्विजातीनां विशोधनम् ।
प्राजापत्यं तु शूद्राणां शेषाणामिदमुच्यते ॥
यैस्तत्र भुक्तं पक्वान्नं तेषामुक्तो विधिक्रमः " ॥

---

१ क. 'पपन्न' ।

**प्राजापत्य इत्यर्थः ।**

" तेषामपि तु यैर्भुक्तं कृच्छ्रपादो विधीयते ।
कूपैकपानदुष्टा ये तथा संसर्गदूषिताः ॥
सर्वानेवोपवासेन पञ्चगव्येन शोधयेत् ।
बालापत्या[1] तथा रोगी गर्भिणी वृद्ध एव वा ॥
तेषां नक्तं प्रदातव्यं बालानां प्रहरद्वयम् ।
अथ वा क्रियमाणेषु येषामार्तिः प्रदृश्यते ॥
शेषं संपादयेत्तेषां विपत्तिर्न भवेद्यथा " ।

**अन्त्यजोऽत्र चण्डालः ।**

**वसिष्ठः**—" चण्डालो निवसेद्यत्र गृहे त्वज्ञात एव वा ।
तस्य त्वन्नं द्विजो भुक्त्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ॥
अकामतः सकृदुक्त्वा कुर्यादेतद्द्विजोत्तमः ।
कामाच्छुद्धिः पराकेण महासांतपनेन वा ॥
चान्द्रायणं पराको वा द्विजातीनां विशोधनम् ।
प्राजापत्यं तु शूद्राणां शेषाणामिदमुच्यते ॥
योऽन्योऽपि भुङ्क्ते पक्वान्नं कृच्छ्रं स्यात्तस्य शोधनम्
शुष्कान्नभोजने पादमित्याह भगवान्मनुः " ॥

**तथा**—" तैः स्पृष्टो यदि भुङ्क्तेऽन्नमस्नात्वा विधिवज्जले ।
विहितो भोजने कृच्छ्रः पाने तत्पाद एव तु ॥
चण्डालेन तु संस्पृष्टं कांस्यभाण्डं समृन्मयम् ।
अज्ञानात्कांस्यभोजी च मृन्मये जलपानकृत् ॥
कांस्ये भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं जलपाने तु कृच्छ्रकम् " ।

**कृच्छ्रकः कृच्छ्रपादः ।**

**व्यवनः**—" चण्डालसंकरे स्वभवनदहनम् । सर्वमृद्भाण्डभेदनम् ।
दारवाणां तु तक्षणम् । शङ्खशुक्तिसुवर्णरजतवैदला-
नामद्भिः क्षालनम् । कांस्यताम्राणामाकरे शुद्धिः ।
सौवीरपयोदधितक्राणां परित्यागः । शेषरसवद्यव-
सद्रव्यरक्षणं[3] गोमूत्रयावकाहारो मासं क्षिपेत् ।
बालवृद्धस्त्रीणामर्धप्रायश्चित्तम् " ।

---

१ छ. सर्वे न वो° । २ क. गौरी । ३ क. °द्रवर° ।

आ षोडशाद्बालः । सप्तत्यूर्ध्वं वृद्धः । चीर्णे प्रायश्चित्ते ब्राह्मणभोजनं गोशतं दद्यात् । तदभावे सर्वस्वम् ।

बौधायनः—" चण्डालदर्शने ज्योतिषां दर्शनम् । संभाषणे ब्राह्मण-
संभाषणम् । स्पर्शने स्नानम् । उच्छिष्टदर्शन एक-
रात्रमुपवसेत् । संभाषणे द्विरात्रम् । स्पर्शने त्रिरात्रम् ।
चण्डालेन सहाध्वगमने सचैलं स्नानम् " ।

आपस्तम्बः—" बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचण्डालदस्युभिः ।
अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम् ।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥
तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम् ।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथ वा भवेत् ।
चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ।
संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् ॥
मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ।
त्रिभिः संवत्सरैश्चापि तद्भावं स निगच्छति " ॥

सर्वाण्येतानि प्रायश्चित्तानि यथाशक्ति यथानुबन्धं प्रत्ययाभ्यासापेक्षया व्यवस्थापनीयानि ।

" हीनवर्णस्तु यः कश्चिदन्त्यजैः सह संवसेत् ।
सशिखं वपनं कृत्वा मासमेकं यवान्पिबेत् ॥
रजकी चर्मकारी च लुब्धकी पुक्कसी तथा ।
चातुर्वर्ण्यस्य गेहे तु अज्ञानाद्यदि तिष्ठति ॥
ज्ञात्वा तु निष्कृतिं कुर्यात्पूर्वोक्तस्यार्धमेव च ।
गृहदानं न कुर्वीत शेषं सर्वं तु कारयेत् ॥
गृहस्याभ्यन्तरं गच्छेच्चण्डालो यदि कस्यचित् ।
तस्माद्गेहाद्विनिःसार्य मृद्भाण्डं तु विवर्जयेत् ॥

---

१ क. °नि । वर्णहीनस्तु । २ क. यस्य ।

रसपूर्णं तु मृद्भाण्डं न त्यजेत्तु कदाचन ।
गोमयोदकसंमिश्रैः प्रोक्षयेत्तु गृहं तथा ॥
चण्डालश्वपचानां च संकरे समुपस्थिते ।
अहोरात्रं द्विरात्रं स्यात्त्रिरात्रं षडहः स्मृतम् ॥
अविज्ञातस्तु चण्डालः सप्ताहं निवसेद्यदि ।
तस्माज्ज्ञात्वोपसन्नस्य विप्राः कुर्युरनुग्रहम् ॥
दधिक्षीरघृतैर्युक्तं कृच्छ्रं गोमूत्रयावकम् ।
प्राशयेत्सह भृत्यैस्तु मासमेकं निरन्तरम् " ॥

## अथ रजस्वलास्पर्शप्रायश्चित्तानि ।

**वृद्धशातातपः**—" उदक्या सूतिका वाऽपि शवान्त्यौ संस्पृशेद्यदि ।
द्विरात्रेणैव शुध्येत्तु इति शातातपोऽब्रवीत् " ॥

**शातातपः**—" चण्डालैः श्वपचैर्वाऽपि आत्रेयी स्पृश्यते यदि ।
त्रिरात्रोपोषिता भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**आत्रेयी रजस्वला ।**

**कश्यपः**—" चण्डालेन तु संस्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला ।
तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
त्रिरात्रमुपवासः स्यात्पञ्चगव्येन शोधनम् ।
तां निशां तु व्यतिक्रम्य अजाघ्रातां तु कारयेत् " ॥

**बृहस्पतिः**—"पतितेन श्वपाकेन संस्पृष्टा चेद्रजस्वला ।
अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि परतो नक्तमाचरेत् " ॥

**वृद्धशातातपः**—" रजस्वला यदि स्पृष्टा चण्डालान्त्यश्ववायसैः ।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा स्नात्वा कालेन शुध्यति " ॥

**असामर्थ्ये सत्येतत् ।**

**पराशरः**—" एकवृक्षसमारूढौ चण्डालोऽथ रजस्वला ।
अहोरात्रोषिता भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
रजस्वला तु भुञ्जाना चण्डालादीन्स्पृशेद्यदि ।
गोमूत्रयावकाहारा षड्रात्रेणैव शुध्यति ॥
अशक्ता काञ्चनं दद्याद्विप्रेभ्यो वाऽपि भोजनम् " ।

**मार्कण्डेयः**—" उदक्या तु सवर्णा या स्पृष्टा चेत्स्यादुदक्यया ।
तस्मिन्नेवाहनि स्नात्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् " ॥

एतत्सगोत्राविषयम् । तथा च वृद्धवसिष्ठः—

" स्पृष्टे *रजस्वलेऽन्योन्यं सगोत्रे त्वेकसूतके ।
कामतोऽकामतो वाऽपि सद्यः स्नानेन शुध्यतः " ॥

**कश्यपः**—" रजस्वला तु संस्पृष्टा ब्राह्मण्या ब्राह्मणी यदि ।
एकरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
रजस्वला तु संस्पृष्टा क्षत्रजात्या द्विजोत्तमा ।
त्रिरात्रेण विशुध्येत्तु व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥
रजस्वला तु संस्पृष्टा वैश्यया ब्राह्मणी यदि ।
पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
रजस्वला तु संस्पृष्टा शूद्रया ब्राह्मणी यदि ।
षड्रात्रेण विशुध्येत्तु ब्राह्मणी कामकारतः ॥
अकामतश्चरेदेव ब्राह्मणी सर्वजातिषु " ।

**विष्णुः**—" रजस्वला हीनवर्णा रजस्वलां स्पृष्ट्वाऽन्नं न तावदश्नीयाद्यावन्न शुद्धा । सवर्णामधिकवर्णां च स्पृष्ट्वा स्नात्वाऽश्नीयात् " ।

**अत्रिः**—" रजस्वले तु ये नार्यावन्योन्यं स्पृशतो यदि ।
सवर्णे पञ्चगव्यं स्यात्त्रिरात्रमसवर्णके " ॥

**असवर्णे हीनवर्णे ।**

" स्पृष्टे रजस्वलेऽन्योन्यं शूद्रा च ब्राह्मणी तथा ।
कृच्छ्रेण शुध्यते विप्रा शूद्रा दानेन शुध्यति " ॥

**दानेन निष्कचतुर्थांशदानेनेत्यर्थः ।**

**मार्कण्डेयपुराणे**—" उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला ।
यावन्न शुद्धिमाप्नोति नाश्नीयात्तावदेव तु " ॥

**रजोनिमित्ताशौचनिवृत्तिः शुद्धिः ।**

" उच्छिष्टांश्च द्विजातींस्तु रजःस्त्री यदि संस्पृशेत् ।
स्रावोच्छिष्टे त्वहोरात्रमूर्ध्वोच्छिष्टे ऽयहं क्षिपेत् " ॥

**स्रावो मूत्राद्युत्सर्गः । तत्कृतमाशौचं तदुच्छिष्टम् ।**

**व्याघ्रः**—" रजस्वला तु संस्पृष्टा श्वजम्बुकखरैः क्वचित् ।
निराहारा भवेत्तावद्यावत्स्नानेन शुध्यति " ॥

**इदं समर्थविषयम् । अत्राप्यसामर्थ्ये बौधायन आह—**

---

* अत्र संधिरार्षः ।

---

१ क. मूत्रस्रावः । २ छ. इदमस्य° ।

" रजस्वला तु संस्पृष्टा ग्राम्यकुक्कुटसूकरैः ।
श्वभिः स्नात्वा क्षिपेत्तावद्यावच्चन्द्रस्य दर्शनम् " इति ॥

**प्रचेताः**—" रजस्वला स्पृशेच्छ्वानं प्रमादाद्यदि कर्हिचित् ।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**बौधायनः**—" रजस्वला तु संस्पृष्टा शुना चण्डालरासभैः ।
पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति " ॥

**बृहस्पतिः**—" शूद्रयोच्छिष्टया स्पृष्टा शुना वा ह्यहमाचरेत् ।
अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि परतो नक्तमाचरेत् " ॥ २९२ ॥

विरुद्धप्रायश्चित्तसंनिपातप्रसङ्गे तद्विरोधपरिहारार्थं यत्कल्प्यं यच्चानुक्तनिष्कृतिकेषु पापेषु कल्पनीयं, तदुभयमाह—

**देशं कालं वयः शक्तिं पापं चापेक्ष्य यत्नतः ॥**
**प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र नोक्ता च निष्कृतिः॥ २९३ ॥**

एकस्मिन्निमित्ते गुरुलघुरूपानेकवैकल्पिकप्रायश्चित्तप्राप्तौ देशादिकमपेक्ष्य परिषदा तत्र व्यवस्थाः कल्प्याः । यः प्रायश्चित्तविशेषो यत्र देशे काले वा प्रयुज्यमानः कर्तारं नाशयतीति शङ्क्यते स तत्र नोपदेश्यः । यथा-जलोपवासो हिमदेशे महाशिशिरे च काले । तथा वयोऽप्यपेक्ष्यम् । अन्यथा यद्यूना शक्यं तद्बालवृद्धयोः कल्प्यमानं तौ निपातयेत् । तथा कर्तुः शक्तिरपि व्यवस्थापिका, यतो युवाऽपि कश्चित्पित्तोद्रेकादिना प्रतिबद्धतपःशक्तिः पराकाद्यनुतिष्ठन्व्यापद्यते । अत एवाऽऽह हारीतः—

" यथावयो यथाकालं यथाप्राणं च ब्राह्मणैः ।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा ॥
न तेन शुद्धिमाप्नोति येन प्राणैर्वियुज्यते ।
आर्तिं वा महतीं याति न वै तद्व्रतमादिशेत् ॥
तस्मात्कृच्छ्रमथाप्यर्धं पादं वाऽपि विधानतः ।
ज्ञात्वा बलाबलं कालं प्रायश्चित्तं विधीयते " ॥

**विष्णुः**—" अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च " ॥

---

१ क. 'श्वा ग्राम्यकु' । २ क. चावेक्ष्य । ३ क. शक्यते । ४ छ. 'रे का' । ५ छ. वयसोऽप्य' । ६ क. 'माचरेत् । त' ।

अङ्गिराः—" ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
चरेद्गुरुः सुहृद्वाऽपि प्रायश्चित्तं विशुद्धये " इति[1] ॥

प्रायश्चित्तपापं लघु गुरु वेत्यवेक्ष्य तदनुसारेण प्रायश्चित्तमपि लघु गुरु वा कल्प्यम् । तथोक्तं गौतमेन—

" एनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि " इति ।

पापस्य च गुरुत्वं कामतः सम्प्रत्ययं साभ्यासमनुष्ठितस्य ज्ञायते, तदा दण्डगौरवात्सातिशयाच्च निन्दार्थवादाल्लोकगर्हातिशयाच्च । एतच्च यत्नेन आचारात्तद्विषयसकलस्मृतिशास्त्रावधारणरूपात्कल्प्यम् । तथा यत्र विषये निष्कृतिः प्रायश्चित्तं शास्त्रकारैर्नोक्तं तदपि देशकालाद्यपेक्षया कल्प्यम् । तत्र निमित्तसंबन्धित्वेन कल्पयितव्यस्य निष्कृतिशेषस्य स्वरूपं सामान्यतः प्रदर्श्यते । तत्र गौतमः—

" तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् " इति ।

जप्यं च तेनैवोक्तम्—

" उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वेच्छन्दःसु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरोरुद्राः पुरुषसूक्तं राजनरौहिणे सामनी बृहद्रथंतरं पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजी(जं) महादिना(वा)कीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमं बर्हिष्पवमानं कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि " ।

तथा—" पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता प्रसृतियावको हिरण्यप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि पवित्राणि " ।

तथा—" सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्यह्रदास्तीर्थानि ऋषिनिवासा गोष्ठपरिस्कन्धा इति देशः " ।

गोष्ठं गोस्थानं, तद्गमनमार्गः परिस्कन्धः ।

तथा—" सत्यवचनं ब्रह्मचर्यं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽनाशक इति तपांसि, हिरण्यं गौर्वासो भूमिरश्वस्तिला घृतमन्नमिति देयानि " ।

तथा—" संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालः । एतान्येवानादेशे विक-

---

१ छ. °ति । तथा प्रा° । २ क. °त्नकृत । ३ छ. °ष्कृतेरशे° । ४ क. निष्क्रियमाणा° । ५ क. वेदवेदान्ताः । ६ छ. °जरौ° । ७ छ. ज्येष्ठं सा° । ८ क. बर्हिष्पाव° । ९ क. °वमाना° । १० क. °स्कन्दः । त° । ११ क. °त्सराः ष° ।

स्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि कृच्छ्राति-कृच्छ्रचान्द्रायणमिति प्रायश्चित्तम् " इति ॥ २९३॥

उक्तानि पतितानां प्रायश्चित्तानि, संप्रति तत्संबन्धिभिस्तान्प्रति यत्कार्यं तदाह—

दासी कुम्भं बहिर्ग्रामान्निनयेयुः स्वबान्धवाः॥
पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

दासी बान्धवाश्च पतितस्य कुम्भं जलपूर्णं ग्रामाद्बहिर्निनयेयुः । ततः प्रभृति तं पतितं सर्वकार्येषु लौकिकवैदिकेषु बहिः कुर्युः । तेन सह न संव्यवहरेयुः । बान्धवग्रहणं संबन्धिमात्रपरिग्रहार्थम् । तेन विद्यायोनिसंबन्धाश्च सर्वे निनयेयुः । तथा च गौतमः—

" तस्य विद्या[गुरु]योनिसंबन्धाश्च संनिपत्य सर्वाण्युदका-[दी]नि प्रेतकार्याणि कुर्युः । पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः । दासः कर्मकरो वाऽवकरात्पात्रमानीय दासीघटात्पूरयित्वा दक्षिणामुखः पदा विन्य(पर्य)स्येदमुमनुदकं करोमीति नाम-ग्राहं ते सर्वेऽन्वालभेरन्प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् । अप उपस्पृश्य ग्रामं *प्रविशन्ति । अत ऊर्ध्वं तेन संभाष्य तिष्ठेदेक-रात्रं जपेत्सावित्रीं ज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रम् " इति ।

अस्यार्थः—यो राजघातकत्वादिना हेतुना त्याज्य उक्तस्तस्य विद्यागुरूनाचार्यादीन्योनिसंबद्धान्मातामहमातुलादींश्च पुत्रादयः संनिपत्य मेलयित्वा तेभ्यस्त्यागकारणमावेद्य तैरनुमताः पुत्रादयः सपिण्डाः सर्वाणि पिण्डोदकश्राद्धादीनि जीवन्तमेव तमुद्दिश्य कृत्वा पात्रं चास्य त्याज्यस्य कृते विपर्यस्येयुः परास्येयुः । कथमित्यपेक्षित आह—दासः कर्मकरो वेत्यादि । दास उक्तलक्षणः । कर्मकरो भृत्यः । तयोर्यः संभवति सोऽवकरात्पुरीषस्थानादशुचिपात्रमानीय दासीघटात्तत्पात्रमुदकेन पूरयति । तदितरः पादेन दक्षिणामुखोऽमुं देवदत्तमनुदकं करोमीति पर्यस्येत् । तं पर्यस्यन्तं त्याज्यस्य

---

* प्रविशेयुरिति मिताक्षरायाम् ।

---

१ क. °यणादीनि प्रा° । २ ङ. °येरन्स्वबा° । ३ क. बहिष्कुर्युः । ४ छ. °बद्धाश्च । ५ छ. °निपात्य । ६ छ. °निपात्य । ७ छ तं विप° ।

सपिण्डाः पुत्रादयः प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा अन्वालभेरन्। विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्चान्वीक्षेरन्। ततः स्नात्वा ग्रामं प्रविशति। अत ऊर्ध्वमज्ञाना-त्तेन सह संभाष्य सावित्रीं जपन्नहोरात्रं तिष्ठेत्। ज्ञानात्तु त्रिरात्रमिति।

वसिष्ठः—"वेदविप्लावकशूद्रयाजकोत्तमवर्णवर्गपतितास्तेषां पात्रनि-नयनमपात्रसंकरादकृत्स्नं पात्रमादाय दासोऽसवर्णापुत्रो वा बन्धुरसदृशो वा गुणहीनः सव्येन पादेनापवृत्ताग्रा-न्दर्भाँल्लोहितानुपस्तीर्यासंपूर्णपदाऽस्मै पात्रं निनयेत्। निनेतारं चास्य प्रकीर्य केशाञ्ज्ञातयोऽन्वालभेरन्नप-सव्यं कृत्वा गृहेषु स्वैरमापद्येरन्"।

अस्यार्थः—अयथाविधि यो वेदमधीतेऽध्यापयति वा स वेदविप्लावकः। शूद्रयाजकः प्रसिद्धः। उत्तमवर्णा ब्राह्मणास्तेषां वर्गः समूहस्ततः पतिता ब्रह्महादयस्तेषां तानुद्दिश्य पात्रस्य निनयनं न्युब्जीकरणं कार्यम्। अपात्रसंक-रात्कुत्सितपात्रसमूहादकृत्स्नं खण्डं पात्रमादाय दासोऽसवर्णायाः शूद्रायाः पुत्रो वाऽन्यो वा बन्धुरसदृशोऽसवर्णो गुणहीनोऽपवृत्ताग्रांश्छिन्नाग्राल्लोहितान्वा-त्वादिरक्तान्दर्भानास्तीर्य सव्येन पादेन जलपूर्णं पात्रमस्मै पतिताय निन-येत्। निनेतारं च पतितज्ञातयः कृतापसव्या निनयनकाले स्पृशेयुः। ततः स्वगृहस्थिताः स्वैरं यथेच्छं धर्मादिकार्यं प्रतिपद्येरन्निति। गृहेषु स्वैरमापद्ये-रन्नितिवचनसामर्थ्यात्पात्रनिनयात्पुरा पति[त]ज्ञातीनां धर्मादिषु स्वैरापत्ति-र्नास्तीति गम्यते।

मनुः—"पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञातीनां विग्गुरुसंनिधौ"॥

शङ्खलिखितौ—"पतिताभिशस्तदुष्टात्मकुलक्षयकरस्य वा तस्य गुरो-र्बान्धवानां राज्ञश्च समक्षं दोषमनुरूप्याप्य तमभिभाष्य पुनः पुनरवस्थां लभस्वेति। स यद्येवमप्यनवस्थित-मतिः स्यात्ततो भिन्नपात्रमादाय पूर्णमपां पामूनाम-पसव्यं कृत्वा वामपादेन दक्षिणां दिशमभिमुखं न्युब्जयेत्पात्रमपसव्यं कृत्वा पवित्रोदकं शौच-मासीरन्। अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि व्याव-र्तन्ते। संभाषणसहासनव्यवहारान्न तेन सह कुर्यात्। कृत्वाँ वसनानुगां गायत्रीं जपेत्॥ २९४॥

---

१ क. 'संस्कारा'। २ कृ. पुनर°। ३ क. °त्वा सवनानुगां°।

किं च—

चरितव्रत आयाते निनयेरन्नवं घटम् ॥
जुगुप्सेरन्न वाऽप्येनं संपिबेयुश्च सर्वशः ॥ २९५ ॥

तस्मिंश्चरितव्रते कृतप्रायश्चित्ते समागते सर्वे सपिण्डा नवं घटमद्भिः पूर्णं शुभे जलाशये निनयेरन्प्रक्षिपेयुः । अत ऊर्ध्वं न जुगुप्सेयुर्न गर्हेरन् । प्रत्युत सर्वशः सर्वेषु कार्येषु संपिबेयुः संव्यवहरेयुः ।

वसिष्ठः—" पतितानां तु चरितव्रतानां प्रत्युद्धारोऽथाप्युदाहरन्ति—

अग्रेऽभ्युद्धरतां गच्छेत्क्रीडन्निव हसन्निव ।
पश्चात्पातयिता गच्छेच्छोचन्निव रुदन्निव ॥
आचार्यमातृहन्तारस्तत्प्रसादादपयाज्या एतेषां
प्रत्यापत्तिः पूर्णाद्ध्रदात्प्रवृत्ताद्वा काञ्चनं पात्रं
म(मा)हेयं वाऽद्भिः पूरयित्वाऽऽपोहिष्ठीयाभिर्ऋ-
ग्भिरभिषिञ्चेयुः । सर्व एवाभिषिक्तस्याभ्युद्धारः
पुत्रजन्मना व्याख्यातः " ।

अयमर्थः—पतितानां तु शब्दादपतितानां च कृतप्रायश्चित्तानां प्रत्युद्धारः परिग्रहः । तत्र चोद्धरतामग्रेसरो हर्षवांश्चोद्धर्ता स्यात् । पातयिता तु जघन्यो भवेद्विषादवांश्च । आचार्यादीनां हन्तारः पीडाकर्तारस्तेषां प्रसादादेवाप-गतयाज्या भवन्ति । याज्यं पापम् । ततश्च तेषां पतितवत्प्रत्युद्धारो न कार्यः । असति पुनराचार्यादिप्रसादे चीर्णव्रतानां परिभावप्रत्युद्धारः कार्य एव । एतेषां पतितादीनां प्रत्यापत्तिः प्रत्यानयनं जलपूर्णाद्ध्रदात्प्रवृत्तस्रोतसो वा काञ्चनपात्रमपि वा मान्ति(ति)कमद्भिः पूरयित्वा "आपो हि ष्ठा" इत्येवमादि-भिर्ऋग्भिरेनमुद्धरणीयमभिषिञ्चेयुः । तथाऽभिषिक्तस्य प्रत्युद्धारः पुत्रजन्मना व्याख्यातः । जातकर्मादयः संस्कारा यथा पुत्रस्य क्रियन्ते तथाऽस्य बन्धुभिः कार्यास्ते चैकदेशकाले दृश्यत्वात्तन्त्रेण स्युरिति ।

गौतमः—" यस्तु प्रायश्चित्तेन शुध्येत्तस्मिञ्शुद्धे शातकौम्भमयं पात्रं
पुण्यतमाद्ध्रदात्प्रस्रवन्तीभ्यो वा पूरयित्वा ततः परमेतं
स्नपयेयुः । अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्प्रतिगृह्य जपेच्छान्ता
द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमन्तरिक्षं शिवमन्तरिक्षं यो वै

---

१ क. °दारविप्राद्वा कथंचन पात्रं यवा° । २ क. °डापीडाकर्तारस्ते ते° । ३ छ. प्रमादा° । ४ क. °रिभव° । ५ क. वा शान्ति° । ६ छ. °कालतन्त्रे° ।

रेतस्तमिह गृह्णीयामित्येतैर्यजुर्भिस्तरत्समन्दीभिः पावमानीभिः कूष्माण्डैश्चाऽऽज्यं जुहुयात् । हिरण्यं ब्राह्मणाय दद्यात् । गां चाऽऽचार्याय । यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स मृतः शुध्येत् । सर्वाण्येव तस्मिन्नुदकादिप्रेतकर्माणि कुर्युः । एतदेव शान्त्युदकं सर्वेषूपपातकेषु" इति ॥ २९५ ॥

पुंसामुक्तं विधिं स्त्रीष्वतिदिशन्नाह—

**पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ॥**
**वासो गृहान्तिके देयमन्नं वासः सरक्षणम् ॥ २९६ ॥**

स्त्रीणामपि पतितानामेष एव पूर्वोक्त एव परित्यागप्रत्युद्धारविधिः । विधीयत इति विधिः क्रियाकलापः कार्यः । इयांस्तु विशेषः—परित्यक्तानामपि स्त्रीणां गृहसंनिधौ निवास आलयो देयः । तथा ताभ्यो जीवनायान्नं परिधानं च रक्षणसहितम् । अत्रापवादमाह वसिष्ठः—

" चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या ।
पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या " ॥

भर्तृशिष्यगा गुरुगा पितृगा श्वशुरगा । जुङ्गितः प्रतिलोमजः ॥ २९६ ॥

उक्ता ब्रह्महत्यादयः पुंसां स्त्रीणां च ये पातित्यहेतवः । संप्रति स्त्रीणामेव ये पातित्यहेतवस्तानाह—

**नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ॥**
**विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम् ॥२९७॥**

नीचो हीनवर्णः शूद्रः । तस्याऽऽभिमुख्येन कामतो ब्राह्मण्यादीनां गमनं नीचाभिगमनं, स्वस्य च गर्भस्य ब्राह्मणस्यापि रागात्पातनं स्वभर्तुश्च ब्राह्मणस्यापि हिंसनम् । इत्येतानि स्त्रीणां विशेषतः पतनीयानि । स्त्रीणामेवैतानि पातित्यकारणानीत्यर्थः । न चैतान्येव किंतु ब्रह्महत्यादीन्यपि [इति ]वक्तुमपीत्युक्तम् । ध्रुवं प्रामाणिकमेतदित्यर्थः । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—

" त्रीणि स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः ।
भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य पातनम् "

इति, तत्र भ्रूणहत्याशब्दः सकलपातित्यकारणोपलक्षणार्थः ॥ २९७ ॥

---

१ छ. °यादिस्ते° । २ छ. रक्षिण° । ३ क. °स्याप्यरा° । ४ क. °न्यपीत्यु° ।

" जुगुप्सेयुर्न चाप्येनं संपिबेयुश्च सर्वशः " ।

इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान्संपिबेन्न तु ॥
चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानिमान्॥ २९८ ॥

शरणागतादीनां हन्तृन्घातकान्कृतघ्नांश्च कृतप्रायश्चित्तानपि न संपिबेन्न संव्यवहरेत् । न चासंव्यवहारे प्रायश्चित्तानर्थक्यम् । पापक्षयकरत्वेन तस्यार्थवत्त्वात् । यत्तु कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायत इत्युक्तं तदेतद्व्यतिरिक्तविषयम् ।

मनुः—" बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् " ॥

' विशुद्धानपि धर्मतः ' इति वचनात्पापक्षयप्रयोजनतां स्त्रीवधादिप्रायश्चित्तस्य दर्शयति ॥ २९८ ॥

एवं प्रासङ्गिकमभिधाय प्रकृतस्य ' जुगुप्सेरन्न चाप्येनम् ' इत्यादेर्वचनस्यार्थशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम् ॥
प्रदद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य सह क्रिया ॥ २९९ ॥

' चरितव्रत आयाते ' इत्यत्र घटापवर्जनमुक्तम् । तस्मिन्नपवर्जने कृते चरितव्रतो ज्ञातिमध्यस्थो गवां यवसं ग्रासं प्रदद्यात् । तद्यवसं चरितव्रतदत्तं यदि गावोऽश्नन्ति ततोऽसौ गोभिः सत्कृतः क्षीणपापतया प्रतिपादितो भवति । तस्यैवं गोभिः सत्कृतस्य बन्धुभिः सह क्रियासंव्यवहारो युज्यते । अन्यथा तु प्रायश्चित्तक्रियैव पुनः कार्या । अत एव हारीतः—

" स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि
ताः प्रतिगृह्णीयुरथैनं प्रवर्तयेयुः " इति ।

इतरेषां नेत्यर्थाद्गम्यते ॥ २९९ ॥

यान्युक्तानि ब्रह्महत्यादिषु प्रायश्चित्तानि तानि परिषदनुमतानि सन्ति कार्याणि नान्यथेत्याह—

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतम् ॥

---

१ ङ. °न्संवसेन्न । २ ङ. सतः । ३ क. संपिबेत् । वि° । ४ ङ. °स्य हि सत्क्रिया ।

विख्यातोऽनेकसिद्धो दोषो यस्य स विख्यातदोषः । स उक्तलक्षणायाः परिषदो यदनुमतं संमतं व्रतं प्रायश्चित्तं तत्कुर्वीत, न पुनः शास्त्रार्थनिर्णयनिपुणतया स्वातन्त्र्येण । अत्र च येनाविदितोऽपि यो दोषः सिध्यति, स तेन विज्ञातो व्याख्यात इत्युच्यते । ततश्च विदुषाऽपि विख्यातदोषेण परिषदुपस्थानं कार्यं, यस्य तु प्रायश्चित्तस्य निर्देशः परिषदा प्रतिषिद्धो यथा " त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यानि " इति । तथा मनुरपि—

" मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः "

इति, तत्र विख्यातदोषेणापि विदुषा स्वातन्त्र्येण व्रतमत्यू(त्यु)ग्र कार्यम् । यदाह ' पतितो ह्यात्मानमुद्धरिष्यन् ' इति प्रक्रम्य शङ्खः—

" स्वयं व्रतमभ्युपगम्य चीरवल्कलवासा अधःशायी " इत्यादि ।

यत्र व्रतादेशो न प्रतिषिद्धः, तत्र विदुषाऽपि परिषदुपस्थानं कार्यमेव । अत्राङ्गिराः—

" कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः ।
भुञ्जानो वर्धयेत्पापं यावन्नाऽऽख्याति पर्षदि ॥
सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः ।
पर्षदाऽनुमतस्तत्त्वं सर्वं विख्यापयेन्नरः ॥
उपस्थाय ततः शीघ्रमार्तिमान्धरणीं व्रजेत् ।
गात्रैश्च शिरसा चैव न च किंचिदुदाहरेत् ॥
ततस्ते प्रणिपातेन दृष्ट्वा तं समुपस्थितम् ।
विप्राः पृच्छन्ति किं कार्यमुपविश्याग्रतः स्थितम् ॥
किं ते कार्यं किमर्थं वा भृशं मृगयसे द्विज ।
तत्त्वतो ब्रूहि तत्सर्वं सत्यं हि गतिरात्मनि ॥
यदि वक्ष्यसि सत्यं त्वं नियतं प्राप्स्यसे शुभम् ।
यद्यागतोऽस्यसत्येन न ते शुद्धिस्तु कर्हिचित् ॥
तस्मान्न वाच्यमनृतं सद्भिर्धर्मविचक्षणैः ।
तस्मिन्निवेदिते कार्य उत्सार्यो हि स कार्यवान् ॥
तस्मिन्नुत्सारिते विप्रे येऽपि स्युर्धर्मपाठकाः ।
ते तथा तत्र जल्पेयुर्विमर्शन्तः परस्परम् ॥
यथा शास्त्रेषु यच्चोक्तं यच्च सानुग्रहं भवेत् ।
विमृश्य परिषत्सर्वं प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥

---

१ छ. °ग्रायतो । २ क. °ण न व्रतमभ्युद्य । ३ क. °देशेन । ४ क. °श्यागतः । ५ छ. °र्थं कम° ।

यथाकालं यथादेशं यथाकार्यान्तरं भवेत् ।
पर्षदोऽनुमतं चैव कार्यिणश्च बलाबलम् ॥
प्रकृतं पापमासाद्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
त्रैविद्यमुपसर्पेत चातुर्विद्यमथापि वा ॥
न दीयते व्रतं यावत्कर्मणा मनसा गिरा ।
गोब्राह्मणैहिते युक्तो व्रतं तद्धर्तयेत्सदा ॥
कृत्वा पापं न भुञ्जीत त्रिरात्रमहरेव वा ।
कुर्याद्ब्राह्मणशुश्रूषामाप्रदानाद्व्रतस्य तु ॥
उत्थाय पर्षदामेकः श्रावयेत्तद्यथाविधि ।
सर्वेषां निश्चितं यच्च यच्च प्राणान्न पातयेत् " ॥

**कार्यान्तरं** वृद्धमातापितृशुश्रूषादि ।

**देवलः**—" पापकृत्स्वकृतं पापं कृत्स्नमाख्याय संसदि ।
ततः स्नात्वैव याचेत निष्कृतिं तस्य कर्मणः " ॥

**तच्च पर्षदोऽनुमतं व्रतं यथा ग्राह्यं तथोपरिष्टाद्वक्ष्यते ।**

**यमः**—" गवाह्निकं देवपूजा वेदाभ्यासः सरित्प्लवः ॥
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ।
शूद्राणां पापिनां चैव संवादं नैव कारयेत् ॥
संवादस्तु न कर्तव्यः स्त्रीभिर्वा तैः कदाचन ।
ब्राह्मणेनैव कर्तव्य उत्पन्ने संशये सति " ॥

**संवादः** संभाषणम् ।

**मरीचिः**—" *भस्मगोमयगोष्ठेषु शयनं सिकतासु च ।
पतितव्रात्यचण्डालस्त्रीशूद्रानभिभाषणम् ॥
त्रिः स्नानं कारयेन्नित्यं ध्यानं जप्यं सुरार्चनम् ।
या यस्याभिमता लोके देवता तां समर्चयेत् " ॥

**रहस्यव्रतमाह**—

**अविख्यापितदोषस्तु रहस्यव्रतमाचरेत् ॥ ३०० ॥**

**अविख्यापितोऽप्रकाशितः स्वदोषो येन सोऽविख्यापितदोषः । स स्वय-**

---

* न विद्यतेऽयं श्लोकः क. पुस्तके ।

---

१ क. प्रकाशं । २ क. °त घतु° । ३ छ. °णवधे युक्तो । ४ छ. °चेत्तदा । ५ ङ. अन-भिख्यात° ।

मेव विद्वत्तया रहस्यप्रायश्चित्ताधिकारविहितं व्रतं किंचित्संप्रधार्याऽऽचरेत् । परिषदुपस्थानमिह नास्ति, विख्यातदोषविषयत्वेन तस्य विहितत्वात् । दोषोत्पादकसामग्रीबहिर्भूतेनापरिज्ञातत्वमविख्यातत्वं यत्र रहस्यप्रायश्चित्तविधिः । तत्र च विदुष एवाधिकारः । तदुक्तं चतुर्विंशतिमते—

" आहिताग्नेर्विनीतस्य वृद्धस्य विदुषोऽपि वा ।
प्रायश्चित्तं रहस्योक्तं पूर्वोक्तमितरस्य तु " इति ॥ ३०० ॥

इदानीं रहस्यप्रायश्चित्तविशेषानाह—

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ॥
अन्तर्जले विशुध्येत्तु दत्त्वा गां च पयस्विनीम्॥३०१॥

त्रिरात्रं यावत्कृतोपवासश्चतुर्थेऽह्नि अघमर्षणैर्न दृष्टं सूक्तमृतं चेत्येतदानुष्टुभमृचां त्रितयं भाववृत्तदेवताकं जले निमग्नसकलशरीरस्त्रिर्जपेत् । अनन्तरं गां पयस्विनीं बहुक्षीरां विप्राय प्रदाय ब्रह्महा शुध्यति ॥ ३०१ ॥

अपरमप्याह—

लोमभ्यः स्वाहेति हि वा दिवसं मारुताशनः ॥
जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशदृघृताहुतीः ॥३०२॥

अथ वा दिवसं समग्रं मारुताशनो निरशनो भूत्वा रात्रिं समग्रां जले स्थित्वोदित आदित्ये जलादुत्तीर्य लोमभ्यः स्वाहेत्यष्टानां मन्त्राणामेकैकेन मन्त्रेण पञ्च पञ्चाऽऽहुतीर्ब्रह्महत्याशुद्धिकामो जुहुयात् । एतत्प्रायश्चित्तनिमित्ते ब्रह्मवधे ॥ ३०२ ॥

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कूष्माण्डीभिर्घृतं शुचिः ॥
सुरापः स्वर्णहारी च रुद्रजापी जले स्थितः ॥ ३०३ ॥
सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पगः ॥
गोर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०४ ॥

रहसि सुरां पैष्टीं यः पिबति स त्रिरात्रोपोषितः स्नानानन्तरं कुष्माण्डीभिर्ऋग्भिः " यद्देवा देवहेडनम् " इत्येवमादिभिराज्यं लौकिकेऽग्नौ हुत्वा

---

१ छ. °त् । तत्र र° । २ ङ. °ध्येत गां दत्त्वा च । ३ क. °न पुरुषसूं । ४ क. छ. °ले सुप्त्वाऽभि° । ५ क. छ. भूत्वा । ६ ङ. कूश्माण्डी° । ७ क. °ाप्ये ज° । छ. जापे ज° । ८ छ. °जापे तु ।

शुचिरपापो भवति । ब्राह्मणस्वर्णहारी पुनस्त्रिरात्रोपोषितोऽन्तर्जले स्थित्वा रुद्रान् 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्येवमादिकानेकादशानुवाकाञ्जपित्वा शुचिः स्यात् । तथा गुरुतल्पगस्त्रिरात्रोपवासान्ते स्नातः सहस्रशीर्षेति सूक्तस्य जपशीलः स गुरुतल्पगमनपापान्मुच्यते । जापीति ताच्छील्यप्रत्ययाद्रुद्राणां पुरुषसूक्तस्य च जपो मनःपरितोषं यावदभ्यसनीयः । अस्य च कूष्माण्डहोमादेः कर्मणोऽन्ते सुरापादिना पयस्विनी गौर्देया ॥ ३०३ ॥ ३०४ ॥

इदानीं महापातकेभ्यो यान्यल्पपातकविषयाणि रहस्यप्रायश्चित्तव्रतानि तान्याह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ॥
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

उक्तलक्षणानां प्राणायामानां शतं सर्वेषां पापानामुपपातकजातानामुपपातकसंज्ञकानामनादिष्टस्य च स्वशास्त्रे प्रायश्चित्तविधिशून्यस्य च पापस्यापनुत्तये क्षयाय कार्यम् । प्रतिपापं च प्राणायामशतस्याऽऽवृत्तिः कार्या ॥ ३०५ ॥

किं च—

ओंकाराभिष्टुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ॥
कृत्वा तु रेतोविण्मूत्रप्राशनं च द्विजोत्तमः ॥ ३०६ ॥

रेतोविण्मूत्राणामन्यतमं भक्षयित्वा शतकृत्वः प्रणवेनाभिष्टुतमभिमन्त्रितं सोमसलिलं सोमरसं पावनं शुद्धिकरं पिबेत् । सकृदमतिभक्षण एतत् । कामतोऽभ्यासे वा स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते ॥ ३०६ ॥

अपरमप्याह—

निशायां वा दिवा वाऽपि यदज्ञानकृतं भवेत् ॥
त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं संप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

यदमतिपूर्वकमल्पकं पापं रात्रावहनि वा कृतं स्यात्तत्सर्वं मध्यंदिनादिकालत्रयविहितसंध्यानुष्ठानात्प्रणश्यति । अत्र च संध्याशब्देन प्रकरणान्तरविहितं संध्याकर्म प्रतिनिर्दिश्य तस्य पापक्षयकरत्वं विधीयते, न पुनः संध्याकर्मकस्य कर्मान्तरस्य । तथा सति संध्याशब्दस्य स्वार्थहानिः स्यात् । न चैवं सति संध्याकर्मणो नित्यत्वहानिः शङ्कनीया । सर्वस्य सर्वदा

---

१ छ. °द्रा नमं । २ छ. °स्यत्रं । ३ ङ. °त् । त्रैकाल्यसं ।

पापक्षयकामनायाः संभवात् । यद्वा संयोगपृथक्त्वेन नित्यकाम्यत्वयोः संभवात् ॥ ३०७ ॥

एवं प्रतिपापं प्रायश्चित्तविशेषा उक्ताः । संप्रति साधारणान्यपा(न्पा)पक्षयोपायानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ॥
सर्वपापहरा एते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

' विश्वानि देव सवितः ' इत्याद्या ऋचः शुक्रिया वाजसनेयकप्रसिद्धाः । अरण्याध्येयं ब्रह्माऽऽरण्यकं तयोर्जपो गायत्रीजपश्च विशेषतः पापविशेषमपेक्ष्य संख्याल्पत्वभूयस्त्वयुक्ता एते जपाः प्रत्येकं सर्वपापक्षयकराः । तथा रुद्रैकादशिनी रुद्रसंज्ञकानामेकादशानामनुवाकानां समाहारो जप्यमानः सर्वपापक्षयकरो वेदितव्यः । शुक्रियादिजपश्च प्रतिपापं भेदेन कार्यो न तु सकृत् ॥ ३०८ ॥

अपि च—

यत्र यत्र तु संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ॥
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्यावर्तनं तथा ॥ ३०९ ॥

यत्र यत्र विषये संकीर्णपतितादिसंकरवन्तमात्मानं द्विजो मन्यते, तत्र तत्र तिलैर्होमः कार्यः । गायत्र्याश्चाऽऽवर्तनमभ्यासः । तिलहोमे व्याहृतयो मन्त्राः ।

" न गायत्र्या समं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम् " ।

इति शास्त्रान्तरदर्शनात् । तथा च संवर्तः—

" महाव्याहृतिभिर्होमस्तिलैः कार्यो द्विजन्मना ।
उपपातकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया " ॥

अतश्चोपपातकसंकरविषयताऽस्य गम्यते ॥ ३०९ ॥

किं च—

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं महायज्ञक्रियापरम् ॥
न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

---

१ ङ. °हरः प्रोक्तो रु° । २ ङ. °ख्या वाचनं त° । ३ छ. जप्ये । ४ छ. हुते । ५ ङ. °यारतम् ।

वेदस्य ग्रहणाध्ययनार्थविचारगुणनजपरूपापनरूपेऽभ्यासे रतं सर्वदा वर्तमानं क्षान्तं कृतापराधं प्रत्यप्यनपकारिणं, पञ्चमहायज्ञानुष्ठानं परं मयोजनं यस्य स महायज्ञक्रियापर एनं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति न तत्र वर्तन्ते, किं पुनरन्यानि । तस्मान्महापातकव्यतिरिक्तं पापक्षयं संकल्प्य वेदाभ्यासरतेन भवितव्यमिति तात्पर्यार्थः ॥ ३१० ॥

किं च—

वायुभक्षो दिवा तिष्ठेद्रात्रिं नीत्वाऽप्सु सूर्यदृक् ॥
जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्धिर्ब्रह्मवधादृते ॥ ३११ ॥

वायुभक्षो वायोरन्यत्किमप्यभक्षयन्दिवा तिष्ठेन्नोपविशेत् । रात्रिमप्सु नीत्वा सूर्यदृक्सूर्योदये सति गायत्रीसहस्रजपं योऽनुतिष्ठति तस्य ब्रह्मवधव्यतिरिक्तस्य पापस्य शुद्धिर्भवेत् । अथ स्मृत्यन्तरोक्तानि रहस्यप्रायश्चित्तान्यनुक्रमिष्यन्ते । तत्र यमः—

"रहस्यकृते रहस्यमेव कर्तव्यम् "।

विश्वामित्रः—" प्रकाश उक्तं यत्किंचिद्विंशो भागो रहस्यके ।
त्रिंशद्भागः षष्टिभागः कल्प्यो जात्याद्यपेक्षया ॥
अविख्यापितदोषाणां पापानां महतां तथा ।
सर्वेषां चोपपापानां शुद्धिं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
प्राणायामैः पवित्रैश्च दानैर्होमैर्जपैस्तथा ।
विनियुक्तैः प्रमुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः ॥

पवित्राणि सूक्तानि ।

प्राणायामाः पवित्राणि व्याहृतीः प्रणवं तथा ।
पवित्रपाणिरासीनो ह्यभ्यसेद्ब्रह्म नैत्यकम् ॥
आवर्तयेत्सदा युक्तः प्राणायामान्पुनः पुनः ।
आलोमाग्रान्नखाग्रांश्च तपस्तप्यत उत्तमम् " ॥

बौधायनः—" विधिना शास्त्रदृष्टेन प्राणायामान्समाचरेत् ।
यदुपस्थकृतं पापं पद्भ्यां वा यत्कृतं भवेत् ॥
बाहुभ्यां मनसा वाचा श्रोत्रत्वग्घ्राणचक्षुषा " ।

तत्सर्वं नाशयेदिति शेषः ।

---

१ क. छ. °वा नीत्वा रात्रिं । २ छ. त्रिंशो भागः ।

तथा—" श्रोत्रत्वग्घ्राणमनोव्यतिक्रमेषु त्रिभिः प्राणायामैः शुध्यति । शूद्रान्नस्त्रीगमनभोजनेषु केवलेषु पृथक्पृथक्सप्ताहं सप्त सप्त प्राणायामान्धारयेत् । तथाऽभक्ष्याभोज्यापेयानाद्यप्राशनेषु । तथैवापण्यविक्रयेषु मधुमांसघृतद्वादशतैललाक्षालवणरसान्नवर्जेषु । यच्चान्यदप्येवं युक्तं स्यादर्धमासं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकेषु पतनीयवर्जेषु यच्चान्यदप्येवं स्यात् । द्वादशार्धमासान्द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् "।

मनुः—" सव्याहृतिकाः सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः " ॥

सर्वमहापातकापनोदनमेतत् । अत्र च तत्कार्यापरया तद्धर्मलाभ इति न्यायात्प्रकाशप्रायश्चित्तधर्मा ब्रह्मचर्यं सत्यवचनाधःशयनहविष्यादयः प्राप्नुवन्ति ।

" कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतद्वासिष्ठं च तृचं प्रति ।
साहित्यं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति " ॥

कौत्सं कुत्सेन दृष्टम्—" अप नः शोशुचदघम् " इत्येतदृष्टर्चमाग्नेयं गायत्रं " प्रतिस्तोमेभिरुषसम् " इत्यादिकं वसिष्ठदृष्टं तृचमौषस्यं त्रैष्टुभं जपित्वा, तथा " महिम्नीणाम् " इति तृचं सत्यधृतिवारुणिदृष्टमादित्यं गायत्रम् " एतो न्विन्द्रम् " इति शुद्धवत्यस्तित्र ऐन्द्र्योऽनुष्टुभ आङ्गिरसतिरश्चिदृष्टाः । एतानि जपित्वा सुरापो विशुध्यति । षोडशसंख्याकश्चात्र जपः कार्यः ।

" सकृज्जप्त्वाऽस्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः " ॥

" अस्य वामस्य पलितस्य होतुः" इति सूक्तमौषस्यं दीर्घतपोदृष्टं द्विपञ्चाशदृक्कं त्रैष्टुभम् । ' पञ्चपादं पितरम् ' ' साकंजानां सप्तथम् ' ' यद्वायत्रे अधि ' ' सप्तार्धगर्भाः ' ' गौरीर्मिमाय ' इति जगत्यः । ' तस्याः समुद्राः ' इति विष्टरपङ्क्तिर्वैश्वदेवम् ' ' यज्जाग्रतः ' इत्यादिकं षड्ऋचं मनोर्दै(दे)वत्यं त्रैष्टुभम् ।

तथा—" हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।
जप्त्वा च पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः " ॥

" हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि " इत्येकोनविंशतिस्त्रिष्टुभो वामदेवमूर्धन्वद्दृष्टाः

---

१ छ. °मनोभो°। २क. °वं स्याद्द्वादशार्धमासान्द्वादशद्वादशप्रा°। ३ छ.°तकप°। ४ क.°लाभा इ°।

सूर्यवैश्वानरदै(दे)वत्याः। "न तमंहो न दुरितम्" इत्यष्टर्चं सूक्तं वामदेवमं(पुत्रां)हो-मुचा दृष्टं वैश्वदेवं तस्याऽऽद्याः सप्तोपरिष्टाद्बृहत्योऽन्त्या त्रिष्टुप् । 'इति वा इति मे मनः' त्रयोदशर्चमैन्द्रं लवेन दृष्टं तदै(दे)वत्यं गायत्रं सूक्तं 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इति पुरुषसूक्तं षोडशर्चं साध्यनाडायनदृष्टं पुरुषदै(दे)वत्यं तस्यान्त्या त्रिष्टुप्। अनुष्टुभोऽन्याः । हविष्पाङ्क्तीयादीनां जपः षोडशकृत्वः कार्यः ।

तथा—" एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति च " ॥

" अव ते हेडो वरुण नमोभिः " इति वारुणी । आजीगर्तिशुनःशेपदृष्टा त्रिष्टुप् । ' यत्किंचेदं वरुण ' इति वसिष्ठदृष्टा वारुणी त्रिष्टुप् " इति वा इति मे मनः " इति पूर्वोक्तमृष्यादि ।

तथा—" प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं मानवो मुच्यते त्र्यहात् " ॥

अप्रतिग्राह्यं प्रतिषिद्धप्रतिग्रहं सुरादिपतितादिसंबन्धि गवाद्यपि । विगर्हितमन्नं लशुनादि । " तरत्समन्दी धावति " इति चतुर्दशर्चं सूक्तमवत्सारदृष्टं पवमानसोमदै(दे)वत्यं गायत्रम् ।

तथा—" सौमारौद्रं[3] तु ब्रह्महा मासमभ्यस्य शुध्यति ।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्यमपि वाऽऽप्यृचम् " ॥

" सोमारुद्रा धारयेथाम्" इति चतुर्दशमाङ्गिरसं भारद्वाजदृष्टं सौमारौद्रदै(दे)-वत्यं त्रैष्टुभम्।"अर्यम्यं वरुणं मित्र्यं वा" इति त्रिष्टुप्पा(प्प)र्जन्याऽत्रिदृष्टा वारुणी।

तथा—" अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।
अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्षभुक् " ॥

" इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये " इति सप्तर्चं सूक्तं कुत्सदृष्टं वैश्वदेवं जागतं त्रिष्टुबन्तम् । अप्रशस्तं मूत्रपुरीषरेतसामुत्सर्गमप्सु कृत्वा मासं भैक्षभुगासीत । कार्यान्तराणि परित्यज्य वर्तेतेत्यर्थः ।

" मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् " ॥

" देवकृतस्यैनसः " इत्याद्याः शाकलहोमीयाः षण्मन्त्राः । " नम इदुग्रं नम आविवास " इति वैश्वदेवी त्रिष्टुबाङ्गिरसभारद्वाजदृष्टा । यत्र मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं तत्सुगुरु ।

---

१ क. वामे । २ छ. °णीति त्रि° । ३ क. °रौद्रेण ब्र° । ४ क. वा तृच° ।

" महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्वाः समाहितः ।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुध्यति " ॥

**पावमान्यः** "स्वादिष्ठया" इत्यादयो " यत्ते राजञ्छृतं हविः " **इत्येतदन्ताः ।** **अत्यन्तगुरुतरमहापातकविषयं चैतत् ।**

**तथा**—" अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रसन्नो वेदसंहिताम् ।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः " ॥

**इदमपि पूर्वेण समानविषयम् ।**

" त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः ।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्जप्त्वा त्रिरघमर्षणम् " ॥

**अत्र पक्षे प्रतिस्नानं त्रिरघमर्षणजपः ।**

" ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टो विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति[1] मज्जति[2] ॥
ऋचो यजूंषि चाभ्याणि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् " ॥

**आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्मेति प्रणवाभिप्रायम् ।**

**शङ्खलिखितौ**—" ब्रह्महा त्रिरात्रोपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्तयेत् ।
गुरुतल्पगः पवित्रमृषभं सुवर्णस्तेयी[3] रुद्राध्यायी सुरापो
मध्याह्ने कूष्माण्डैर्घृतहोमं कुर्यात् । हिरण्यस्तेनश्चतसृभि-
र्हिरण्यवर्णाभिरात्मानमभ्युक्ष्य हिरण्यमप्सु निदध्यात्"।

**यमः**—" अथ सुरापः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य सुतसोमस्य प्रसृतिमादायों-
कारेणाभिमन्त्र्य पिबेत् । ततोऽप्सु निमज्य मानस्तोक्यां पठेत् ।
तस्मात्पूतो भवति " ।

" मा नस्तोके तनये मा न आयौ " **इति मानस्तोक्या कुत्सदृष्टा रौद्री जगती ।**

ब्राह्मणसुवर्णस्तेयं कृत्वा हिरण्यं[4] शालायां प्रक्षिप्य ग्रीवामात्र-
मुदकमवतीर्याप्सु निमज्ज्य चतसृभिर्हिरण्यवर्णाभिरात्मानम-
भ्युक्ष्य मानस्तोक्यया श्रीन्प्राणायामान्कृत्वा तदेतस्मात्पापा-
त्पूतो भवति । अथ गुरुतल्पगमनं कृत्वाऽघमर्षणमन्तर्जले

---

१ छ. त्रिर्वृति । २ क. °ति । दश य° । ३ क. °यी सु° । ४ क. °ण्यं शिलाकायां ।

त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पापात्पूतो भवति । अथ ब्रह्महत्यां कृत्वा प्राचीं वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य प्रभूतेनेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्याघमर्षणेनाष्टसहस्रमाहुतीर्जुहुयात् । तदेतस्मात्पापात्पूतो भवति ।

आज्यमत्र हविः ।

पातकोपपातकमहापातकाभि(ति)पातकानामन्यतमसंनिपातेऽघमर्षणमेव जपेत् " ।

बौधायनः—" अथातः पवित्रातिपवित्रस्याघमर्षणस्य कल्पं व्याख्यास्यामः—ग्रामात्प्राचीं वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्क्लिन्नेन वाससा सकृत्पूतेन पाणिनाऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपरिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतियावकं प्राश्नीयादज्ञानकृतेभ्यो ज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते । द्वादशरात्राद्भ्रूणहननम् । गुरुतल्पं सुवर्णस्तेयं सुरापानमिति वर्जयित्वैकविंशतिरात्रात्तान्यपि तरति सर्वं जयति, सर्वक्रतुफलमाप्नोति, सर्वेषु वेदेषु चीर्णव्रतो भवति, सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति, सर्ववेदेषु ज्ञातो भवति आ चक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति, कर्मारम्भा अस्य सिध्यन्ति " इति ।

बौधायनः—" उपपातकेभ्यो यानि महान्ति महापातकेभ्यश्च यानि न्यूनानि तानि सर्वाण्यपि द्वादशरात्रादपोहति । एकविंशतिरात्रान्महापातकानि " ।

अङ्गिराः—" एकादशगुणान्वाऽपि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् ।
महापापैरुपस्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥
सुरापो यदि वा चौरो भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
मुच्यते सर्वपापैस्तु रुद्रांस्तु सततं जपन् " ॥

शातातपः—" मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां विधाय ।
भस्मच्छन्नो भस्मशय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः " ॥

---

१ क. °काना° । २ क. °यात् । ज्ञानकृतेभ्य° । ३ क. °रात्र्यन्तराण्यपि ।

**यमः**—" मण्डलं पावमानं च जपन्पक्षमुपोषितः ।
नाशयेद्ब्रह्महत्यां च वसिष्ठवचनं यथा ॥
इन्द्रं मित्रमिदं सूक्तं समित्रं म(मा)धुच्छन्दसम् ।
सुरापानात्प्रमुच्येत पावमानजपेन वा ॥

" अग्निमीळे पुरोहितम् " इत्याद्यम् " इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् " इत्येतद्गर्गसहितं सप्तर्चं माधुच्छन्दसम् ।

शौना(नः)शेपं नासदस्यं कौत्सं स्तेयविनाशनम् ।
जपेद्वाऽप्यस्यवामीयं पावमानमथापि वा ॥
कुन्तापं वालखिल्यांश्च निवित्प्रैषान्वृषाकपीन् ।
होतॄन्रुद्रांस्तथा जप्त्वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥
दशप्रणवगायत्र्याः प्राणायामशतैस्त्रिभिः ।
मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किं पुनः शेषपातकैः ॥
घृतं तिलान्वा समिधो हुत्वा देवकृतादिभिः ।
अप्सु वा नियतो जप्त्वा तदहैव विशुध्यति ॥
यत्किंचेति वारुणीमन्तर्जले जपन्सर्वपापैः प्रमुच्यते " ।

**वसिष्ठः**—" सर्वेषामेव पापानां संकरे समुपस्थिते ।
अभ्यासो दशसाहस्रो गायत्र्याः शोधनं परम् " ॥

**गायत्र्यनुवृत्तौ शङ्खः**—" सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
सुरापश्च विशुध्यन्ति लक्षजापान्न संशयः ॥
हुता देवी विशेषेण सर्वकल्मषनाशिनी ।
सर्वकामप्रदा देवी वरदा भक्तवत्सला ॥
घृतयुक्तैस्तिलैर्वह्निं हुत्वा तु सुसमाहितः ॥
पापात्मा लक्षहोमेन पातकेभ्यः प्रमुच्यते ।
अभीष्टं लोकमाप्नोति तथा पापविवर्जितः " ॥

**मनुः**—" सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते " ॥

**बहिर्ग्रामात् । त्रिकं सव्याहृतिसावित्र्यात्मकम् ।**

**हारीतः**—" प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेति सावित्रं पवित्रं
येन सर्वपापेभ्यो विमुच्यते । शतं जप्त्वा

---

१ क. 'तं बिल्वान्वा समि' । २ छ. सप्तपा' ।

मासात्पूतो भवति । दश सहस्राणि जप्त्वा सर्वपूतात्मा भवतीत्याहुः " ।

तथा—" हंसः शुचिषदिति विमलं पवित्रं येन सर्वपापेभ्यः प्रमुच्यते । अप्सु जपेद्घृतं तिलान्समिधो वा जुहुयात् । आदित्यं वोपतिष्ठेत पूतो भवति " ।

तथा—" आ कृष्णेनेत्यादित्यमुपतिष्ठन्सर्वपूतात्मा भवति " ।

यमः—" ओंकारायुतमभ्यस्य तदहैव विशुध्यति " ।

तथा—" अथ चण्डालकुले नटकुले मौष्टिककुले दाम्भिकाभिशस्तपतितकुलेऽन्यस्मिन्वाऽभोज्यपापकर्मकुले प्रतिगृह्य क्षुधितो भुक्त्वा वा ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिनिष्क्रम्य पृथिव्यां शुचौ देशेऽप्सु परिप्लवमानस्तरत्समन्दीर्जपेत् । ओंकारपूर्विका व्याहृतीर्वा तस्मात्पापात्पूतो भवति । मातरं भगिनीं गत्वा मातृस्वसारं स्नुषां सखीं वाऽन्यद्वाऽगम्य(म्या)गमनं कृत्वाऽघमर्षणमन्तर्जले त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पापात्पूतो भवति । गोहत्यां स्त्रीहत्यां राजन्यवैश्यहत्यां न्यासापहारं कन्यादूषणं कृत्वा ग्रामात्प्राचीं वोदीचीं वा दिशमभिनिष्क्रम्य प्रभूतेनेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्य गव्येन घृतेन व्याहृतिभिराहुतिसहस्रं जुहुयात् । गायत्र्यष्टसहस्रमावर्त्याऽऽदित्यं प्रेक्षमाणश्चतसृभिर्हिरण्यवर्णाभिरात्मानं प्रोक्ष्य वामदेव्यं त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पापात्पूतो भवति । चण्डालीं पुक्कसीं मित्रकलत्रं वा गत्वोपस्पृश्य वामदेवे(व्ये)न वा त्रीन्प्राणायामान्कृत्वा तदेतस्मात्पापात्पूतो भवति । रेतोमूत्रपुरीषप्राशनं कृत्वा लशुनपलाण्डुगृञ्जनककुम्भीकादीनाममक्ष्याणां भक्षणं कृत्वा हंसग्रामकुक्कुटश्वसूकरसृगालमांसभक्षणं कृत्वा ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा व्याहृतिभिरुरोगमुदकं पीत्वा तदेतस्मा[त्पापा]त्पूतो भवति " ।

अत्रिः—" रजनीपादं ध्यानमेव समाचरेत् । तत्पूर्वं तदपरं ब्रह्म सवितुः । अभक्ष्यभक्षणादपेयपानादकार्यकरणादशेषतो मुच्यते । वामदेवं(व्यं) त्रिरावर्त्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

---

१ क. 'कर्मिकु' । २ क. 'मात्प्रतीचीं वो' । ३ क. 'ह्म संवितः । अ' ।

अयं त इन्द्रसोमेति जपित्वा कन्यादूषी च शुध्यति ।
सोमं राजानं वरुणमिति जपित्वा विषदगरदाग्निदाश्च
मुच्यन्ते । उदु त्यं जातवेदसमिति सप्तकृत्व आदित्योप-
स्थानादिह कृतैः पूर्वकृतैश्च पापैर्मुच्यते " ।

**यमः**—" अपेयं पीत्वाऽभक्ष्यं भक्षयित्वा स्नात्वोपस्पृश्यर्षभेण त्रीन्प्रा-
णायामान्कृत्वा गायत्र्यष्टशतमावर्त्य तदेतस्मात्पूतो भवति " ।

**ऋषभः सामविशेषः ।**

**चतुर्विंशतिमतात्**—" महाव्याहृतिभिर्होमस्तिलैः कार्यो द्विजन्मना ।
उपपातकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया ॥
न तथा वेदजापेन[1] सर्वपापान्यपोहति ।
ऐहिकामुष्मिकं पापं सर्वं निरवशेषतः ॥
पञ्चरात्रेण गायत्रीं जपमानो व्यपोहति " ।

**वसिष्ठः**—" सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः ॥
अघमर्षणदेवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः ।
कूष्माण्ड्यः पावमान्योऽपि विराजं मृत्युलाङ्गलम् ॥
भद्रा व्याहृतयो दुर्गा महादोषविनाशिनी ।
प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि[2] विख्यातानि विशेषतः ॥
समाहितानां युक्तानां प्रमादेषु कथं भवेत् " ।
ऋतं च सत्यं चा(चे)त्यघमर्षणं त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मा-
त्पापात्प्रमुच्यते । आऽयं गौः पृश्निरक्रमीदित्येतामृचं
त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते[3] । हंसः शुचि-
षदित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मा[त्पापा]त्प्रमु-
च्यते । अपि वा गायत्रीं पच्छोऽर्धर्चशः समस्तामिति
त्रिरन्तर्जले जपन्सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते " ।

**विष्णुः**—" अथातः सर्ववेदपवित्राणि भवन्ति । येषां जपैश्च होमैश्च
द्विजातयः पापेभ्यः पूयन्ते । अघमर्षणं देवकृतः । शुद्धव-
त्यस्तरत्समन्दी धावति । कूष्माण्ड्यः पावमान्यो दुर्गासा-

---

१ क. °न पापानि दहति द्विजः । यथा सावित्रजपेन सर्वपापान्व्यपोहति । वसि° । २ छ. वक्ष्यामो वि° । ३ क. °ते । द्रुपदादिवेन्मुमुचान इत्ये° ।

वित्री अभिषङ्गाः पदस्तोभा व्याहृतयो मारुण्डानि ऐन्द्र-साम पुरुषव्रतं भा(मा)समब्लिङ्गा बार्हस्पत्यं वाक्सूक्तं गोसूक्तमश्वसूक्तं मध्वृचः सामनी चैन्द्रशुद्धेः शतरुद्रियमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतं नारायणीयं पुरुषसूक्तं श्रीण्याज्यदोहानि रथंतरं चाग्निव्रतं वामदेव्यं बृहच्चैतानि गीतानि पुनन्ति जन्तुं जातिस्मरत्वं लभते य इच्छेत् " ।

हारीतः—" हत्वा लोकानपीमांस्त्रींस्त्रिः पठेदघमर्षणम् ।
यथाऽश्वमेधावभृथस्तथा तन्मैत्रिरब्रवीत् ॥
रुद्रैकादशिनीं जप्त्वा तदहैव विशुध्यति ।
घृतं तिलान्समिधो वा जुहुयादेवकृतस्य वै ॥
अप्सु वा नियतो जप्त्वा तदहैव विशुध्यति ।
विरैजं[1] विमलं शुद्धं त्रिमधु ज्येष्ठसाम च ॥
अप्रतिरथमश्वस्तोमीयं कँयाशुभीयं[4] मनोभासूक्तमेव च ।
त्रिसुपर्णं सुपर्णं च प्रत्यङ्गं मृत्युलाङ्गलम्[5] ॥
अथर्वशिरोऽथ भौमं वा वामदेव्यमथापि वा ।
आदित्यसूक्तं वाक्सूक्तं श्रीसूक्तं सर्वसंमितम् ॥
वाक्सूक्तं विविधं चैव सर्वपापप्रणाशनमिति ।
अथ शारीरं पवित्रम् । यदह्ना रात्र्या पद्भ्यां पापमकार्षं विष्णुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वोपस्थेन पापमकार्षं प्रजापतिर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वा पायुना पापमकार्षं मित्रो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वा पाणिभ्यां पापमकार्षमिन्द्रो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वा वाचा पापमकार्षमग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वा जिह्वया पापमकार्षमापो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चन्त्वंहसः । यदह्ना रात्र्या वा प्राणेन पापमकार्षं पृथिवी मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना रात्र्या चक्षुषा पापमकार्षं

---

१ छ. °नि चन्द्र° । २ क. चन्द्रं शुद्धे शं° । ३ छ. विराजं । ४ छ. कन्याशुं° । ५ क. मृडला° ।

सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना राज्या वा श्रोत्राभ्यां पापमकार्षं पर्जन्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना राज्या वा त्वचा पापमकार्षं वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना राज्या वा मनसा पापमकार्षं चन्द्रो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना राज्या वा बुध्या पापमकार्षं ब्रह्मा मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः । यदह्ना राज्या वाऽहंकारेण पापमकार्षं रुद्रो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ।

यन्मे केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरग्निस्तन्मे व्यपोहतु ॥

य उदगान्महतोऽर्णवाद्विभ्राजमानः सलिलस्य मध्यात् ।
स मामृषभो रोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु ।

अवधूतो वा लङ्घितोऽप्सु जपेत्पूतो भवति । शुचिमर्घमादायोदितमात्राय नमस्तेऽस्त्वशीतरश्मये तमोनुदे जहि मे दौर्भाग्यं सौभाग्यायोदयस्व म इति । उदु त्यं चित्रं देवानामित्येताभ्यां हस्ताभ्यामवनीयार्घ्याञ्जलिं हंसः शुचिषदित्यादित्यमुपतिष्ठेत्तद्व्रतं सार्वकामिकम् । अकृताह्निको गवे यवसं दद्यात् । भद्राभ्यो नमो बहुलाभ्यो नमो धेनुभ्यो नमः सर्वलोकदेवमातृभ्यो नमः । यदि गां न विन्देन्न परिवदेन्नाऽऽक्रोशेत्तद्व्रतं सार्वकामिकम् । उपहृतमशनं सहसाऽऽगताय ब्राह्मणाय दद्यात् । नमो ब्रह्मभ्यो ब्रह्मविद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यो नम इति । यदि ब्राह्मणं न विन्देन्न परिवदेन्नाऽऽक्रोशेत्तद्व्रतं सार्वकामिकम् " इति ।

**अत्रिः**—" न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् ।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरत् " ॥

**हरिः**—" सुवर्णदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ।
एतत्प्रयच्छमानो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते " ॥

**पुराणात्**—" अतिपापमहापापोपपापादीन्यशेषतः ।
मोहाद्विधाय वितरेत्स्वर्णं तदनुसारतः ॥

---

१ छ. °धूतैर्वा ल° । २ क. °त् । रुद्रा° ।

ब्राह्मणं प्रार्थयित्वाऽऽदौ श्रोत्रियं वेदपारगम् ।
संपूज्य पुष्पवस्त्राद्यैर्मन्त्रेणानेन दापयेत् ॥
अजितं सर्वदै(दे)वत्यं सुवर्णं च हुताशनः ।
शरण्यं पितृदै(दे)वत्यमाज्यं तेजो दिवौकसाम् ॥
तिलांश्च दद्याद्विधिवन्मन्त्रेणानेन सुव्रत ।
महर्षेर्गात्रतः सृष्टाः कश्यपस्य तिलाः स्मृताः ॥
तस्मादेषां प्रसादेन पापसंघातपञ्जरम् ।
विलयं यातु मे सर्वमामपात्रमिवाम्भसि ॥
तथा दद्याद्विधानेन द्विजाय मधुसर्पिषी ।
तारयत्यखिलान्पूर्वानात्मानं च नराधिप ॥
गोभिश्चतसृभिर्युक्तं तथा भूमिसमन्वितम् ।
प्रतिग्रहसमर्थाय विदुषे त्वाहिताग्नये ॥
दत्त्वाऽजिनं तु कार्तिक्यां वैशाख्यां वा विशेषतः ।
विषुवत्ययने चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥
कृच्छ्रात्तु तमसो घोरान्मुच्यते सर्वतो भयात् ।
अतीतान्सप्त पुरुषांस्तथा चान्याननागतान् ॥
उद्धृत्य स नरो याति ब्रह्मलोकं सनातनम् " ।

**वसिष्ठबृहस्पती**—" यत्किंचित्कुरुते पापं पुरुषो लोभमोहितः ।
सर्वं तद्भूमिदानेन क्षिप्रमेव प्रणाशयेत् ॥

**आदिपुराणे**—" यस्तु गोचर्ममात्रां वै प्रयच्छति वसुंधराम् ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति " ॥

**वृद्धवसिष्ठः**—" गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः ।
एतद्गोचर्ममात्रं तु प्राहुर्धर्मविदो जनाः " ॥

**बृहस्पतिः**—" दशहस्तेन वंशेन दशवंशाः समन्ततः ।
पञ्च चाभ्यधिकास्तद्वदेतद्गोचर्मलक्षणम् " ॥

**मात्स्ये**—" दण्डेन सप्तहस्तेन त्रिंशद्दण्डा निवर्तनम् ।
त्रिभागहीनं गोचर्ममानमाह प्रजापतिः " ॥

**वसिष्ठः**—" अथ कर्मभिरात्मकृतैर्गुरुमात्मानं मन्येताऽऽत्मार्थे
प्रसृतियावकं श्रपयेन्न ततोऽग्नौ जुहुयात् । न चात्र

---

१ छ. आदित्यपु° । २ छ. पञ्चाशाभ्यधिकस्तस्मादे° ।

बलिकर्म। अशृतं श्रप्यमाणं शृतं वाऽभिमन्त्रयेत ।
यवोऽसि धान्यराजोऽसि बारुणो मधुसंयुतः ॥
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः ष्टु(स्मृ)तम् ।
घृतं यवा मधु यवा आपो वा अमृतं यवाः ॥
सर्वं पुनीत मे पापं यन्मे किंचन दुष्कृतम् ।
वाचा कृतं कर्मकृतं दुःस्वप्नं दुर्विचिन्तितम् ॥
अलक्ष्मीं नाशयत यवाः सर्वं पुनीत मे यवाः ।
गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं शूद्रयाजनम् ॥
चौरस्यान्नं नवश्राद्धं सर्वं पुनीत मे यवाः ।
बालवृत्तमधर्म्यं यद्राजद्वारकृतं च यत् ॥
सुवर्णस्तेयमात्रा(त्र)त्ययाज्यस्य च याजनम् ।
ब्राह्मणानां परीवादं सर्वं पुनीत मे यवाः ॥

इति श्रप्यमाणे रक्षां कुर्वात् । ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामिति शृतं च लब्धश्रीयात् । प्रयतः पात्रे निधिच्य ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमः स्वाहेत्यात्मनि जुहुयात् । अथ नाभिमालभेत शान्ताः पीता भवत यूयमापोऽस्माकमन्तरुदरे सुदेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः । स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृध इति त्रिरात्रं मेधार्थी षडात्रं पापकृत्ससप्तरात्रं पीत्वा ब्रह्महत्यामुरापानसुवर्णस्तेयगुरुतल्पान्पुनाति । एकादशरात्रं पीत्वा पूर्वपूरुषकृतमपि पापं निर्णुदति । द्वादशरात्रं पीत्वा ताडनोद्घाटनाञ्जनवशीकरणानि करोति । गोनिर्हारिमुक्तानां[1] यवानामेकविंशतिरात्रं पीत्वा विद्याः पश्यति । विद्याधिपतीन्पश्यति । गणान्पश्यति । गणाधिपतीन्पश्यति, इत्याह भगवान्वसिष्ठः"।

अत्रैव वृद्धवसिष्ठोक्ता विशेषाः—

---

१ छ. 'निहार°'।

" यवानां प्रसृतिमञ्जलिं वा श्रप्यमाणं शृतं वाऽभिमन्त्र-
येत । यवोऽसि धान्यराजोऽसि वारुणो मधुसंयुतः ।
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्तुत इत्यनेन ।
तथा घृतं यवा मधु यवाः पवित्रममृतं यवाः । सर्वं
पुनन्तु मे पापं वाङ्मनःकायसंभवमित्यनेन वा ।
अग्निकार्यं न कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा ।
नाग्रं न भिक्षां नाऽऽतिथ्यं न चोच्छिष्टं परित्यजेत् ॥
ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्ष क्रतवः ।
तेनोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेत्या-
त्मनि जुहुयात् । त्रिरात्रं मेधावृद्धये । पापकृत्स्व-
ङ्रात्रं, ब्रह्महत्यादिषु द्वादशरात्रं पतितोत्पन्न इति ।
अभीयाद्यावकं पक्वं गोमूत्रे चैव शकृद्रसे ।
सक्षीरदधिसर्पिष्कं मुच्यते किल्बिषात्क्षणात् " इति ॥

लौगाक्षिः—" कूष्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत यदर्वाचीनमेनो भ्रूण-
हत्यायास्तस्मान्मुच्येतायोनौ वा रेतः सिक्त्वाऽन्यत्र
स्वप्नादरेपा वा पवित्रकामः पौर्णमास्याममावास्यायां
वा शुद्धपक्षस्य रोहिण्यां वा स्नातः शुचिः शुचिवासा
वा कृष्णाजिनवासा वा ब्रह्मचारिकल्पेन व्रतमुपैति,
संवत्सरं मासं द्वादशरात्रं षडात्रं वा । न मांसमश्नीयात् ।
न स्त्रियमुपेयान्नो पर्यासीत जुगुप्सेतानृतात्पयोभक्ष
इति प्रधानकल्पो यावकं वोपभुञ्जानः कृच्छ्रं द्वादश-
रात्रं वा भैक्षं वा तद्विधेषु पयो ब्राह्मणस्य व्रतं, यवागू
राजन्यस्याऽऽमिक्षा वैश्यस्य, पूर्वाह्णेऽग्निमुपसमाधाय
चरुं श्रपयित्वा यद्देवा देवहेडनं यदवद्यन्नृण-
महमायुष्टे विश्वतो दधदित्येतैः सूक्तैः प्रत्यृचमाज्यं
जुहुयात् । यद्देवा देवहेडनमिति तिसृभिः । भद्रं
कर्णेभिरिति चतसृभिः । पुनन्तु मा पितर इति
नवभिः । पुनर्मामैत्विन्द्रियमिति तिसृभिः । स्ये
अक्षेषु इति चतसृभिः । हिरण्यवर्णा इति तिसृभिः ।

---

१ ख. °त्रं सप्तरात्रं व° । २ क. च सङ्ग° ।

अग्नये वायवे सूर्याय ब्रह्मणे प्रजापतये कूष्माण्डेभ्य
इति व्रतहोमः । अग्ने त्वं पारयेति स्विष्टकृतं वैश्वा-
नरीयेण सूक्तेन प्राङ्मुखः प्राञ्जलिरुपतिष्ठेत । जपेत्प-
राञ्चि सूक्तानि वैश्वानर्यं च जपेत् " ।

वसिष्ठः—" स्नात्वा शतेन गायत्र्याः शतमन्तर्जले जपेत् ।
अपः शतेन वै पीत्वा मुच्यते सर्वपातकैः " इति ॥

रहस्यप्रायश्चित्तान्यपि गुरूणि गुरुषु लघूनि लघुषु पापेषु व्यवस्थापनीयानि गुरुकल्पविधानस्य वैयर्थ्यपरिहाराय ।

इति रहस्यप्रायश्चित्तानि ॥ ३११ ॥

उक्तानां प्रकाशव्रतानां वक्ष्यमाणानां कृच्छ्रादितपसामप्रायश्चित्तात्मकानामपि साधारणान्यङ्गानि यमनियमाख्यानि श्लोकद्वयेनाऽऽह—

**ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ॥**
**अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यदमाश्चेति यमाः स्मृताः ॥३१२॥**
**स्नानमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ॥**
**नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमा[3]दिताः ॥ ३१३ ॥**

ब्रह्मचर्यादयो यमसंज्ञकाः प्रायश्चित्तानां कृच्छ्रादीनां चाङ्गतया कार्याः । पुरुषार्थतया विहितानामप्येषां व्रताद्यङ्गत्वेन विधानं प्रयुज्यते । अत्र च ब्रह्मचर्यशब्देन ब्रह्मचारिधर्मा मधुमांसवर्जनादयो गृह्यन्ते । शुक्रोत्सर्गवैमुख्यं तूपस्थनिग्रहशब्देनोच्यते । अकल्कता दम्भरहितता, प्रसिद्धमन्यत् ।

प्रसङ्गादन्येऽपि साधारणव्रतधर्मविधयो लिख्यन्ते । तत्र विष्णुः—

" सर्ववर्णेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकम् ।
ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तचिकीर्षया ॥
दिनान्ते नखरोमादीन्प्रवाप्य स्नानमाचरेत् ।
भस्मगोमयमृद्वारिपञ्चगव्यादिकल्पितैः ॥
मलापकर्षणं कार्यं बाह्यशौचोपसिद्धये ।
दन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संयुतम् ॥

---

१ क. °ग्निभ्यः । २ छ. °यमश्चो° । ३ ङ. °मादता । ४ क. ग्रात्मानां । ५ क. °या । शिरोन्ते ।

व्रतं निशामुखे ग्राह्यं बहिस्तारकदर्शने ।
आचम्यातः परं मौनी ध्यायन्दुष्कृतमात्मनः ॥
मनःसंतापनं तीव्रमुद्वहेच्छोकमात्मनः ।
निष्कामो नित्यसंकल्पः शीघ्रं मुच्येत किल्बिषात् ॥
नित्यस्नायी निराहारो गुरुदेवद्विजार्चकः ।
पूजयेदतिथीन्नित्यं व्रतस्थान्धर्मभिक्षुकान् ॥
शास्त्रज्ञत्वे च विदुषो धर्मनिश्चयपारगान् ।
कैवल्यज्ञानिनो ये च ये च संन्यासकारिणः ॥
तेभ्यो दानानि देयानि पूजितानि शुभानि च " ।

संन्यासिनोऽत्र ब्रह्मार्पणन्यायेन कर्मकारिणो गृहस्था उच्यन्ते, न तु भिक्षुकाः । तेभ्यो दानस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।

शङ्खः—" न्युप्य केशनखान्पूर्वं नद्यां स्नात्वा बहिर्निशि ।
प्रत्येकं नियतं कालमात्मनो व्रतमादिशेत् ॥
प्रायश्चित्तमुपासीनो वाग्यतस्त्रिरुपस्पृशेत् ।
एकवासा आर्द्रवासा लघ्वाशी स्थण्डिलेशयः ॥
स्थानं वीरासनं मौनं मौञ्जी दण्डकमण्डलू ।
भैक्षचर्याऽग्निकार्यं च कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ॥

उपस्पर्शनं स्नानं, स्थण्डिलं भूः । मौञ्जीत्यादिषु धारयितव्येत्यध्याहारः कार्यः ।

अभुक्त्वा प्रातराहारं ज्ञात्वा चास्य समाहितः ।
सूर्याय देवताभ्यश्च निवेद्य व्रतमाचरेत् " ॥

व्रतनिवेदनं सयष्टिं व्रतालम्ब(म्भ)विमोचने ।

" अग्ने व्रतपते व्रतमालभे तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयमेवं वायो व्रतपते सूर्य व्रतपते इति व्रतमालभेत, अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तत्ते प्रब्रूमस्तन्नो गोपाय । एवं वायो व्रतपत इत्यादिना व्रतं विमुञ्चेत्" इत्यादिश्रवणात् ।

मनुः—" न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रलम्भनम् ॥
मुण्डस्त्रिषवणस्नायी अधःशायी जितेन्द्रियः ।
स्त्रीशूद्रपतितानां च वर्जयेदभिभाषणम् ॥

---

१ छ. °निवेदनं सयष्टिं व्रतालम्भवि° । २ छ. °त प्रति ।

पवित्राणि जपेच्छक्त्या जुहुयाच्चैव शक्तितः ।
अयं विधिश्च विज्ञेयः सर्वकृच्छ्रेषु सर्वदा " ॥

गायत्र्यादिजप्यानि पवित्राणि ।

वसिष्ठः—" कृच्छ्राणां श्मश्रुकेशान्वापयेदक्षिरोमशिखावर्जम् ।
महाव्याहृतिभिर्होमः सावित्र्या वाऽन्वहं स्वयम् ॥
कर्तव्यः पवनः सम्यक्सर्पिस्तिलयवास्तथा " ।

सर्पिरादीनि होमद्रव्याणि परस्परं विकल्प्यन्ते सावित्र्या च व्याहृतयः ।

हारीतः—" माषमसूरमधुपरान्नमैथुनानि प्रत्यहं वर्जयेत् ।
व्रतोपेतो नाकाले वाचं विसृजेत् । स्त्रीशूद्रो-
च्छिष्टाभिभाषण आचामेत् " ।

सुमन्तुः—" क्षारक्षौद्ररसलवणमधुमांसवर्जमन्नं कृच्छ्रादिषु " ।

बौधायनः—" त्रिषवणमुदकोपस्पर्शनमधःशयनमेकवस्त्रता केशश्मश्रुनखलो-
मवापनं चान्द्रायणादिषु । एतदेव स्त्रिया केशवपनवर्जम् ।
राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः ।
केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
केशानां रक्षणार्थे तु द्विगुणव्रतमाचरेत् ।
द्विगुणे व्रत आचीर्णे द्विगुणा दक्षिणा भवेत् " ॥

जाबालिः—"आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः ।
आज्येनैव हि शालाग्नौ जुहुयाद्व्याहृतीः पृथक् ॥
श्राद्धं कुर्याद्व्रतान्ते तु गोहिरण्यं च दक्षिणा ।
गृही गृहे नमस्कुर्वन्ब्रह्मलोके महीयते ॥
स्त्रीणां होमो न दातव्यः पञ्चगव्यं तथैव च " ।

मनुः—" महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥
त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥
स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥

---

१ क. °णां रूपाणि श्म° । २ छ. शालेऽग्नौ । ३ क. एहे ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः " इति ॥

वचनादप्रायश्चित्तार्थेषु कृच्छ्रादिषु स्थानासनाभ्यामित्युक्तेर्यथाशक्ति कुर्यादिति गम्यते(?) ।

" ह्रियापेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चाऽऽपदि ॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
यथा यथा पुनस्तस्य दुष्कृतं कर्म निन्दति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैतत्कुर्यां पुनरिति प्रवृत्त्या पूयते हि सः " ॥

पूयते पापनिवारणे जाते प्रायश्चित्तेऽधिक्रियत इत्यर्थः ।

चतुर्विंशतिमतात्—" अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छेद्द्वितीयं न समाचरेत् " ॥

कृतपापविषयं वैराग्यमप्रकृतिपर्यन्तप्रायश्चित्ताधिकारे हेतुरिति समुदायार्थः ।

शङ्खः—" तस्करश्वापदाकीर्णे बहुव्यालमृगे वने ।
न व्रतं ब्राह्मणः कुर्यात्प्राणबाधाभयात्सदा ॥
सर्वतो जीवितं रक्षेज्जीवन्पापं व्यपोहति ।
व्रतैः कृच्छ्रैस्तथा दानैरित्याह भगवान्यमः ।
शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥
शरीरात्स्रवते धर्मः पर्वतात्सलिलं यथा " ।

यमः—" पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नानं चाक्रतयोदितम् ।
नैमित्तिकानां स्वातन्त्र्ये तद्विधिः स्यादनर्थकः " ॥

पश्चात्तापादिकं नैमित्तिकानां[1] प्रायश्चित्तानामङ्गत्वेनोक्तम् । स्वातन्त्र्येऽङ्गभावरहितत्वे तद्विधिः प्रायश्चित्तविधिर्निष्फलोऽनुष्ठानलक्षणफलशून्यः स्यात् । महाक्लेशसाध्यं हि प्रायश्चित्तम् । अल्पक्लेशा हि पश्चात्तापादयः । तैः प्रायश्चित्तफले कृते प्रायश्चित्तविधिरफल इति स्पष्टम् ।

विष्णुपुराणम्—" कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।
प्रायश्चित्तं तु तस्योक्तं हरिसंस्मरणं परम् ॥

---

१ ब. °दिकानां नै° । २ ब. °श्चित्तो निष्फ° ।

प्रातर्निशि तथा संध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन् ।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः " ॥

यमः—" अवबोधः परित्यागस्तपो दानानुकीर्तने ।
विद्याभ्यासो ह्यपां स्पर्शः सप्ताङ्गं पापनाशनम् " ॥

अवबोधः पापस्य दुःखहेतुत्वविषयः । परित्यागो न पुनः पापक्रिया । तपोदाने प्रसिद्धे । अनुकीर्तनं पापस्य । विद्या वेदः । अपां स्पर्शः स्नानम् ।

पराशरः—" प्रायश्चित्तेषु सर्वेषु कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
शक्त्या वित्तानुसारेण प्रायश्चित्तानुरूपतः ॥
आ सहस्रादा शताद्वा दशान्तमपि वा जपेत् ।
ओंकाराद्यं तथा जप्त्वा गायत्रीमथ वाऽयुतम् " ॥

ब्रह्मा—" गात्राभ्यङ्गं शिरोभ्यङ्गं ताम्बूलमनुलेपनम् ।
व्रतस्थो वर्जयेत्सर्वं यद्वाऽन्यद्बलरागकृत् " ॥

पुराणात्—" उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि ।
एतद्वीरासनं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥
आपो हि ष्ठेति सूक्तं तु शुद्धवत्योऽघमर्षणम् ।
शंवत्यः स्वस्तिमत्यश्च पावमान्यस्तथैव च ॥
सर्वत्रैव प्रयोक्तव्याः कृच्छ्रादिव्रतमाचरेत् " ।

मरीचिः—" भस्मगोमयगोष्ठेषु शयनं सिकतासु च ।
पतितव्रात्यचण्डालस्त्रीशूद्रानभिभाषणम् ॥
त्रिः स्नानं वाससा सार्धं स्नानं जप्यं सुरार्चनम् ।
या यस्याभिमता लोके देवता तां समर्चयेत् " ॥

बौधायनः—" अहतं वासो वसीत सावित्रीं व्याहृतीश्चैव जपेदष्टसहस्रकृत्वः ।
ॐकारमादितः कृत्वा रूपे रूपे तथाऽन्ततः ।
भूमौ वीरासने युक्तः कुर्याज्जप्यं समाहितः ॥
आसीनः शल्यविद्धो वा पिबेद्द्रव्यं पयः सकृत् ।
गव्यस्य पयसोऽलाभे गव्यमेव भवेद्दधि ॥
दध्नोऽभावे भवेत्तक्रं तक्राभावे तु यावकम् ।
एषामन्यतमं यद्यदुपपद्येत तत्पिबेत् " ॥

---

१ छ. °विपर्ययः । २ क. °भोऽलाभे भवेत्तक्रं तक्रालाभे तु ।

शल्यविद्धो वेति वाशब्द उपमार्थः ॥ ३१२ ॥ ३१३ ॥

सांतपनादिकृच्छ्राणां प्रायश्चित्ततया विनियुक्तानां स्वरूपाण्याह—

+कुशोदकं तु गोक्षीरं दधिमूत्रशकृद्घृतम् ॥
प्राश्यापरेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥ ३१४ ॥

कुशोदकादि द्रव्यषट्कमेकीकृत्य प्राश्यापरेद्युरुपवसेत् । एष द्विरात्रसाध्यः सांतपनः । कुशोदकादिप्राशनमाहारान्तरनिवृत्त्यर्थम् । अत्र पराशरोक्तो विशेषः—

" गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु प्रायश्चित्तं विशोधनम् ॥
गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापि गोमयम् ।
पयः काञ्चनवर्णाया नीलायाश्च तथा दधि ॥
घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव वा ।
अलाभे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येष्वयं विधिः ॥
गोमूत्रमाषकास्त्वष्टौ गोमयस्य च षोडश ।
क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः ॥
गोमूत्रवद्घृतस्योक्तास्तदर्धं तु कुशोदकम् " ।

पञ्चगव्यानुवृत्तौ शङ्खः-" एतदेव त्र्यहाभ्यस्तं यतिसांतपनं स्मृतम् " ॥ ३१४ ॥

महासांतपनमाह—

पृथक्सांतपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ॥
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासांतपनः स्मृतः॥ ३१५ ॥

कुशोदकादीनां षण्णां सांतपनद्रव्याणामेकैकमेकस्मिन्नहनि प्राश्य सप्तमेऽह्न्युपवसेत् ।

जाबालः—" गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकैकं क्रमशोऽश्नीयादहोरात्रमभोजनम् ॥
कृच्छ्रः सांतपनो नाम सर्वपापप्रणाशनः " ॥

एतान्यपि प्राशनान्याहारान्तरनिवर्तकानि । यमस्त्वन्यथा सांतपनमाह—

" त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत् ।
त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः ॥

---

+ ङ. पुस्तके मिताक्षरायां च पाठान्तरम्-" गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सांतपनं चरेत्" इति ।

महासांतपनं ह्येतत्सर्वपापप्रणाशनम् " इति ।

जाबालः पुनरेकविंशतिरात्रसाध्यं महासांतपनमाह—

" षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं महासांतपनं विदुः " इति ॥

यदा कुशोदकादीनां सांतपनद्रव्याणामेकैकं त्र्यहमुपयुज्यते, तदा[ऽति]-सांतपनाख्यं भवति । यदाह यमः—

" एतान्येव तु पेयानि एकैकं तु त्र्यहं त्र्यहम् ।
अतिसांतपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् " इति ॥

एवं पञ्च सांतपनप्रकारा भवन्ति । तत्र द्विरात्रसाध्यः प्रथमः । सप्तरात्रसाध्यो द्वितीयः । द्वादशरात्रिकस्तृतीयः । पञ्चदशरात्रसाध्यश्चतुर्थः । एकविंशतिरात्रसाध्यः पञ्चमः ॥ ३१५ ॥

पर्णकृच्छ्रमाह—

**पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ॥**
**प्रत्येकं प्रत्यहाभ्यस्तैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१६ ॥**

पर्णादिपत्राणां[2] कुशानां चैकैकस्य क्काथोदकमेकैकस्मिन्नहनि पीयत इत्येष पञ्चरात्रसाध्यः पर्णकृच्छ्रः । अत्रापि प्राशनमाहारान्तरनिवर्तकम् । पर्णः पलाशः । राजीवं पद्मम् । प्रसिद्धमन्यत् । विष्णुस्तु पर्णकृच्छ्रमाह—

" कुशपलाशोदुम्बरपद्मशङ्खपुष्पीवटब्रह्मसुवर्चलापत्रैः क्वथितस्याम्भसः प्रत्यहं पाने पर्णकृच्छ्रः " इति ।

जाबालिस्त्वन्यथाऽऽह—

" पलाशबिल्वपत्राणां पत्राण्यौदुम्बराणि च ।
अश्वत्थस्य च पत्राणि अशेदेकैकशस्तथा ॥
अहोरात्रोपवासश्च पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ।
अन्यजन्मकृतं पापं कृतो नाशयते तु सः " इति ॥

शङ्खलिखितौ—" पद्मबिल्वपलाशोदुम्बरकुशोदकान्येकैकमभ्यस्तानि पर्णकृच्छ्रः+समस्तान्येतानि त्रिरात्रेणोपयुक्तानि च पर्णकृच्छ्रः " ।

---

+ समस्तानीत्यारभ्य पर्णकृच्छ्र इत्यन्तं न विद्यते क. पुस्तके ।

---

१ क. °दात्रिसांतपनगव्यं भ° । २ ङ. °त्यहं पीतैः प° । ३ छ. °भ्रान्तान्तानां कु° ।

यमः—" पलाशबिल्वपर्णानि कुशपद्मानि वाग्यतः ।
एकैकं त्र्यहमश्नीयात्पर्णकृच्छ्रो विधीयते " ॥ ३१६ ॥

तप्तकृच्छ्रमाह—

**तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ॥**
**एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः ॥ ३१७ ॥**

उष्णानां क्षीरादीनामेकैकस्य प्रत्यहं पानं चतुर्थेऽहन्युपवास इति तप्तकृच्छ्रः । लघुपापविषये विहितस्तप्तकृच्छ्रोऽयम् । गुरुपापविषये विहित[स्य] स्वरूपमाह मनुः—

" तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः " ॥

उष्णोदकान्निर्गच्छतो बाष्पोदकस्य पानमुष्णानिलं पानम् ।

" षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् ।
पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते " ॥

विष्णुः—" त्र्यहमुष्णाः पिबेदपः । त्र्यहमुष्णं घृतम् ।
त्र्यहमुष्णं पयः । त्र्यहं नाश्नीयादेष तप्तकृच्छ्रः " ॥ ३१७ ॥

पादकृच्छ्रमाह—

**एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ॥**
**उपवासेन चैकेन पादकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१८ ॥**

अहोरात्रमध्ये दिवैकैकं भोजनमेकभक्तम् । एवं रात्रावेकैकं भोजनं नक्तम् । अप्रार्थितं दिवा रात्रौ वैकरात्रौ वैकं भोजनम् । अयाचिते दिवारात्रम् । न रात्रौ न दिवा भोजनमुपवासः । एवं चतुरहःसाध्यः पादकृच्छ्रः । एकभक्तेनेत्यादि विशेषणे तृतीया । एकभक्तादौ ग्राससंख्यानियममाह पराशरः—

" सायं तु द्वादश ग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः ।
+चतुर्विंशतिरयाच्याः परं निरशनं स्मृतम् " इति ॥

वृद्धपराशरस्त्वन्यथाऽऽह—

" सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः ।

---

*चतुर्विंशतिरायाच्या इति पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ ङ. °कृच्छ्र उदाहृतः । २ छ. बाष्पस्य । ३ क. °निलापा° । ४ ङ. °वैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः । ५ छ. °र्थितदिवारात्रैवैकरात्रावेकं भो° । ६ क. °तेन नक्तरा° ।

चतुर्विंशतिरयाच्याः परं निरशनं स्मृतम् ॥
कुक्कुटाण्डप्रमाणाः स्युर्यथा चाऽऽस्ये विशेत्सुखम् " इति ।

अनयोश्च ग्रासंख्याप्रमाणविकल्पयोः शक्त्यपेक्षा व्यवस्था । आपस्तम्बेन तु पादकृच्छ्रोऽन्यथा विकल्पितः । यदाह—

" त्र्यहं निरशनं पादः पादश्चायाचितत्र्यहम् ।
सायं त्र्यहं तथा पादः पादः प्रातस्तथा त्र्यहम् " इति ॥

एतेषां चत्वारः पादाः प्रतिवर्णं व्यवस्थापितास्तेनैव—

" प्रातः पादं चरेच्छूद्रः सायं वैश्यस्य दापयेत् ।
अयाचितं तु राजन्ये त्रिरात्रं ब्राह्मणे स्मृतम् " इति ॥

प्रातः पाद एकभक्तत्रयं सायं पादो नक्तत्रयम् । अयाचितमयाचितत्रयम् । त्रिरात्रमुपवासत्रयमित्यर्थः । अयाचितपादोपवासपादौ कृच्छ्रार्धम् । अर्धकृच्छ्रमित्यर्थः । नक्तपादरहितं पादत्रयं पादोनं कृच्छ्रमिति । प्रकारान्तरेण नक्तकृच्छ्रं स एवाऽऽह—

" सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम् ।
*दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रं तद्वद्विधीयते " ॥

सायं प्रातस्तथैकैकभोजनमिति कृच्छ्रार्धयोश्च शक्त्यपेक्षो विकल्पः । चतुरहात्मकस्तु पादकृच्छ्रः स्त्रीबालवृद्धातुरविषयो द्रष्टव्यः । यदाह वसिष्ठः—

" अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् ।
अहः परं च नाश्नीयादर्धं चतुरहः परम् ॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः ।
बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह " ॥ ११८ ॥

प्राजापत्यमाह—

## यथाकथंचित्त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥

अयमेव पूर्वोक्तश्चतुरहात्मकः पादकृच्छ्रो येन केनचित्प्रकारेण त्रिरावृत्तः प्राजापत्य इत्युच्यते ।

मनुः—" त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः " ॥

अत्र गौतमोक्तो विशेषः—

---

* दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयत इत्येवं पाठो मिताक्षरायाम् ।

---

१ क. °दत्रयरहितं पादोनकृच्छ्रमिति स ए° । २ छ. तद्वद्वि° ।

( प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ )

" अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामः—हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नोश्नीयात् । अथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीत, परं त्र्यहमयाचितमथापरं त्र्यहमुपवसेत्तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः सत्यं वदेदनार्यैर्न संभाषेत* जये नित्यं प्रयुञ्जीत, अनुसवनमुदकोपस्पर्शनमापो हि ष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयेत् । हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः । अथोदकतर्पणम् । नमोऽहमाय(?) नमो हंसायोर्ध्वरेतसे तापसाय पुनर्वसवे नमो मौञ्ज्यायोन्माय वसुविन्दाय नमः पराय सुपाराय महापाराय पारयिष्णवे नमो रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः सूर्यायाऽऽदित्याय नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः कृष्णाय पिङ्गलाय नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः सत्याय पावकाय पावकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमो दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमस्तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः सौम्याय पुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषायोत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमश्चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नम इति । एतदेवाऽऽदित्योपस्थानमेता एवाऽऽज्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वा जुहुयात् । अग्नये स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृत इति । अथ ब्राह्मणभोजनम् । एतेनैवातिकृच्छ्रो व्याख्यातः " इति ।

**एवं समन्त्रका अपि कृच्छ्राः शूद्रस्यामन्त्रका भवन्ति । अङ्गिराः—**

" तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् ।
प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् " इति ॥

**अत एवाऽऽह—**

" चान्द्रायणं चरेद्विप्रस्तप्तकृच्छ्रं तु क्षत्रियः ।
चरेत्सांतपनं वैश्यः प्राजापत्यं तु शूद्रकः " इति ॥

---

* इतः परं मिताक्षरायां रौरवयोर्धां जपेन्नित्यमिति पाठो दृश्यते ।

---

१ क. °त रौरवयोर्धाज° । २ क. °मोऽर्हत्तमाय नमोऽहमायोर्ध्व° । ३ क. सोमाय ।

शूद्रग्राहितया शूद्रस्य कृच्छ्रार्धविधिर्भवति । ततश्च निषादस्येव शूद्रस्याप्यमन्त्रकं कर्म भवति । स्त्रियोऽप्यमन्त्रकमेव कुर्युः । यतस्तासां कृच्छ्रविधिर्दृश्यते ।

" प्रतिवर्णं चरेयुस्ताः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् " इति ॥

अतिकृच्छ्रमाह—

**अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूरान्नभोजनः ॥ ३१९ ॥**

अयमेव प्राजापत्य एवैकभक्तनक्तायाचितेषु पाणिपूरणपरिमाणान्नभोजनविशिष्टोपवासत्रयवानतिकृच्छ्रसंज्ञो भवति ।

मनुः—" एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः " ॥

पाणिपूरग्रासयोर्विकल्पः शक्त्यपेक्षः पापापेक्षो वा ॥ ३१९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रपराकावाह—

**कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम् ॥**
**द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥**

एकविंशतिरात्रं पयोव्रतं कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । द्वादशरात्रमभोजनं पराकः । गौतमस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्य लक्षणान्तर[+मतिकृच्छ्रान्तर]माह—"अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः" इति । अतिकृच्छ्र एव द्विगुणः कृच्छ्रातिकृच्छ्र इत्याह यमः—

" एकैकं पिण्डमश्नीयात्त्र्यहं कालस्य त्र्यहं निशि ।
अयाचितस्त्र्यहं पिण्डं वायुभक्षस्त्र्यहं परम् ॥
अतिकृच्छ्रं चरेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।
चतुर्विंशतिरात्रं तु नियतात्मा जितेन्द्रियः ॥
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं कुर्वीत एकस्थाने द्विजोत्तमः " इति ॥

एकस्थानवचनाच्चतुर्विंशतिरात्रसाध्य एक एव कृच्छ्र इति गमयति॥३२०॥

सौम्यमाह—

**पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ॥**
**एकरात्रोपवासश्च सौम्यः कृच्छ्रोऽयमुच्यते ॥३२१॥**

पिण्याकादीनां पञ्चानां द्रव्याणामेकैकेन द्रव्येणैकैकमहरतिवाह्य षष्ठेऽहन्युपवासः क्रियत इत्येष सौम्यसंज्ञकः कृच्छ्रः । पावन इत्यनुवर्तते । तेनात्रैव

+ एतच्चिह्नान्तर्गतमधिकम् ।

१ क. °द्रस्यार्धकृच्छ्रविधिरिति ।

वाक्ये कृच्छ्रस्वरूपं विधीयते । तत्रैव पापक्षयार्थत्वेन विनियोज्यत इति मन्तव्यम् । पिण्याकं पिण्डी । आचाम ओदनास्रावः । प्रसिद्धमन्यत् । जाबालस्त्वन्यथाऽऽह—

" पिण्याकं सक्तवस्तक्रं चतुर्थेऽहन्यभोजनम् ।
वासो वै दक्षिणां दद्यात्सौम्योऽयं कृच्छ्र उच्यते " इति ॥ ३२१ ॥

तुलापुरुषमाह—

**एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ॥**
**तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥**

एषां पिण्याकादीनामेकैकस्य त्रिरात्रोपयोगाभ्यासे पञ्चदशाहिकस्तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो भवति । यमः पुनरेकविंशतिरात्रसाध्यं तुलापुरुषमाह—

" आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तवः ।
त्र्यहं त्र्यहं प्रयुञ्जानो वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥
एकविंशतिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते " इति ॥

आचामादीनां पञ्चानामेकैकस्य त्रिरात्राभ्यासे पञ्चदशाहानि भवन्ति, त्रिरात्रिकस्य वायुभक्षस्य द्विरभ्यासेऽहानीत्येवमेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुषः षड्रात्रेणापि दृश्यते ।

" प्रथमेऽहनि नाश्नीयात्सम्यक्कृच्छ्रेषु सर्वदा ।
अतः पलानि चत्वारि पिण्याकस्य तु भक्षयेत् ॥
नीवारतण्डुलाचामं तृतीयेऽहनि तत्समम् ।
पिबेत्तक्रं चतुर्थे तु पञ्चमे तु जलं क्रमात् ॥
गोमूत्रयावकोद्भूतात्प्राश्य सक्तूंस्तु तत्समान् " ।

इति स्मृत्यन्तरानुसारात् । अत्र हारीतोक्तो विशेषः—

" अथातस्त्रिनयनोक्तस्य तुलापुरुषस्य कल्पं व्याख्यास्यामः । अथ च—
प्रतिबन्धादिभिर्धर्मैः प्रमूतानां वियोनिषु ।
अयाज्ययाजनं कृत्वा प्राश्य मूत्रपुरीषयोः ॥
अप्रतिग्रहमादाय याजयित्वा तु निन्दितान् ।
विनायकोपसृष्टस्य महाव्याधिहतस्य च ॥

---

१ छ. आचमतद° । २ क द्विरात्राभ्या° । ३ क. अथायं संवर्तः । प्र° ।

तुलापुरुषकं कृच्छ्रं महापातकनाशनम् ।
स्वर्गद्वारमिदं पुण्यं महादेवेन निर्मितम् ॥
आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तुकान् ।
त्र्यहं त्र्यहं प्रयुञ्जानो वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥
वाक्पादतैलरजोभिर्हतानि निवृत्तानि च ।
आचामस्तानि निर्हन्ति नवश्राद्धं च सूतकम् ॥
तैलस्य धारणं किंचित्केशकीटहतं च यत् ।
प्राश्य मूत्रपुरीषं च ब्रह्महस्पृष्टमेव च ॥
पिण्याकं तानि निर्हन्ति अस्थि भित्त्वा च यत्स्थितम् ।
ओकरेषु[2] च ये दोषाः स्नेहदोषाश्च ये क्वचित् ॥
खरोष्ट्रमुखसंस्पृष्टं मद्यसंस्पृष्टमेव च ।
तक्रेण तानि निर्हन्ति यश्चाद्याच्छ्वावलोकितम् ॥
कनकं च तिला गावो भूमिराच्छादनं स्त्रियः ।
सर्वं पुनाति धर्मात्मा गूढं चोदकसक्तुभिः ॥

ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुवर्णस्तेयं सुरापानं गुरुदारामिगमनं
कन्यादूषणं क्लीबामिगमनं वा वायुभक्षः पुनाति तत् ।

गत्वोशीरसमौ कार्यौ पुरुषौ पर्णसंमितौ ।
नदीमृत्तिकया वाऽपि पुरुषौ द्वौ तु कारयेत् ॥

महापशुर्येन शरेण विद्धो यश्चा(च्चा)पि शस्त्रमुभयोर्लब्धलक्ष्यम् ।
तेनाऽऽयसीं[3] सुदृढां कारयित्वा प्रादेशमात्रमुभयोः कृत्तशीर्षाम्[4] ॥

सौवर्णीं राजतीं वाऽपि तुलादेवीं तु कारयेत् ।
अपि चन्दनवृक्षस्य बदरस्यापि कारयेत् ॥
तस्यालाभे तुला कार्या यथा वा ह्युपपद्यते ।

यः पुरुषः पिङ्गलो बभ्रुहलमुसलशूलवज्रपाणिस्तमहं पुरुषं
पिङ्गलं बभ्रुहलमुसलवज्रशूलपाणिमावाहयिष्यामि स्वत
एव सूनृत एव हि स्वधाम एहि कृष्णाजिन एहि स्वागत-
मनुस्वागतं भवते तुलापुरुषाय महादेवायेदमर्घ्यमिदं पाद्यमि-
दमाचमनीयं[5] च प्रसीद गन्धमाल्यधूपदीपनप्यं

---

१ क. °कपाणितैलरजोभिर्हतानि निवर्तानि च । २ छ. आकारे° । ३ छ. °यसी सुदृढे का° । ४ छ. °णिमा° । ५ छ. नीयमिदमाचमनं च ।

प्रतिगृहाण, यदेनोभ्यो मम क्रुद्धः सुमना भव । अथ तुलामभिमन्त्रयेत् । ऋषिसत्यं देवसत्यं ब्रह्मसत्यं यत्सत्यं तेन सत्येन सत्यवादिनि देशानां संपदं ब्रूहि किं बीजं वर्धयिष्यसि ।

राज्ञां च संपदं ब्रूहि कं नृपं वर्धयिष्यसि ।
अस्माकं संपदं ब्रूहि किमस्माकं भविष्यति ॥
यदा च गुरुमात्मानमसकृत्तुलया धृतम् ।
परं लघुं च मन्येत तदा कर्म समारभेत् ॥

अग्नये पृथिव्यधिपतये स्वाहा । वायवेऽन्तरिक्षाधिपतये स्वाहा[1] । सूर्याय दिवोऽधिपतये स्वाहा । सोमाय नक्षत्राधिपतये स्वाहा[2] । वासुकाय नागाधिपतये स्वाहा । तक्षकाय सर्पाधिपतये स्वाहा[3] । कुबेराय यक्षाधिपतये स्वाहा । इन्द्राय देवाधिपतये स्वाहा । स्कन्दाय सेनाधिपतये स्वाहा[4] । ब्रह्मणे त्रैलोक्याधिपतये स्वाहा । देवै[5]भ्यो भगाधिपतये स्वाहा । सालकटंकटाय कूष्माण्डराजपुत्राय स्वाहा । महाविनायकाय वक्रतुण्डाय गणाधिपतये स्वाहा । धर्माय स्वाहा[6] । तुलापुरुषाय स्वाहा । प्रजादिदेवोऽयं मरुद्भिः सदैव पुनरागमनाय स्वाहा । सकृच्चरित्वा शुचिः कर्मण्यो भवति । द्विः कृत्वा गाणपत्यमवाप्नोति । त्रिः कृत्वा महादेवस्याऽऽत्मसख्यं प्राप्नोति । आषाढ्यां कार्तिक्यां फाल्गुन्यां पुण्ये वा नक्षत्र एष विहितो धर्मः " इति ।

अन्येऽपि कृच्छ्रा लिख्यन्ते । तत्र जाबालिः—

" अनश्नञ्जलमध्यस्थस्त्वहोरात्रं क्षिपेद्बुधः ।
संवत्सरकृतं पापं जलकृच्छ्रो व्यपोहति " ॥

विष्णुः—" उदकसक्तूनां मासाभ्यवहारेणोदककृच्छ्रः ।
बिसाभ्यवहारेण शीतकृच्छ्रः " ॥

शङ्खः—" शृङ्गाटादीनि बिसान्युदकसिद्धानि मासमश्नीत संयतः ।
सकृद्वासोदकं मासं कृच्छ्रो वारुण उच्यते ॥

---

१ क. °दा चातुरमा° । २ छ. °हा । वा° । ३ क. °हा । त° । ४ छ. °हा । इ° । ५ छ. °हा । दे° । ६ क. °व्यै भोगा° । ७ क. सालंकटकटा° । ८ छ. °हा । प्र° । ९ क. °च्छ्रः । शङ्खः । १० क. °कृत्वा सोदकान्मासं ।

त्रिस्वैरामलकैर्वाऽपि पञ्चाक्षैरथ वा शुभैः ।
मासेन लोके श्रीकृच्छ्रः कथ्यते द्विजसत्तमैः " ॥ ३२२ ॥

उक्ताः कृच्छ्राः । चान्द्रयणादीनीदानीमाह—

**तिथिवृध्द्या चरेत्पिण्डाञ्शुक्ले शिखण्डसंमितान् ॥**
**एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥**

चान्द्रायणाख्यं तपः कुर्वाणो मयूराण्डपरिमिता[न्पिण्डा]ञ्शुक्लपक्षे तिथिवृद्धौ चरेद्भक्षयेत् । तिथिषु प्रतिपद्द्वितीयादिषु चन्द्रकलानां संख्यावृद्धिस्तिथिवृद्धि-शब्देन विवक्षिता । तस्याश्च तुल्यां ग्राससंख्यामापादयन्त्याः पिण्डचरणे कारणत्वं पौरुषेयवाक्यानां(णां) मानान्तरतोऽवसितार्थानां पदेषु सापेक्षसमा-सासमर्थसमासत्वादिकं चोद्यमाचोद्यम् । तथा पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रसित्वा कृष्णपक्षप्रतिपत्प्रभृत्येकैकं ग्रासं ह्रासयेत् । कृष्णचतुर्दश्यामेकं ग्रासं ग्रसित्वाऽ-मावास्यायामुपवसेत् । एतद्यवमध्यं चान्द्रायणम् ।

वसिष्ठः—" मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश ।
ग्रासापचयभोजी च पक्षमेकं समापयेत् ॥
तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् ।
ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् " ॥

गौतमः पुनर्यवमध्यं चान्द्रायणमन्यथाऽऽह—

" अथातश्चान्द्रायणं तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे वपनं व्रतं चरेत् । श्वोभूतां पू(पौ)र्णमासीमुपवसेत् । आप्यायस्व सं ते पयांसि नवो नव इत्येताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चानुमन्त्रणमुपस्थानं चन्द्रमसो यदेवा देवहेडन-मिति चतसृभिराज्यं जुहुयाद्देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिः । ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् । ॐ यशः ॐ श्रीः ॐ ऊर्क् ॐ इडा ॐ ओजः ॐ तेजः ॐ पुरुषः ॐ धर्मः ॐ शिव इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वान् । ग्रासप्रमाणमास्याविकारेण । चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि

---

१ क. ङ. चरेत । २ क. °क्यानामानन्त° । ३ छ. कृच्छ्रेण व° । ४ क. °ति स° ।

हवींष्युत्तरोत्तरप्रशस्तानि । पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वैकापचयेनापरपक्षमश्नीयात् । अमावास्यायामुपोष्यैकोपचयेन पूर्वपक्षविपरीतमेकेषामेष चान्द्रायणो मासः । एतदाप्त्वा विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति । द्वितीयमाप्त्वा दश पूर्वान्दशापरानात्मानं चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति । तृतीयमाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोति " ।

अस्यार्थः—अस्य चान्द्रायणस्योक्तो विधिरितिकर्तव्यता कृष्णेन वपनं व्रतं चरेत् । प्रायश्चित्तं चरेत् । श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् । शुक्लचतुर्दश्यामुपवसेदित्युक्तं भवतीति चतुर्दश्यामुपवासः । पौर्णमास्यां पञ्चदशग्रासग्रसनं प्रायिकमन्यथा चान्द्रायणशब्दो न स्यात् । ग्रासश्चन्द्रोदये ग्रसनीयः । यदाह हारीतः—

" तृतीयसवने चान्द्रमसं चरुं श्रपयित्वा नवो नव इति हुत्वा ज्योत्स्नायां चरुशेषान्पिण्डान्साविज्यभिमन्त्रितान्प्राश्नीयात् " इति ।

ग्रासग्रसनसमये या तिथिस्तदनुरूपा ग्राससंख्योपादेया । ज्योत्स्नाशब्देन चन्द्रोदयो लक्षितः । तेन रात्रौ दिवा वा चन्द्रोदय एव ग्रासा ग्रसनीयाः । अमावास्यायां चन्द्रोदयाभावादभोजनम् । यमः—

" वर्धमाने यथा सोमे ग्रासा वर्धन्ति वै समाः ।
हीयमाने तु हीयन्ते तत्क्षये तु न भुज्यते " इति ॥

शङ्खलिखितौ—" एकवासाश्चरेद्दीक्षां स्नात्वा वासो न पीडयेत् ।
गायत्र्या दशसाहस्रमाह्निकं सर्वदा चरेत् " ॥

यवमध्यमुक्तं पिपीलिकामध्यमपि भवति यदि कृष्णप्रतिपदारम्भः, तदाह मनुः—

" एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् " ॥

तथा—" अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरन् ॥
चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् " ॥

बृहद्विष्णुः—

---

१ छ. वर्जये° । २ छ. °णमतश्चान्द्रायणं व्रतम् । तथा ।

" श्रीञ्छीन्पिण्डान्समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः ।
+हविष्यान्नस्यार्धमासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् " ॥

शङ्खः—" आर्द्रामलकमात्रास्तु ग्रासा इन्दुव्रते स्थिताः ।
तथैवाऽऽहुतयस्तत्र ग्रासार्थे चैव मृत्तिकाः " ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणान्तरमाह—

**यथाकथंचिदित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ॥**
**मासेनैवोपयुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥**

यथाकथंचिदिवसं प्रत्यनियततया ग्राससंख्या मासेनैव त्रिंशतैव तिथिभिर्ग्रासानां शतद्वयं चत्वारिंशदधिकमुपयुञ्जीताद्यात् । एतदपरं पूर्वोक्ताच्चान्द्रायणात् । अत्र च चान्द्रायणे पूर्वप्रक्रान्तमेकादश्युपवासादिव्रतं न लुप्यते, संख्याविशेषो हि माससंपाद्यतयाऽत्र विधीयते, न चान्द्रायणान्तरवत्प्रत्येकदिवससंपाद्यतया । शक्नोति चैकादशीमुपवसन्नपि माससंपाद्यां चत्वारिंशच्छतद्वयात्मिकां संख्यां संपादयितुं चान्द्रायणान्तरेषु यद्येकादशीमुपवसेत्तन्निमित्तां ग्रासाश्रितामेकादशसंख्यां नैव संपादयेदेव किंतु विनिपातयेदेव । यद्यपि ग्रासग्रसनमविधेयं रागतः प्राप्तत्वात्तथाऽपि तदाश्रितां संख्यां चान्द्रायणविधिर्विषयीकरोत्येव । यथा—दर्शपूर्णमासविधिव्यापारतः प्राप्त्याऽनुष्ठानं गोदोहनं पशुकामविधिः । तत्र यदि दर्शपूर्णमासप्रयुक्तमपां प्रणयनं नास्ति, तदा—"गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्येष शास्त्रार्थो न सिध्यति । तथैकादश्यादौ ग्रासाग्रसने तदाश्रितसंख्याविशेषविषयश्चान्द्रायणविधि*र्न सिध्यत्येव । अत्रापि हि रागप्राप्तभोजनाश्रितग्राससंख्याविशेषलक्षणो गुणः पापक्षयादिफलार्थत्वेन विधीयते । तेन चान्द्रायणपथापरमित्येतस्मादन्येषु चान्द्रायणेषु यदैकादश्युपवासाद्यादियते न तदा चान्द्रायणविधिसिद्धिरिति । यदा पञ्च ग्रासा ग्रस्यन्ते तदा प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहेत्यादि पञ्च मन्त्रा नित्यवद्भिक्षाविषयत्वेन क्रियन्ते । यदा पञ्चसंख्यातो न्यूनसंख्यका ग्रासास्तदा कथमित्यपेक्षिते बौधायन आह—

" प्राश्नीयात्प्राणायेति प्रथमम् । अपानायेति द्वितीयम् ।
व्यानायेति तृतीयम् । उदानायेति चतुर्थम् । समाना-

---

+ हविष्यान्नस्य वै मासमिति पाठो मिताक्षरायाम् । * न सिध्यत्येवेत्यारभ्य चान्द्रायणविधिरित्यन्तं न विद्यते छ. पुस्तके ।

---

१ छ. °र्धमासास° । २ क. °त्र शौचार्थे । ३ क. °पभुञ्जी° । ४ छ. °संख्यया मा° । ५ क. प्राप्त्यनु° । ६ क. °ने प° ।

येति पञ्चमम् । यदा चत्वारस्तदा द्वाभ्यां पूर्वं यदा त्रयस्तदा द्वाभ्यां पूर्वौ यदा द्वौ तदा द्वाभ्यामेवोत्तरमेकं सर्वैः " इति ।

अस्यार्थः—यदा चतुर्ग्रासपक्षस्तदोऽद्यद्वितीयाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रथमं ग्रासं ग्रसेत् । ग्रासत्रयपक्षे आद्याभ्यां प्रथमं तृतीयचतुर्थाभ्यां द्वितीयं पञ्चमेन तृतीयं, ग्रासद्वये तु त्रिभिः प्रथममन्तिमाभ्यां द्वाभ्यां द्वितीयमेकस्मिन्ग्रासे सर्वैरेकमिति ॥ ३२४ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणामितिकर्तव्यतामाह—

**कुर्यात्त्रिषवणस्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ॥**
**पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥३२५**

त्रिषवणस्नायी प्रातर्मध्यंदिनापराह्णेषु स्नानान्याचरन्कृच्छ्राणि सांतपनादीनि चान्द्रायणं च कुर्यात् । पवित्राणि गायत्र्यादीनि ऋग्यजुःसामसु व्यवस्थितानि यथास्वशाखं जपेत् । गायत्र्या च पिण्डान्ग्रासानभिमन्त्रयेत् । गौतमोक्तैश्च ग्रासाभिमन्त्रणमन्त्रैर्गायत्री विकल्प्यते । यद्वा " आप्यायस्व समे तु ते" इत्यादिकं मन्त्रत्रयं गायत्री तु(च) ग्रासानुमन्त्रणविषया, तेन(ना)भिन्नविषयत्वाद्युक्तः समुच्चयः । ग्रासानुमन्त्रणे च विशेष उक्तो यमेन—

" अङ्कुरव्यग्रथितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
प्राश्याऽऽचम्य पुनः कुर्यादन्यस्याप्यभिमन्त्रणम् " इति ॥

" सकृत्स्नायी जितेन्द्रियः " इतिमनुवचनेन तप्तकृच्छ्रत्रिषवणस्नायित्वं बाध्यते । यत्तु कृच्छ्रान्तरेषु—

" त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां तु सवासा जलमाविशेत् "

इति, तत्तु त्रिषवणस्नानेन विकल्प्यते । तत्र शक्तं फलातिरेककामं वा प्रति स्नानषट्कविधिः । अन्यं प्रति तु त्रिषवणविधिः । त्रिषवणेऽप्यसमर्थस्य स्नानद्वयमाह वैशंपायनः—

" स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः " इति ।

स्नाने तु हारीतोक्तो विशेषः—

" व्यवरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाऽघमर्षणं जले जपित्वा धौतमहतं वासः परिधाय साम्नां सौम्येनाऽऽदित्यमुपतिष्ठेत " इति ।

---

१ छ. द्वाभ्यामे° । २ छ. °दा द्वि° । ३ क. °पक्षेऽन्त्याभ्यां प्र° । ४ क. °यणानां सा° । ५ छ. °मन्त्रितमिति । ६ छ. °रह्न्यत्रि° ।

यत्तु गौतमेनोक्तम्—" रौरवयोधा जपेन्नित्यं प्रयुञ्जीत "

इति, तत्सामगविषयम्। न हि प्रायश्चित्तार्थवदध्ययनमस्ति। न च सामवेदिन एव चान्द्रायणेऽधिकार इति वक्तव्यम्। ऋग्वेदयजुर्वेदवर्तिपवित्रजप्यस्यापि चान्द्रायणाङ्गत्वेन दर्शनार्त्। येऽपि गौतमेन होमे नमोऽहमायेत्येवमादयो मन्त्रा विहितास्तेऽपि न नित्याः किं तु पाक्षिकाः। यतो मनुः—

" महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् "

इति मन्त्रान्तराण्याह। महाव्याहृतयश्च भूराद्यास्तिस्रस्तदाह मनुरेव—

" ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः " इति।

महाव्याहृतीनां च त्रित्वं जप एव, होमे तु व्यस्ताः प्रयोज्याः। समस्ता अपि प्रयोज्याः शास्त्रान्तरदर्शनात्। चान्द्रायणे च कृच्छ्रोक्तेतिकर्तव्यता सर्वैव ग्राह्या। तदाह गौतमः—

" अथ चान्द्रायणं तस्योक्तो विधिः "।

कृच्छ्रेऽतिजपे च संख्यां वैशंपायन आह—

" ऋषभं च विराजं च तथा चैवाघमर्षणम्।
गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम्॥
शतमष्टशतं वाऽपि सहस्रमपि वा परम् " इति॥

चान्द्रायणान्ते च तदङ्गत्वेन च धेनुर्देया विप्राश्च भोज्याः, यदाह यमः—

" एवं चान्द्रायणे चीर्णे धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्।
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् "॥३२५॥

चान्द्रायणविनियोगमाह—

## अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु॥

अनादिष्टेष्वनुपदिष्टप्रायश्चित्तेषु पापेषु चान्द्रायणेन शुद्धिः। न केवलं चान्द्रायणद्वयेनैव कृच्छ्रातिकृच्छ्राभ्यामपि, यदाह वसिष्ठः—

" कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तिः " इति।

पापगौरवे कृच्छ्रातिकृच्छ्रसहितं चान्द्रायणमन्यत्र केवलम्। सर्वप्रायश्चित्तत्वेऽपि प्रतिपापं भेदेन कृच्छ्रादीनां प्रयोगः। निमित्तभेदस्य नैमित्तिकप्रयोगभेदहेतुत्वात्। नैमित्तिकतया तु कृच्छ्रादिष्वनुष्ठेयेषु प्रक्रान्तेषु कर्तुरसामर्थ्योपनिपातेऽनुग्रहान्स्मृतिकारा आहुः—

---

१ छ. जपे नित्यं। २ छ. °वन्ति प°। ३ क. °त्वे द°। ४ क. °त्। यत्तु गौ°। ५ छ. णेऽतिकृ°। ६ छ. °च्छ्रे नेति। ७ क. °णान्तरे च तदङ्गत्वेन धे°। ८ क. मनुः-

" अथातोऽनुग्रहान्वक्ष्ये दुर्बलस्याऽऽत्मशीलिनः ।
यत्कृत्वा मुच्यते पापादुरगः कञ्चुकाद्यथा ॥
द्वादशैव सहस्राणि जपेद्देवीमुपोषितः ।
जलान्ते विधिवन्मौनी प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥
समिद्घृतं हविर्धान्यं तिलान्वा मारुताशनः ।
हुत्वा द्वादशसाहस्रं गायत्र्याः कृच्छ्रमाप्नुयात् ॥

द्वादशभिरधिकं साहस्रं द्वादशसाहस्रम् । सहस्रमेव साहस्रम् ।

अन्नदानहिरण्येन द्वादश ब्राह्मणाञ्शुचीन् ।
तर्पयेन्मारुताशी च श्रोत्रियान्[1]कृच्छ्र उच्यते ॥
उपोष्य श्रद्धया युक्तास्तिलपात्राणि धर्मतः ।
द्वादशब्रह्मवादिभ्यः प्राजापत्येन तत्समम् ॥
स्वयमाहृत्य यो मूर्ध्ना तृणभारानुपोषितः ।
दद्याद्गोमण्डले कृच्छ्रे द्वादशैव न संशयः ॥
प्राणायामशतं कृत्वा द्वात्रिंशोत्तरमार्तिषु ।
अहोरात्रोषितस्तिष्ठेत्प्राङ्मुखः कृच्छ्र उच्यते ॥
नमस्कारसहस्राणि द्वादशैव दृढव्रतः ॥
गोविप्रपितृदेवेषु कुर्यात्कृच्छ्रत्रयं भवेत् " ।

वसिष्ठः—" अथ चेत्त्वरते कर्तुं दिवसं मारुताशनः ।
रात्रौ स्थित्वा जपेद्व्युष्टः प्राजापत्येन तत्समम् ॥
गोमूत्रेण समायुक्तं यावकं चोपयोजयेत् ।
कृच्छ्रमैकाहिकं[3] प्रोक्तं दृष्टमङ्गिरसा स्वयम् ॥
निश्यासीनो दिवा तिष्ठेत्त्रिरात्रं मारुताशनः ।
प्राजापत्यं विजानीयात्कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ॥
प्रत्यब्दं य इमान्[4]कुर्याद्वसन्तेऽनुग्रहान्परान् ।
स याति ब्रह्मसदनं तेजोमूर्तिः पृथुर्नरः[5] ॥
चान्द्रायणे त्रयः कृच्छ्रास्त्रिंशत्साहस्रिको जपः " ।

पराशरः—" कृच्छ्रोऽयुतं तु गायत्र्या उपवासस्तथैव च ।
धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयम् ॥

---

१ क. प्रायश्चित्तोऽय° । २ छ. °त्रियः कृच्छ्र । ३ क. °च्छ्रमेवाहि° । ४ क. इमाः कुर्या° । ५ छ. °मूर्ते यथाऽर्जुन । चा° ।

*संहिताध्ययनं दिष्टं प्राणायामसहस्रकम् ।
गोमूत्रयावकाहारः सममेतच्चतुष्टयम् " ॥

एतच्चतुष्टयं समं प्राजापत्येनेत्यर्थः ।

प्रचेताः—" संहिताध्ययनं यावन्तं कालं गायत्रीं जपेत् " ।

चतुर्विंशतिमतात्—

विप्रा द्वादश वै मोज्याः पावकेष्टिस्तथैव च ।
अन्या वा पावनी काचित्सममाहुर्मनीषिणः " ॥

तथा—" चान्द्रायणं मृगारी(रे)ष्टिः पवित्रेष्टिस्तथैव च ।
मित्रविन्दा पशुश्चैव कृच्छ्रं मासद्वयं तथा ॥
नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम् ।
इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरवः स्मृताः ॥
चान्द्रायणं त्रिभिः कृच्छ्रैः पराकस्तु द्वयेन च ।
एतत्कृच्छ्रप्रमाणं च विद्वद्भिः परिकीर्तितम् ॥
चान्द्रायणमकुर्वाणाः कुर्युः कृच्छ्रचतुष्टयम् ।

तथा—" चान्द्रायणपराकाभ्यां निष्कृतिं योऽनुशक्नुयात् ।
स कुर्यादात्मशुद्ध्यर्थं प्राजापत्यं तु पञ्चमम् " ॥

मार्कण्डेयः—" प्राजापत्यक्रियाशक्तो धेनुं दद्याद्विजोत्तमः ।
धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः " ॥

तथा—" प्राजापत्यसमा धेनुस्तद्वयं तप्तकृच्छ्रके ।
पराके तु सुवर्णं स्याद्धेमशृङ्गी तथैन्दवे " ॥

तप्तकृच्छ्रो महातप्तकृच्छ्रः । पराके सुवर्णं धेनुद्वयस्य मूल्यं समम् । हेमशृङ्गीग्रहणेन सकलकांस्यदोहाद्युपस्करवतीं धेनुं लक्षयति ।

" अष्टौ चान्द्रायणे देयाः प्रत्याम्नायविधौ सदा " ॥

धेनव इति शेषः । कृच्छ्राष्टकसंपाद्यचान्द्रायणविषयमेतत् ।

चतुर्विंशतिमतात्—

" प्राजापत्ये तु गामेकां दद्यात्सांतपने द्वयम् ।
पराके तप्तकृच्छ्रे च तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा " ॥

षट्त्रिंशन्मतात्—"पराकतप्तातिकृच्छ्रस्थाने कृच्छ्रत्रयं चरेत् ।
सांतपनस्य चाध्यर्धमशक्तौ व्रतमाचरेत् ॥

---

* न विद्यतेऽयं श्लोकः क. पुस्तके ।

---

१ क. °त्रयं । २ छ. च नवः । ३ छ. °श्चकम् । ४ छ. °यमूल्यस° । ५ क. °पस्कार° ।

उपवासश्च गायत्र्याः सहस्रं विप्रभोजनम् ।
प्राणायामा दश द्वौ च सममेतच्चतुष्टयम् ॥
कृच्छ्रं देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम् ।
विप्रा द्वादश वा भोज्या मुक्का(मृगा)रेष्टिस्तथैव च ॥
अन्या वा पावनी काचित्समान्याहुर्मनीषिणः ।
तिलहोमायुतं चैव पराकद्वयमेव च ॥
गायत्र्याः लक्षमेकं च समान्याह बृहस्पतिः ।
अतिकृच्छ्रे पराके च तप्तकृच्छ्रे तथैव च ॥
प्राजापत्यत्रयं कुर्यात्कृच्छ्रे गोमिथुनं भवेत् " ॥

चान्द्रायणस्य फलान्तरमाह—

**धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३२६ ॥**

धर्मार्थमभ्युदयार्थमेतच्चान्द्रायणं यश्चरेदनुतिष्ठेत्स चन्द्रस्य सलोकतां समानलोकतामेति ॥ ३२६ ॥

**कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥**
**यथागुरु क्रतुफलं प्राप्नोति च समाहितः ॥ ३२७ ॥**

धर्मो मे भूयादित्येवं कामयमानो यः कृच्छ्रसांतपनादिकृच्छ्रकारी स्यात्स महतीं सकललोकस्पृहणीयां श्रियं संपदं प्राप्नुयात् । यस्तु गुरुकृच्छ्रकृत्स्याद्यो गुरुः सुदुष्करकृच्छ्रस्तं तमादराद्यथाशास्त्रं समाहितस्तात्पर्यवान्कुर्यात्, स क्रतूनां ज्योतिष्टोमादीनां फलं स्वर्गादिकमाप्नोति लभते ।

विश्वामित्रः—" कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि शुध्यत्यु(न्त्यु)भयकारिणाम्(?) ।
प्रकाशे च रहस्ये च अनुक्ते संशये स्फुटे ॥
प्राजापत्यः सांतपनः शिशुकृच्छ्रः पराककः ।
अतिकृच्छ्रः पर्णकृच्छ्रः सौम्यः कृच्छ्रातिकृच्छ्रकः ॥
महासांतपनः शुद्ध्यै तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः ।
जलोपवासकृच्छ्रस्तु ब्रह्मकृच्छ्रस्तु शोधकः ॥
फलकृच्छ्रो मूलकृच्छ्रः प्रत्येकमेकशोऽपि च ।
पातकादिषु सर्वेषामुपपापेषु यत्नतः ॥
कार्याश्चान्द्रायणैर्युक्ताः केवला वा विशुद्धये ।
शिशुचान्द्रायणं प्रोक्तं यतिचान्द्रायणं तथा ॥

---

१ छ. 'चित्सामा' । २ छ. °युतां चै° । ३ ङ. 'ति सुम' । ४ छ. °दिकृ° ।

यवमध्यं तथा प्रोक्तं तथा पिपीलकाकृति ।
उपवासस्तदर्धं वा मासः पक्षस्तदर्धकम् ॥
षडहो द्वादशाहादि कार्यसिद्धिः(द्धिः) फलार्थिनी(निः) ।
उपपातकयुक्तानामनादिष्टेषु चैव हि ॥
प्रकाशे च रहस्ये च अभिसंध्याद्यपेक्षया ।
शक्तिं जातिं गुणं दृष्ट्वा सकृद्बुद्धिकृतं तथा ॥
अनुबन्धादिकं दृष्ट्वा कल्प्यं सर्वं यथागमम् " ।

अथ ब्रह्मकूर्चस्वरूपं कथ्यते, तत्र पराशरः—

" उपवासमहोरात्रं ब्रह्मकूर्चं विनिर्दिशेत् ।
पञ्चगव्यं च वर्णेभ्यो विहितं दिव्यचक्षुषा ॥
पवित्रं त्रिषु लोकेषु देवताभिरधिष्ठितम् ।
वरुणश्चैव गोमूत्रे गोमये हव्यवाहनः ॥
दध्नि वायुः समुद्दिष्टः सोमः क्षीरे घृते रविः ।
पयः काञ्चनवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम् ॥
गोमूत्रं ताम्रवर्णाया नीलायाश्च तथा घृतम् ।
दधि वै कृष्णवर्णाया इत्येतत्पञ्चगव्यकम् ॥
गोमूत्रमाषकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडश ।
क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः ॥
गोमूत्रवद्घृतस्योक्तास्तदर्धं[2] तु कुशोदकम् ।
एतद्द्रव्यपरी(रि)माणं शुध्यते कायशोधनम्[3] ॥
गायत्र्याऽऽगृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णऋचा दधि ॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
आपो हि ष्ठेति चाऽऽलोड्य प्रणवेन ततः पिबेत् ॥
मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण वा पिबेत् ।
अथ वा ताम्रपत्रेण ब्रह्मपात्राणि तानि वै ॥
यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मानवे ।
ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं शुष्कमग्निरिवेन्धनम् " इति ॥

अथ सोमायनम् । तत्र मार्कण्डेयः—

---

१ क. °रनुष्टि° । २ क. °दर्धेन कु° । ३ छ. °तदर्धप° ।

" गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेत्स्तनचतुष्टयात् ।
स्तनत्रयात्सप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥
स्तनात्तथैव षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत् ।
एतत्सोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम् " ॥

व्यासः—" श्रीकामः पुष्टिकामश्च स्वर्गकामस्तथैव च ।
देवताराधनपरस्तथा कृच्छ्रं समाचरेत् ॥
रसायनानि मन्त्राश्च तथा चैवौषधानि च ।
तस्य सर्वाणि सिध्यन्ति यो नरः कृच्छ्रभुग्भवेत् ॥
वैदिकानि च सर्वाणि यानि काम्यानि कानिचित् ।
सिध्यन्ति सर्वदा तानि कृच्छ्रकर्तुर्न संशयः ॥
पापात्मानस्तु पापेभ्यः कृच्छ्रे संतापिता नराः ।
गतपापा दिवं यान्ति नात्र कार्या विचारणा " ॥

मार्कण्डेयः—" अज्ञातं यदि वा ज्ञातं कृच्छ्रः पापं विशोधयेत् ।
कृच्छ्रेण शुद्धपापानां नरको न विधीयते " ॥ ३२७ ॥

पूर्वोक्तसकलशास्त्रार्थीभूतान्वर्णाश्रमादिधर्मानाकर्ण्य यदाहुर्महर्षयस्तदिदानीमाह—

**श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्याज्ञवल्क्येन भाषितान् ॥**
**इदमूचुर्महात्मानं योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२८ ॥**
**य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिताः ॥**
**इह लोके यशः प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥३२९॥**
**विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां धनकामो धनं तथा ॥**
**आयुष्कामस्तथैवाऽऽयुः श्रीकामो महतीं श्रियम् ॥३३०॥**

याज्ञवल्क्येन संसिद्धयोगबलशालिना सकलश्रुत्यादिविद्यास्थानतत्त्वार्थवेदिना सकललोकानुग्रहमवणविशुद्धाभिसंधिना भाषितान्विविधान्धर्माञ्श्रुत्वा ग्रन्थतोऽर्थतश्चावधार्य वक्ष्यमाणं वचो महात्मानं रागद्वेषादिसकलदोषविनिर्मुक्तं योगीन्द्रं योगीश्वरैसंमितसामर्थ्यमृषय ऊचुः । तद्यथा—ये द्विजा अतन्द्रिता अनलसा इदं भवता प्रणीतं धर्मशास्त्रं धारयिष्यन्ति गुणनादिव्यापारेण पठिष्यन्ति तेऽत्रैव लोके महदनर्घं यशः प्राप्य देहत्यागोत्तरकालं

---

१ क. 'च्छ्रकृद्भवे' । २ क. सुखं । ३ क. 'रममितेन तेजसा युक्तम्' ।

त्रिविष्टपं यास्यन्तीति तथाऽनुमन्यताम् । तथेदं शास्त्रमधीयानो यदा विद्यादिकामस्तदा विद्यादीन्प्राप्नुयात् । धनं सुवर्णादि । श्रीः पुनरनेकविधा । ब्रह्मवर्चसात्मिका ब्राह्मी । अपरिभवपाटवलक्षणा तु क्षात्री । धनलक्षणा तु वैश्यश्रीः । तेन धनपदोपादानात्पृथक्श्रियमित्युपात्तम् ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥ ३३० ॥

एतदेव विवृणोति—

श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः श्राद्धे श्रावयिष्यति ॥
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्यादक्षया नात्र संशयः ॥३३१॥
ब्राह्मणः पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥
वैश्यस्तु धान्यधनवानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२
य इदं श्रावयेत्सर्वान्द्विजान्पर्वसु पर्वसु ॥
अश्वमेधफलं तस्य तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

पर्व पञ्चदशी, प्रसिद्धमन्यत् ॥ ३३१ ॥ ३३२ ॥ ३३३ ॥

श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि प्रीतात्मा मुनिभाषितम् ॥
एवमस्त्विति होवाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

स्वयंभुवे ब्रह्मणे । अतिरोहितमन्यत् ॥ ३३४ ॥

अखण्डभूमण्डललीनमाविलं निवार्य सद्धर्मप्रतिरोधकुत्तमः ।
दोषोद्भवाद्विप्रकृतिं परां गतं पूषैव लोकं नयति प्रकाशताम् ॥ १ ॥
राष्ट्रं यस्य निरङ्कुशा वसुमती कोशः समृद्धः सुहृ-
च्चक्रो दुर्गमनागमं क्षतपरा सेना हिता मन्त्रिणः ।
शास्त्रार्थामृतचर्वणार्पितमतिर्विश्वैकनाथोऽप्यसौ
शौर्यौदार्ययशोधनोऽमुमपरादित्यो निबन्धं व्यधात् ॥ २ ॥

इति श्रीविद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहारनरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूतश्रीमदपरादित्यदेवविरचिते याज्ञवल्क्यीयधर्मशास्त्रनिबन्धेऽपरार्के प्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥ ५ ॥

---

समाप्तोऽयं प्रायश्चित्ताध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

समाप्तेयं सटीका याज्ञवल्क्यस्मृतिः ।

---

१ छ. धनोपधाना°। २ ङ. °येद्विप्रो नरः पर्वसु संयतः । अ° ।

# याज्ञवल्क्यस्मृत्यन्तर्गतश्लोकानां वर्णानुक्रमणी ।


| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **अ.** | |
| अकूटं कूटकं ब्रूते | ८२४ |
| अकूटैरायुधैर्यान्ति | ५८१ |
| अक्षता च क्षता चैव | ९६ |
| अक्षतायां क्षतायां वा | ७३४ |
| अक्षयोऽयं निधी राज्ञां | ५७८ |
| अक्षिवर्त्मचतुष्कं च | ९८३ |
| अग्निदानां च ये लोकाः | ६७३ |
| अग्नीन्वाऽप्यात्मसात्कृत्वा | ९४४ |
| अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ | ५७८ |
| अग्नौ करिष्य आदाय | ४८९ |
| अग्नौ सुवर्णमक्षीणं | ७८४ |
| अघ्न्याः सर्वेषु वेदेषु | ४३७ |
| अजाश्वं मुखतो मेध्यं | २७६ |
| अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा | १०७३ |
| अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते | ६८ |
| अतिथिं श्रोत्रियं तृप्त- | १५६ |
| अतो यतेत तत्प्राप्तौ | ५८८ |
| अथवाऽप्यभ्यसन्वेदं | १०२८ |
| अदत्तादाननिरताः | ९९८ |
| अधिविन्नस्त्रियै देयं | ७५६ |
| अधिविन्ना तु भर्तव्या | १०१ |
| अधीतवेदो जपकृत् | ९४६ |
| अध्यायानामुपाकर्म | १८५ |
| अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः | १५५ |
| अनन्ता रश्मयस्तस्य | १००९ |
| अनन्ता हि यथा भावाः | ९९६ |
| अनन्यविषयं कृत्वा | ९८८ |
| अनाख्याय ददद्दोषं | ९५ |
| अनादिरात्मा कथितः | ९९१ |
| अनादिरात्मा संभूतिः | ९९४ |
| अनादिरादिमांश्चैव | १०१६ |
| अनादिष्टेषु पापेषु | १२४६ |
| अनिवेद्य नृपे शुध्येत् | १०८० |
| अनुगम्याम्भसि स्नात्वा | ९१७ |
| अनृते तु पृथग्दण्ड्या | ७६३ |
| अनेन विधिना देहं | ७१ |
| अन्तरा जन्ममरणे | ८९८ |
| अन्तर्जानु शुचौ देशे | ३७ |
| अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिः | १०२८ |
| अन्त्यपक्षिस्थावरतां | ९९६ |
| अन्त्याभिगमने त्वाङ्क्य | ८६१ |
| अन्नमिष्टं हविष्यं च | ५०० |
| अन्नं पर्युषितं भोज्यं | २४४ |
| अन्नं पितृमनुष्येभ्यो | १४५ |
| अन्नमादाय तूष्णीः स्थ | ५०१ |
| अन्यहस्ते च विक्रीतं | ८३० |
| अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या | ८३९ |
| अन्योदर्यस्तु संसृष्टी | ७४७ |
| अन्योन्यापहृतं द्रव्यं | ७३२ |
| अपरान्तिकमुल्लोप्यं | ९९० |
| अपराह्णे समभ्यर्च्य | ४६३ |
| अपश्यता कार्यवशात् | ६०२ |
| अपसव्यं ततः कृत्वा | ४८१ |
| अपुत्रा योषितश्चैषां | ७५० |
| अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो | ९७ |
| अपत्रेण परक्षेत्रे | ७३३ |
| अपोशानेनोपरिष्टा- | १४७ |
| अप्रजस्त्रीधनं भर्तुः | ७५३ |
| अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा | ११२८ |
| अप्रमत्तश्चरद्भैक्षं | ९६२ |
| अप्रयच्छन्समाप्नोति | ९३ |
| अफालकृष्टेनाग्नींश्च | ९४० |
| अवध्यं यश्च बध्नाति | ८२४ |
| अश्नन्मक्षो मासमासीत | ११४६ |
| अश्लिङ्गानि जपेच्चैव | ९२१ |
| अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यं | ६७६ |
| अभिगन्तास्मि भगिनीं | ८०७ |
| अभिघाते तथा छेदे | ८१७ |
| अभियोगमनिस्तीर्य | ६१७ |
| अभिलेख्याऽऽत्मनो वंश्या | ५७९ |
| अमावस्याऽष्टकाद्वृद्धिः | ४१७ |
| अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः | २७० |
| अयं मे वज्र इत्येवं | १८१ |
| अयाचिताहृतं ग्राह्यं | ४०७ |
| अयोनौ गच्छतो योषां | ८६१ |
| अरण्ये नियतो जप्त्वा | १०६० |
| अराजदैविकान्नष्ट | ७९९ |
| अरोगिणीं भ्रातृमतीं | ७९ |
| अर्घ्याकोशातिक्रमकृत् | ८२१ |
| अर्थानां छन्दतः सृष्टिः | १०२८ |
| अर्धप्रक्षेपणाद्विंशं | ८३३ |
| अर्धोऽधमेषु द्विगुणः | ८०७ |
| अर्वाक्चतुर्दशाद्दो | ७१४ |
| अर्वाक्सपिण्डीकरणं | २४२ |
| अलंकृतां हरन्कन्यां | ८५८ |
| अवकीर्णी भवेद्गत्वा | ११४० |
| अवरुद्धासु दासीषु | ८६० |
| अविज्ञातहृतस्याऽऽशु | ८५२ |
| अविप्लुतब्रह्मचर्यो | ७७ |
| अविभक्तैः कुटुम्बार्थे | ६४७ |
| अवीचिमन्धतामिस्रं | १०४० |
| अवीरस्त्रीस्वर्णकार- | २३७ |
| अवेक्ष्य गर्भवासश्च | ९६७ |
| अव्यक्त आत्मा क्षेत्रज्ञः | १०१४ |
| अशक्तस्तु वदन्नेवं | ८०९ |
| अशीतिभागो वृद्धिः स्यात् | ६४२ |
| अश्वरत्नमनुष्यस्त्री- | १०४७ |
| अश्वस्थानाद्गजस्थाना- | ५६५ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| अष्टाशीतिसहस्राणि | १०१७ |
| असच्छास्त्राधिगमनं | १०५० |
| असत्कार्यरतोऽधीर | १००० |
| असंस्कृताश्च संस्कार्याः | ७३१ |
| असाक्षिकहते चिह्नैः | ८११ |
| अहंकारः स्मृतिर्मेधा | १०१३ |
| अहंकारेण मनसा | १००९ |
| अहन्येकादशे नाम | २४ |
| अहिंसा सत्यमस्तेयं | १६३ |
| अहो मासस्य षण्णां वा | ९४१ |
| **आ.** | |
| आकाशमेकं हि यथा | १००२ |
| आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं | ९७७ |
| आगमस्तु कृतो येन | ६३५ |
| आगमेनोपभोगेन | ७९६ |
| आगमोऽत्यधिको भोगात् | ६३४ |
| आगर्भसंभवाद्गच्छेत् | ९७ |
| आगामिभद्रनृपति | ५७९ |
| आचम्याथाग्निमुदकं | ८८२ |
| आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च | ५६३ |
| आचार्यपत्नीं स्वसुतां | १०४८ |
| आचार्यपित्रुपाध्यायान् | ८८४ |
| आचार्योपासनं वेद– | १००७ |
| आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यः | ६६३ |
| आज्ञासंपादिनीं दक्षां | १०२ |
| आत्मज्ञः शौचवान्दान्त | ९९९ |
| आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भः | १०५० |
| आदिमध्यावसानेषु | ५९ |
| आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे | ६५८ |
| आधिसीमोपनिक्षेप- | ६३१ |
| आधेः स्वीकरणात्सिद्धिः | ६५९ |
| आध्यादीनां निहन्तारं | ६३३ |
| आनीय विप्रसर्वस्वं | १०५८ |
| आपद्गतः संप्रगृह्णन् | ९३५ |
| आपद्यपि हि कष्टायां | ९१८ |
| आमाशयोऽथ हृदयं | ९८२ |
| आयुः प्रजां धनं विद्यां | ५६१ |
| आरामायतनग्राम- | ७३४ |
| आवाह्य तदनुज्ञातो | ४८१ |
| आषोडशाच्चाऽऽद्वाविंशा- | ६७ |
| आसुरो द्रविणादानात् | ८९ |
| आहुत्याऽऽप्यायते सूर्यः | ९७५ |
| आहूतश्चाप्यधीयीत | ५५ |
| **इ.** | |
| इज्याचारदमाहिंसा | २० |
| इज्याध्ययनदानानि | १६० |
| इतरेण निधौ लब्धे | ६४० |
| इति संश्रुत्य गच्छेयुः | ८८२ |
| इत्युक्त्वा तु प्रिया वाचः | ५११ |
| इन्द्रियाणि मनः प्राणो | ९७६ |
| इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः | १०५० |
| इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन | ५९० |
| **उ.** | |
| उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये | ६७८ |
| उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ | ८४५ |
| उद्पूर्णे हस्तपादे तु | ८१४ |
| उद्बुध्यस्वेति च ऋचो | ५७३ |
| उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु | ७३४ |
| उदुम्बरः शमी दूर्वा | ५७४ |
| उपतिष्ठतामित्यक्षय्य | ५२१ |
| उपनीय गुरुः शिष्यं | ३२ |
| उपपातकशुद्धिः स्यात् | ११०५ |
| उपस्थानद्वयं कुर्यात् | ११४१ |
| उपस्थितस्य मोक्तव्यः | ६६० |
| उपास्य पश्चिमां संध्यां | १५७ |
| उपेयादीश्वरं चैव | १२७ |
| उभयानुमतः साक्षी | ६७० |
| उभयाभ्यर्थितेनैतत् | ६८५ |
| उरगेष्वायसो दण्डः | ११३२ |
| **ऊ.** | |
| ऊनद्विवर्षं निखनेत् | ८६९ |
| ऊनं वाऽप्यधिकं वाऽपि | ८६१ |
| ऊरुस्थोत्तानचरणः | १०२१ |
| ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां | १०१० |
| **ऋ.** | |
| ऋगाथाः पाणिकादक्ष | ९९० |
| ऋणं लेख्यकृतं देयं | ६८७ |
| ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः | ५८३ |
| ऋत्विक्पुरोहितामात्य- | २३३ |
| **ए.** | |
| एकदेशमुपाध्यायः | ६५ |
| एकभक्तेन नक्तेन | १२३५ |
| एकं घृतां बहूनां तु | ८१६ |
| एकोद्दिष्टं दैवहीन- | ५२१ |
| एकोनत्रिंशल्लक्षाणि | ९८४ |
| एतद्यो न विजानाति | १०२१ |
| एतैरेव गुणैर्युक्तः | ८५ |
| एभिस्तु संवसेद्यो वै | १०८६ |
| एवं गच्छन्स्त्रियं क्षामां | १०५ |
| एवं पुरुषकारेण | ५८८ |
| एवं प्रदक्षिणं कृत्वा | ५१४ |
| एवं मातामहाचार्य– | ८७३ |
| एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गे | ७११ |
| एवमेनः शमं याति | २४ |
| एवंवृत्तोऽविनीतात्मा | १००६ |
| एषां त्रिरात्रमभ्यासात् | १२३९ |
| एषामन्नं न भोक्तव्यं | २३७ |
| एषामभावे पूर्वस्य | ७४० |
| एषामसंभवे कुर्या- | १६६ |
| **ऐ.** | |
| ऐणरौरववाराह- | ५५१ |
| **ओं.** | |
| ओंकाराभिष्टुत सोम— | १२१३ |
| **औ.** | |
| औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां | ७५० |
| औरसो धर्मपत्नीजः | ७३४ |
| **क.** | |
| कटूवारो यथाऽपक्के | १००१ |
| कथमेतद्विमुच्यामः | ९९१ |
| कदर्यबद्धचौराणां | २३७ |
| कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ट- | ३९ |
| कनीनिके चाक्षिकूटे | ९८३ |
| कन्यां कन्यावेदिनश्च | ५५८ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| कन्यासंदूषणं चैव | १०५० |
| करणैरन्वितस्यापि | ९९५ |
| करपाददन्तभङ्गे | ८१५ |
| करौ विमृदितव्रीही | ७०५ |
| कर्तव्यं वचनं सर्वैः | ७९५ |
| कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च | ५७३ |
| कर्तव्याऽऽशयशुद्धिस्तु | ९६६ |
| कर्मणां फलमाप्नोति | ५६७ |
| कर्मणा मनसा वाचा | २३२ |
| कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ | १२१ |
| कलविङ्कं सकाकोलं | २४८ |
| कान्तारगास्तु दशकं | ६४३ |
| कारणान्येवमादाय | १००४ |
| कार्मिके रोमबद्धे च | ७८४ |
| कालकर्मात्मबीजानां | १००८ |
| काषायवाससश्चैव | ५६२ |
| किंचित्सास्थिवधे देयं | ११३४ |
| कुर्याच्चिषवणस्नायी | १२४५ |
| कुर्यात्प्रत्यभियोगं च | ६१७ |
| कुर्याद्यथाऽस्य न विदुः | ५८५ |
| कुशाः शाकं पयो मत्स्या | ४०६ |
| कुशोदकं तु गोक्षीरं | १२३३ |
| कुसूलकुम्भीधान्यो वा | १६८ |
| कूटस्वर्णव्या(व्य)वहारी | ८६२ |
| कृच्छ्रकृद्वर्मकामस्तु | १२४१ |
| कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात् | ११४५ |
| कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा | १२३८ |
| कृतज्ञाद्रोहिमेधावि- | ५६ |
| कृतशिल्पोऽपि निवसेत् | ७९० |
| कृताकृतांस्तण्डुलांश्च | ५६६ |
| कृताग्निकार्यो भुञ्जीत | ६० |
| कृत्तिकादिभरण्यन्तं | ५६० |
| कृतोदकान्समुत्तीर्णान् | ८८० |
| कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या | ९३६ |
| कृष्णलः पञ्च ते माषः | ५९१ |
| कृष्णा गौरायसं छाग- | ५७५ |
| कोयष्टिप्लवचक्राह्व- | २४७ |
| कौशेयनीलिलवण- | ९३१ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं | ५८६ |
| क्रमात्ते संभवन्त्यर्चि- | १०१९ |
| क्रमादभ्यागतं द्रव्यं | ७२४ |
| क्रव्यादपक्षिदात्यूह- | २४७ |
| क्रिमिकीटपतङ्गत्वं | १०३५ |
| क्रियमाणोपकारे तु | ११४६ |
| क्रीडाशरीरसंस्कारं | १०८ |
| क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः | ७३४ |
| क्रीतलब्धाशना भूमौ | ८८४ |
| क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः | ७४९ |
| क्षत्रिया मागधं वैश्या | ११८ |
| क्षयं वृद्धिं च वणिजा | ८३० |
| क्षात्रेण कर्मणा जीवेत् | ९२८ |
| क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य- | ८४३ |
| क्षेत्रवेश्मवनग्राम- | ८५२ |

## ख.

| | |
|---|---|
| खड्गामिषं महाशल्कं | ५५२ |
| खरोष्ट्र्यानहस्त्यश्व- | १९१ |

## ग.

| | |
|---|---|
| गजे नीलवृषाः पञ्च | ११३१ |
| गणद्रव्यं हरेद्यस्तु | ७९३ |
| गन्त्री वसुमती नाशं | ८८१ |
| गन्धरूपरसस्पर्श- | ९८१ |
| गन्धोदकतिलैर्युक्तं | ५२८ |
| गर्भाधानमृतौ पुंसः | २४ |
| गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे | ३१ |
| गायत्रीजप्यनिरतः | ११५० |
| गायत्रीं शिरसा सार्धं | ४४ |
| गीतज्ञो यदि गीतेन | ९९१ |
| गीतनृत्तैश्च भुञ्जीत | ५८३ |
| गुरुवे तु वरं दत्त्वा | ७४ |
| गुरूणामध्यधिक्षेपः | १०४७ |
| गुर्वन्तेवास्यनूचान- | ९०७ |
| गुल्मगुच्छक्षुपलता- | ८१८ |
| गृहधान्याभयोपान- | ३८० |
| गृहीतमूल्यं यः पण्यं | ८२८ |
| गृहीतवेतनः कर्म | ७९७ |
| गृहीतः शङ्कया चौर्ये | ८४२ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| गृहीतशिश्नश्चोत्थाय | ३५ |
| गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो | ६४५ |
| गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नः | ७३४ |
| गोघ्रातेऽन्ने तथा केश- | २६६ |
| गोपशौण्डिकशैलूष- | ६४९ |
| गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः | ६५८ |
| गोब्राह्मणानलान्नानि | २३१ |
| गोब्राह्मणार्थे सङ्ग्रामे | ९१५ |
| गोभूतिलहिरण्यादि | २८५ |
| गोवधो व्रात्यता स्तेयं | १०४९ |
| ग्रामादाहृत्य वा ग्रासान् | ९४५ |
| ग्रामेच्छया गोप्रचारो | ७७३ |
| ग्राहकैर्गृह्यते चौरो | ८३९ |
| ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो | ९४३ |
| ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु | ८०२ |

## घ.

| | |
|---|---|
| घटेऽपवर्जिते ज्ञाति- | १२०९ |
| घातितेऽपहृते दोषो | ८४३ |

## च.

| | |
|---|---|
| चण्डालो जायते यज्ञ- | १६८ |
| चतुष्पादकृतो दोषो | ८६२ |
| चतुस्त्रिद्येकभागाः स्युः | ७३१ |
| चत्वारो वेदधर्मज्ञाः | २१ |
| चरितव्यमतो नित्यं | १०३८ |
| चरितव्रत आयाते | १२०७ |
| चरित्रबन्धककृतं | ६६० |
| चरेद्व्रतमहत्वाऽपि | १०६४ |
| चान्द्रायणं चरेत्सर्वान् | १०८९ |
| चान्द्रायणेनयेत्कालं | ९४३ |
| चाषांश्च रक्तपादांश्च | २४८ |
| चिकित्सकातुरक्रुद्ध- | २३७ |
| चेष्टाभोजनवाग्रोधे | ८१५ |
| चैत्यश्मशानसीमासु | ८१८ |
| चौरं प्रदाप्यापहृतं | ८४२ |

## छ.

| | |
|---|---|
| छलं निरस्य भूतेन | ६२४ |
| छिन्ननस्येन यानेन | ८६३ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **ज.** | |
| जगदानन्दयेत्सर्वं | ५८९ |
| जपः प्रच्छन्नपापानां | ९२७ |
| जलं पिबेन्नाञ्जलिना | १८२ |
| जलमेकाहमाकाशे | ८८९ |
| जातिरूपवयोवित्त- | १००५ |
| जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः | ११९ |
| जारं चौरेत्यभिवदन् | ८६४ |
| जिह्मं त्यजेयुर्निर्लोभं | ८३६ |
| ज्ञात्वाऽपराधं देशं च | ५९२ |
| ज्ञाननिष्ठास्तपोनिष्ठाः | ४३७ |
| ज्ञेयं चाऽऽरण्यकमहं | ९८६ |
| ज्ञेये च प्रकृतौ चैव | १००६ |
| **त.** | |
| ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य | १०२० |
| ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ | १०२१ |
| ततो निष्कल्मषीभूताः | १०३७ |
| ततोऽभिवादयेद्वृद्धा- | ५२ |
| तत्कालकृतमूल्यो वा | ६६० |
| तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति | ६१५ |
| तत्त्वस्मृतेरवस्थाना- | १००८ |
| तत्र दुर्गाणि कुर्वीत | ५८० |
| तत्र दैवमभिव्यक्तं | ५८७ |
| तत्राऽऽत्मा हि स्वयं किंचित् | ९७३ |
| तथा पाठीनराजीव- | २५० |
| तथैव परिपाल्योऽसौ | ५८५ |
| तदर्धं मध्यमः प्रोक्तः | ५९२ |
| तन्मण्डलमसौ सूर्यः | ९९३ |
| तन्मूले द्वे ललाटाक्षि- | ९८० |
| तपसा ब्रह्मचर्येण | १०१७ |
| तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा | २८१ |
| तपस्विनो दानशीलाः | ६६५ |
| तप्तक्षीरघृताम्बूनां | १२३५ |
| तप्तेऽयःशयने सुप्यात् | १०८२ |
| तमेव कृच्छ्रमाप्नोति | ५८५ |
| तरिकः स्थलजं शुल्कं | ८३४ |
| तस्मात्तु नृपतेरर्धं | ५८४ |
| तस्मात्तेनेह कर्तव्यं | १०३८ |
| तस्मादप्रात्पुनर्यज्ञः | ९९३ |
| तस्य वृत्तं कुलं शीलं | ९३८ |
| तस्य षोढा शरीराणि | ९७९ |
| तस्येत्युक्तवतो लोहं | ७०६ |
| तामिस्रलोहशङ्कुं च | १०४० |
| तारानक्षत्रसंचारैः | १०११ |
| तालूदरं बस्तिशीर्षं | ९८३ |
| तित्तिरौ च तिलद्रोणं | ११३२ |
| तिथिवृध्या चरेत्पिण्डान् | १२४२ |
| तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण | ८७ |
| तुलाग्न्यापो विषं कोशो | ६९३ |
| तुलाधारणविद्वद्भिः | ७०० |
| तुलाशासनमानानां | ८२४ |
| तुलास्त्रीबालवृद्धान्ध- | ६९८ |
| ते तृप्तास्तपर्यन्त्येनं | ७० |
| तेनोपसृष्टो यस्तस्य | ५६२ |
| तेनोपसृष्टे लभते | ५६२ |
| तेऽष्टौ लिक्षा तु तामिस्रो | ५९१ |
| तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं | ५७७ |
| त्रपुसीसकताम्राणां | २६८ |
| त्रयो लक्षाश्च विज्ञेयाः | ९८४ |
| त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य | ११४८ |
| त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा | १२१२ |
| त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा | १२१२ |
| त्रिरात्रं दशरात्रं वा | ८९३ |
| त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य | ३९ |
| त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य | ९०५ |
| त्रिर्वित्तपूर्णपृथिवी- | ७० |
| त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः | १६५ |
| त्रैविद्यनृपदेवानां | ८१० |
| त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः | ६६५ |
| त्र्यहं प्रेतेष्वनध्यायः | १८७ |
| त्वं तुले सत्यधामाऽसि | ७०१ |
| त्वमग्ने सर्वभूतानां | ७०५ |
| त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः | ७११ |
| **द.** | |
| दण्डनीत्यां च कुशल- | ५७७ |
| दण्डाजिनेपिवातानि | ५७ |
| दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं | ६९३ |
| दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो | ७५४ |
| दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या | ५०८ |
| दत्त्वाऽन्नं पृथिवीपात्र | ४९२ |
| दत्त्वाऽर्घ्यं संस्रवांस्तेषां | ४८४ |
| दध्यन्नं पायसं चैव | ५६६ |
| दध्योदनं घृतान्नं च | ५७४ |
| दन्तोलूखलिकः काल | ९४२ |
| दर्शनप्रातिभूर्यत्र | ६५६ |
| दर्शने प्रत्यये दाने | ६५५ |
| दशपूरुषविख्याता | ८४ |
| दशैकपञ्चसप्ताह- | ७८३ |
| दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री | १७६ |
| दातव्यं प्रत्यहं पात्रे | २९१ |
| दातारो नोऽभिवर्धन्तां | ५११ |
| दाता सत्यः क्षमी प्राज्ञः | १००९ |
| दातास्याः स्वर्गमाप्नोति | २७१ |
| दान्तस्त्रिषवणस्नायी | ९४२ |
| दाप्यस्तद्दशमं भागं | ७९८ |
| दासी कुम्भं बहिर्ग्रामात् | १२०५ |
| दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण | ११४ |
| दिवा संध्यासु कर्णस्थ- | ३४ |
| दीयमानं न गृह्णाति | ६४७ |
| दीर्घतीव्रामयग्रस्तं | १०५८ |
| दुःखमुत्पादयेद्यस्तु | ८१६ |
| दुःखेऽथ शोणितोत्पादे | ८१७ |
| दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं | ८१७ |
| दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च | ७५५ |
| दुर्वृत्ता ब्रह्मनृपविट्- | ११२७ |
| दूरादुच्छिष्टविण्मूत्र- | १९४ |
| दूर्वासर्षपपुष्पाणां | ५६७ |
| देयं चौरहृतं द्रव्यं | ६४१ |
| देवतार्थं हविः शिग्रु | २४७ |
| देवर्त्विक्स्नातकाचार्य- | १९३ |
| देवातिथ्यर्चनकृते | ४०९ |
| देवानुग्रान्समभ्यर्च्य | ७१३ |
| देवेभ्यश्च हुतादन्ना- | १४२ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| देशं कालं च भोगं च | ७८५ |
| देशं कालं च योऽतीयात् | ७९८ |
| देशं कालं वयः शक्तिं | १२०३ |
| देशाद्देशान्तरं याति | ६२० |
| देशान्तरगते प्रेते | ८३५ |
| देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये | ६८७ |
| देशे काल उपायेन | ८ |
| देशेऽशुचावात्मनि च | १९१ |
| दोहदस्याप्रदानेन | ९७८ |
| द्यूतमेकमुखं कार्यं | ८०४ |
| द्रष्टारो व्यवहाराणां | ८०४ |
| द्वासप्ततिसहस्राणि | ९८५ |
| द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण | ८६२ |
| द्विनेत्रभेदिनो राज- | ८६५ |
| द्वे कृष्णले रौप्यमाषो | ५९१ |
| द्वे द्वे जानुकपोलोरु- | ९८० |
| द्वैधीभावं गुणानेतान् | ५८६ |
| द्वैधे बहूनां वचनं | ६७७ |
| द्वौ दैवे प्राक्तु पित्र्ये त्रीन् | ४६३ |
| द्वौ शङ्खौ कपालानि | ९८० |

## ध.

| | |
|---|---|
| धनं विद्यां भिषक्सिद्धिं | ५६० |
| धनुःशतं परीहारो | ७७४ |
| धर्मो हि दण्डरूपेण | ५८९ |
| धान्यकुप्यपशुस्तेयं | १०५० |
| धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः | १०३५ |
| धार्मिकोऽव्यसनश्चैव | ५७६ |

## न.

| | |
|---|---|
| नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च | ११८४ |
| न ददाति हि यः साक्ष्यं | ६७७ |
| न दाप्योऽपहृतं तत्तु | ६६२ |
| न निषेध्योऽल्पबाधस्तु | ७६६ |
| न मेहेत नदीछाया- | १७९ |
| नयेयुरेते सीमानं | ७५८ |
| न योषित्पतिपुत्राभ्यां | ६४८ |
| नवमे दशमे मासि | ९७८ |
| न विद्यया केवलया | २८२ |
| नष्टापहृतमासाद्य | ७७५ |
| न संशयं प्रपद्येत | १७३ |
| न स्वाध्यायविरोधेऽर्थ | १६२ |
| न हन्याद्विनिवृत्तं च | ५८२ |
| नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति | ५९० |
| नाभिरोजो गुदं शुक्रं | ९८२ |
| नाभिर्बलिमत्रैश्च | ५६६ |
| नाऽऽश्रमः कारणं धर्मे | ९७१ |
| नाऽऽसहस्राद्धरेत्फालं | ६९९ |
| निजधर्माविरोधेन | ७९३ |
| निमन्त्रयेत पूर्वेद्यु | ४५५ |
| निमित्तमक्षरः कर्ता | ९७४ |
| निर्मालिताक्षः सत्त्वस्थो | १०२१ |
| निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्ध | १००० |
| निर्वपेत पुरोडाशं | ११४८ |
| निवासराजनि तथा | ९१५ |
| निशायां वा दिवा वाऽपि | १२१३ |
| निषिद्धभक्षणं जैह्म्यं | १०४७ |
| निष्कः सुवर्णाश्चत्वारो | ५९२ |
| निःसरन्ति यथा लोह- | ९७३ |
| निह्नवे भावितो दद्यात् | ६१८ |
| निह्नवे लिखितेऽनेकं | ६२५ |
| नीचाभिगमनं गर्भ- | १२०८ |
| नीरजःस्तमता सत्त्व- | १००७ |
| नीवीस्तनप्रावरण- | ८५४ |
| नृपेणाधिकृताः पूगाः | ६३८ |
| नृशंसराजरजक- | २३७ |
| नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं | १८० |
| नैवेशिकानि च तथा | ५८३ |
| नैष्ठिको ब्रह्मचारी च | ७१ |
| न्यायार्जितधनस्तत्त्व- | १०२९ |

## प.

| | |
|---|---|
| पञ्चगव्यं पिबन्गोघ्नः | १०९३ |
| पञ्चदश्यां चतुर्दश्यां | १८९ |
| पञ्चधा संभृतः कायः | ८८१ |
| पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य | २३४ |
| पणानेकशफे दद्यात् | ७७८ |
| पण्यस्योपरि संस्थाप्य | ८२७ |
| पतनीयकृते क्षेपे | ८१० |
| पतितानामेष एव | १२०८ |
| पतितासार्थसंबन्धि- | ६६८ |
| पतिप्रियहिते युक्ता | १०९ |
| पतिलोकं न सा याति | १०७७ |
| पत्नी दुहितरश्चैव | ७४० |
| पथि ग्रामविवीतान्ते | ७७० |
| परद्रव्यगृहाणां च | ८४० |
| परद्रव्याण्यभिमृशन् | ९९७ |
| परपाकरुचिर्न स्या- | १५६ |
| परशय्यासनोद्यान- | २३६ |
| परश्च हीन आत्मा च | ५८६ |
| परस्य योषितं गत्वा | १०३६ |
| पराशरव्यासशङ्ख- | ७ |
| परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो | ६२० |
| पर्णोदुम्बरराजीव- | १२३४ |
| पलाण्डुं विड्वराहं च | २४९ |
| पशुमण्डूककुल- | १९० |
| पश्चात्तापो निराहारः | ९२७ |
| पश्यतोऽव्रवतो भूमेः | ६३१ |
| पश्येच्चारांस्ततो दूतान् | ५८२ |
| पाणिग्राह्यः सवर्णासु | ९२ |
| पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा | ४७८ |
| पत्राणां चमसानां च | २५३ |
| पात्रे धनं वा पर्याप्तं | १०६० |
| पादकेशांशुकरा | ८१४ |
| पालदोषविनाशे तु | ७७२ |
| पालितं वर्धयेन्नीत्या | ५७८ |
| पाषाण्डानाश्रिताःस्तेना | ८७६ |
| पांसुवर्षे दिशां दाहे | १९१ |
| पिण्डांस्तु गोजविप्रेभ्यो | ५५० |
| पिण्याकाचामतक्राम्बु | १२३८ |
| पितरि प्रोषिते प्रेते | ६५० |
| पिता पितामहो भ्राता | ९२ |
| पितापुत्रविरोधे तु | ८२३ |
| पितापुत्रस्वसृभ्रातृ- | ८२२ |
| पितुः स्वसारं मातुश्च | १०४८ |
| पितृद्रव्याविरोधेन | ७२३ |
| पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं | ७३० |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| पितृमातृसुतभ्रातृ- | १०९ |
| ,, ,, | ७५१ |
| पितृयानोऽजवीथ्याश्च | १०१६ |
| पितृलोकं चन्द्रमसं | १०२० |
| पित्रोस्तु सूतकं मातुः | ८९६ |
| पित्तात्त दर्शनं पक्ति- | ९७७ |
| पिशुनानृतिनोश्चैव | २१० |
| पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् | ५८४ |
| पुंश्चलीवानरखरैः | ११३५ |
| पुत्रान्देहि धनं देहि | ५६७ |
| पुनर्गर्भे पुनर्धात्री | ९७८ |
| पुमान्संग्रहणे प्राह्यः | ८५३ |
| पुराणन्यायमीमांसा | ६ |
| पुरुषोऽनृतवादी च | ९९७ |
| पुष्पं चित्रं सुगन्धं च | ५६६ |
| पृथक्पृथग्दण्डनीयाः | ६७९ |
| पृथक्सांतपनद्रव्यैः | १२३३ |
| पृथिवी पादतस्तस्य | ९९५ |
| पौषमासस्य रोहिण्यां | १८६ |
| प्रकुर्यादायकर्मान्त- | ५८० |
| प्रक्रान्ते सप्तमं भागं | ७९९ |
| प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात् | ७८३ |
| प्रतिग्रहसमर्थोऽपि | ४०६ |
| प्रतिग्रहे सूनिचाकि- | १८४ |
| प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां | ५५८ |
| प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं | ६४९ |
| प्रतिभूर्दापितो यत्र | ६५७ |
| प्रतिलोमापवादेषु | ८०८ |
| प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं | ६७ |
| प्रतिषिद्धमनादिष्टं | ८३३ |
| प्रतिसंवत्सरं त्वर्घ्याः | १५५ |
| प्रतिसंवत्सरं सोमः | १६६ |
| प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं | ६०८ |
| प्रथमे मासि संक्लेद- | ९७६ |
| प्रदक्षिणमनुव्रज्य | ५१२ |
| प्रदर्शनार्थमेतत्तु | १०३६ |
| प्रधानं क्षत्रिये कर्म | १६१ |
| प्रनष्टाधिगतं देयं | ६३९ |
| प्रपन्नं साधयन्नर्थं | ६४४ |
| प्रमाणं लिखितं भुक्तिः | ६२८ |
| प्रयत्न आकृतिर्वर्णः | ९७६ |
| प्ररोहिशाखिनां शाखा | ८१८ |
| प्रवृत्तचक्रतां पुत्रान् | ५५९ |
| प्रवेशनादिकं कर्म | ८८२ |
| प्रव्रज्यावसितो राज्ञः | ७८७ |
| प्रसह्य दास्यभिगमे | ८६० |
| प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं | १०८२ |
| प्राजापत्यं वाऽतिकृच्छ्रं | १०९३ |
| प्राणात्यये तथा श्राद्धे | २५१ |
| प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य | ४८ |
| प्राणायामशतं कार्यं | १२१३ |
| प्राप्ते भागे च नृपतिः | ८०३ |
| प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः | १०४० |
| प्रायश्चित्तैरपैत्येनो | १०३८ |
| **फ.** | |
| फलपुष्पान्नरसज- | ११३८ |
| फलोपलक्षौमसोम- | ९३० |
| फालाहृतमपि क्षेत्रं | ७६७ |
| **ब** | |
| बन्दिग्राहास्तथा वाजि- | ८४५ |
| बन्धुदत्तं तथा शुल्कं | ७५३ |
| बलाद्दासीकृतश्चौरैः | ७८६ |
| बलानां दर्शनं कृत्वा | ५८२ |
| बलिकर्म स्वधाहोम- | १४२ |
| बलोपाधिविनिर्वृत्तान् | ६३८ |
| बहवः स्युर्यदि स्वांशैः | ६५६ |
| बालस्ववासिनीवृद्ध- | १४६ |
| बाहुग्रीवानेत्रसक्थि- | ८०९ |
| बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि | १०१४ |
| बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् | १०१५ |
| बुभुक्षितस्त्रयहं स्थित्वा | ९३८ |
| ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्र- | २३ |
| ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिः | १२२८ |
| ब्रह्मचर्ये स्थितो नैक | ६१ |
| ब्रह्मणैषां वरो दत्तः | ५७५ |
| ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान् | ५५८ |
| ब्रह्मस्वानिलतेजांसि | १००३ |
| ब्रह्महा क्षयरोगी स्या- | १०३५ |
| ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः | १०४१ |
| ब्राह्मणः पात्रतां याति | १२५२ |
| ब्राह्मणस्य परित्राणात् | १०५७ |
| ब्राह्मणस्वर्णहारी तु | १०७७ |
| ब्राह्मणान्भोजयेद्दया- | ५६७ |
| ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो | ११८ |
| ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय | १५८ |
| ब्राह्मे विवाह आहूय | ८८ |
| ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते | ५०९ |
| **भ.** | |
| भक्तावकाशाग्न्युदक- | ८४९ |
| भक्षयित्वोपविष्टानां | ७६९ |
| भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधा- | २५० |
| भगं ते वरुणो राजा | ५६५ |
| भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे | ९८० |
| भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति- | १०६ |
| भवो जातिसहस्रेषु | ९६७ |
| भस्मपङ्करजःस्पर्शे | ८१३ |
| भार्यारतिः शुचिर्भृत्य | १६३ |
| भावाभावौ च जगतः | ५७६ |
| भिन्ने पणे तु पञ्चाशत् | ८२६ |
| भिषङ्मिथ्याऽऽचरन्दाप्यः | ८२४ |
| भूदीपान्नाश्ववस्त्राम्भ- | ३६७ |
| भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं | ९७७ |
| भूर्या पितामहोपात्ता | ७२८ |
| भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहा. | २६४ |
| भृतकाध्यापकः क्लीबः | ४४४ |
| भृतादध्ययनादानं | १०५० |
| भेषजस्नेहलवण- | ८२५ |
| भैक्षाभिकार्ये त्यक्त्वा तु | ११४१ |
| भ्रातृणामथ दंपत्योः | ६५४ |
| **म.** | |
| मण्डलं तस्य मध्यस्थ- | ९८५ |
| मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि- | ६३८ |
| मधुदंशः पलं गृध्रो | १०३६ |
| मधुना पयसा चैव | ६९ |
| मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टं | ६१ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ | ९७८ |
| मनसश्चन्द्रमा जातः | ९९५ |
| मन्वात्रिविष्णुहारीत- | ७ |
| मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या | १०११ |
| मम दाराः सुतामात्याः | १००६ |
| मयि तेज इति च्छायां | ११३९ |
| मर्यादायाः प्रभेदे तु | ७६५ |
| मलिनो हि यथाऽऽदर्शो | १००१ |
| महागणपतेश्चैव | ५६७ |
| महापातकजान्घोरान् | १०३४ |
| महापातकजैर्घोरैः | १०४१ |
| महाभूतानि सत्यानि | १००४ |
| महोक्षं वा महाजं वा | १५४ |
| महोक्षोत्सृष्टपशवः | ७७१ |
| मातापित्रोर्गुरोस्त्यागी | ४४४ |
| मातामहानामप्येवं | ५०८ |
| मातुर्यदग्रे जायन्ते | ६८ |
| मातृपित्रतिथिभ्रातृ- | २३३ |
| मानुष्ये कदलीस्तम्भ- | ८८१ |
| मानेन तुलया वाऽपि | ८२५ |
| मार्जनं यज्ञपात्राणां | २६१ |
| मार्जारगोधानकुल- | ११३० |
| माषानष्टौ तु महिषी | ७६८ |
| मांसक्षीरौदनमधु- | ७० |
| माहिष्येण करण्यां च | ११९ |
| मितश्च संमितश्चैव | ५६६ |
| मित्राण्येताः प्रकृतयो | ५८८ |
| मिथिलास्थः स योगीन्द्रः | ४ |
| मिथ्याभिशंसिनो दोषः | १०९२ |
| मिथ्या वदन्परीमाणं | ८३४ |
| मुक्त्वाऽग्निं मृदितव्रीहिः | ७०८ |
| मुखजा विप्लुषो मेध्या | २७६ |
| मूषको धान्यहारी स्यात् | १०३६ |
| मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां | १०३५ |
| मृच्चर्ममार्णसूत्रायः | ८२६ |
| मृद्दण्डचक्रसंयोगात् | १००४ |
| मृताङ्गलग्नविक्रेतुः | ८६५ |
| मृताहनि तु कर्तव्यं | ५४३ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| मृते जीवति वा पत्यौ | १०१ |
| मृते पितरि कुर्युस्तं | ७४० |
| मेदसा तर्पयेयेद्वा- | ६९ |
| मोहजालमपास्येह | ९९२ |

## य.

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| य आत्मता ह्येकवर्णैः | ५६५ |
| य इदं धारयिष्यन्ति | १२५१ |
| य इदं श्रावयेत्सर्वान् | १२५२ |
| य एवमेनं विन्दन्ति | १०१९ |
| यज्ञस्थ ऋत्विजे दैवः | ८९ |
| यज्ञानां तपसां चैव | ६८ |
| यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत | ५७८ |
| यज्ञेन तपसा दानैः | १०२० |
| यत एतानि लिङ्गानि | १०१३ |
| यतिपात्राणि मृद्वेणु- | ९६४ |
| यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं | ५६५ |
| यतो वेदाः पुराणानि | १०१८ |
| यत्र यत्र तु संकीर्णं | १२१४ |
| यथाकथंचिन्त्रिगुणः | १२३६ |
| यथाकथंचिद्दत्त्वा गां | ३०२ |
| यथाकथंचित्पिण्डानां | १२४४ |
| यथाकर्मफलं प्राप्य | १०३७ |
| यथाकामी भवेद्वाऽपि | १०६ |
| यथाऽऽत्मानं सृजत्यात्मा | १०१५ |
| यथाऽपितान्पशून्गोपः | ७७२ |
| यथावर्णं प्रदेयानि | ५७३ |
| यथा विधानेन पठन् | ९९० |
| यथा हि भरतो वर्णे- | १००८ |
| यदस्यान्यदशिमशत- | १०१० |
| यद्दाति गयास्थश्च | ५५२ |
| यदा तु द्विगुणीभूतं | ६६१ |
| यदि कुर्यात्समानंशान् | ७१९ |
| यदुच्यते द्विजातीनां | ८७ |
| यद्यस्मि पापकृन्मातः | ७०१ |
| यद्येवं स कथं ब्रह्मन् | ९९५ |
| यन्मेऽद्य रेत एताभ्यां | ११३८ |
| यममुक्तं तथा गाथा | ८६९ |
| यज्ञूंषि शक्तितोऽर्थाते | ६९ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| यवैरन्यवकीर्याथ | ४७९ |
| यस्योचुः साक्षिणः सत्यां | ६७८ |
| यः कश्चिदर्थो निष्णातः | ६८२ |
| यः कण्टकैर्वितुदति | ९४४ |
| यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो | ६८० |
| यः साहसं कारयति | ८२१ |
| यस्मिंस्ते संस्रवाः पूर्वं | ५१२ |
| यागस्थक्षत्त्रविड्हन्ता | १०६२ |
| या दिव्या इति मन्त्रेण | ४७९ |
| यावद्वृत्तस्य ह्रौ पादौ | २९९ |
| यावत्स्यं विनश्येत | ७७० |
| युग्मान्दैवे शुचौ देशे | ४६३ |
| ये च दानपराः सम्यक् | १०१६ |
| येनैकरूपाश्चाश्वतरास्तात् | १०१० |
| ये समाना इति द्वाभ्यां | २५८ |
| योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं | २ |
| योज्या व्यस्ताः समस्ता वा | ५९२ |
| यो द्रव्यदेवतात्यागात् | ९९३ |
| योऽभियुक्तः परेतः स्यात् | ६३७ |
| यो मन्येताजितोऽस्मीति | ८६६ |
| यो यावत्कुरुते कर्म | ७९८ |

## र.

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां | १०८ |
| रजतादयसः सीसात् | ५६९ |
| रजसा तमसा चैवं | १००० |
| रथ्याकर्दमतोयानि | २८० |
| रश्मिरश्मिरजश्छाया- | २७४ |
| रसस्य नव विज्ञेयाः | ९८५ |
| रागाद्वोभाद्भयाद्वाऽपि | ६०३ |
| राजदैवोपघातेन | ८२९ |
| राजभिः स्थापितो योऽर्घः | ८२७ |
| राजा कृत्वा पुरे स्थानं | ७९२ |
| राजान्तेवासियाज्येभ्यः | १७० |
| राजा लब्ध्वा निधिं दद्यात् | ६४० |
| राजा सुकृतमादत्ते | ५८२ |
| राज्ञाऽधर्मणिको दाप्यः | ६४६ |
| राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डः | ८६६ |
| राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं | ८६४ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान् | ५८५ |
| रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो | ६५१ |
| रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात् | ६९५ |
| रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः | ४४४ |
| रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशत् | ९८४ |
| **ल.** | |
| लाक्षालवणमांसानि | ९३४ |
| लिङ्गस्य च्छेदने मृत्यौ | ८१७ |
| लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् | ६९३ |
| लोकानन्त्यादिवः प्राप्तिः | १०२ |
| लोमभ्यः स्वाहेति हि वा | १०५९ |
| " " | १२१२ |
| **व.** | |
| वट्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ | ९८३ |
| वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं | ९०६ |
| वपा वसाऽवहननं | ९८२ |
| वयोबुध्यर्थवाग्वेश | १६५ |
| वर्णिनां हि वधो यत्र | ६८१ |
| वर्ल्याधारस्नेहयोगात् | १००९ |
| वसानस्त्रीन्पणान्दाप्यः | ८२३ |
| वसुरुद्रादितिसुताः | ५६० |
| वसेत्स नरके घोरे | २५१ |
| वाको वाक्यं पुराणं च | ७० |
| वाचं वाको विजानाति | १००४ |
| वानप्रस्थयतिब्रह्म- | ७४७ |
| वायवीयैर्विगण्यन्ते | ९८४ |
| वायुभक्षो दिवा तिष्ठेत् | १२१५ |
| वालवासा जटी वाऽपि | १०७२ |
| वासनस्थमनाख्याय | ६६१ |
| विक्रीतमपि विक्रेयं | ८२९ |
| विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः | ७७६ |
| विख्यातदोषः कुर्वीत | १२०९ |
| विद्याकर्मवयोबन्धु- | १५९ |
| विद्यातपोभ्यां हीनेन | २९१ |
| विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां | १२५१ |
| विनाऽपि साक्षिभिर्लेख्यं | ६८६ |
| विनायकः कर्मविघ्न- | ५६२ |
| विनीतः सत्त्वसंपन्नः | ५७६ |
| विनीतस्त्वथ वार्तायां | ५७६ |
| विपाकः कर्मणां प्रेत्य | ९९७ |
| विप्रगोनृपहतानां | ९०१ |
| विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रः | ११८५ |
| विप्रदुष्टां स्त्रियं भ्रूण- | ८५१ |
| विप्रपीडाकरं छेद्यं | ८१३ |
| विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि | ११७ |
| विप्रा हि क्षत्रियात्मानो | १९४ |
| विप्रेभ्यो दीयते दानं | ५८१ |
| विभक्तेषु सुतो जातः | ७२९ |
| विभजेरन्सुताः पित्रोः | ७२० |
| विभागं चेत्पिता कुर्यात् | ७१७ |
| विभागनिह्नवे ज्ञाति- | ७५६ |
| विरुद्धं वर्जयेत्कर्म | १८२ |
| विषयेन्द्रियसंरोध | १००७ |
| विषाग्निदां पतिर्गुरु- | ८५२ |
| विहितस्याननुष्ठानात् | १०३७ |
| वीणावादनतत्त्वज्ञः | ९९१ |
| वृद्धभारिनृपस्नात- | १६० |
| वृषक्षुद्रपशूनां च | ८२२ |
| वृषभैकसहस्रा गा | ११०६ |
| वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा | ५६८ |
| वेदज्ञाः शुचयोऽलुब्धाः | ७९६ |
| वेदप्लावी यवाश्यब्दं | ११५१ |
| वेदार्थवित्पुराणानि | १३६ |
| वेदानुवचनं यज्ञो | १०१८ |
| वेदाभ्यासरतं क्षान्तं | १२१४ |
| वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैः | १०११ |
| वैश्यवृत्त्याऽपि जीवन्नो | ९३१ |
| वैश्यहाऽब्दं चरेदेतत् | ११०६ |
| वैश्याशूद्रोस्तु राजन्या- | ११७ |
| व्यतीपातो गजच्छाया | ४१७ |
| व्यभिचार ऋतौ शुद्धि- | ९८ |
| व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा | ५८२ |
| व्यवहारान्नृपः पश्येत् | ५९५ |
| व्यवहारान्स्वयं पश्येत् | ५९० |
| व्रजन्तं च तथाऽऽत्मानं | ५६२ |
| **श.** | |
| शक्तस्यानीहमानस्य | ७१९ |
| शक्तितो वा यथालाभं | ५७४ |
| शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी | ८६४ |
| शतं स्त्रीदूषणे दद्यात् | ८५९ |
| शते दशपला वृद्धिः | ७८४ |
| शनोदेवीस्तथा काण्डा- | ५७३ |
| शब्दः स्पर्शश्च रूपं च | १०१५ |
| शरणागतबालस्त्री- | १२०९ |
| शरीरचिन्तां निर्वर्त्य | १२३ |
| शरीरसंक्षये यस्य | १००८ |
| शस्त्रावपाते गर्भस्य | ८५० |
| शस्त्रासवमधूच्छिष्ट- | ९३१ |
| शास्त्राणि चिन्तयेद्बुद्ध्वा | ५८३ |
| शिरःकपाली ध्वजवान् | १०५३ |
| शिराः शतानि सप्तैव | ९८३ |
| शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं | २४० |
| शुक्रः शनैश्चरो राहुः | ५६८ |
| शुक्रियारण्यकजपः | १२१४ |
| शुक्लाम्बरधरो नीच- | १७३ |
| शुचिगोतृप्तिकृत्तोयं | २७२ |
| शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ | ९४३ |
| शूद्रप्रव्रजितानां च | ८२२ |
| शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं | १०५० |
| शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा | १६१ |
| शूद्रेषु दासगोपाल- | २४३ |
| शोणितेन विना पीडां | ८१५ |
| शोध्यस्य मृच्च तोयं च | ९२७ |
| शौल्किकैः स्थानपालैर्वा | ७७८ |
| श्रान्तसंवाहनं रोगी | ३६५ |
| श्रुताध्ययनसंपन्ना | ६०१ |
| श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं | ६१२ |
| श्रुतिस्मृतिसदाचाराः | ९ |
| श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि | १२५२ |
| श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् | १२५१ |
| श्रेणिनैगमपाषण्डि- | ७९६ |
| श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां | १०११ |
| श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं | ८८२ |
| श्लेष्मौजसस्तावदेव | ९८५ |
| श्लोकत्रयमपि ह्यस्मात् | १२५२ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| श्वक्रोष्टुगर्दभोलूक- | १९१ |
| **ष.** | |
| षट्श्लेष्मा पञ्च पित्तं च | ९८५ |
| षष्यङ्गुलीनां द्वे पार्ष्ण्योः | ९७९ |
| षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां | १०३ |
| ष्ठीवनासृक्शकृन्मूत्र- | १८१ |
| **स.** | |
| स आत्मा चैव यज्ञश्च | ९९२ |
| सकामास्वनुलोमासु | ८५८ |
| सकृत्प्रदीयते कन्या | ९४ |
| सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं | ८७४ |
| सखिभार्याकुमारीषु | १०४८ |
| स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा | ६४ |
| सगोरसर्षपैः क्षौमं | २६१ |
| संघातं लोहितोदं च | १०४० |
| सङ्ग्रामे वा हतो लक्ष्य- | १०६० |
| सचैलस्नानमाहृत्य | ६९७ |
| सजातावृत्तमो दण्डः | ८५६ |
| सजातीयेष्वयं प्रोक्तः | ७३९ |
| स तमादाय सर्वत्र | ७०७ |
| स तु सोमः तिर्देवा- | ६९ |
| सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा | १५२ |
| सत्त्रिव्रतिब्रह्मचारि- | ९१८ |
| सत्त्वं रजस्तमश्चैव | १०१६ |
| सत्यमस्तेयमक्रोधो | ९७२ |
| सत्यसंधेन शुचिना | ५८९ |
| सत्यामन्यां सवर्णायां | ११२ |
| सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैः | ८०६ |
| सत्येन माऽभिरक्षत्व | ७०९ |
| सदानमानसत्कार- | ५८४ |
| संदिग्धलेख्ये शुद्धिः स्यात् | ६८८ |
| संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः | ६२१ |
| संततिस्तु पशुस्त्रीणां | ६४३ |
| संततिः स्त्रीपशुष्वेव | ६५७ |
| संधिन्यनिर्दशावत्सा | २४७ |
| संध्यागर्जितनिर्घाता | १८८ |
| संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि | ४९ |
| संनिरुद्धेन्द्रियग्रामो | १०२१ |
| संनिरुध्येन्द्रियग्रामं | ९६६ |
| सपणश्चेद्विवादः स्यात् | ६२४ |
| सप्तमादृशमद्वाऽपि | ८७३ |
| सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते | १०१७ |
| संभूय कुर्वतामर्धं | ८२६ |
| संभूय वणिजां पण्यं | ८२७ |
| समकालमिषुं मुक्तं | ७०९ |
| समवायेन वणिजां | ८३१ |
| समासेऽर्थे ऋणी नाम | ६८५ |
| समामासतदर्धाहः | ६८४ |
| समुद्रपरिवर्ते च | ८२६ |
| समूहकार्थे आयातान् | ७९५ |
| समूहकार्यप्रहितो | ,, |
| समेष्वेवं परस्त्रीषु | ८१३ |
| सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः | ५८९ |
| सम्यग्दृष्ट्वा तु दुर्वृत्तान् | ८६५ |
| सम्यक्प्रयुक्ताः सिध्येयुः | ५८६ |
| सयतोपस्करा दक्षा | १०७ |
| संयोज्य वायुना सोमं | ९९३ |
| सर्गादौ स यथाऽऽकाशं | ९७५ |
| सर्वदानाधिकं यस्मात् | ५८४ |
| सर्वधर्ममयं ब्रह्म | ३८९ |
| सर्वभूतहितः शान्त- | ९५१ |
| सर्वमन्नमुपादाय | ५०५ |
| सर्वस्य प्रभवो विप्राः | २८१ |
| सर्वान्कामानवाप्नोति | २५२ |
| सर्वाधर्यां निजे देहे | १००२ |
| सर्वेषां वत्सरे पूर्णे | ९०४ |
| सर्वेष्वेव विवादेषु | ६३० |
| सर्वौषधैः सर्वगन्धैः | ५६४ |
| सवत्सारोमतुल्यानि | २९८ |
| सवर्णेभ्यः सवर्णासु | ११६ |
| सव्याहृतिकां गायत्रीं | ४९६ |
| स संदिग्धमतिः कर्म | १००५ |
| स सम्यक्पालितो भागं | ८०२ |
| संसृष्टिनस्तु संसृष्टी | ७४७ |
| सहस्रशीर्षाजापी तु | १२१२ |
| सहस्राक्षं शतधार- | ५६५ |
| सहस्रात्मा मया यो व | ९९५ |
| सहोभौ चरतां धर्म- | ८९ |
| स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः | १०१९ |
| साक्षिणश्च स्वहस्तेन | ६८५ |
| साक्षिणः श्रावयेद्वादि- | ६७३ |
| साक्षिष्वभयतः सत्सु | ६२३ |
| साधून्संमानयेद्राजा | ५८४ |
| सामन्तकुलिकादीनां | ८२१ |
| सामन्ता वा समाग्रामाः | ७६२ |
| सामान्यद्रव्यप्रसभ- | ८१९ |
| सामान्यार्थसमुत्थाने | ७२६ |
| साहसस्तेयपारुष्य- | ६१८ |
| सिध्यन्त्यर्था मनुष्याणां | ५८७ |
| सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य | ७५८ |
| सुकृतं यत्त्वया किंचित् | ६७३ |
| सुतविन्यस्तपत्नीक | ९३९ |
| सुराकामद्यूतकृतं | ६४८ |
| सुरापी व्याधिता धूर्ता | ९९ |
| सुराम्बुघृतगोमूत्र- | १०६९ |
| सोऽचिराद्विगतश्रीको | ५८५ |
| सोमः शौचं ददौ स्त्रीणां | ९८ |
| सोपैरुदकगोमूत्रैः | २६१ |
| सौवर्णराजताब्जाना- | २५३ |
| स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा | ८५२ |
| स्त्री निषेधे शतं दद्यात् | ८५५ |
| स्त्रीपुंसयोश्च संयोगे | ९७५ |
| स्त्रीबालवृद्धकितव- | ६६७ |
| स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यं- | १०२ |
| स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधः | १०५० |
| स्त्र्यालोकालम्भविगमः | १००७ |
| स्थालैः सह चतुःषष्टिः | ९७९ |
| स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां | ९७८ |
| स्नातस्य सार्षपं तैलं | ५६६ |
| स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते | २७७ |
| स्नानमर्दैवतैर्मन्त्रैः- | ४२ |
| स्नानमौनोपवासेज्या- | १२२८ |
| स्नापनं तस्य कर्तव्यं | ५६३ |
| स्फ्यशूर्पाजिनधान्यानां | २५९ |

| श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाद्यचरणानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|---|---|---|
| स्मृत्याचारव्यपेतेन | ६०५ | स्वर्गे ह्यपत्यमोजश्च | ५५९ | हीनजातिं परिक्षीणं | ६४६ |
| स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु | ६२६ | स्वर्णहारी तु कुनखी | १०३५ | हीनजातौ प्रजायन्ते | १०३६ |
| स्याद्राजा भृत्यवर्गे च | ५८३ | स्वस्रीयऋत्विग्जामात- | ४३७ | हुतशेषं प्रदद्यात्तु | ४८९ |
| स्वं कुटुम्बाविरोधेन | ७७९ | स्वसीम्नि दद्याद्ग्रामस्तु | ८४४ | हुत्वाऽग्नीन्सर्वदैवत्या- | १२५ |
| स्वं लभेतान्यविक्रीतं | ७७४ | स्वहस्तकालसंपन्नं | ५७९ | हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु | ४० |
| स्वच्छन्दविधवागामी | ८२२ | स्वामिनेऽविनिवेद्यैव | ७६६ | हृताधिकारां मलिनां | ९८ |
| स्वदेशपण्ये तु शतं | ८२७ | ह. | | हृतं प्रेनष्टं यो द्रव्यं | ७७८ |
| स्वधर्माच्चलितान्राजा | ५९१ | हंसश्येनकपिक्रव्यात् | ११३२ | हेममात्रामुपादाय | १००४ |
| स्वभावाद्विकृतिं गच्छेत् | ६२० | हविष्यान्नेन वै मासं | ५५९ | हेमशृङ्गीशफै रौप्यैः | २९५ |
| स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां | १०१३ | हस्तौ पायुरुपस्थश्च | ९८० | होतव्या मधुसर्पिर्भ्यां | ५७४ |


समाप्तेयं याज्ञवल्क्यस्मृत्यन्तर्गतश्लोकानां वर्णानुक्रमणी ॥

# टीकायां प्रमाणतया गृहीतान्यग्रन्थतत्कर्तृ-नाम्नां वर्णानुक्रमसूची ।


नामानि पृष्ठाङ्काः

**अ.**

अगस्त्यः १०७०
अङ्गिराः २२ ३४ ३६ ५२ १०९ ११२ १२३ २४४ २५६ २५७ २६२ २९६ ४०५ ४०६ ४०८ ५२७ ८७७ ८९८ ८९९ ९०२ ९०६ ९१० ९११ ९१३ ९२३ ९२५ १०५६ १०५८ १०५९ १०६१ १०६३ १०६५ १०७० १०७१ १०७२ १०७९ १०८४ १०८९ १०९० १०९१ १०९६ ११०९ ११२८ ११२९ ११३१ ११३५ ११३८ ११६० ११६३ ११६४ ११७६ ११८२ ११८८ ११९३ १२०४ १२१० १२१९ १२३७
अत्रिः ५५ १०५ २७७ ४४२ ४८७ ४८८ ४९५ ४९९ ५०५ ५१८ ५२३ ९६६ ९७१ १०६५ १०८१ ११२३
नामानि पृष्ठाङ्काः ११६४ ११८६ १२०२ १२२१ १२२४
अश्विनौ ९६१

**आ.**

आदित्यपुराणम् २३९ ३६३ ३७० ३७४ ३७८ ५५४ ११९० १२२५
आदिपुराणम् ३७ २५६ २६० २९७ ८७० ८७५ ८७७ ९०१
आपस्तम्बः १२ ३२ ३३ ३८ ४२ ५४ ५५ ५९ ६० ६१ ६३ ८१ ८३ १०० १०४ १०५ ११३ १३७ १४२ १४३ १४८ १५० १५२ १५५ १५७ १६० १७४ १८० १८२ १८४ १८७ १८८ १९२ २२० २२२ २२७ २३८ २४० २४३ २४३ २४६ २५४ २६२ २६६ २६८ २७३ २७६ २७८ २९१ ४३० ४४३ ४५७ ४५९ ४७५ ४९४ ५०१ ५१३ ५४२ ५४४ ५५७
नामानि पृष्ठाङ्काः ६२६ ६३४ ६५४ ७२० ८४३ ८७७ ९०६ ९२३ ९२५ ९२६ ९३२ ९३३ ९५८ १०४१ १०४६ १०५६ १०६३ १०६४ १०८० १०८५ १०९१ १०९३ १०९७ १०९९ ११०८ ११११ ११२१ ११२३ ११२४ ११२५ ११४३ ११४७ ११५९ ११६२ ११६३ ११७० ११९३ ११९४ ११९५ ११९६ ११९७ १२०० १२३६
आश्वलायनः ६६ ८४ ८९ १२५ १४२ १६६ १८० ५०८
आश्वलायनगृह्यम् २५
आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टम् ५२० ५२५

**उ.**

उशना ११२ १२४ १३४ १५८ १९२ २२७ २५५ २६३ ४१८ ४४६ ४५०
नामानि पृष्ठाङ्काः ४६० ४६८ ४९२ ५२४ ५३१ ५३९ ५४० ६४८ ६७१ ७१० ७७० ७७१ ८१० ८५० ९१३ १०७१ १०८५ ११२१ ११२४ ११२५ ११५० ११६३ ११९० ११९३ ११९७

**ऋ.**

ऋष्यशृङ्गः १५३ २०७ २५५ ४२९ ४३६ ४३७ ५४८ ५६१ ७२४ ८८९ ९१२ ९२५ ११२५ ११२६ ११८८

**औ.**

औपकायनः ११९५

**क.**

कश्यपः ४४८ ४६२ ९०४ ९१० ९१७ ९२२ १०६५ ११३१ ११५० ११६१ ११९३ १२०१ १२०२
काठकगृह्यम् ५४८
काठकश्रुतिः १०५९
कात्यायनः ३० ३२ ३३ ४३ ४६ ५१ ५२ ९४ ९५ ११३ १२१ १२२ १२३ १२५

नामानि पृष्ठाङ्काः

१२६ १३५ १३८
१४२ १४५ १५६
१८१ २३४ २७१
२७३ ४०४ ४२२
४२८ ४२९ ४३२
४३५ ४५७ ४५८
४७७ ४७९ ४८०
४८३ ४८४ ४९१
४९४ ५०१ ५०५
५०६ ५१० ५१२
५१५ ५१६ ५१७
५१८ ५२१ ५३२
५३७ ५३९ ५४३
५४४ ५९६ ५९९
६०१ ६०४ ६०५
६०७ ६०८ ६०९
६११ ६१२ ६१३
६१४ ६१५ ६१६
६१८ ६१९ ६२२
६२४ ६२५ ६२८
६२९ ६३० ६३३
६३६ ६३७ ६३९
६४२ ६४३ ६४५
६४७ ६४८ ६४९
६५० ६५२ ६५४
६५५ ६५६ ६५७
६५८ ३५९ ६६२
६६३ ६६४ ६६६
६६७ ६६९ ६७०
६७१ ६७२ ६७५
६७७ ६७९ ६८४
६८६ ६८७ ६८९
६९० ६९२ ६९५
६९६ ६९७ ६९८
६९९ ७०० ७०४
७०९ ७१० ७११
७१२ ७१३ ७१४
७१५ ७२१ ७२२
७२३ ७२४ ७२५

नामानि पृष्ठाङ्काः

७२७ ७५८ ७३२
७३३ ७५० ७५१
७५२ ७५३ ७५५
७५७ ७५९ ७६०
७६२ ७६३ ७६४
७६५ ७६६ ७६७
७७० ७७२ ७७६
७७७ ७७९ ७८१
७८२ ७८३ ७८७
७८८ ७८९ ७९०
७९३ ७९४ ७९५
८०० ८०१ ८०३
८०४ ८०५ ८११
८१२ ८१३ ८१६
८१८ ८२० ८२१
८२२ ८३२ ८३८
८४१ ८४४ ८४५
८४९ ८६० ८६२
८७२ ८७४ ८८०
८९७ ९०९ ९१९
१०६६

कात्यायनवाक्यम् ८
कार्ष्णाजिनिः १३१
१३२ १३३ १३८
४१९ ४२३ ४२४
४३५ ४४० ४९१
४९९ ५०१ ५४४
१११२

कालिकापुराणम् १५
२२६ ३७७ ९२४
काश्यपः ९३ २५५
२५९ २६२ १०९६
१०९७

कुथुमिः ५४८
कुमारः १०७०
कूर्मपुराणम् २०१
२०४ २०७
क्रतुः ४८७ ९२०
१०८६ ११८७

नामानि पृष्ठाङ्काः

११८८ ११९७
क्रियाश्रयः ८७२

## ग.

गभस्तिः ५४८
गर्गः १२४ १९० १९६
३६८ ५४४ ५४७
५५९ १०१६ १०१७
गर्भोपनिषत् ९७७
गार्ग्यः २१५ २३६
४४६ ४७६ ४८०
४८१ ५३६ ५४१
११९६
गीता ९७६ ९८९
९९४ १०२०
गृध्रकृच्छौनकः १५४
२४१ ४३० ४६३
गृध्रपरिशिष्टम् २६
५४९ ८८७ ९३२
गोभिलः ३२ ३८
१३२ १३३ ४५८
४६२ ५०४ ५४०
गौतमः ७ ३२ ३७
५५ ५८ ६२ ८०
८१ ८८ ९४ १०५
११७ १२७ १४५
१५३ १५६ १५९
१६१ १७३ १८०
१८२ १८३ १८४
१८७ १८९ १९०
१९२ २३८ २४६
२५२ २६२ २७७
२९४ ४२२ ४२३
४२५ ४३४ ४३९
४४२ ४५३ ४६३
४६६ ४८१ ५३३
५९९ ६०३ ६३१
६३३ ६४० ६४१
६४३ ६८२ ७२०

नामानि पृष्ठाङ्काः

७२१ ७२२ ७२६
७२९ ७३६ ७४२
७५४ ७७३ ७७८
७८३ ८०९ ८३३
८४३ ८५० ८६७
८७४ ८७७ ८८५
८९५ ८९९ ९००
९०१ ९०४ ९११
९१८ ९२१ ९२९
९३१ ९३६ ९३७
९४५ ९५१ १०३९
१०४५ १०४७
१०४८ १०५१
१०५३ १०५४
१०५९ १०६४
१०६९ १०७४
१०७९ ११००
११०६ १११७
११२२ ११२५
११३० ११४१
११५४ ११६५
१२०४ १२०५
१२०७ १२३६
१२४२ १२४६

## च.

चतुर्विंशतिमतम् २८०
४३२ ४८० ५१७
१०८१ १११४
११२१ ११२७
११३२ ११३३
११५० ११५७
११५९ ११७३
११७९ १२१२
१२२२ १२३१
१२४८
च्यवनः २९९ ९२२
१०९८ ११०३
११९० ११९९

नामानि पृष्ठाङ्काः

**छ.**

छागलेयः ४४२ ५३३ ९३२ ९३९ १०३९ ११६७ ११८० ११९४ ११९५
छान्दोग्यम् १०३३ ११५१
छान्दोग्योपनि० १०२९

**ज.**

जमदग्निः २६७ ४६८ ५०१ ५१० ८८० १०६४
जातूकर्ण्यः २४ ४२३ ४२४ ४२५ ४९१ ५०५ ५०६ ५०८ ५२१ ५४३ ५४५ ८९२ १०६९
जाबालः १३५ २९६ ३५९ ४१९ ७३६ ८९२ ९२० १०९० १०९२ १०९३ १११९ ११३३ ११६० ११६१ ११६८ १२३३ १२३४ १२३९
जाबालश्रुतिः ९४६
जाबालिः १३३ ४६५ ५३९ ९१४ १२३० १२३४ १२४१
जैमिनिः २०६
ज्योतिःशास्त्रम् २६
ज्योतिषम् ५५८

**त.**

तैत्तिरीयकम् ११४०

**द.**

दक्षः २८ ३६ ४० ५१ ७३ ११३ १२३ १२६ १२८ १३३ १४३ १५७ १७५ २४४ २८३ २८४ २८६ ३६८ ३७८ ४०४ ४८३ ५९० ७८७ ८८८ ८९४ ८९५ ९०५ ९३९ ९५२ ९७० ९८६ ११९० ११९३
दत्तात्रेयः ९७१ १०२१
देवलः २५ ३५ ३६ ३७ ४० ४२ ६५ ७२ ८८ ८९ १०४ ११८ १३५ १४६ १५० १६२ १७४ १७६ १७९ १८१ १८२ १९९ २१४ २१५ २२२ २२३ २४१ २४२ २४३ २४५ २५० २५३ २६१ २६४ २७० २७१ २७२ २७४ २७७ २८४ २८७ २९१ ४१९ ४२० ४३० ४३६ ४४१ ४४२ ४४४ ४४५ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५५ ४५७ ४६० ४७१ ४७४ ४८५ ४८६ ४९७ ५१० ५१३ ५२६ ७१८ ७२७ ७४१ ७४४ ७५५ ८७३ ९०४ ९०५ ९१६ ९२३ ९२५ ९२७ ९६४ ९८६ १०१७ १०२३ १०२५ १०४४ १०४६ १०५९ १०६५ १०७१ १०८६ १०८७ ११३७ ११४५ ११५१ ११६३ ११६५ १२११
देवीपुराणम् १६ ७४ ३६३ ३७२ ३८६ ४२८ ५५७ ५५९ ५७०

**ध.**

धर्मः ४३४ ४७६ ४९२

**न.**

नन्दिपुराणम् २९६ ३६५ ३७९ ३८५ ३९६ ४०६ ४०८
नारदः ८१ ८५ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९८ २०५ २९० ४३६ ५९७ ५९९ ६०० ६०२ ६०३ ६०४ ६०६ ६०७ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१६ ६१७ ६१८ ६२१ ६२२ ६२४ ६२५ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४१ ६४३ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५७ ६५९ ६६२ ६६५ ६६६ ६६८ ६७० ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८४ ६८५ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९७ ६९८ ६९९ ७०१ ७०४ ७०५ ७०६ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१७ ७१८ ७२० ७२२ ७२५ ७३० ७३१ ७३३ ७४१ ७४३ ७४५ ७४९ ७५२ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७५ ७८० ७८१ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९४ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०९ ८११ ८१२ ८१७ ८१९ ८२० ८२२ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३४ ८३६ ८४० ८४३ ८४६ ८४९ ८५० ८५१ ८५५ ८५७ ८५९ ८६० ८६६ ९२९ ९३० ९३१ ९३३ १०४९
नारायणः १३५ १४६ ५०० ५०८
निगमः २३६ ४७८ ४९९

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| नृसिंहपुराणम् | ७९ |
| १२५ १३१ | १४१ |
| १५३ १६२ | १८९ |
| ९५१ ९६५ | |

## प.

| | |
|---|---|
| पतञ्जलिः | ९८८ |
| पद्मपुराणम् | १३८ |
| २११ २१२ | २७९ |
| ५७० | |
| पराशरः २६७ | २६८ |
| २८० ४६६ | ५४९ |
| ८८३ ८९४ | ९०५ |
| ९१७ ९१९ | ९२२ |
| ९२३ ९२६ | १०६३ |
| १०८८ | १०९५ |
| १०९८ | ११०३ |
| ११०५ | ११३३ |
| ११३६ | ११३७ |
| ११६२ | ११६७ |
| ११६९ | ११७० |
| ११७४ | ११७७ |
| ११८० | ११९१ |
| ११९२ | ११९७ |
| ११९८ | १२०१ |
| १२३० | १२३३ |
| १२३५ | १२४७ |
| १२५० | |
| पाञ्चरात्रसंहिता | १६ |
| पारस्करः २५ ५७ | ४३४ |
| ५०६ ५१० | ८७४ |
| ८८८ ८९० | ८९२ |
| ९१२ | |
| पितामहः ६०१ | ६२९ |
| ६३० ६९३ | ६९४ |
| ६९५ ६९६ | ६९७ |
| ६९८ ६९९ | ७०० |
| ७०१ ७०२ | ७०३ |
| ७०५ ७०६ | ७०७ |
| ७०८ ७०९ | ७१० |
| ७१२ ७१३ | ७१४ |
| ७१५ | |
| पुलस्त्यः ५० | १७१ |
| ४२६ ५५५ | ८९३ |
| ९०८ ९६१ | ९७० |
| १०७० | १०७५ |
| ११३६ | |
| पैठीनसिः | ५८ |
| ६० ८२ | १०५ |
| ११२ १७४ | १८९ |
| १९७ २२७ | २३९ |
| २४८ २५९ | २६३ |
| २७८ ४६० | ४९४ |
| ५२२ ५२३ | ५३१ |
| ५३२ ५४० | ५४१ |
| ५५५ ७४४ | ७४६ |
| ७५४ ८७४ | ८८० |
| ८८२ ८८५ | ८९२ |
| ९०५ ९०८ | ९१० |
| ९२१ ९२४ | १०४१ |
| १०९४ | १११० |
| ११२९ | ११३१ |
| ११३७ | ११४२ |
| ११४४ | ११४८ |
| ११५४ | ११६० |
| ११७१ | ११७५ |
| प्रचेताः ३९ ४२ | १४६ |
| २५७ २७८ | ४१७ |
| ४१९ ४५६ | ४५९ |
| ४६१ ४६२ | ४६८ |
| ४७७ ४७८ | ४८० |
| ४८३ ४८४ | ४९६ |
| ४९७ ५२४ | ५२८ |
| ५४५ ८७१ | ८७४ |
| ८७५ ८८७ | ९१३ |
| ९१६ | १०४७ |
| ११११ | ११२८ |
| ११५५ | ११५८ |
| ११६८ | ११९७ |
| १२०३ | १२४८ |
| प्रजापतिः २८० | ४८० |
| ५३८ ५४४ | ६६६ |
| ६९० ८९८ | ९१४ |
| ९५२ | |

## ब.

| | |
|---|---|
| बह्वृचगृह्यपरिशिष्टम् | |
| ४१३ ४८४ | ४९७ |
| ५२४ ५२५ | ५६८ |
| बह्वृचब्राह्मणम् | १५४ |
| बार्हस्पत्यम् | ४३१ |
| ११८४ | |
| बृहत्प्रचेताः | ९१० |
| ११२५ | ११७१ |
| बृहदारण्यकम् | १०१४ |
| १०१८ | |
| बृहद्यमः | १०७४ |
| बृहन्मनुः | ९१० |
| बृहद्विष्णुः ९०९ | १०७० |
| १२४३ | |
| बृहस्पतिः ४४ | ६४ |
| ९७ १०६ | १०७ |
| १०९ १११ | १३६ |
| १३७ १५० | १६४ |
| १६५ २२६ | २७२ |
| २७६ २८७ | २९७ |
| ३६७ ३७४ | ३८४ |
| ३८६ ३८९ | ४६४ |
| ४७६ ४७८ | ४७९ |
| ५०१ ५०४ | ५०६ |
| ५०८ ५१२ | ५२७ |
| ५३८ ५४२ | ५४४ |
| ५४९ ५५० | ५५५ |
| ५७९ ५९९ | ६०० |
| ६०२ ६०४ | ६०५ |
| ६१० ६११ | ६१२ |
| ६१४ ६१५ | ६१६ |
| ६१९ ६२२ | ६२५ |
| ६२८ ६३१ | ६३२ |
| ६३५ ६३६ | ६३७ |
| ६४२ ६४४ | ६४६ |
| ६४७ ६४८ | ६५० |
| ६५५ ६५६ | ६५८ |
| ६५९ ६६२ | ६६३ |
| ६६४ ६६६ | ६७२ |
| ६७३ ६७५ | ६७६ |
| ६७८ ६८३ | ६८६ |
| ६९२ ६९९ | ७०४ |
| ७११ ७१३ | ७१४ |
| ७१६ ७१७ | ७१९ |
| ७२० ७२१ | ७२६ |
| ७२७ ७२८ | ७३९ |
| ७३२ ७३५ | ७४० |
| ७४१ ७४३ | ७४४ |
| ७४५ ७४६ | ७४७ |
| ७४८ ७५४ | ७५७ |
| ७५९ ७६१ | ७६२ |
| ७६४ ७६५ | ७७५ |
| ७७७ ७७९ | ७८२ |
| ७९१ ७९२ | ७९३ |
| ७९४ ७९५ | ७९६ |
| ७९७ ७९८ | ७९९ |
| ८०० ८०२ | ८०३ |
| ८०४ ८०५ | ८०६ |
| ८०७ ८०८ | ८०९ |
| ८१० ८११ | ८१२ |
| ८१३ ८१४ | ८१५ |
| ८१६ ८२० | ८२४ |
| ८२५ ८२६ | ८३१ |
| ८३१ ८३२ | ८३३ |
| ८३४ ८३६ | ८३८ |
| ८४३ ८४५ | ८५१ |
| ८५२ ८५४ | ८५५ |
| ८५७ ८८५ | ८९२ |
| ८९४ ९०५ | ९१३ |
| ९१४ ९१७ | ९२२ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ९२६ ९२८ ९३७ | |
| १०३१ १०४३ | |
| १०६७ १०७१ | |
| १०७३ १०८६ | |
| १०८७ १०८८ | |
| १०९८ १०९९ | |
| ११०५ ११२४ | |
| ११४२ ११४९ | |
| ११६० ११६४ | |
| ११६५ ११८५ | |
| ११८९ ११९० | |
| ११९४ १२०१ | |
| १२०३ १२२५ | |
| बैजवापः २७ ५१ | |
| २२९ ५३३ ८७४ | |
| बैजवापगृह्यम् २५ ५६३ | |
| ५६५ | |
| बौधायनः १९ ४१ ४१ | |
| ५८ ८२ ९३ १०० | |
| १०४ ११३ ११५ | |
| ११८ १२१ १३८ | |
| १४७ १५२ १५५ | |
| १५९ १६० १७४ | |
| १७६ १८४ १९२ | |
| २०४ २१५ २१६ | |
| २१८ २३४ २४६ | |
| २४७ २५४ २५५ | |
| २५७ २५९ २६५ | |
| २६६ २६७ २६८ | |
| २७१ २७६ २७८ | |
| ४१८ ४१९ ४३३ | |
| ४३६ ४६१ ४६२ | |
| ४७९ ४९७ ४९९ | |
| ५०२ ५११ ५२८ | |
| ७३१ ७५० ७५४ | |
| ८३३ ८५० ८९८ | |
| ९१८ ९३३ ९४७ | |
| ९६२ ९६३ १०४३ | |
| १०४६ १०७४ | |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| १०८९ ११०२ | |
| १११९ ११२० | |
| ११२२ ११४३ | |
| ११४४ ११४८ | |
| ११५१ ११५५ | |
| ११७० ११७९ | |
| १२०० १२०२ | |
| १२०३ १२१५ | |
| १२१९ १२३० | |
| १२३२ १२४४ | |
| बौधायनस्मृतिः ६८२ | |
| बौधायनीयः २०५ | |
| ब्रह्मगर्भः ४४७ ५३६ | |
| ८८० | |
| ब्रह्मनिरुक्तम् ४७५ | |
| ब्रह्मपुराणम् ६ २३ | |
| २६ २८ ३७ | |
| ६३ ९७ १११ | |
| १४७ १५० १५३ | |
| १५६ २४२ २४५ | |
| २४६ २४७ २४९ | |
| २५२ २५७ २६२ | |
| २७३ २७४ २७५ | |
| २९६ ४२२ ४२३ | |
| ४२४ ४२५ ४३५ | |
| ४४४ ४४७ ४५५ | |
| ४५८ ४६४ ४७३ | |
| ४७४ ४७७ ४८१ | |
| ४८२ ४८६ ४८८ | |
| ४९५ ५०८ ५०९ | |
| ५१३ ५१४ ५१५ | |
| ५१८ ५२३ ५२९ | |
| ५३७ ५५४ ५५९ | |
| ७३७ ८८४ ८८५ | |
| ८९५ ८९७ ८९९ | |
| ९०२ ९०३ ९०७ | |
| ९०८ ९१५ ९१९ | |
| ९२० १०२२ ११७७ | |
| ब्रह्मा १२३२ | |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ब्रह्माण्डपुराणम् ४२ | |
| १२३ १२६ १४३ | |
| २६९ २७९ ४१६ | |
| ४२४ ४४० ४४८ | |
| ४५९ ४६२ ४७२ | |
| ४७३ ४७८ ४८६ | |
| ४८८ ४८९ ४९९ | |
| ५०६ ५०७ ५०९ | |
| ५१२ | |
| **भ.** | |
| भरद्वाजः ४९६ | |
| ११५४ ११७९ | |
| ११८२ ११८३ | |
| भविष्यत्पुराणम् १५ | |
| २६ ३९ ४१ ५१ | |
| ५२ ६० ८५ १६२ | |
| २११ २१५ २३९ | |
| २४१ २४७ २८३ | |
| ४७१ ५२० ५२२ | |
| ५२५ ५२८ ५३८ | |
| ५६३ ५६४ ६२६ | |
| १०३८ १०५५ | |
| १०५६ १०५९ | |
| १०६० १०६१ | |
| १०६२ १०६५ | |
| १०६६ १०६७ | |
| १०६९ १०७१ | |
| १०७५ १०७६ | |
| १०८१ ११८६ | |
| ११९३ | |
| भविष्योत्तरम् ३०६ | |
| ३२६ ३६० ३७५ | |
| ३७९ ३८७ ३८९ | |
| भानुः ११३७ | |
| भारतम् १०१ | |
| भारद्वाजः ३५ ३८ | |
| भास्करः ५१५ | |
| भृगुः ५८ ४६१ | |
| ५४७ ६९६ | |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| **म.** | |
| मत्स्यपुराणम् १६ | |
| १३९ १४५ २०१ | |
| २०७ २०९ २९५ | |
| ३०१ ३०३ ३१३ | |
| ३४४ ३५४ ३७० | |
| ३९२ ४०३ ४०९ | |
| ४१४ ४२७ ४२९ | |
| ४४१ ४४२ ४४३ | |
| ४५६ ४६६ ४७५ | |
| ४८० ४८५ ४८८ | |
| ४९१ ५०७ ५११ | |
| ५१२ ५१४ ५१५ | |
| ५२३ ५४९ ५५० | |
| ५५४ ५५७ ५६४ | |
| ५६९ ५७२ ५७४ | |
| ५७५ ६६४ ८०० | |
| ८३५ ८५६ ८८९ | |
| ८९० ९५४ १०४३ | |
| १२२५ | |
| मनुः ४ ५ ६ ७ | |
| १२ १७ १९ २० | |
| २१ २२ २७ ३० | |
| ३१ ३३ ३४ ३६ | |
| ४० ४४ ५० ५२ | |
| ५३ ५४ ५५ ५७ | |
| ५८ ५९ ६० ६१ | |
| ६२ ६४ ६५ ६६ | |
| ६७ ६८ ६९ ७२ | |
| ७५ ७६ ७७ ७८ | |
| ७९ ८० ८१ ८२ | |
| ८४ ८७ ८९ ९१ | |
| ९२ ९३ ९४ ९५ | |
| ९६ ९७ ९८ ९९ | |
| १०० १०१ १०२ | |
| १०३ १०४ १०७ | |
| १०८ १०९ ११६ | |
| ११९ १२५ १२७ | |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः | नामानि | पृष्ठाङ्काः | नामानि | पृष्ठाङ्काः | नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १३५ १३६ | १३७ | ५५५ ५६० | ५८१ | ८६२ ८६३ | ८६४ | ११२४ | ११२५ |
| १४२ १४३ | १४५ | ५९२ ५९६ | ६०० | ८६५ ८७० | ८७१ | ११२८ | ११२९ |
| १४६ १४७ | १५२ | ६०१ | ६०२ | ८७६ ८७७ | ८८३ | ११३० | ११३१ |
| १५४ १५५ | १५६ | ६०४ ६०५ | ६१० | ८८४ ८८५ | ८८९ | ११३२ | ११३४ |
| १५८ १५९ | १६० | ६११ ६२० | ६२७ | ८९१ ८९२ | ८९३ | ११३५ | ११३८ |
| १६१ १६३ | १६५ | ६३२ ६३३ | ६३५ | ८९६ ९०४ | ९०५ | ११३९ | ११४० |
| १६७ १६८ | १६९ | ६४० ६४१ | ६४३ | ९०६ ९०७ | ९०८ | ११४१ | ११४४ |
| १७० १७३ | १७६ | ६४४ ६४५ | ६४६ | ९०९ ९११ | ९१२ | ११४६ | ११४९ |
| १७९ १८० | १८१ | ६४७ ६५३ | ६५९ | ९१३ ९१५ | ९१६ | ११५० | ११५२ |
| १८२ १८३ | १८४ | ६६३ ६६४ | ६६५ | ९१८ ९१९ | ९२१ | ११५३ | ११५४ |
| १८५ १८६ | १८७ | ६७० ६७१ | ६७३ | ९२२ ९२४ | ९२६ | ११५७ | ११६० |
| १८८ १९० | १९१ | ६७४ ६७६ | ६८० | ९२९ ९३१ | ९३२ | ११६४ | ११६६ |
| १९३ १९४ | २१७ | ६८१ ६८२ | ६९४ | ९३३ ९३४ | ९३५ | ११६७ | ११७४ |
| २२० २२३ | २२४ | ७१७ ७१९ | ७२० | ९३६ ९३८ | ९४१ | ११८३ | ११८४ |
| २२९ २३१ | २३२ | ७२१ ७२२ | ७२३ | ९४२ ९४३ | ९४५ | ११८५ | ११८७ |
| २३४ २३७ | २४० | ७२४ ७२५ | ७२७ | ९५१ ९५३ | ९६० | ११८८ | ११९८ |
| २४३ २४६ | २४७ | ७२९ ७३१ | ७३३ | ९६३ ९६४ | ९६८ | १२०६ | १२०९ |
| २५१ २५३ | २५४ | ७३४ ७३५ | ७३६ | ९७१ ९७२ | ९८२ | १२१० | १२१६ |
| २५५ २६० | २६३ | ७३८ ७३९ | ७४० | ९९४ ९९६ | ९९७ | १२२० | १२२९ |
| २६४ २७१ | २७२ | ७४२ ७४४ | ७४८ | ९९८ ९९९ | १००० | १२३० | १२३५ |
| २७३ २७६ | २८१ | ७४९ ७५० | ७५२ | १०१२ | १०२७ | १२३६ | १२३८ |
| २८२ २८३ | २८५ | ७५३ ७५४ | ७५८ | १०३३ | १०४० | १२४३ | १२४५ |
| २८६ २८७ | २९० | ७५९ ७६२ | ७६४ | १०४३ | १०४४ | १२४६ | |
| २९४ ३०३ | ३६७ | ७६५ ७६६ | ७६९ | १०४६ | १०४७ | मनुनारदौ | ८४१ |
| ३८५ ४०६ | ४०७ | ७७१ ७७२ | ७७३ | १०४८ | १०५० | मनुबृहस्पती | ८३७ |
| ४१८ ४२० | ४२२ | ७७४ ७७६ | ७७८ | १०५३ | १०५७ | मनुविष्णू | ६७७ |
| ४३० ४३३ | ४३५ | ७८२ ७८५ | ७८६ | १०५८ | १०५९ | मरीचिः ४२ | १२१ |
| ४३७ ४४१ | ४४५ | ७८९ ७९३ | ७९७ | १०६० | १०६१ | १३२ २३५ | २६६ |
| ४४७ ४४८ | ४४९ | ७९९ ८०२ | ८०४ | १०६३ | १०६९ | ४३६ ४८७ | ५०५ |
| ४५० ४५२ | ४५४ | ८०६ ८०८ | ८१३ | १०७३ | १०७४ | ५०६ ५०७ | ५२४ |
| ४५६ ४५७ | ४६३ | ८१५ ८१७ | ८१८ | १०७५ | १०७८ | ५५९ ५६१ | ७७५ |
| ४६५ ४७१ | ४७२ | ८१९ ८२० | ८२१ | १०७९ | १०८० | ८८७ ८८९ | ९०१ |
| ४७४ ४७५ | ४७६ | ८२३ ८२५ | ८२७ | १०८२ | १०८३ | ९०८ ९१४ | १०४९ |
| ४८१ ४८८ | ४८९ | ८३१ ८३३ | ८३४ | १०८७ | १०९० | ११३६ | १२११ |
| ४९१ ४९२ | ४९७ | ८३६ ८३७ | ८४२ | १०९३ | १०९४ | १२३२ | |
| ४९८ ५०० | ५०२ | ८४५ ८४६ | ८४९ | ११०० | ११०५ | महाभारतम् १७ | २४ |
| ५०४ ५०५ | ५०७ | ८५० ८५३ | ८५३ | ११०६ | ११०७ | १५३ १६२ | १७३ |
| ५०८ ५१२ | ५३६ | ८५४ ८५५ | ८५६ | ११०९ | १११० | २०५ २५२ | २८३ |
| ५५० ५५१ | ५५२ | ८५७ ८५८ | ८५९ | १११८ | ११२१ | २९० २९४ | २९६ |

नामानि पृष्ठाङ्काः

२९८ ३०३ ३५९
३७० ३७२ ३७७
३८५ ३८६ ३८७
४२७ ४४८ ४४९
५५८ ८८१ ९०३
९५१ १०२२ १०३०
मातरः ५१७
माध्यंदिनी श्रुतिः ९५९
मार्कण्डेयः २८ ३०
४३ १२३ १४९
१७६ १९७ २०६
२०९ २१२ २१३
२१५ २२७ २२८
२३३ २३५ २३६
४२७ ४२९ ४०५
४६३ ४८५ ४८६
४९० ५०४ ५०५
५१० ५१३ ५४२
५५१ ८९५ ८९७
१०९० ११८०
११८२ ११९२
१२०१ १२४८
१२५० १२५१
मार्कण्डेयपुराणम् २ ३९
१४६ १५३ १७३
२७९ ३८५ ४३४
५४१ ५५४ ९२३
९६० ९६८ १०२२
१०२३ १०२५
१०३१ १२०२

य.

यज्ञपार्श्वः ४८० ५३७
यमः २३ २७ २८
२९ ३४ ३५ ४०
४१ ४२ ४६ ५०
५१ ५२ ५७ ५८
६० ६२ ६७ ८५
८८ १२४ १२५
१३२ १७४ १७५
१७६ १७९ १८१
१८८ १९२ १९३
२०८ २२० २३९
२४८ २५१ २५२
२५५ २५७ २५८
२६१ २६४ २६६
२६९ २७३ २७४
२७६ २८१ २८६
२९१ ३५९ ३६३
३६४ ३६५ ३८७
३८९ ४०४ ४०५
४०७ ४०८ ४२५
४३५ ४३९ ४४१
४४२ ४४३ ४४५
४४७ ४४८ ४४९
४५६ ४५७ ४५८
४७१ ४७६ ४८५
४९१ ४९२ ४९३
४९४ ४९७ ४९८
५०० ५०१ ५१४
५२३ ५३३ ५४१
५५१ ५९६
८२२ ८६० ८७०
८७१ ८७७ ८९८
९०८ ९११ ९१७
९२२ ९२६ ९३२
९४० ९४१ ९६३
९६७ ९८८ १०३९
१०५४ १०५८
१०७१ १०८४
१०८६ ११०३
११०४ ११०७
१११६ १११८
११२१ ११२९
११३० ११३५
११३७ ११३८
११४१ ११४३
११४४ ११४७
११५२ ११५६
११५९ ११६१
११६८ ११६९
११७० ११८४
११८५ ११८७
११८८ ११८९
११९२ १२११
१२१५ १२१८
१२२० १२२१
१२२१ १२३१
१२३१ १२३३
१२३४ १२३५
१२३८ १२३९
१२४३ १२४५
१२४६
योगयाज्ञवल्क्यः १६
३९ ४३ ४४ ४६
४७ ४८ ४९ १२८
१३१ १३४ १३७
१३८ १३९ १४१
२३५ २३६ ४४६
४६१ ४६२ ४६३
४८० ९६० १०२२
१०३४

र.

रामायणम् ३८५ ८७५

ल.

लघुयमः ४९६
लघुविष्णुः १०८०
११३१ ११६२
लघुहारीतः १४५
५३९ ५४१ ५४३
५४७ ५४८ ५४९
११६३ ११७१
लिखितः ३८ १३८
११८३
लिङ्गपुराणम् २१२
४२८ ४३०
लौगाक्षिः २८ २९
३० ३३ १२२
१४५ १६६ १७६
२५९ २६९ ४१८
४५३ ४५९ ४६०
५३० ५४० ५४२
८७० ९४२ १२२७

व.

वराहपुराणम् १२६
२०२ ३०१ ४२६
४५६ ४९७ ४९८
५२५ १०५२
वसिष्ठः ३ २० २१
३६ ३९ ५० ५३
५८ ६१ ७२ ७९
८२ ८३ ९५ ९६
९८ ९९ १०४
१०५ १०६ ११३
१२० १२९ १५५
१७० १७९ १८३
१८४ १८९ १९१
१९२ १९७ २२३
२४० २४२ २४४
२४६ २५० २६३
२७६ २७८ २७९
२८२ २८५ २८६
२९१ ९९२ ३०५
३०८ ३०९ ३७८
४०७ ४३९ ४४५
४४९ ४६४ ४९८
५०४ ५१६ ५५१
५५५ ५६५ ५९०
६४० ६४२ ६५३
६८३ ७२१ ७३४
७३५ ७३६ ७३७
७४४ ७४९ ७५०
७५१ ८३४ ८३६
८७४ ८८० ८८४

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ८८५ ८९५ | ८९६ |
| ९०१ ९०४ | ९०६ |
| ९०७ ९१८ | ९२५ |
| ९२८ ९२९ | ९३० |
| ९३१ ९३३ | ९४० |
| ९५४ ९६२ | १०३४ |
| १०४३ | १०४६ |
| १०४९ | १०५३ |
| १०५४ | १०६३ |
| १०६७ | १०७० |
| १०७५ | १०७७ |
| १०७९ | १०८३ |
| १०८५ | १०८६ |
| १०८७ | १०८९ |
| ११०० | ११०७ |
| ११०८ | १११५ |
| १११६ | १११७ |
| १११८ | १११९ |
| ११२२ | ११२६ |
| ११२८ | ११३० |
| ११३१ | ११३५ |
| ११३९ | ११४० |
| ११४३ | ११४५ |
| ११४६ | ११४९ |
| ११५२ | ११५३ |
| ११५४ | ११६० |
| ११६१ | ११६६ |
| ११६८ | ११८१ |
| ११८७ | ११९१ |
| ११९९ | १२०६ |
| १२०७ | १२०८ |
| १२२० | १२२२ |
| १२२५ | १२२८ |
| १२३० | १२३६ |
| १२४२ | १२४६ |
| १२४७ | |
| वसिष्ठबृहस्पती | १२२५ |
| वाग्भट्टस्मृतिसंग्रहः | |
| ९२६ | |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| वाजसनेयम् | ११४४ |
| वामनपुराणम् | ३६४ |
| वायुपुराणम् ५१ | २०२ |
| २५८ ३८७ | ४४८ |
| ४५४ ४६७ | ४७३ |
| ४७५ ४८७ | ४९० |
| ४९१ ४९३ | ५०२ |
| ५०६ ५३२ | ५३५ |
| ५५१ ५५३ | ५५४ |
| ५५९ ५६० | ९२४ |
| ९४९ | १०२२ |
| विराट् | ११२ |
| विवस्वान् ३५ | ५३६ |
| ८७९ | |
| विश्वामित्रः | १०४४ |
| ११०२ | १२१५ |
| १२४९ | |
| विष्णुः ५ ४२ | ४३ |
| ७२ ८१ ८२ | ९२ |
| ९३ ९६ | १०७ |
| १११ ११४ | ११७ |
| १२४ १२५ | १३३ |
| १४८ १५२ | १५३ |
| १५७ १६६ | १७४ |
| १७९ १८० | १८१ |
| १८२ १८३ | १८४ |
| १९३ २०८ | २१२ |
| २२२ २२७ | २३१ |
| २३२ २३८ | २५५ |
| २५६ २५८ | २५९ |
| २६२ २७३ | २७८ |
| ३५४ ३५७ | ३६० |
| ३६३ ३८५ | ३८६ |
| ३८७ ४०८ | ४१५ |
| ४१८ ४२२ | ४२६ |
| ४२७ ४३१ | ४३३ |
| ४४० ४५८ | ४५९ |
| ४६१ ४७६ | ४७७ |
| ४८५ ४८६ | ४८८ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ४८९ ४९३ | ४९४ |
| ५०० ५०७ | ५०८ |
| ५२७ ५३० | ५३१ |
| ५४० ५५२ | ५८१ |
| ६०३ ६४४ | ६४६ |
| ६५९ ६७७ | ६८० |
| ६८२ ६९६ | ७०० |
| ७०३ ७१३ | ७१५ |
| ७१८ ७२८ | ७३० |
| ७४१ ७६९ | ७८९ |
| ७९८ ८०४ | ८०७ |
| ८०९ ८१० | ८१५ |
| ८१६ ८१८ | ८१९ |
| ८२१ ८२२ | ८२४ |
| ८२५ ८२९ | ८३४ |
| ८३५ ८४९ | ८६२ |
| ८७२ ८७४ | ८८९ |
| ९०४ ९०८ | ९१३ |
| ९१४ ९१६ | ९२० |
| ९२१ ९२५ | ९६१ |
| ९६८ | १०२६ |
| १०४२ | १०४३ |
| १०४८ | १०६३ |
| १०६४ | १०६५ |
| १०७० | १०७३ |
| १०७४ | १०८५ |
| १०८८ | १०९१ |
| ११०७ | १११९ |
| १११५ | १११६ |
| ११२१ | ११२२ |
| ११२५ | ११३० |
| ११३४ | ११४३ |
| ११४५ | ११४६ |
| ११४७ | ११५४ |
| ११५७ | ११५८ |
| ११५९ | ११६१ |
| ११६२ | ११६७ |
| ११६८ | ११६९ |
| ११७० | ११७६ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ११८१ | ११८२ |
| ११८४ | ११८५ |
| ११९२ | १२०२ |
| १२०३ | १२२२ |
| १२२८ | १२३४ |
| १२३५ | १२४१ |
| विष्णुधर्मम् ३६८ | ३७० |
| विष्णुधर्मोत्तरम् | २९ |
| २०१ | २१४ |
| ३७४ | ३८४ |
| ३८६ | ५०७ |
| विष्णुपुराणम् ६ | २० |
| ५० ७९ १२६ | १३९ |
| १४९ १५१ | १७२ |
| १७३ १७४ | २२७ |
| २४४ ४२० | ४२५ |
| ४३३ ५०२ | ५१४ |
| ५१५ ५३० | ८८३ |
| ८९२ ९८६ | १०२२ |
| १०२५ | १०२६ |
| १२३१ | |
| विष्णुरहस्यम् | २१० |
| विष्णुवचनम् | १०१ |
| ११३ | |
| विष्णुसमुच्चयः | १३८ |
| वृद्धः | ७०५ |
| वृद्धगार्ग्यः | ८८० |
| वृद्धगौतमः | ५१० |
| वृद्धपराशरः | १२३ |
| १२३५ | |
| वृद्धपाराशरः ३६ | ३७ |
| वृद्धप्रचेताः ८८८ | ८९७ |
| १०९८ | |
| वृद्धबृहस्पतिः | ६०२ |
| ६०३ | |
| वृद्धमनुः १९८ | २८६ |
| ४२६ ४४३ | ४६२ |
| ४८६ ५४६ | ५४९ |
| ७४२ ७६६ | ७९७ |

नामानि पृष्ठाङ्काः

७९८ ७९९ ८००
८०१ ८७६ ९०४
९०८ ९१० १०८५
वृद्धयाज्ञवल्क्यः ५३३
८७३ ८७६ ८९६
९१४ ९२३ ११४४
११७१ ११७९
११९६
वृद्धवसिष्ठः १९८ ४२०
४४६ ४६१ ४७७
५१६ ५२३ ५२४
५३८ ५४० ५४९
६८४ ९०१ १२०२
१२२५ १२२६
वृद्धव्यासः ७५१
वृद्धशातातपः २७ १०५
१४७ २७० २८०
४२२ ४५७ ४५९
४७४ ४८५ ४८८
४९७ ५०१ ५१६
५४१ ११६२ ११७१
११९५ १२०१
वृद्धहारीतः १०७२
११०६
वैयाघ्रपद्यः ४१
वैशंपायनः १२४५
१२४६
व्याघ्रः १३२ १३३
१४५ ५०७ ५०८
५२१ ५२४ ११९४
१२०२
व्याघ्रपात् ११२ ४६७
८९२
व्यासः ९ २९ ४१
३ ४६ ६५ ६७
४ १०८ ११०
१२४ १३३ १३४
१३८ १४३ १४४
१५१ १५८ १६४

नामानि पृष्ठाङ्काः

१९५ १९७ २१३
२२५ २३५ २३६
२५७ २७८ २८१
२८२ २८६ २८७
२९२ ४१७ ४२४
४२७ ४४२ ४६२
४६५ ४७० ४७१
४७३ ४८५ ४९६
५०७ ५२४ ५२५
५२७ ५४२ ५४४
५८० ६०२ ६०४
६१३ ६१६ ६२९
६३० ५३२ ६३५
६३६ ६४१ ६५६
६५८ ६५९ ६७२
६७९ ६८५ ६८८
६९० ६९१ ६९२
७०२ ७१९ ७२५
७२८ ७३० ७३१
७५२ ७६७ ७७२
७७५ ७७६ ८०१
८१० ८२४ ८३२
८४५ ८५२ ८५४
८५५ ८६० ८८०
८९७ ९२३ ९६१
१०४२ १०४३
१०७२ १०८१
१०८४ १०८८
११०४ ११२८
११४१ ११७४
१२५१

श.

शङ्खः ८ २८ ३२ ३६
४७ १०८ ११८
११९ १२३ १२७
१५० १५६ १६७
२४० २४३ २४४
२४६ २४९ २५४
२५५ २५६ २६०

नामानि पृष्ठाङ्काः

२६२ २६३ २६४
२६९ २७४ २७७
२८१ ४३१ ४४८
४६४ ४७२ ४८६
४९१ ४९२ ५००
५०४ ५२३ ५४४
५५२ ६९४ ७१७
७१८ ७४१ ८४२
८७५ ८८२ ८८७
८९८ ९०० ९०७
९१० ९२५ ९४४
९७० १०२५ १०५३
१०५७ १०६६
१०७७ १०८४
१०८९ १०९४
११०२ ११०४
११११ ११११५
१११६ १११७
११२१ ११३४
११३५ ११३६
११३७ ११४८
११४९ ११५३
११५४ ११५८
११५९ ११६१
११६२ ११६५
११६७ ११६८
११७० ११७५
११८० ११८२
११८४ ११८६
११८७ ११८९
१२१० १२२०
१२२९ १२३१
१२३३ १२४१
१२४४
शङ्खलिखितौ २७ २९
१०४ १०८ १६०
१८० १९४ २२०
२२४ २२८ २४०
२४३ २५८ ४५३

नामानि पृष्ठाङ्काः

४९७ ५०० ५५०
७१८ ७२६ ७५४
७६९ ८०७ ८२३
८२४ ८३७ ८४८
८५५ ८५९ ८६२
८९६ ९१४ ९२९
९३० ९३३ ९३४
९४० ९४७ ९६५
९६८ १०६७
११०६ १११३
१११८ ११४७
११४९ ११६१
११६५ ११६७
११६८ ११६९
१२०६ १२१८
१२३४ १२४३
शाट्यायनः ४२३ ४२४
५४०
शाट्यायनिः ४६२
शातातपः ३५ ५० ५२
८४ १२८ १४६
१४९ १५१ १८९
१९८ २२९ २५६
२६६ २६७ २७०
२७३ २८० २८३
२८६ २९१ ४०४
४०६ ४३० ४३१
४४५ ४४६ ४६१
४६८ ४७९ ४८६
४८७ ४९८ ४९९
५०९ ५१४ ५१५
५१६ ५२१ ५२४
५३० ५३८ ५४१
५४२ ५४३ ५४४
५४८ ८८८ ८९५
९०६ ९१६ ९२६
१०५३ १०७४
१०८९ १०९४
१११७ ११२०

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ११२८ | ११४४ |
| ११४७ | ११४९ |
| ११५२ | ११५६ |
| ११५८ | ११६० |
| ११६१ | ११६४ |
| ११६९ | ११७७ |
| ११८१ | ११९३ |
| ११९५ | १२०१ |
| १२१९ | |
| शिवधर्मोत्तरम् | २७४ |
| शुनःपुच्छः | ८८७ ९०२ |
| शौनकः | ८९ ९० १२९ |
| १३० १३६ | १५५ |
| १८६ १८७ | १८९ |
| ४७९ ४८१ | ४९२ |
| ५०३ ५११ | ५२९ |
| ५७३ | |
| शौनकवचनम् | १२५ |
| शौनकगृह्यपरिशिष्टम् | |
| ५२५ | |
| शंभुः | ४७५ |
| श्रीनारदः | ७०३ |
| श्रीरामायणम् | ८८१ |
| श्लोककात्यायनः | ४८५ |
| श्लोकगौतमः | ४८३ |

## ष.

| | |
|---|---|
| षट्त्रिंशन्मतम् | २२९ |
| २६० २६२ | २७७ |
| २७८ २७९ | ४२९ |
| ४७१ ५३७ | ५३८ |
| ५५५ ५६१ | ९२३ |
| १०७८ | १०८१ |
| १०८३ | ११७४ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| ११८२ | ११९६ |
| १२४८ | |

## स.

| | |
|---|---|
| सत्यः | ५५० |
| सत्यव्रतः | १३४ ५२७ |
| ५४८ | ५४९ |
| सत्याषाढः | ११४ |
| सारावलिः | ८७२ |
| सांख्यायनः | ५४ |
| सुमन्तुः | ८० ९५ |
| २४४ ४१८ | ४२४ |
| ४४६ ४६९ | ५०६ |
| ५३१ ५३२ | ५३९ |
| ५४१ ९०४ | ९१७ |
| १०४२ | १०४३ |
| १०७३ | १०८० |
| १०८१ | १०८५ |
| १०८८ | १०९५ |
| ११०४ | १११६ |
| ११२० | ११३४ |
| ११३५ | ११५१ |
| ११५८ | ११६४ |
| ११६५ | ११६९ |
| ११७६ | ११९० |
| ११९३ | १२३० |
| संवर्तः | ४४ ४९ ६१ |
| ९३ २६५ | २८४ |
| २९२ २९७ | ३५९ |
| ३६७ ३७० | ३७२ |
| ३७५ ३८५ | ३८६ |
| ४६८ ६९१ | ८९२ |
| ९२१ ९२४ | ९६३ |
| १०४९ | १०५३ |
| १०७९ | १०८५ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| १०८८ | १०९४ |
| १०९६ | १०९८ |
| ११०३ | ११०७ |
| १११८ | १११९ |
| ११२० | ११२२ |
| ११२५ | ११२७ |
| ११३३ | ११३९ |
| ११४२ | ११४३ |
| ११४४ | ११४६ |
| ११४९ | ११५६ |
| ११५९ | ११६५ |
| ११६८ | ११७० |
| ११७३ | ११८१ |
| ११८९ | ११९० |
| ११९२ | ११९६ |
| ११९८ | १२१४ |
| स्कन्दः | ४३६ |
| स्कन्दपुराणम् | १७२ |
| २०४ २०५ | २९५ |
| ३६० ३७२ | ४४३ |
| ४५५ ९०३ | |
| स्मृत्यन्तरम् | ४१ ६० |

## ह.

| | |
|---|---|
| हरिः | १२१४ |
| हारीतः | २५ २६ ३६ |
| ३८ ३९ ६४ | ६६ |
| ७१ ८४ | ११० |
| १२२ १३३ | १४८ |
| १८० १८८ | १९० |
| १९२ २०७ | २२१ |
| २२५ २२६ | २४१ |
| २४३ २४४ | २४६ |
| २४८ २५६ | २५७ |
| २५८ २६२ | २६७ |

| नामानि | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| २७२ २७९ | ४१८ |
| ४१९ ४२६ | ४४४ |
| ४४६ ४४९ | ४५३ |
| ४५५ ४५७ | ४६८ |
| ४७६ ४९३ | ४९७ |
| ५२८ ५३९ | ५४० |
| ५४८ ६१६ | ६८७ |
| ६९० ७०५ | ७२२ |
| ७३४ ८७० | ८७१ |
| ८७४ ८८३ | ८९८ |
| ९१० ९१२ | ९१५ |
| ९३३ ९३७ | ९३८ |
| ९६२ ९६३ | ९६४ |
| ९९८ | १०३५ |
| १०४८ | १०७१ |
| १०७२ | १०८३ |
| १०८६ | १०८९ |
| १११९ | १११३ |
| १११५ | ११२० |
| ११२१ | ११२३ |
| ११२९ | ११३१ |
| ११३४ | ११३७ |
| ११३९ | ११४२ |
| ११४५ | ११४७ |
| ११५१ | ११५३ |
| ११५४ | ११५७ |
| ११६० | ११६२ |
| ११७३ | ११७६ |
| ११८० | ११८७ |
| ११८८ | ११९५ |
| १२०३ | १२०९ |
| १२२० | १२२३ |
| १२३० | १२३९ |
| १२४३ | १२४५ |


समाप्तेयं टीकायां प्रमाणतया गृहीतान्यग्रन्थतत्कर्तृनाम्नां वर्णानुक्रमसूची ।